श्रीगीता रस-रत्नाकर



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

श्रीगीता-रस-रत्नाकर

श्रीमद्भगवद्गीताकी सुविस्तृत व्याख्या

प्रवचनकर्ता :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज

संकलनकर्त्री :

श्रीमती सतिशबाला महेन्द्रलाल जेठी

सम्पादक :

स्व. पं. श्रीदेवधर शर्मा **विश्वम्भरनाथ द्विवेदी**

प्रकाशक :

सत्यसाहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई

प्रकाशकीय

श्रीगीता रस-रत्नाकर चतुर्थ संस्करण नवीन कलेवरमें प्रस्तुत करते हुए हम अत्यन्त प्रसन्नताका अनुभव कर रहे हैं। इस ग्रन्थका गौरव आपसे छिपा नहीं है; क्योंकि लोकका सर्वाधिक प्रचलित ग्रन्थ है यह— श्रीमद्‌भगवद्‌गीता— भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी। सर्वाधिक टीकाएँ भी इसी पर हैं। उन समस्त भाष्योंका भूषण 'श्रीगीता रस-रत्नाकर' ***परम पूज्य अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज*** *द्वारा किये प्रवचनोंका अनुपम संग्रह है।*

यह ***'आनन्द बोध'*** *मासिक पत्रिकाके तीसरे वर्षमें सितम्बर-अक्टूबर 1986 के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित हुआ था। पाठकोंने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और इसे अपना कण्ठहार बना लिया। तत्पश्चात् सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा इसके तीन संस्करण कराये गये परन्तु शीघ्र ही अनुपलब्ध हो गये।*

पाठकोंकी माँगपर ***महन्तश्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वतीजी*** *की प्रेरणासे सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा यह चौथा संस्करण आपके कर कमलोंमें शोभायमान है। कृपया अवगाहन कर लाभ उठावें।*

विजया दशमी
9 अक्टूबर 2008

—ट्रस्टी
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
मुम्बई/वृन्दावन

श्रीगीता-रस-रत्नाकर

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
प्रकाशकीय	(३)
विश्व-मानवताके लिए	(५)
प्रणति	(७)
गीतामृतदुहे नमः	(१२)
पहला अध्याय	१
दूसरा अध्याय	२५
तीसरा अध्याय	१३९
चौथा अध्याय	१८७
पाँचवाँ अध्याय	२३३
छठवाँ अध्याय	२७१
सातवाँ अध्याय	३१९
आठवाँ अध्याय	३४७
नववाँ अध्याय	३७५
दसवाँ अध्याय	४१९
ग्यारहवाँ अध्याय	४४१
बारहवाँ अध्याय	४५९
तेरहवाँ अध्याय	४८३
चौदहवाँ अध्याय	५१३
पन्द्रहवाँ अध्याय	५३७
सोलहवाँ अध्याय	५५५
सत्रहवाँ अध्याय	५७७
अठारहवाँ अध्याय	५९९
मूल पाठ	६६९



विश्व-मानवताके लिए

भगवच्चरणारविन्द-मकरन्द-रस-वाहिनी, श्रीशंकर-जटा-विहारिणी भगवती भागीरथीके परमपुण्य, धन्य-धन्य दक्षिण तटपर स्थित सप्तसरोवरकी भूमिको आनन्द-वन कहते हैं। वहीं विश्वजन कल्याणके लिए समतल भूमिपर गंगाजीका अवतरण हुआ था। अब भी वहाँकी झाड़ी नितान्त एकान्तवासी महात्माओंको अत्यन्त प्रिय है। समय-समयपर भिक्षाके लिए विचरण करते हुए सन्त-साधुओंके दर्शन हुआ करते हैं।

मुझे सम्वत्सरका ठीक स्मरण तो नहीं है, परन्तु अबसे १५-२० वर्ष पूर्व, दैवी सम्पद्-महामण्डलके अन्तर्गत परमार्थ-आश्रमके अध्यक्ष श्रीधर्मानन्दजी सरस्वतीने २१ दिनोंके लिए भगवद्-गीता-प्रवचनका आयोजन किया। प्रतिदिन दोनों समय २-२ घण्टे। विरक्त महात्माओंने सहस्रोंकी संख्यामें आगे बैठकर उसका श्रवण किया था। उनकी उपस्थिति, रसास्वादन और प्रोत्साहनसे मुझमें भी वक्तापनका आवेश हो गया था। मैंने स्वयं गम्भीर रस ले-लेकर प्रत्येक श्लोकपर प्रवचन किया। वह उस समय 'टेप' करके रख लिया गया था। बादमें वही श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीकी अथक लेखनीसे लिखा गया और स्व० पण्डित देवधर शर्माजीके संशोधन, सम्पादन और प्रेरणासे उसको यह रूप मिला।

श्रीशर्माजीके सुझावपर ही श्रीलक्ष्मीनिवास बिरलाने इसके प्रकाशनके लिए सवा लाख रुपये 'श्रीस्वामी अखण्डानन्द सरस्वती अमृत महोत्सव ट्रस्ट'को दिलवाये। उसीसे अब यह 'आनन्द बोध'के विशेषांकके रूपमें प्रकाशित किया जा रहा है। विशेषांकके रूपमें प्रकाशित होनेका एक लाभ तो यह है कि यह प्रकाशित होते ही 'आनन्द बोध'के सहस्रों ग्राहकोंके हाथोंमें बिना मूल्य पहुँच जायेगा। और जो ग्राहक नहीं हैं उन्हें भी अल्पमूल्यमें प्राप्त हो सकेगा।

मैं किसे-किसे आशीर्वाद और धन्यवाद दूँ। यह सब भगवान्‌का ही अनुग्रह है कि पाठकोंको 'श्रीगीता-रस-रत्नाकर' में अवगाहन करके अल्प प्रयासमें ही नवीन-नवीन रत्नोंकी प्राप्ति होगी और वे उनका आनन्द ले सकेंगे।

साक्षात् परब्रह्म परमात्मा जो कि इसी शरीरमें प्रत्यगात्मासे अभिन्न अद्वितीय सच्चिदानन्दके रूपमें सदा विराजमान हैं, जिनका नाम तो है श्रीकृष्ण, परन्तु हैं वे परमार्थ-स्वरूप। वह, तू, मैं, यह, आत्मा आदि अनेक नामोंके द्वारा अभिव्यक्त किये जानेवाले एक। मेरे मनमें विश्वास है कि अनुसन्धित्सु भक्त-जिज्ञासुओंको अपने स्वरूपपर प्रतीयमान मिथ्या अज्ञानावरणको ध्वस्त करनेमें सहायता मिलेगी और वे अपने परमानन्द-स्वरूपका साक्षात्कार करके जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका अनुभव कर सकेंगे। साथ ही स्थान-स्थानपर इसमें जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका निरूपण है, उससे उनके लौकिक, पारलौकिक सुखकी प्राप्तिका मार्ग भी प्रशस्त होगा।

मुझे आशा ही नहीं सम्पूर्ण विश्वास है कि इसके लिए परिश्रम करनेवाले, सहायता देनेवाले, पाठ करनेवाले, श्रवण-वर्णन करनेवाले सभी जीवनमें एक दिव्य, अलौकिक स्थितिका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकेंगे और चिरकालतक सुखी रहेंगे।

वृन्दावन
१७-९-१९८६

अखण्डानन्द (सरस्वती)

प्रणति

पूज्य महाराजश्रीकी अमृतस्वरूपा वाणीका प्रत्यग्र प्रसाद है श्री गीता-रस-रत्नाकर। भारतीय तत्त्वज्ञानके प्रवक्ताओंमें महाराजश्रीका स्थान आज मूर्धन्य है। शास्त्रकी गहराईमें जाकर कैसे उसे ऐसी भाषा दी जाय जो सर्वसाधारणके मनमें भी प्रविष्ट हो जाय, यह चमत्कार बहुत विरल होता है। शास्त्रों की बात करनेवाले या तो नीरस और उबाऊ होते हैं या फिर अगर सरस और रोचक हुए तो शास्त्रकी बात ही नहीं रह जाती। पूज्य महाराजजीके आगे कठिन-से-कठिन शास्त्रीय समस्या रख दीजिये और वे हँसते हुए लोक जीवनसे उदाहरण देते हुए उस समस्याका समाधान कर देंगे और नारायण-नारायणकी टेक लगा देंगे। ऐसा लगेगा कि उस क्षण नारायण ही आकर मनकी गाँठ खोल रहे हैं। अधिकारि-भेदसे समाधान अवश्य भिन्न होता है महाराजजीका, परन्तु भाषा वहाँ भी तरल और सहज ही रहती है। उनकी भाषा संवादकी भाषा है, इसलिए अपरोक्ष है। उनके प्रवचन पढ़ते समय यही अनुभव होता है कि महाराजश्री सामने बैठे हुए हैं।

स्व० पं० हजारी प्रसाद द्विवेदीजी कहा करते थे कि भारतीय विद्वत्ता तबतक प्रमाणित नहीं होती, जबतक कि श्रीमद्‌भगवद्‌गीतापर टीका न लिखें। श्रीमद्‌भगवद्‌गीताको समझना और समझाना ही अपनेको समझना है। भारतीय तत्त्वज्ञानका साकार रूप है उपनिषद्, उपनिषद्-रूपी कामधेनुका गोपालनन्दन द्वारा दुहा दुग्ध है श्रीमद्भगवद्‌गीता और उसको भावका जेमन देकर जमाया हुआ दही है **श्रीगीता-रस-रत्नाकर**। उसमें दुग्धके तत्त्व तो हैं ही, एक अपूर्व स्वाद और जुड़ गया है, भावनासे और धीमी-धीमी समाधि-तापसे मिठास घनी हो गयी है।

किसी अध्यायसे प्रारम्भ करें तो इस गीता-प्रवचन-भाष्यमें कथाका-सा रस तो मिलता ही है, समग्रता सर्वात्मताकी झाँकी भी मिलती रहती है, समूचे ग्रन्थकी अन्वितिका संकेत मिलता रहता है, गीताके मन्तव्यका स्मरण निरन्तर कराया जाता रहता है। एक पश्चिमी आलोचकने कहा कि अट्ठारह अध्याय युद्धस्थलपर

बाँचे गये, असम्भव है। यह किसीने बादमें *महाभारतमें* जोड़ दिया। पश्चिमी आलोचकको कहाँ अनुमान होगा कि कौन प्रवक्ता है, कौन श्रोता है और कैसा तो अन्तर्द्वन्द्व है, जिसमें हाथसे दिव्य धनुष सरका जा रहा है, मृत्यु सामने उपस्थित हो गयी है और कैसा क्षेत्र है, धर्मक्षेत्रका क्या अर्थ है। ऐसे क्षणमें कालका रथ रुक जाता है, युग-के-युग क्षणमें बदल जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता केवल अर्जुनके लिए नहीं है, पर अर्जुन न हों, उनके द्वारा मृत्यु साक्षात्कारके क्षणमें उठाया संशय न हो, महाभारतकी विचित्र परिस्थितियाँ न हों, जहाँ मामकत्व और सर्वत्वका संघर्ष छिड़ा हुआ है तो श्रीमद्भगवद्*गीता श्रीकृष्णके* रहते हुए भी सम्भव न होती। सागर तो बराबर रहता है, उसमें उद्वेलन पैदा करनेवाला चाहिए और जैसा कि महाराजश्रीने समझाया है कि माहात्म्यमें जो यह कहा गया है कि '**या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता**', उसमें स्वयं *शब्दका प्रयोजन* है, इसका *अर्थ* है कि जब स्वयं भगवान्का मुँह खुला तब गीता उनके हृदयसे छलककर बाहर निकल आयी। इसमें कर्तृत्व गीताका है, भगवान्का नहीं। भगवान्को अर्जुनने विषाद सौंपा, तब यह प्रसाद मिला। बिना क्षेत्रके ज्ञानके क्षेत्रज्ञका उन्मीलन कैसे होगा!

इस रत्नाकरको 'गीतारस-रत्नाकर' नाम देना सार्थक है, क्योंकि रस तो उद्वेलन है औरउद्वेलनके लिए अर्जुनके सामने युद्धक्षेत्र और कठिन निर्णयका संकट था, और आज *उद्वेलनके लिए आजकी* भयावह स्थितियाँ हैं और है मनुष्यके अस्तित्वका संकट। मेरे साहित्यिक मित्र जो बड़ी अनास्था लेकर महाराजश्रीके पास गये हैं, लौटनेपर उनके ऊपर एक ही गहरी छाप पड़ी है कि बाबा आस्थाके आकार होते हुए भी कितने आधुनिक हैं, कितना *आधुनिक* मनकी बात समझते हैं। 'श्रीगीता रस-रत्नाकर'की यही विशेषता. इसकी आधुनिक संवेदनाको स्पर्श करनेकी क्षमता ही, इसे गीताका अद्भुत आत्मीय रूपान्तर बना देती है।

महाराजश्रीकी पचहत्तरवीं वर्ष-पूर्त्तिपर *प्रणति*-निवेदनका इससे अधिक सुन्दर प्रकार क्या हो सकता था, '**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**'। इस प्रणतिके साथ जुड़कर मैं अपनेको भाग्यवान् मानता हूँ। उनके सान्निध्यमें आनेपर ही मुझे वृन्दावनकी महिमा समझमें आयी, उसके साथ वृन्दावन-विहारीकी *लीलाका थोड़ा-थोड़ा-सा अर्थ* खुलने लगा। वृन्दावन-बिहारीने बाबाका दण्ड उतरवा दिया और मैं पहलेकी बात जानता नहीं, केवल विगत दसेक वर्षोंकी बात जानता हूँ, बाबाके दण्डके उतरनेके साथ-साथ एक उदग्र विराग श्रीकृष्णानुरागसे भर गया।

बाबाको मैंने कभी क्रोध करते नहीं देखा, उन्हें बराबर अत्यन्त मधुर ही पाया। कभी-कभी मुझे उस आश्रममें कुछ व्यवस्था करते समय खीझ आयी और बाबाकी आवाज सुनी कि भाई, देखो मिश्रजीको क्लेश न हो, व्यवस्था ठीक-ठाक रखो, मैं पानी-पानी हो गया, इस आनन्द-वृन्दावनमें खीझनेका कोई स्थान ही नहीं है। महाराजश्रीको मैं मधुसूदन सरस्वतीका दूसरा विग्रह मानता हूँ, '**अद्वैतसिद्धि**' और '**भक्तिरसायन**' दोनों ग्रन्थोंका नया वितान ही '**श्रीगीता-रस-रत्नाकर**' है, यह अद्वैतामृत-वर्षी है, केवल समुद्र नहीं, समुद्रसे उठा हुआ बादल भी है और उसका रस भी है। महाराजश्रीके चरणों में प्रणाम।

वाराणसी
२१.९.८६

-**विद्यानिवास मिश्र**
उपकुलपति : काशीविद्यापीठ

गीतामृतदुहे नमः

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

भगवान् श्रीकृष्ण प्रपन्नपारिजात हैं, जो उनके चरण पकड़ ले, उनकी शरणमें आजाये, उसके लिए कल्पवृक्ष हैं। स्वभक्त-पक्षपाती हैं। वे संयम और प्रशासन-स्वरूप तोत्र और वेत्रको अर्थात् घोड़ेकी लगाम और उसके बेकाबू होनेपर उसे दण्डित करनेके लिए चाबुकको अपने हाथमें रखते हैं। उनकी मुद्रासे ही ज्ञानकी वर्षा होती है। वे सार्वजनिक दृष्टिसे ज्ञानका दोहन कर रहे हैं। इसलिए, आइये हम नमस्कार करें भगवान् श्रीकृष्णको। वे समस्त आकर्षणोंके,प्यारके केन्द्र हैं। वे सच्चिदानन्दघन परमेश्वर हैं।

श्री गीता-रस-रत्नाकर

(श्रीमद्भगवद्गीता—प्रवचन)

पहला अध्याय

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीम्।
अम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भगवद्वेषिणीम्॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

श्रीमद्भगवद्गीता, अर्थात् जो श्रीमान् भगवान्‌के द्वारा गायी हुई है—'*श्रीमता भगवता गीता*'। समास तो ऐसे भी हो सकता है—'*श्रीमती भगवती गीता।*'भगवद्गीता श्रीमती है, पर भगवद्गीता शब्दमें गीता शब्द गौण है और भगवान् शब्द प्रधान है। इसलिए श्रीमान् विशेषण भगवान्‌का ही होना चाहिए, गीताका नहीं। स्मार्तधर्ममें सर्वत्र वक्ताकी प्रधानता मानी जाती है। वैदिकधर्ममें वचनकी प्रधानता मानी जाती है। वचन क्या है? वर्ण क्या है? उपनिषद्‌में अनुभवारूढ अर्थकी, लक्ष्यार्थकी प्रधानता होती है। इस प्रकार वचनकी प्रधानतासे स्मृति होती है। वक्ता, वचन और वाच्यार्थकी प्रधानतासे ग्रन्थके तीन विभाग होते हैं और तीनोंका परम तात्पर्य एक ही निकलता है। इधरसे देखो तो, उधरसे देखो तो और सीधे देखो तो; जो सच्ची चीज है, वह सच्ची मालूम पड़ेगी। सत्य सत्य ही रहता है।

अब '*श्रीमता भगवता गीता*'को देखो। इसमें '*कृता*'नहीं '*गीता*'है। गीता पहले भी थी। पिछले द्वापरके पहलेवाले द्वापरमें भी श्रीकृष्णार्जुन हुए हैं और वहाँ भी श्रीकृष्णने गीताका गान किया है। उससे पहले भी श्रीकृष्ण-अर्जुन हुए हैं और वहाँ भी गीताका गान हुआ है। गानेवाला जो भजन गाता है, पद गाता है, वह उस भजनका, पदका रचयिता हो—यह कोई आवश्यक नहीं है। दूसरेका बनाया हुआ पद लोग गाते ही हैं और अच्छा वही लगता है।

प्रथम मुनिन हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥

संगीतमें केवल स्वर-तालका अहङ्कार होता है और अपने बनाये हुए पदमें, भजनमें, रसियामें, ठुमरीमें, दादरामें, अपने कवित्वका भी अभिमान आ जाता है। श्रीकृष्णमें तो अहंकी एक नया पैसा भी गुञ्जायश नहीं है। वे तो अर्जुनके अभिमानपर बार-बार ठोकर मारते हैं—

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे। १८.५९

इसलिए, गीताको *'श्रीमता भगवता गीता'* अथवा *'श्रीमती भगवती गीता'* कह सकते हैं। यदि आप ध्यान दें, तो यह *'श्रीमतो भगवतो गीता'* भी है। गीताको क्रियापद मत मानो, तो यह संज्ञा हो जायेगी—

गीताशास्त्रमिदं पुण्यम्।

यह पवित्र गीता-शास्त्र है, यह शास्त्र किसका है ? यह भगवान्‌का शास्त्र है। भगवत्कर्मक शास्त्र है। भगवत्कर्तृक शास्त्र है भगवान् इसके वक्ता भी हैं और भगवान् इसके विषय भी हैं। इसलिए यह भगवान्‌का शास्त्र है। इसमें भगवान् ही बोलते हैं और भगवान्‌का ही वर्णन है। इसलिए गीता क्रियापद भी है और गीता संज्ञा भी है।

शंकराचार्यने भी *'गीताशास्त्रम्'* का व्यवहार किया है, श्रीयामुनाचार्यने भी *'गीताशास्त्रम्'* का व्यवहार किया है और श्रीरामानुजाचार्यने भी *'गीताशास्त्रम्'* का व्यवहार किया है। इसलिए यह 'गीता' निःसन्देह संज्ञा शब्द है।

महाभारतमें कथा आती है कि एकबार देवराज इन्द्र भगवान् श्रीकृष्णपर बहुत प्रसन्न हुए। उनको यह बात भूल गयी कि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और मैं देवता हूँ। स्नेहमें ऐसा हो जाता है। देवराज इन्द्रने कहा कि श्रीकृष्ण तुम मुझसे कुछ वर माँगो। श्रीकृष्णने कहा कि अच्छी बात है, यदि आप वर देना ही चाहते हैं, तो यह वर दीजिये कि अर्जुनके साथ मेरी मैत्री सदा बनी रहे।

तो, अर्जुन और श्रीकृष्ण मित्र हैं और ऐसे मित्र हैं कि अर्जुनके हृदयमें श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके हृदयमें अर्जुन बसते हैं। इनमें कौन आधार है और कौन आधेय—इसका किसीको पता नहीं।

इन्ही दोनोंकी आपसी बातचीत है यह गीता। संजय तो इसको संवाद ही बोलते हैं। लेकिन बड़े-बड़े महात्माओंने मिलकर इसका नाम दो अभिन्न मित्रोंकी पारस्परिक बातचीत रक्खा है।

इसलिए जब सन् छब्बीसके आस-पास प्रयागमें गीता-ज्ञान यज्ञ हुआ था और जिसका आयोजन स्वर्गीय संगीताचार्य विष्णु दिगम्बरजीने किया था तब वहाँ

मञ्चपर आपलोगों जैसे ही एक अवधूत लंगोटी लगाये, हाथमें डण्डा लिये आकर खड़े हो गये और बोले कि तुम लोग गीतापर क्या व्याख्यान देते हो? यह कोई ब्रह्मसूत्र थोड़े ही है कि जो चाहे सो व्याख्यान इसमें गढ़ दो। अरे, यह तो संवाद है। मित्रका मित्रके प्रति संवदन है। संवदन माने क्या होता है? संवाद शब्दका प्रयोग तो गीतामें है ही—

संवादमिदमश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।

इसलिए जैसे वेदने आज्ञा की है कि—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। ऋग्० १०.१९०.२

अर्थात् स्वरमें स्वर मिलाकर बोलो, मतमें मत मिलाकर बोलो, कदमसे कदम मिलाकर चलो। ऐसे ही दो मित्रोंका संवाद है, यह गीता। इस संवादमें मतभेद नहीं है, मतमेल है दोनोंका। एककी राय दूसरेकी रायसे मिलती है। इसलिए इस संवादको वही समझेगा जो श्रीकृष्णका मित्र होगा, श्रीकृष्णसे मैत्री करेगा। जब दो मित्र परस्पर सांकेतिक भाषामें बातचीत करते हैं तब उनकी मुद्रा कैसी होती है, इसकी कल्पना आप कर सकते हैं। जिस समय श्रीकृष्णने अर्जुनको कहा होगा कि—

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्। १८.६४
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्। ४.३

उस समय श्रीकृष्णका हाथ कहाँ रहा होगा? मुँह कहाँ रहा होगा? अरे, हाथ अर्जुनके कन्धेपर रहा होगा और मुँह रहा होगा अर्जुनके कानके पास, जिससे कोई सुन न ले। भगवान्ने कहा कि अर्जुन! ऐसा उत्तम रहस्य किसी ऐरे-गैरेको बतानेके लिए नहीं है। तुम मेरे भक्त हो, सखा हो, इसलिए यह रहस्य तुम्हें बताता हूँ।

अत: गीताका अभिप्राय समझनेके लिए श्रीकृष्णसे थोड़ी मैत्री भी आवश्यक है। यदि श्रीकृष्णसे मैत्री नहीं होगी, तो आप गीताका भाव कैसे समझेंगे? आपको याद होगा; नहीं याद हो, तो हम याद दिला देते हैं। गीताके प्रारम्भमें जब कौरवोंने संजयको श्रीकृष्णके पास सन्देश देकर भेजा था तब श्रीकृष्णने संजयसे कहा था कि संजय! तुम जाकर राजा धृतराष्ट्रसे कह देना—

कृष्णो धनञ्जयस्यात्मा कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।

अर्थात् कृष्णकी आत्माका नाम अर्जुन है और अर्जुनकी आत्माका नाम कृष्ण है। कौरव अर्जुनसे शत्रुता करके मुझसे शत्रुता कर रहे हैं। इसी तरह अर्जुनसे श्रीकृष्णने कहा था कि—

यस्त्वं द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वं चानु स मामनु। द्रोण० ७९.२०

अर्जुन! जो तुमसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारे पीछे चलता है, वह मेरे पीछे चलता है। इस प्रकार—

सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्। उद्योगपर्व ४९.२०

एक ही सत्त्व, एक ही परमार्थ श्रीकृष्णार्जुन बनकर प्रकट हुआ है। मूल सत्ता एक है। वेदान्तकी भाषामें बोलें तो जिज्ञासाकी उपाधिसे जो ब्रह्म है, उसका नाम कृष्ण है। उपदेशकी उपाधिसे जो ब्रह्म है, उसका नाम कृष्ण है। उपदेश्य-उपदेशककी उपाधिसे ही कृष्ण-अर्जुनमें भेद है। वस्तुतः कृष्ण और अर्जुनमें भेद नहीं है। यह नहीं समझना कि रोनेकी उपाधि जिसमें है, उसमें हँसनेकी उपाधि नहीं है। जो अन्तरात्मा हँसनेकी उपाधिसे है, वही अन्तरात्मा रोनेकी उपाधिसे भी है। अतः कृष्ण और अर्जुनमें कोई भेद करनेकी आवश्यकता नहीं है।

एक बात और। भगवान् नहीं चाहते थे कि उनके हृदयमें छिपी हुई गीता, उनकी हृदय-गीता बाहर निकले। गीताके माहात्म्यमें ही यह आया है कि *'गीता मे हृदयं पार्थ'*—अर्जुन, गीता मेरा हृदय है। जैसे दो मित्र आपसमें मैत्री करते हैं, तो कहते हैं कि हमने तुमको अपना हृदय दे दिया है, वैसे ही भगवान्ने अपना गीतारूप हृदय अर्जुनको दे दिया है। मुझसे भी कई लोगोंने कहा है कि हमने अपना दिल आपको दे दिया है। मैंने भी उनसे कह रखा है कि अभी तुम लोग अपने पास ही रखो, जब मुझे जरूरत पड़ेगी, मैं तुमसे ले लूँगा।

तो, भगवान् श्रीकृष्णने पहले तो कहा कि भाई, मैं हृदय किसीको देनेवाला नहीं हूँ, मैं तो इसे रखूँगा अपने पास ही। परन्तु जब उन्होंने देखा कि अर्जुन विषादग्रस्त हो गया है, तब उसे अपना गीतारूप हृदय दे दिया। गीताका पहला अध्याय '**विषादयोग**' है। भगवान्के सामने रोना भी योग है और भगवान्से विमुक्त होकर परमानन्दका अनुभव करना भी योग है। अर्जुन रोया तो कहाँ रोया? वह किसी ऐरे-गैरेके सामने थोड़े ही रोया। किसी परायेके सामने थोड़े ही रोया। वह तो उस अन्तर्यामी प्रभुके सामने रोया, जो हर दिलकी, हर रोमकी, हर क्षणकी, हर कणको जानते हैं। उनके सामने रोना भी योगसे बढ़कर है। इसीलिए इसका नाम 'विषाद-योग' है। इसके बाद जो दूसरा अध्याय है, वह 'प्रसाद-योग' है। इसका तात्पर्य है कि तुम भगवान्को अपना विषाद दे दो, भगवान् तुम्हें प्रसाद दे देंगे।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ २.६५

दुनियाँमें गीताके जोड़का ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है, जिसको भगवान्‌ने अपना हृदय बताया हो। इसका कारण क्या है? यही है कि वह स्वयं उन्हींके श्रीमुखसे निकली है। माहात्म्यमें कहा गया है—

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।

इसमें जो *'स्वयं'* शब्द है, इसपर आप ध्यान दीजिये। इसका अर्थ है कि जब स्वयं भगवान्‌का मुँह खुला तब गीता उनके हृदयमें-से छलककर बाहर आयी। इसमें कर्तृत्व गीताका है, भगवान्‌का नहीं है। भगवान्‌ने गीताको अपने हृदयसे बाहर नहीं किया, स्वयं गीता ही बाहर निकल आयी। जैसे, सरोवर भरनेपर छलकता है, वैसे ही गीता छलककर बाहर आ गयी।

देखो, पद्मनाभ भगवान्‌के नाभि-कमलसे निकले ब्रह्मा और मुखसे निकला वेद। नाभिका बेटा कमल, कमलका बेटा ब्रह्मा, ब्रह्माका बेटा वेद। सुषुप्तिमें वेद नहीं रहता—*'तत्र वेदा अवेदा भवन्ति।'* (बृहदा० ४.३.२२) मैं यहाँ वेदकी महिमाको कुछ छोटी करके नहीं दिखाना चाहता, यह तो वेदका ही वाक्य है। मेरा तो वेदोंके प्रति बड़ा आदर-भाव है। परन्तु इनकी स्थिति मनोमय कोशमें रहती है। मनोमयकोश रूप जो तीतर है, उसके शिरका नाम वेद है। किन्तु यह गीता ब्रह्माके मुखसे नहीं, कमलसे नहीं, नाभिसे नहीं, जिसके नाभि-कमलसे ब्रह्मा निकले हैं, उसके मुख-पद्मसे निकली है। इसलिए यह वेद-सार है।

अब आइये; देखिये कि प्रश्न करनेवाला प्रश्न तो कर दे, परन्तु उसका उत्तर सुनकर उसपर क्या प्रभाव पड़ा—यह प्रकट ही न करे तो आप क्या समझेंगे? इसपर आपने ध्यान दिया है कि नहीं? धृतराष्ट्रने प्रश्न तो किया; परन्तु सारी गीता सुनने पर उसका क्या हुआ—यह आप बता सकते हैं? उसने देखा कि यह संजय तो सर्वथा श्रीकृष्णके पक्षपाती हैं। यह कहता है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ १८.७८

अब धृतराष्ट्र पूछें तो क्या पूछें? उन्होंने तो मन-ही-मन यही कहा होगा कि; बहुत बढ़िया भविष्य तुमने बताया ज्योतिषीजी! दस दिनका युद्ध हो चुका है, भीष्मपितामह शरशय्यापर गिर चुके हैं और उसके बाद यहाँ गीताके सम्बन्धमें धृतराष्ट्रका प्रश्न तथा संजयका उत्तर चल रहा है। ऐसी स्थितिमें अट्ठारहवें दिन क्या होगा— यह बात पूछनेकी हिम्मत धृतराष्ट्रकी नहीं पड़ी।

अरे! हाँ, योगके निर्देशक, योगके निर्वाहक, योगके फलदाता योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और अपने कर्तव्यमें संलग्न, महापौरुषिक अर्जुन धनुर्धारण करके खड़ा है,

विजय तो वहीं उसी पक्षमें जायेगी। इसलिए—धृतराष्ट्र प्रश्नकर्त्ता होते हुए भी संजयके उत्तरका अभिनन्दन नहीं करते हैं। एक अन्धेका इससे बढ़िया लक्षण और कुछ नहीं हो सकता।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ (१)

धृतराष्ट्रने अपने नामके अनुसार दुनिया पकड़ रखी है। पाण्डुके राज्यको अपने पक्षमें धारण कर लेनेके कारण इनका नाम धृतराष्ट्र यथार्थ ही है। व्यासजीने इनका नाम बहुत सोच-विचारकर रखा था। राष्ट्र तो होगा पाण्डुका और मिलेगा पाण्डवोंको, लेकिन यह बीचमें उसको पकड़ रखेगा, छोड़ना नहीं चाहेगा, मुट्ठी बाँधकर रखेगा; इसलिए उसका नाम धृतराष्ट्र।

अरे भाई, यह दुनिया पहले भी हमारी नहीं थी, बादमें भी हमारी नहीं रहेगी। यह तो मिथ्या है। न तुम पिताके वीर्यमें आये, न माताके पेटमें आये, न ऐसी आकृति-विकृति धारण की। फिर भी मैं-मैं, मेरा-मेरा, करते-करते सारी जिन्दगी बीत गयी और बीती जा रही है। क्या है तुम्हारा मैं और क्या है तुम्हारा मेरा? तुम क्यों धृतराष्ट्र बने हुए हो? धृतराष्ट्र माने दृष्टिहीन; मिथ्या संसारके साथ सम्बन्ध रखनेवाला!

यहाँ एक बात ध्यानमें लेनेकी है कि धृतराष्ट्रको यह भलीभाँति मालूम था कि युद्ध प्रारम्भ हो गया है। भाष्य-दीपिकामें यह बात लिखी है। मधुसूदनीमें तो लिखा है कि धर्मक्षेत्रके प्रभावसे दुर्योधनके मनमें धर्मबुद्धि आगयी होगी। कुरुक्षेत्रमें अपने पूर्वजोंका स्मरण होनेके कारण युद्धसे निवृति हो गयी होगी। युधिष्ठिरके मनमें भी क्षमाका भाव आगया होगा। इसलिए *'किमकुर्वत'* का सामान्य अर्थ नहीं है।

काशीमें एक बड़े विद्वान् महात्मा थे। वे गीताके सिवाय दूसरा ग्रन्थ पढ़ते नहीं थे। अपनी-अपनी निष्ठा है। उनका कहना था कि—*'किमकुर्वत'* का अर्थ है—*'किं विशिष्टं अकुर्वत।'* जब धर्मक्षेत्र—कुरुक्षेत्रमें युद्ध करनेकी इच्छासे कौरव और पाण्डव इकट्ठे हुए तो उन्होंने युद्ध किया कि नहीं किया, यह प्रश्न नहीं। प्रश्न यह है कि वहाँ कोई खास बात हुई कि नहीं? *'प्रश्नो विशेषविषयः'*—यह जो प्रश्न है विशेष-विषयक प्रश्न है। यह *'किम्'* पदका अर्थ हुआ। इसलिए संजय उत्तरमें कहते हैं कि वहाँ विशिष्ट घटना यह घटित हुई कि अर्जुनको मोह हुआ और श्रीकृष्णने उपदेश करके उस मोहको दूर किया।

अब देखो, यह **'धर्म'** शब्द भगवान्का एक नाम है। आप लोगोंमें-से जो 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ करते होंगे, उनको मालूम होगा कि *'धर्मो धर्मविदुत्तमः।'*

भगवान्‌का एक नाम है धर्म और भगवान्‌का ही एक नाम है *'धर्मविदुत्तमः'*— धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ। जहाँतक उनको जाननेकी बात है, वे तो स्वयं ही जानते हैं, दूसरा कोई क्या जानेगा उनको!

तो यह है धर्मक्षेत्र। धर्मक्षेत्र शरीर है, धर्मक्षेत्र अन्तःकरण है । जहाँ स्वयं भगवान् रथपर बैठे हों और तोत्रवेत्रैकपाणि होकर दर्शन दे रहे हों, उसको धर्मक्षेत्र नहीं कहेंगे तो और किसको कहेंगे!

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम। १३.२

क्षेत्र माने शरीर होता है। यदि कहो कि यहाँ क्षेत्रकी क्या जरूरत है? तो भगवद्ज्ञान प्राप्त करनेमें क्षेत्रका ज्ञान भी आवश्यक है। उसके लिए धर्मको भी जानो और धर्मक्षेत्रको भी जानो। पण्डित लोग तो यज्ञशालाको ही धर्मक्षेत्र बोलते हैं। लेकिन भाई, यह तो कुरुक्षेत्र है! वैसे पाण्डव भी कौरव ही हैं। कुरुवंशमें ही पाण्डवोंका भी जन्म हुआ है। वे कौरवोंसे पृथक् नहीं हैं, परन्तु उनकी विशिष्टताके कारण उन्हें कौरववंशमें उत्पन्न होनेपर भी पाण्डव कहा गया। इक्ष्वाकुवंश तो एक ही है, परन्तु उनमें-से रघुवंश चल गया। क्योंकि इक्ष्वाकुवंशमें रघु ऐसे विशिष्ट पुरुष हुए हैं कि उन्होंने पुरानी परम्पराको दबा दिया। इसी तरह कुरुवंशमें पाण्डव लोग ऐसे हुए कि कौरव संज्ञा तो अधर्मके पक्षमें रहनेवालोंकी हो गयी और पाण्डव संज्ञा धर्मके पक्षमें रहनेवालोंकी हो गयी।

आध्यात्मिक दृष्टिसे धर्मक्षेत्र भी शरीर है और कुरुक्षेत्र भी शरीर है। करनेका जो साधन होता है, उसको कुरु कहते हैं। *'कुरवः करणानि'*—करणोंका नाम है कुरु। हाथसे यह करो, पाँवसे यह करो, आँखसे यह करो। कहनेका यह अभिप्राय है कि धर्म केवल यज्ञशालामें ही नहीं रहता, हमारे कर्मक्षेत्रके बीचमें भी रहता है। गीतामें मुख्य रूपसे यज्ञशालावाले धर्मका नहीं, हमारे जीवनमें रहनेवाले धर्मका प्रतिपादन है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। १८.४६

इसमें हमारे दैनिक कर्तव्योंको धर्म नामसे कहा गया है। केवल यज्ञशालामें हवानादि ही धर्म हैं, यह अभीष्ट नहीं है गीतामें।

आगे चलकर कहा गया है कि '**समवेता युयुत्सवः**।' कौरव-पाण्डव परस्पर सम्बन्धी होकर भी लड़ते हैं। दर्शनशास्त्रमें '**समवेत**' शब्दका अर्थ होता है *'नित्य-सम्बद्ध-समवाय-सम्बन्धेन*।' माने ये एक ही वंशके हैं, रिश्तेदार हैं, नातेदार हैं, मिले हुए हैं। एक ही मनमें काम भी आया और ब्रह्मचर्य भी आया। एक ही मनमें लोभ भी आया, सन्तोष भी आया। एक ही मनमें क्रोध भी आया, समाधि भी

आयी। इसलिए कौरव-पाण्डव मनकी दृष्टिसे सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार एक ही वंशके दोनों हैं। परन्तु आपसमें लड़ते हैं—*'समवेता अपि युयुत्सवः, योद्धुमिच्छवः।'* एक ही मनमें पैदा हुए हैं और आपसमें लड़ते हैं।

'मामकाः' मम मम इति कथयन्ति गायन्ति इति मामकाः। ममका एव मामकाः।

धृतराष्ट्रके बेटोंकी पहचान क्या है? वे कहते हैं कि यह मेरा, यह मेरा, यह मेरा और जिनका अन्तःकरण बिल्कुल शुद्ध है, जो शुद्ध हृदयके हैं, वे पाण्डव हैं। अर्जुन माने धवल होता है। जिसकी लकड़ी बहुत अच्छी मानी जाती है, वह अर्जुन वृक्ष होता है सीधा-सीधा। वह तो धवल है, शुद्ध। एकने पूछा कि भगवान्‌का दर्शन कहाँ होगा? तो दूसरेने कहा कि जरा वनकी ओर देखो, किसी वनमें होगा। भला, इस घने वनमें कहाँ होगा? अरे बाबा, वह जो सबसे ऊँचा-ऊँचा पेड़ दिखता है; क्या है? बोले कि अर्जुन है! बस ठीक है, उसीको निशाना लगाकर पहुँच जाओ। जब तुम अर्जुनके पास पहुँच जाओगे तो भगवान्‌का दर्शन स्वयं हो जायेगा।

तो **'समवेता युयुत्सवः, मामकाः पाण्डवाश्चैव।'** इसका मतलब यह है कि 'धर्मवृत्ति और अधर्मवृत्ति, ममत्वमूलक वृत्ति और शुद्ध वृत्ति'—ये दोनों एक ही सम्बन्धसे सम्बन्धी हैं। इसलिए धृतराष्ट्र कहते हैं कि—**'किमकुर्वत संजय।'** संजय, तुम यह बात बताओ कि इन्होंने प्रारम्भमें कोई गणना करने योग्य श्रेष्ठ काम किया कि नहीं किया?

धृतराष्ट्रने संजयसे इसलिए पूछा कि और कोई व्यक्ति होगा तो पक्षपाती होगा। जिन्होंने रागद्वेषादि दोषोंपर विजय प्राप्त नहीं की होगी, वे तो एकपक्षकी बात ही सुनायेंगे। किन्तु संजय तो है सम्यक् जयशील, निष्पक्ष। इसने अपने पक्षपातपर विजय प्राप्त कर ली है, इसलिए बिल्कुल ठीक-ठीक बतायेगा।

अब आओ हम आपको आगे ले चलते हैं। संजयने धृतराष्ट्रसे उनके प्रश्नके उत्तरमें कहा कि हुआ—बहुत बढ़िया हुआ। पहले अपने बेटोंकी बात सुनो, फिर पाण्डवोंकी भी सुनो।

देखिये, यदि आपको प्रथम अध्यायका थोड़ा गम्भीरतासे अध्ययन करना हो तो पहले सोलहवें अध्यायको पढ़ लीजिये। उसमें वर्णित दैवी सम्पदाका क्या लक्षण होता है और आसुरी सम्पदाका क्या लक्षण होता है—इसको अपने हृदयमें ठीक-ठीक ले लीजिये। दैवी सम्पदा त्यागके लिए होती है और आसुरी सम्पदा ग्रहणके लिए होती है। इस दृष्टिसे आप देखेंगे तो पायेंगे कि आसुरी सम्पदाके सारे लक्षण दुर्योधनमें घटते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। १६.४

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और पारुष्य—ये सब आसुरी सम्पदाएँ हैं। ये जिसके अन्दर होती है, उसका वेश कुछ भी हो; उससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। वेश-भगवान्की हम बहुत पूजा करते हैं। परन्तु आसुरी सम्पदाके कई लक्षण ऐसे हैं—जिनके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अमुक कपड़ेके भीतर वे प्रवेश नहीं करते। रावणको ही देखिये। वाल्मीकि रामायणके अनुसार वह गेरुआ कपड़ा पहनकर सीताहरण करनेके लिए चला गया। वहाँ उसके लिए 'यति' शब्दका प्रयोग है। इसलिए आसुरी सम्पदा किसीकी वेश-भूषाको नहीं पहचानती और वह सीधे उसके दिलमें जाकर बस जाती है। इसी प्रकार दैवी सम्पदा भी किसीके दिलमें बस जाती है।

तो, संजय पहले दुर्योधनकी चर्चा प्रारम्भ करते हैं। दुर्योधनने देखा कि पाण्डवोंकी सेना मोर्चेपर युद्धशास्त्रकी रीतिसे, धनुर्वेदकी रीतिसे मोर्चेबन्दी करके खड़ी है।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ (२)

दुर्योधन यदि पहले आचार्य द्रोणके पास जाकर देखता तो बात दूसरी होती। वह पहले सेना देखकर फिर आचार्यके पास गया। उल्टा हो गया कि नहीं? पहले गुरुजीके पास जाता, आज्ञा लेता और कहता कि महाराज, हम अपनी सेनाके दर्शन करें? फिर वे कहते कि हाँ बेटा, दर्शन कर आओ। किन्तु नहीं, वह तो पहले मन-मुखी होकर सेनाका दर्शन करने गया और देखकर गुरुजीके पास आया और बोला कि मोर्चेबन्दी तो बड़ी जबर्दस्त है। वह राजा है न! आचार्य द्रोणको खुश करना चाहता है। क्योंकि राजाका काम है रञ्जन।

असलमें बात यह है कि द्रोणाचार्यको ही होना चाहिए था सेनापति। क्योंकि वही सबके शिक्षक थे, सबसे बड़े थे। परन्तु उसने अपने शिक्षकको सेनापति नहीं बनाया, भीष्मको बना दिया। भीष्मपर भी उसका पूरा विश्वास था कि नहीं था इसमें शंका है। जिसको अपने सेनापतिपर भी शंका हो, उसकी विजय तो संदिग्ध हो ही गयी।

तो, दुर्योधन आचार्यके पास गया और कहा गया कि '**राजा वचनमब्रवीत्**'। संस्कृतमें '*राजा अब्रवीत्*' इतना कहनेसे 'राजा बोला' यह अर्थ निकल आता। पर 'वचनम्' शब्दका अर्थ है '*वक्तव्यं*' अर्थात् राजा दुर्योधनको उस समय जैसा बोलना चाहिए था वैसा बोला माने अपनी राजनीतिके अनुसार बोला। बोला क्या, वहाँ तो वह हुकुम ही चलाने लगा। पर यह राजागिरी गुरुओंपर नहीं चलती।

हमारे एक परिचित बड़े सेठ हैं। हम जानते हैं कि वे ईश्वरको मानते हैं, बड़े प्रेमसे मानते हैं और उसकी पूजा करते हैं। तब भी जब हम उनसे कहते हैं कि ईश्वर है तो वे बोलते हैं कि 'नहीं, नहीं! स्वामीजी, यह तो विज्ञानसे ही सिद्ध है। परन्तु महाराज, उसका नाम तो मुँहसे निकलता ही नहीं, फिर कैसे माना जाय कि ईश्वर है।' यह उनकी बोलनेकी शैली है। उसी प्रकार दुर्योधन हुकुम देते हैं। इसलिए गुरुजीसे बोलते हैं कि—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्यमहतीञ्चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ (३)

'**आचार्य**' तो चला गया पीछे और '**पश्य**' आ गया पहले। कहते हैं कि '**पश्य**'—देखो महाराज! यह उनका हुकुम ही तो हुआ न! *'इमान्'* नहीं कहते, '**एताम्**', कहते हैं। अरे इतनी बड़ी सेना है कि मैं तो पूरी-पूरी देख नहीं सका, आप देख लो! अच्छा भाई, यह किनकी सेना है? '**पाण्डुपुत्राणां महतीं चमूम्**'— यह पाण्डुपुत्रोंकी सेना है। धर्मराजकी सेना है, अर्जुनकी सेना है—ऐसे नहीं बोलता है—पाण्डुके लड़कोंकी सेना है। साथमें यह भी याद दिलाता है कि—

तव शिष्येण द्रुपदपुत्रेण व्यूढाम्।

देखो, आपका चेला ही आपका सामना करनेके लिए आया है, विरोधी-पक्षकी ओरसे। द्रुपदसे द्रोणाचार्यकी शत्रुता हो गयी थी—ऐसी कथा महाभारतमें है। बाल्यावस्थामें दोनों बड़े मित्र थे, बाँट-बाँटकर खाते थे और एक साथ मिलकर पढ़ते थे। उस समय द्रुपदने कहा था कि 'जब हम राजा हो जायेंगे तो आधा राज्य तुम्हें दे देंगे।' एक दिन द्रोणाचार्यके बेटे अश्वत्थामाको पीनेके लिए दूध नहीं मिला और वे रोने लगे। तब अश्वत्थामाकी माताने पानीमें आटा मिलाकर उसे सफेद करके कहा कि बेटा, लो दूध पी लो! यह देखकर द्रोणाचार्यको रोना आगया कि हमारे बेटेको पीनेके लिए दूध नहीं मिलता। उनको याद आया कि हमारे मित्र द्रुपद ने कहा था कि 'हम राजा हो जायेंगे तो आधा राज्य दे देंगे। इसलिए वे द्रुपदके पास गये और आधा राज्य माँगने लगे। द्रुपदने कहा कि तुम पागल हो गये हो। तुम्हारा सिर फिर गया है? अरे, बचपनमें कही गयी बातकी अब क्या कीमत है? हाँ कहो तो हम तुम्हारे लिए हर रोज आधा सेर या पाव भर दूधका बन्दोबस्त कर देते हैं। यह सुनकर द्रोणाचार्य बहुत नाराज हुए। इसके बाद उन्होंने पाण्डवोंको सिखा-पढ़ाकर द्रुपदसे युद्ध करवाया और बदला चुकाया। यहाँ दुर्योधन उसी घटनाकी याद दिलाते हुए कहते हैं कि यह उसी द्रुप्दका बेटा है और तुम्हारा शिष्य है। परन्तु तुम्हें उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह बड़ा बुद्धिमान् है—**धीमता**। शत्रुको कभी छोटा नहीं समझना चाहिए।

रिपु रुज पावक प्रभु अहि गनिय न छोट करि।

फिर इनकी सेनामें जो बड़े शूर-वीर हैं, बड़े-बड़े बाणधारी हैं—'**महेष्वासाः।**' भीम अर्जुनके समान तो बहुत-से हैं। युयुधान हैं, विराट हैं, द्रुपद हैं। ये सब महारथी हैं। धृष्टकेतु, चेकितान, काशीराज, वीर्यवान् पुरुजित्, कुन्तिभोज तथा शैव्य भी बड़े महापुरुष हैं। युधामन्यु तो परम विक्रान्त हैं। यह शत्रुओंको मार ही डालता है। फिर उत्तमौजा, सौभद्र, द्रौपदेय—ये सब-के-सब महाबलवान् इनके पक्षमें हैं।

देखो, इन सब वीरोंकी कथा हम सुनाने लगें तो पूरा महाभारत ही आजायेगा। इसलिए हम गीताकी तरह इनके नाममात्रका उल्लेख करके आगे बढ़ते हैं।

जब दुर्योधनने शत्रु-पक्षका वर्णन कर लिया तब अपने पक्षके वीरोंका वर्णन करने लगा। यहाँ आप उसके बोलनेकी शैली देखिये। आप भी इस बातका ध्यान रखना कि कभी किसी पण्डित या साधुकी प्रशंसा करनी हो तो सबसे पहले आपको अपने सम्मुख उपस्थित व्यक्तिका ही नाम लेना चाहिए और कहना चाहिए कि आप सबसे बड़े महात्मा हैं। इसलिए दुर्योधन कहता है कि '**भवान् भीष्मश्च कर्णश्च**'—आप हैं, भीष्म हैं, कर्ण हैं। यह कहकर दुर्योधनने भीष्मको दूसरे नम्बरपर कर दिया। एक नम्बरपर द्रोणाचार्यको रखा। यह बोलनेकी राजनीति है।

'**भवान् भीष्मश्च कर्णश्च**'—कहनेका तात्पर्य यह है कि आप तो आत्मा हैं, भीष्म प्राण हैं, कर्ण इन्द्रिय हैं। फिर कहता है '**कृपश्च समितिञ्जयः**'—कृपाचार्य हैं, अश्वत्थामा हैं, विकर्ण हैं, सोमदत्तके पुत्र हैं तथा अन्य भी बहुत-से शूर-वीर हैं।

अब देखो, यहाँ आसुरी सम्पत्तिकी बात आगयी। पाण्डवोंके साथ तुलना कर लो। दुर्योधन कहता है कि '**मदर्थे त्यक्तजीविताः**'--ये सब मेरे लिए जीवनका परित्याग करके आये हैं माने—ये सब मर-मरकर हमें जिन्दा रखेंगे।

इसके विपरीत दैवी-सम्पदा-सम्पन्न अर्जुन क्या कहता है? अर्जुन कहता है कि जिनके लिए मैं लड़ना चाहता हूँ, वे प्राण और धनका परित्याग करके आये हैं—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगा सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ (३३)

इसका अर्थ हुआ कि अर्जुन लोगोंकी भलाईके लिए युद्ध करना चाहता है। अर्जुन धर्मके लिए लड़ रहे हैं और दुर्योधन स्वार्थके लिए लड़ रहे हैं। दोनोंकी सेनामें '**नानाशस्त्रप्रहरणाः**'—बड़े-बड़े युद्ध-विशारद हैं। इसके बाद दुर्योधन कहता है कि— **अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।**

टीकाकारोंने इसके अर्थपर बड़ी-बड़ी उड़ानें भरी हैं। उनके अनुसार मानों द्रोणाचार्यने पूछा कि भाई, तुम्हारा बल कैसा है, तुम्हारी सेना कैसी है ? इसपर दुर्योधनने कहा कि महाराज! सेना तो बहुत बढ़िया थी, पर भीष्म सरीखे बूढ़े इसके सेनापति बना दिये गये, अत: अपर्याप्त है।

अरे भाई, भीष्म और भीमकी तुलना करोगे तो यह देखोगे कि भीमसे भीष्म बड़े हैं। भीष्म प्राण हैं और भीम मनोबल हैं। वायुके अवतार हैं भीमसेन। जिससे मनोनिरोध होता है। दोनोंकी जब टक्कर हो जाये तो क्या है ? *'प्राणस्पन्दनिरोधनम्'* भी चाहिए और *'वासना-संपरित्याग:'* भी चाहिए। *'वासना-संपरित्याग:'* से मुक्त होनेके कारण भीष्ममें एक 'ष्' और है। 'भी' और 'म'के बीचमें एक मूर्धन्य 'षकार' है। इसलिए भीष्म मूर्धन्य हो गये। दुर्योधनके कहनेका तात्पर्य यही है कि हमारा बल, हमारी सेना ऐसी है कि इसको कोई हरा नहीं सकता क्योंकि इसके रक्षक हैं भीष्म।

पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्। (१०)

पाण्डवोंकी सेना तो थोड़ी है, गिनी-गिनायी है, हमसे छोटी है। सेनाका बल तो कोई बल नहीं होता, बल होता है उसके रक्षकका। भीम पाण्डव सेनाका रक्षक है, जिसके भीतर मूर्धन्य 'षकार' नहीं है, वह हमारा सामना क्या करेगा ?

एक बात और है। युद्धकी नीति है कि अपने सैनिकोंको, सेनापतियोंको कभी अनुत्साहित नहीं करना चाहिए। उनका मनोबल बढ़ाना चाहिए।

स्तूयमाना हि देवता बलेन बर्द्धते।

जितनी स्तुति करोगे, उतना ही देवताका बल बढ़ेगा। इसलिए कहो कि अरे ओ ब्राह्मण, तू विषय-भोगके लिए पैदा नहीं हुआ। अरे ओ मन, तू वासनाके अधीन होनेके लिए नहीं पैदा हुआ है। अरे ओ बुद्धि, तू छोटे-छोटे विषयोंमें आसक्त होनके लिए नहीं है। तू विवेक कर परब्रह्म परमात्माका।

दुर्योधन आगे कहता है सबलोग अपने-अपने स्थानपर, मोर्चेपर खड़े हो गये हैं। अब आपका कर्तव्य है कि सेनापतिकी रक्षा करें।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि। (११)

आप सब भीष्मकी ही रक्षा करें। एक विनोदी पुरुषने ऐसी टीका की है कि दुर्योधनके मनमें यह बात थी कि भीष्मपितामह सेनापति तो बने हैं, लेकिन ये कहीं कुछ गड़बड़ न कर दें। इसलिए वह बोला कि आपलोग इनको घेरकर रखना। भीष्मके ऊपर हमारा जितना विश्वास है, उससे ज्यादा विश्वास आप लोगोंपर है।

दुर्योधन मतलबी है और मतलबी लोग जिससे बात करते हैं, उसीके ढंगकी बात करते हैं।

अब भीष्मपितामहने समझा कि ओहो, हम हो गये रक्ष्य और सब हमारे रक्षक हो गये। इसलिए दुर्योधनकी बातका आदर करते हुए कुरु-वृद्ध—पितामह भीष्मने सिंहनाद करके शंखनाद किया। यहाँ **'शंख'**का अर्थ देखो— 'शं' माने शान्ति 'खं' माने छिद्र। *'शं खं यत्र'* अर्थात् जिसके छिद्रमें शान्ति है। अब तो **'सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्'**—शंख बजा और इतना भयङ्कर बजा कि दूसरे बाजोंको बजानेकी जरूरत ही नहीं पड़ी। दूसरे बाजे शंखध्वनिकी चोटसे ही बजने शुरू हो गये। **'अभ्यहन्यन्त'** यहाँ कर्म ही कर्ता हो गया। जिन बाजोंको बजाना चाहिए था, वे सब-के-सब बिना बजाये ही बजने लगे। बड़ा भारी शब्द हुआ।

देखो, युद्ध छेड़ा गया कौरवोंकी ओरसे, युद्धकी घोषणा हुई कौरवोंकी ओरसे। आप इसमें कुछ उलटापन देखते हैं कि नहीं? राज्य छिना हुआ था पाण्डवोंका, उसपर कब्जा कर रखा था कौरवोंने। यदि अपना राज्य वापिस कराना था, लौटाना था तो पाण्डवोंकी ओरसे पहले शंख बजना चाहिए कि अब हम अपना राज्य, जो तुम्हारे कब्जेमें है, उसे लौटानेके लिए युद्ध प्रारम्भ करते हैं। परन्तु कौरवोंको त्वरा थी। वे समझते थे कि जो पहले आक्रमण कर देगा, वह विजयी होगा। इसलिए पहले उन्होंने ही युद्ध छेड़ दिया।

महाभारतको जब आप बहुत ढूढ़ेंगे तब उसमें आपको दुर्योधनके सारथिका नाम मिलेगा। महाभारतमें सारथिका नाम है तो सही, पर बहुत ढूँढ़नेपर ही मिलेगा। लेकिन अर्जुनके सारथिको देखिये—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ। (१४)

अर्जुनके रथके घोड़े सफेद हैं। यहाँ रुकिये और देखिये कि आपकी इन्द्रियोंके घोड़े सफेद हैं कि नहीं? यदि नहीं हैं तो आपका जीवन श्रीकृष्णार्जुनका रथ नहीं बनेगा। क्यों नहीं बनेगा? इसलिए नहीं बनेगा कि—*'इन्द्रियाणि हयानाहुः'*—(क० उप० १.३.४) इन्द्रियोंका नाम है घोड़ा। ये शरीररूपी रथको लेकर चलती हैं। इसमें आत्मा है रथी और यदि इन्द्रियरूप घोड़ेकी बागडोर मन, प्र ग्रह—बुद्धि उपहित चेतनके हाथमें न हो तो क्या दशा होगी आपकी? आगे चलकर गीतामें आयेगा—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ २.६७

आपके आगे-आगे इन्द्रियाँ चलेंगी, पीछे-पीछे मन चलेगा और मनके पीछे बुद्धि चलेगी। अब यदि जिधर घोड़े ले जायँ उधर सारथि जायेगा तो मर गये आप। ऐसेमें उचित यही है कि जिधर सारथि ले जाय उधर घोड़े जायँ। फिर इन्द्रियाँ होनी चाहिए श्वेत, उज्ज्वल, निर्मल और सात्त्विक। केवल एक इन्द्रिय नहीं, सब इन्द्रियाँ श्वेत ही हों।

अब, सारथि किसे कहते हैं ? *'सारयति अश्वान् इति सारथिः'*—जो घोड़ोंको चलाये वह सारथि है। ऐसा सारथि कौन हो सकता है ? हमारा अन्तर्यामी परमेश्वर। वही हमारे इन्द्रियरूप घोड़ेका सञ्चालन करे, उसीके हाथमें हमारे रथकी बागडोर हो तभी हमारा मंगल होगा।

यहाँ जो रथी-सारथि हैं, इनमें एक माधव और दूसरे हैं पाण्डव। एक मधुवंशी हैं और दूसरे हैं पाण्डुवंशी। सोपाधिक परमात्मा ही कृष्ण है और सोपाधिक परमात्मा ही अर्जुन है। काली रात बनकर भी परमात्मा ही आता है और सफेद दिन बनकर भी परमात्मा ही आता है— *'निशश्च कृष्णमहरजुर्नश्च'* (ऋग्वेद ६.९.१) *'न हन्यते इति— अहः* अर्थात् कालः'। काल ही कृष्ण है और काल ही अर्जुन है। रात भी वही और दिन भी वही है। एक रथपर बैठकर दोनों आये और उन्होंने दिव्य शंखका नाद किया। गीतामें शंखोंके नाम भी दे दिये गये हैं। उनमें जो पाञ्चजन्य है वह क्या है ? जनता ही पाञ्चजन्य है। मैं कल्पना करके यह बात नहीं बोल रहा हूँ, यह शास्त्रीय व्याख्या है— *'पाञ्चजनाः=मनुष्याः।' 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः'* (अमरकोश २.६.१) अमरकोषमें लिखा है कि *'पाञ्चजनाः'* माने पाँच आदमी। पाँच आदमी माने पञ्चोंकी राय। **'पाञ्चजन्यं हृषीकेशः'** (१५)—भगवान् श्रीकृष्ण जनताकी रायका शंख बजाते हैं। उनके लिए जो हितकारी है— *'पञ्चजनेभ्यो हितः*—पाञ्चजन्यः'। यहाँ अनिष्ट निवारण हेतु अर्थ है। यहाँ हित अर्थमें तद्धित प्रत्यय हो गया है। **'देवदत्तं धनञ्जयः'** (१५) अर्जुन ईश्वरके दिये हुए शंखको बजाते हैं। उन्होंने जब निवात-कवच नामक असुरोंका वध किया था तब भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उनको शंख दिया था। इसलिए अर्जुन अपना शंख नहीं बजाता है और ईश्वर भी अपना शंख नहीं बजाता, जनताकी रायसे, उनकी भलाईके लिए जो शंख है, वह शंख बजाता है।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मावृकोदरः॥ (१५)
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ (१६)

× × ×

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ (१७)

× × ×

सौभद्रश्च महावाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक्-पृथक्॥ (१८)

सबने अपना-अपना शंख बजाया। भीमसेनने पौण्ड्र नामक शंख बजाया और युधिष्ठिरने अनन्त विजय नामक शंख बजाया और मानो वे बोले कि जय हमारी नहीं होगी, जीत होगी तो श्रीकृष्णकी। जीतका सेहरा हमारे सिर पर नहीं, श्रीकृष्णके सिरपर होगा। '**अनन्तविजयम्**'—इसका अर्थ है कि अनन्तकी जीत होगी।

इस प्रकार जब सबने अपना-अपना शंख बजा लिया तब क्या हुआ? देखो, यहीं कौरवोंकी पराजय प्रारम्भ हो गयी। जितने भी कौरव सेनामें थे, वे सब मरे तो नहीं, लेकिन हार्टट्रबल सबको हो गया—

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ (१९)

पाण्डव पक्षकी शंख-ध्वनियोंने दुर्योधन आदि जितने भी धृतराष्ट्र माने कौरव थे, उनके हृदयोंको विदीर्ण कर दिया। उनकी सभी नस-नाड़ियाँ, जो पम्प करती हैं, फट गयीं। अब ये बेचारे क्या लड़ेंगे! भला ऐसे कमजोर हृदयवाले भी कहीं लड़ते हैं! शंखोंके तुमुल निनादसे पृथवी और आकाश पूर्ण गुञ्जायमान हो गये। जब दोनों ओरसे तैयारी पूरी हो गयी तब अर्जुनने देखा कि शंख तो श्रीकृष्णने भी बजाया है—

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः (१४)

उधर अर्जुन-रूप मनने शंख बजाया और इधर भगवान्ने शंख बजाया। इससे दोनों पक्षोंका जो न्यूनाधिक तारतम्य है, वह बिल्कुल स्पष्ट हो गया। दुर्योधनकी सारी प्रक्रिया शंख बजनेसे पहले की थी और अर्जुनकी सारी प्रक्रिया भगवान्के शंख बजा देनेके बादसे है।

यहाँ एक बात देखो कि भगवान् तो युद्ध करनेके लिए शंख बजा रहे हैं और अर्जुन कह रहे हैं कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। यह तो वही बात हुई कि जिसके लिए चोरी करो वही कहे कि तुम चोर हो। भगवान् तो अर्जुनके पक्षमें लड़नेके लिए आये हैं और अर्जुन कह रहे हैं कि तुम लड़नेकी तैयारी करते हो तो करो, लड़ना हो तो लड़ो, मैं नहीं लड़ूँगा। इसका अर्थ हुआ कि कौरवोंसे द्वेष श्रीकृष्णके मनमें है, अर्जुनके मनमें नहीं है। वहाँ तो समता है। भगवान्से बड़ा भक्त बन गया। अब भगवान् क्या करें? बोले कि अच्छा बच्चू, हम तुम्हारा अहंकार तोड़ कर ही छोड़ेंगे।

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ (२०)

अर्जुनने धनुष उठा लिया और हृषीकेशको आदेश देनेकी मुद्रा बना ली। यही भगवान्की परीक्षा है। भगवान् हमारी परीक्षा नहीं लेते हैं। क्यों नहीं लेते हैं?

इसलिए नहीं लेते हैं कि वे अन्तर्यामी हैं, हृदयमें बैठे हैं। उनको यदि कुछ अज्ञात हो, न जानते हों तब तो परीक्षा लें! लेकिन हमलोगोंको भगवान्‌के दिलका पता नहीं चलता कि उनके दिलमें क्या है? इसलिए अर्जुनने सोचा कि मैं ही भगवान्‌की परीक्षा ले लूँ कि ये हमारा साथ देते हैं कि नहीं? उसके बाद अर्जुनने कहा कि अच्छा, मैं हूँ रथी और तुम हो सारथि। इसलिए पहली बात यह है कि तुम हमारी आज्ञाका पालन करो!

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ (२१)

क्योंकि तुम तो बड़े पक्के हो। शस्त्र धारण न करनेकी प्रतिज्ञा करके और सचमुच शस्त्र छोड़कर हमारे रथपर सारथि होकर बैठे हो। अब यह बताओ कि पूरे सारथि बने हो या अधूरे बने हो? श्रीकृष्णने कहा कि अरे भाई बिल्कुल पूरे सारथि बने बैठे हैं। अर्जुनने कहा कि पूरे बने हो तो मैं जो कहूँ वह करो और मेरी आज्ञा मानो। मैं रथी होनेके नाते बड़ा हूँ और तुम सारथि होनेके नाते मेरेसे छोटे हो। इसलिए यदि नौकर बने हो तो मेरा हुकुम मानो। भगवान्‌ने कहा कि हाँ भाई! तुम्हारा हुक्म मानूँगा और उन्होंने वही किया जो अर्जुनने कहा। यही भगवान्‌की भगवत्ता है।

एक साधु थे हमारे बड़े मित्र। दूसरे एक सेठ थे, जो बड़े आदमी थे। उनकी प्रतिष्ठा बहुत बड़ी थी। एक दिन साधु मुझसे बोले कि चलो स्वामीजी, आज उस सेठके पास चलें। मैंने कहा कि अच्छा चलिये, किन्तु आप उस सेठके पास क्यों चलते हैं? आप तो इतने बड़े महात्मा हैं! क्या आपका सेठके पास चलकर जाना ठीक रहेगा? वे बोले कि चलकर कुछ पूछेंगे, सत्संग करेंगे। मैंने कहा कि महाराज, क्या वे आपसे ज्यादा जानते हैं, जो आप उनसे पूछेंगे, उनका सत्संग करेंगे? वे बोले कि देखो, वह तो हमारे पास आता नहीं और हमसे कुछ पूछता नहीं। इसलिए अब हम ही चलेंगे और पूछेंगे। इससे क्या फायदा? बोले कि देखो, हँसिया चाहे कुम्हड़ेपर गिरे, चाहे कुम्हड़ा हँसियेपर गिरे, कटेगा तो कुम्हड़ा ही। सेठ चेला बनकर कुछ भेंट-पूजा देगा। अब हम उसको गुरु बनाकर लेंगे। देना तो उसीको पड़ेगा। वह आने-जानेका किराया भी देगा और कहेगा कि ओहो, इतने बड़े महात्मा हमसे पूछने आते हैं तो हमारी बड़ी इज्जत बढ़ायी।

कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान् बहुत चतुर हैं। यदि वे अपने भक्तोंकी आज्ञाका पालन न करें तो भक्त भी उनकी आज्ञाका पालन करेंगे, यह कैसे मालूम पड़ेगा? तो अर्जुनने पहली आज्ञा यह दी कि दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ ले चलो! मैं निरीक्षण करूँगा कि कौन-कौन यहाँ लड़नेके लिए आये हैं और किन-किनके साथ मुझे इस युद्धमें लड़ना है। जो युद्धकी इच्छा रखते हैं, उनको

मैं पहचान लेना चाहता हूँ। इस प्रकार अर्जुन अभीतक लड़नेके लिए बिल्कुल तैयार है।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः। (२३)

यहाँ अर्जुन दुर्योधनको दुर्बुद्धि कहता है और कहता है कि कौन उसका प्रिय चाहता है! कौन चाहता है कि दुर्योधनकी जीत हो जाय!

एक बार एक माता वृन्दावनसे परमार्थ-निकेतन ऋषिकेशमें आयी थीं। वहाँ एक उससे भी बड़ी उम्रकी स्त्री थी। वह बार-बार समझाये कि बेटी, तुमको ऐसे रहना चाहिए। अन्तमें उस माताको कहना पड़ा कि चल, बड़ी सास बनी है, मुझको समझाने चली है। इसलिए भगवान्‌की जगहपर कोई अभिमानी होता तो कहता कि—अर्जुन, तुम मुझे हुक्म नहीं दे सकते, क्योंकि मैं तुमसे बड़ा हूँ। लेकिन भगवान् बोले कि जी हुजूर, आपका जो हुक्म, आपकी जैसी आज्ञा! और, ऐसा कहकर हृषीकेश भगवान्‌ने अर्जुनकी आज्ञानुसार रथको दोनों सेनाओंके मध्य स्थापित कर दिया—

एवमुक्त्वा हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ (२४)

देखो, भगवान् हैं हृषीकेश। हृषीकेश माने इन्द्रियोंका सञ्चालक स्वामी, जो भीतर रहकर सबका अनुशासन करता है—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्ताम्। (भागवत ४.९.६)
अन्तः प्रविष्टः जनानां शास्ता।

अर्जुन है **गुडाकेश**। गुडाकेशका अर्थ है—घुँघराले बालोंवाला। अर्जुनके बाल बड़े घुँघराले हैं, काले हैं, महीन हैं, घने हैं, चिकने हैं। बड़े सुन्दर-सुन्दर बाल हैं अर्जुनके। तभी तो उसको स्त्री बननेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। गुडाकेशका एक अर्थ यह भी है कि—गुडाका माने निद्रा और निद्राका ईश मीने निद्राजयी है। सोकर समय गँवाना कोई अच्छी बात नहीं है। इसलिए वृन्दावनके सन्तलोग कहते हैं—

अब का सोवे सखि! जाग-जाग
रैन बिहात जात रसबिरियाँ,
ललित किशोरी लूटन···· प्रीतमके घर लाला
अब का सोवे सखि! जाग-जाग।

यह वृन्दावनी निष्ठा है। कबीर कहते हैं कि—*'तेरी गठरीमें लागा चोर बटोहिया का सोवे?'* इसलिए अर्जुन जागता हुआ रहता है। यही उसका अधिकार है। बिना

विवेकके कोई काम नहीं करता है। सब काम सोच-समझकर करता है। वासनाके आवेशमें कोई काम नहीं करता है।

अर्जुनको गुडाकेश इसलिए भी कहते हैं कि—*'गुड=ब्रह्माण्डम्, अकति= व्याप्नोति इति गुडानः=शिवः स ईशो यस्य'।* माने, 'भगवान् शंकर इष्ट हुए हैं जिसके।' तात्पर्य यह है कि जिसने बाण-विद्या प्राप्त कर लिया, उसका नाम गुडाकेश है। आपने यह कथा सुनी होगी कि अर्जुनने बाण-विद्याके द्वारा किरात-वेषधारी शिवको सन्तुष्ट करके उनसे पाशुपतास्त्र प्राप्त कर लिया था। जब भगवान्ने 'जो आज्ञा' कहकर दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा कर दिया तब भीष्म, द्रोणने देखा और कहा कि अरे, यह रथ युद्ध-नियमके विपरीत कैसे आगे बढ़ा आ रहा है? वहाँ दुर्योधनने द्रोणाचार्यसे कहा था कि 'सेना देखो' और यहाँ भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि 'सेना देखो!' दुर्योधन अपने गुरुजीको आज्ञा दे चुका है कि आप पाण्डुपुत्रोंकी सेना देखिये और यहाँ भगवान् कह रहे है कि अर्जुन, कौरवोंकी सेना देख लो—

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति।

कुन्तीने भी अर्जुनको सन्देश भेजा था कि—

तदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः। उद्योग. ३७.१०

अर्थात् जिस कामके लिए क्षत्राणियाँ, राजपूतानियाँ बच्चा जनती हैं, वह समय आ गया है बेटा! यह **'पार्थ'** उसी क्षत्राणी माताका पुत्र है। यह अ-पार्थ नहीं है। अपार्थ माने संस्कृतमें होता है—अपगतार्थ=व्यर्थ। इसमें, अ तो है ही नहीं। *'पः=परमेश्वरः, अर्थः=प्रयोजनम् यस्य,'* जो परमेश्वरको प्राप्त करना चाहता है, उसका नाम है पार्थ, जिज्ञासु। तो, जब श्रीकृष्ण बोले कि अर्जुन, कुरुवोंको देख लो तब क्या हुआ? यही हुआ कि अर्जुनने सेनाके दोनों ओर देखा। वहाँ पिताके समान, पितामहके समान, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र-पौत्र, सखा, श्वसुर, सुहृद् सभी थे। बस, उनको देखते ही अर्जुनको आगयी कृपा। ऐसी ही कृपाके लिए गोस्वामी तुलसीदासने कहा है—*'रिपुपर कृपा परम कदराई।'* हमलोग वैदिक हैं, कोई जैन नहीं, अहिंसावादी नहीं हैं। यहाँ तो जो हमसे द्वेष करता है, उससे हम द्वेष करते हैं—*'योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः'* (यजुर्वेद १.२५)। वेदका मन्त्र है—

यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः।
निन्दाद्यो अस्मान्धिप्सा च सर्वन्तम्मस्मसा कुरु॥ यजुर्वेद ११.८०

इसका अर्थ है कि; उसको मसमसा कर दो, मीड़ दो जो हमसे द्वेष करता है। अरे हम तो अद्वैत ब्रह्म हैं। हमारे सामने द्वैत कैसे टिक सकता है?

जाके संमुख दुश्मन बैठो ताके जीवन को धिक्कार।

इसलिए जब अर्जुनके मनमें कृपा आ गयी तब भगवान्ने क्या कहा? उस '**कृपा**'को भगवान् श्रीकृष्णने आगे चलकर '**कश्मल**' कहा है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। (२.२)

लेकिन संजय बड़ा सज्जन पुरुष है। भगवान्ने कश्मल तो कहा, लेकिन यह भी कहा कि—'**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ**' (२.३)। बादमें अर्जुनने भी अपनी भाषामें सम्हाला तो कहा कि —'**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**' (२.७) किन्तु अर्जुनकी भाषामें जो '**कार्पण्य**' है और श्रीकृष्णकी भाषामें जो '**क्लैब्य**' है, कश्मल है, उसको (जैसे युधिष्ठिर दुर्योधनको सुयोधन बोलते हैं, वैसे ही) यह संजय अर्जुनके कश्मल, क्लैब्य और कार्पण्यको उनकी कृपा बोलता है। फिर '**आविष्टः**' (२.१) कहकर सम्भाल लेता है। माने अर्जुनकी यह कृपा सहज नहीं है, आवेशपूर्ण है। फिर अर्जुनको विषाद आ गया। बिना विषादके प्रसाद नहीं मिलता है। पहले विषाद होता है तब प्रसादकी प्राप्ति होती है। बच्चा नहीं रोये तो उसको मिठाई कहाँसे मिलेगी? अर्जुनने कहा कि श्रीकृष्ण, इन युयुत्सु स्वजनोंको देखकर मुझे ज्वर चढ़ गया है। सचमुच यहाँ अर्जुनने जो कुछ कहा है, वह सारा-का-सारा ज्वरका लक्षण है। आप आयुर्वेदसे मिला लेना। आयुर्वेदिक दृष्टिसे बुखार चढ़ गया अर्जुनको। शरीरमें रोग कब होता है?

व्याधेरनिष्ट - संस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात्।
चतुर्भिः कारणैः रोगाः प्रजायन्ते शरीरिषु॥

जब बात-वित्त-कफादिका प्रकोप हो, जो हम न चाहते हों, वैसा हो जाय, शक्तिसे अधिक परिश्रम किया जाय और जो हम चाहते हैं वह न हो तो इन्हीं चार कारणोंसे शरीरमें रोग आते हैं। इसलिए अर्जुनके मनमें जो विषाद आया, उससे उसके शरीरमें ज्वर आ गया और वह कहने लगा—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ (२९)

मेरे गात्र शिथिल हो रहे हैं, अवसन्न हो रहे हैं, मुँह सूख रहा है, शरीरमें कम्पन हो रहा है, रोयें खड़े हो रहे हैं, हाथसे धनुष गिर रहा है और त्वचामें दाह हो रहा है! हैं न ये सब बुखारके लक्षण! युद्धभूमिमें धनुष उठानेके बाद अर्जुनको बुखार चढ़ गया। कई विद्यार्थी ऐसे होते हैं कि परीक्षाके दिन उनको बुखार आ जाता है। परीक्षाके दिन मनमें डर होनेसे ही, भय होनेसे ही, विषाद होनेसे ही बुखार आता है। अर्जुन आगे कहता है—

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ (३०)

मेरा मन चक्कर काट रहा है, दिमाग भी चकरा रहा है और असगुन हो रहे हैं। यहाँ जो स्वजन हैं, इनको मारनेमें श्रेय नहीं देखता—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ (३१)

अरे, असगुन उधरके लिए हो रहे हैं कि तुम्हारे लिए हो रहे हैं? यह कैसे तुमको मालूम पड़ा कि असगुन तुम्हारे लिए हो रहे हैं? यह तो बुझदिलका लक्षण है। असगुन तो शत्रुके लिए हो रहे हैं और तुम उनको अपने लिए समझ रहे हो!

यह तो युद्धभूमि है और युद्धभूमिमें शत्रुको मारना यज्ञीय पशुके बधके समान है जिससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। '**आहवे**' माने हवन कर रहे हैं ये। जैसे यज्ञपशुका बध होता है, ठीक वैसे ही युद्धभूमिमें शत्रुका बध होता है और वह पुण्यजनक होता है। परन्तु यहाँ तो मामा, भाई आदि हैं। अर्जुन कहता है कि इनको मारनेमें मुझे श्रेय नहीं दीखता—'**न च श्रेयोऽनुपश्यामि।**' यज्ञभूमिमें पशुबधवाला याग भी प्रेय तो देता है, श्रेय नहीं देता। उससे स्वर्ग मिलता है, परन्तु श्रेय कहाँ मिलता है?

देखो, यहाँ हम वैदिक परम्पराके अनुसार आपको अर्थ सुना रहे हैं। युद्धमें स्वजनको मारना धर्मके विपरीत नहीं है। युद्धभूमि में मारा हुआ स्वजन भी स्वर्गमें जायेगा और मारनेवाला मर जाय तो वह भी स्वर्गमें जायेगा। स्वर्ग तो मिलेगा, परन्तु स्वर्ग प्रेय है, श्रेय नहीं है। इसलिए अर्जुनकी बात सुनकर भगवान्‌ने कहा कि अर्जुन, तुम मेरे सामने श्रेय-प्रेयका विवेक करने लगे हो। लगता है कि तुम मुझे '**न च श्रेयोऽनुपश्यामि**' कहकर कठोपनिषद्‌का यह मन्त्र पढ़ा रहे हो—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥ १.२.२

अरे बाबा, यह जो धर्मका पालन है, वह यज्ञभूमिमें पशुयाग, युद्धभूमिमें शत्रुओंका बध और कृषि-वाणिज्य तथा कर्तव्य-पालन-कालमें कीड़ों-मकौड़ोंका वध हवन करते समय भी होता है। इसमें कोई पाप नहीं होता। फिर भी अर्जुन कहता है कि हमको प्रेय नहीं चाहिए। '**न काङ्क्षे विजयं कृष्ण**' (३१)—हमको विजय भी नहीं चाहिए, राज्य भी नहीं चाहिए और सुख भी नहीं चाहिए। हम राज्य, भोग और जीवन लेकर क्या करेंगे? इस प्रकार धर्म-विवेकका उदय हो गया अर्जुनके मनमें। लेकिन यह तत्त्वविवेक नहीं है। तत्त्वविवेकमें अधिकारका प्रश्न होता है। धर्म-विवेकमें अधिकारका प्रश्न नहीं होता कि वह शमदमादि सम्पदासे

सम्पन्न हो, तभी धर्म-विवेक करे। यदि धर्म-विवेकमें समाधि-सम्पन्न होगा तो धर्मकी जरूरत कहाँ रहेगी? शास्त्रमें सर्वत्र अधिकार-सम्पदाकी जरूरत नहीं होती।

जब अर्जुनके मनमें धर्म-विवेक जाग्रत हो गया तब वह कहने लगा कि अरे जिनके लिए हम राज्य, भोग, सुख आदि सब कुछ चाहते हैं, वे अपने प्राणधनका परित्याग करके सामने बैठे हैं। ये हमारे आचार्य, पितामह, मातुल, श्वसुर, भाई, साले आदि सब-के-सब सम्बन्धी हीं तो हैं। '**श्याला: सम्बन्धिनस्तथा**' यहाँ श्याला अर्थात् साला कहकर अर्जुनने सम्बन्ध भी जोड़ दिया। साले तो खास-सम्बन्धी होते हैं, अत्मीय होते हैं। यह भी कहा गया है कि *'श्यालको बुद्धिदायक:'*—साले बुद्धि सिखानेवाले भी होते हैं, अपने जीजाजीको पढ़ाते भी हैं। लेकिन ये जीजाजीको बुद्धि देने लगे तो, समझो गड़बड़ जरूर होगा। ईश्वर-कृपासे अर्जुनके साले भी स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। इसलिए मानों अर्जुनने स्मरण दिलाया कि यदि तुमको कोई बाण लग गया तब मुझको कैसा लगेगा? इसपर भगवान्‌ने कहा कि बहनोई अवतार तो मेरा बहुत हुआ लेकिन साला अवतार भी होना जरूर चाहिए था, सो हो गया। साला भी किसका? यह जो सुभद्रा है, वह कौन है? वह है भगवान्‌की योगमाया। वह केवल श्रीकृष्णकी शक्ति है और श्रीकृष्णके सिवाय दूसरे किसीके साथ इसका विवाह नहीं हो सकता। योगमायाके पति होंगे तो केवल श्रीकृष्ण ही होंगे। लेकिन यहाँ वह वसुदेवकी बेटी बनकर श्रीकृष्णकी बहन बन गयी। इसलिए भगवान्‌ने कहा कि ठीक है, मैं श्रीकृष्णरूपसे तो सुभद्रासे विवाह नहीं कर सकता, लेकिन अर्जुनरूपसे विवाह कर लेता हूँ। क्योंकि मुझमें तथा अर्जुनमें कोई भेद नहीं है—*'सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्।'* भगवान् शंकराचार्यने भी श्रीकृष्णको नारायण ही कहा है। गीताका जो शाङ्कर-भाष्य है, उसका प्रारम्भ 'नारायण' शब्दसे ही हुआ है—

नारायण: परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम्।

अव्यक्तसे परे हैं नारायण। *'नरा:=मनुष्या:। नारा:=तत्र स्थिता: चिदाभासा: तान् प्रेरयति, सत्तां स्फूर्तिंश्च ददातीति नारायण:।'* इसका अर्थ है—ये जो अलग-अलग शरीर हैं वे नर हैं। नरमें जो नार है वह आभास है, चिदाभास है और उन सबका जो सञ्चालन करे, उसका नाम नारायण है। जिससे सत्ता-स्फूर्ति मिले, जिससे चित्तास्फूर्ति मिले, जिससे आनन्दस्फूर्ति मिले, वह नारायण है। ये सबमें स्थित हैं। सबको जीनेके लिए दूध देते हैं, पीनेके लिए पानी देते हैं। इस प्रकार नारायणमें पूर्ति-विभाग है। उन्होंने सबको जीवन-सामग्री देनेका काम अपने हाथमें ले रक्खा है। उनका खाद्य-विभाग तो है समुद्र। यह जो क्षीर-सागर है, उससे बिना

नलीके, बिना पम्पके, सबके लिए दूध पहुँच जाता है। न केवल मनुष्योंको, बल्कि पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों—सबको भगवान्‌के क्षीर-सागरसे खुराक मिल जाती है। जैसे बेतारके तारसे सन्देश पहुँच जाता है, उसी तरह क्षीरसागरसे बिना नलीके ही सबके पास दूध पहुँच जाता है।

भगवान्‌का नारायण नाम इसलिए भी पड़ा कि नार माने होता है जल तथा अयन माने घर। 'नारम् अयनं यस्य स नारायणः' अर्थात् जल जिसका घर है अथवा जो सागरमें निवास करता है, उसका नाम है नारायण। भगवान नारायणरूपसे खाद्य-विभागका सञ्चालन अपने घरसे ही करते हैं। भगवान्‌ने लक्ष्मीजीको रख लिया अपने पाँवमें और कहा कि दबाओ पाँव। वे भगवान्‌की सेवा करनेके लिए उनके चरणोंमें आ जाती हैं और भगवान् उनको प्रेमसे अपने हृदयमें भी रख लेते हैं। स्वर्ण-लक्ष्मी और खाद्य-लक्ष्मी दोनों ही भगवान् नारायणके अधीन हैं। इनके अतिरिक्त एक ज्ञान-लक्ष्मी भी है और वह है गीता। इसमें अर्जुनने कहा कि '**श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।**' यहाँ अर्जुनका आशय यह है कि मधुसूदन! तुमने तो दैत्योंको मारा था, मधु-कैटभको मारा था। मधु-कैटभसे आपकी जो लड़ाई हुई, वह बड़ी प्रसिद्ध है। मधु माने राग और कैटभ माने द्वेष। हृदयमें जब नारायण आते हैं तब इन दोनोंको मारते हैं। परन्तु ये दोनों नारायणके मारे भी तबतक नहीं मरते जबतक वे स्वयं यह न कह दें कि तुम हमको मार दो!

'रक्षापेक्षामपेक्षते'—जब हम बोलते हैं तब राग-द्वेषके साथ तादात्म्य करके बोलते हैं कि हे भगवान्! रागको मिटा दो, द्वेषको मिटा दो और तब भगवान् मारते हैं राग-द्वेषको। लेकिन मारनेके पहले भगवान् कहते हैं कि अरे भाई, तुम लोगोंने बहुत दिन लड़ाई की। तुम दो हो और मैं एक हूँ। इसपर मधु-कैटभ रूप राग-द्वेषने कहा कि अवश्य ही तुम अकेलेने बहुत दिनोंतक हम दोनोंका सामना किया। अब वर माँगो! इसपर नारायणने कहा कि तुम हमारे हाथसे मर जाओ! तब वे बोले कि अच्छा मारो!

भगवान्‌ने कहा कि जहाँ रस न हो, जल न हो, वहाँ हम तुम्हें मारेंगे। इसलिए भगवान्‌को बोलते हैं मधुसूदन। अर्जुनने कहा कि भगवन्! तुमने तो मारा मधुको, तुमने मारा कैटभको और मुझे कहते हो कि मैं अपने सम्बन्धियोंको मार डालूँ, रिश्तेदारोंको मार डालूँ? अरे कोई दैत्य हो तो हम उसको मारनेके लिए तैयार हैं लेकिन इन्हें तो त्रैलोक्यराज्यके लिए भी मैं नहीं मारूँगा, पृथिवीमें तो क्या रक्खा है! इन धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मारकर मुझे कोई तृप्ति नहीं होगी।

अब देखो '**जनार्दन**'का अर्थ—'*जनयति जगत् इति जना=माया=अविद्या। ताम् अर्दयतीति जनार्दनः।*' यह जगज्जननी जो अविद्या है, माया है, उसके पर्देको हटानेवालेका नाम होता है जनार्दन। जब अर्जुनने कहा कि इन सगे-सम्बन्धियोंको मारनेसे हमें क्या तृप्ति होगी? जो आततायी हैं; उनको मारना चाहिए। भगवान् बोले कि ठीक है, आततायी हैं, मारने योग्य हैं, इसलिए मारो। अर्जुनने कहा कि हम मारेंगे तो मारण-क्रियाका कर्तृत्व हमारे ऊपर आयेगा। हम पापी हो जायेंगे। इसलिए हम अपने सगे-सम्बन्धी धार्तराष्ट्रोंको मारनेके लिए तैयार नहीं हैं। भला स्वजनोंको मारकर कोई सुखी होता है?

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव। (३७)

भगवान् बोले कि यह विवेक केवल तुम्हींको है! यह केवल तुम्हारे हिस्से ही पड़ा है। ऐसा विवेक उनको क्यों नहीं आता है? वे क्यों नहीं सोचते हैं ऐसा?

देखो, ड्राईवर लोग जब मोटर चलाते हैं तब कहते हैं कि सामनेवालेको बचना चाहिए था। उसने अपनेको क्यों नहीं बचाया? बोले कि बाबा, एक्सीडेण्ट तो हो गया। उसको बचना चाहिए था कि तुमको बचाना चाहिए था—यह तो कानूनी लड़ाई हो गयी।

इसी तरह अर्जुनने कहा कि उनके विवेक नहीं है तो उन्हें '**लोभोऽपहतचेतसः**' (३८)—लोभने उनके दिलको घायल कर दिया है। उनको कुल-क्षयका दोष, मित्र-द्रोहका पातक नहीं मालूम पड़ता है। परन्तु हम तो समझदार है, हमें तो इस पापसे बचना चाहिए। पापसे दूसरे बचे इसकी जिम्मेवारी हमारे ऊपर नहीं है।

देखो, यह अर्जुनका विवेक है। उसे धर्माधर्मका विवेक है। उसने कहा कि प्रतिपक्षी बुरा काम करते हैं तो हम भी बुरा काम क्यों करें? हमको तो किसी भी अवस्थामें बुरा काम नहीं करना चाहिए। हमें समझना चाहिए कि इसमें बड़ा दोष है, क्योंकि जब कुल-क्षय होता है तब कुल-धर्मका क्षय होता है। कुल-धर्मका नाश होनेपर अधर्मकी प्रधानता हो जाती है। अधर्मकी प्रधानता हो जानेपर कुल-स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और वर्णसंकर हो जानेपर वर्णाश्रम-मर्यादाका लोप ही हो जाता है। फिर तो नरकमें ही गति होती है, यहाँतक कि पितरोंको भी कुछ नहीं मिलता, सिद्ध लोकोंकी भी प्राप्ति नहीं होती। जाति-धर्म, कुल-धर्म, जो कि शाश्वत हैं, सनातन हैं, उनका नाश हो जाता है। इस प्रकार जिनके धर्मका नाश हो जाता है वे नरकमें जाकर निवास करते हैं।

इतना कहकर अर्जुनने फिर कहा—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यता॥ (४५)

हाय-हाय! हम पाप करनेका निश्चय करके यहाँ आये हैं, लेकिन राज्य-सुखके लोभसे स्वजनकी हत्या ठीक नहीं है, पाप है। 'लेकिन' यह अर्जुनका विवेक है। अब श्रीकृष्णका विवेक क्या है, यह गीतामाता आपको बतायेंगी। संक्षेपमें श्रीकृष्ण यह विवेक करेंगे कि यदि धर्मकी रक्षा होती हो तो ये जो मोह-मूलक स्वजन है, इनकी हत्यामें दोष नहीं है। हमें धर्मकी रक्षा करनी है, स्वजनकी रक्षा नहीं करनी है। अर्जुन कहता है कि हम राज्यके लोभसे युद्ध करने आये हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि नहीं, तुम धर्मकी रक्षाके लिए युद्ध-भूमिमें आये हो। अर्जुनने कहा कि अब तो बाबा मैं हथियार नहीं उठाऊँगा। यदि शस्त्रका परित्याग कर देने पर ये लोग मुझे मार डालेंगे तो पाप इनको लगेगा। क्योंकि शस्त्र-त्याग करनेवालेको जो मारता है, वह पापी होता है। इसलिए पाप इनको लगेगा और हमारा कल्याण होगा।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थमुपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ (४७)

ऐसा कहकर अर्जुनने क्या किया? बड़ी बढ़िया बात यह हुई कि पहले तो अर्जुन बैठा था रथी बनकर। श्रीकृष्ण सारथि बनकर उसके आगे बैठे थे। अब अर्जुन भगवान्‌के सामने आकर घोड़ेके साथ लगा हुआ जो उपस्थ है, घोड़ोंको जोड़नेके लिए जो आगे निकली हुई लकड़ी है या लोहा है; वहाँ बैठ गया— '**रथोपस्थ उपाविशत्।**' वह श्रीकृष्णके पीछे बैठा न रहकर उनके आगे आकर बैठ गया। उसने मुँह किया श्रीकृष्णकी ओर और पीठ किया दुश्मनोंकी ओर, कौरवों की ओर। फिर धनुष-बाण छोड़कर और '**शोकसंविग्नमानसः**' होकर अर्जुन व्याकुल हो गया। उसके हृदयमें शोक-मोह दोनों आ गये। मोह हो गया स्वजनोंसे और शोक हो गया उसके हृदयमें।

॥ इस प्रकार यह 'विषादयोग' नामक पहला अध्याय पूरा हुआ॥



दूसरा अध्याय

संजयने अर्जुनकी स्थितिका वर्णन करते हुए कहा कि उसके हृदयमें स्वजनोंके प्रति कृपाका आवेश हुआ है। सज्जन लोग दूसरेके दुर्भावको भी सद्भाव ही बताते हैं। संजयका कहना है कि अर्जुनकी आँखोंसे आँसू बह रहे हैं और उसके हृदयमें विषाद है। '**कृपयाविष्टम्**'(१)—कहना उसके मानसिक विषादका सूचक है, '**अश्रुपूर्णा-कुलेक्षणम्**—यह उसके शारीरिक विषादका सूचक है और '**विषीदन्तम्**'—यह उसके वाचिक विषादका सूचक है। मतलब यह कि अर्जुनके जीवनमें कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों ही प्रकारके विषाद प्रकट हो गये हैं।

लेकिन हमारे ये मधुसूदनजी महाराज किसीका लिहाज करनेवाले नहीं है। क्योंकि जहाँ ये ब्रह्मारूपसे सृष्टिका निर्माण करके विष्णुरूपसे पालन-पोषण करते हैं, वहाँ रुद्र बनकर सारी सृष्टिका संहार भी करते हैं। जिसने बनाया और पाला, वह बिगाड़ भी तो सकता है। मधुसूदन ऐसे ही हैं। इस समय मधु कहाँ है? मधु अर्जुनके हृदयमें है। जब मधुसूदनने देखा कि अर्जुनके हृदयमें स्वजनोंके प्रति मिठासका भाव आ गया है तब वे बोले कि उसके अपने भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी तो मीठे-मीठे लगते हैं, किन्तु उसके रथपर बैठा हुआ मैं स्वयं मधुसूदन मीठा नहीं लगता। इसलिए भगवान्‌ने डाँटकर कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ (२)

देखो, किसीके मनमें ब्रह्मज्ञानकी जिज्ञासा हो और वह कहे कि जब ब्रह्मज्ञान होनेवाला होगा, तब हो जायेगा, जब भगवान् देंगे तब ब्रह्मज्ञान मिल जायेगा और जब प्रारब्धमें होगा तब ब्रह्मज्ञान मिलेगा तो यह उसकी मूर्खता है कि नहीं? ये तीनों ही बेवकूफीकी बातें हैं। इसका अर्थ है कि उसके हृदयमें तीव्र जिज्ञासा नहीं है। यदि तीव्र जिज्ञासा होती तो वह हाथ-पाँव पीटता, गङ्गा-किनारे जाता, हिमालय पर चढ़ता और ऋषि-मुनियोंका सत्संग करता। यदि उसके मनमें तीव्र जिज्ञासा होती तो वह सत्संगमें जाकर अपने हृदयमें उठनेवाले प्रश्नोंका समाधान करवाता।

इसलिए भगवान्‌ने कहा कि—'**कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्**'— यह कस-कसा या मल-कश्मल तेरे हृदयमें कहाँसे आ गया? तेरा हृदय मलसे भरा हुआ है। यह मेरा, यह मेरा, यह मेरा इस प्रकार मेरा-मेरा करता है और फिर बुद्धिमानी बघारता है? '**कुतः**' अरे, तुम्हारे जैसे अधिकारी पुरुषमें, धर्मात्मामें, धर्मराज युधिष्ठिरके भाईमें और सत्त्वकी मूर्तिमें कश्मल कहाँसे आ गया? क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है *'सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्'*—नर-नारायण दोनों भाई-भाई हैं, जैसा मैं हूँ, वैसा ही तू है? तू किसी भी प्रकारसे कश्मलका अधिकारी नहीं है। फिर तुम्हारे पास यह कश्मल कहाँसे आगया? इसके आनेका तो कोई कारण ही नहीं है।

देखो, '**कुतः**' शब्द कारण और प्रयोजन दोनों पर आक्षेप करता है। मतलब यह कि तुम्हारे इस विषादका न तो कोई मूल कारण है और न प्रयोजन है। इस कश्मलसे तुम्हें फायदा भी क्या होगा? न उसमें कोई शुद्ध प्रेरणा है, न लाभ है और आया भी कहाँ? '**विषमे**'—भला उसके आनेका स्थान भी तो हो कुछ!

इसको ऐसे समझो कि हम कहीं बैठे हों और गृहस्थ लोग स्त्री-पुरुष हमें प्रणाम करने आते हों तो वह स्थान है। लेकिन हम कहीं जानेके लिए रास्तेमें निकलें और एक-एक आदमी पाँवपर सिर सखकर हमें प्रणाम करने लगें तो सौ आदमीके प्रणाम करनेमें पचास मिनट तो लग ही जायेंगे। इसके अतिरिक्त बार-बार मोटरमें ब्रेक लगनेसे मोटर भी खराब हो जायेगी। इसलिए सब काम यथास्थान ही होना चाहिए।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च। ११.३६

स्थानका अर्थ है 'युक्तम्'। भगवान् कहते हैं कि उधर शंख बज चुके, इधर शंख बज चुके, तुम हाथमें धनुष-बाण उठा चुके और अब आया है यह कश्मल!

आगे बताते हैं कि यह तीन तरहसे विरुद्ध है। एक तो '**अनार्यजुष्टम्**' है। *'न अनार्यजुष्टम्।'* आर्य पुरुषोंने कभी इस प्रकारके कार्पण्यको स्वीकार नहीं किया है। माने यह शिष्टाचार नहीं है, शिष्टाचारके विरुद्ध है। दूसरे यह '**अस्वर्ग्यम्**' है। इससे परलोक नहीं मिलेगा। अच्छा महाराज, भले ही शिष्टाचार न हो, परलोक भी न मिले, परन्तु लोग यह तो कहेंगे कि ओहो! अर्जुनने राज्य छोड़ दिया, युद्ध बन्द कर दिया और लोंगोको मरनेसे बचा लिया। मेरी बड़ी भारी कीर्ति होगी। बोले कि नहीं, यह '**अकीर्तिकरम्**' है। इससे लोकमें कीर्ति भी नहीं होगी। और भी सुनो—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ (३५)

इससे लोकमें लाभ है, न परलोकमें लाभ है और न यह शिष्टाचार है, अर्थात् न शिष्ट सम्प्रदायसे अनुमोदित है। अतः इससे अन्तःकरण-शुद्धि भी नहीं होगी।

देखो अन्तःकरणकी शुद्धि भी मनमाने साधनसे नहीं होती, शिष्टानुमोदित साधनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। जो लोग अपने मनसे सोचकर कि यह बहुत बढ़िया है और इस प्रकार वस्तुनिष्ठ गुणधर्मका अभ्यास करके अन्तःकरणकी शुद्धि करना चाहते हैं, उनकी शुद्धि ही नहीं होती। अन्तःकरणकी अशुद्धि शास्त्रसे ही ज्ञात होती है और शास्त्रोक्त उपायसे ही उसकी निवृत्ति होती है, मनमाने ढंगसे नहीं।

इसलिए अर्जुन तुम्हारा यह कार्पण्य शिष्टानुमोदित नहीं है, स्वर्ग-प्रापक नहीं है और लौकिक लाभदायक भी नहीं है। शिष्टानुमोदित न होनेसे मोक्षका साधन नहीं है, शास्त्रोक्त न होनेसे, विहित न होनेसे स्वर्गका प्रापक नहीं है और लोक-विरुद्ध होनेसे कीर्तिकारक नहीं है। फिर तुम यह क्या करने जा रहे हो?

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ (३)

देखो, जब मैं बच्चा था तब अपने एक स्वामीजीसे मैंने गृहस्थाश्रममें ही श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ली थी। एक दिन मेरे मनमें विकार आगया और मैंने उनको चिट्ठीमें लिखकर भेज दिया कि अब हमसे नहीं होता—इतना न्यास, इतना नहाना, इतना धोना, इतनी सेवा, इतनी पूजा—यह सब मेरे वशकी बात नहीं है। इसपर उन्होंने यही लिखकर भेजा था कि—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

एक त्रिदण्डी स्वामीने भी मुझको ऐसे ही कहा था। मैं उनके पास गया तो उन्होंने मुझे कुछ आसन, प्राणायाम बताये। मैंने कहा कि स्वामीजी यह मुझसे नहीं होगा। इसपर वे बोले कि अरे तू ब्राह्मण है, तू पण्डित है, तू जवान है और तेरे मनमें ईश्वर-प्राप्तिकी लालसा भी है। यदि तू नहीं करेगा तो क्या ये सब साधन पशुओंके लिए हैं?

देखो, ये जो मनमें हैं, इनका पर्दा ढिठाईके साथ फाड़ना चाहिए, डर-डरकर नहीं। क्लीब उसको कहते हैं जो धृष्टता न कर सके, छेड़-छाड़ न कर सके। अरे, इन दोषोंको तो छेड़-छाड़कर मारना चाहिए। उनके साथ क्लीबता नहीं करनी चाहिए कि हाय, हम इनको हाथ कैसे लगावें, इनसे कैसे लड़ें और इन्हें मारें कैसे? इनको तो यदि ये सोते हों तो जगाकर मारना चाहिए।

'नैतत्त्वय्युपद्यते'—श्रीकृष्ण कहते हैं अरे अर्जुन! तुम्हारे सरीखा अधिकारी,

जिसका सारथि मैं हूँ और जिसके मनमें इतना विवेक है, वह पृथा-पुत्र अर्जुन आज ऐसे कहता है।

'**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यम्**'—यह तुम्हारे हृदयकी क्षुद्र दुर्बलता है। दुर्बलता भी कोई बड़ी नहीं है, अत्यन्त तुच्छ है। यह जो '**क्षुद्रं**' है वह '**दौर्बल्यं**'का विशेषण है। मतलब यह है कि हृदयकी क्षुद्र दुर्बलता है।

'**त्यक्त्वा**'—छोड़ दो इस दुर्बलताको और संकल्प करो कि— *'कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि।'* सच्चा संकल्पनिष्ठ साधक कहता है कि— *'इहासने शुष्यतु मे शरीरम्'*—इस आसनपर बैठे-बैठे मेरा शरीर छूट जाय, *'त्वगस्थिमांसानि लयं प्रयान्तु'*—मेरे शरीरकी त्वचा, हड्डी और मांस खाकमें मिल जायँ परन्तु अब ईश्वरको प्राप्त किये बिना हमारे ये पाँव लौटनेवाले नहीं हैं।

अरे, *'निकले थे हरिभजनको ओटन लगे कपास'*—इस कहावतके अनुसार निकले तो थे भगवान्‌की प्राप्तिके लिए और करने लगे अपना प्रचार। *'लें खसमका नाम खसम सों परिचय नाहिं'*—यदि कोई स्त्री कहे कि मैं अमुककी पत्नी हूँ किन्तु उससे पूछा जाय कि तुमने उसको कभी देखा भी है? उससे तुम्हारी जान-पहचान भी है? तो, वह बोले कि सो तो नहीं है। यही स्थिति उन प्रचारकोंकी भी है, जो जिस चीजका प्रचार करते हैं, उसको वे जानते ही नहीं है कि वह क्या है?

'**उत्तिष्ठ**'—इसलिए अर्जुन, तुम अपने कर्तव्य-पालनके लिए खड़े हो जाओ। देखो कि यह वेदका मन्त्र है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। (१.३.१४)

यदि तुम खड़े नहीं होओगे, सो जाओगे, लेटे रहोगे तो तुम्हें नींद आजायेगी और चलोगे तो गिरनेका डर होगा। इसलिए जहाँ खड़े हो वहीं खड़े हो जाओ, सावधान हो जाओ। *'उत्तिष्ठत'*का अर्थ है—स्थितिको ऊपर कर दो। जहाँ हो, वहाँसे नेक ऊपर उठ जाओ। *'ष्ठा गति निवृत्तौ'* है तो *'उत्तिष्ठत'* माने *'उपरितिष्ठत'* हुआ। आशय यह है कि चलो मत, पर ऊपर हो जाओ।

हमको एक महात्माने बताया था कि अगर तुम्हारा शरीर तख्तेपर बैठा हो तो तु सोचो कि हम छतपर बैठे हैं। देहसे अपनेको अलग कर लो। हमारे वेदान्तकी तीन ही भूमिकाएँ हैं। पञ्चभूतसे अपनेको अलग करनेकी कोई जरूरत नहीं है, उसमें तो 'अहं' भाव है ही नहीं। परिच्छिन्न शरीरमें-से 'मैं'को निकाल लो। वह उसके पहले भी था और पीछे भी रहेगा। इसलिए शरीरमें-से 'मैं'को निकालना एक भूमिका है। दूसरी भूमिका है 'उसको ईश्वरके साथ मिला देना' और तीसरी भूमिका है 'परमात्माके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं' यह देखना। बस! देहसे

निकला, परमात्मासे एक हुआ और यह अनुभव करने लगा कि परमात्माके सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं।

अब आपलोग 'अद्वैत-सिद्धि', 'चित्सुखी' और 'खण्डन-खण्डखाद्य' पढ़ लेना। सबमें आपको यही मिलेगा कि देहमें हमारा 'मैं' नहीं है; परमात्माके 'मैं' से हमारा 'मैं' एक है; परिच्छिन्न मैं, छोटा मैं ही नहीं और उस परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

'परंतप'—परंतप कहकर भगवान् अर्जुनको यह बताते हैं कि तुम अपने शत्रुओंको ताप पहुँचाओ। 'पर'को ऐसे जला दो कि उसमें-से फिर बीज ही न निकले। द्वैतको भस्म कर दो। क्या अपना-पराया लगा रखा है तुमने? तुम इतने बड़े बुद्धिमान बनते हो और इस प्रकार अपना-पराया लगा रखे हो!

अब अर्जुनके मनमें यह भाव आया कि मैं तो ऐसा सोचता हूँ और श्रीकृष्ण ऐसा कहते हैं। इससे सन्देहका स्थान उपस्थित हो गया। यह सोचने लगा कि मेरी बुद्धि ठीक है कि श्रीकृष्णकी बुद्धि ठीक है? उसने मानो पूछा कि अच्छा श्रीकृष्ण, यह तो देखो कि एक तो भीष्म हैं और एक द्रोण, ये दोनों ही हमारे कितने बड़े हैं! तुमने तो मारा दैत्योंको और मधुसूदन नाम प्राप्त किया। फिर मेरा नाम क्या रखना चाहते हो? यदि मैं भीष्म और द्रोणको मारूँगा तो क्या मेरा नाम 'भीष्मसूदन', 'द्रोणसूदन' नहीं हो जायेगा? क्या तुम यही चाहते हो? **इषुभिः प्रतियोत्स्यामि** (२.४)—अगर वे हमसे दो बात कहें और हम उनसे दो बात कहें, तो हम यह भी नहीं चाहते। हम उनकी जबान-से-जबान लड़ाना नहीं चाहते और यह भी नहीं चाहते कि वे हमारे ऊपर बाण चलायें? यहाँ **'इषुभिः योत्स्यामि'** नहीं है, **'प्रतियोत्स्यामि'** है। **'प्रतियोत्स्यामि'** माने यदि वे पहले बाण मारें तब भी क्या हम उनके बाणके बदलेमें उनके ऊपर बाण चलायें? वे तो **पूजार्हाः** हैं, पूजाके योग्य हैं। तुम अरिसूदन हो, मधुसूदन हो और हमको पितामहसूदन, गुरुसूदन, आचार्यसूदन बनाना चाहते हो? अरे, जिनके चरणारविन्दकी पूजा करनी चाहिए, उनके सामने युद्धभूमिमें खड़े होकर हम बाणों द्वारा उनसे प्रतियुद्ध कैसे करेंगे? युद्ध नहीं प्रतियुद्ध। युद्ध करनेकी बात तो न्यारी है। अपनी ओरसे तो बाण मारेंगे ही नहीं। लेकिन वे हमको बाण मारें तब भी हम उनके ऊपर बाणके बदले बाण कैसे चलायेंगे?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीहलोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥ (५)

इसलिए इन महानुभाव गुरुओंको मारना न पड़े—यही बात हम चाहते हैं। दुनियामें भीख माँग कर खा लेंगे। संन्यासी बननेकी बात नहीं है, **'श्रेयो भोक्तुं**

भैक्ष्यमपीहलोके'—हम तो मामूली भिखारी बन जायेंगे। संन्यासी होनेपर भिक्षा माँगकर खाना धर्म हो जाता है। हम तो अधर्मकी परवाह न करके दर-दरके, घर-घरके भिखारी बन जायेंगे और वह हमारे लिए कल्याणकारी ही होगा। परन्तु इन गुरुजनोंको मारना नहीं चाहता। क्योंकि ये महानुभाव हैं।

अरे भाई, ये कैसे महानुभाव हैं, जो अधर्मका पक्ष ले रहे हैं? वे अधर्मके पक्षसे लड़नेके लिए आये हैं और तुम कहते हो कि महानुभाव हैं! ठीक है, महानुभाव नहीं हैं तब भी महानुभाव हैं। *'हिमं हन्ति इति हिमहा सूर्यः=भानु, तद्वत्-अनुभावो येषां तान्=हिमहानुभावान्'* कह दिया है। हिमहा माने सूर्य। सूर्यके समान प्रतापवान हैं ये महानुभाव और आज तुम हमें कह रहे हो कि इन्हें मारो! जरा याद करो उस दिनकी, जब युधिष्ठिरने मेरे गाण्डीवकी निन्दा की थी और हमारी प्रतिज्ञा थी कि हमारे गाण्डीवकी जो निन्दा करेगा, उसे हम मार डालेंगे। उस समय महापुरुष, आपने ही सलाह दी थी कि गुरुजनोंको मारना ही मारना नहीं है, उनका वाणीसे तिरस्कार कर देना भी मारना है। और ऐसा कहकर आपने युधिष्ठिरको बचा लिया था। आपने कहा था कि—'तुम्हारे बड़े भाई हैं, गुरुजन हैं, इनको मारनेकी आवश्यकता नहीं, इनका वाचा तिरस्कार कर दो। वह भी मृत्युके, हननके, समान ही है, और आज तुम ही कह रहे हो कि इनको मार डालो!

बोले कि भाई, युधिष्ठिर तो कर्म-काम हैं, किन्तु ये गुरु लोग तो अर्थ-काम हैं—'**हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव।**' कई लोग तो भीष्म-द्रोणके लिए 'अर्थकाम' शब्दका प्रयोग करनेमें सकुचाते हैं। वे संकोच करते हैं कि भीष्म और द्रोणको अर्थकाम कैसे कहा जाय! परन्तु महाभारतमें इन महापुरुषोंने ही अपनेको अर्थ-काम कहा है। जब युधिष्ठिर प्रणाम करनेके लिए गये तब दोनोंने आशीर्वाद दिया कि—युधिष्ठिर, विजय तुम्हारी होगी। युधिष्ठिरने कहा कि महाराज, यदि विजय हमारी होगी तो आप कौरवोंकी ओरसे युद्ध क्यों करते हैं? वे बोले कि भाई, हमने बहुत दिनोंतक कौरवोंका खाया-पिया है। कौरवोंने हमको इतना धन-धान्य दिया है और इतना खिलाया-पिलाया है कि हम उनके अधीन हैं इसलिए विवश हैं।

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥ (४३.४१;४३.५६)

देखो, यदि कोई छः-आठ महीने या बर्ष-दो-बर्षतक किसी सेठ- साहूकारका अन्न खा ले तो सेठ- साहूकार यह चाहता है कि हमारा अन्न खानेवाला हमको ईश्वर समझे, हम तो इसके अन्नदाता हैं। कई-कई साधु लोग भी जब एक गृहस्थका खाने-पीने लगते हैं तब उसके जेबी साधु हो जाते हैं। वह उनको अपने पाकेटमें रख लेता है और दिखाता फिरता है कि देखो, ऐसे-ऐसे साधु हमारी जेबमें हैं। हम

उनसे जो चाहें करवा सकते हैं। इसलिए ये लोग मुफ्तमें नहीं खिलाते हैं। कहते हैं कि इन साधुओंसे बड़ा न होता तो ये मुझको ईश्वर क्यों मानते! इसलिए आप एकका खाते-पीते किसीको राधा मान बैठोगे, किसीको कृष्ण मान बैठोगे! ये खिलानेवाले अपनेको छोटा नहीं मानते हैं।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव, भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्। (५)

देखो, यहाँ गुरुके पहले '**अर्थकामान्**' है। यदि इसको विशेषण बनाना हो तो गुरुओंका ही बनाना पड़ेगा, और तब यदि '**गुरूनहत्वा रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भुञ्जीय**' ऐसा अन्वय करोगे तो बिल्कुल क्लिष्ट अन्वय हो जायेगा और बीचमें गुरुको छोड़कर रुधिरप्रदिग्धको अर्थकामका विशेषण बनाओगे तो यह कौन-सी अन्वय रीति होगी ?

अब बोले कि ये भले ही अर्थकाम हैं किन्तु हैं तो अपने गुरुजन। इनको हम मारेंगे तो इनके खूनसे लथ-पथ भोग भोगना पड़ेगा और हमको यह उचित मालूम नहीं पड़ता। इसलिए मैं कायरतासे युद्ध नहीं छोड़ रहा हूँ, अन्याय होनेके कारण, न्यायके विरुद्ध होनेके कारण, युद्ध छोड़ रहा हूँ, इसे विवेक-पूर्वक छोड़ रहा हूँ।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः। (६)

अरे बाबा, कुछ भी हो जाय, विवेक मत छोड़ो। प्रेमका मार्ग दूसरा है। सरकार कहती है कि कानून अपने हाथमें नहीं लेना चाहिए, विवेक नहीं छोड़ना चाहिए। '**न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः**' यह अपना अज्ञान प्रकट करता है। *'हननं वा श्रेयः, भैक्ष्यं वा श्रेयः, इति, अनयोर्मध्ये कतरत् श्रेयः।'* भीख माँगना श्रेय है ? इन दोनोंका विकल्प क्या है ? बोले कि अभी हमारी समझ साफ-साफ जवाब नहीं दे रही है। **कतरत्**—यही साधन-विषयक विकल्प है। इसी तरह फलविषयक विकल्प है कि—'**यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।**' क्योंकि यह निश्चित नहीं कि जय-पराजय हमारी ही होगी! विचारकी कई कोटियाँ हैं—साधनकी कोटि है, फलकी कोटि है। यदि जीत हमारी होगी तो क्या '**यानेव हत्वा जिजीविषामः**' द्रोणको मारकर, भीष्मको मारकर, अपने इष्टमित्रोंको मारकर जिन्दा रहना चाहते हैं!

देखो, एक बार चित्ररथ (गन्धर्व)ने कौरवोंका हरण कर लिया था। तब भीमसेन बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले कि अच्छा हुआ, बिना मारे ही दुश्मन मर गये। लेकिन जब युधिष्ठिरके पास समाचार आया तो वे बोले कि हमारा और कौरवोंका जो विरोध है वह परस्परका विरोध है। जबतक हममें परस्पर विरोध है, तबतक हम पाँच हैं और वे सौ हैं, परन्तु *'अन्यैः सह विरोधे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम्'*—दूसरेके साथ विरोध होनेपर हम एक सौ पाँच हैं। अब अर्जुनको ख्याल

आया कि हम न तो युद्ध और भिक्षा-विषयक निर्णयपर पहुँचे हैं और न ही जय-पराजयके निर्णयपर पहुँचे हैं। जय होनेपर भी सन्देह है कि क्या प्रयोजन सिद्ध होगा! ऐसी स्थितिमें क्यों न किसीसे पूछ लिया जाय? जो बात अपनी समझमें न आये, उसको किसीसे पूछ लेना चाहिए। इसमें संकोच नहीं करना चाहिए। इसलिए क्यों न हम श्रीकृष्णसे ही पूछ लें!

सच पूछो तो सारी सृष्टिकी जो बुद्धि है, वह एक ही है। असलमें समष्टि बुद्धि ही बुद्धि है। इस पाञ्चभौतिक देहमें जो बुद्धि है, वह तो बुद्ध्याभास है। देहकी परिच्छिन्नताके कारण बुद्धि परिच्छिन्न भासती है। बुद्धि परिच्छिन्न नहीं है। पृथिवी भी परिच्छिन्न नहीं है, वह आकृतिकी उपाधिसे परिच्छिन्न भासती है। जल भी परिच्छिन्न नहीं है। आकाश भी परिच्छिन्न नहीं है। तब परिच्छिन्न कौन है? यह भ्रान्तिमूलक अभिमान ही परिच्छिन्न है। इसके अतिरिक्त सृष्टिमें कोई तत्त्व परिच्छिन्न नहीं है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

जहाँ हम अपनी बुद्धिका तिरस्कार करते हैं, वहाँ ईश्वरकी बुद्धिका ही तिरस्कार होता है और जहाँ हम दूसरोंकी बुद्धिका तिरस्कार करते हैं वहाँ भी ईश्वरकी ही बुद्धिका तिरस्कार होता है। यहाँ भी उसीकी बुद्धि है, वहाँ भी उसीकी बुद्धि है। बुद्धिका तिरस्कार तो, ईश्वरकी बुद्धिका तिरस्कार है। उसका समन्वय करो, मेल मिलाओ। मतमें भेद हो तो अमतमें मत बैठ जाओ—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। (केन उप० २.३)

मनुष्यके जीवनमें सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह अपने दोषोंको नहीं देखता, दूसरोंमें दोष देखता है। दूसरोंके शरीरमें सरसोंके बराबर भी दाग हो तो उसे दिख जाता है, लेकिन अपने शरीरका बेलके बराबर दाग नहीं दिखता।

हमारे यहाँ ऐसे अनेक गृहस्थ हैं, जो कहते हैं कि अरे, यह साधु होकर ऐसा कपड़ा पहनता है। लेकिन उनके घरमें जो छह पीढ़ीके लिए कपड़े इकट्ठे हैं, उनपर उनकी नजर कभी नहीं जाती। इसमें उनका परायापन ही हेतु है।

अब देखो, अर्जुन भगवान्के सामने खड़ा है और सत्य बोल रहा है कि मेरा स्वभाव तो युद्ध करनेका है श्रीकृष्ण! लेकिन कार्पण्यदोषने उसको घायल कर दिया है—'**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**' (२.७)। यह कार्पण्यदोष क्या है? जब मनुष्य मोह-ममताके विषयको छोड़नेमें असमर्थ हो जाय तब उसे कार्पण्यदोष कहते हैं। हम दुनियामें ऐसे लग गये, ऐसे लग गये कि 'सत्य क्या है', इसका ज्ञान ही प्राप्त न हो सका।

यो वै गार्गी एतत् अक्षरमविदित्वा अस्मिल्लोकात्प्रैति स कृपणः।

(बृहदारण्यक ३.८.१०)

कृपण कौन है? ऐसा मनुष्यका शरीर मिला है। क्या दिल मिला है, क्या दिमाग मिला है। गृहस्थोंका दिमाग पैसा कमानेमें लगता है और दिल ब्याह करनेमें लगता है। लेकिन जब ईश्वरकी बात आती है तब कहते हैं कि रहने दो, जब मिलना होगा तब मिल जायेगा। इसीका नाम कार्पण्य-दोष है। इसने हमारे स्वभावको घायल कर दिया है।

अर्जुनने कहा कि श्रीकृष्ण, मेरा दिल तो है घायल और धर्मके सम्बन्धमें चित्त संमूढ हो गया है—'**धर्मसंमूढचेताः**।' क्या धर्म है, क्या अधर्म है—इसके सम्बन्धमें हमारा ज्ञान संमूढ हो गया है। संमूढ हो गया है माने अटक गया है, भटक गया है। वैद्य लोग कहते हैं कि गर्भ मूढ हो गया, माने अपना रास्ता भूल गया और जिस रास्तेसे निकलना चाहिए था, उस रास्तेसे नहीं निकाला। अर्जुनका आशय है कि हमारे ज्ञानको धर्माधर्मके निर्णयमें जिस रास्तेपर चलना चाहिए, उस रास्तेपर नहीं चल रहा है। इसलिए मेरी आपसे प्रार्थना है—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ (७)

श्रीकृष्ण मुझको धर्म नहीं चाहिए, श्रेय-साधन चाहिए। पूर्वमीमांसामें धर्मका लक्षण किया गया है कि जो धर्म श्रुतिसे विहित है, वह धर्म है। लेकिन इतना कहकर जैमिनीको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा कि—'*चोदना लक्षणार्थो धर्मः*' (मीमांसासूत्र १.१.१) धर्म श्रुति-विहित भी हो और श्रेयस्कर भी हो। यदि श्रुति-विहित हो और श्रेयस्कर न हो तो वह धर्म, धर्म नहीं होता। इसका अर्थ शबर स्वामी और कुमारिल भट्टने ऐसा किया है कि '*विधिके उपक्रम और अर्थपरिसंघातका नाम धर्म है।*' अर्थ माने श्रेयस्कर। बोले कि भाई वेदमें तो शत्रुको मारनेके लिए श्येनयागका भी विधान है। जैसे अश्वमेध आदि याग होते हैं वैसे ही, एक श्येन-याग भी होता है—जिसमें बाजको मारा जाता है। हमने काशीमें देखा था—ऐसा यज्ञ। वहाँपर मदारका एक बड़ा भारी पेड़ था। जब कोई यज्ञवित् पण्डितके पास मुकदमा जीतनेके लिए आता तो वे थोड़ा मांसका प्रयोग करवाकर यही यज्ञ करवाते थे।

लेकिन श्येनयागका विधान होनेपर भी क्या यह श्रेयस्कर है? इस यज्ञसे शत्रु भले ही मर जायेगा, पर श्रेयस् नहीं मिलेगा। यह तो वेद-विहित है। अरे भाई, पशु-याग भी वेद-विहित हैं और स्वर्गप्रापक भी हैं। लेकिन क्या वे श्रेयस्कर हैं? नहीं, वे श्रेयस्कर नहीं हैं। क्योंकि स्वर्गसे फिर गिरना पड़ता है।

इसलिए अर्जुन कहता है कि श्रीकृष्ण, मुझको तो श्रेय बताओ और निश्चित बताओ। यह सुनकर मानो श्रीकृष्ण बोले कि क्या हम ऐसे ऐरे-गैरेको बताते फिरते हैं? इसपर अर्जुन बोला कि नहीं, '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**'—(२.७) मैं आपका शिष्य हूँ। शिष्य माने शासनार्ह हूँ, शासनके योग्य हूँ। संस्कृतमें इस अर्थमें 'शास्य' शब्द नहीं बनता है, शिष्य शब्द ही बनता है। माने आप मेरा शासन कीजिये। मैं गलत रास्तेपर जाऊँ तो मुझे रोक दीजिये।

लेकिन जिसका शासन तुम स्वीकार नहीं कर सकते, वह तुमको शिक्षा क्यों देगा? क्यों मार्ग बतायेगा? जैसे सब वैसे तुम। अर्जुन बोला कि नहीं, '**त्वां प्रपन्नम्**'—मैंने तुम्हारे पाँव पकड़ लिये हैं।

देखो प्रपत्ति और शरणागति—इन दो शब्दोंको श्रीरामानुज सम्प्रदायके लोगोंने अपना बना लिया है। प्रपत्ति होती है—प्रपदको पकड़ना। पाँवमें पञ्जेके ऊपरवाले हिस्सेको प्रपद कहते हैं। उसको दोनों हाथोंसे पकड़ लेना और कहना कि अब नहीं छोड़ेंगे। इसका नाम होता है प्रपत्ति और तलवेके नीचे हाथ दबा देना और कहना कि तुम्हारी मौज हो तो पीस दो, तोड़ दो—इसका नाम होता है 'शरणागति।' प्रपत्ति शरणागतिके अन्तर्गत है। बन्दरका बच्चा तो स्वयं अपनी माँको पकड़े रहता है, लेकिन मार्जार-शावक शरणागत होता है। बिल्ली अपने बच्चोंको मुँहसे ही उठाती है, परन्तु उसको दाँत गड़ने नहीं पाते।

श्रीकृष्णने कहा कि भाई, और किसीके पास चले जाओ। मुझको तो तुमने दे दी है घोड़ोंकी लगाम, चाबुक और बना दिया है नौकर।

देखो, यह तो भगवान् ही है, जो नौकर बनकर भी भला करते हैं। जो अपने भक्तका नौकर बनकर उसकी भलाई करे—सेना नाई बन जाय, जना बाई बन जाय, सारथि बन जाय। सारथि माने नौकर ही होता है। घोड़े जब घायल हो जाते हैं तो श्रीकृष्ण उनकी मरहम-पट्टी करते हैं, खरहरा करते हैं उनके शरीरपर, यह नौकरका ही तो काम है। इसलिए श्रीकृष्ण बोले कि और किसीके पास जाओ बाबा! नौकरसे क्यों पूछते हो? इसपर अर्जुनने कहा—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्। (२.७)

श्रीकृष्ण, हमारी इन्द्रियोंके शोकको जो सुखा दे, ऐसा दूसरा कुछ भी मैं दुनियामें नहीं देखता हूँ—न मनुष्य, न साधन, न युक्ति और न वस्तु। यदि मुझको धरतीमें ऐसा राज्य मिल जाय, जिसमें कोई शत्रु न हो—'**असपत्नम्**' जो सम्पन्न हो—'**ऋद्धम्**' और मर्त्यलोक तो क्या देवताओंका भी आधिपत्य प्राप्त हो जाय, तब भी हमारा यह शोक दूर हो जायेगा क्या? यदि शोक नहीं दूर होगा तो सब-

कुछ मिलकर भी क्या होगा ? रोते-रोते राजा हैं, रोते-रोते इन्द्र हैं, रोते-रोते पण्डित हैं, रोते-रोते धर्मात्मा हैं। अरे बाबा, मेरा तो शोक मिटना चाहिए।

देखो, एक बार नारदजीने कहा कि मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पुराण-इतिहास—सारी विद्याओंका अध्ययन किया, परन्तु मैं शोकसे ग्रस्त हूँ। (छान्दोग्य ७.१.१-३) *'शोकस्य परं पारं तारयति'*। (३.१.३) हमको शोकसे पार पहुँचाइये! इसी तरह अर्जुन कहता है—

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्। (९)

हमको स्वर्गका राज्य नहीं चाहिए, हमको तो शोककी निवृत्ति चाहिए। इसके बाद अर्जुनकी क्या स्थिति हुई ?

एव मुक्त्वा हृषीकेषं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ (९)
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ (१०)

एव मुक्त्वा—'एवमुक्त्वा' नहीं बोलते, 'एव मुक्त्वा' बोलते हैं। ऐसा प्रयोग महाभारतमें बहुत मिलता है। 'एव मुक्त्वा'का अर्थ है कि अर्जुनने सब-कुछ छोड़ दिया। किसके ऊपर छोड़ दिया ? हृषीकेशपर छोड़ दिया। गुडाकेशने हृषीकेशपर सब-कुछ छोड़ दिया। गुडाकेश और हृषीकेषका अर्थ हम पहले सुना आये हैं। फिर भी दुहरा देते हैं। हृषीकेशका अर्थ है अन्तर्यामी। जिसके होनेसे ही आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, वाणी बोलती है, मन सोचता है, पाँव चलते हैं और हाथ हिलते हैं—वह है हृषीकेश। गुडाकेशका अर्थ है—बड़ा सुन्दर और भगवान्‌का परमप्रेमी।

इसी प्रकार 'परंतप' भी संज्ञा है। अर्जुनका नाम ही है परंतप। यदि संज्ञा नहीं मानोगे तो परंतपमें जो 'र'पर बिन्दी आगयी है, वह आयेगी ही नहीं। वह तो अर्जुनका नाम ही होनेपर आयेगी। इसलिए परंतप अर्जुनका नाम है।

'न योत्स्य इति गोविन्दम् उक्त्वा' यदि कहो कि इसी श्लोकमें पहले क्यों 'एव मुक्त्वा' आया है और उसका 'मुक्त्वा' अर्थ क्यों किया ? इसका उत्तर है कि 'गोविन्दमुक्त्वा' बादमें है ही, जिसका अर्थ है कि 'श्रीकृष्णसे कहकर।' इसलिए एक ही अर्थमें उक्त्वा -उक्त्वा दो बार क्यों आये ? एक बार मुक्त्वा रहने दो, दूसरी बार उक्त्वा रहने दो। **'तूष्णीं बभूव'**—इसका अर्थ है—अर्जुन चुप हो गया।

देखो पाणिनीय व्याकरणके अनुसार अर्जुन शब्द बनता है, अर्जनसे (*अर्ज धातुसे*)। धनार्जन, उपार्जन शब्दमें अर्जन शब्द है। जो ज्ञानार्जन करे, वह है

अर्जुन! परन्तु हमारे पूर्वाचार्योंने महाभारतमें जहाँ अर्जुन शब्दकी व्युत्पत्ति दी है, वहाँ कहते हैं कि *'ऋजुत्वात् अर्जुनः।'* अर्जुन ऋजुस्वभावका है, बड़ा सरल है। भगवान् भी कहते हैं कि—

मोहि कपट छल-छिद्र न भावा।

यदि चेला कपटी हो तो गुरुका ज्ञान उसके हृदयमें उतरता ही नहीं। गुरु तो कृपालु होते हैं, अधिकारी-अनधिकारीका विचार किये बिना ज्ञानका उपदेश करते रहते हैं। यह जो विधि-निषेध है कि 'इसको ज्ञान देना','इसको नहीं देना' यह सिद्ध पुरुषोंके लिए नहीं है, क्योंकि जिसका अहं मर गया है, उसके लिए कोई विधि-निषेध हो ही नहीं सकता। वह तो ब्राह्मण-पण्डितोंके लिए है। जो कर्तृत्वपूर्वक कर्म करते हैं, उनके लिए विधि-निषेध है और जहाँ कर्तृत्व बाधित हो गया, वहाँ निरभिमान ज्ञानी पुरुषके लिए विधि-निषेध नहीं होता कि वह किसको बोले, किसको न बोले। लेकिन यह तो श्रोताका ही दोष है कि वह कपटका पर्दा डाले हुए है। शिष्य यदि कपटकी बरसाती पहनकर आया है तो गुरुकी वर्षा क्या करे? वह उसपर कोई असर नहीं करती।

अर्जुन निष्कपट है, उसकी सरल शरणागति है, लेकिन यह कहनेके बाद भी कि मैं आपके प्रति प्रपन्न हूँ, आपका शिष्य हूँ, वह अपनी मान्यता, अपनी धारणा,अपना विचार छोड़नेको राजी नहीं है। वह कहता है—महाराज, आप सब-कुछ हो, लेकिन वैसे ही कहना है जैसे भक्तलोग आरतीमें बोलते हैं कि—*'तन-मन-धन सब अर्पण गुरु-चरण कीजै।'* अगर गुरुजी कहीं बेवकूफ हुए तो समझ लेते हैं कि यह सच बोल रहा है। पर ये चेले गुरुओंको बेवकूफ बनानेके लिए ही उनके पास आते हैं और कहते हैं कि हम तन-मन-धन, अर्पण करते हैं। वे बिलकुल झूठ बोलते हैं।

यों यदि तुम्हें अपनी रहनीमें परिवर्तन नहीं करना है तो गुरुसे धर्म मत सीखो, यदि तुम्हें अपने इष्ट और मन्त्रमें परिवर्तन नहीं करना है तो किसीसे दीक्षा मत ग्रहण करो और तुम्हारी मतिमें जो भ्रम बैठे हुए हैं, अध्यास बैठा हुआ है वही पकड़कर रहना हो, उसीको सच समझना हो तो किसी गुरुसे ज्ञानोपदेश श्रवण मत करो। हाँ, यदि तुम्हें अपने जीवनमें कुछ परिवर्तन करना हो तो आओ! गुरुके पास जाकर रहनी बदलनी पड़ती है, प्यारकी दिशा बदलनी पड़ती है, विचारकी पद्धति बदलनी पड़ती है और अपनी खुशी बदलनी पड़ती है। यहाँ तो एक जगह जमकर अहंकारमें बैठे हुए हैं, टस-से-मस नहीं होते और बोलते हैं कि गुरुजी! उपदेश कर दो। इससे कुछ लाभ नहीं होता।

अब देखो क्या हुआ? अर्जुनकी आँखोंके सामने बैठे हैं भगवान् और अर्जुन कहता है कि—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

मैं आपका शिष्य हूँ, शरणागत हूँ और फिर कहता है कि—'**न योत्स्य इति**'—मैं युद्ध नहीं करूँगा। तुम और जो कुछ कहो सब माननेको तैयार हूँ। मैं आपको गुरु मानता हूँ, आपका शरणागत हूँ, आप मुझे मार्ग बताइये, लेकिन मैं लड़ाई नहीं करूँगा। आपकी और सब बातें मानूँगा, पर लड़ाई करनेकी कहोगे तो नहीं करूँगा।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत। २.१०

यहाँ केवल वंशके सम्बन्धसे ही धृतराष्ट्रको भारत कहा गया है। लेकिन जहाँ अर्जुनको भारत कहा गया है? जहाँ अर्जुनको भारत कहा जाता है, वहाँ केवल वंशके सम्बन्धसे नहीं, अपितु प्रतिभाके सम्बन्धसे भी कहा जाता है। हे प्रतिभा-रत! तुम नवीन ज्ञानको स्वीकार करनेके लिए तैयार हो। 'भा' माने ज्ञान, तत्त्वज्ञान, उसको स्वीकार करनेके लिए तुम तैयार हो। इसलिए अर्जुन भारत है। गुणसे अर्जुन है और वंशसे धृतराष्ट्र भारत है। यह दोनोंका अलगाव है। यही पदार्थ-ज्ञान है।

'**हृषीकेशः प्रहसन्निव**'—अब अर्जुनकी बात सुकर भगवान् हँस पड़े। हँसना कहाँ होता है? जहाँ असंगति होती है। अर्जुन कहता है कि मैं शिष्य हूँ, प्रपन्न हूँ, आप मुझे निश्चित श्रेयका उपदेश करो, परन्तु मैं लड़ूँगा नहीं। इसी बातपर भगवान् हँसे कि अच्छी शरणागति है तुम्हारी? यह क्या प्रपत्तिका उपहास कर रहे हो!

वास्तवमें अर्जुनके प्रति भगवान्‌के हृदयमें करुणा है। भगवान्‌का यही एक गुण-धर्म ऐसा है, जो उनको कभी नहीं छोड़ता। हँसते हैं तब भी उनके हृदयमें करुणा होती है। वैसे तो ब्रह्म न कभी हँसता है, न रोता है। ईश्वर भी कभी न हँसता है, न रोता है। मायावीका हँसना-रोना वास्तविक नहीं होता, नाटक ही होता है। पर श्रीकृष्ण न तो मायोपाधिक हैं और न निर्माय ब्रह्म हैं, ये तो व्यक्त ब्रह्म हैं, व्यक्ति-रूपसे ब्रह्म हैं। तनमें ईश्वरता मुख्य नहीं है, भगवत्ता मुख्य है।

नास्तिक लोक भी, जो ईश्वर नहीं मानते, भगवान् मानते हैं। जैन, बौद्ध, ईश्वर नहीं मानते, पर भगवान् मानते हैं। उनके भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, भगवान् नेमिनाथ, भगवान् पार्श्वनाथ हैं। जब वे महावीर स्वामीको भगवान् कह सकते हैं तो हमारे कृष्ण स्वामीको भगवान् क्यों नहीं कहेंगे? क्या आपत्ति है? भगवान्‌का गुण-धर्म एक ही है और वह यह है कि उनके हृदयमें करुणाकी धारा प्रवाहित है। देखो, वे सुदामाके लिए कितना रोये—

पानी परातको हाथ छुओ नहीं, नैननके जल सों पग धोये।

तो भगवान् कभी रोते हैं और कभी हँसते हैं। वे हमारे साथ मिल जाते हैं। वाल्मीकि रामायणमें वर्णन आया है कि किसीको दु:खी देखकर श्रीरामचन्द्र उससे कई गुना दु:खी हो जाते हैं। वास्तवमें भगवान् यदि हमारे दु:खसे दु:खी न हों, हमारे सुखमें सुखी न हों, हमारे साथ न मिल जायँ, हमें उनसे डर लगता हो तो भगवान्की भगवत्ता किस कामकी?

मुझे एकबार, एक नकली भगवान्से काम पड़ा। मैंने कहा कि महाराज, आप जब यह कहते हैं कि 'मुझे यह, नहीं आता, यह नहीं आता' तो भगवान्के मुँहसे ऐसी बात ठीक नहीं है। भगवान्को तो यह नहीं कहना चाहिए कि 'हमें यह नहीं आता!' वह तो सर्वज्ञ है। इसपर नकली भगवान् बोले कि 'अच्छा, ऐसा कहनेसे हमारे भगवान्पनेमें कुछ बाधा पड़ती है? अच्छा तो अब ऐसा नहीं बोलूँगा। ऐसे बनावटी भगवान्को यही डर लगा रहता है कि हम क्या बोल देंगे तो हमारा भगवान्पना चला जायेगा। असली भगवान् चाहे हँसे, चाहे रोये, चाहे गावे, चाहे चोरी करे, चाहे छेड़खानी करे, चाहे भागे और चाहे वह जो कुछ भी करे, उसकी भगवत्ताका कभी लोप नहीं होता। क्योंकि वह असली भगवान् हैं।'

अब भगवान् श्रीकृष्ण हँसे तो कहाँ हँसे? दोनों सेनाओंके बीचमें! यह भी नहीं था कि वहाँ केवल अपने-अपने लोग थे, अपनी सेना थी। यह भी विचार नहीं था कि अर्जुनको रोते देख लेंगे ये लोग तो बड़ी बेइज्जती हो जायेगी और दुश्मन कहेंगे कि यह देखो, पाण्डवोंके सर्वश्रेष्ठ वीर विषादग्रस्त हो रहे हैं। इसका विचार किये बिना वहाँ भगवान्ने जो कुछ कहा, वह आगेकी बातें हैं। इसमें सारी बात कह दी गयी कि मनुष्य, प्राणीके जीवनमें शोक-मोहादिके बीजभूत जो दोष हैं, वे समय-समयपर कैसे प्रकट हो जाते हैं। अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवान्ने कहा बेटा, तू जिज्ञासाकी उपाधि धारण कर कि तीव्र जिज्ञासु कैसा होता है, उसको संसारमें शोक-मोहकी कैसी पीड़ा होती है और मैं उपदेशकी उपाधि धारण करता हूँ। तुमको निमित्त बनाकर शोक-मोहके निवारणका उपाय मैं बताता हूँ।

देखो, जहाँ शोक-मोह अन्य होता है, प्रातव्य होता है, वहाँ उसके लिए उपाय करना पड़ता है। आपके ध्यानमें यह बात ऐसे आ जायेगी कि यदि आपको कभी कोई फोड़ा हो जाय या चोट लग जाय तो उसे अच्छा करनेके लिए दवा करनी पड़ती है। आपका कोई सम्बन्धी भाग जाय तो उसको बुलानेके लिए ढूँढ़ना पड़ेगा, पता लगाना पड़ेगा, मनाना पड़ेगा। लेकिन आपके मनमें ही यदि कोई भ्रम हो गया हो तो उसके लिए क्या करना पड़ेगा? दवा खायेंगे कि कहीं जायेंगे? अरे भाई,

शोक-मोह किसी स्वजनका वियोग नहीं है, किसी स्वजनका मरण नहीं है, किसी धनका हरण नहीं है, किसी भवनका दहन नहीं है। तब यह शोक-मोह क्या है? ये तो मानसिक आकृतियाँ हैं। मानसिक आकृतियोंके परिवर्तनके लिए न कहीं जानेकी जरूरत है, न कुछ पानेकी जरूरत हे, न दवाकी जरूरत है, ये तो *'उपदेशैकनिवर्त्य'* हैं। शोक-मोह तो मानसिक रोग हैं और उसकी मानसिक दवा है। उस दवाकी घुट्टी बुद्धिको पिलानी पड़ती है, शरीरको नहीं। बुद्धिका दोष बुद्धिके द्वारा ही दूर किया जाता है, यह बात आप ध्यानमें रखें। अध्यासके जितने भी दुःख होंगे वे *'ज्ञानैकनिवर्त्य'* होंगे, और तत्त्व-ज्ञानसे ही निवृत्त होंगे; अन्य कोई उपाय उसके लिए नहीं है। ईशावास्योपनिषद्में आया है—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। (७)

एकत्वका अनुदर्शन ही शोक-मोहकी निवृत्तिका उपाय है। और भी सुनो—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।

ऐसा ज्ञान हुआ कि 'सब भूत आत्मा हो गये'— ऐसा इसका अर्थ नहीं है। **'अभूत्'** क्रियाका कर्ता आत्मा है। *'यत्र आत्मैव सर्वाणि भूतानि अभूत्'*। इन दोनोंमें बड़ा भारी फर्क है। सब भूत आत्मा हो गये—नहीं, नहीं, आत्मा ही सर्वभूतके रूपमें विवर्तित हो रहा है। अपना स्वरूप है। **'अभूत्'** क्रियाका कर्ता **'आत्मा'** है और **'सर्वाणि भूतानि'** कर्म है।

ऐसा कैसे हुआ? महाराज! कौन-सी समाधि लगायी आपने? समाधि आदि नहीं लगायी, **'विजानतः'**—विज्ञान मात्रसे हो गया। उस विज्ञानकी परिभाषा क्या है? *'एकत्वमनुपश्यतः'*—एकत्व-दर्शन ही उस विज्ञानकी परिभाषा है। एकत्वदर्शन-लक्षण जो विज्ञान है, उस विज्ञानकी प्राप्तिसे आत्मा ही सर्व हो गया। मरना-जीना, आना-जाना, बिछुड़ना, रोना, हँसना, जो कुछ भी है, वह सब आत्मा ही है— **'सर्वाणि आत्मैव'**। *'तत्र को मोहः कः शोकः'* अब न शोक है, न मोह है? सब छूट गया। अरे उसे पकड़ा ही कब था कि छूट गया? क्या कुछ दुनियामें पकड़कर लाये अपने साथ? यह पैसा छूट गया, यह रिश्तेदार छूट गया। क्या आप इनको लेकर आये थे? क्या ये प्याऊपर मिल गये थे? रास्तेमें पड़ा नोटका बण्डल मिल गया था? जितने व्यापारी लोग हैं, उनके पास पैसा कहाँसे आया—यह नहीं सोचते हैं। बेईमानीसे आया कि पराया धन आया कि किसीकी जेब काटकर आया कि कैसे आया—यह नहीं सोचते हैं। लेकिन जिस दिन जाता है सिर जरूर पीटते हैं। अरे सिर तो उस दिन पीटना चाहिए था, जिस-जिस दिन यह सतानेवाला आ गया। सोचना चाहिए था कि हमारे घरमें यह गुण्डा आ गया और दुःख देकर जायेगा।

उस दिन दुःखी होना चाहिए था, जिस दिन वह आया था। किन्तु जिस दिन जाता है, उस दिन वे रोते हैं।

'तत्र को मोहः कः शोकः'—मोह माने चित्तकी विपरीतता, *'मुह् वैचित्ये'*। चित्तकी विपरीतताका नाम मोह है। अरे ब्रह्मको जगत् समझ लिया, अविनाशीको विनाशी समझ लिया, सत्‌को नाशवान् समझ लिया, चित्‌को अचित् समझ लिया, आनन्दको दुःख समझ लिया, अद्वयको सद्वय समझ लिया, आत्माको अनात्मा समझ लिया, इसीका नाम मोह है। मोह माने जो चीज जैसी है, उसके विपरीत उसको मान बैठना। और, शोक क्या है ? शोक माने भूत लगना। हमारे बाप ऐसे रहते थे, हमारे दादा ऐसे रहते थे और हम ऐसे रहते हैं।

कोई सेठ एक दिन दुःखी होने लगा और कहने लगा कि हमारा बेटा तो बड़े लम्बे बाल रखता है। वह बिगड़ गया है महाराज! मैंने उससे पूछा कि तुम्हारे दादा जैसी पगड़ी बाँधते थे वैसी ही तुम क्यों नहीं बाँधते हो ? तुम भी तो बिगड़ गये न! तुम्हारे दादा क्या बढ़िया पगड़ी शिरपर बाँधते थे और तुम्हारे बाप टोपी पहनने लगे। तुमने वह टोपी भी उतार दी। अब यदि तुम्हारा बेटा बाल रखने लगा है तो भूत दादाका लगने दो, तुम भी पगड़ी बाँधो। तो लोग खुद पुरानी बातोंको छोड़ते जाते हैं और नयी पीढ़ीपर नाराज होते हैं कि तुम क्यों छोड़ते हो ?

हमारे पास ऐसा धन था, ऐसा सुख था, ऐसा राज्य था और आज हमको यह दुःख मिल रहा है, वह दुःख मिल रहा है। यह जो शोक है, वह भूतवृत्ति है। *'तत्र को मोहः कः शोकः'*, अरे जो पीछे छूट गया, उसे घूमकर मत देखो! द्रौपदी गिर गयी, नकुल गिर गये, सहदेव गिर गये, अर्जुन गिर गये, भीमसेन गिर गये, लेकिन युधिष्ठिर शेरकी तरह अपने रास्तेपर चलते जा रहे हैं। जो छूटे सो छूटने दो, जो पीछे गिरे सो गिरने दो। सब मुर्दे दिमागमें लादते जाओगे तो तुम्हारा दिमाग भी मुर्दा हो जायेगा। गड़े मुर्दे उठा-उठाकर अपने शिरमें भरनेका नाम शोक है। यह भूत-वृत्ति है।

देखो, माँगनेवाले लोग सारङ्गी बजाते हुए जब हमारे गाँवमें आते थे तो वे गाते थे कि—*'अलमस्त फकीरा रहम अल्लाह!'* इसका अर्थ है—फकीर अलमस्त है। क्यों अलमस्त है ? बोले कि उसपर अल्लाहका रहम है। इसी तरह भगवान् कहते हैं—

अशोच्योनन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ (११)

गीतामें 'पण्डित' शब्दका प्रयोग भगवान् श्रीकृष्णने सब जगह बड़े आदरसे किया है। पण्डित माने 'ब्राह्मण-कुलोत्पन्न' एक जगह भी नहीं है गीतामें। पण्डा

अर्थात् विवेकवती बुद्धिसे सम्पन्न। हमारा यह कहना नहीं है कि ब्राह्मण जाति गीताको स्वीकार नहीं है। पर गीता-भरमें पण्डित शब्दका प्रयोग जहाँ-जहाँ है, वहाँ-वहाँ विवेकी पुरुषके लिए ही है—

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ ४.१९

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ ५.१८

पण्डितजी महाराज! आपके ज्ञानाग्निसे कर्म दग्ध हो गये कि नहीं? आपको पिछले पुण्यका अभिमान होता है कि हमने यह-यह बढ़िया काम किया? यदि होता है तब आप पण्डित नहीं हैं। और यदि पिछले कर्मोंका पश्चाताप होता है कि हाय मैं दीन-हीन हूँ, मैंने बड़े बुरे-बुरे काम किये हैं तब भी आप पण्डित नहीं हैं। जिसको पिछले अच्छे-बुरे कर्म आ-आकर सताते हैं, वह पण्डित नहीं है। क्योंकि अपाण्डित्यसे ही, मूर्खतासे ही पिछले कर्मोंका आरोप अपने ऊपर होता है।

देखो, यह तो हुआ कर्मके सम्बन्धमें। पण्डित व्यवहारमें कैसा हो? '**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।**' सबमें भगवान् दीखते हैं? नहीं, सबमें तो नहीं दीखते हैं। तो सबमें भगवान्‌का दीखना यह पण्डितका लक्षण है। इसलिए, आप पण्डित होना चाहते हैं तो सबमें परमात्माका, समका दर्शन कीजिये। भगवान्‌का नाम लेनेसे कोई आस्तिक-नास्तिकका विवाद खड़ा कर दें तो भगवान्‌ने सम ही कह दिया कि सबमें एक ही है। हमारे बचपनमें दीवालीके दिन खाँड़के खिलौने आते थे, उनमें कोई पानीका घड़ा काँखके नीचे लिये हुये है, कोई घोड़ेपर सवार है, कोई हाथी है, कोई गधा है इत्यादि। सब खाँड़के बने हुए होते थे और हम बच्चे लड़ते थे कि गधा नहीं लेंगे, हाथी लेंगे, घोड़ा लेंगे। एक दिन माँने क्या किया कि सबको तोड़कर खीरमें डाल दिया। अब न गधा था, न हाथी था, न घोड़ा था। वे तो सब सम हो गये। '**पण्डिताः समदर्शिनः।**'

देखो, पूर्व कर्मका अनुस्मरण करके सुखी-दुःखी होना पाण्डित्यका लक्षण नहीं है। उसे तो '**ज्ञानाग्नि-दग्धकर्मा**' होना चाहिए और '**शुनि चैव श्वपाके च**' हाथी और कुत्तेको देखकर विषम-दर्शी भी नहीं होना चाहिए। इसी तरह—

गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः। (१)

जो मर गया है, उसकी याद करके शोक करोगे तो इतने लोग मर गये हैं कि यदि उनकी याद कर-करके शोक करने लगोगे तो सिवाय रोनेके जिन्दगीमें और कुछ नहीं रहेगा। इसलिए भगवान्‌ने ऐसा विस्मरण दिया है, ऐसी विस्मृति दी है कि हम सब भूलते जा रहे हैं। आप तो जानते ही हैं कि हमें अच्छे-बुरे दोनोंकी

विस्मृति मिली हुई है। किन्तु अपना आपा न तो स्मृतिके आधिक्यमें रहता है और न विस्मृतिके आधिक्यमें इसका लोप होता है। हमारे एक परिचित सज्जन थे। उनको गीता उल्टी भी याद थी, सीधी भी याद थी और कौन शब्द कितनी बार आया है—यह सब याद था। वे '**यत्र योगेश्वरः**' से शुरू करें और '**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**' तक पहुँच जायँ एवं '**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**' से शुरू करके '**यत्र योगेश्वरः**' तक पहुँच जायँ। उनको किस श्लोकमें कौन-कौनसे शब्द हैं यह सब याद था। इस प्रकार उन्होंने जिन्दगी भर रटकर गीताको कण्ठस्थ रखा, लेकिन जब मरने लगे तो सब भूल गया। उनसे एक श्लोक भी नहीं बोला जाता था।

इसलिए भगवान्‌का कहना है कि यह स्मृतिका बोझ लेकर तुम हमारे पास नहीं पहुँच सकते। या तो श्लोकोंका बोझ रखो अपने दिमागमें या खाली होकर हमारे पास आओ, सब निकालकर फेंककर आओ। स्मृति, बोझ बढ़ानेके लिए नहीं आती है, ग्रन्थि-मोक्षके लिए आती है। जो भूल जाता है, उसको भूलने दो—'**गतासूनगतासूँश्च**'।

अरे यह नष्ट हो गया, यह भ्रष्ट हो गया, यह गिर गया—अपने कुटुम्बके लिए अपने परिवारके लिए, सम्बन्धियोंके लिए—संसारी लोग सोचते ही तो रहते हैं। खाली दिमाग शैतानका घर है—यह आप जानते ही हैं। जिस दिमागमें परमात्माका चिन्तन नहीं है वह दिमाग व्यर्थ ही है। परमात्माका चिन्तन भी कैसा? '*अचिन्त्यस्य चिन्तनम्*' जिसके दिमागमें कर्तृत्व नहीं है, जिसके चिन्तनमें वृत्ति नहीं है, जिसके चिन्तनमें विषय नहीं है—ऐसा चिन्तन! निर्विषय, निर्वृत्तिक, निष्कर्तृत्व, अचिन्त्यचिन्तन। ऐसा चिन्तन जिसका हो वहाँ कोई होगा ही नहीं। इस अचिन्त्य पदमें जो नहीं बैठा उसको स्मृति हो, चाहे विस्मृति हो शोक लगा ही रहेगा। पण्डितका यह लक्षण है और उसका फल भी यही है। शोक जो है यह साधन-वृत्ति हैं और व्यवहार '**ज्ञानाग्निदग्धकर्म**' है। वहाँ तो साधन ही जल गया। '**नानुशोचन्ति पण्डिताः**' में फल जल गया और '**पण्डिताः समदर्शिनः**' में विषयताका भाव ही व्यवहारमें नहीं रहा।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। ५.१९

तो पण्डितका यह लक्षण है कि वह न जिन्दाके लिए शोक करता है और न ही मुर्दाके लिए। किसी गाँवमें एक पण्डितजी बिल्कुल सिर मुँडाकर आये। जब लोगोंने पूछा कि क्या बात है आज? पण्डितजी बोले कि आज राजाकी मृत्यु हो गयी है। मंत्रीको पता चला तो उन्होंने भी मुण्डन करा लिया। जब ये राजा साहबके यहाँ गये तो राजाने पूछा कि मंत्रीजी आज आप मुण्डित क्यों हो गये हैं? बोले कि

आज राजाकी मृत्यु हो गयी है। यह सुनकर राजा भी मुँड गये। फिर सारी प्रजा भी मुँड गयी। आखिरमें लोगोंको पता चला कि राजा तो गाँवके धोबीका गधा था। इस प्रकार मरा गधा और मुँड गये सब लोग। फिर तुम किसके लिए रो रहे हो? **'नानुशोचन्ति पण्डिताः'**—कोई शोक करता है तो करने दो, किसीको रोते देखकर भी रोनेकी जरूरत नहीं है।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

यह है गीताका उपक्रम। जिसके लिए शोक नहीं करना चाहिए उनके लिए तुम शोक कर रहे हो और बन रहे हो विवेकी। विवेक और शोक इन दोनोंका सामानाधिकरण्य नहीं है। एक अन्तःकरणमें एक साथ विवेक भी रहे और शोक भी रहे—ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ युगपत्-स्थिति नहीं है। अधिकरण माने अन्तःकरण। उसमें समान कालमें विवेक और शोक इन दोनोंकी उपस्थिति नहीं हो सकती।

एक संग नहीं होहिं भुआलू। हंसब ठठाइ फुलाइव गालू॥

जैसे गाल फुलाकर और ठठाकर हँसना, ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते हैं, वैसे ही विवेकी बनना और शोक भी करना एक साथ नहीं हो सकता है— **'नानुशोचन्ति पण्डिताः।'**

देखो गीताकी यह सम उक्ति अशोकोपनिषद् है, पाण्डित्योपनिषद् है। अतः किसीके लिए शोक मत करो।

अब देखो, पण्डित लोग शोक क्यों नहीं करते हैं? इस **'प्रज्ञावादान्'** शब्दपर लोगोंका बड़ा शास्त्रार्थ है क्योंकि सारे ग्रन्थके प्रारम्भमें भगवान् यहींसे उपदेशका उपक्रम करते हैं, इसलिए बात थोड़ी गम्भीर भी है। पर अभी आपको कई बात हम इसपर सुनायेंगे। **'नानुशोचितुमर्हसि'** बीचमें आने वाला है। **'मा शुचः'** अन्तमें आनेवाला है तथा **'तत्रका परिवेदना, नानुशोचितुमर्हसि'** भी आनेवाले हैं। शोकसे छुटकारा दिलानेवाले भगवान् हैं—*'भगवः शोकस्य परं पारं तारयतु'* (छान्दोग्य ७.१.३) अतः *'तत्र को मोहः कः शोकः'*—कहकर हम अपने रास्ते चलते हैं।

अब यह बताते हैं कि आत्माका जो अभाव है, वह अनुभवका विषय नहीं है। है कोई ऐसा जो हाथ उठाकर कहे कि हम इतनी बार मर चुके हैं? आप गिनती करके बता सकते हैं कि आप कभी मरे हैं और यदि मरे हैं तो कितनी बार मर चुके हैं? आप अनादि कालसे अबतक मरते ही तो आये हैं। अरे भाई लौ बुझ-बुझ जाती है, आग नहीं मरती। तरंग बैठ-बैठ जाती है, नदी नहीं मरती है। सपने मर-मर जाते है तुम नहीं मरते हो? जिस मर जानेके बाद आप आज जिन्दा हैं, अगर

अबतक एक बार भी मर गये होते तो आज कहाँसे होते? आपकी यह सुभग श्रीमूर्ति, जो आँखोंको आनन्द दे रही है और शान्ति-दान्तिसे सम्पन्न होकर वेदान्तमें अधिकारी बनी बैठी है—उसके दर्शन कहाँ होते, यदि आप एक बार भी मर गये होते! वस्तुतः मृत्युका अनुभव नहीं हो सकता है। अनुभवके क्षेत्रमें मृत्यु नामका कोई पदार्थ नहीं है। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः। २.१२

न कभी 'मैं' मरा, न कभी 'तुम' मरे और न कभी 'दूसरे लोग' मरे। '**जनाधिपाः** का अर्थ '*जनाश्च अधिपाश्च*' भी कर सकते हैं। न कभी प्रजा मरी न कभी राजा मरा, न कभी मैं मरा और न कभी तुम मरे!

अच्छा भाई, अबतक नहीं मरे तो आगे मर जायेंगे क्या? कैसी कल्पना करते हो? कालकी अनादितामें यदि आजतक तुम्हारी मृत्यु नहीं हुई तो उसके प्रवाहमें आगे कहाँसे तुम्हारी मृत्यु होगी? काल विकल्प-वृत्ति है। काल किसमें है? प्रमाण है कि विपर्यय है कि विकल्प है कि निद्रा है कि स्मृति है? आप जानते हैं कि वृत्तियाँ पाँच प्राकरकी होती हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इसी प्रकार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं। सांख्ययोगमें देश, काल, पदार्थ ही नहीं हैं। तो ये क्या हैं? '*शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्यो विकल्पः* (योगसूत्र १.९)।' अच्छा देखो, यह एक स्थान है। यह स्थान तो है लेकिन बताओ कहाँ है? पूर्व है कि पश्चिम है कि उत्तर है कि दक्षिण है कि नीचे है कि ऊपर है? इसका उत्तर है—तम्बूके नीचे हैं। इस खम्भेके दक्षिण हैं और इस खम्भेके उत्तर हैं, ये कहेंगे दक्षिण है और ये कहेंगे पूर्व है ये कहेंगे पश्चिम है और ये कहेंगे ऊपर है और ये कहेंगे नीचे है। शब्दसे तो मालूम पड़ता है कि यह है, परन्तु यह पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊपर-नीचे कुछ नहीं है। इसी तरह काल भी बिल्कुल विकल्प ही है। जन्म-काल, मरण-काल, शैशव-काल, बार्द्धक्य-काल, यौवन-काल—यह सब तो विकल्प-वृत्ति है, 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्य है।' इसलिए वृत्तिके निरोधसे जिसका निरोध हो जाता है, उस चीजको इतना महत्त्व देना कि 'हम मरते हैं और आगे मरेंगे' यह ठीक नहीं है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्। (१२)

यह कल्पना करना कि 'इसके बाद हम सब नहीं रहेंगे', बिल्कुल गलत है।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ (१३)

देह माने क्या होता है? '*कहींकी ईंट कहींका रोड़ा, भानुमतीने कुनवा जोड़ा।*'

ये जो पागल लोग होते हैं वे रास्तेमें-से कुछ कागज उठा लेते हैं, कुछ चिथड़ा उठा लेते हैं, कुछ मिट्टीके डले उठा लेते हैं और उन सबको झोलेमें भर लेते हैं। उनसे कोई उन चीजोंको छीने तो मारते हैं और रोते पीटते हैं। कहते हैं कि देखो ये हमारी चीजें छीनते हैं। यही हाल देहका होता है। देह माने जिसमें ढेर-ढेर चीजें इकट्ठी हों। जिसमें हड्डी है, मांस है, चाम है, विष्ठा है, मूत्र है—उसका नाम देह है। इन्हींसे बने हो तुम देही। देही माने यह मेरा है। गाँवमें एक घूरा होता है, जहाँ कूड़ाका ढेर होता है। उसके लिए किसानलोग लड़ भी जाते हैं आपसमें कि यह कूड़ा हमारा है, हमारे खेतकी खाद है। इसके लिए आपसमें लाठी भी चलती है, रातको उसकी चोरी भी होती है। यही है देह। इसीका नाम है देह।

'दिह् उपचये।' यह भानुमतीका कुनबा जोड़ा हुआ है इसमें झूठा मेरापन है। इसको न तुमने बनाया है और न तुमने रखा। क्या इसको अंगूरमें, गेहूँमें तुमने भेजा था? बापके वीर्यमें तुमने भेजा था? माँके पेटमें तुमने पाला था? इसे दूध तुमने पिलाया था? फिर किस दृष्टिसे यह तुम्हारा है? अभिनयके सिवाय, मिथ्याभिमानके सिवाय, अविचारित अभिमानके सिवाय, विवेक-शून्य अभिमानके सिवाय, यह देह मेरा है—इसका कोई आधार है तुम्हारे पास? निराधार है यह कल्पना कि यह मेरा देह है। इसमें कुमारावस्था आती है, यौवनावस्था आती है, बुढ़ापा आता है। बुढ़ापा क्या तुम्हारे रोकनेसे रुकता है? भले ही खिजाब लगाकर बाल काले कर लो और भले ही मेकअप करके झुर्रियाँ भर लो, लेकिन बुढ़ापा तो आये बिना रहेगा नहीं। ऐसे ही देहान्तरकी प्राप्ति होती है—**'तथा देहान्तरप्राप्तिः।'**

एक बात आपको सुनाता हूँ। आप ध्यान देना जरा इस बातपर। पण्डित लक्ष्मण नारायण गर्देको हमलोग सम्पादकाचार्य बोलते थे। बादमें वे गोरखपुरमें आगये थे। उनका सारा जीवन साहित्यसेवामें बीता था। वे तीन या चार वर्ष गोरखपुरमें रहे! उनका साठ-सत्तर वर्षोंका जीवन तो अन्यत्र ही व्यतीत हुआ था। पहले कलकत्तेमें फिर वाराणसीमें सम्पादनका कार्य करतेथे। वे इसश्लोकका अर्थ सुनाते हुए विनोदमें कहते थे कि इसका अर्थ बताऊँ या इसका जैसा अर्थ सुना है, वह बताऊँ? तो उनसे जैसा अर्थ सुना, उसके पहले मैंने कभी नहीं सुना था। सुननेके बाद तो ऐसा लगा कि बिलकुल ठीक यही अर्थ है। यह अर्थवाद है। माहात्म्यपर दृष्टि जानेसे ही आदमी उसपर ध्यान देता है।

आप अपने जीवनमें न जाने क्या-क्या सोचते होंगे। कभी सोचते होंगे कि मैं बहुत पापी हूँ, दीन हूँ, हीन हूँ और कभी ऐसा सोचते होंगे कि मैं तो महात्मा हूँ। जब आपने सोचा कि मैं पापी हूँ तब आपका पापी-रूपमें जन्म हो गया। जब आपने सोचा कि पुण्यात्मा हूँ तब आपका पुण्यात्मा रूपमें जन्म हो गया। जब

आपने सोचा कि मैं सुखी हूँ तब आपका सुखीरूपमें जन्म हो गया और जब आपने सोचा कि मैं दु:खी हूँ तब आपमें दु:खीका जन्म हो गया! मतलब यह कि आप अपने सूक्ष्म शरीरकी वृत्तियोंको जैसे-जैसे अपने अहंके साथ जोड़ते गये, वैसे-वैसे आपके अहंका जन्म होता गया और आप वही-वही बनते गये। दिनभरमें आपने हजार बार अभिमान धारण किया तो आपके हजार जन्म बीत गये। लेकिन यदि आपने अपने अभिमानको धारण नहीं किया तो आपका एक भी जन्म नहीं हुआ।

आप आज हैं। आपके सूक्ष्म शरीरकी वृत्तियाँ बदलती हैं, सपनेके दृश्य बदलते हैं और आप उन दृश्योंके साथ 'मैं'को जोड़-जोड़कर, वही-वही-वही बनते जाते हैं। देहका जन्म नहीं होता, सूक्ष्म-शरीरका जन्म होता है और सूक्ष्म शरीरका जन्म शरीरके छूटनेपर ही नहीं होता, शरीरके रहते हुए भी होता है। एक हुआ बाल-जन्म, एक हुआ युवा-जन्म और एक हुआ वृद्ध-जन्म। एक हुआ मनुष्य-जन्म, एक हुआ द्विज-जन्म और एक हुआ संन्यासी-जन्म। अभिमानका परिवर्तन ही जन्म है और अभिमानके छूट जानेपर अभिमानका कोई अर्थ नहीं होनेके कारण पुनर्जन्मसे मुक्ति हो गयी।

देखो यहाँ महात्मालोग बैठे हैं, इसलिए यह बात सुना रहा हूँ। कई बातें ऐसी होती हैं, जो अपनोंको सुनायी जाती हैं। धर्मदास कहते हैं—

अपना हो तो देओ बताई।
दूजा हो तो लेओ छिपाई।
धर्मदास तोहे लाख दुहाई॥

आप जन्म-मरणसे तबतक मुक्त नहीं होंगे, जब-तक सूक्ष्म-शरीरके परिवर्तनोंको आत्माके साथ जोड़ते रहेंगे। इसलिए आप इसी जीवनमें सूक्ष्म-शरीरके परिवर्तनोंमें मैंपना और मेरापना छोड़कर पुनर्जन्मसे मुक्त हो जायँ। यदि आप इस जन्ममें पुनर्जन्मसे मुक्त नहीं हैं तो अगले जन्मकी कल्पना झूठी है। अगले जन्मकी कल्पना भी झूठी है और अगले जन्मकी मुक्ति भी झूठी है। अब है—

धीरस्तत्र न मुह्यति। (१३)

आप धीर हो जाओ भाई; धीर शब्दका अर्थ गीतामें ही किया हुआ है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ (१२)
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदाः। (१३)

आहा, आज तो संगीत सुनकर हम बड़े आनन्दमें आगये। आज बड़ा सुकुमार स्पर्श प्राप्त हुआ। आज तो सौन्दर्यका दर्शन प्राप्त करके हमारी आँखें धन्य हो गयीं,

हम कृतार्थ हो गये। आज तो बड़े ही स्वादका भोजन मिला। आज बड़ी सुगन्ध सूँघी। थोड़ी देरमें सुखी हो गये। और जब बिछुड़ गया सब तब हाय-हाय करके थोड़ी देरमें दु:खी हो गये। आपका क्षणमें हँसना, क्षणमें रोना, क्षण-क्षणमें रुष्ट-तुष्ट होना—*'क्षणे रुष्टा: क्षणे तुष्टा रुष्टास्तुष्टा: क्षणे-क्षणे।'* यह सब धीर पुरुषका लक्षण नहीं है।

विकार-हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा:।

(कुमारसम्भव १.५९)

कालिदासने कहा कि विकारके हेतु उपस्थित होनेपर भी जिनके चित्त विकृत नहीं होते, उनका नाम धीर है।

'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय'—गर्मीसे मरे, सर्दीसे मरे, सुखसे मरे, दु:खसे मरे, पहलेवाले मरे, दूसरेवाले पैदा हुए। दूसरेवाले मरे, तीसरेवाले पैदा हुए। पोशाक पकड़कर पैदा हुए और पोशाक छोड़कर मर गये। अरे आप तो वही हैं।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ (१५)

जो धीके साथ बदलता नहीं है, धीको सत्ता-स्फूर्ति देता है वह धीर है। वह धी नहीं है, *'धियो यो न: प्रचोदयात्'* है। वह बुद्धि नहीं है, बुद्धिका प्रेरक है और बुद्धिमें सुख है, दु:ख है, पाप है, पुण्य है। आप बुद्धिके जन्मके साथ जन्म लेते हैं और बुद्धिकी मृत्युके साथ मृत्युका अनुभव करते हैं। अरे, बुद्धिको जन्मने दो, मरने दो, तुम न जन्मते हो, न मरते हो—**'न मुह्यति।'** यह विपरीत-चित्तता क्यों ग्रहण करते हो? ऐसा क्यों कहते हो कि मन ऐसा हो गया तो मैं ऐसा हो गया और मन वैसा हो गया तो मैं वैसा हो गया।

अब आपको एक महात्माकी बात सुनाता हूँ। देखो भाई, यह बात कच्चे लोगोंके लिए नहीं है। यदि कच्चे हो तो अपना कान बन्द कर लो। पक्के लोगोंके लिए यह बात कह रहा हूँ। लेकिन मैं समझता हूँ कि कच्चे लोग ज्यादा कान खोलकर यह बात सुनेंगे!

एक बार मैंने बचपनमें एक महात्मासे पूछा कि महाराज, मेरे मनमें यह बात आती है कि मैं तो विक्षिप्त हूँ। उन्होंने कहा कि जब एक चींटीके मनमें किसीको काटनेके लिए विक्षेप आता है, एक साँपके मनमें किसीको डँसनेके लिए आता है, एक चोरके मनमें चोरी करनेके लिए आता है तो तुम उनके लिए दु:खी क्यों नहीं होते? मैं बोल पड़ा कि महाराज, न मैं चींटी, साँप या चोर हूँ और न वे मेरे हैं। फिर हम उनके लिए क्यों रोवें? दु:खी क्यों हों? उनके विक्षेपसे हम विक्षिप्त क्यों हों?

इसपर महात्मा बोले कि बाबा जैसे ये हैं, वैसे ही यह भी है, हमसे सीख लो। इनको तुम 'मैं' 'मेरा' मानोगे तो इनके लिए भी तुम दुःखी होओगे। जैसे हमारे पालतू कुत्तेने किसीको काट लिया, हमारे पाले हुए साँपने किसीको डँस लिया। इस प्रकार यदि उनका मैं-मेरा मान लोगे तो उनसे भी दुःखी और इसको मैं मेरा मानोगे तो इससे भी दुःखी होओगे। दुःखका हेतु केवल देहाध्यास है।

क्या बताऊँ मुझे गीताके उपदेश बहुत अच्छे लगते हैं और उनका चिन्तन-मनन करनेपर हृदय गद्‌गद हो जाता है। इसलिए महात्माओंने उसे माँ कहा है। माँ तो इस संसारकी भी ऐसी होती है, जो सबको बहुत प्यारी लगती है। साधु लोग अपनी जन्मदात्री माँको छोड़कर चले तो आते हैं लेकिन उन्हें भी कभी-कभी उसकी याद आया करती है। श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने तो अपनी माँसे प्रतिज्ञा की थी कि मैं संन्यासी होनेपर भी तुम्हारे अन्त्येष्टि-संस्कारके समय आऊँगा और हमारे अद्वैताचार्य महाराजने अपनी उस प्रतिज्ञाका पालन किया। गीता तो हमारी जन्मदात्री माँकी भी माँ है। आओ हम अपनी उस माँका दर्शन करें। महात्माओंने कहा है—

अम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्‌गीते भवद्वेषिणीम्।

अम्ब, हम तुम्हारा अनुसन्धान करते हैं। तुम चाहती हो कि अब किसी दूसरेके पेटसे तुम्हारे बेटेका जन्म न हो। माने अब हमको कोई दूसरी माँ न बनानी पड़े। हम जन्म-मरणके चक्करसे छूट जायँ। कितनी करुणामयी माँ हो तुम!

देखिये आपने बहुत-से इतिहास-पुराण सुने होंगे। आचार्य लोग तो अपने व्याख्यानोंमें, उपदेशोंमें बार-बार मौतका डर दिखाते रहते हैं। हम इसका विरोध नहीं करते। असलमें वे लोग जो डराते हैं, उसका मतलब यही होता है कि हम अपने जीवनमें अच्छे कार्य करें, धर्म करें और मोह-ममतासे मुक्त हो जायँ तो हमें मृत्युके समय कष्ट नहीं होगा। उनका अभिप्राय यही होता है। लेकिन हमारी गीता मैया यह बोलती है कि बेटा मरनेसे बिल्कुल मत डरना। क्योंकि यह जो देह है वह संघात है—माने बहुत चीजोंका जोड़ है, संघटन है। *'संघातस्य परार्थत्वात्'*—संघात अपने लिए नहीं होता दूसरेके लिए होता है। अनेक पुर्जोंसे मोटर बनती है तो मोटर स्वयं अपने चलनेके लिए नहीं होती, मालिकके चढ़नेके लिए होती है, ड्राइवरके चलानेके लिए होती है। यह देह भी पाञ्चभौतिक विकारोंका संघटन है और यह देह देहीके लिए है।

इसको ऐसे समझो कि एकदम कारखानेसे निकली हुई मोटर '**कौमार**' है दस-बीस हजार मील चली हुई मोटर '**यौवन**' है और लाख मील चली हुई मोटर '**जरा**' है। *'तथा देहान्तरप्राप्तिः'*—इसका अर्थ है कि—एक मोटर बिगड़ जायेगी

तो दूसरी लग जायेगी। यह तो मोटर है। बहुत लोग नयी मोटर लेनेके लिए पहलेसे ही बीमा करा रखते हैं और जानबूझकर एक्सीडेण्ट कर देते हैं कि उसके बदलेमें दूसरी नयी मोटर मिल जाय। इसी तरह देहका मरना माने नयी मोटर (नया शरीर) का प्राप्त होना है।

देखो, जो आत्मदेव हैं, वे यदि किसी स्थानके अन्दर होते तो एक स्थानसे दूसरे स्थानपर चले जाते। 'जीव देशाश्रित नहीं है, देश ही जीवाश्रित है'। फिर जीवका गमनागमन कैसे होगा? वह नरक-स्वर्गमें कैसे जायेगा? देश कल्पनाश्रय है। जो देश कल्पनावच्छिन्न चैतन्य है वही देशावच्छिन्न चैतन्य है। जब दोनोंकी एकता है, तब देश-परिच्छेद आत्माका स्पर्श नहीं कर सकता। महात्मा लोग इसका विचार करते हैं। जो कालकल्पनावच्छिन्न चैतन्य है, वही कालकालावयवाच्छिन्न चैतन्य है। जब दोनोंकी एकताका बोध होगा तो काल आत्माको परिच्छिन्न कैसे बनायेगा? यह देह द्रव्य-संघात है; जो एक देहावच्छिन्न चैतन्य है, वही अन्य देहावच्छिन्न चैतन्य है। फिर जब दोनोंकी एकता है, तब देहसे इसको परिच्छिन्न कैसे करेंगे?

'देहान्तर-प्राप्तिः' का क्या अर्थ है? पुराणोंने डराया, व्याख्यान-दाताओंने डराया कि मृत्युके समय शत-शत बिच्छुओंके एक साथ डंक मार जानेकी-सी पीड़ा होती है। लेकिन डर कैसा? हमारे साथ हमारा भैया भी तो है। अरे हम और हमारा भाई, दोनों भाई ही तो हैं। *'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते'* (ऋग्वेद १०.१६४.२०)। वैष्णव लोगोंको भी वह सखाके रूपमें मान्य है। *'उत पिता उत भ्राता सखा'*—हे परमेश्वर! तुम हमारे पिता हो, भ्राता हो, सखा हो।

वैसे तो सखा दो हैं, परन्तु उभयसख्यावच्छिन्न चैतन्य एक है। मृत्यु माने क्या होता है? डरो मत बाबा! वह है—**'देहाँन्तरप्राप्तिः'**। इसका अर्थ देशसे देशान्तर-प्राप्ति, जन्मसे जन्मान्तर-प्राप्तिकी तरह देहसे देहान्तर-प्राप्ति नहीं है। तब क्या है? भावसे भावान्तर-प्राप्ति है। पापी मर गया, पुण्यात्माका जन्म हो गया और पुण्यात्मा मर गया पापीका जन्म हो गया।

अब जन्म माने? आपको सीधी-सीधी दो-टूक बात सुनाते हैं, यह फक्कड़ भक्तोंकी बात है। आप वृन्दावनमें विहारीजीके सामने जाकर बोलो कि *'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः'* और उसके बाद जब बाहर निकलो तब बोलो कि—*'निष्पापोऽहम्'* क्योंकि मैंने विहारीजीके सामने *'पापोऽहं पापकर्माहम्'* कह दिया तो अब मैं निष्पाप हो गया। यह प्रतीक उपासनाका फल है—'अहंग्रहोपासना।' *'पापोऽहम्'*, 'प्रतीकोपासना है' और *'निष्पापोऽहम्'* 'अहंग्रहोपासना' है। बस

इसीका नाम जन्म है। आप अपने भावको बदल डालो। भाव बदलना ही जन्म है। **धीरस्तत्र न मुह्यति**, इसलिए धीर पुरुष इससे मोहित नहीं होते।

देखो; असली धीर तो परमात्मा ही है। *धियम् ईरयति=धियं प्रेरयति।* जो बुद्धि देता है, वह धीर है और जो बुद्धिको प्रेरित करता है, वह धीर है—*'धियो यो नः प्रचोदयात्;* (ऋग्० ३.६२.१०) महात्मा भी धीर है। *'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'*— (बृहदा० ४.४.२१)। गीता कहती है—**'धीरस्तत्र न मुह्यति'** (२.१३)—धीरको मोह नहीं होता। अभी अर्जुनको मोह है। अन्तमें कहेगा कि **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'**।

तो हमारे भगवान् श्रीकृष्ण और हमारी अम्बा गीता दोनों मिलकर हमारे मोहको छुड़ा रहे हैं, कहते हैं कि देहका मोह छोड़ दो, मरनेकी तकलीफ नहीं होगी। न दूसरेके मरनेकी तकलीफ होगी, न अपने मरनेकी तकलीफ होगी। यह तो तुम्हारा भ्रम है, तुम्हारे चित्तका विपर्यय है, जो तुम अपनेको मृत्युशील मानते हो।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ (१४)

इसलिए मौतसे डरो नहीं। ठीक है महाराज, आपकी बात मान ली। छोटी छातीवाले नहीं मान सकते। लेकिन जो बहादुर हैं माने *बृहदुरः=बृहत्-उरः हैं*— जिनकी छाती बड़ी है, चौड़ी है, वे मौतके सामने छाती खोलकर खड़े हो जाते हैं। यह बहादुरका काम है। जबतक जिन्दगी है, मर नहीं जाते हैं, जिन्दा हैं तबतक तकलीफ होती है। तकलीफको संस्कृतमें 'तापकला' कहते हैं। तापकलामें थोड़ा-थोड़ा ताप होता है। ऐसे शब्दोंका प्रयोग महाभारतमें आता है। जैसे धर्ममें परम सुख है—

धने सुखकला काचित् धर्मे तु परमं सुखम्।

अब बोले कि भाई जीवनमें तो दुःख-सुख आते हैं, यह हमने देखा। लेकिन उसका सामना कैसे किया जाय? इसको ऐसे समझो कि जब हम कोई चीज पकाते हैं, रसोई बनाते हैं तो कभी तो उसको तवेपर सेंकते हैं और कभी ठण्ढा मट्ठा डालकर ठण्ढा करते हैं तब जाकर रसोई पकती है। इसी प्रकार ये सुख-दुःख दोनों हमारे जीवनको सुस्वादु बनानेके लिए हैं। यदि गर्मी-ही-गर्मी रहे, सर्दी न आवे तो? सर्दी-ही-सर्दी रहे गर्मी न आवे तो? रात-ही-रात रहे दिन न आवे तो? दिन-ही-दिन रहे रात न आवे तो? क्या हम अपने जीवनको उन्हींके प्रभावमें व्यतीत कर देंगे? नहीं भाई, ये तो आते-ही-जाते रहते हैं। **'मात्रास्पर्शाः'**—का अर्थ आचार्योंने भिन्न-भिन्न रीतिसे किया है। पर सबका अन्तिम अर्थ एक ही है। कोई

कहते हैं—'मात्रा' माने विषय, उनका स्पर्श माने अनुभव और कोई अर्थ करते हैं—'मात्रा' माने इन्द्रिय और स्पर्श माने उनका विषय। ये दोनों अर्थ किये हुए हैं। **मात्राः** *=इन्द्रियाणि*—मात्रा शब्दका अर्थ हो गया, इन्द्रिय और *मात्राः=विषयाः तेषां स्पर्शाः मीयन्ते इति* **मात्रास्पर्शाः**—इन्द्रियोंका विषय।'

कहते हैं कि कोई ठण्ढे हैं, कोई गर्म हैं, कोई सुख देते हैं और कोई दुःख देते हैं। ठीक है ये सुख-दुःख देते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष अनुभवका अपलाप कर दो। मस्त लोग तो कह गये हैं कि गर्मीकी सत्ता कहाँ है और ठण्ढा कहाँ है? जो लोग ठण्ढ सह लेते हैं, उनसे गर्मी नहीं सही जाती है और जो गर्मी सह लेते हैं, उनसे ठण्ढा नहीं सहन होता।

एक महात्मा रहते थे गंगोत्रीमें। एकबार वे नीचे हरद्वार आये। माघका महीना था। हरिद्वारके लोग तो ठण्ढेसे बहुत तकलीफ पा रहे थे लेकिन महात्माको पसीना आने लगा। वे बोले कि पंखा करो। अरे महाराज, आप तो गंगोत्रीमें रहते हैं, शीतोष्ण सहन कर सकते हैं। महात्मा बोले कि बाबा हम शीत ही सहन करते हैं, उष्ण सहन नहीं करते। यहाँके लोग उष्ण सहन करते हैं, शीत सहन नहीं करते। यहाँ भगवान्ने जो बात कही है, उसका अर्थ यह नहीं है कि सिर्फ गर्मी सह लो, पञ्चाग्नि ताप लो और यह भी नहीं कही है कि सिर्फ बर्फमें जाकर रह लो। नहीं, गर्मी और सर्दी दोनोंको सहना आवश्यक है। वे तो आते-जाते रहेंगे। गर्मी अपने रास्ते आयेगी और जायेगी। सर्दी अपने रास्ते आयेगी और जायेगी। सुख अपने रास्ते आयेगा और जायेगा। उनके तो आने-जानेके रास्ते बने हुए हैं।

हमारे दिलमें सुख और दुःख कब आते हैं? दुःख जब आता है—जब दिलमें तूफान आता है, आँधी चलने लगती है। जैसे दुर्गुण होता है न, वह दुःख होता है। दुर्गुणमें जो *'दुर्'* उपसर्ग है, वही *'ख'* के साथ जुड़ा हुआ है। *'ख'* माने हृदयाकाश। उसमें जब दुर्गुण आ गया तब दुःख आ गया। तूफान आ गया, बाढ़ आ गयी, बड़े जोरकी लू चलने लगी, तब दुःख आ गया। तुम्हारे कलेजेमें जो लू चल रही है, धूल उड़ रही है, बाढ़ आ रही है—उसीको दुःख बोलते हैं।

अब सुख क्या है? सुख माने अपने हृदयमें शीतल, मन्द, सुगन्ध, वायु चल रही है। अपना मन सुष्ठु है तो सुख-ही-सुख है और अपना दिल दुःखी है, दुष्ट है, दूषित है तो दुःख-ही-दुःख है। सुख और दुःख बाह्य पदार्थके धर्म नहीं हैं।

आपलोग तो वेदान्ती हैं। सब जानते ही हैं, फिर आपको क्या सुनायें? आपलोगोंको देखकर ऐसा ख्याल होता है कि सब जानकर बैठे हैं, इनके बीचमें क्या छोटी-मोटी बात बोलना? आप सब जानते हैं कि सुख-दुःख आभास-भास्य

नहीं होते, साक्षी-भास्य होते हैं और जब सुख-दु:ख साक्षी-भास्य होते हैं तब ये विषयमें हैं ही नहीं। ये तो वृत्तिमें हैं, आभास मात्र हैं, स्वप्नवत् हैं। सुख-दु:ख ठीक वैसे ही हैं जैसे स्वप्न, क्योंकि वे बाह्य पदार्थ होते तो आभास-भास्य होते। अन्त: पदार्थ हैं तो साक्षी-भास्य हैं और साक्षी-भास्य हैं तो स्वप्नवत् हैं। इसलिए आने दो सपनोंको, क्या हर्ज है? उससे तो बड़ा मजा आता है। जब हम जागते हैं तब कहते हैं कि हमने ऐसा सपना देखा, वैसा सपना देखा। उससे मजा ही आता है।

बोले कि भाई, प्रक्रियाकी बात तो हो गयी, अब एक व्यवहारकी बात सुनो। **'आगमापायिनः'** आजतक कोई ऐसा सुख आया है जो हमेशा रहे? आजतक कोई ऐसा दु:ख आया है जो हमेशा रहे? हमने सौ-सौ सुख भोगकर छोड़ दिये, सौ-सौ दु:ख भोगकर छोड़ दिये और अभी सौ-सौ, दो-दो सौ आ जायेंगे तो उनको भी भोग लेंगे। इस प्रसंगमें हम आपको रामानुज-संप्रदायका एक श्लोक सुना देते हैं—

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा सर्वं सहे मे सहजं हि दु:खम्।
किन्तु त्वदग्रे शरणागतानां पराभवो नाथ न तेऽनुरूप:॥

इसमें कहा गया है कि मेरे लिए सृष्टिमें कोई नहीं है। मेरे लिए दु:ख सहज है। जबसे मैं पैदा हुआ, तबसे दु:ख पैदा हुआ। सब दु:खोंको सह चुका हूँ और आगे जो आयेंगे उनको भी सह लूँगा—यह भक्त बोलता है। इसपर मानो भगवान्‌ने पूछा कि ऐसा क्यों बोलते हो? भक्तने कहा कि इसलिए बोलते हैं कि हम तुम्हारे हैं—तुम्हारी वर्दी, तुम्हारा चपरास हमारे पास है। मैं तुम्हारा सैनिक हूँ। *'त्वदग्रे शरणागतानाम्'*—तुम्हारा शरणागत हूँ। यदि सैनिक हार जायेगा, सेना हार जायगी तो सेनापतिकी हार हो जायगी, राजाकी हार हो जायेगी और वह क्या तुम्हारे अनुरूप होगी? हमारी हारमें हार तो तुम्हारी है! इसलिए हमको दु:खसे डर नहीं है। उन दु:खोंसे हम कभी हारें नहीं और न ही कभी अपनेको दु:खी मान बैठें।

तो भाई मेरे, दु:खको आने दो, पर अपनेको दु:खी मत मानो, सुखको आने दो, पर अपनेको सुखी मत मानो। आभाससे तादात्म्य मत करो। *'दु:खी यदि भवेदात्मा क: साक्षी दु:खिनो भवेत्'*—यदि आत्मा दु:खी हो जाय तो इस दु:खीका साक्षी कौन है? दु:खी साक्षी नहीं हो सकता, साक्षी दु:खी नहीं हो सकता। बिना विचारके कोई दु:खी नहीं हो सकता और विचार्य साक्षी नहीं हो सकता।

मैं बुद्धिके हजार-हजार विकारोंका साक्षी हूँ—*'सहस्राणां धी: विक्रियाणां'*। मैं निर्विकार हूँ। यह बात शंकराचार्यने कही है। दोनों एक ही बात तो बोलते हैं। हम दु:खी होंगे तो—*'चिन्ता यह मोहिं अपारा। अपजस जनि होहु तुम्हारा।'* क्या

तुम्हारे होकर हम दुःखी हो जायें? हे भगवान्! '**आगमापयिनः**'—हमने न जाने कितने भोगके दुःख छोड़ दिये, कितने सुख छोड़ दिये। दादाको मरते देखा, बापको मरते देखा, भाईको मरते देखा, माँको मरते देखा। जो अपना प्यारा-से-प्यारा था—उसको मरते देखा। सब सह चुका हूँ, अब कौन-सा दुःख आयेगा? हमको एक स्त्रीने एक बार कहा था कि महाराज!अब हमारे जीवनमें ऐसा कौन दुःख आयेगा जो हमारे भोगे हुए दुःखसे बड़ा होगा। यह बात हमको बड़ी ही अच्छी लगी कि अब हमको दुःखका कोई डर नहीं है।

'**आगमापायिनोऽनित्याः**'—यदि यह कहो कि सुख-दुःख हमेशा रह जायेंगे तो रहेंगे भी नहीं। ये अनित्य हैं, कालकी धारामें बहते हैं। आते हैं जाते हैं। यह दुःख-सुखका स्वभाव है। ये अनित्य हैं—कालके अधीन हैं। हम तो अधिष्ठान-स्वरूप हैं। अधिष्ठानमें कितनी तितिक्षा है। समग्र अध्यस्तको वह सहन कर लेता है। रस्सीको आप साँप समझ लो तो, माला समझ लो तो, है न सहनका सामर्थ्य। अधिष्ठानका ही यह सामर्थ्य है कि वह अध्यस्त मात्रको सहन करता है।

अब, बोले कि—महाराज! हम कैसे ऐसी हिम्मत करें? इसपर भगवान् उत्साहित करते हुए कहते हैं कि—'**तांस्तितिक्षस्व भारत।**' *भा=प्रतिभा तस्यां रतः=भारतः।* अरे तुम प्रतिभाशाली हो, दुःखके सामने ऐसे दब जाओगे! इनको सह लो और आगे बढ़ो।

यं हि न व्यथन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ (१५)

बनते हैं पुरुष और काम करते हैं कापुरुषका। इसमें स्त्री-पुरुषका भेद नहीं है। पुरुष तो आत्मा है, लिङ्ग-भेदसे, कर्म-भेदसे, भोग-भेदसे, प्रकृति-भेदसे, अभिमान-भेदसे भी पुरुष-भेद नहीं है। यह तो औपाधिक है, अभिमान आया हुआ है। भेद तो है ही नहीं पुरुषमें। पुरुष वह है, जिसको ये सब व्यथा नहीं पहुँचाते हैं। भगवान् अर्जुनको बोलते हैं कि **पुरुषर्षभ**! तुम पुरुष नहीं हो, पुरुषोत्तम हो। पुरुषर्षभका अर्थ पुरुषोत्तम है। क्योंकि ऋषभ भी भगवद्वाचक शब्द है, पुरुष भी भगवद्वाचक शब्द है और पुरुषर्षभ तो नितान्त भगवद्वाचक शब्द है।

भगवान्ने अपनेको पुरुषोत्तम बताया है बादमें और अर्जुनको यहीं पुरुषर्षभ बता दिया है। वैष्णवाचार्योंके मतमें यह सारा प्रसंग आत्माके वर्णनका है, स्व-तत्त्वके वर्णनका है, परतत्त्वके वर्णनका नहीं है। यह आत्मा ऐसा है, अपना आत्मा ऐसा है। यह वे भी मानते हैं—श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य—ये मानते हैं कि यह वर्णन हमारी आत्माका है, हमारा है। वे

अद्वैती लोग जो ठहरे, जिनके मतमें आत्मा-परमात्मा दो नहीं होते। इसलिए कहते हैं कि—उपक्रम तो किया आत्मासे-यह हम मानते हैं परन्तु उपसंहार इस प्रकार किया है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ (७२)

उपसंहारमें इसे ब्राह्मी स्थिति कह दिया है। यदि आत्मा और ब्रह्मकी एकता न होती तो प्रत्यगात्माका निरूपण ब्राह्मी स्थितिसे हो जाता। अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि जैसे बृहदारण्यक उपनिषद्में आया है—

आत्मानस्तु कामाय पतिःप्रियो (सर्वं प्रियं)भवति। (२.४.५आदि)

वैसे आत्मा-प्रत्यगात्मासे उपक्रम किया और 'सर्वं विदितम्'से उपसंहार किया। जब आत्मा सर्वात्मक है तो वह प्रत्यगात्माका ही नहीं, परात्मा-परमात्माका भी वर्णन हो गया। उपक्रम और उपसंहारकी एकतासे दोनों एक हो जाते हैं और उसमें उपसंहारको मीमांसक लोग प्रबल मानते हैं। वैसे अप्पय दीक्षितने एक 'उपक्रम-पराक्रम' नामका ग्रन्थ लिखा है। परन्तु उपसंहार तो वही जाकर जुड़ा।

अब आओ **'समदुःखसुखं धीरम्'** पर विचार करें। धीर कौन है? जो सुख-दुःख दोनोंमें समान है। यह केवल ज्ञानीका लक्षण नहीं है, भक्तका भी यही लक्षण है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ (१२.१३)

वह क्या है? **'समदुःखसुखः'** है। सुख और दुःखमें समान है। सम है माने 'माँ' साथ है। माँ कभी चपत लगाती है तो कभी दूध पिलाती है। 'मा' माने प्रमा साथ है, यथार्थ निश्चय साथ है। 'मा' माने लक्ष्मी साथ है। चाहे सुख हो, चाहे दुःख हो—अपने सौन्दर्यका, शोभाका नाश नहीं है। सुख आवे, दुःख आवे, आने दो, जाने दो। दो दिन रोटी न मिले तो न मिले, इससे क्या हुआ?

साधु लोग इतने चालाक होते हैं कि गृहस्थ लोग कभी उनकी बराबरी नहीं कर सकते। एक सेठके घर गये तो उन्होंने खूब भेंट-पूजा लाकर दी। साधु बोले कि इसकी श्रद्धा हमारे ऊपर है तब ऐसा करता है। फिर वे दूसरेके घर गये तो उसने कुछ नहीं दिया। बोले कि देखो यह हमको कितना विरक्त समझता है। यह सोचता है कि ये विरक्त महात्मा स्वीकार ही नहीं करेंगे। इसलिए संकोचके मारे नहीं दिया। हमारी विरक्तिपर इसकी श्रद्धा है। इस प्रकार साधु लोग दोनों जगह मजा ले

लेते हैं। जो दोनों जगह मजा ले सके वह महात्मा होता है। किन्तु जो एक जगह मजा ले और दूसरी जगह न ले, वह तो अधूरा है, गृहस्थी है।

बात चल रही थी धीर-पुरुषकी। उसीको धीर बोलते हैं जो विकारका हेतु उपस्थित होनेपर भी विकृत नहीं होता। वही '**अमृतत्वाय कल्पते**'—अमृत तत्त्वका अधिकारी होता है। वह मृत नहीं है, उसकी मृत्यु नहीं है, उसको तो अमृतत्वकी प्राप्ति हो गयी है। अब अमृतत्वकी जो परिभाषा दी गयी है, वह देख लो—

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। (१३.१३)

वहाँ अमृतका उपभोग नहीं है, अमृत व्याप्ति है। '**अश्नुते**' शब्द '*अश्नाति*'का पर्यायवाची नहीं है—'**अमृतमश्नुते** *यत्र, अमृतमपि व्याप्यं भवति, ततो व्यापको भवति*'—वहाँ अमृत भी व्याप्त हो जाता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ (१६)

अब देखो जहाँ मृत्युका कोई भय नहीं और गर्मी-सर्दी, सुख-दुःख सब कुछ आते जा रहे हों वहाँ इसका कुछ आधार भी तो होना चाहिए। व्यवहार चाहे कितना भी उत्तम हो, परन्तु यदि इसका आधार दर्शन नहीं है तो व्यवहार टिकाऊ नहीं रहेगा। आँखसे देखा न हो और ऐसे ही अन्दाजसे चल रहे हों तो चाहे जितनी अच्छी दीयाके उजालेमें चलेंगे तो भी संशय तो हो ही जायेगा। आजकी जो राजनीति है—इसमें दर्शन नहीं है। संस्कृत भाषामें नीति माने नयन होता है—'*नयनं नीतिः*'। '*नी प्रापणे*'—लक्ष्यको प्राप्त कराता है। परन्तु यहाँ तो नयनहीन नीति चलती है। संस्कृति तो है, परन्तु पीछेकी ओरसे आती है, पता ही नहीं कि आ रही है कि छूट गयी। संस्कृति तो कुल-परम्परासे आती है और हम आगे बढ़ते जाते हैं। इसलिए पता ही नहीं कि छूट गयी या है। बड़े-बड़े पगड़ीवाले बाप-दादोंके बेटे टोपी लगाने लगे, फिर नंगे सिर रहने लगे, फिर बोले कि बालोंका ही बोझ रख लेंगे, टोपी-पगड़ी क्यों लादे फिरें? इस प्रकार यह संस्कृति आ रही है क्या? संस्कृति बेचारी तो छूटती जा रही है। व्यवहारका आधार दर्शन रहा नहीं। वहाँ ज्ञान नहीं है, गणित नहीं है। एक संस्था बन रही थी तो मैं वहाँ बैठा था, संस्थावाले गिनने लगे कि यह चाहिए, वह चाहिए। अरे भाई, झूठे ही तुम उँगलीपर हाथ फेरते हो। गणितके लिए भी तो कोई कायदा होता है। कहाँसे यह गणित फैल रहा है तुम्हारा? तो इसका दर्शन देखो—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (१६)

'असत: भाव: यन्नास्ति तस्य भाव:=जन्म:, तदुपलक्षितं मरणञ्च न, असत: भाव: जन्म-मरणं च न' अर्थात् जो है ही नहीं उसका न जन्म होता है और न मृत्यु होती है *'यथा बन्ध्यापुत्रस्य'*—जैसे बन्ध्यापुत्रका होना असत् है, न उसका जन्म है और न उसका मरण है। '**नाभावो विद्यते सतः।** *सत: अभाव:=मृत्यु:, तदुपलक्षितं जन्म च न'*—जो सद्वस्तु है, उसका न मरण है न जन्म है यथा 'आत्मा'। न आत्माका जन्म है, न मरण है और न बन्ध्यापुत्रका जन्म है न मरण है। ये दोनों मिथ्या शब्द हैं—'**उभयोरपि दृष्टोऽन्तः।** *उभयोरपि प्रतीयमानयो: जन्ममृत्यो: भावाभावयोरनयो:'*—ये जो दोनों प्रतीत होते हैं—यह जन्म हुआ, यह मृत्यु हुई—का जो अन्तस्थ है, अधिष्ठान है; उसको तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने देखा है, आत्मत्वेन उसका साक्षात्कार किया है। देखो, विस्तारमें श्लोकके शब्दको लगा लो। असद्भावका अर्थ जन्म और मरण नहीं है और सत्का मरण और जन्म नहीं है। क्योंकि जो जन्म लेता है, वह मरता है और जो मरता है वह जन्मता है। ये दोनों सहभावी हैं। इसलिए बन्ध्यापुत्रका भी जन्म-मरण नहीं है और सत्य आत्माका भी जन्म-मरण नहीं है। बस अद्वैत-वेदान्तियोंकी विलक्षणता इतनी ही है।

यहाँ विलक्षण शब्दकी चर्चा चल गयी तो हम ऐसे बोलते हैं कि यह संसार सलक्षण है। यह गाय है, यह घोड़ा है, एक चतुष्पद है, दूसरा द्विपद है—आदि-आदि। यह सलक्षण है। गलकम्बलवत् है, गलकम्बलरहित है। यह सलक्षण है। इसमें राग-द्वेष होता है। जो विलक्षण है—वह अनिवर्चनीय है; मायाका खेल है। उसमें राग-द्वेष नहीं होता; जो तत्त्व है—वह अलक्षण हैं। वहाँ यह लक्षण-वक्षण कोई काम नहीं करता है। यह लक्षण तो समझानेके लिए है। नहीं तो मूल माण्डूक्य श्रुति ही *'अलक्षणम्'* बोलती है—

अलक्षणं अव्यपदेश्यम्। (७)

'नास्ति लक्षणा लक्षणं वा यस्मिन् तत्=अलक्षणम्'—उसमें लक्षण भी नहीं है, लक्षणा भी नहीं है, इसलिए तो वह अलक्षण है। और विलक्षण शब्द भी भेद-वाचक नहीं है। कुण्डलसे, कटकसे विलक्षण है सुवर्ण, परन्तु सुवर्णसे विलक्षण कुण्डल-कटक नहीं है। विलक्षण शब्द भेदका पर्याय नहीं है। विलक्षण शब्द एक ही वस्तुमें व्यवहार-सिद्धिके लिए कल्पित लक्षण होता है। अखण्ड वस्तु एक अद्वय है। विलक्षण भेदापर पर्याय नहीं है।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।

हमलोग प्रपञ्चके लिए मिथ्या शब्दका प्रयोग करते हैं। कुछ पन्थ ऐसे हैं, जिनमें दो ही विभाग मानते हैं—एक सत् और दूसरा असत्। वे कहते हैं कि जो असत् नहीं है, वह सत् है और जो सत् नहीं है, वह असत् है। अद्वैत-वेदान्तियोंने

दो विभाग नहीं माने, तीन मान लिये। वे कहते हैं कि नितान्त असत् तो वन्ध्यापुत्रादि हैं, जो कभी प्रतीत ही नहीं होते। नितान्त सत् आत्मा है जो कभी अप्रतीत नहीं होता। परन्तु यह जो प्रपञ्च है—यह न बन्ध्यापुत्रके समान आभास है, न अप्रतीत है और न आत्माके समान नित्य-प्रतीत है। दोनोंसे विलक्षण होनेके कारण यह मिथ्या है—*'मिथ्या शब्दो अनिर्वचनीयतावचनः'*। इसलिए यह न सत् है और न असत् है —*'सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीयः'* है। मिथ्या शब्दका अर्थ असत् नहीं होता। इस प्रकार अद्वैतवेदान्तियोंने तीन विभाग किये—सत्, असत् और मिथ्या। मिथ्या और असत् पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। इसलिए एककी बोली दूसरा नहीं समझता है और दूसरेकी बोली एक नहीं समझता है।

अच्छा देखो, अब हम एक प्रश्न करते हैं—जितना सत्य ईश्वर है क्या उतना सत्य प्रपञ्च है? किसी भी द्वैतवादीको क्या यह मान्य है कि जैसा सत्य ईश्वर है वैसा सत्य संसार है? अरे यह तो उत्पन्न सत्य है और ईश्वर अनुत्पन्न सत्य है। यह आविर्भाव-तिरोभावका ही सत्य है और वह शान्त सत्य है। तो जब समान-सत्ताकत्व ईश्वर और प्रपञ्चका नहीं है तब किञ्चित् न्यून-सत्ताकत्व मानना पड़ेगा। ईश्वरकी अपेक्षा किञ्चित् न्यून सत्ता प्रपञ्चकी माननी पड़ेगी, नहीं तो ईश्वरकी महनीयता-भजनीयता सिद्ध नहीं होगी, प्रपञ्च ही भजनीय हो जायेगा। ईश्वरसे थोड़ा कम तो है न! अब बताओ कि कितना कम है? देशमें कितना कम? ईश्वर जितना बड़ा है उससे कितना छोटा संसार है? ईश्वरकी जितनी उम्र है, उससे कितनी कम उम्र संसारकी है? ईश्वर जितना स्थायी है, उससे कितना अधिक परिवर्तनशील संसार है? ईश्वरका कितना वजन है और उससे कितना कम वजन संसारका है? अन्ततोगत्वा अद्वैत वेदान्ती इसीको अनिर्वचनीय कहते हैं—*'मिथ्या शब्दो अनिर्वचनीयता वचनः नापह्नवचनः'*।

तो परमात्माका ज्ञानसे अवमूल्यन हो जाता है? पौण्डका, डालरका, रुपयेका तो अवमूल्यन हो जाता है। सोलह आनेका रुपया आठ आनेका भी नहीं रहता, किन्तु ईश्वर हमेशा सोलह आनेका रहता है। ईश्वर शत-प्रतिशत एक सरीखा रहता है और इस प्रपञ्चकी कीमत घटती-बढ़ती है। इसका अवमूल्यन होता रहता है। एक नम्बरके बहीखातेकी चीज है ईश्वर और दो नम्बरके बहीखातेकी चीज है यह संसार। वेदान्ती लोग और क्या बोलते हैं? यही तो बोलते हैं। अद्वैतियोंका और कुछ नहीं है।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः। (१६)

तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने वर्णन किया है—*'स च, स च, स च। स ईश्वरः, स*

Tattva - n. true or real state , truth , reality

Anvaya - connection , association , being linked to or concerned with

Vyatireka - distinction , difference , separateness , separation , exclusion La1t2y. Ka1v. Pur. &c. ({bhAvovyatireka-tas} , a separate or particular existence ; {vita-vyatireka} , not separate or particular ; {eNa} or {At} ind. [or {vyatireka} ibc.] , with exception of , without)

जीव:, स जगत्—तेषां भाव: तत्त्वम्'। वह सत्य है। अर्थात् ईश्वरमें, जीवमें, जगत्में जो एक वस्तु है, उनका नाम है सत्। इसमें अन्वयकी अवधि नहीं होती। अन्वय निरवधि होता है। एक जो है—वह अधिष्ठानावधि होता है। अधिष्ठानमें—स्वयं प्रकाशमें जाकर व्यतिरेक समाप्त हो जाता है। यदि अन्वयका विवेक करो तो उसका कहीं अन्त ही नहीं मिलेगा। जितने भी पदार्थ हैं, उन सबमें अन्वय है और पदार्थोंकी तो गिनती ही नहीं है। इसीसे अन्वयके द्वारा ईश्वरके परमार्थ स्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता। व्यतिरेक द्वारा ईश्वरके परमार्थ स्वरूपका साक्षात्कार होता है। इसके बाद अन्वय-व्यतिरेक दोनों प्रक्रियाके रूपमें छोड़ दिये जाते हैं। **'नासतो विद्यते भाव:'**—यह हमारा मूल भूत श्लोक है न, इसलिए इतनी बात मैंने इसमें कह दी। इसपर शंकरानन्दजी, मधुसूदन सरस्वती, आचार्य शंकर, श्रीरामानुज, श्रीमध्व, सब आचार्योंका भाष्य तो मिलता ही है केवल वल्लभाचार्यका भाष्य नहीं मिलता है, किन्तु उनके अनुयायियोंका मिलता है। निम्बार्काचार्यका भी भाष्य नहीं मिलता उनके अनुयायियोंका मिलता है।

अब आओ सत् और असत्का विभाग करें—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥ (१७)

जिस सत्का भाव और अभाव दोनों नहीं होता वह कैसा है? *'तनोति-आभासद्वारा इति तत्। तनुविस्तारे। तनोति=विस्तारयति—आभासद्वारा सर्वमिति तत्'* अपनी आभास रश्मियोंसे जो सबका विस्तार करे उसका नाम तत् है, ब्रह्म है। *'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण:'* (१७.२३)। वह अविनाशी है। अविनाशी शब्दका अर्थ है जो कभी अदृष्ट होता ही नहीं है। विनाश माने अदर्शन—यह नश् धातुसे बना है जो अदर्शनके अर्थमें है। द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता, क्योंकि अविनाशी है, उसका अनुभव कभी नहीं होता। यदि आप किसी वस्तुका अथवा अपने बेटेका नाम 'अननुभव' रखते हैं तो उस अननुभवका भी अनुभव होता है। कई लोग अपने बेटेका नाम 'ब्रह्म' रखते हैं कि नहीं! हम उन्हें भी जानते हैं जिन्होंने अपने बेटेका नाम 'ब्रह्मानन्द' 'ब्रह्मजी' रखा है। साधुओंमें तो ब्रह्मजी बहुत होते हैं। जब एक शरीरका नाम 'ब्रह्म' रख लोगे तब तो बात दूसरी हो जायेगी। ब्रह्म तो वह है जिसका लोप कभी अनुभवमें न आवे।

लोग दिन-रात आकर पूछते हैं कि महाराज; किस कारणसे ब्रह्मका ज्ञान होता है? किस कारणसे वह प्रमेय होता है? अरे! प्रमाण-प्रमेयका चक्कर फेंको बाहर—

प्रमाता च प्रमाणञ्च प्रमेयञ्च प्रमा तथा।
यस्य प्रसादात्सिध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्षते॥

Prameya - mfn. to be measured,measurable(also = limited , small , insignificant Naish.), to be ascertained or proved,provable MBh. Ka1v. &c. that of which a correct notion should be formed Veda7ntas. n. (ifc. f. {A}) an object of certain knowledge , the thing to be proved or the topic to be discussed Kap. Sch. Veda7ntas. MBh. R. (cf. IW. 63)

Pramana - a means of acquiring Prama or certain knowledge(6 in the Vedanta,viz.{pratyakSa},perception by the senses;{anumAna},inference;{upamAna},analogy or comparison;{sabda}or{Apta-vacana},verbal authority, revelation;{an-upalabdhi}or{abhAva-pratyakSa},non-perception or negative proof;{arthApatti},inference from circumstances;the Nyaya admits only 4,excluding the last two;the Samkhya only 3,viz.{pratyakSa},{anumAna} and{sabda};other schools increase the number to 9 by adding {sambhava},equivalence;{aitihya},tradition or fallible testimony; and{ceSTA},gesture

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमा सब उससे सिद्ध हो रहे हैं। हम प्रमाणसे सिद्ध नहीं हैं बल्कि हम प्रमाणको सिद्ध करनेवाले हैं। हम आँखसे सिद्ध नहीं होते, हम बुद्धिसे सिद्ध नहीं होते बल्कि बुद्धि और आँख हमसे सिद्ध होती है। 'प्रमाता, प्रमाणम्'—ये तो मामला ही उलट देते हैं, कहते हैं कि किस प्रमाणका प्रमेय? **'अनाशिनोऽप्रमेयस्य'**—तो गीता ही बोलती है। जब तुम उसे सिद्ध प्रयोग करोगे तो गीताके विरुद्ध हो जायेगा। वह ब्रह्म ही अशास्त्रीय हो जायेगा—जो प्रमेय हो जायेगा।

इसलिए अब आओ **'अविनाशि तु तद्विद्धि'** पर विचार करें। इसमें एक और विलक्षणता देखो। चार्वाक, बौद्ध और जैन—इनके तो ईश्वर हैं ही नहीं। ईसाई व मुसलमानोंके ईश्वर हैं और आर्यसमाजियोंके भी ईश्वर हैं, पर यह लक्षण जरा उनमें घटाकर देखो—**'येन सर्वमिदं ततम्।** *सर्वमिदं वस्त्रवत्; इदं येन ततम्—सूत्रवद्व्याप्तम्*'—जैसे कपड़ेमें सूत रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत्में वह 'तत्' है। माने अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इसका अर्थ यह होता है।

एक बार एक सज्जन मुझसे मिले और बोले कि—'ईश्वर अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है'—यह तो हम मानते हैं। आपने हमें यह बोध कराया, आपकी बड़ी कृपा है। हम आपके कृतज्ञ हैं। परन्तु वह कैसे जगत्का उपादान कारण है—यह तो बताइये! वह तो बदल-बदल कर उपादान कारण बनता जाता है। क्योंकि जगत् तो बदलता रहता है। तो क्या ईश्वर भी बदलनेवाला उपादान कारण है? अरे भाई, बदलनेवाला होगा तो परिणामी होगा, परिर्वतनशील होगा, विनश्वर होगा। वह जो उपादान कारण है, वह कपड़ेके सूतकी तरह 'तत्' है। उपादान माने—मसाला, मैटर। जहाँ जड़ उपादान कारण है, वहाँ वह परिवर्तनशील, परिणामी, विकारी उपादान कारण होता है और जहाँ चेतन उपादान कारण होता है, वहाँ वह परिवर्तनशील, परिणामी, विकारी उपादान कारण होता है, वहाँ अपनेमें कोई परिवर्तन किये बिना ही उपादान कारण होता है। उसीको विवर्तन बोलते हैं। निमित्त कारण केवल प्रवर्तन करता है। जड़ उपादान कारण परिवर्तन करता है। चेतन उपादान कारण न प्रवर्तन करता है, न परिवर्तन करता है। वहाँ उसका केवल विवर्तन होता है। माने विविधतया वर्तनाभास ही होता है—उसमें। वह *'विविधं वर्तते'* है, न कि *'विविधं विद्यते'* है। विवर्तमान माने जो भूतकी वस्तु हो गयी, भविष्यकी वस्तु हो गयी। वह तो वर्तमानके विपरीत ही है अथवा विशेषतया वर्तमान है। जितने भी विशेषाकार हैं उनके रूपमें वर्तमान हैं।

'येन सर्वमिदं ततम्'। यह *'ततम्'* शब्द भी गीताको बहुत प्यारा है—**'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप। येन सर्वमिदं ततम्'**—यह तो हो गया परोक्ष और **'त्वया ततम्'** तथा **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**—यह हो गया प्रत्यक्।

श्रीकृष्ण बोलते हैं— '**मया ततमिदं सर्वम्**'। अर्जुन बोलते हैं— '**त्वया ततं विश्वम्**'। यहाँ देखो श्रीकृष्ण परोक्षरूपसे कैसे कहते हैं 'मेरा है, में हूँ?' इसलिए यहाँ बोल दिया कि—'**येन सर्वमिदं ततम्**'। अरे! यह जगत् और ईश्वर परमार्थतः दो पदार्थ नहीं हैं, व्यवहारतः दो पदार्थ हैं। पदार्थमें बिल्कुल एक अखण्ड वस्तु है।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति। (१७)

दुनियामें कोई ऐसी चीज नहीं है, जो इस अव्ययका विनाश कर दे। कोई चीज कारणके मर जानेपर मर जाती है, कोई चीज कार्यके मर जानेपर मर जाती है। कारणके नाश-से-नाश, कार्यके नाश-से-नाश, निमित्तके नाश-से-नाश और स्वरूपतः व्यय होनेसे स्वाभाविक नाश। *'अव्ययस्य अस्य अपरोक्षम् अनुभूयमानस्य'* अथवा *'तुरीयं त्रिषु संततम् अस्य, अयमात्मा'*—यह जो हम जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिमें बोलते हैं और इसमें जो *'अयं'* है वह *'अयमात्मा'*का ही *'अयम्'* है। ऐसे बोलो कि *'अस्य अयम्', 'अयं'*की षष्ठी कर दो तो '*अस्य*' माने '*अयं*' हो जाता है।

'आत्मनः=ब्रह्मणः'—इसका विनाश करनेवाला न कारण-नाश है, न कार्य-नाश है, न निमित्त-नाश है, न आश्रय-नाश है और न स्वाभाविक-नाश है। नाशका जो साक्षी है, उसका नाश कौन करे? उदयनाचार्यने अपने 'आत्मतत्व-विवेक' में बहुत बढ़िया लिखा है। वे कहते हैं कि अच्छा मान लो कि आत्मा मर गया तो कैसे मालूम पड़ा? किसीने मरे हुए आत्माको देखा कि नहीं देखा? अगर नहीं देखा तो वह बकवादी है और यदि देखा तो वही आत्मा है। जिसने आत्माको मरते देखा उसीका नाम तो आत्मा है। अगर आत्माको किसीने मरते नहीं देखा तो वह उन्मत्त प्रलाप करता है। '**न कश्चित् कर्तुमर्हति**'— कोई भी आत्माका नाश करनेका अधिकारी नहीं है। वह आत्माका नाश कर नहीं सकता क्योंकि वह सत् है। अब देखो, असत् क्या है?

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ (१८)

अरे! आओ, इस अज्ञानके साथ संघर्ष करें, इसको मिटाकर छोड़ें। जबतक आत्मवस्तुका साक्षात्कार न हो जाय तबतक रुकना नहीं, आगे बढ़ते चलना— '**युध्यस्व**'। देखो, देह है अन्तवान् और देही है नित्य। बौद्ध लोग आत्माको अनादि मानते हैं—प्रवाह मानते हैं परन्तु सान्त मानते हैं। तत्त्व-ज्ञान होनेपर उसका पूर्णतः उच्छेद हो जाता है; लेकिन आप क्षमा करें, वे लोग आत्मा शब्दका प्रयोग अन्तःकरणके लिए ही करते हैं। उनके पास हम लोगों वाला आत्मा नहीं है। उनके अन्तःकरणरूप आत्माका विच्छेद होता है तो वह हमको अभीष्ट ही है। हो जाने दो भाई, उसका

विच्छेद कोई बात नहीं। जैन लोग मानते हैं कि वह बदलता रहता है । वह कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी बदलता है। इसलिए वह भी अन्तःकरण ही है। चार्वाकोंका आत्मा पञ्चभूतोंसे ही पैदा हुआ है और वह आत्मा मनके सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता। वे तो उसको सादि और सान्त दोनों मानते हैं। मुसलमान व ईसाई सादि और अनन्त मानते हैं। बौद्ध अनादि और सान्त मानते हैं। चार्वाक सादि और सान्त मानते हैं और हम अनादित्वको सत्यत्वका प्रयोजक नहीं मानते, अनन्तत्वको ही सत्यत्वका प्रयोजक मानते हैं। अनन्तत्व माने अबाधितत्व। जो अबाधित है वही सत्य है, जो अनादि है वह सत्य नहीं है। जो सदा एकरूपसे नित्य है वह भी सत्य है—ऐसा नहीं है। जो कभी बाधित नहीं हो सकता, उसको हम सत्य मानते हैं। यह हमारी अपनी परिभाषा है।

देखो, जो शरीरधारी है, वह क्या है? शरीर माने शीर्यमान—जो सड़ जाता है, उसका नाम है शरीर। उसको जो 'मैं'- 'मेरा' करके बैठा है वह हुआ शरीरी। शरीरी अन्तवान् नहीं है, शरीर अन्तवान् है।

हमको बचपनमें एक महात्माने बताया था कि एक है विषय और दूसरा है विषयी—जिसे ज्ञान होता है। विषय परिवर्तनशील हैं और विषयी परिवर्तनशील नहीं है। विषय अनित्य है, विषयी नित्य है। विषयी ज्ञानस्वरूप है और विषय ज्ञेयस्वरूप हैं। विषय सापेक्ष हैं—उनकी सापेक्ष सत्ता है तथा विषयी देश, काल आदि सबका ज्ञाता होनेके कारण स्वयंप्रकाश, साक्षी अपने अभावके अधिकरणमें भासमान होनेके कारण नित्य है— *'स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं नित्यत्वम्।'* अपने अभावके अधिकरणमें भासना, जहाँ जो चीज नहीं है, वहीं अगर वह चीज मालूम पड़ती है, जैसे रज्जुमें सर्प नहीं है और रज्जुमें सर्प मालूम पड़ता है तो वह मिथ्या है। वह नित्य है, अनित्य नहीं और मालूम पड़ता है, इसलिए मिथ्या है।

'**अनाशिनः**'का एक अर्थ है कि यह अभोक्ता है, अनशनकारी है। इसको नाश्ता नहीं चाहिए। यह आशी नहीं अनाशी है। उपनिषद्‌में कहा गया है कि—*'न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन'* (बृहदारण्यक ३.८.८) वह कुछ खाता ही नहीं है और उसको कोई खाता नहीं है। नाश भी एक तरहका भोजन ही है। कालका जो ग्रास है, उसे ही तो नाश बोलते है! काल अपने प्रकाशकका नाश कैसे करेगा? यह तो अनाशी है। नाश तो इसे छूता ही नहीं हैं।

अब आप थोड़ा इस बातपर ध्यान दें कि अप्रमेय क्या वस्तु हो सकती है? असलमें अप्रमेय प्रमाता ही होता है। यदि प्रमातासे कोई अन्य पदार्थ होगा तो वह प्रमेय ही होगा। प्रमेय भावत्वेन हो अथवा अभावत्वेन हो, यदि हमसे अलग

कोई दूसरी चीज होगी तो वह मालूम पड़ेगी। जो पदार्थ प्रमाणका विषय होगा, जिसकी प्रमा होगी, वह प्रमेय होगा। लेकिन हम हैं—यह सिद्ध करनेके लिए कोई प्रमाण उपस्थित तो करे? अरे भाई, हम हैं, इसलिए तो प्रमाणकी उपस्थिति मान रहे हैं। प्रमाणकी उपस्थिति माननेवाला प्रमाणसे पूर्व सिद्ध है। प्रमाणकी प्रवृत्ति होनेपर ही आपकी आँख काम करती है। आपका मन काम करता है, आपकी बुद्धि काम करती है। जब ये काम करना बन्द कर देते हैं तो प्रमाणसे पूर्वसिद्ध प्रमाता है कि नहीं? यदि कहो कि प्रमाण तो है ही नहीं, फिर प्रमाता क्यों? ठीक है। प्रमातृत्वहीन प्रमातापनेसे रहित प्रमाताका जो परमार्थ-स्वरूप है, वही तो है वह।

बृहदारण्यक उपनिषद् बोलता है कि—*'अप्रमेयं ध्रुवम्'* (४.४.२०), *'नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं, न प्रज्ञं न प्रज्ञानघनम्'* (माण्डूक्य उप० ७) अप्रमेय माने अवेद्य और अनाशी माने अपरोक्ष। जो कभी परोक्ष नहीं होगा तभी वह अनाशी होगा। अप्रमेय तब होगा जब वेद्य नहीं होगा। *'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षं स्वप्रकाशस्य लक्षणम्'*। स्व-प्रकाश आत्माका लक्षण घटादिके समान वेद्य नहीं है तथा स्वर्गादिके समान परोक्ष भी नहीं है। घड़ेसे भी विलक्षण और स्वर्गसे भी विलक्षण स्वप्रकाश। वस्तु-प्रमाणके परतन्त्र नहीं है कि अपने-आपको प्रमाणसे सिद्ध किया जाय। इसलिए मेरे प्यारे भाई, तुम शोक और मोह क्यों कर रहे हो? अरे तुम युद्ध करो या न करो, इसमें मेरा कोई आग्रह नहीं है लेकिन तुमने युद्ध न करनेका जो कारण बताया, वह बिलकुल गलत है। अगर मोह और शोकके कारण तुम स्वधर्मसे निवृत्त हो रहे हो तो यह निवृत्तिका हेतु अयथार्थ है। इसलिए पूर्व प्रवृत्त जो स्वधर्मानुष्ठान है, धर्म-संरक्षण है, उसमें तुमको लग जाना चाहिए। **'युध्यस्व'**—यह कोई अपूर्व विधि नहीं है, पूर्व प्रवृत्तिका अनुवाद है। पहले तो तुम धनुष-बाण लेकर युद्धके लिए यहाँ आये—**'धनुरुद्यम्य पाण्डवः'** और अब **'विसृज्य सशरं चापम्'**—धनुष-बाण उठाकर फेंक रहे हो, बड़ा गलत काम है यह तुम्हारा। यदि युद्ध न करना था तो पहले ही टल जाते। ऐसे तो महात्मा लोग शिखा-सूत्रके अध्यारोपका अपवाद करनेके लिए तैयार रहते हैं। तुम्हारे धनुष-बाणके अपवादमें भी क्या लगता है! लेकिन अब तुमको अपवाद ही लगेगा, कलंक ही लगेगा। अरे भाई, पहले तो तुमने मुझको भी इसमें डाला और यह कहकर कि ईश्वरकी प्रेरणासे ईश्वरके सारथ्यमें मैं युद्ध करनेके लिए चल रहा हूँ और अब पीठ दिखाते हो? **'तस्माद्युध्यस्व भारत'**—इसलिए भारत, पूर्व-प्रवृत्त (प्रथम प्रवृत्त) जो युद्ध है, उसको कमजोर न करो, पूर्ण करो।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ (१९)

अब देखो, यहाँ अद्वैत वेदान्त। एक तो यहाँ प्रत्यगात्माका वर्णन है, इसलिए यह द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, सबमें ठीक है। परन्तु यहाँ जो एक बात कही हुई है—**'उभौ तौ न विजानीतः'**, यह क्या है? यह विज्ञानहीन अज्ञान है। कौन विज्ञानहीन है? **'य एनं हन्तारं वेत्ति, यश्च एनं हतं मन्यते'**—वह है, जो इसको हनन क्रियाका कर्त्ता मानता है और हनन क्रियाका कर्म मानता है। मतलब यह कि अज्ञानके कारण ही वह अपनेको कर्त्ता-भोक्ता मानता है **'हतम्'**में तो भोक्ता निकल आया और **'हन्ति'**में-से कर्त्ता निकला। इसलिए जो अपनेको कर्त्ता-भोक्ता मानता है वह अज्ञानी है।

किन्तु यदि ज्ञान हो जाय तो? कठोपनिषद् १.२.१९ में गीता सदृश वाक्य आया है और भगवान् कहते हैं कि—**'य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्'**। इसपर उपर्युक्त श्रुति-वाक्यपर पाठतः नहीं, अर्थतः ध्यान दो—*'हन्ता ते मन्यते हन्तु हतश्चेन् मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।'* गीतामें उपर्युक्त श्लोकको कहकर भगवान्‌ने श्रुतिका बड़ा भारी आदर किया है। भगवान्‌का आशय यह है कि अरे अर्जुन! मैं ही ऐसा नहीं बोलता, श्रुति भी ऐसा बोलती है। अगर मुझे अपना सखा समझकर, फुफेरा भाई समझकर, बहनोई समझकर, मित्र समझकर भी मेरी बातपर तेरा आदर भाव न हो, तो लो, मैं साक्षात् श्रुति ही बोल देता हूँ। तात्पर्य यह कि अपनेमें जो कर्त्तापन और भोक्तापन है वह अज्ञान-मूलक है। तो ज्ञानमूलक क्या है महाराज? वह यह है—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ (२१)

यह ज्ञान-मूलक है— **'वेदाविनाशिनं नित्यम्।'** यहाँ वेद है, ज्ञान है और जहाँ ज्ञान हो गया, वहाँ हनन और घातन दोनों नहीं है। न हनन क्रियाका कर्तृत्व है और न हनन क्रियाका कारित्व है। जहाँ ज्ञान है वहाँ कर्त्ता-कारयिता दोनों नहीं हैं और जहाँ अज्ञान है वहीं कर्त्ता और भोक्ता हैं। कितनी अच्छी बात कह दी भगवान्‌ने। अरे भाई; इस समय असली दुश्मन तो तुम्हारा यह अज्ञान ही है। फिर बोले कि यह आत्मा कैसा है?

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (२३)

'न जायते म्रियते वा कदाचित्।' इसको कठोपनिषद्‌के इस मन्त्रसे मिला लो—

नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। (१.२.१८)

देखो, कर्मकाण्डपर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी बहुत आस्था नहीं प्रकट करते। वे कहते हैं कि वह तो वेदका फल नहीं है, वेदका पेड़ है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ (४२)

उपर्युक्त मन्त्र तथा श्लोकमें जो नैरुक्तोंका षड्भाव विकार है, उसका निषेध किया हुआ है। कोई चीज पहले 'पैदा' होती है, फिर 'अस्ति'के रूपमें मालूम पड़ती है, फिर वह 'बढ़ती' है, 'बदलती' है, 'अपक्षीण' होती है और फिर नष्ट होती है। दुनियामें हर चीजके साथ ये छः बातें लगी हुई हैं और ये आत्माजी महाराज जो हैं, ये *'न शाम्यति'* हैं। *'आ-ईषदपि न शाम्यतीति-आत्मा'*—जो कभी थोड़ा भी नहीं थकता उसका नाम आत्मा है, जिसकी रोशनी कभी मन्द नहीं पड़ती। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिमें कभी भी प्रकाशसे थकता ही नहीं है। अध्यस्त बदल रहे हैं पर अधिष्ठान कभी कुछ वजन ही नहीं लेता। वह तत्त्वोंको नचा रहा है। जैसे पंखा घूमनेपर भी घिसता ही नहीं है। क्योंकि चुम्बकके पत्ते घूमते हैं, पंखे नहीं घूमते। नहीं तो एक ही दिनमें घिस जायँ। इसीका नाम माया है।

मैंने अभी पढ़ा कि विलायतमें एक लड़की दिन भर पढ़ाकर, आफिसमें काम करके जब रातके दश बजे घर लौटी तब अपनी माँसे बोली कि माँ, अब मैं न कपड़े बदलूँगी, न चाय पीऊँगी और न खाऊँगी। थक गयी हूँ, इसलिए बस अब सो जाऊँगी। यह कहकर वह पलंगपर लेट गयी, तो माँने कहा कि अमुक आदमीका फोन आया है, वह तुझे बुलाता है। लड़कीने कहा कि अच्छा, उसका फोन है। वह उठकर फोनपर गयी। वह लड़का उसका बड़ा प्रियतम व्यक्ति था। उसने लड़कीसे कहा कि देखो, आज अमुक क्लबमें हमलोगोंके साथ-साथ नृत्य करना है। जल्दी आजाओ। अब तो लड़कीने उठकर चाय पी, कपड़े बदले, नहाया-धोया, खाया-पीया और क्लबमें चली गयी तथा रात भर उनके साथ नाचकर घर लौटी।

अब बोलो, उस लड़कीकी वह थकान कहाँ गयी? असलमें जिस काममें रुचि नहीं होती, उसीमें थकान होती है। इसी तरह आत्मा कभी प्रकाशनेसे थकता नहीं है, कभी फुरनेसे थकता नहीं है। वह अध्यस्तसे कभी भयभीत नहीं होता है। यदि कहो कि प्रपञ्चका भान ही न हो तब? अरे, राम-राम! भान नहीं हो तो तुम चेतन कैसे हो! जड़ होगे। भान ही तो आत्माका लक्षण है। भान चाहे समाधिका हो, चाहे विक्षेपका हो। भानके बिना चेतन कैसा? तुम यदि ऐसा कहते हो कि हमको प्रपञ्चका भान ही नहीं होता तो भाई, तुम्हें बड़ा वैराग्य है—यह बात हम मानते हैं, पर ऐसा भी मानते हैं कि तुम डरनेवाले भी बहुत हो।

'न जायते म्रियते वा कदाचित्'—कदाचित् माने कालकी दाल आत्मामें नहीं गलती। जन्म और मरण कालमें होते हैं। जन्म और मरणका अधिकरण काल है। किन्तु कालका भी अधिकरण है आत्मा और अधिकरण भी विवर्ती अधिकरण है, वास्तविक नहीं। जन्म और मरणकी प्राप्ति आत्मामें नहीं है। जन्म-मरण माने परिवर्तनकी अवस्थाएँ। वे स्फुरण मात्र हैं। विषयमें-से स्फुरण होता है, यह चार्वाकका मत है, शून्यमें-से स्फुरण होता है—यह बौद्धका मत है और विषय और स्फुरण दोनों सच्चे हैं, यह जैनका मत है। हमारे स्फुरणका जो अधिष्ठान है, वह सच्चा है, स्फुरणका विषय सच्चा है और स्फुरण तो अपना स्वभाव है। जबतक व्यक्तिका व्यक्तित्व है, उपाधि है, उपाधि-सापेक्ष स्फुरण है तबतक अधिष्ठान तो ज्यों-का-त्यों है।

'नायं भूत्वा न भविता वा'—यह पैदा होकर मरता नहीं है. भूत्वा-अभविता, भूत्वा-भविता—हो-होकर पैदा नहीं होता तथा हो-होकर मरता नहीं, यह दुनियाका लक्षण है। शंकराचार्यजीने अभविता पाठ किया है—*'भूत्वा, अभविता वा।'*

'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः'—यहाँ सबका सार एक जगह कर दिया है। अज है, ब्रह्म है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है। जाग्रत, स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय ये सब आत्मबोधकी पुरियाँ हैं। यह पुराण है, पुराना है। जो नवद्वार-पुरियों (देहों): को अलग-अलग सत्तास्फूर्ति देता है, उसका नाम पुराण है—**'पुराण'**।

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः—जो ऐसा है, वही विलक्षण है। विसर्ग हो चाहे न हो, चाहे सर्वगत स्थाणु हो, चाहे असर्वगत स्थाणु हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन यह किस प्रकारका सर्वगत है? लौहमें अग्निके समान सर्वगत है या घटमें मृत्तिकाके समान सर्वगत है? यह उपादानत्वेन सर्वगत है। और वह भी विवर्ती सर्वगत है।

एक महात्मा थे, वे गीता पढ़ रहे थे। किसीने पूछा कि महाराज, अब आपको पढ़ने-लिखनेकी क्या जरूरत है? जब ग्रन्थि छूट गयी तो ग्रन्थकी कोई जरूरत नहीं रही। आप निर्ग्रन्थ हैं। किताबें फेंक दीं आपने पानीमें फिर यह क्या पढ़ रहे हैं? महात्मा बोले कि अरे भाई, मैं तो यह देख रहा हूँ कि इसमें मेरी क्या-क्या तारीफ लिखी है। मेरी ही तो तारीफ लिखी है इसमें!

'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'—जो वह एक शरीरमें रहता है और उसके शरीरकी मृत्युसे उसकी मृत्युकी आशंका हो सकती है। परन्तु **'हन्यमाने शरीरे'**—यह परमात्माका वर्णन नहीं है, अपना ही वर्णन है क्योंकि परमात्माको तो मृत्यु किसी कदर प्राप्त ही नहीं है। जो परमात्माको मानेगा वह परमात्माकी मृत्युको

नहीं मानेगा। यह देखो कि आज परमात्मा है कि नहीं? ईश्वर-कृपासे यदि आज नहीं है तो मुझको बड़ी-बड़ी बात बोलनी पड़ेगी—वह यही कि या तो ईश्वर पैदा होकर जय-जय सीताराम हो गया! लेकिन ऐसा नहीं है, परमात्मा है और आज है।

अच्छा; आज है तो यहाँ है कि नहीं? यदि यह नहीं है तो कहाँ गया? जब वही सब बना है तब इसका लोप कैसे हो जायेगा? अरे!

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। (श्वेताश्वतर उप० ४.३)

तो इसके अनुसार सब कुछ वही है कि नहीं है? जब वह यही है तब मैंने क्या अपराध किया है कि वह न बने *'अहम् इदं सर्व वासुदेव एव। सकलमिदम् अहं च वासुदेवः'*—इसके अनुसार भी सब कुछ वही है।

अरे भाई, यदि उपासना करनी हो तो उसको अपनेसे जुदा मानकर सबमें देखो! यह उपासनाकी पद्धति हुई। किन्तु यदि उसके यथार्थरूपको जानना है तो यह भी, वह भी, मैं भी, तुम भी-सब कुछ वही तो होगा! अरे, उसको तो सब बोलना भी गलत होगा। वह तो अद्वितीय है, अनुपम है। अब देखो—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ (२१)

भगवान् कहते हैं कि हे पार्थ! तुम जान लो कि यह आत्मा अविनाशी है, नित्य है, अज है, अद्वय है। तुम्हें पवित्रताकी अर्थना है। *'प'* माने पवित्र परमेश्वर तुम्हारा अर्थ है। *पातीति 'पः'*—जो रक्षा करे उसका नाम 'प'= परमात्मा है, परमार्थ है। तुम परमात्माके अर्थी हो, परमार्थके खोजी हो। भला तुम्हारे पास मरने-मारनेका क्या सम्बन्ध?

देखो यह प्रश्न नहीं है, आक्षेप है। ज्ञान मात्रसे ही इसकी निवृत्ति हो जाती है। यहाँ जो वेद शब्द है उसका अर्थ ज्ञान है। अब कैसे छूटता है यह शरीर, इसको समझानेके लिए थोड़ा-हल्का बना दिया है भगवान्ने—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (२२)

जीव एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करता है और वह शरीरका बदलाव वैसा ही है जैसा पुराना कपड़ा उतारकर नया कपड़ा पहनना है। पर कपड़ा उतारने-पहननेमें भी कभी-कभी तकलीफ होती है। उदाहरणके लिए एक बार तीन आदमी साथ-साथ कहीं जा रहे थे। तीनों ही कुर्त्ता पहने हुए थे। एकका कुर्त्ता बड़ा चुस्त था, फिट था, और उसका उससे मोह भी ज्यादा था। दूसरेका कुर्त्ता चुस्त तो था, फिट था, परन्तु उसमें उसका कोई मोह नहीं था। तीसरा आदमी ऐसा था

कि उसका कुर्त्ता भी ढीला था और उससे उसको मोह भी नहीं था। रास्तेमें आये डाकू। उन्होंने तीनोंसे कहा कि अपने-अपने कुर्ते निकाल दो। अब जिसका कुर्त्ता चुस्त था और जिससे उसका मोह था, वह तो रोये और बोले कि हाय-हाय हमारा कुर्त्ता! उसको शरीरसे कुर्त्ता निकालनेमें भी तकलीफ हो और कुर्त्ता छूटनेकी भी तकलीफ हो। डबल तकलीफ हो गयी उसको। जिसको अपने कुर्त्तेसे मोह नहीं था, उसको कुर्त्ता देनेमें तकलीफ तो होती थी मगर मनमें मोह न होनेके कारण कुर्त्ता निकालनेमें कोई तकलीफ नहीं थी, लेकिन जिसका कुर्त्ता ढीला-ढाला था और मोह भी नहीं था उसने तो फटसे उतारा और डाकुओंसे कह दिया कि ले लो!

इसी तरह आप **'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'** इसको देखो! अरे यह शरीर कपड़ा ही तो है। पति-पत्नी आदि भी कपड़ा ही हैं। वामवर्त होनेसे पत्नीको वस्त्र ही बोलते हैं। पति भी कामावर्त होनेसे वस्त्र ही है। इसी प्रकार पुत्र, पिता, माता, मित्र, सगे-सम्बन्धी—ये सब भी वस्त्र ही हैं। जीर्ण माने बूढ़ा नहीं होता। उपादानमें जो सामर्थ्य है—वासना-सामर्थ्य, कर्म-सामर्थ्य, निर्माताके संकल्पसामर्थ्य, उनका क्षीण होना ही शरीरका जीर्ण होना है। प्रारब्ध-कर्मका क्षीण होना, वासनाका क्षीण होना ही शरीरका क्षीण होना, शरीरगत शक्तिका क्षीण होना ही शरीरका क्षीण होना है। जीर्णका अर्थ सफेद बालवाला होना नहीं है। कहीं-कहीं तो काले बालवाले एकदम उत्साह हीन मुर्देकी तरह होते हैं और सफेद बालवालोंमें बड़ा उत्साह होता है—वे दिन भर काम करते रहते हैं और उनको थकान ही नहीं होती और काले बालोंवाले जवान थोड़ा काम करनेपर ही थक जाते हैं। इसलिए जवानीका उम्रसे ज्यादा सम्बन्ध नहीं है। जवान वह है, जिसको मनमें आशा है, उत्साह है तथा दृढ़ता है। उत्साह स्थायीभाव होनेपर वीररसका अनुभव होने लगता है। मैंने कभी पढ़ा था कि एक व्यक्तिका पाँव टूट गया था और वह बैसाखीपर चलता था। एक दिन खाट बिछाकर सोया हुआ था। पासमें ही उसकी गाय बँधी हुई थी। वह छटपटायी और खूँटेके चारो ओर घूमने लगी। उस आदमीने देखा कि एक साँप फन उठाकर फुफकारता हुआ गायके ऊपर लपक रहा है और गाय अपनेको बचानेके लिए खूँटेके चारों ओर दौड़ रही है। अब उस आदमीने बैसाखी उठायी और साँपको मारनेके लिए दौड़ा। साँप भागा और वह आदमी दो फर्लांगतक उसको खदेड़कर ले गया। साँप भाग तो गया, लेकिन उसकी बैसाखी उसी दिनसे छूट गयी।

अब कोई कहते हैं कि उस आदमीने गाय माताकी रक्षा की, जिससे धर्म हुआ और उस धर्मने उसका प्रारब्ध ही बदल दिया। कोई कहते हैं कि नहीं उसके मनमें

परमेश्वरकी जो शक्ति है, वह उत्साहके वेगके साथ उठी और उसकी आत्मशक्तिका जागरण हो गया। शैव-सिद्धान्त यही है। कश्मीरी शैवोंके कथनानुसार ऐसे अवसरपर वेगका उदय होता है। यदि उत्साह आ जाये तो बूढ़ा भी जवान हो जाता है। हमारी जीर्णता यही है कि हम उत्साह-हीन हो गये। यहाँके महात्माओंको तो मालूम नहीं होगा, आजकल शहरोंमें छोटे-छोटे बच्चे भी यह गाते फिरते हैं—

अब जी के क्या करेंगे, जब दिल ही टूट गया।

× × ×

इस दिलके टुकड़े हजार हुए कोई यहाँ गिरा कोई वहाँ गिरा।

ऐसे बेदिल लोग तो मर जाँय तभी अच्छा है! उनका जिन्दा रहना संसारके लिए उपयोगी नहीं है। ये भू-भारभूत ही हैं।

'नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि'—मनुष्य दूसरा कपड़ा पहनता है तो खुश होता है। हमलोगोंको बचपनमें जिस दिन नया कपड़ा मिलता था, (हमेशा नहीं मिलता था, कभी-कभी ही मिलता था) तो बहुत खुश होते थे। इसी तरह छोड़ो इस जीर्ण शरीरको। *शीयति*—यह जो अपने आप ही सड़ रहा है, इसे उतारकर फेंक दो। यदि घरमें दही-दूध सड़ जाय, दाल-चावल सड़ जाय, कपड़ा सड़ जाय, दुर्गन्ध आने लगे तो उसको रखोगो क्या? ऐसा ही तो है यह 'जीर्ण शरीर।' इसको छोड़ देनेपर **'अन्यानि संयाति नवानि देही'**—दूसरे नये-नये शरीर मिल जाते हैं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ (२३)
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन॥ (२४)

यह आत्मा है, *'आप्नोति इति आत्मा'।* जो जाग्रत-अवस्थामें इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको प्राप्त करता है, उसका नाम आत्मा है; ओ *'आदत्ते, आप्नोति वा इति आत्मा।'* ये आत्मदेव कैसे हैं?

य आप्नोपि य आदत्ते यश्चात्ति विषयानिह।
यश्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मा निगद्यते॥

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'—इस आत्माको कोई भी पार्थिव अस्त्र-शस्त्र काट नहीं सकते। वे अस्त्र-शस्त्र चाहे लौहके बने हों या पीतलके बने हों और शंसन करते हों—सबका गला काटते हों! देखो, जैसे सेशन जज फाँसीकी सज़ा देता है, वैसे ही शंसनका अर्थ गला घोटना या गला काटना है, मतलब यह है कि जिस

विकारसे अस्त्र-शस्त्र बने होते हैं, उन विकारोंसे यह रहित है, माने पाञ्चभौतिक पदार्थोंमें आत्माको हानि पहुँचानेकी सामर्थ्य नहीं है।

'नैनं दहति पावकः'—आग्नेय अस्त्र भी—जैसे बमगोले, राकेट आदि आत्माको जला नहीं सकते। इसी तरह **'न चैनं क्लेदयन्त्यापः'**—पानी भी उसे गला नहीं सकता। कोई ऐसी गैस नहीं जो उसके ऊपर डाल दी जाय और वह गल जाय। तेजाबसे भी वह मरनेवाला नहीं है। **'न शोषयति मारुतः'**—यदि ऐसी वायु चले, ऐसा विषाक्त वातावरण बना दिया जाय कि वह सूख जाय, यह कभी सम्भव नहीं है। मतलब यह कि अग्नि, जल, वायु आदि किसीमें भी इसको मारनेकी सामर्थ्य नहीं है।

यह तो हुई मारनेवाले पदार्थोंकी असमर्थता। उसके बादवाले श्लोकमें कहते हैं कि आत्मामें मरनेकी भी योग्यता नहीं है। वह अनन्त है। **'अच्छेद्योऽयम्'**—यह अच्छेद्य है। इसमें छेदक-छेद्यताका निषेध है। यह छेदक-छेद्य दोनोंका विवेक है। **'अदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च'**—यह जल नहीं सकता, गल नहीं सकता और सूख नहीं सकता। यह **'नित्यः सर्वगतः'** है। यह **'नित्य'** है माने कालपरिच्छिन्न नहीं है। यह **सर्वगत** है—माने देश-परिच्छिन्न नहीं है। **'स्थाणु'** है माने परिवर्तन-शील पदार्थ नहीं है और **'अचलः'** है, माने इसमें गमनागमन भी नहीं है।

फिर यह कैसा है? यह है **'सनातनः'** सनातन है। सनातन माने *'सदा भवः सनातनः।'* अनुभवके प्राण यही हैं। 'अस्ति' प्रत्यय है। 'अस्ति' एक वृत्ति है। यह क्रियापद भी है। अस् धातुका क्रियापद ही तो है 'अस्ति'। परन्तु यह आत्मा 'अस्ति'—क्रियापदका विषय नहीं है। जैसे *'अस्ति घटः'* बोलते हैं, वैसे इसको 'अस्ति' नहीं बोल सकते। ठीक है 'अस्ति' के विषय और 'अस्ति' क्रियापद दोनोंका आश्रय है, अधिष्ठान है—यह तो बोल सकते हैं। उपलब्धिकी प्रक्रिया यह है कि जो विषय भान हो रहा है, उसको छोड़कर अस्ति-क्रियामें आ जाओ। अस्ति-मात्रमें प्रतिष्ठित हो जाओ तब अस्मिता अनुगत समाधि हो जायेगी, फिर विवेक-ख्यातिके द्वारा उस अस्मिताको भी छोड़ दो। तब तुम स्वरूपमें बैठ जाओगे। परन्तु स्वरूपमें बैठनेपर भी यदि अपनी अद्वितीयताका ज्ञान नहीं हुआ तो 'वेदान्त' चरितार्थ नहीं होगा। भले ही असम्प्रज्ञात समाधि हो, प्रपञ्चका भान न हो, परन्तु यदि अपनी अद्वितीयताका बोध नहीं है तब तो काम नहीं बना! अब देखो भगवान् आगे क्या बोलते हैं?

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ (२५)

यहाँ एक उपक्रमका उपसंहार हो रहा है। यह उपक्रम '**अशोच्यान्वशोचस्त्वम्**' से प्रारम्भ हुआ था। उपक्रम हुआ था मानो आगे पाँव बढ़ाया गया था। आगे बात बढ़ानेका उपक्रम (प्रारम्भ)किया गया था तो उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—'**नानुशोचितुमर्हसि**' अर्थात् अर्जुन! तुम अनुशोच मत करो। अनुशोचका मतलब यह होता है कि एक तो हम अपने आप ही रोने लगते हैं और एक दूसरेको रोते देखकर रोने लगते हैं। असलमें दुनियाके लोग जो रोते हैं, वे अपनी ओरसे नहीं रोते, दूसरोंको रोता देख-देखकर रोते हैं। उन्होंने दूसरोंको रोता देख-देखकर यह सीख लिया है कि ऐसे मौकोंपर रोना चाहिए। पञ्जाबकी ओरसे दिल्ली जब रोनेवाली स्त्रियाँ आती हैं, वे सब छाती पीट-पीटकर रोती हैं। मुझे एक सज्जन बता रहे थे कि एक नयी बहू आयी थी। लोग उसको मातमपुर्सीपर ले गये। उस बेचारीको मालूम नहीं था कि मातमपुर्सीमें क्या होता है? उसने देखा कोई स्त्री जाँघ पीटती है, कोई छाती पीटती है, और कोई हाय-हाय करती है, तो उनकी देखा-देखी वह भी छाती पीटने लगी, जाँघ पीटने लगी और हाय-हाय करने लगी। वह बेचारी जब घर लौटी तो घायल हो गयी थी, उसकी जाँघ भी घायल, छाती भी घायल। उसने अपने आपको पीट-पीटकर घायल कर लिया था। तो सासने पूछा कि बहू यह क्या किया तुमने? बहू बोली कि देखा-देखी छाती-जाँघ पीटनेसे ऐसा हो गया। सास बोली कि अरी बहू, छाती, जाँघ ऐसे पीटी जाती है कि चोट न लगे और आवाज खूब हो! इसी तरह लोग सोचते हैं कि ऐसे मौकेपर हमारी दादीजी रोती थीं, माताजी रोती थीं, बाप-दादा रोते थे। इसलिए यदि हम नहीं रोयेंगे तो लोग क्या कहेंगे?

मैं यह मजाकके लिए नहीं बोल रहा हूँ। एक वृद्धा माता, जो मेरी भक्त हैं, मुझे बता रही थीं कि उनको कुछ लोग किसीकी मातमपुर्सीमें ले गये थे। उन दिनों मैं नयी-नयी ब्याहकर आयी थी। इसलिए मुझे पता नहीं था कि कैसे क्या होता है? जब सब रोने लगे तो चाहनेपर भी मेरी आँखोंमें आँसू नहीं आये। मुझे बड़ी शर्म आयी। फिर मैंने अपनी नानी, अपने माता-पिताकी मृत्युका स्मरण किया। तब भी रोना नहीं आया बल्कि हँसी आने लगी। फिर मैंने अपना मुँह ढक लिया। तो यह है दूसरोंको रोते देखकर रोनेकी नकल करना। ऐसे मौकोंपर लोग देखते हैं कि जब सबलोग रोते हैं तब हमलोग क्यों न रोयें! इसीका नाम अनुशोक होता है। अनुशोक करना माने नकल करना। अनुशोक, शोक नहीं होता।

'**अव्यक्तोऽयम्**'—इसमें जो 'अव्यक्त' शब्द है, उसका क्या अर्थ है? *'केनापि प्रमाणेन न व्यज्यते इति अव्यक्तः।'* गीतामें अव्यक्त शब्दका प्रयोग आत्माके लिए

भी है, प्रकृतिके लिए भी है, परमात्माके लिए भी है और जीवके लिए भी है। प्रकृतिमें प्रमाणवृत्ति लीन हो जाती है, इसलिए वह अव्यक्त है, अप्रमेय है। ईश्वर और आत्मा प्रमाणके मूलमें बैठे हुए हैं। इसलिए प्रमाण अपनी जड़को कैसे देखे? *'बापको जन्म क्या जाने पूत!'* प्रमाण कैसे अपनी आत्माको देखेगा? परमेश्वर इतना बड़ा है कि वहाँ तक आँख ही नहीं पहुँचती है।

अच्छा भाई! यदि प्रमाणसे परमेश्वर नहीं दिखता तो बुद्धिसे कुछ सोचो-विचारो। अर्थापत्ति करो अथवा अनुपपत्ति करो। बोले कि कैसे करें? वह तो अचिन्त्य है—**'अचिन्त्योऽयम्।'** चिन्तनकी तो वहाँ गति ही नहीं है। अच्छा तो कुछ गलाओ; कुछ पचाओ। कैसे गलायें-पकायें? वह तो अविकार्य है। हम अपने घरमें कोई बीज न हो तो पैदा कर लेते हैं, बना लेते हैं, नहीं तो उधार भी ले आते हैं। अपने घरमें धानकी खेती कर लें तो चावल पैदा हो जाता है और अपने घरमें न हो तो दूसरेके घरसे खरीद कर ले आते हैं, उधार ले आते हैं। बीज गन्दा हो तो उसका संस्कार कर लेते हैं। उसको धो लेते हैं। कच्चा हो तो पका लेते हैं।

इस प्रकार जितने भी पदार्थ हैं वे उत्पाद्य, संस्कार्य, आहार्य और विकार्य होते हैं। पर ये आत्मदेव तो ऐसे हैं कि न इनको पैदा करना है, न किसीसे उधार लेना है, न इनमें कोई मैल लगी है कि इनका संस्कार कर लें और न ये कच्चे हैं कि इनको पका लें। **'अविकार्योऽयमुच्यते'**—ये तो अविकार्य हैं, कोई विकार इनमें होता ही नहीं है। न प्राकृत-विकार, न बौद्ध-विकार, न मानस-विकार, न प्राण-विकार और न शरीर-विकार। विकार तो इन तक पहुँचता ही नहीं है।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि। (२५)

'ज्ञात्वा, कृत्वा, प्राप्य—**नानुशोचितुमर्हसि'** माने पहले जानो, फिर करो, फिर पाओ, फिर शोक नहीं करना—ऐसा नहीं है। **'विदित्वा'** और **'नानुशोचितुमर्हसि'** माने जानना और शोक रहित होना—ये दोनों युगपत् हैं। जानना और जानने मात्रसे ही शोक रहित हो जाना—यही परा विद्या और अपरा विद्याका फर्क है। धर्म अपरा विद्या है।

अपरा विद्या वह होती है, जो अनुष्ठान-सापेक्ष होती है। पहले यज्ञको जानो, फिर करो, फिर उसका फल पाओ; उपासनाको जानो, करो और उसका फल पाओ। योगाभ्याससे जानो, करो और उसका फल पाओ। ये सब अपरा विद्याके अन्तर्गत हैं और फिर परा विद्या कौन-सी होती है?

नानुष्ठानं बिना वेदो वेदनं पर्यवस्यति।

चारों वेद पढ़ लो; लेकिन अनुष्ठानके बिना सफल नहीं होगा। परन्तु ब्रह्मविद्या केवल ज्ञानमात्रसे ही चरितार्थ हो जाती है। इसलिए इसका नाम परा विद्या है। यह

अपरा नहीं है, यह किसीके पहले नहीं है। यह परा विद्या है माने चरमा विद्या है। इसके बाद कुछ नहीं, कोई कर्तव्य नहीं यह जाता। इसके बाद कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता। इसके बाद कुछ लक्ष्य नहीं, वेद्य नहीं रहता, क्षत्रिय लक्षित-लक्ष्य हो जाता है और इस विद्याको प्राप्त करके कर्मी-धर्मी भी कृतकृत्य हो जाते हैं। उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। ऐसी यह विद्या है—'**तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।**' इसीलिए अर्जुन छोड़ दो शोकको। शोक मोहमूलक है, जो वेदनसे दूर हो जायेगा। शोक तो चर्वित-चर्वण है, पिष्ट-पेषण है। जब मोह ही दूर हो गया तो शोक कहाँसे रहेगा?

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। (ईशोप० ७)

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। ८.१८

यहाँ अव्यक्त शब्दका अर्थ है प्रधान प्रकृति। और—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ १२.३

यहाँ **अव्यक्त** शब्दका अर्थ है परमात्मा और—'**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्**' यह है प्रत्यगात्मा। एक ही शब्दके द्वारा जब तीन पदार्थोंका निरूपण किया जा रहा है तो एक अर्थ वास्तविक होगा, बाकी सब बाधित होंगे। प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व ही 'अव्यक्त' शब्दका मुख्य अर्थ है और यदि एतद् अतिरिक्त कोई 'अव्यक्त' शब्दका अर्थ है तो वह बाधित है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। (८.२१)

यही परमगति है, यही '**अक्षरात्परतः परः**' है। अव्यक्त माने '*न व्ययते।*' वह व्यक्तित्वको प्राप्त नहीं होता, परिच्छिन्न नहीं होता, दृश्य नहीं होता। सहज स्वभाव उसका यही है। यह चिन्तनका विषय नहीं, बुद्धिका विषय नहीं। 'स्वभावसे परिणामी नहीं है—'यह **अव्यक्त**में कहा और बुद्धिका विषय नहीं है'—'**अचिन्त्य**' में कहा। कोई प्रयत्नसे भी अपना विचार उत्पन्न करना चाहे तो वेद्य भी नहीं हो सकता—'**अविकार्योऽयमुच्यते।**' यह स्वाभाविक परिणाम, बुद्धि-विषयक परिणाम और प्रयत्नकृत परिणाम—तीनोंसे निराला है। कौन? यही प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म। यह उनको स्वीकार नहीं है। दूसरे शब्दोंमें ब्रह्मसे अभिन्न है जीवात्मा—यह तो उनको स्वीकार है, मान्य है, पर, आत्मासे अभिन्न है ब्रह्म—यह उनको मान्य नहीं है। यह केवल विवेक करनेके लिए है। इसमें कौन गलत है और कौन सही, यह तो आप निर्णय कीजिये। आर जज हैं, हम तो केवल विवरण, केवल खुलासा कर देते हैं।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि। (२५)

इसलिए आप इसको जान लीजिये। खुद तो आप रोइये मत, दूसरे हजार आदमी रो रहे हों तो उनके पीछे मत लगिये। अकेले मत रोओ, दूसरोंके साथ लगकर मत रोओ। रोना तुम्हारा स्वभाव नहीं है। अब बोले कि भाई, कई लोग ऐसे होते हैं, जिनके मनमें यह बात नहीं बैठती और वे रोते रहते हैं। ठीक है, अगर आप ऐसा मानते हैं तो ऐसा ही सही। लेकिन परिणाम यही निकलेगा कि शोक मत करो!

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। (२६)

यह आत्मा पञ्चभूतोंमें तो पैदा हो जाता है और मरकर पञ्चभूतोंमें चला जाता है। कई लोग पञ्चभूत नहीं मानते हैं, चार भूत ही मानते हैं। जहाँ पञ्च होगा वहाँ पञ्चका फैसला ठीक होगा। लेकिन जहाँ पञ्च नहीं चार ही होंगे वहाँ तो वे बेचारे ही होंगे। बेचारे माने जो चारु बात बोले। चाहे तो इनको बौद्ध मानो, क्योंकि विज्ञान ही उनकी आत्मा है और उस विज्ञानका क्षण-क्षणमें उत्पत्ति और विनाश होता है। उनकी दृष्टिमें जैसे पानीका झरना हमेशा बहता रहता है, दीयेकी लौ हमेशा जलती-बुझती रहती है और कल हमेशा घटता-बढ़ता रहता है वैसे ही आत्मा नित्य पैदा हो रहा है और नित्य मर रहा है। अगर इस सिद्धान्तको मान भी लें तो कोई बात नहीं। हमारी दृष्टि ऐसी है कि हमें आस्तिक-नास्तिक सभीको अपनी जेबमें समेटना पड़ता है। हमारे तो पूँजीवादी और कम्युनिस्ट दोनों ही भक्त हैं। हमसे जो प्रेम करते हैं वे चाहे पूँजीपति हों, चाहे कम्युनिस्ट हों, हम दोनोंको गलेसे लगाते हैं। उनके सिद्धान्तसे हमारा क्या मतलब! उनके विचारको कोई दबाना थोड़े ही है। वह तो पंथाई लोगोंका काम है, जो पीठाचार्य हैं, पीठाधिपति हैं; एक-एक पीठ लेकर बैठे हैं कि बस इतनेमें ही हमारा मत है। उन लोगोंका ख्याल है कि हमारा पीठ ठीक है, तुम्हारा पीठ ठीक नहीं है। लेकिन हमारे लिए तो सब पीठ ठीक हैं और सब गलत भी हैं। ब्रह्मसे इन पीठोंका क्या सम्बन्ध? पीठ माने पीढ़ा भी होता है। पीढ़ेको,चौकीको पीठ कहते हैं। उसपर कोई खड़ाऊँ रखते हैं, कोई देवता रखते हैं। ऐसे पीठ ब्रह्ममें बहुत-से बनाये जा सकते हैं, पर अधिष्ठान ब्रह्ममें ये पीठ-वीठ कुछ होते नहीं हैं। न चर्म पीठ है, न तन पीठ है, न योनि पीठ है, न शिर पीठ है, न हस्त पीठ है—कोई पीठ नहीं है।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि। (२६)

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि महाबाहो! बड़ा भारी हाथ है तुम्हारा। इसलिए तुम **'नानुशोचितुमर्हसि'**। इतने बड़े होकर छोटी-मोटी बातोंके लिए चिन्ता मत

करो। कहाँ तो अद्वितीय ब्रह्म, जिसमें द्वैतका कोई ठौर-ठिकाना ही नहीं है। कहाँ है उसमें द्वैत? '*अधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्*'—अपने अधिष्ठानमें रहनेवाले अभावका,अत्यन्ताभावका, जो प्रतियोगी है, उसको मिथ्या कहते हैं। इसलिए उलके लिए क्या शोक करना? अरे जो पैदा होता है, वह मरता है और जो मरता है वह जिन्दा होता है। अबतक कितने मरे, कितने जिन्दा हुए—इसका कुछ ठिकाना है?

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

देखो, हमारे एक बड़े ही आदरणीय शङ्कराचार्य थे। वे कहते थे कि हम जो यह सिंहासनपर बैठते हैं, छत्र-चँवर लगाते हैं, इसमें हमारा कोई प्रेम, कोई रुचि थोड़े ही है। अरे, जैसे रोज हमको मजबूर होकर शौचालयमें जाना पड़ता है, वैसे ही हमारी विवशता है कि हमको आठ घण्टे बिना लघुशंका किये, बिना शौच गये, लोगोंके बीचमें पीठपर आसन बाँधकर, रीढ़ सीधी करके बैठना पड़ता है। जैसे हमारा आधा घण्टा शौचालयमें जाता है, वैसे ही आठ घण्टे इस पीठपर जाते हैं। यह उनके मुँहकी बात है, जिसे मैंने अपने कानोंसे सुना है। इसलिए आपलोग ललचना मत किसी पीठ या आसन, पीढ़ापर बैठनेके लिए। आपका आसन तो इतना बड़ा है कि आपमें सब समा जाता है। आपको अपने ऊपर रख सके—ऐसा कोई आसन नहीं है। आपमें ही सब आते-जाते, उठते-बैठते, गिरते-पड़ते रहते हैं। यह अपरिहार्य अर्थ है। इसमें मरना और जन्मना अनिवार्य है, यह शोक करनेकी वस्तु नहीं है। सच पूछो तो प्राणियोंकी परिस्थिति यह है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ (२८)

यहाँ अव्यक्तका अर्थ प्रकृति है। अभी पहले आत्माके लिए आया है—'**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्**' लेकिन यहाँ '**अव्यक्तादीनि भूतानि**' में प्रकृतिके अर्थमें है। यदि इन प्राणी-शरीरोंको कार्य-कारण संघात्मक मान लिया जाय कि न तो ये क्षण-क्षणमें उत्पन्न-नष्ट होनेवाले कार्य हैं और न कारणातीत हैं-ये तो कार्यकारणके संघात हैं, तो ठीक है। इनका आदि अव्यक्त है, इनका अन्त और बीच हुए व्यक्त। ऐसे समझो कि सुषुप्ति है आदि और सुषुप्ति है अन्त तथा बीचमें आगया स्वप्न। इन शरीरोंकी यही हालत है। न पहले शरीर था, न बादमें शरीर रहेगा, यह बीचमें स्वप्नवत् उदित हो गया है—

व्यक्त-मध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव।

अरे, स्वप्न खड़ा हुआ है तो स्वप्न मिट भी जायेगा। '**तत्र का परिदेवना**'—क्यों हाय-हाय करते हो कि हमारा सपना मिट गया। वह तो एक मनोराज्य स्वप्नमें

जुड़ गया था। एक मालिकने कहा कि इसने हमारा एक घड़ा तेल नष्ट कर दिया। उसने कहा कि तुम्हारा तो एक घड़ा तेल नष्ट हुआ, हमारी तो बनी-बनायी सारी गृहस्थीका ही लोप हो गया—बेटा गया, बेटी गयी, पत्नी गयी, मकान गया, घोड़ा गया, गाय गयी। हमारी तो सब-की-सब गृहस्थी बिगड़ गयी।

तो 'मालूम पड़ता है' और 'मालूम पड़ना मिट जाता है'—इसके सिवाय दुनिया और कुछ नहीं है। '**तत्र का परिदेवना**'—तब काहेको कल्पना करते हो? काहेको कलप रहे हो, रो रहे हो कि हमारा यह छूट गया, हमारा वह छूट गया? दूधके दाँत टूट गये. पहले दाढ़ी-वाढ़ी नहीं थी वह उग आयी। अब तो उसको लम्बी करके दिखाते हैं कि क्या समझते हो, क्या ऐसे ही बढ़ी है यह! हमने क्या धूपमें सफेद की है! इस तरह अपनी लम्बी और सफेद दाढ़ी दिखाकर लोग डराते हैं लेकिन यह सब रहनेवाली नहीं है, ना तो दाढ़ी रहेगी और न दाढ़ा रहेगा। न जवानी रहेगी, न बुढ़ापा रहेगा। यह सब जानेवाला है। इसके लिए रोनेकी कोई जरूरत नहीं है। जो जाय उसको जाने दो और जो आनेवाला है उसको आने दो।

कल यहाँ पण्डितजीने वेदका एक मन्त्र बोला था—'*स्वस्ति पन्थामनुचरेम्*' इसका अर्थ है आओ हम मंगलमय मार्गमें विचरण करें '*सूर्याचन्द्रमसाविव*' जैसे सूर्य, चन्द्रमा प्रकाश देते हुए विचरण करते हैं, वैसे ही आओ हम विचरें! 'उसी मन्त्रका अगला भाग यह है कि '*पुनर्ददताघ्नता जानता संयमेमहि*' (ऋग्० ५.५१.१५) हम लोगोंको पहचानें, ज्ञानियोंमें रहें, दानियोंमें रहें, अहिंसकोंमें रहें।

अब आओ, यह देखें कि उसको देखते कैसे हैं? '**आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्** 'जहाँ द्रष्टा, दर्शन, दृश्यकी त्रिपुटी ही नहीं है, वहाँ होता है—'दर्शन।' आश्चर्य है, वह जादूका खेल है- '*खोल दो पलक, देख लो खलक, पलकमें खलक*' देखनेवाला अलग नहीं है, देखा जानेवाला अलग नहीं है, उसको देखनेवाली कोई इन्द्रिय अभी तक पैदा हो नहीं हुई, फिर भी देखो चमत्कार, करो नमस्कार! इस चमत्कारको कि द्रष्टा अलग नहीं, दृश्य अलग नहीं, दर्शन अलग नहीं, फिर भी आश्चर्य है कि दर्शन हो रहा है। '**आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः**' जहाँ कभी वाणी पहुँची नहीं वहाँ वह वर्णन करती है।

देखें, किसी गाँवमें एक सज्जन आये और बोले हम रेलगाड़ीकी यात्रा करके आये हैं, वह बहुत बढ़िया होती है। कैसी बढ़िया होती है भाई! बोले कि बड़े-बड़े डिब्बे होते हैं उसमें। इञ्जन होता है। वह चलती है और धुँआ फेंकती है। सुननेवालोंमें एक सज्जन देखे हुए थे उसको, पूछा कि सुनते हैं तीन क्लास होते हैं उसमें! हाँ, होते हैं तीन क्लास। सुनते हैं कि किराया भी कुछ कम-ज्यादा देना पड़ता है। फिर

जो ज्यादा किराया देते हैं, वे जल्दी पहुँचते होंगे? हाँ, वह तो है ही।

इस प्रकार उसका वर्णन कैसे करेगी, जिस वाणीने कभी कुछ देखा ही नहीं है, *'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'* (तै० उप० २.४.१)। हिजड़े मनको लेकर वाणीदेवी मिलने चली थीं महात्मा ब्रह्मजीसे। वह बीच हीमें-से लौट आयीं और बड़ा ढोंग करके बोलीं कि महाराज, हमने देखा है। *'न (तत्र) वाग् गच्छति नो मनः, न विद्म विजानीमः'* (केन० उप० १.३) यदि देखा है तो कैसे हैं ब्रह्म? ऐसे हैं ब्रह्म कि बिना आँखके देखते हैं, बिना वाणीके बोलते हैं, बिना कानके सुनते हैं।

अरे, परमात्माकी जो स्थिति है, वही स्थिति आपकी है। जैसे ब्रह्म बिना आँखके देखता है, बिना कानके सुनता है, वैसे ही आप भी बिना आँखके ब्रह्मको देखते हैं, बिना कानके ब्रह्मको सुन रहे हैं। मतलब यह कि कानका निषेध करके, आँखका निषेध करके, बुद्धिका निषेध करके *'न विद्मो न विजानीमः'* केवल नेति-नेतिसे आत्माका साक्षात्कार हो जाता है। ये सारी श्रुतियाँ पदार्थका समर्थन करती हैं। इति माने क्या? इति माने यह, इति माने स्वर्ग, इति माने नरक, इति माने मर्त्यलोक, इति माने ब्रह्मा, इति माने विष्णु, इति माने रुद्र, इति माने कार्य, इति माने कारण। नेति माने वह सब कुछ नहीं। इति पदार्थका समर्पण करनेके लिए सारे वेद, सारे शास्त्र, सारे पदार्थ इति पदका अर्थ करते हैं और उपनिषद् 'न' पदका समर्पण करता है। उपनिषद्का केवल 'न' पदार्थमें अभिप्राय है और बाकी सब शास्त्रोंका 'इति' पदार्थमें अभिप्राय है, बस आप इसीसे गिन लो, नेति-नेति।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्। (२९)

सुन-सुनकर भी क्या हुआ? *'श्रुत्वापि यथा कश्चित् घटं श्रुत्वा घटं'* तथा *'कश्चिद् ब्रह्म श्रुत्वा ब्रह्म न वेद घटवत्।'* जैसे कोई घड़ेकी बात सुनकर घड़ेको जान लेता है, स्वर्गकी बात सुनकर स्वर्गको जान लेता है, वैसे ही ब्रह्मकी बात सुनकर उसको घड़े या स्वर्गकी तरह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपमें नहीं जानता है। फिर कैसे जानता है? *'आत्मत्वात्।'* वह आत्मा है, इसलिए डरना मत उससे। भगवान् स्वयं कहते हैं कि '**कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।**' मेरा ज्ञान *'नामतः' 'रूपतः'* नहीं होता, '**तत्त्वतः**' ज्ञान होता है। यह भी भगवान्का ही कथन है कि '**यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।**' (१८.५५) इस प्रकार ब्रह्मका ज्ञान नामरूपत्वेन नहीं होता, *तत्त्वतया प्रत्यक्-चैतन्याभेदेन* ब्रह्मका ज्ञान होता है। ब्रह्मज्ञानकी यह प्रक्रिया अन्य ज्ञानोंसे अलग है। रोशनीमें घड़ेका ज्ञान लेता है और बिना रोशनीके आँखका ज्ञान होता है और बिना आँखके मनका ज्ञान होता है और

बिना मनके द्रष्टाका ज्ञान होता है और द्रष्टाके साथ अगर कुछ जुड़ा हुआ है तो उसको वेद भगवान् उठाकर फेंक देते हैं और द्रष्टाको अद्वितीय ब्रह्म कर देते हैं।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ (३०)

भगवान्‌ने अपनी '**अशोच्यानन्वशोचस्त्वं**'—इस पहली बातको पकड़ लिया है और उसीको दुहरा रहे हैं। यह अभ्यास है गीतामें। अभ्याससे तात्पर्यका निश्चय होता है।

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य-निर्णये॥

बारम्बार कोई बात दुहराई जाये तो समझ लो कि वक्ताका इसमें बड़ा आग्रह है। इसी कारण गीताका आग्रह इसमें है कि बाबा—'**अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्तसे मृतम्।**' अर्थात् आत्माको चाहे नित्य अविनाशी मानो, चाहे ब्रह्म मानो, लेकिन एक बात जरूर है कि रोओ मत। हम तुम्हें रोते नहीं देखना चाहते। चाहे ईश्वरके बनाये बापको छोड़ दो और बाप द्वारा व्याही हुई पत्नीको छोड़ दो, अपने पैदा किये हुए बेटेको छोड़ दो, अपने बनाये हुए घरको छोड़ दो, बाल चाहे मुण्डित कर लो चाहे शिखी रहो, लेकिन रोओ मत। हमारी गीता मैयाका यही कहना है कि बेटा, रोओ मत। नमकीन कहो नमकीन दें, मिठाई कहो मिठाई दें। एकाध चपत लगानेसे सुख हो जाये तो वह भी लगा दें,लेकिन रोओ मत बेटा! हमें तुम्हारा रोना मंजूर नहीं है। हम तुम्हें शोकग्रस्त नहीं देख सकते!

'**देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत**'—सबके शरीरमें यह जो देही है, यह नित्य अवध्य है, इसका वध नहीं हो सकता। वध एक तो हथियारसे होता है, जिसको पहले काट ही दिया और दूसरा मनसे वध हो सकता है, उसको भी काट दिया। फिर बुद्धिसे भी वध हो सकता है, किन्तु उसको भी काट दिया। अब कोई स्वयं ही अपना वध कर ले, खुदकुशी कर ले, तो? अरे, ये आत्मदेव ऐसे हैं कि इनकी खुदकुशी भी नहीं हो सकती। कोई चाहे कि हम अपनेको मार डालें, तो भी मारनेवाला जिन्दा ही रहेगा। '**अवध्योऽयम्**' माने हममें खुदकुशी करनेकी भी सामर्थ्य नहीं है, हम मर नहीं सकते। चींटी-माटेके शरीरमें भी यही हालत है। इसलिए—

तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।

किसी भी प्राणीके लिए शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है। महाभारतमें तो इसका व्यवहार भी है। वह व्यवहार क्या है? यह है कि यदि कोई तकलीफ

सबको होने लगे—जैसे सूखा पड़ जाये, सबको पानीकी तकलीफ हो जाये, अकाल पड़ जाये, सबको खानेकी तकलीफ हो जाये और कोई महामारी हो जाये—सबके अन्दर एक बीमारी पैदा हो जाये तो क्या करना चाहिए?

न जानपदिकं दुःखम् एकः शोचितुमर्हसि।

एक आदमीको दुनिया भरके लोगोंके दुःखका भार अपने सिरपर नहीं लेना चाहिए। फिर क्या करना चाहिए? अपने शक्ति-सामर्थ्य भर उस दुःखको दूर करनेका प्रयास करना चाहिए। लेकिन हृदयमें शोक तब भी नहीं आना चाहिए। महामारी पड़ जाये तो सबकी दवा करो और जरूरत पड़े तो सबको कन्धेपर उठाकर गंगाजीमें पहुँचा आओ। लेकिन उसके लिए रोओ मत. रोते-रोते मत करो। उसको भी हँसते-हँसाते करो। हमें मरनेके बाद दिव्य राज्य मिलेगा, हम बहिश्तमें जायेंगे, एक दिन ऐसा आयेगा जब यह धरती स्वर्ग हो जायेगी। एक दिन ऐसा आयेगा जब सबका उद्धार हो जायेगा, एक दिन ऐसा आयेगा जब सब लोग अहिंसक सत्त्वगुणी हो जायेंगे—यह सब ख्वाब है। सपनेकी दुनिया है। न सब सात्त्विक होंगे, न सबका उद्धार होगा और न स्वर्ग धरतीपर उतरेगा। यह दुनिया रहेगी ऐसी-की-ऐसी। तुम चाहे स्वर्गमें रह लो, चाहे नरकमें रह लो, खूब मजेमें रहो। जो लोग चेला बनानेकी विद्यामें फँसते हैं, वे बेवकूफ ही हैं। यह सब चेला बनानेकी विद्या है कि धरतीपर स्वर्ग उतर आयेगा और यह प्रकृति दिव्य हो जायेगी। अरे होगी भी कभी, तो तुम नहीं देखोगे। इसलिए अपने वर्तमानको ही स्वर्ग बना लो। यहीं परमात्माको देख लो। स्वर्गमें क्या रखा है?

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ (३१-३२)

यह दूसरी बात लो। इसके पहले तक तो ब्रह्म और आत्माकी बात समझाते थे। अब बोले कि भाई, हमारी मान्यता भी तो कोई चीज है। हम अपनेको क्षत्रिय मानें या अपनेको बाबाजी मानें, एक ही बात है। अपनेमें जितना अध्यारोपित क्षत्रियत्व-ब्राह्मणत्व है, उतना ही अध्यारोपित संन्यासित्व-उदासीत्व है, कोई कम-बेशी नहीं है। एक अभिमान हट गया, दूसरा अभिमान आ गया। यह बात तो हम मानते हैं कि तुम अद्वितीय ब्रह्म हो, लेकिन यदि तुम संन्यासी, उदासी, वैष्णव आदि हो तो यह सब हम माननेवाले नहीं। यदि किसीने तुमको सिखा-पढ़ाकर याद करा दिया है कि तुम यह हो और तुम वह हो, तो यह तोतारटन्त ही है।

अच्छा भाई, हम यह मान लेते हैं कि तुम अपनी मान्यता छोड़नेको तैयार नहीं हो। लेकिन क्षत्रिय तो हो न ! हाँ, महाराज क्षत्रिय तो हैं। यदि क्षत्रिय हो तो देखो, तुम्हारा धर्म क्या है ? पलायन क्षत्रियका धर्म नहीं है। और तुमने पलायनवाद स्वीकार कर लिया है। जब लड़ाईका मौका आया है, तब तुम युद्धभूमिसे भागे जा रहे हो ? क्यों भागते हो ? यह पलायनवाद तुम्हारे लिए ठीक नहीं है।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।

जब तुम अपनेको क्षत्रिय मानते हो तब यह युद्ध धर्मसे दूर नहीं, धर्मानुकूल है। यह युद्ध धर्मसे बहिर्भूत नहीं है, धर्मके लिए है। यह तो तुम्हारे लिए श्रेयका साधन है। अरे, तुम्हारे सामने तो स्वर्गका खुला हुआ दरवाजा आगया। उसमें चाहे दूसरोंको भेजो, चाहे खुद घुसो। स्वर्गका द्वार खुला है—**अपावृतम्**। आत्माका द्वार तो अपावृत है, खुला है। मरोगे तो इसमें खुद घुसोगे, और मारोगे तो जिनको मारोगे, वे भी घुसेंगे—'**सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्**।' '**ये क्षत्रियाः इदृशम् युद्धं लभन्ते ते सुखिनः**।' जिन क्षत्रियोंको ऐसा युद्ध मिलता है, वे तो सुखी हो जाते है, उनका वजन बढ़ जाता है, वे कहते हैं कि वाह-वाह, जिन्दगीमें कभी बहादुरी दिखानेका मौका तो मिला। और तुम धनुष-बाण फेंककर रो रहे हो! अरे भाई, तुम्हारे भीतर कुछ नपुंसकताका असर हैं। तुम एक वर्षतक नपुंसक रह चुके, तो उसकी कुछ छाया तुम्हारे ऊपर रह गयी है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि '**क्लैब्यं मा स्म गमः**'। तुम एक वर्षतक तो नपुंसक रह चुके हो, अब और क्यों होना चाहते हो ?

देखो भाई, साले-बहनोईमें कभी-कभी ऐसी बातें भी हो जाती हैं। इसके बाद भगवान् बोलते हैं कि यदि तुम युद्ध करोगे, तो इसमें बड़ा भारी दोष है—

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ (३३)

देखो, वृन्दावनमें एक फक्कड़ साधु थे। उनके पास एक दिन एक ब्रह्मचारी हाथमें घड़ी बाँधकर पहुँच गया। पुराने साधु हाथमें घड़ी-वड़ी पसन्द नहीं करते थे। इसलिए फक्कड़ बाबा बोले कि क्यों रे, तुमने गाँठ तो बाँधी नहीं, घड़ी बाँध ली ? वह बोला—महाराज, मैं माँगने तो नहीं गया था। कोई दे गया। मैंने सोचा कि यह घड़ी मेरे प्रारब्धमें होगी, इसलिए आयी हुई घड़ी मैंने हाथमें बाँध ली। बाबा बोले कि अरे, तुमको कोई लुगाई दे जायगा तो उसको भी प्रारब्ध मानकर बाँध लोगे ? नहीं महाराज, वह तो नहीं करूँगा। तब फेंक यह घड़ी! बड़ा प्रारब्ध-प्रारब्ध करने चला है!

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि। (३३)

तो, यह जो प्रारब्ध है, वह कर्तृत्व, भोक्तृत्वका जहाँतक अभिमान है, वहींतक दुःख देता है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अभिमान बाधित हो जानेपर वह तो जली हुई लकड़ीके समान है। वह कहाँसे दुःख देगा! वह तकलीफ नहीं दे सकता। ऐसा कौन-सा पदार्थ है। जिसको हम नहीं छोड़ सकते। जो सत्ता-शून्य है, सम्बन्ध-शून्य है, उसको छोड़नेमें क्या कठिनाई है? जिसकी सत्ता ही नहीं, जिससे सम्बन्ध ही नहीं, जिसके हम कभी कर्ता ही नहीं हुए और भोक्ता ही नहीं हुए, वह चीज आकर क्या हमसे लिपटेगी! उसमें कोई सामर्थ्य है? अरे, यह तो मौज ही है हमारी। साधुओंके पास भी वासनाका ढक्कन प्रारब्ध है। बात आपको सच्ची बोलते हैं। शंकराचार्यने कहा कि भाई, बेवकूफोंको समझानेके लिए भले ही प्रारब्धका सहारा ले लिया करो, लेकिन यह तुम्हारे लिए नहीं है। तुम्हारी सृष्टिमें प्रारब्ध नहीं है। अपने चेलों-चाँटोंको संग्रह-परिग्रहकी व्याख्या करनेके लिए प्रारब्धके नामसे समझाओ, यह तो हम मानते हैं। लेकिन ब्रह्म भी बनो और अपना पूर्व जन्म भी मानो, अपना प्रारब्ध भी मानो—यह ठीक नहीं है। ब्रह्मका पूर्वजन्म हुआ था, उसमें उसने कुछ कर्म किया था, उससे प्रारब्ध बना था और वही ब्रह्म अब भोग रहा है—ऐसा कहना ठीक नहीं है।

तो अर्जुन, लौकिक दृष्टिसे भी तुम्हारा कार्पण्य उचित नहीं है। इससे स्वधर्मका नाश होगा और पापकी प्राप्ति होगी। जब महाभारतकी कथा लिखी जायेगी, तब उसमें यही लिखा जायेगा कि अर्जुन हिजड़ा था और उसने युद्धमें हिजड़ेका ही काम किया। अव्यय अकीर्ति होगी तुम्हारी और हमेशा यही कथा गायी जायगी।

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते। (३४)

लोकमें जो समादृत पुरुष है, सम्यक्त्वेन भावित पुरुष है और जिसके बारेमें लोगोंकी भावना है कि यह बहुत अच्छा है, उसकी यदि कालकी परम्परामें अकीर्ति चले, तो यह मृत्युसे भी बढ़कर है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः। (३५)

सबलोग कहेंगे कि यह महारथी भयसे भाग गया। वैसे तो तुम्हारे शत्रु तुम्हारा बहुत आदर करते हैं, लेकिन तुम्हारे भाग जानेपर तुमको बहुत हल्का समझेंगे और जो नहीं कहना चाहिए, वह कहेंगे—

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः। (३६)

शत्रु तुमको गाली देना शरू करेंगे, तुम्हारे सामर्थ्यकी निन्दा करेंगे। इससे

बढ़कर अर्जुन! हमारे और तुम्हारे लिए दुःखकी और क्या बात होगी? इसलिए मरने-वरनेसे डरो नहीं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ (३७)

अरे, मर जायेगा तो स्वर्ग मिलेगा और जीत लेगा तो धरतीका भोग मिलेगा। इसलिए उठो और लड़ो!

आपलोगोंने कभी आल्हा सुना है कि नहीं? हमने तो खूब सुना है। उसमें गाते हैं कि—*'आगे बढ़कर पीछे हटना नहीं काम मरदानोंका। ठन-ठन-ठन-ठन तेगा बाजे, चमचम चमक उठे तलवार'*।

इसी तरहका उत्साह-वर्द्धक यह कथन है कि '**तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः**'—अर्जुन, युद्धका निश्चय करके उठकर खड़े हो जाओ!

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।
रथोपस्थं उपाविशत्। (१.४६)

अर्जुन रथमें ही हैं और भगवान् बोलते हैं कि उत्तिष्ठ—उठो! महाभारत भी यही कहता है—*'उत्तिष्ठध्वं जागृतध्वमग्निमिच्छध्वं भारताः'*।

अरे भारतीयो, प्रतिभाशाली पुरुषो, उठो, जागो और अग्निका आवाहन करो। ऐसी ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो, जिसमें धुआँ देनेवाला यह सारा ईंधन प्रज्वलित हो जाये। *'न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।'* *अग्निमिच्छध्वं* माने ज्ञानाग्निकी इच्छा कर, जिज्ञासाको जाग्रत करो।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (३८)

पाप कहाँ लगता है ? जहाँ हम दूसरेको नुकसान पहुँचाते हैं, वहाँ पाप लगता है। जहाँ हम अपनेको नुकसान पहुँचाते हैं, वहाँ भी पाप लगता है। जैसा आत्मा अपनेमें, वैसा आत्मा दूसरेमें। जान-बूझकर हानि पहुँचानेकी भावना आजाये, तब पाप होता है। पाप माने परमात्मासे अपगत हो गये। तो क्या करें? चित्तमें समता ले आओ। *'समत्वमाराधनमच्युतस्य'* (विष्णुपुराण १.१७.९०)-भगवान्‌की आराधना ही समता है। बिना समताके संगीतका सुख नहीं है। जीवन संगीतमय तबतक नहीं हो सकता, जबतक समता नहीं आवेगी। सुख-दुःख माने फल। फल चाहे जो आवे। अरे अभी तो जो पैदा ही नहीं हुआ, उसके बारेमें फिकर क्या करना!

एक दिन रातको एक पति-पत्नीमें—दम्पतीमें—लड़ाई हो गयी। पड़ोसी लोग आकर पूछने लगे कि क्या बात है? पति बोले—लड़ाई यही है सज्जनों, कि हमारे बेटेको पत्नी डाक्टर बनाना चाहती है और मेरी राय है कि वह इञ्जीनियर बने। इसीलिए हम दोनोंमें मतभेद हो गया है। पड़ोसियोंने कहा—भाई, तुम लोग अपनी ही राय चलाओगे कि बेटेकी भी राय लोगे? उससे भी तो पूछो कि वह क्या कहता है। इसपर पति-पत्नी दोनोंने कहा कि अभी तो वह पैदा ही नहीं हुआ है।

तो भाई, जो अभी हुआ ही नहीं, उसके बारेमें क्या झगड़ा है? अभी तो सुख-दुःख कुछ आया है नहीं, फिर क्यों उसकी चिन्ता करते हो? अभी तो करनेका समय है। **'सुख-दुःखे समे कृत्वा'**—सुख-दुःख सब बराबर हैं। **'लाभालाभौ जयाजयौ'**—इसी तरह क्या मिलेगा, क्या नहीं मिलेगा, जय होगी कि पराजय होगी, इसकी चिन्ता छोड़ो। सम बुद्धिसे चलो। फिर लाभालाभ, जय-पराजय और सुख-दुःख बराबर हो जायेंगे। जिस रूपमें परमात्मा आयेगा, उसी रूपमें हम उसका स्वागत करेंगे।

भले बने हो लम्बकनाथ!
देख मौतका रूप धरे मैं, नहीं डरूँगा तुमसे नाथ॥

अब देखो, यहाँतक तो भगवान्ने परमार्थ-विचार और लौकिक विचार द्वारा यह बात बतायी कि आत्मदृष्टिसे, धर्मदृष्टिसे, लोकदृष्टिसे और दर्शनदृष्टिसे युद्धमें कोई दोष नहीं है। जो लोग सारी दुनियाको बाबाजी बना देना चाहते हैं, उनकी बात हम क्या कहें? अरे बाबा, इतने चेले मत बढ़ाओ कि कोई भिक्षा ही देनेवाला न रहे। संग्रह एक तो रुपये-पैसोंका होता है और एक चेलोंका होता है। कुछ लोगोंको ऐसा छोड़ो जो खेती करें, व्यापार करें, सेनामें सम्मिलिति होकर देशकी रक्षा करें और शासन करें। तुम सबको कनफटा बनाकर क्या करोगे? अरे, कनफटा नहीं तो चोटी-कटा कहो, कनकटा कहो! बाबाजी लोग कुछ-न-कुछ तो काट-पीट करते ही हैं, कुछ छाप ही लगा देते हैं, कुछ चोटियाँ ही काट लेते हैं और कुछ कान ही काट लेते हैं। कुछ-न-कुछ तो ये काटते ही हैं। लेकिन इस तरह सबके साथ काट-पीट मत करो भाई!

तो अबतक भगवान्की ओरसे जो बात कही गयी, वह बुद्धि-विषयक है। उसमें कर्म नहीं है। उपदेश कर्म नहीं देता, उपदेश ज्ञान देता है। ज्ञान होनेपर यदि वस्तु अप्राप्त है, तब उसके लिए संकल्प होता है और यदि संकल्प-मात्रसे पूरी होने लायक न हो तो कर्म होता है। आप इसका क्रम देखो। अपनी आत्माकी पूर्णताका ज्ञान संकल्पको निवृत्त कर देता है; यहाँ संकल्प ही नहीं होगा, क्योंकि यह पूर्ण है।

यदि अन्य-ईश्वर-विषयक ज्ञान हुआ, तब उसकी प्राप्तिका संकल्प होगा, उपासना होगी और यदि रुपया-पैसा-हीरा-मोतीका ज्ञान हुआ, तब उसकी प्राप्तिके लिए संकल्प होगा, तो कर्म भी करना पड़ेगा। अगर वह दुनियादारीकी कोई चीज नहीं है, तो उसके लिए कर्म नहीं करना पड़ेगा और यदि वह कोई अन्य पदार्थ नहीं है, तो उसके लिए संकल्प भी नहीं करना पड़ेगा।

स्व-के विषयमें ज्ञान पूर्ण है, ईश्वरके विषयमें संकल्प पूर्ण है और जगत्के पदार्थोंके लिए ज्ञान, संकल्प और प्रयत्न तीनोंकी आवश्यकता है। कर्मी लोग ऐसे कर्मठ होते हैं कि वे सोचते हैं, ज्ञानके अनुसार कर्म नहीं होगा तो ज्ञान व्यर्थ हो जायेगा। माने निवृत्ति कोई चीज ही नहीं है। ज्ञान होने-पर संकल्प नहीं करेंगे तो ज्ञान व्यर्थ हो जायेगा, माने निस्संकल्प कोई चीज ही नहीं है। ज्ञान होगा, तो उसे पाना ही चाहिए, और मिला-मिलाया हो तो! वह कैसे कर्मका प्रेरक होगा? वह तो भ्रमसे अप्राप्त था। ज्ञान हुआ, भ्रम मिट गया; और वह तो नित्य-प्राप्त ही है। वहाँ न संकल्प और न उपासनाकी जरूरत है और न कर्मकी। स्व-की पूर्णताका बोध, संकल्प अथवा उपासना अथवा कर्मका जनक नहीं है। अपनेको वृत्तिमान बनानेके लिए आत्माका ज्ञान नहीं होता, वृत्तिमत्ताका अभिमान छुड़ानेके लिए आत्माका ज्ञान होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि,' 'अहं ब्रह्मास्मि'—यह जप करके 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक वृत्तिमान बन गये। धन्य हो महाराज, ज्ञान आपकी वृत्तिका बोध करनेके लिए आया था, आपका बोझ उतारनेके लिए आया था और आपने उसे बोझ बनाकर सिरके ऊपर रख लिया!

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। (३९)

जहाँ सम्यक् ज्ञान है, वहाँ बिल्कुल सही-सही बात भली-भाँति कह दी गयी। शास्त्र न उपासना देते हैं, न कर्म देते हैं, केवल बुद्धि देते हैं। स्वविषयक बुद्धि होगी तो कर्म उपासना नहीं, अन्य-विषयक बुद्धि होगी तो उपासना होगी, और अन्य स्थूल-विषयक बुद्धि होगी, तो बुद्धि-प्राप्तिके लिए चलना-फिरना होगा, करना-दिखाना होगा। सब जगह ज्ञान कर्माङ्ग नहीं होता। सुरेश्वराचार्यका एक श्लोक हैं—

सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारित्वेन गम्यते।
पराङ्ग चात्मविज्ञानाद् अन्यत्रेत्यवधार्यताम्॥

निश्चय कर लो; कि सर्वत्र ज्ञान-विज्ञान कर्मोपासनाका अंग होता है, सर्वत्र विज्ञानका संस्कार पड़ता है और संस्कारसे फिर संकल्प-वासनादिका उदय होता है। परन्तु यह नियम आत्म-विज्ञानसे अतिरिक्त विज्ञानमें है, आत्म-विज्ञानमें यह नियम नहीं है—*'आत्मविज्ञानादन्यत्र इति अवधार्यताम्।'* जैसा घट-ज्ञान है, वैसा

ही आत्म-ज्ञान हो—यह बात नहीं है। **'बुद्धियोगे त्विमां शृणु'** (३९)—में योगकी बुद्धि बताते हैं। भगवान्‌ने योग तो ऐसा कह दिया कि उसको कर्मयोग कह लो, भक्तियोग कह लो, ज्ञानयोग कह लो, पर वह है उपाय—इसमें सन्देह नहीं। योग शब्द उपायका वाचक होता है। जैसे लोग कहते हैं कि कुछ ऐसा योग-युक्ति लगाओ, जिससे यह काम हो जाये। अब वह वस्तु जैसी है, भीतरकी है तो भीतर, बाहरकी है तो बाहर, उसके लिए योग-युक्ति तो करनी पड़ेगी। योगमें कई चीजें मिलायी जाती हैं; योग उपाय-रूप है। उपाय उसको बोलते हैं, जो आय न हो, आयके पास हो; जो सभापति न हो, उपसभापति हो—उप माने पास, आय माने आमदनी। जो आमदनीके पास पहुँचा दे, उसका नाम उपाय होता है। आपको आमदनी किस चीजकी करनी है, यह देख लो!

इसीलिए हमारे महावैयाकरण भर्तृहरिने वाक्यपदीयमें कहा कि *'उपादायापि ये हेयास्तान् उपायास्ते प्रचक्षते'* (वाक्यपदीय २.३८)। जिनको पहले उपादान करें, पहले स्वीकार करें और बादमें छोड़ दें, इसका नाम होता है उपाय। नदीसन्तरणके लिए नौका उपाय है। कंटकाकीर्ण भूमि पार करनेके लिए उपानह-धारण उपाय है। लेकिन पूजाघरमें उपानह मत ले जाना और नावको खींचकर अपने बेडरूममें—शयन-कक्षमें मत ले आना। उपवेशन-रूमको निवेशन-रूममें निविष्ट मत कर लेना। नावको बाहर ही छोड़ देना। उसीसे उसे उपाय बोलते हैं। *'उपादायापि ये हेयास्तानुपायास्ते प्रचक्षते'*—जिसको पहले स्वीकार करना और बादमें छोड़ना पड़ता है, उसका नाम उपाय है। आपको भोजन पकाना है, तो अग्नि जलाना उपाय है और भोजन पक जानेपर आगको बुझा देना उपाय है। इसीको योग बोलते हैं।

बुद्ध्यायुक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि। (३९)

देखो, आजकल बुद्धिजीवी लोग बुद्धियोगोपनिषद्‌की बात करते हैं। यदि बुद्धिजीवी लोग यहाँ हों तो मुझे माफ करें। जो अपनी बुद्धिको जीविका चलानेके काममें लेता है—चाहे लिखकर कमाता हो, सम्पादन करके कमाता हो, फीस लेकर व्याख्यान देता हो तो वह बुद्धिजीवी है। हमारे पास कई जगहसे चिट्ठियाँ आती हैं कि आपको हम व्याख्यान देनेके लिए बुलाना चाहते हैं; आपकी फीस क्या होगी? हमें उत्तर दिलाना पड़ता है कि हम व्याख्यानोपजीवी नहीं हैं। हमें अपने व्याख्यानका जीविकाके लिए उपयोग नहीं करना चाहिए। जिसने शरीर दिया है, वह रोटी देता है, जहाँसे पेट आया है, वहींसे रोटी आती है। एक ही घर है दोनोंके आनेका। दीनता मूर्खता-मूलक ही होती है।

एक स्त्रीका पति परदेश गया तो गाँवकी दूसरी स्त्रियोंने पूछा कि अरी, तुम्हारा पति तुम्हारे खाने-पीनेका बन्दोबस्त कर गया है या नहीं? वह तो परदेश चला गया, फिर कैसे खाती-पीती हो? उसने कहा कि हमारे दो पति हैं—एक खिलानेवाला, दूसरा खानेवाला तो हमारे पास ही है। वह हमारा परम पति है, मुझे छोड़कर कभी कहीं नहीं जाता!

देखो, यह अक्लकी बात है। यह आकलन है, बुद्धि है। चाहे ज्ञान हो, उपासना हो, योग हो, कर्म हो, उपदेश करनेवाला तो बुद्धि ही देगा न! आजकलके नेता लोग जब मञ्चपर खड़े होकर और जोर-जोरसे लाउडस्पीकरपर चिल्लाकर काम ही तो कर रहे हैं। स्वयं तो जोर-जोरसे व्याख्यान देते जाते हैं और कहते जाते हैं कि व्याख्यान देनेका समय बीत गया! बीत गया तो क्यों देते हो व्याख्यान?

असलमें कोई दे सकता है तो बुद्धि ही दे सकता है। आज्ञा कर्म करनेकी दी जाती है। मजदूरको जोशमें लाकर, उत्साहित करके उसके मनमें संकल्प उत्पन्न करवाया जाता है। लेकिन यदि उसकी समझ बदल दी जाये? समझ बदलनेसे उसका मन बदल जाये, वह स्वयं प्रयत्नशील हो, तब क्या होगा? बुद्धि ठीक-ठीक होनेसे मन ठीक होगा और मन ठीक होनेपर कर्म ठीक करेगा। ज्ञान ठीक होनेपर कर्म होगा। हमारा शास्त्र तो पहले बुद्धि ही ठीक करता है, फिर मन और कर्म तो अपने-आप शुद्ध हो जाते हैं। शास्त्र बुद्धिको शुद्ध करता है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्वमां शृणु।

अब देखो इसकी महिमा! क्योंकि माहात्म्यज्ञानके बिना मनुष्यकी प्रवृत्ति नहीं होती है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ (४०)

यहाँ 'अभिक्रम' क्या है? क्रम माने आगे बढ़ना और अभि माने चारों ओरसे आगे बढ़ना। अभिक्रम माने सर्वतोमुखी प्रगति—कर्ममें प्रगति, ध्यानमें प्रगति, ज्ञानमें प्रगति, बन्धनकी निवृत्तिमें प्रगति और लोकहितमें प्रगति। हर तरहसे उन्नति हो और हर तरफ उन्नति हो।

देखो, कोई व्यक्ति आपको ऐसा उपाय बताया हो, जिससे आपकी बुद्धिका ही नाश हो जाये, तो उसे आप हरगिज स्वीकार मत करना। कहीं उन्मना उन्मत्त न हो जाना। उन्मना तन्मना पुरुषके ऊपर होता है। वह बारहवीं भूमिकाकी बात बताते हैं। यह पन्थोंकी बात है। उनमें उन्मना गिनी हुई बारहवीं भूमिका है। वहाँ क्या

होता है ? बोले कि वहाँ बुद्धि नष्ट हो जाती है। अरे बाबा, हम आपको हाथ जोड़ते हैं। आप और सब कुछ तो बिगाड़ देना, लेकिन हमारी बुद्धि मत बिगाड़ना। क्योंकि हमारे कृष्ण-कन्हैया बुद्धिके बड़े पक्षपाती हैं। कठोपनिषद् कहती हैं *'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि।'* (१.३.३) बुद्धिको अपना सारथि समझो, और स्वयं सारथि बनकर बैठे हैं। फिर कहते हैं कि '**न मे भक्तः प्रणश्यति**' (९.३१) मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता। परन्तु साथ-साथ यह भी कहते हैं कि '**बुद्धिनाशात्प्रणश्यति**' (२.६३)। यदि तुमने अपनी बुद्धि नष्ट कर दी, अपना विवेक खो दिया तो तुम्हारा नाश हो जायेगा। इसी तरह '**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति**'—(२.४०) इसमें वे कहते हैं कि हम तुम्हें वह रास्ता बताते हैं, जिसमें तुम्हारी सर्वतोमुखी प्रगतिमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी। इतना ही नहीं, '**प्रत्यवायो न विद्यते**'—कोई प्रतीप और अव नहीं होगा। प्रति माने उल्टा, अव माने=अधः नीचे और अयन माने गति। विपरीत और निम्न गति तुम्हारी नहीं होगी। प्रत्यवाय माने जिससे हम नीचे गिरें और जिधर जा रहे हैं, उससे उल्टे चल पड़ें। यहाँ जो अयन है, वह अध्ययनवाला अयन ही है, वही 'इण् गतौ' वाला अयन है।

देखो, कोई प्रेमसे, निष्काम भावसे आपकी चाय बनाकर ला रहा हो, दूध ला रहा हो गिलासमें, और असावधानीसे उसके हाथसे वह गिर जाये तो आप उसको गाली देंगे कि जुर्माना करेंगे ? नहीं, कहेंगे कि अरे, कहीं तुम जले तो नहीं ? कहीं चोट तो नहीं लगी ? निष्काम कर्मका, प्रेमपूर्वक सेवाका स्वरूप ही यह है कि उसमें प्रत्यवाय नहीं होता, अपराध नहीं होता। अगर तनख्वाहपर रखा हुआ नौकर चाय गिरा दे, दूध गिरा दे, कपड़ेपर कुछ गिरा दे, तो बोलेंगे कि निकाल दो इसको, जुर्माना कर दो इसको, इसने मेहमानोंके सामने हमारी भद्द करवा दी। लेकिन निष्काम कर्ममें यह नहीं होता है। यदि प्रेमसे सेवा करने जाओ और वहाँ कोई गलती भी हो जाये, तो वह गलती नहीं मानी जाती।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। (४०)

अन्यथा यदि तुम्हारा कर्म सकाम हो, स्वर्गकी प्राप्तिके लिए यज्ञ कर रहे हो तो वहाँ यदि बायाँ पाँव नीचे करनेकी जगह दायाँ पाँव नीचे कर दो, तो देखो मजा! प्रायश्चित्ताध्याय लागू हो जायगा। तुम्हारी आँखमें धुआँ लगा, आँसू गिरने लगे और देवता लोह भागे वहाँसे! फिर जब प्रायश्चित करोगे, तभी वे लौटकर आयेंगे। इसी तरह मन्त्र बोलनेमें स्वरका अपराध हो जाता है तो फल ही भाग जाता है। सकाम कर्ममें विधिका विपर्यय नहीं चलता। लेकिन यहाँ जिस धर्मकी बात श्रीकृष्ण कर रहे हैं, उसको पूरा करो चाहे थोड़ा करो, कोई फर्क नहीं पड़ता। इसमें पूरा करनेकी

शर्त नहीं है। **स्वल्पमपि**—थोड़ा-सा भी कर लो, तो यह महान् भयसे तुम्हारी रक्षा करनेवाला है। अब आगे बताते हैं कि—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ (४१)

देखो भाई, बुद्धि एक ही अच्छी होती है। अनेक बुद्धि माने संशय और '**संशयात्मा विनश्यति**'। यह सच है कि वह सच है? कौन जाने क्या सच है! भगवान् कहते हैं कि हे कुरुनन्दन अर्थात् सारे कुरुवंशको आनन्द देनेवाले अर्जुन, योग-बुद्धिके मार्गमें केवल एक ही बुद्धि है, अलग-अलग नहीं है। वह क्या है? *'व्यवसाय: आत्मा यस्या: सा निश्चयात्मिका बुद्धि:।'* असलमें निश्चयका बड़ा भारी महत्त्व है।

आपको हम यह बताना चाहते हैं कि आप पश्चिमकी ओर मुँह करके चले जाइये, आपको ईश्वर मिलेगा। इसी तरह आप उत्तरमें चलते चलिये, आपको ईश्वर मिल जायेगा। आप पूर्वकी ओर मुँह करके चलते चलिये और आप दक्षिणकी ओर मुँह करके चलते चलिये, आपको ईश्वर मिल जायेगा। क्योंकि ईश्वर तो सब ओर और सब जगह है। आप किसी ओर मत चलिये, जहाँ हैं वहीं रहिये आपको ईश्वर मिल जायेगा। आप आँख खुली रखिये, आपको ईश्वर मिल जायेगा।

आप आँख बन्द कर लीजिये, आपको ईश्वर मिल जायेगा। ईश्वर मूलाधारमें मिल जायेगा, सहस्रारमें मिल जायेगा और अनाहतमें मिल जायेगा। वह जीभकी नोंकपर मिल जायेगा, हाथमें मिल जायेगा और पाँवमें मिल जायेगा। अरे, जो सब जगह है, सब समय है, उसको तो पहचाननेमें ही देरी हो रही है, इसके मिलनेमें कहाँ देरी है? देरी किसको होती है? जो अव्यवसायी है, जिसमें व्यवसायविशिष्ट पर्यवसानवाली बुद्धि नहीं है और जिसका अन्त विशिष्ट है। वि माने विशिष्ट। अवसायात्मिका-अवसाय माने निश्चय, अवसान माने चरमा बुद्धि, विशिष्ट-विषया—चरमा बुद्धि। चरमा माने अन्तिम, जिस बुद्धिके बाद दूसरी कोई बुद्धि नहीं है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। (६.२२)
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। (४.३५)
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते। (७.२०)

इसी बुद्धिको व्यवसायात्मिका बुद्धि कहते हैं। व्यापारी लोग तो व्यापार-बुद्धिको ही व्यवसायात्मिका बुद्धि बोलते हैं। कहते हैं कि वे व्यवसायमें लगे हैं आजकल, माने उनकी कमाई खूब हो रही है। उनकी बुद्धिमें दृढ़ता है, निश्चय है।

लेकिन जिनके जीवनमें निश्चय नहीं है, वे क्या हैं? निश्चय माने निचोड़। तरह-तरहका विचार करके एक निचेड़ पर पहुँच जानेका नाम निश्चय है। चयन क्या है? चय तो मानो चाय है, पत्ते-पत्ते चुन-चुनकर चाय बनायी गयी है। *निचाय्य ते मृत्युमुखात् प्रमुच्यते* (कठ० उप० १.३.१५)—यह निचोड़ है। सम्पूर्ण विचारोंके निचोड़का नाम है निश्चय। यह निश्चयात्मिका बुद्धि है और जहाँ निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं है वहाँ इतनी शाखाएँ फूटती हैं जिनका कहीं पार नहीं मिलता है। इधर जायँ कि उधर जायँ—चार कदम चले, चार कदम लौटे। एक आदमीको बेटेकी जरूरत थी तो वह छः साधुओंके पास जाता था और कहता था कि महाराज हमको बेटा चाहिए, बेटा चाहिए! ईश्वर-कृपासे बेटा तो उसके हो गया, लेकिन उसे यह निश्चय ही न हो कि छहमें किस साधुकी कृपासे हुआ है! यदि उसको निश्चय हो जाता कि वह अमुक साधुकी कृपासे हुआ है तो वह उसकी भेंट-पूजा अवश्य करता लेकिन यहाँ तो निश्चय न होनेसे छहों साधु भेंट पूजासे वंचित हो गये। ये गृहस्थ लोग जो हैं बड़े चतुर होते हैं, वे ऐसे मौकोंपर साफ-साफ ही बोल देते हैं!

एक बात है तो बड़ी भद्दी लेकिन मैं आपको सुना सकता हूँ। क्योंकि मैं फक्कड़ोंमें रहा हूँ। मुझको कोई शर्म-वर्म नहीं आती। जो बुरा काम करते हैं शर्म तो उनको आनी चाहिए, वे तो बुरा काम करते भी जाते हैं और झेंपते भी जाते हैं। हमारे सामनेकी बात है, एक फक्कड़ साधुके पास हम बैठे हुए थे। एक स्त्री अपनी किसी सखी-सहेलीके साथ आयी और पाँव पकड़कर लेट गयी। सहेलीने कहा कि महाराज इसकी गोद भर दो, इसे बेटा चाहिए। वह फक्कड़ साधु बोला कि रातको नौकरसे बेटा माँगती है और दिनमें हमारे पास आयी हो! इसको डण्डा मारकर निकालो यहाँसे। वे साधु बड़े फक्कड़ थे, अन्तर्यामी पुरुष थे, सर्वज्ञ थे। यह मत समझाना कि ईश्वरके अतिरिक्त कोई सर्वज्ञ नहीं होता। यदि ब्रह्म पुरुष सर्वोपाधिके साथ तादात्म्य कर ले तो वह सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञ तो उसका एक विलास है। ब्रह्मज्ञके एक विलासका नाम है—सर्वज्ञ। सर्वरूप उपाधिसे तादात्म्य किया और सर्वज्ञ हुआ। उसको छोड़ दिया तो न सर्वज्ञ रहा, न अल्पज्ञ रहा। वह उपाधि तो ग्रहण की हुई है। इसमें डरने-वरनेकी कोई बात नहीं है।

अब आओ, गीताके इन श्लोकोंपर ध्यान दो। ये बमगोला जैसे ही हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ (४२)
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ (४३)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृचेसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (४४)

पुष्पिता वाणी क्या है ? जैसे पुष्पिता स्त्री सम्भोगके योग्य नहीं होती। पुष्पिता माने रजोधर्मवती। रजस्वला स्त्रीको पुष्पिता बोलते हैं। पुष्पिता कहनेका अभिप्राय यह है कि किसीने आपको मार भी दिया और उसके भीतर जो छिपी बात है उसको सुना भी दिया। वाग्देवी रजस्वला नहीं होती परन्तु यहाँ उसको पुष्पिता कहकर रजस्वला स्त्रीके समान सम्भोगके अयोग्य घोषित कर दिया। वाग्देवी देखनेमें बहुत बढ़िया है पर खाने-वानेमें कुछ नहीं है। जिनके पास ऐसी वाणी है वे वाद-विवाद करनेमें बड़े मीमांसापति होते हैं। कहते हैं कि मुक्ति नामकी कोई चीज ही नहीं है। निर्गुण, अकर्ता, अभोक्ता, निर्विशेष, निर्धर्मक ब्रह्म ही नहीं है। कर्मफलके सिवाय और कोई तत्त्व ही नहीं है। उनमें-से स्वर्ग-लोकको कोई मानते हैं, कोई नहीं मानते। मीमांसाकोंमें भी कोई इन्द्रादि देवताका विग्रह मानते हैं और कोई नहीं मानते हैं। शबर स्वामी और कुमारिल भट्ट दोनों ही देवताओंके विग्रहको नहीं मानते। उनकी दृष्टिमें उनका लोक नहीं है, उनका दिया हुआ फल नहीं है। केवल शब्दोंमें, '*इन्द्रं जुहोमि*' में जो कर्मत्व है, कर्म विभक्ति है, उतना ही देवत्व है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है।

'**वादरताः**' इसका मतलब है कि जितने विद्वान् उतने मत। खण्डदेव आदि मानते हैं, शबर स्वामी आदि नहीं मानते। प्रभाकर गुरुका पन्थ दूसरा है, कुमारिल्ल भट्टका दूसरा है। वे कहते हैं कि देवता हैं ही नहीं। उनके कथनानुसार न ब्रह्म है, न मुक्ति है और न ज्ञान है। '**कामात्मानः**'—उनकी आत्मा ही काममय हो गयी है। उनको यह चाहिए, वह चाहिए। कुछ लोग '**स्वर्गपराः**'—स्वर्गको ही परमतत्त्व मानते हैं। उनकी सारी योजना जन्म, कर्म, फल-प्रद क्रिया-विशेष बहुल भोग-ऐश्वर्य-गतिके प्रति लगी हुई है। '**भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्**'—इस लोकमें भोग, परलोकमें भोग, यहाँ ऐश्वर्य, वहाँ ऐश्वर्य और इससे इनकी बुद्धि मारी गयी है। '**अपहृतचेतसाम् व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते**'। इनको निश्चयात्मिका बुद्धि कहाँसे प्राप्त हो? उनसे कहो कि तुम अमृत और अप्सरामें एक चीज छाँट लो, वह तुमको मिल जायेगी तो उनकी बुद्धि खतम हो जायेगी। एक बार उनका मन कहेगा कि अमृत चाहिए तो दूसरी बार बुद्धि कहेगी कि अप्सरा चाहिए। उनको तो हजारों चीज चाहिए। विमान चाहिए। अप्सरा चाहिए, जवानी चाहिए, अमृत चाहिए। एक निर्णय? नहीं कर सकते वे।

जिनको निश्चयात्मिका बुद्धि प्राप्त नहीं है उनको एकाग्रता नहीं होती। सारी बुद्धियोंको समेटकर एक स्थानपर रख देनेका नाम है समाधि—एक होती है समाधि, एक होती है उपाधि। उपाधिका नाम चाहे कुछ भी रख लो, मायाकी उपाधि रख लो, प्रकृतिकी उपाधि रख लो, अविद्याकी उपाधि रख लो। स्थूल शरीरमें होती है व्याधि, मनमें होती है आधि और जब कारणमें सिमटते हैं तब लगती है समाधि। व्याधि, आधि, समाधि, ये तीनों कहाँ रहती हैं ? उपाधिमें। उपाधिसे उपहित अथवा उपाधिसे अवच्छिन्न अथवा उपाधि-विशिष्ट अथवा निरुपाधिक तत्त्वके साथ व्याधि, आधि, समाधि तीनोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। न सम्बन्ध है न सत्ता है। सत्ता ही नहीं है तो सम्बन्ध कहाँसे होगा ? ये तीनों उपाधिके पेटमें हैं। उपाधिमें समाधि है, उपाधिमें आधि है और उपाधिमें व्याधि है। यह उपाधि क्या है ? अन्यथा उपाधि मानी हो तो जपा-कुसुमवत् है। स्फटिकमें जैसे जपा-कुसुमकी लाली है वैसे यह उपाधि है और अन्यता ख्याति करनी हो तो रज्जुमें सर्पवत् है। यही उपाधिकी बात है।

अब आओ यह देखो—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ (४५)
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ (४६)

हमलोग जब बच्चे थे तब पढ़नेके लिए गीता लेकर बैठते थे ? हमारे साथ तीन-चार मित्र और होते थे। हमलोग शंकरानन्दी, ज्ञानेश्वरी और लोकमान्य तिलक, इन सबको अलग-अलग लेकर बैठ जाते, और एक-एक श्लोकपर किसने क्या कहा है—पढ़ते और पढ़कर मिलान करते।

इस प्रसंगमें एक संस्मरण आपको सुनाता हूँ। एक दिन एक 'बेटीजी' हमारे पास आयीं। बनारस वाली 'बेटीजी' नहीं बड़ौदावाली 'बेटीजी'। वे बल्लभाचार्य श्रीब्रजरत्नलालजीकी पौत्री हैं। अभी तीसके वर्षकी होंगी। उन्होंने भागवतके किसी एक श्लोकका अर्थ पूछा तो मैंने उन्हें सुना दिया। वह आश्चर्यसे बोलीं कि स्वामीजी! यह अर्थ तो किसी टीकामें नहीं है। मैंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—वाह बेटीजी, तुमने इतना गहन अध्ययन किया है भागवतका। सचमुच यह किसी टीकामें नहीं है। जब तुमने सब टीकाएँ पढ़ी हैं तभी तो यह बता सकी कि यह अर्थ किसी टीकामें नहीं है, तुमने सब टीकाएँ नहीं पढ़ी होती तो यह कैसे बोलती ? श्रोता तो सोलहों धान बाइस पसेरी कर देते हैं, उनके लिए भूसा और खली बराबर होते हैं।

अब हम आपको '**त्रैगुण्यविषया वेदाः**'—इसका अर्थ सुनाते हैं। *'त्रयाणां गुणानाम् समाहारः त्रैगुण्यम्। त्रैगुण्यम् अस्ति येषां ते त्रैगुण्याः। ते त्रैगुण्याः अधिकारेण विषया येषाम् ते त्रैगुण्याविषया वेदाः।'* वेद ठीक हैं परन्तु त्रिगुणवान अधिकारीके लिए, त्रैगुण्य-युक्त अधिकारीके लिये वेद हैं, निर्गुण अधिकारीके लिए नहीं हैं। तमोगुणीको रजोगुणमें लेजानेके लिए और रजोगुणीको सत्त्वगुणमें ले जानेके लिए वेद हैं। त्रैगुण्य माने त्रिगुणवाले। त्रिगुणवाले अधिकारी हैं, विषय हैं—वेदके। निर्गुण अधिकारीके लिए वेद नहीं हैं। ससूत्र अधिकारीके लिये हैं, निःसूत्र अधिकारीके लिए नहीं हैं। तीनों धागोंवाले अधिकारियोंके लिए हैं वे—'**त्रैगुण्यविषया वेदाः।**' इसलिए अर्जुन! तुम **निस्त्रैगुण्यो भव**। अर्थात् सत्त्व, रजः, तमःका परित्याग करो। तुम निस्त्रैगुण्य हो जाओ। इससे क्या होगा? निर्द्वन्द्व माने तुमको दुविधा नहीं रहेगी कि यह कर्त्तव्य है, यह अकर्त्तव्य है। और क्या होगा? '**नित्यसत्त्वस्थः**'—परिणामी सत्त्वमें तुम्हारी स्थिति नहीं रहेगी। नित्य सत्त्वमें तुम्हारी स्थिति रहेगी और **निर्योगक्षेम**—न तो किसी प्राप्त सिद्धिकी रक्षा करनी पड़ेगी और न तो अप्राप्त सिद्धिके लिए साधन करना पड़ेगा। न कोई योग होगा और न ही हमारी स्थिति हीन होगी। बोले कि—नहीं-नहीं, स्थिति गिरनेवाली नहीं है। गिरनेवाली स्थितियोंको तो मारो डण्डा! अगर तुमको भागना है, जाना है तो अभी जाओ। यदि तुमको तलाक ही देना है तो तुमसे पहले हम देते हैं। जो चीज हमको छोड़कर दुनियासे जानेवाली है, उसको हम उसके छोड़नेसे पहले छोड़ देते हैं और कोई ऐसी चीज नहीं है जिसको बचाना है। तब आपके पास है क्या? ठनठन गोपाल! बोले कि नहीं आत्मवान्—हम जो हैं। 'हम हैं' इससे बढ़कर हमें और क्या चाहिए?

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।

सर्वतः संप्लुतोदके उदपाने यावानर्थः।—चारों ओर गंगाजल भरा हुआ हो और कोई आदमी प्याऊ पर जल पीनेके लिए जाये तो वह हतभाग्य है न! अरे सब ओर अमृत बह रहा हो और तुम प्याऊपर जाकर कहते हो कि हे पानी पांड़े, हमें चुल्लू भर पानी पिला दो।

तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः। (४३)

किन्तु जो विज्ञानी ब्राह्मण हैं वे ऐसा नहीं करते। '**विजानतः**' माने *विजानाति इति विजानत तस्य*। *'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत विजानतः'*—(ईश उप.) इस उपनिषद्वाक्यमें जो *'विजानतः'* है, वही विजानतः यहाँ है। बिलकुल वही

है। वह तो सर्वत्र एकत्वका दर्शन करता है—'**एकत्वमनुपश्यतः**' उसके लिए तो ब्रह्मके सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है। वह वेदसे चुल्लू भर पानी क्यों माँगेगा। उसको उसका क्या प्रयोजन है?

जब कर्म अपने अधिकारके अनुसार किया जाता है तब वह गुण होता है और अधिकारके विपरीत कर्म करनेपर दोष हो जाता है। गुण और दोषका यही निश्चय है।

किन्तु वेदमें जो सकाम कर्म करनेका विधान है, वह क्या है? कहा गया है—*सर्गकामः यजेत्*—स्वर्गकाम पुरुष पशुयाग करे। बोले कि ठीक है, '**त्रैगुण्यविषया वेदाः**'— जो तमोगुणके अभिमानी रजोगुणके अभिमानी, सत्त्वगुणके अभिमानी पुरुष हैं, वेद उनके लिए पशुयाग विधान करते हैं, लेकिन जो स्वर्गकामी ही नहीं है, उनके लिए पशुयागका विधान क्यों होगा? यहाँ एक अर्थ तो इस प्रकार करते हैं कि '*त्रैगुण्यम् विषयो येषां ते त्रैगुण्यविषयाः।*' तात्पर्य यह कि वेद सत्त्व, रज तम—इन तीन गुणोंका निरूपण करते हैं। लेकिन इससे कुछ वेदकी इज्जत बढ़ती नहीं है। असलमें जैसा कि पहले कहा है कि '*त्रैगुण्यमस्ति येषाम् इति त्रैगुण्या अधिकारिणः, ते योग्य-विषया येषां ते त्रैगुण्यविषयाः*।' जो त्रिगुणके अभिमानी अधिाकारी हैं, उनको वेद सकाम कर्मका आदेश देते हैं। '*त्रैगुण्याः अधिकारिणः विषया येषाम्*'—ऐसा अर्थ करना चाहिए।'**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन**'—इसका आशय यह है कि तुम तामस, राजस, सात्त्विक अधिकारी मत बनो। तुम तो निस्त्रैगुण्य अधिकारी बननेका प्रयास करो, त्रिगुणातीत हो जाओ। क्योंकि जब त्रिगुणातीत हो जाओगे, तो द्वन्द्व नहीं रहेगा। द्वन्द्व क्या है? पाप-पुण्यका द्वन्द्व, राग-द्वेषका द्वन्द्व और सुख दुःखका द्वन्द्व। "*द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वम्*"—जो दो-दो मिलकर रहें, वे द्वन्द्व। द्वन्द्व मिट जानेपर बिलकुल संन्यासी हो जाओगे तुम—निर्द्वन्द्व माने संन्यासी। पति-पत्नी साथ मिलकर रहते हैं, उनका नाम द्वन्द्व होता है। दिनभरमें दो-चार बात हूँ-तू न हो, तो पति-पत्नी कैसे? लेकिन जब अद्वितीय रहते हैं, तब निर्द्वन्द्व हो जाते हैं।

'**नित्य सत्त्वस्थः**'—सत्त्व दो तरहका होता है, एक शान्त और एक वृत्त्यात्मक। जो शान्त सत्त्व होता है, वह नित्य सत्त्व होता है, और जो वृत्तिरूप सत्त्व होता है, वह अनित्य सत्त्व होता है। इसलिए वृत्तियोंके उत्थान-पतनमें न लगकर शान्तिमें बैठे रहो।

'**निर्योगक्षेम आत्मवान्**'—जो नहीं है, उसको पानेके लिए प्रयत्न मत करो। अपने आपमें संतुष्ट रहो। तुम वेदके अधिकारी हो। यदि तुम त्रिगुणाभिमानी होते तो वेद तुमको आज्ञा देता कि यह करो, यह मत करो। यह बात महात्माओंके लिए कही गयी है।

अब एक बात है कि क्या वेदसे कोई प्रयोजन सिद्ध करना है? बोले कि यहाँ तो प्रयोजन-पूर्ति हो गयी —*'हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले?'* अधिकारी न होनेसे वेदाज्ञाकी निवृत्ति हो जाती है, वेदाज्ञाका बाध हो जाता है। प्रयोजन-निवृत्तिसे, शिखा-सूत्र आदिकी निवृत्तिसे, सन्ध्या-वन्दनादि रूप विधिकी निवृत्ति हो जाती है। प्रयोजन-निवृत्ति सन्ध्या-वन्दनादि रूप विधिका बाध हो जाता है। अपने गन्तव्य देशमें पहुँच गये, गन्तव्यकी प्राप्ति हो गयी तो साधनका बाध हो गया। पहलेमें अधिकार-निवृत्तिसे विधि-निवृत्ति और दूसरेमें प्रयोजननिवृत्तिसे विधि-निवृत्ति अब जहाँ देखा वहाँ ब्रह्म, सर्वत्र ब्रह्म-ही ब्रह्म । अब तुम जिस परब्रह्म परमात्माको चाहते थे और वह साक्षात् अपरोक्ष सिद्ध हो गया, तो भी वेदाज्ञाकी निवृत्ति हो गयी '**ब्राह्मणस्य विजानतः।**'

बोले, कि ठीक है महाराज, पर हमको युद्धमें क्यों लगाते हो? इसलिए लगाते हैं भाई, कि न तो तुम्हारी प्रयोजन-पूर्ति हुई और न तुम्हारी अधिकारनिवृत्ति हुई। बाध तीन प्रकारसे होता है—अधिकारनिवृत्तिसे, प्रयोजन-निवृत्तिसे और प्रतिषेधसे। जैसे गृहस्थके लिए ऋतु-गमनकी विधि है, उसमें पाप नहीं है, परन्तु एकादशी, ग्रहण और पर्व आदिकी तिथियाँ प्रतिषिद्ध हैं। इसलिए प्रतिषेध-से भी *'ऋतौ भार्यामुपेयात्'*—इस विधिका बाध हो जाता है। अधिकार-निवृत्तिसे, प्रयोजन-निवृत्तिसे और प्रतिषेधसे त्रिधा बाध हो जाता है। यह मीमांसकोंका सिद्धान्त है। अब बोले कि—

'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**' अर्जुन, तुम प्रेय-प्रेप्सु होते, प्रेय चाहनेवाले होते, तो सकाम कर्ममें तुम्हारा अधिकार होता। तुम कर्मके अधिकारी नहीं हो क्योंकि श्रेय चाहते हो। अब रही बात यह कि तुम्हारी प्रयोजन-पूर्ति हो गयी हो, तुमको ब्रह्मज्ञान हो गया हो, तो वह हुआ नहीं। फिर भी कर्मके अधिकारी तो तुम हो ही। इसलिए जो यह युद्धरूप-कर्म है, वह तुमको करना चाहिए, निष्काम करना चाहिए—जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि हो। सीधी-सीधी बात है कि निष्कामता ही अन्तःकरणकी शुद्धि है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः येऽस्य हृदि श्रिताः अथ मर्त्योऽमृतो भवति।

(कठोप. २.३.१४)

अन्तःकरणमें काम ही अशुद्धि है। कामका बेटा लोभ है, क्रोध है और जिससे कामकी पूर्ति होती है, उसके प्रति मोह हो ही जाता है। यह सब कामका ही विस्तार है।

यद् यद् हि कुरुते किञ्चित् तत् कामस्य चेष्टितम्। (मनु. २.४)

अब आओ, तुम्हारे अधिकारका निर्णय करते हैं—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते**।' कर्मनिष्ठामें तुम्हारा अधिकार है। तो महाराज, फिर सकाम ही कर्म क्यों न करें? पशु-याग करें हम भी? बोले कि ना-ना, '**मा फलेषु कदाचन**' (२.४७)। यदि फल चाहोगे तो तुम प्रेयके इच्छुक, सकाम कर्मके अधिकारी हो जाओगे। लेकिन तुम प्रेयके इच्छुक नहीं हो, इसलिए फलकी बात छोड़ो। जितने भी फल होते हैं, उनमें-से फल निकलते रहते हैं। फलमें-से फल, फलमें-से फल, फलेमें-से फल। फलमें-से बीज निकलता है और बीजमें-से फल निकलता है। यह परम्परा कभी खत्म ही नहीं होती है। यह कोई फल परम फल नहीं है। परम फल वह होता है, जिसमें बीज नहीं रहता है। जिससे बीजकी उत्पत्ति न हो, वह क्या है? सब फलोंका फल वही है, जहाँ सबका पर्यवसान है और पर्यवसान आत्मगामी ही होता है, अन्यगामी कभी कभी होता ही नहीं। अपने आपमें बैठोगे, सब पर्यवसान होगा और दूसरेमें जाकर बैठना चाहोगे तो कभी पर्यवसान नहीं होगा। इसीलिए '**मा फलेषु कदाचन**' में '**फलेषु**' कह दिया। '**फलेषु**' का अर्थ है फल-परम्परा। बहुवचन है न! अर्थ-फल चाहिए, काम-फल चाहिए, धर्म-फल चाहिए। अर्थ-फल बाह्य है, काम-फल मानस है, धर्म-फल विद्विष्ट है, मोक्षफल आत्मा है और आत्माकेअन्दर कुछ नहीं होता—

'अन्यस्मात् सर्वस्मात् अन्तरतरं यद् अयम् आत्मा'। (बृहदा॰ १.४.८)

फल यदि बाहर होगा तो उसका कहीं अन्त नहीं मिलेगा और फलको यदि भीतरसे देखो तो? बाह्य वस्तुका जो आभास-वृत्तिमें प्रतिबिम्ब होता है, उसीको फल बोलते हैं। वही अहंके साथ जुड़ जाता है। आभास भी फल है—बस, ऐसा समझो। परन्तु यह जूठा फल है और जो अविद्या-निवृत्ति उपलक्षित साक्षी है, यह मोक्ष रूप परम फल है।

मा कर्मफलहेतुर्भूः—तुम यदि कर्मफलके कारण बनोगे तो तुम्हें कर्ता-भोक्ता बनना पड़ेगा, फिर पाप भी लगेगा और दुःख भी होगा। क्योंकि कर्ममें पाप और पुण्य दोनों हैं तथा फलमें सुख और दुःख दोनों हैं। यदि तुम उनके हेतु बनोगे माने कर्ता-भोक्ता बनोगे तो पाप-पुण्य, सुख-दुःख—इन दोनोंकी परम्परा नहीं छूटेगी। इसलिए आओ, कर्म छोड़ दो लेकिन '**मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि**'—कर्मत्यागका अधिकार हुए बिना कर्म मत छोड़ना। कर्मत्यागका अधिकार हुए बिना कर्म मत छोड़ना। अकर्मण्य, आलसी, निद्रा, आलस्य प्रमाद-हेतु जो कर्मत्याग है, वह क्या है?

दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्। (१८.८)

जहाँ काय-क्लेश-भयसे कर्मत्याग है, वहाँ अकर्म तो है तामस और सङ्ग है राजस। सङ्ग माने आसक्ति। आपको आसक्ति कहाँ है? बोले कि निकम्मेपनमें। तो सोचो भी मत, किसीसे प्यार भी मत करो और कुछ करो भी मत। फिर हम पत्थर ही क्यों न हुए! आदमी क्यों हुए? तमोगुणका सबसे अधिक प्रत्यक्ष तो पत्थरमें होता है। पत्थर हो गया, वह आदमी काहेको है!

तो फिर कर्म कैसे करें—यह भगवान् अगले श्लोकमें बताते हैं। इसको लोकमान्य तिलकने 'कर्म योगकी चतु:सूत्री' नाम दिया है। इसमें चार बातें हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि संङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ (४८)

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, तुम धनंजय हो। धनंजय अग्निका नाम है। अग्निके जो बहुत सारे नाम हैं, उनमें एक नाम धनंजय है—इसलिए अग्निके समान प्रदीप्त रहो। कभी धुआँ मत बनो, कोयला मत बनो, राख मत बनो। तुम—
अविद्यां जुहोमि स्वाहा। अस्मितां जुहोमि स्वाहा। रागं जुहोमि स्वाहा। द्वेषं जुहोमि स्वाहा। अभिनिवेशं जुहोमि स्वाहा।

इस प्रकार अपने-आपमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशका हवन करके प्रदीप्त निर्धूम अग्निके समान प्रज्वलित हो जाओ। तुम्हारा जो रोना-धोना है, यह धुआँ ही निकल रहा है। कुछ गीलापन है अभी, पक्की लकड़ी नहीं है।

धनंजय, तुम्हारे नामका अर्थ *साधनंजय* भी है। जब नाम ही रखना है, तो उसको सार्थक करो! तुम्हारे इस नाममें, *'सा'* का लोप हो गया, *'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ'*—'सा' वर्णका नाश हो गया और केवल धनंजय नाम हो गया। इसलिए नाम सच करनेके लिए साधनपर विजय प्राप्त करो! कैसे करें? उसके दो उपाय हैं—एक तो **'योगस्थः कुरु कर्माणि'**-योगमें स्थित होकर कर्म करो। साधनबुद्धिसे कर्म करो। यह आवश्यक है। जो भी कर्म करो, अपने साध्य-वस्तुकी उपलब्धिके लिए करो। लक्ष्य वही है। मोटर चाहे दाहिने घुमाओ चाहे बायें घुमाओ, कभी उल्टी भी क्यों न घुमानी पड़े, पर जहाँ पहुँचना है, वह लक्ष्य बना रहे। **'योगस्थः कुरु कर्माणि'**—इसमें **'योगस्थः'** का अर्थ यह नहीं है कि कर्म छोड़ दो। अरे, उपासना भी एक कर्म है, मानस-कर्म है। योग भी एक आभ्यासिक कर्म है। जब दोहराना है, तब कर्म तो अपने आप ही हो गया, अभ्यास माने एक कामको बार-बार दोहरना। अभ्यासिकाका नाम अभ्यास है। पुनः पुनः दोहराना अभ्यास है। यह सात्त्विक है।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं न निगच्छति। (१८.३६)

जो चीज अभ्याससे प्राप्त होती है—चाहे स्मृति हो, चाहे स्थिति हो—वह सात्त्विक ही होती है। वह सिद्ध वस्तु नहीं है। अभ्याससे जिसकी प्राप्ति होती है, वह सिद्ध वस्तु नहीं है। करो, करो, साधन करो, ठीक है। न करो नहीं, करो। और साधन-दृष्टिसे करो, साधन छोड़कर नहीं। परन्तु '**सङ्गं त्यक्त्वा**'-आसक्ति छोड़ दो। जो किसी दूसरेके साथ मिलाये; उसका नाम संग। *संगमनं संगः,* किसीके साथ चिपका देना, इसका नाम संग है। जैसे बहेलिये तिकोनीमें गोंद लगाकर चिड़िया फँसाते हैं, वैसे ही यह त्रिगुण चिपकानेवाला है। '**संगं त्यक्त्वा**'—तुम्हारे पाँव कहीं भी सट न जायें, नहीं तो उड़नेका सामर्थ्य बिल्कुल मिट जायेगा। हमको तो कृपा करके गुरु संन्यासी बनाते हैं। किसी-किसीको तो ईश्वर ही संन्यासकी दीक्षा दे देता है। लेकिन लोग समझते नहीं हैं, रोते हैं कि हाय, ईश्वरने हमको संन्यासी बना दिया। ईश्वरके बनाये संन्यासी लोग रोने लगते हैं और हमलोग खुशी-खुशीसे, हँस-हँसकर संन्यास ग्रहण करते हैं। कई लोग नाम तो अपना रख लेते हैं आनन्द-परक और कहते हैं कि हमारी औरत बहुत खुश है, बेटा बहुत खुश है, बहू कैसी बढ़िया आयी है, किन्तु हम तो मारे गये, संन्यासी हो गये! यह असंगता है। '**संगं त्यक्त्वा,**' सटो मत, तीरकी तरह निकल जाओ। बहादुरीसे निकल जाओ।

भाई यह योग क्या है? बोले, कि समता ही योग है।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

सिद्धि और असिद्धिमें सम हो जाओ, आसक्ति छोड़ दो। योगमें स्थित होकर साधन-बुद्धिसे कर्मका अनुष्ठान करो। यह युद्ध भी तुम्हारा साधन है। लेकिन यह तभी साधन होगा, जब तुम सिद्धि और असिद्धिमें सम हो जाओगे। यह नहीं कि तुम्हें युद्धमें आसक्ति हो जाये और तुम कहो कि हम तो बस लड़ेंगे-ही-लड़ेंगे। आसक्ति चार प्रकारकी होती है; यह बात हमें हमारे गुरुजीने बतायी है। एक तो फलमें आसक्ति होती है—जैसे युद्ध करनेके बाद हमको राज्य मिलेगा। दूसरी आसक्ति होती है कर्मासक्ति—जैसे सेनापतिने हुक्म दे दिया कि युद्ध बन्द करो लेकिन बोले कि देने दो हुक्म, हम तो मारे बिना रहेंगे नहीं। तीसरी आसक्ति है कर्तृत्वासक्ति जैसे यह कर्म नहीं करेंगे, पर दूसरा कर्म करेंगे, कुछ-न-कुछ हद तक तो करते ही रहेंगे। यहाँ कर्ममें आसक्ति तो नहीं है, पर कुछ-न-कुछ करते रहनेकी आसक्ति है। एक बनियेको चीजें तौलनेकी आदत थी। वह हो गया साधु। जब कोई उसको भिक्षामें रोटी दे, तो वह उसको हाथपर लेकर तौले कि यह दो तोलेकी होगी, कि एक छटाँककी होगी। इस प्रकार उसको तौलनेकी जो आदत पड़ गयी, वह उसकी कर्तृत्वासक्ति हो गयी। अब जो चौथी आसक्ति है, वह क्या

है ? अकर्त्तापनकी है। किसीने छाती तानी, तो कहा कि क्या है ? मुझमें कर्त्तापन नहीं है ? पीठकी रीढ़ सीधी की, तो कहा कि कर्त्तापन नहीं है ? लेकिन ब्रह्मज्ञानके बिना आत्मामें परिच्छिन्नता रहते हुए जो अकर्तृत्वका अभिमान है, वह अकर्तृत्वासक्ति है, क्योंकि वास्तविक नहीं है। ब्रह्मज्ञानके बिना अपनेको अकर्ता मानना भ्रम है! यह भी दूर होना चाहिए।

किसीने कहा देखो, भाई, यह पतंजलिको पढ़कर आया है। यह कथन लाक्षणिक ही हुआ, क्योंकि वह पतंजलिको पढ़कर नहीं आया, पातंजल दर्शन पढ़कर आया है। यहाँ पतंजलि शब्दसे पतंजलि ऋषिका बोध न होकर उनसे सम्बन्धित दर्शनका बोध हुआ। इसीको लक्षणा वृत्ति बोलते हैं। किन्तु कौन-सी लक्षणा हुई ? जहल्लक्षणा कि अजहल्लक्षणा ? यह 'जहल् लक्षणा' हो गयी। पतंजलि बिलकुल छूट गये और उनके स्थानपर उनका योगदर्शन हो गया। उनका योग क्या है ? *'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः'* (१.२) यदि तुमको समाधिके मार्गमें जाना है, तब तो योगका लक्षण है चित्त-वृत्ति निरोध। किन्तु तुमको गीताके मार्गमें चलना हो, तो युद्ध करते हुए योग होता है—यह योगका लक्षण होना चाहिए। बोले कि युद्ध करते हुए योग! हाँ, गीता कहती है कि '**समत्वं योग उच्यते।**' यहाँ समता योग है, चित्तवृत्ति-निरोध योग नहीं है। नहीं तो, जैसा आसन्न-प्रसंग है, उसकी यहाँ संगति ही नहीं बैठेगी। यहाँ आसन्न-प्रसंग है कि युद्ध करो। अन्यथा वृत्तिनिरोध-रूप योग युद्धभूमिमें कहाँसे आयेगा ? इसलिए प्रसंगके अनुकूल इसका अर्थ होगा। भगवान्‌की यही आकांक्षा है कि आसक्ति छोड़कर युद्ध किया जाये और साधनके रूपमें किया जाये। यह विचित्र है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय (४९)

यहाँ धनंजयका अर्थ है—जो साधनरूप धनका अर्जन करे, जय करे। '**धत्ते इति धनम्**', जो हमारे अन्दर गुणाधान करे, उसका नाम है धन। गुणाधानके साथ-साथ होता है दोषापनयन और हीनांगपूर्ति। जो हमारे अन्दरके दोषोंको मिटा दे, उनके स्थानपर गुणोंको लाकर भर दे और हमारी न्यूनताको परिपूर्ण कर दे। जैसे पसीनेको धो दिया, स्नो लगा लिया और जहाँ कहीं गड्ढा-वड्ढा था, उसका मेक-अप कर दिया। दोषोंको दूर करना, गुणोंका आधान करना और हीनांग-पूर्ति करना—ये तीनों बातें साधनमें होनी चाहिए।

भगवान् बोले कि देखो धनंजय, बुद्धियोग बड़ी चीज है और कर्म उससे बहुत निकृष्ट है—'**दूरेण ह्यवरं कर्म**'—इसका अर्थ है कि कर्म दूरसे निकृष्ट है, पाससे नहीं। भगवान् अर्जुनको कर्म करनेके लिए नहीं कहते, कर्मयोग करनेके लिए

कहते हैं; अर्थात् बुद्धियोग मिश्रित कर्म करनेके लिए कहते हैं, निर्बुद्धि कर्म करनेके लिए नहीं कहते। बुद्धिवादी तो तार्किक हैं, कुतर्की हैं और बुद्धिजीवी बुद्धिको बेचकर जीविका चलाता है। किन्तु बुद्धियोगीको समत्व प्राप्त होता है— **'समत्वं योग उच्यते'**। बुद्धिवादी पृथक् है, बुद्धिजीवी पृथक् है और बुद्धियोगी पृथक् है। हमलोग बुद्धिवादी नहीं हैं और बुद्धिजीवी भी नहीं हैं। हाँ कभी-कभी बुद्धिसे काम चला लेते हैं और जीविकाका उपार्जन भी कर लेते हैं। एक दिनकी बात है, हमलोग नहरके किनारे-किनारे पैदल जा रहे थे। शाम हो गयी। बादल छा गये, बरसात होने लगी। पासमें ही एक गुरुकुल था; हमलोग उसमें चले गये। वहाँ जो व्यवस्थापक अध्यापक थे, वे हमें देखकर चौंक गये और पूछने लगे कि तुम साधु क्यों हुए हो? मैंने कहा कि अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए साधु हुए हैं। बताओ, क्या लक्ष्य है तुम्हारा? मैंने कहा कि वह लक्ष्य तो हमारा व्यक्तिगत है, हम नहीं बतायेंगे। अच्छा, यही बताओ कि लक्ष्य क्या होना चाहिए? इस प्रकारकी बातोंमें खड़े-खड़े आधा घण्टा बीत गया। वे लोग बैठनेके लिए बोलें ही नहीं। इतनेमें प्रिंसिपल आगया; उसने कहा कि ये अतिथि हैं, शामको आये हैं, इनको बैठाओ, खिलाओ, पिलाओ। ये वेदके मन्त्र बोलते हैं, उपनिषद् बोलते हैं, ब्रह्मसूत्र बोलते हैं। साफ-साफ मालूम पड़ता है कि ये पढ़े-लिखे हैं और तुमलोग खड़े-खड़े इनसे कुतर्क कर रहे हो? इस तरह उस दिन बुद्धि बेचनेपर हमें रोटी मिली थी। खुद उन्होंने रोटी बनाकर खिलायी—बहुत बढ़िया! लेकिन उसके पहले अकल बेचनी पड़ी। यह नहीं कि मस्तरामकी तरह जाकर माँग लिया और मिल गया भोजन। नहीं, पण्डिताई दिखानी पड़ी, तब रोटी मिली। उस दिन हमलोग बुद्धिजीवी बन गये। किन्तु जहाँ बुद्धि भी साधन हो जाती है, वहाँ बुद्धियोगी होता है।

देखो, काम-पुरुषार्थ मनमें रहता है और अर्थ-पुरुषार्थ बाह्य पदार्थमें रहता है। किन्तु बुद्धि तो बहुत अन्तरंग है। फिर उसमें धर्मकी जगहपर योग आगया। योग आगया माने समता आगयी। कर्म बहुत पीछे छूट गये। भगवान्‌ने कहा कि यह अर्जुन ऐसे माननेवाला नहीं है। इसलिए बोले कि अर्जुन, बुद्धिकी शरण ग्रहण करो—**'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'** (२.४९)। इसके बाद आगे चलकर अन्तमें कहा— **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८.६६)। पहले यही कहा कि जरा बुद्धिसे विचार करो। क्योंकि बुद्धि है सारथि। भगवान्‌का आशय यही है कि ***'बुद्धौ सारथौ मयि शरणमन्विच्छ'*** बुद्धि तो मैं हूँ, तेरा सारथि, इसलिए मेरी शरणमें आजाओ। बात यह है कि अर्जुनको अक्ल ही सूझती थी, भगवान् नहीं सूझते थे, इसलिए भगवान्‌ने अक्लकी ही बात की और कहा कि 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'। यहाँ बुद्धि माने

भगवान् ही है और '**शरणम्**' माने भी भगवान् ही है, जैसे '**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्**' (९.१८)। मतलब यह कि शरणस्वरूप जो प्रभु है, उनको बुद्धिमें जोड़ो। '**अन्विच्छ**' माने '*अन्वेष्टव्यः*'। श्रुतिमें आता ही है कि '*स अन्वेष्टव्यः, स जिज्ञासितव्यः*' (छान्दोग्य० ८.७.१)। '**कृपणाः फलहेतवः**'-कृपण कौन है? अपने कल्याणको अपने हाथसे काटनेवाला। अरे, अपनेको तो जानते नहीं हैं और फल लेने जा रहे हैं। सब फलोंका जो फल है, वह तो तुम हो। तुम्हींसे फलकी सिद्धि होती है। फल किसको मिलता है? किसीको मिलता है न फल! अगर वह न हो तो फल किस काम आयेगा? जब खानेवाला ही नदारद, तो फलका क्या उपयोग!

कृपण माने मूर्ख, कृपण माने अज्ञानी। कौन-सा अज्ञानी? जो अपनेको नहीं जानता। वह अनात्माको पकड़कर बैठा है। उसने मुट्ठी बाँध ली है। किसकी? अनात्माकी। कृपण माने मक्खीचूस। कृपण माने सूमड़ा। कृपण माने जो अनात्माको छोड़नेके लिए तैयार नहीं है। जिसको बार-बार कहते हैं कि भाई, नेति-नेति; छोड़-छोड़! लेकिन जो कहता है कि नहीं, हम तो पकड़ेंगे, उसीका नाम है कृपण।

एक बार हमलोग वृन्दावनमें हाथी बाबाके साथ बैठे थे। वहाँ एक व्यापारी सज्जन आये और हमसे पूछने लगे कि राम-राम कहनेसे क्या फायदा है जी? हाथी बाबा बड़े बूढ़े थे। फक्कड़ी भाषामें बोलते थे। मैं तो रहा चुप और वे बोले कि यह साला बनिया है क्या? बनिया माने कोई जाति नहीं; जो हर बातमें फायदा सोचे कि हम बाबाजीको एक रुपया देंगे, तो हमको दस रुपयेका फायदा होगा; वह बनिया है।

एक हमारे मित्र हैं। उनके घर एक साधु आये तो उन्होंने उनको एक रुपया दिया। उस दिन उनके व्यापारमें एक पैसेकी भी आमदनी नहीं हुई। इसलिए दूसरी बार जब वे साधु आये, तब उन्होंने नहीं दिया। एक दिन मैं गया उनके घरमें, तो हजारों रुपयेकी आमदनी उनको हो गयी। उसके बाद तो समझो कि हमारा हिस्सा ही बन गया उनकी आमदनीमें।

देखो, यह जो मैं दृष्टान्त देता हूँ, उसको आप किसी व्यक्ति-विशेषपर मत लेना। यह मत समझना कि ये हमारे या अमुकके ऊपर आक्षेप करते हैं। मैं अपना ही नाम ले लूँ, तो उसको भी सच मत समझना। वहाँ तो तात्पर्य-दृष्टिसे ही दृष्टान्त, अर्थ समझना चाहिए। बुद्धिमान् कृपण नहीं होता और बुद्धिमान् 'फलहेतु' नहीं होता। यह बुद्धिका लक्षण है। अब भगवान् आगे क्या कहते हैं, यह देखो—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। (५०)

पाप और पुण्य दोनोंको छोड़नेका उपाय कहाँ है? सकाम कर्मसे ही पाप होता है

और सकाम-निष्काम दोनों कर्मोंसे पुण्य होता है। पुण्यका अर्थ होता है कि हमारे अन्तःकरणमें जो मैल लगा है, उसको वह धो दे। लौकिक वासनाको धोनेके लिए पारलौकिक वासना होती है। श्राद्ध भी पुण्य है, पर कैसे ? एक अनजान आदमी या बच्चा जब देखता है कि मेरे मरे हुए बाबाका श्राद्ध हो रहा है, तो उसके मनमें आता है कि बाबा कहीं हैं, इसलिए श्राद्ध हो रहा है। श्राद्ध देहातिरिक्त आत्मापर श्रद्धा उत्पन्न करता है। देहातिरिक्त आत्मापर श्रद्धा उत्पन्न करनेके कारण यह श्रद्धा-सम्पत्ति ही पुण्य है। देवता लोग कर्ममें रहते हैं। ऐसे लोकमें भी देवता लोग रहते हैं, जहाँ हम नहीं रहते हैं। देहातिरिक्त माने बिना देहके। देवपूजासे इन्द्रियोंमें शक्ति बढ़ती है, ऋषिपूजासे ज्ञानकी वृद्धि होती है, मूर्तिपूजासे सर्वत्र भगवद्‌भाव होता है और अवतारसे भगवान्‌के वात्सल्यपर, कारुण्यपर आस्था बनती है। यह सनातन धर्मकी जो एक-एक बात है, वह सर्व-पुण्य है और अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाली है। लेकिन उस पुण्यका मुँह यदि मोड़ दिया जाये स्वर्गकी ओर, पुत्र-प्राप्तिकी ओर, धन-प्राप्तिकी ओर, तो ? वही स्थिति होगी, जो मोटरका मुँह गड्‌ढेकी ओर मोड़ देनेपर होती है। '**सुकृत-दुष्कृते**'—इसमें जो दुष्कृत लगा हुआ है, वह नीचे ले जाता है। दुष्कृत वह है, जो भगवान्‌से विमुख करे। इस सम्बन्धमें गीताकी जो परिभाषा है, उसे हम आपको सुना देते हैं। गीता दुष्कृत और सुकृत दोनोंके लक्षण इस प्रकार बनाती हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः (७.१५)

× × ×

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन (७.१६)

अर्थात् सुकृत वह है, जो भगवान्‌की ओर ले चले और दुष्कृत वह है, जो भगवान्‌से विमुख कर दे। सुकृत-दुष्कृत दोनोंमें कृत है।'*यद् कृतकं तद् अनित्यम्*' यह तो ठीक है; लेकिन बुद्धि वह है, सुकृत और दुष्कृत दोनोंको लोकमें छोड़ दे—'**जहातीह।**' इनको आत्माके साथ मत जोड़ो, यहीं रहने दो। इसी जीवनमें, इसी लोकमें पाप और पुण्यसे मुक्तिका उपाय क्या है ? बोले कि बुद्धियोगी बन जाओ। सांख्यकी बुद्धि, स्थितिकी बुद्धि—यह वस्तुतन्त्र बुद्धि है और योगबुद्धि कर्तृतन्त्र बुद्धि है; योग माने कर्तृतन्त्र। वह धर्म हो, योग हो या उपासना हो—इससे मतलब नहीं। कर्ता जिसको कर सकता है, उस कर्तृतन्त्र उपायका नाम योग है। यदि कहो कि सांख्य कौन है ? तो, वह जैसा है, वैसा ही है; उसको बनाना नहीं है। अकृत्रिम वस्तुके बोधका नाम सांख्य है। सांख्यबुद्धि माने वस्तुतन्त्र बुद्धि, और योगबुद्धि माने कर्तृतन्त्र बुद्धि। कर्तृतन्त्रसे साध्यकी उत्पत्ति होती है और वस्तुतन्त्रसे सिद्धका अनुभव होता है। यह दोनोंका विभाग है सीधा-सीधा।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् (५०)

इसलिए अर्जुन, योगमें जुड़ जाओ। '**युज्यस्व**' का अर्थ है कि जैसे बैलके कन्धेपर जुआ रखा जाता है और वे गाड़ी या हलसे जुड़ जाते हैं, वैसे ही तुम योगसे जुड़ जाओ। '**कर्मसु कौशलम्**'—ऐसे कौशलसे जुआ रखो कि तुम्हारा कंधा न छिल जाये और तुम्हारे ऊपर बोझ न आवे। '**योगाय युज्यस्व**'। '**युज्यस्व**'—जुड़ो, सामने जुड़ो।

हम लोग जब बच्चे थे, तब हमारे घरोंमें जो लकड़ीके चौखट या खम्भे होते थे, उनमें तारकोल लगाये जाते थे। वही तारकोल, जो सड़कपर पोता जाता है। हम लोगोंका एक खेल था कि आओ, पचास दफे दरवाजेमें घुसें और देखें कि कौन ऐसा है, जिसको यह तारकोल नहीं लगता है। इसी तरह जिन खेतोंमें-से अरहरकी, बाजरेकी, ज्वारकी फसल काट ली गयी होती थी, उनमें हम लोग होड़ लगाकर दौड़ते थे कि हमारे पाँवोंमें खूँटी नहीं गड़नी चाहिए। दौड़ेंगे खूँटीमें, पर खूँटी नहीं गड़ेंगी। निकलेंगे तारकोलमें-से लेकिन दाग नहीं लगेगा शरीरमें। यही बुद्धिमत्ता है कि पाप-पुण्य अपने साथ जुड़ें नहीं। वे नरक-स्वर्गमें ले न जायें, नीचे गिरावें नहीं, आसमानमें उड़ावें नहीं और हम ऐसे बुद्धिमान् हों कि उन्हें चीरकर, फाड़कर निकल जायें। यह कौशल है।

कौशल कुशलताका भाव है। कुशल कौन है? ब्रह्मणोंको यह बात ज्यादा मालूम है। भाद्रपद शुक्ल अमावस्याका नाम कुशोत्पाटनी अमावस्या है। उस दिन ब्राह्मण लोग सालभरके लिए कुश उखाड़कर रखते हैं। उसमें जो अंकुर होता है, वह काँटेकी तरह होता है, पत्ते तलवारकी तरह होते हैं। उसको उखाड़नेमें जरा-सी असावधानी हो, तो हाथ फट जायें। इसलिए ब्राह्मण लोग उसे बड़े कौशलसे उखाड़ते हैं। उसके सारे पत्तोंको समेटकर जड़में हाथ लगाकर एक ही बारमें उखाड़ना पड़ता है। कुशाको काटते नहीं हैं, उखाड़ लेते हैं। इसलिए उनका नाम होता है *'कुशलाः कुशान् लान्ति।'* वे बड़े चतुर होते हैं। पत्ता न गड़े, अंकुर न गड़े और कुशको उखाड़ लें जड़से।

कौशल माने यह है कि कर्म करो, और कर्मकी जड़ उखाड़ फेंको। जड़ तक उखाड़ लो और कर्म लगे नहीं। न पाप लगे, न पुण्य लगे। ऐसे कौशलसे कर्म करो कि कर्मकी जड़ वासना उखड़ जाये और वासनाके साथ-साथ उसके मूलमें जो अज्ञान है, वह भी दूर हो जाये।

देखो, बुद्धियोगकी महिमा है यह सारी-की-सारी! पहले बताया कि यदि फल चाहते हो तो तुम बुद्धियोगी ही नहीं हो। फलकी बात कहनेके बाद कह दिया

कि अगर पाप-पुण्य तुमको लगता है, तब भी तुम बुद्धियोगी नहीं हो। पाप-पुण्यसे भी छूटो। अब बोले कि कर्मका फल, सुख-दुःख भी तुम्हें नहीं लगे, तब तुम्हारी अकलकी तारीफ है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामनम्॥ (५१)

कर्म करो, परन्तु सावधान! बुद्धि खोकर कर्म मत करो। बुद्धि खो देनेसे क्या होगा? उसका फल लग जायेगा तुमको। सुख-दुःख हो जायेगा, बात-बातमें सुखी, बात-बातमें दुःखी। महाभारतमें मूर्खका लक्षण बताया है। उस लक्षणको आप लोग अपनेमें कभी घटाना नहीं; लेकिन हम आपकी जानकारीके लिए बोल देते हैं—

शोकस्थान-सहस्राणि भयस्थान-शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥ (स्वर्गारोहणपर्व ५)

इसको भारत-सावित्री बोलते हें। महाभारतकी गायत्री है यह। मूढ़के जीवनमें प्रतिदिन हजार बार शोक आता है और हजार बार भय आता है, लेकिन *'पण्डितं नाविशन्ति'*—पण्डितकी पहचान यह है कि उसको न शोक लगता है और न भय लगता है। यही बुद्धियोग है। हम गीताको न ज्ञानयोग बोलते हैं, न भक्तियोग बोलते हैं और न कर्मयोग बोलते हैं। हम तो इसको बुद्धियोग बोलते हैं। आप जहाँ कहो, वहाँसे बुद्धियोग बता दें। यह जीते-जागते हुए आदमीके लिए है, होश-हवाशमें रहते हुए आदमीके लिए है। गीता बुद्धिको मारकर अपना काम नहीं करती, बुद्धिको रखकर अपना काम करती है। वेदान्त निर्वृत्तिकवादी नहीं है, बुद्धिवादी है। भक्तिमें परमात्मा सविशेष है। सविशेष वृत्तिवादी है और ब्रह्म निर्विशेष है; इसलिए निर्विशेष वृत्तिवादी है। सविशेष निर्विशेषमें क्या फर्क हुआ? सविशेषमें वृत्तिका आकार एक ही होगा और निर्विशेषमें वृत्तिका आकार चाहे कुछ भी हो, उसमें अनुस्यूत जो निर्विशेष है, अधिष्ठान है, स्वप्रकाश है, वह एक ही होगा। वृत्तिके आकारका आग्रह होगा भक्तिमें और वृत्तिकी शान्तिका आग्रह होगा योगमें, किन्तु वेदान्तमें, वृत्तिके आकारका आग्रह नहीं होगा। इसलिए *'तुरीयं त्रिषु संततम्'* (भागवत ११.२५.२०) जाग्रत हो, स्वप्न हो, सुषुप्ति हो, केवल अविद्याकी निवृत्तिके लिए निर्विशेष ब्रह्माकार वृत्ति अपेक्षित है। नहीं तो, सब वृत्ति निर्विशेष ही है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अब कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। (५१)

मनीषा माने मनकी प्रेरिका। हमारे यहाँ खेत जोतनेके लिए जो हल होता है, उसको बोलते हैं 'हरीषा'। इसलिए जैसे हरीषा-हलीषा है, वैसे ही मनको प्रेरणा देनेवाला

मनीषा है। *'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः'* (केन उप० १.१) इसमें जो ईषितं है, वही ईषा है। कहते हैं कि मनकी प्रेरिका बुद्धि है, इसलिए बुद्धिसे युक्त रहो। कर्मसे होनेवाले फलको छोड़ते जाओ। अगर तुम फलको छोड़ देते हो, तो जन्म और बन्धन मिट जायेंगे। **'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः**—(२.५१) ऐसे कहो कि जन्म ही बन्धन है। जन्म होगा तो जीवन होगा और जीवन होगा, तो मृत्यु होगी। यही बन्धन है। यदि नैरुक्त व्युत्पत्तिसे बन्धु और धन दोनोंको संक्षिप्त कर दो, तो वह शब्द क्या बनेगा? बन्धन बनेगा। ये जो प्रिय बन्धु हैं और धन है, यही बन्धनके हेतु हैं। इसलिए धन माने जड़ और सम्बन्धी—इन दोनोंको एकमें मिला दें; अपने साथ रखें, तो उसका नाम हो जायेगा बन्धन! इसी तरह बन्धु तथा धन जोड़ो और दोनोंको छोड़ दो, तो हो गया निर्बन्धन।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्। (५१)

अनामय माने रोग-विनिर्मुक्त। 'आमय' शब्द रोगशोकका वाचक है। आमय माने रोग और रोग माने भवरोग। अनामय कहाँ रहता है? अरे वह तो आपके पाँवमें रहता है—**'पदंगच्छन्त्यनामयम्'**। आपके चरणोंमें लोटता है आरोग्य।

पदं व्यवसितित्राण-स्थान-लक्ष्मादि-वस्तुषु। (अमरकोश ३.३.९३)

यह पद, जिसको आप पाना चाहते हैं, जिसपर आप बैठना चाहते हैं, जो आप होना चाहते हैं; वह कहाँ है? अरे, वह तो आपके चरणोंमें है। उसके लिए कदम उठाकर कहीं जानेकी जरूरत नहीं है। आपको कोई रोग-राग नहीं है।

अब बुद्धिकी दो बातें और बताते हैं। हम बुद्धियोगी हैं—यह बात कैसे समझें? बोले कि—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। (५२)

आपकी बुद्धि मोहके दलदलमें फँसी हुई है कि नहीं? एक था साधु, बड़ा त्यागी, बड़ा विरक्त। एक राजाकी श्रद्धा उसपर हो गयी। राजाने कहा कि महाराज, हमारे बगीचेमें रहो। साधु वहाँ जाकर टिक गया। राजाने कहा कि महाराज, हम बिस्तरपर सोते हैं और आप चटाईपर सोते हैं, यह उचित नहीं। उसके बाद राजाकी आज्ञासे बिस्तर भी आ गया, पलंग भी आगयी, पंखा भी लग गया। खान-पानका भी अच्छा प्रबन्ध हो गया। अब राजाने सोचा कि जैसा मैं, वैसा यह साधु। फिर एक दिन पूछ बैठा, महाराज, मुझमें और आपमें क्या फर्क है? साधु पहले तो टाल गये; वे बड़े अच्छे महात्मा थे। थोड़ी देरके बाद बोले कि चलो राजा, जरा टहल आयें। दोनों टहलनेके लिए निकले। नदीका किनारा था; एक मील, दो मील, तीन मील,

चार मील चलते गये। मार्गमें बड़े भारी ज्ञानकी चर्चा होती रही। राजाने कहा कि महाराज, बहुत दूर आगये, अब लौट चलिये! महात्मा बोले कि चलो, अभी दो-चार मील और चलेंगे। दोनों चलते गये। राजा थककर बोले कि अब लौट चलिये महाराज! महात्माने कहा कि लौटनेकी क्या जरूरत है? आओ गंगा-किनारे-किनारे चले चलें! गंगोत्रीतक हो आयें। राजाने कहा कि महाराज, मैं कैसे जा सकता हूँ? महात्मा बोले कि अच्छा राजा, अब तुम खुश रहो! खुश रहो अहले-वतन! मैं तो जाता हूँ गंगोत्री।

तो हम मोह-कलिलमें, मोहके दलदलमें फँसे हुए हैं। हमसे पाँच रुपये, पाँच पैसे तो छूट नहीं पाते हैं लेकिन '**मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति**'—बुद्धि जिसका विशेष अतितरण कर जाये, वह मोहके कलिलमें नहीं फँसता। यदि कहो कि इसकी पहचान क्या है? इसकी पहचान यह है कि जो अबतक सुना है और जो आगे सुनना बाकी है, उसको याद रखनेकी जरूरत नहीं है—*'येनाश्रुतं श्रुतं भवति।* (छान्दोग्य ६.३.६) जो प्रयोजन था, वह पूरा हो गया। फिर सुने हुएको याद रखनेकी जरूरत नहीं है। वह तो बड़ाभारी बोझा है। अगर इस बातको गाँठ बाँध लोगे, तो मरनेके समय ग्लानि हो जायेगी कि हमको तो सब भूल गया और भूले बिना मरना होगा नहीं। इसलिए अन्तमें भूलना ही है तो जो सुना है, उसको भूल जाने दो और *'श्रोतव्यश्च'*—आगे यह सुनना है, वह सुनना है—यह भी छोड़ो। निर्वेद माने वैराग्य; यह शान्त रसका स्थायी भाव है। जिसके मनमें निर्वेद होता है, उसके हृदयमें शान्त रसका उदय होता है। फिर उसको यह सुना था और यह सुनना है—इसका न भूत लगता है और न भविष्य सूझता है। योगवासिष्ठमें आया है—

भविष्यन्नानुसन्धत्ते नातीतं चिन्तयत्यसौ।
वर्तमाननिमेषन्तु हसन्नेवातिवर्तते॥

अर्थात् भविष्यका अनुसन्धान नहीं और जो बीत गया, उसकी चिन्ता नहीं। हमारा तो वर्तमान निमेष हाथमें बीतता है और हँसते हुए बीतता है, खेलते हुए बीतता है। अब एक बात और बताते हैं भगवान्।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। (५३)

हमारी जान-पहचानके एक ब्रह्मचारी थे। उन्होंने अपने पास बीस महात्माओंकी तसबीरें रख छोड़ी थीं। मैंने पूछा कि ब्रह्मचारीजी, यह सब क्या है? बोले कि ये सब हमारे गुरु हैं। मैंने कहा कि अच्छा, दत्तात्रेयके चौबीस गुरु थे, आपके तो अभी बीस ही हैं! वे बोले कि जब मैं ध्यान करने बैठता हूँ, तब ये बीसों आकर सामने

खड़े हो जाते हैं। मैं सोचता हूँ कि कहीं कोई नाराज न हो जाये, इसलिए मैंने सबके चित्र रख लिये हैं। लेकिन मैंने इतने गुरु बनाये हैं कि अब समाधि तो होती नहीं, विक्षेप ही होता है।

तो **श्रुतिविप्रतिपन्ना**—तरह-तरहकी बात सुनते-सुनते, बुद्धि विप्रतिपन्न हो गयी है। श्रुति माने साधारण श्रवण। हमने विशिष्टाद्वैतकी श्रुति सुनी, द्वैतकी श्रुति सुनी, अद्वैतकी श्रुति सुनी। लेकिन मीमांसा तो की नहीं, समन्वय किया नहीं, *तत्तुसमन्वयात्* (ब्रह्मसूत्र १.१.४) पढ़ा नहीं, *'गतिसामान्यात्'* (ब्रह्मसूत्र १.१.१०) का ज्ञान नहीं और बुद्धि किसी निश्चयपर पहुँची नहीं, डाँवाडोल हो गयी। अरे, पहले एक बात सुनकर उसका साक्षात्कार तो कर लो, अज्ञानको निवृत्त तो कर लो। तरह-तरहकी बातोंको सुनते तो हैं कान, लेकिन ये कुछ पकड़ते नहीं और इनके रास्तेसे घुसकर बुद्धि विप्रतिपन्न हो जाती है। कोई प्रतिपत्ति ही नहीं होती, कुछ ग्रहण ही नहीं होता और ग्रहणकी सामर्थ्य ही खो जाती है। इसलिए बुद्धि जब निश्चल होगी—**'स्थास्यति निश्चला'** और समाधिमें स्थित होगी, तब परमात्माका अनुभव होगा। समाधि माने परमात्मा। *'सम्यक् आधीयते अस्मिन् सर्वम् इति समाधिः'*। समाधि शब्द संस्कृत भाषामें पुल्लिंग है। आधि, व्याधि, समाधि, उपाधि—ये सब शब्द पुल्लिंग हैं। जब बुद्धि समाधिरूप परमात्मामें अचल हो जाती है, तब वह अपने आश्रयको छोड़कर विषयकी ओर नहीं भागती, विषयका मूल्याङ्कन नहीं करती।

देखो, बुद्धि कहीं जाती-आती नहीं है। यह कहना कि हमारा मन तो कलकत्ते चला गया—ठीक नहीं है। अरे, तुम्हारा मन तो तुम्हारे कलेजेमें है, वह कलकत्ता कहाँ गया? तब क्या हुआ? क्या कलकत्ता तुम्हारे मनमें आगया? अरे, वह तो वहीं है, जहाँ-का-तहाँ है। कलकत्ता कलकत्तामें है और तुम्हारा मन तुम्हारे पास है। फिर क्या हुआ? हुआ कुछ नहीं है, बुद्धि कल्पित कलकत्ताकार हो गयी है।

तो, जब **'समाधावचला'**—बुद्धि अचल हो जायेगी, तब **'तदा योगमवाप्स्यसि'**—समता मिलेगी। योग माने समता। अब बोले कि अच्छा, यह व्यक्ति समाधिस्थ हो गया—इसकी क्या पहचान है? एक सज्जन हमारे पास थे और कभी-कभी कोई प्रश्न किया करते थे। जब हम उनको जवाब देते, तब कहते कि हमने तो इस आशयसे यह प्रश्न किया था। अरे भाई, आशय रखकर प्रश्न मत करो। प्रश्न करना हो, तो साफ-साफ करो और उसका साफ-साफ जवाब लो। यदि आशय छिपाकर प्रश्न करोगे, तो उस प्रश्नमें छल आजायेगा, कपट आजायेगा। जिज्ञासु आशयवान् नहीं होता, वह तो अपने दिलकी तकलीफ साफ-साफ शब्दोंमें

अपने गुरुके सामने रखता है। हमने इस आशयसे यह किया, इस आशयसे वह किया—इससे काम नहीं बनता। तुम्हारा आशय समझनेके लिए पूर्व-मीमांसा-उत्तर-मीमांसाका अध्ययन किया जायेगा, तब तुम्हारा प्रश्न समझमें आवेगा।

अब अर्जुन पूछते हैं कि '**स्थितप्रज्ञस्य का भाषा**' स्थितप्रज्ञकी भाषा क्या है? यहाँ उन्होंने प्रज्ञा शब्द कहा। असलमें भगवान्‌ने पहले '**प्रज्ञावादांश्च**' भाषसे कहा था और अन्तमें कह दिया था कि—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ (६७)

प्रज्ञा यहाँ भी कह दिया और बीचमें बुद्धिकी झड़ी लगाते हुए कहते हैं कि बुद्धि स्थिर व्यवसायात्मिका होनी चाहिए, निश्चयात्मिका होनी चाहिए; अर्थात् बुद्धि चरमावस्थामें होनी चाहिए, प्रथमावस्थामें नहीं होनी चाहिए। बुद्धि अपरिपक्व नहीं होनी चाहिए। व्यवसायात्मिका बुद्धि मानेअपरिपक्व बुद्धि। गुड़ पक गया कि नहीं—देख लो! बुद्धि पकी है या कच्ची है—इसका निरीक्षण कर लो।

काशीमें एक महात्मा थे। वे रोज गंगा-स्नानके लिए जाते थे। रास्तेमें एक वेश्याका घर था। वह पूछती थी कि महात्माजी, कच्चे हो कि पक्के हो? तुम्हारी दाढ़ी कच्ची है कि पक्की है? वेश्याकी बात अनसुनी करके महात्मा चले जाते, जवाब नहीं देते। लेकिन वह रोज पूछती कि महात्माजी, कच्ची कि पक्की? एक दिन उस महात्माकी मृत्यु हो गयी। लोग उत्सव मनाने लगे, क्योंकि अन्य लोग तो मरकर पता नहीं स्वर्गमें जाते हैं या नरकमें जाते हैं किन्तु महात्मा तो निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं; इसलिए उनकी मृत्युसे बड़ा महोत्सव और क्या हो सकता है? उस वेश्याने देखा तो पूछा कि कौन मर गया? लोगोंने कहा कि वही महात्मा हैं। वेश्याने कहा कि अरे, बिना जवाब दिये मर गये! उन्होंने मेरे प्रश्नका उत्तर नहीं दिया। कहते हैं कि वेश्याके यह कहनेपर महात्माका मुर्दा उठकर बैठ गया और वे बोले कि देख, मैं अपनी दाढ़ीपर हाथ फेरता हूँ! यह पक्की है, कच्ची नहीं है। इसके बाद महात्माका मुर्दा फिर मुर्दा हो गया!

तो बुद्धि पक्की होनी चाहिए। कैसी? स्थितप्रज्ञकी तरह। स्थित-प्रज्ञ माने जिसकी प्रज्ञा, समझ, अकल, मुस्तकिल हो। कायम-मुकाम नहीं, स्थानापन्न नहीं, बिलकुल मुस्तकिल, अपनी जगहपर बैठी हुई। अर्जुनने पूछा कि स्थितप्रज्ञका लक्षण क्या है? उसकी भाषा माने परिभाषा क्या है? प्रज्ञा दो तरहकी होती है, एक समाधिस्थकी प्रज्ञा और दूसरी स्थितधीकी प्रज्ञा। मधुसूदनीमें दो विभाग कर दिये

गये हैं। शेष टीकाकारोंने एक ही विभाग रखा है, दो नहीं किया। जब स्थितप्रज्ञ समाधिमें होता है, तब कैसा होता है और व्यवहारमें होता है, तब कैसा होता है? **'स्थितधीः किं प्रभाषेत'**—स्थितधी व्याख्यान कैसा देता है? उसका प्रवचन कैसा होता है?

भववारिधि मृगतृखा समाना। अनुदिन यह भाखत नहिं आना॥

यह जो संसारका समुद्र है, मृगतृष्णाके जलके समान निस्सार है। वह जगत्का मूल्यांकन नहीं करता है। जगत्के मूल्यांकनमें राग-द्वेषकी वृद्धि होती है। यह कम मूल्यका है, यह अधिक मूल्यका है! सपनेका हाथी और सपनेका सूअर, किसकी कीमत ज्यादा है? दोनों सपनेके हैं, फिर उनकी क्या कीमत है? अर्जुन आगे पूछता है कि **'किमासीत'** स्थितप्रज्ञ बैठता कैसे है? और **'व्रजेत किम्'** व्यवहार कैसा करता है? संस्कृतमें *'व्रजेत'* शब्दका अर्थ व्यवहार है।

यह है सीधा-साधा प्रश्न अर्जुनका। उसमें छल-कपट नहीं है। जो अपने गुरुजीको ही पढ़ाने लगे कि हमारा यह आशय था, हमारा यह अभिप्राय था, वह जिज्ञासु कैसा? अरे, तुम तो गुरुजीके अभिप्रायको समझनेकी कोशिश करो। जब गुरुजीको ही तुम्हारा अभिप्राय समझना पड़े, तब तो बस हो चुका ज्ञान। इसलिए जिज्ञासुको अर्जुनकी तरह सीधे-सीधे बोलना चाहिए।

'श्रीभगवानुवाच'—यह भगवान्का वचन है। **'उवाच'**में जो लिट् लकार है, उसका अर्थ विवक्षित नहीं है। भगवान्ने कहा—यह मतलब नहीं है; भगवान् कह रहे हैं—यह मतलब है। यह भगवान्का वचन है। संजय कहते हैं कि हम आगे जो बोल रहे हैं, वह हम नहीं बोल रहे हैं, यह तो भगवान्का वचन है और मैं उसीको बोल रहा हूँ। यहाँ भूतकालिक क्रिया विवक्षित नहीं है, केवल वचनमात्र विवक्षित है। *'भगवद्-वचनम् इति अर्थः'*—यह भगवान्का वचन है। **'श्रीभगवानुवाच'**—यह भगवान् विशेषण-ही-विशेषण है, विशेष्य तो यहाँ कुछ है ही नहीं। भगवान् विशेषण है, विशेष्य नहीं है। जैसे पुरुषके साथ 'समाधिवान्, धनवान्, मतिवान्' आदि विशेषण लगते हैं, वैसे भगवान्के साथ विशेषण नहीं लगते। वहाँ तो—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम् आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः। (२९)

यह स्थिति है? यह भगवान् कौन हैं? ये तो कोई अनिवर्चनीय हैं महाराज! जहाँ विशेष्य गायब है, केवल विशेषण है, विशिष्टका कहीं पता ही नहीं है। किसीने उन्हें देखा ही नहीं है शायद। प्राचीन ग्रन्थोंमें जहाँ-जहाँ भगवान् शब्दका प्रयोग है वहाँ-वहाँ विशेषणके रूपमें ही है। आदरके लिए विशिष्टका नाम नहीं लेते हैं।

जैसे, श्रीमान्ने कहा—ऐसा बोलते हैं, इसी तरह यहाँ संजय कहते हैं कि यह भगवान्का वचन है।

अब देखिये कि भगवान्का वचन क्या है? उन्होंने स्थितप्रज्ञका जो लक्षण बताया है, वह स्थितप्रज्ञोंको क्या सुनाया जाये? यहाँ सब स्थितप्रज्ञ ही स्थितप्रज्ञ तो उपस्थित हैं। फिर भी कुछ चर्चा तो करनी ही है। उसमें पहली बात यह है कि कामका प्रहार स्थितप्रज्ञका बल है। प्रहार माने त्याग। '**प्रजहाति**'का अर्थ है कामका परित्याग। एक कामी पुरुष है। उसको स्त्री चाहिए, स्त्री चाहिए, स्त्री चाहिए। उसकी बुद्धि स्थिर कैसे होगी? इसी तरह किसीको धन चाहिए, धन चाहिए, धन चाहिए। ईमानदारीसे चाहिए। यदि ईमानदारीसे नहीं मिले तो बेईमानीसे चाहिए। यह कामना बुद्धिको स्थिर नहीं रहने देती। इसलिए यदि आप बुद्धिको निश्चयात्मिका बनाना चाहते हैं, तो कामनाका परित्याग कीजिये!

अब देखो, '**मनोगतान् कामान् प्रजहाति**।' कामका सम्बन्ध आत्मासे नहीं है। ये आत्मामें रहते हैं, अनात्माके विषय हैं और स्वयं अनात्मा हैं। अतएव '*न अहं, न मम*'—न काम मैं हूँ, न काम मेरा है और न कामका विषय मेरा है। भला मुझसे कामका क्या रिश्ता? दे दो तलाक कामको। कह दो कि जा-रे-जा, न तू मेरा और न मैं तेरा। इस प्रकार भगवान्ने हेतु वताकर कह दिया कि '**मनोगतान् प्रजहाति**।'

अच्छा, समाधिस्थका क्या लक्षण है? मनमें रहता है काम और मनोवृत्तिका कर लो निरोध, तो समाधिस्थका लक्षण हो गया। '*मनोगतान् अनात्मधर्मान् निश्चयति व्यवहारयति प्रजहाति*'—काम मनमें है, आत्मामें नहीं है—इसका निश्चय करके व्यवहारमें यदि कभी इनकी स्फुरणा भी होती है, तो वे परित्यक्त ही हैं। **मनोगतान्**का यह अर्थ है कि समाधि और व्यवहार दोनोंमें नहीं। काम क्या होता है? '*यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।*'(कठ० २.३.१४)। यह गाँठ है। वृत्ति और विषयकी गाँठका नाम काम है तथा आत्मा और वृत्तिकी गाँठका नाम अज्ञान है। गाँठ तो बिलकुल झूठी है। यहाँ गोस्वामीजीकी गवाही ले लो—

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

तो पहली बात यह है कि काम-त्यागसे बुद्धिमें स्थिरता आती है। अब दूसरी बात क्या है यह देखो!

'**आत्मन्येवात्मना तुष्टः**'—तुम अपने आपमें सन्तुष्ट हो कि नहीं? तुष्टि ढूँढ़नेके लिए कहाँ जाओगे? जहाँ खीर खानेको मिले। उसके लिए किसी गृहस्थके घरमें

भिक्षा माँगने जायेंगे? क्योंकि वहाँ बहुत बढ़िया खीर मिलती है। अरे भगवान्! तुष्टि खीरमें नहीं है, तुष्टि मकानमें नहीं है, तुष्टि बिस्तरमें नहीं है, तुष्टि स्त्रीमें नहीं है, तुष्टि पुत्रमें नहीं है, तुष्टि धनमें नहीं है। फिर कहाँ है? '**आत्मन्येवात्मना तुष्टः**'—अपने आपमें सन्तुष्टि है। अरे भाई, कुछ तो होगा? नहीं, **आत्मनि** माने ब्रह्माकार वृत्तिसे सन्तुष्ट है। नहीं, नहीं आकार-वाकार छोड़ो, '**आत्मन्येव सन्तुष्टः**'—स्वयं-में-स्वयं तुष्ट है। स्वयंमें स्वयंसे सन्तुष्ट हैं, किसी जन्य वृत्तिसे, उत्पाद्य वृत्तिसे सन्तुष्ट नहीं हैं। सो, बुद्धि स्थिर हो गयी। आत्मतुष्टि, आत्मानन्दका अनुभव हो गया। यह बुद्धिको स्थिर करेगा। जो असन्तुष्ट होगा, वह तो कभी मार-धाड़ भी करेगा। जो कामनाके वशवर्ती होगा, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होगी, न्यायसे नहीं मिलेगा तो अन्याय भी करेगा।

तो, पहली बात कामनाका परित्याग और दूसरी बात सन्तोषकी वृत्ति—वह भी आत्मामें, आत्मासे। यह बुद्धिको स्थिर करनेका उपाय है। आपकी अकल स्थिर है कि नहीं? रोज बदलती तो नहीं? *'क्षणे रुष्टाः क्षणे तुष्टाः रुष्टाः तुष्टाः क्षणे क्षणे'*—यह स्थिति तो नहीं है? यह मूड जो है, वह मूढ़ ही है। अब तीसरी बात देखो—

'**स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते**'—इस श्लोकमें जो '**यदा**' है, उसका अर्थ है *'वृत्तिव्याप्तकाले'* और '**तदा**' माने *'अविद्यानिवृत्तिकाले'*। जब वृत्ति-व्याप्ति होती दुःखके बाणपर बाण लगें, तो लगने दो। इषु माने बाण। **दुःखेषु आगमापायिषु**—है और अपनी सन्तुष्टिके लिए दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। अब बुद्धिको बिगाड़े तो कौन बिगाड़े? परिवर्तन करे तो कौन करे? अब आगे विस्तारपूर्वक कहते हैं—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ (५६)

'**दुःखष्वनुद्विग्नमनाः**'—क्या आप यह चाहते हैं कि आपके जीवनमें कोई दुःखका निमित्त ही न आवे? यह सम्भव है कभी? बड़े-बड़े महात्माओंको देखा है, उनके सामने भी दुःख आते हैं। अरे जन-मरण होता है, धन-हरण होता है, भवन-दहन होता है। यह सब होता है कि नहीं? यह सब तो होता ही रहता है। ये सब दुःखके बाण हैं। किन्तु '**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः**' *'दुःखरूपेषु द्वन्द्वेषु अनुद्विग्नं मनो यस्य'*—दुःखके बाणपर बाण लगें, तो लगने दो। इषु माने बाण। **दुःखेषु आगमापायिषु**—दुःख आते हैं, जाते हैं; आते हैं जाते हैं। ये तो मेहमान हैं, गुण्डे हैं, सड़कपर चलते हैं, हमारे घरमें थोड़े ही हैं। हमारे अन्दर नहीं हैं, वे तो सड़कपर बहते हैं। उनको बहने दो।

असलमें सुख-दुःखके कई विभाग हैं। एक तो सुख-दुःखके निमित्त हैं। अपने मनके अनुकूल हो जाये, तो बड़ा भारी सुख है और मनके प्रतिकूल हो जाये, तो बड़ा भारी दुःख है। स्वतन्त्रता हो तो सुख है और परतन्त्रता हो तो दुःख है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वम् आत्मवशं सुखम्।

लेकिन कौन है परतन्त्र? परराष्ट्रके तन्त्र होना, परायेके तन्त्र होना। अरे भाई, सुख-दुःखके जो निमित्त आते हैं, उनमें अनुकूल-प्रतिकूल बुद्धि ही होती है, वस्तुएँ अनुकूल-प्रतिकूल नहीं होतीं। एक होती है दुःखाकार वृत्ति और दूसरा होता है मैं दुःखी हूँ—यह अभिमान। ये जो महात्मा लोग होते हैं—इनके सामने दुःखके निमित्त प्रकृतिके प्रवाहमें चलते हैं। चाहे उनको प्रारब्ध मानो, ईश्वरेच्छा मानो, कर्मफल मानो अथवा उसका कुछ भी नाम रख लो—अनिर्वचनीय जरूर मानना। बस, इस एक बातका ध्यान कर लो। दुःख-सुखके जो निमित्त हैं, उनके केवल प्रारब्धपर अड़ मत जाना, केवल ईश्वरेच्छा पर अड़ मत जाना; ये केवल माया-मात्र हैं—इसपर भी अड़ मत जाना और केवल व्यावहारिक हैं, प्रातिभासिक हैं—इसपर भी अड़ मत जाना। इनकी अनिर्वचनीयता तक जरूर पहुँचना। यदि निमित्तको अनिर्वचनीय तक नहीं पहुँचाओगे, तो वह तकलीफ देना बन्द नहीं करेगा, राग-द्वेष हो जायेगा। जहाँ यह निश्चय करोगे कि हमारे दुःखका यह निमित्त है, वहाँ द्वेष होगा और जहाँ यह निश्चय करोगे कि हमारे सुखका यह निमित्त है, वहाँ राग हो जायेगा। इसलिए न तो कोई तुम्हारे दुःखका निमित्त है और न सुखका निमित्त है। दोनों पक्ष विद्यमान हैं। उनको अनिर्वचनीय कक्षाकी परिधिमें निक्षिप्त कर दो। ये सब प्रारब्धकी जो बातें हैं, वे फालतू हैं। अज्ञानसे दुःख होता है, प्रारब्धसे दुःख होता है, माया से दुःख होता है, ईश्वरेच्छासे दुःख होता है और कर्मफलसे दुःख होता है—यह आजतक कहीं निश्चय हुआ? इसलिए इनको जबतक अनिर्वचनीयकी कोटिमें न डाल दिया जाये, कोई इन्हें देनेवाला नहीं है। तुलसीदासजी कहते हैं कि—

कोउ न काहु सुख-दुःख कर दाता।

इसलिए पहले निमित्तको काटो। अब रही बात दुःखाकार वृत्तिकी, उसके बारेमें भी कहो, तो एक बात सुना दें! यदि मनमें दुःखाकार वृत्तिका उदय हो जाये, तो उससे कहो कि अहो, आप बहुत दिनोंके बाद आये हैं, हमारे मेहमान हैं; जरा ठहरिये आप, जाइये मत! आज हम आपका स्वागत-सत्कार करेंगे। इस प्रकार आप कहेंगे कि रहिये और वह कहेगी कि मैं जाऊँगी। यदि आप उसको जानेके लिए कहेंगे, तो वह कहेगी कि मैं तो बैठूँगी। दुःखाकार वृत्तिकी यही बदमाशी है

कि उससे कहो—जाओ, तो नहीं जायेगी और कहो कि रहो, तो रहेगी नहीं। इसलिए जिस समय दुःखाकार वृत्तिका उदय हो, तो कहो कि आइये, आइये; स्वागतम्, स्वागतम्। आप बैठिये, हम तो आपको पहचानते हैं। बहुत दिनसे आप नहीं आयी थीं। आप तो बाहर-ही-बाहर आया करती हैं, तो जाती क्यों हैं?

तीसरी बात है 'अहं दुःखी' इत्याकारक अभिमान। यह अविद्याका बेटा है। जबतक आप अपनेको ब्रह्म नहीं जानोगे, तबतक कोई-न-कोई अभिमान पकड़कर बैठ जाओगे। इसलिए ब्रह्मज्ञानैकनिवर्त्य है यह। ब्रह्मज्ञानकी पहचान क्या है? अरे बाबा, जब अविद्या ही अनिर्वचनीय है, तब उसका निवर्तक जो ज्ञान है, वह तो अनिर्वचनीय होगा ही। इसमें क्या शंका है! लेकिन एक व्यावहारिक पहचान हम आपको बताते हैं। ब्रह्मज्ञान होनेके बाद 'मैं जीव हूँ'—यह अभिमान कभी उदय नहीं हो सकता। 'मैं जीव हूँ'—इसमें चार बातें होती हैं: एक तो कर्तापन होता है, माने मैं पापी हूँ, पुण्यात्मा हूँ; दूसरा भोक्तापन होता है, माने मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ; तीसरा संसारीपन होता है, माने मैं नरक-स्वर्गमें जाने-आनेवाला हूँ और चौथा यह होता है कि मैं कर्ता हूँ, परिच्छिन्न हूँ। इन चार बातोंके समूहका नाम जीवपनेका अभिमान है। एक बार जिसके हृदयमें ब्रह्मज्ञानका प्रकाश फैल गया, उसको 'मैं जीव हूँ'—यह अभिमान कभी नहीं हो सकता। इसलिए दुःखके निमित्त आते हैं तो आने दो, दुःखाकार वृत्ति आती है, तो आने दो। दुःखाकार वृत्ति तो साक्षीभावसे है, परन्तु साक्षी जब आभाससे तादात्म्यापन्न हो जाता है, तब 'मैं दुःखी हूँ'—यह अभिमान करता है। इसलिए साक्षीको आभाससे मिलने मत दो! हमारे जीवनमें तो सुखकी धारा बहती है, सुखका समुद्र उमड़ता है—

मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥

(ऋग्वेद १.९०.६)

मधुकी धरती है, मधुका पानी है, मधुका सूर्य है, मधुका चन्द्रमा है, मधुकी वायु है, मधुका आकाश है और मधुके झरने झर रहे हैं!

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधुः। (बृहदा० ५.१)

यह पृथिवी तो सम्पूर्ण प्राणियोंका मधु है। मधु माने सुख। जब सुख-ही-सुख बह रहा है, तब नये-नये सुख आने दो न! केवल एक सुखको पकड़ते क्यों हो?

'सुखेषु विगतस्पृहः'—अरे भाई, जब सात घरमें सात तरहकी रोटी मिल रही है, तब एक ही घरकी सात रोटी क्यों खाना? जब सात तरहका साग, सात तरहकी दाल, सात तरहकी रोटी मिल रही है तो एक ही तरहका साग, एक ही तरहकी रोटी क्यों खाना? हमारे आचार्य कहते हैं—

एकान्नं न नतु भुञ्जीथा बृहस्पतिसमादपि।
अपि म्लेच्छकुलाद् ग्रह्यं श्रद्धाभक्तिबहिष्कृतात्॥

अर्थात् खिलानेवाला बृहस्पति हो, तब भी एकान्नका भक्षण नहीं करना चाहिए, लेकिन भिक्षा म्लेच्छके कुलसे भी ले लें; उस म्लेच्छके हृदयमें श्रद्धा-भक्ति न हो, तब भी भिक्षा ले लें। किन्तु किसी भी अवस्थामें एकान्न न लें। अरे बाबा, इस संसारके लोग तो एक दिन रोटी खिलाकर कहते हैं कि बाबाजी, जरा हमारी चिट्ठी डाकमें डाल देना।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।

'वीतरागभयक्रोधः'—राग, भय, क्रोध—ये तीनों चीजें कहाँ होनी चाहिए? बोले कि ये **'वीत'** माने बीती हुई होनी चाहिए, वर्तमानमें नहीं होनी चाहिए। भविष्यमें भी नहीं होनी चाहिए। ये विगतकी वस्तुएँ हो जानी चाहिए, इतिहासकी वस्तु हो जानी चाहिए! ऐतिहासिक अनुसन्धान करनेवाले लोग लिखा करें कि मुझे पहले कहीं किसीसे राग था; एकबार मैंने अमुकके ऊपर बहुत क्रोध किया था; हम एक दिन साँप देखकर डर गये थे। इस प्रकार राग, भय, क्रोध आये और तुमसे मिलकर चले गये। अब तुम ऐतिहासिक होनेके नाते डायरीमें लिख-लिखकर रखो, लेकिन वे तो बीते दिनोंकी बात हो गयीं।

बात यह है कि जो दुःखी हो जायेगा, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी और जो सुखमें स्पृहा करेगा, उसकी बुद्धि भी भ्रष्ट हो जायेगी। वह सुख बना रहे—इसके लिए बेईमानी करेगा और दुःख न रहे—इसके लिए बेईमानी करेगा। दोनों हालतोंमें उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी। रागी पक्षपात करेगा, पक्षपात किये बिना रहेगा नहीं और उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी। भयभीत भी अपनेको बचानेके लिए कुछ-न-कुछ कर बैठेगा और क्रोध? आप जानते ही हैं कि *'क्रोध पाप कर मूल'*। इसलिए बुद्धिको विचलित करनेवाले ये दुर्गुण जिसमें नहीं रहेंगे, उसकी बुद्धि तो स्थिर रहेगी; किन्तु इन दुर्गुणोंको अपने घरमें बसानेवाले बारम्बार अपनी बुद्धिको विदेश भेजा करेंगे कि जाओ, जरा पेरिस हो आओ, अमेरिका हो आओ, पाकिस्तान हो आओ, बंगलादेश हो आओ आदि-आदि। वहाँ तो डर आनेका भी खतरा है, भय आनेका भी खतरा है। उनके ऊपर क्रोध भी आता है और हमारे अपने लोगोंसे राग भी है। क्या दुर्दशा हो रही है! ऐसी हालतमें बुद्धि कैसे स्थिर रहेगी! वह तो पराये घरमें चली गयी है!

'स्थितधीर्मुनिरुच्यते'—देखो, बुद्धि स्थिर रखना है तो एक बात और करो। यह मत समझो कि हमेशा अच्छा-ही-अच्छा काम हमसे होगा। अरे, तुमसे

कभी चींटी मर जायेगी, कभी किसीको धक्का लग जायेगा और कभी किसीका कमण्डलु ही गिर जायेगा। तब क्या करोगे? कहोगे कि हाय-हाय, बड़ाभारी अपराध हो गया मुझसे! इस प्रकार रोओगे, पछताओगे तो बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी तुम्हारी! तब क्या करें?

'यः सर्वत्रानभिस्नेहः'—(२.५७) स्नेह सबसे करो, पर अभिस्नेह किसीसे मत करो। अभिस्नेहका अर्थ है गोंद। सबके लिए चिपके रहो। सबके लिए घी, सबके लिए मक्खन, सबके लिए दही, सबके लिए दूध बने रहो, लेकिन गोंद किसीके लिए भी मत बनो।

'शुभाशुभम्'—कभी शुभ मिलेगा, कभी अशुभ मिलेगा। शोककी क्या कहें? लोग शोक ही करते जाते हैं और यह गलती, वह गलती देखते जाते हैं। गलती देखनेमें खुद ही गलत हो जाते हैं। अरे, संसारमें कबतक गलतियाँ देखते रहोगे? छोड़ो गुण-दोषोंका, शुभाशुभका दर्शन!

'नाभिनन्दति न द्वेष्टि'—तब क्या करें महाराज? अभिनन्दन और द्वेष, निन्दा और स्तुति बिल्कुल छोड़ दो। तुमने तो बिल्ली सामनेसे गुजरती देख चलना ही बन्द कर दिया। अरे वह तो शेरकी मौसी है, तुम्हारे रास्तेमें आगयी तो क्या हुआ? तुम भी शेरकी तरह चलते चलो! कभी कहते हो कि मुझको तो तेरह नम्बरकी कोठरी मिल गयी। अरे, इस प्रकारका वहम विलायतवाले किया करें! तुम्हारे भारतवर्षमें तो *'सर्वसिद्धा त्रयोदशी'* रहती है। यही बहुत बढ़िया है!

अभिनन्दन और द्वेषमें पक्षपात हो जाता है और उससे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसलिए गुण-दोषपर दृष्टि न डालो और समदर्शी रहो, चाहे कोई अच्छा करे, चाहे बुरा करे। तुम अच्छा करनेवालेकी स्तुति मत करो और बुरा करनेवालेकी निन्दा मत करो, नहीं तो तुम्हारी बुद्धि बिगड़ जायेगी, उसमें पक्षपात आजायेगा और उसके तराजूका पलड़ा झुक जायेगा। इसी तरह कोई अच्छा कहे या बुरा कहे, जुबान उसकी है। वह बोलनेमें स्वतन्त्र है। तुम क्या लोगोंकी जीभ पकड़कर चलोगे!

मुझे एक महात्माने बताया था कि जो कुछ हो रहा है, वह होने दो और जो कुछ कहा जा रहा है, उसको कहा जाने दो! होनेसे रोकना ईश्वरका काम है और लोगोंकी जुबान पकड़ना ईश्वरका काम है। हम तो ब्रह्म हैं; करने-करानेकी मैनेजरी हमारे जिम्मे नहीं है। हम न तो करते हैं, न कराते हैं। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज भागवतके इन श्लोकोंको बहुधा बोला करते थे—

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतोगुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥

न कुर्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥ (११.११.१६-१७)

मनुष्य अच्छा-बुरा करे नहीं, अच्छा-बुरा बोले नहीं और अच्छा-बुरा सोचे नहीं। लो, है न मस्ती! अब बुद्धि कैसे बिगड़ेगी? बात करोगे दूसरेको हरानेके लिए, तो बुद्धि बिगड़ जाती है। जो जितना ज्यादा बोलता है, उसको उतनी ही गप्प हाँकनी पड़ती है। इसलिए महात्माओंने कहा कि अच्छा बाबा, गप्प ही सुनाना हो तो पुराना सुनाना, पुराणोंका सुनाना, नया मत सुनाना। नहीं तो कर्तृत्वाभिमान आजायेगा और बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी। इसलिए गोस्वामी तुलसीदासजीने रामकथा लिखते समय कहा कि—

मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई।
तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥

'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'—प्रतिष्ठिताका अर्थ है *प्रतिष्ठाम् इता,* यह इज्जतदार है। आदमी उसपर विश्वास करता है, जिसका निश्चय पक्का होता है। जो अपने निश्चयसे डाँवाडोल होता रहता है, उसपर दुनियामें कोई विश्वास ही नहीं करता, उसकी कोई इज्जत ही नहीं होती। आज कुछ, कल कुछ, कौन मानेगा तुम्हारी बात? यदि दो-चार बार अपने पतिकी जेबसे पैसा निकाल लो और ना बोल दो, तो पति अपनी पत्नीपर विश्वास ही नहीं करेगा और फिर सोचेगा कि यह जैसे पैसेके बारेमें झूठ बोलती है, वैसे ही दूसरोंसे मिलनेके बारेमें भी झूठ बोलती होगी! इस प्रकार पतिका पत्नीके ऊपरसे विश्वास ही खो जायेगा। इसलिए अपनी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होनी चाहिए। प्रतिष्ठित माने इसका निश्चय बिलकुल पक्का है, दृढ़ है, सच्चा है।

'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।' (५८) देखो, पहला है काम त्याग-मूलक, दूसरा है आत्मतुष्टिमूलक, तीसरा है अनुभेदमूलक, चौथा है समत्वमूलक और पाँचवाँ है संयममूलक। यह समत्वमूलक है। जिसकी इन्द्रियाँ बसमें, काबूमें नहीं होतीं, वह न जाने क्या बोल दे और न जाने क्या कर दे! वह अपनी बातपर, अपने निश्चयपर कैसे टिकेगा? इसलिए सबको समझनेका सामर्थ्य चाहिए। जैसे कूर्म, कछुआ, कच्छप चारों ओरसे अपने हाथ-पाँवको समेट लेता है, वैसे ही मनुष्यको अपनी इन्द्रियोंपर अधिकार रखना चाहिए।

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः'—हमारी जो इन्द्रियाँ हैं, हाथ-पाँव आदि हैं, वे क्या हैं? इन्द्र माने कर्मका देवता। देखनेका मन हुआ तो चलनेके लिए पाँव निकल आये। छूनेका मन हुआ तो पकड़नेके लिए हाथ निकल आये। सुननेका मन हुआ, तो बोलनेके लिए जुबान निकल आयी। ये सब कर्मेन्द्रियाँ नौकर हैं, कर्मचारी हैं

और ज्ञानेन्द्रियाँ इनकी मालिक हैं। इन्द्रिय माने 'इन्द्रदत्त, इन्द्रजुष्ट'—ये इन्द्रसे पैदा हुई हैं, इन्द्रने इनको दिया है, इन्द्र ही इनका संचालन करता है। इन्द्र माने कर्माराध्य देवता। कर्म करनेका जो संकल्प है, इसीसे इन्द्रियाँ बनी हैं। कर्मादि—देवताके कारण बनी हुई होनेके कारण इनका नाम इन्द्रिय होता है।

अब देखो, 'इन्द्रियार्थ' क्या है? यह पकड़ो, यह खाओ, यह सुनो, यह देखो—अरे बाबा, जरा समेटकर देखो कि तुम्हारी इन्द्रियाँ भी तुम्हारे वशमें हैं कि नहीं? जो अपनी इन्द्रियोंको समेट सकता है, उसकी बुद्धिपर हम विश्वास कर सकते हैं, किन्तु जो इन्द्रियोंको समेट नहीं सकता, उसपर विश्वास नहीं होगा।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः (२.५९)

अब बोले कि आओ, निराहार हो जायँ, छोड़ दें आहार-विहार। नहीं भाई, आहार-विहार छोड़ देनेसे कुछ काम नहीं बनता है। ठीक है आप खाना छोड़ दोगे तो रोटी-दाल आपके मुँहमें नहीं घुसेगी और वह बाहर ही रह जायेगी। लेकिन कहो कि रोटी-दाल छोड़नेसे राग मिट जायगा, तो वह नहीं मिटेगा। इन्द्रियोंका स्वभाव और विषयोंका स्वभाव, ये दोनों केवल आहार-परित्यागसे नहीं छूट सकते।

देखो, कल है एकादशी। मान लो कि आज किसीने कहा कि भाई, कल तो व्रत रहना है, इसलिए आज शामको जरा हलवा-पूरी बन जाये, तो कल व्रत करनेमें सुबिस्ता रहेगा। कल फलाहार भी अच्छा बनना चाहिए, आलूका तो हलवा बनना चाहिए और कूटूकी पूरी बननी चाहिए। अब बोलो कि वह एकादशी हुई कि द्वादशी? एकादशी माने निराहार तो नहीं हुआ, महाहार हो गया।

इसलिए, आहारका परित्याग कर देने मात्रसे केवल विषय जाते हैं, उनका राग नहीं जाता है। राग तो तब जायगा, जब **'परं दृष्ट्वा'**—सबसे तो परे है—परात्पर जो तत्त्व है, आत्म-तत्त्व है, उसका दर्शन हो। उसीका दर्शन होनेसे रागकी निवृत्ति हो जायेगी।

देखो, बौद्ध लोग प्रपंचको निःस्वभाव होनेके कारण शून्य मानते हैं, प्रपञ्च स्वयंमें कोई स्वभाव नहीं है, इसलिए मिथ्या है। वेदान्ती मानते हैं कि अधिष्ठानके ज्ञानसे यह मिथ्या है, स्वयं निःस्वभाव होनेसे मिथ्या नहीं है। यह तो इसका एक स्वभाव है। अधिष्ठान-ज्ञानसे इसके स्वभावका बोध होता है, केवल इसकी निःस्वभावताके ज्ञानसे इसका बोध नहीं होता। सर्प दिख रहा है, वह निःस्वभाव है; सर्पमें सर्पता नहीं है, ठीक है। क्या इतनेसे काम बन गया? नहीं-नहीं, सर्पको निःस्वभाव समझोगे तो माला पैदा हो जायेगी। मालाको निःस्वभाव समझोगे, तो

भूछिद्र पैदा हो जायेगा। भूछिद्र को निःस्वभाव समझोगे, तो दण्ड पैदा हो जायेगा। इस प्रकार परम्परा बढ़ती जायेगी। किन्तु यदि रज्जुज्ञान हो जायेगा,.तो सर्प, दण्ड, धारा, छिद्र, माला—सबकी निःस्वभावताका ज्ञान हो जायेगा। इसलिए वेदान्ती भी जगत्‌को मिथ्या कहते हैं और बौद्ध भी जगत्‌को मिथ्या कहते हैं। परन्तु जगत्‌को निःस्वभाव होनेके कारण मिथ्या मानते हैं और हम अधिष्ठान-ज्ञानको, अध्यस्तको मिथ्या मानते हैं—यह दोनोंमें अन्तर है। इस परम सत्यका ज्ञान होनेपर ही निवृत्ति होगी। लेकिन यह सब बुद्धिसे ही होगा। इसलिए—

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते। (५९)
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः। (६०)

महापुरुष विपश्चित् हैं, प्रयत्न कर रहे हैं। ये बड़े समझदार हैं, संगीनकी तरह तेज हैं, बड़ी दूरकी कौड़ी लाते हैं। विपश्चित् इसीको कहते हैं, जो बड़ी दूरकी कौड़ी लावें—*'विप्रकृष्टं शृण्वन्ति इति विपश्चित्।'* ये आँख बन्द करके, अन्नमय कोशके भीतर, प्राणमय कोशके भीतर, मनोमय कोशके भीतर, विज्ञानमय कोशके भीतर घुसकर बड़ी दूरकी कौड़ी निकाल रहे हैं। मानों ये कोश कोई पत्थरके बने हुए हैं। अरे, ये तो आत्माको समझनेके लिए कल्पित हैं। इनमें कहाँ भीतर प्रवेश करते हो? ये घुसने-निकलनेके लिए नहीं हैं। ये तो जैसे गणित लगानेके लिए अध्यारोप, अपवाद किया जाता है, वैसे ही अध्यारोपापवाद हैं। इसलिए चाहे जितना भी प्रयत्न करो, ये इन्द्रियाँ हैं **'प्रमाथीनि'**—जो भीतर-ही-भीतर मथ देती हैं और मनका मक्खन निकाल लेती हैं—**'हरन्ति प्रसभं मनः।'** इसलिए आप **'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'**—यहाँसे साधना शुरू करो।

अब आप स्वयं समझ लो कि स्थितप्रज्ञकी परिभाषा क्या है! समाधिस्थकी परिभाषा क्या है और उसका प्रभाषण क्या है। **'नाभिनन्दति न द्वेष्टि'**—यह उसका प्रभाषण है। **किमासीत्**? वह बैठा कहाँ है? **'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः युक्त आसीत् मत्परः'**—अपने स्वरूपमें बैठा है। अस्ति मात्र होकर बैठा है—**'आसीत'**। वह कहाँ बैठता है? अपने स्वरूपमें बैठता है।

इसमें दो बातें बतायी हैं—एक तो **'युक्त'** और दूसरा **'मत्परः'**। परमात्माका वर्णन *'अस्मद्'* शब्दसे किया जाता है—*'अहमेव प्रत्यगात्मा परः वासुदेवः'*। यह जो प्रत्यगात्मा है, यही वासुदेव है। **मत्परः**—इसका अर्थ ऐसे ही समझो कि पहला अध्याय फल है और दूसरा अध्याय बीज है। उसके बादके पन्द्रह अध्याय हैं शाखा और अट्ठारहवाँ अध्याय है फिर बीजात्मक फल। यह है गीताकी स्थिति। इसमें

जैसा कि बताया, दूसरा अध्याय बीजात्मक है। इसमें भक्तिका बीज भी कहीं-न-कहीं होना चीहए। वही है **मत्परः**। यह भक्तिका बीज है और '**युक्त**' योगका बीज है। यदि स्थितप्रज्ञमें योग न हो और मत्परता न हो तो दुनियामें किसीके अन्दर योग और भक्ति आयेंगे कहाँसे? इसलिए कहा गया है कि '**युक्ताहारविहारस्य**' (६.१७) आहार-विहार ठीक रखो। जो ऐसा करता है, '**स युक्तः सर्वकर्मकृत्**'(४.१८) वही युक्त है। छठवें अध्यायमें कहा गया है—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ (६.८)

यह जो ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा है, कोई अन्धा-बहरा-लूला नहीं है। इसको लोष्ट भी दिखता है, अश्म भी दिखता है और कांचन भी दिखता है। यह सोनेको पहचानता है कि यह सोना है, पत्थरको पहचानता है कि पत्थर है और मिट्टीके डलेको पहचानता है कि मिट्टीका डला है, पर उसका मूल्यांकन नहीं करता; क्योंकि सोनेको बेचना नहीं है;पत्थरसे किसीको तोड़ना नहीं है, मिट्टीके ढेलेको फोड़कर खेतमें बराबर नहीं करना है। न खेती करनी है, न पत्थर मारना है और न सोना बेचना है, पर दिखता सब है।

देखो, यह समाधिस्थ है। '**युक्त इत्युच्यते**' (६.१८) '**युक्त आसीत मत्परः**' (६.१४) यह व्यवहारमें भी बैठता है, समाधिमें भी बैठता है और परमात्मा-परायण होकर भी बैठता है, ब्रह्मात्मैक्यमें भी बैठता है। अब आगे कहते हैं कि इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। (६१)

यहाँ छह बातें हैं—हमारी बुद्धि स्थिर कैसे हो? हमारी अकल, समझ मुस्तकिल कैसे हो कि डाँवाडोल न रहे? जिसकी बुद्धि डाँवाडोल है, वह व्यापारमें भी निष्फल है। बुद्धि डाँवाडोल है तो यज्ञ कैसे किया जायेगा? बुद्धि डाँवाडोल है तो पत्नीका निर्वाह कैसे करेगा? स्वयंका निर्वाह कैसे होगा? बुद्धि डाँवाडोल होनेपर तो व्यवहारमें भी सफलता नहीं मिलती। अस्थिर बुद्धि होनेपर समाधि कैसे लगेगी? ज्ञान कैसे होगा? प्रतिष्ठित बुद्धि तो सर्वत्र आवश्यक है। इसलिए पहले बताया कि बुद्धिको स्थिर कैसे किया जाये। यह लक्षण भी है, लक्ष्य भी है। साधकके लिए साधन है और चिन्तकके लिए पहचान है।

अब रही बात यह कि बुद्धि स्थिर होनेमें विघ्न क्या-क्या आते हैं? यहाँ आठ विघ्नोंका वर्णन है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ (६२)
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ (६३)

आसक्तिसे उत्पन्न होता है काम, जिससे आसक्ति हो, तद्विषयक कामका उदय होता है। काममें जरा भी बाधा पड़ी कि क्रोध आया। गुरुजी महाराज चेलेपर नाराज हो गये और पूछा कि क्यों नहीं आये समयसे, यह काम क्यों नहीं किया समयसे? काममें बाधा पड़नेपर, अपने हृदयका जो आनन्द है, वह जल जाता है। *'कं रुनद्धि इति क्रोधः। कं सुखं सुख-स्रोतः।'* सुखका झरना, जो दिलमें बहता है, उसमें जो बाँध बना दे, बहने न दे, रुकावट डाल दे, उसका नाम क्रोध है। क्रोध आनेपर क्या होगा? क्रोध आनेपर तो कुछ सूझता ही नहीं है। शिष्य गुरुको भी हुंकारकर बोलते हैं;पुत्र पिताको भी तू-तड़ाक करके बोलते हैं। यह क्रोध तो ऐसा है, जो सब पापोंका मूल है। यह ज्वलनात्मिका वृत्ति है। इससे जलन होती है?। क्रोधसे होता है सम्मोह, सम्मोहसे स्मृति-विभ्रम; इस समय हमारा क्या कर्तव्य है—यह भूल जाता है और स्मृति-भ्रंश होनेके बाद बुद्धिका नाश हो जाता है। फिर बुद्धि-नाशके बाद विनाश हो जाता है। इन विघ्नोंको गिन लो—पहले विषयका ध्यान हुआ; विषय-ध्यानका तात्पर्य है जान-बूझकर विषयका ध्यान करना। अपने आप कभी ध्यानमें आजाये और फिर चला जाये, तो उसकी गिनती नहीं है। विषय- ध्यानके बाद आसक्ति, फिर काम, फिर क्रोध, फिर सम्मोह, फिर स्मृति-विभ्रम, फिर बुद्धि-नाश और फिर सर्वनाश! लेकिन भगवान् कहते हैं कि—

'न मे भक्तः प्रणश्यति'—मेरे भक्तका नाश नहीं होगा। क्योंकि भगवान्का भक्त बुद्धिहीन नहीं होता, उसकी बुद्धि होगी। यदि बुद्धि नहीं होगी तब **'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।'** लेकिन बुद्धि तो होगी ही, क्योंकि जब भगवान् बहुत खुश होते हैं, तब बुद्धियोग देते हैं। यह उनका तोहफा है, जो उनके भक्तोंको ही मिलता है—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।

पहले यह चर्चा हो रही थी कि मनुष्यकी बुद्धि डाँवाडोल क्यों रहती है? इसलिए रहती है कि एक निश्चयपर अडिग नहीं रहती। स्थितप्रज्ञ माने दृढ़निश्चयी। हमारे वेदान्ती लोग कहते हैं कि बोध दो तरहका होता है, एक दृढ़ और दूसरा अदृढ़। स्थितप्रज्ञ दृढ़बोध होता है, डाँवाडोल नहीं होता है। उसके जीवनमें *'गंगा*

गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास ऐसा नहीं है। बुद्धिको डाँवाडोल करनेके जो आठ कारण बताये गये हैं, वे जबतक जीवनमें रहते हैं, तबतक बुद्धिको स्थिर नहीं होने देते। उनमें-से जो पहला है, विषयोंका ध्यान—'**ध्यायतो विषयान्पुंसः**'—उसके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतका कथन इस प्रकार है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥ (भा० ११.१४.२७)

भगवान् कहते हैं कि विषयका ध्यान करोगे तो तुम विषयमें डूब मरोगे और ऐसे डूबोगे कि कहीं पता नहीं चलेगा। किन्तु यदि मेरा ध्यान करोगे तो तुम्हारा चित्त मुझमें लीन हो जायेगा। इससे सिद्ध है कि ध्यानकी कितनी बड़ी भारी महिमा है। असलमें सारे योगका उपयोग ही यही है कि हमको ध्यान करना है।

विषयोंके ध्यानकी खास बात यह है कि ध्यान करते हैं हम और बाँध लेते हैं वे। *'विषिन्वन्ति इति विषयाः।'* आँख गयी सामने—बीचमें न कोई डोरी, न बिजलीका तार और विषयने आँखको बाँध लिया! रोशनीको बाँधो, उसे देखो, हमको देखोगे तो चैन नहीं पड़ेगा। यह है बन्धन! इसलिए जान-बूझकर विषयोंका ध्यान नहीं करना चाहिए। करोगे तो तुम्हारी बुद्धि तुम्हारे घरमें नहीं रहेगी, पराये घरमें चली जायेगी। जैसे तुम अपनी पत्नीको पराये घरमें रहने देना पसन्द मत करो। पराये घरमें जानेके बाद इससे होता है संग। संग माने संगम, सट जाना। गीताकार बड़े सावधान हैं इस विषयमें। लोग कहते हैं कि अमुक बड़े सत्त्वगुणी हैं। सत्त्वगुणीकी बड़ी प्रशंसा है। वाह-वाह, कितने सात्त्विक पुरुष हैं। लेकिन गीता कहती है कि नहीं-नहीं, यह भी संग कराता है, *'सत्त्वं सुखे सञ्जयति।'* (१४.९) यह सत्त्वगुण भी चाहता है कि हर समय सुख बना रहे—'**सुखसंगेन न बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ**।' (१४.६) ईश्वर भी सृष्टिकी स्थिति और उत्पत्ति करते-करते जब ऊब जाता है, तब प्रलय करता है। नहीं तो प्रलय करनेकी क्या जरूरत थी? इसी तरह सत्त्वगुण भी सुखमें और ज्ञानमें संग उत्पन्न करता है। '**सञ्जयति**'—इसमें जो क्रियापद है, इसीसे सञ्जयन बनता है और इसी सञ्जयनसे संग बनता है।

अब जिससे संग होगा, सञ्जन होगा और जिसके साथ हम चिपक जायेंगे, उसके प्रति इस प्रकारकी भावनाका उदय होगा ही, कि यह छूटने न पावे, हमसे दूर हटे नहीं, बराबर सटा रहे। यह काम हो गया और '**कामात्क्रोधोऽभिजायते**।' कामकी पूर्तिसे यदि यह सन्तोष हो जाता कि बस, अब और नहीं, तो कोई बात होती! यह तो ऐसा है महाराज, कि इसमें कभी इतिश्री नहीं होती है। भागवतका कहना है कि—

न जातु कामः कामनाम् उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ (९.१९.१४)

जैसे आगमें घी डालनेसे आगकी ज्वाला और बढ़ती है, वैसे ही विषयके द्वारा कामनाका पेट भरनेसे कामनाकी ज्वाला और भी बढ़ती है। एक कामना पूरी हो, तब यह कामना होती है कि इतना ही क्यों? और क्यों न मिले? पहले किसीसे कहते हैं कि पाँच रुपया दे दो और जब वह पाँच रुपया दे देता है, तो मनमें आता है कि पाँच ही क्यों दिया, दस क्यों नहीं दिया? तो पानेवाला हजार चाहता है, हजार पानेवाला लाख चाहता है और लाख पानेवाला करोड़ चाहता है। इस कामनाका पेट नहीं भरता है. इसमें बाधा पड़े, तब भी क्रोध आता है और पूरा करो, तो और जलाता है—'**कामात्क्रोधोऽभिजायते**।' फिर जैसा कि पहले कहा और उसको दुहरा देनेमें कोई हर्ज नहीं कि जब क्रोध आता है तब आदमीकी बुद्धि ठीक काम नहीं करती; उसे सम्मोहसे कर्तव्यकी विस्मृति हो जाती है, स्मृतिका विभ्रम हो जाता है। स्मृति भ्रंशसे बुद्धिका नाश हो जाता है और जब बुद्धिका नाश हो जायेगा, तब ईश्वरको क्या दोगे? अरे, आपके दरवाजेपर खड़ा होकर ईश्वर आपसे माँग रहा है। क्या माँग रहा है—कुछ मालूम है? यह माँग रहा है कि '**मय्येव मन आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय**।' (१२.८) ईश्वर कहता है कि अपनी बुद्धि हमारे पास रख दो। लेकिन तुम क्या दोगे उसको? क्योंकि तुम्हारे पास बुद्धि तो रहेगी नहीं। बुद्धिका नाश हो जायेगा, तो तुम भक्ति कैसे करोगे? बुद्धिके बिना भक्ति भी नहीं होगी।

एक कथा आती है कि एक वानर किसी राजाका बड़ा भक्त हो गया था! बड़ा प्रेमी हो गया था वह हरदम राजाके साथ ही रहता था। एक दिन राजा सो रहा था और वह वानर पहरा दे रहा था कि राजाका कुछ नुकसान न हो जाये। बुद्धि तो थी नहीं उस बिचारे वानरके पास! इसलिए जब एक मक्खी राजाके शरीरपर बैठी, तब उसने उनकी तलवार उठाकर ऐसे मारी कि मक्खी तो उड़ गयी, लेकिन राजा साहबका शरीर कट गया। बुद्धिहीन प्रेमीकी यही दशा है। बुद्धिहीन प्रेमी लोग जिससे प्रेम करते हैं, उसीको मार डालते हैं।

तो, बुद्धिके बिना भक्ति तो होती ही नहीं, ज्ञान भी नहीं होता—'**बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च**।' (१८.५१) अरे, बाबा, अभी आप कह आये कि बुद्धिके बिना कर्मयोग भी नहीं हो सकता। कर्मके मूलमें इच्छा चाहिए, इच्छाके मूलमें ज्ञान चाहिए और ज्ञान बिना बुद्धिके होता नहीं है। '*जानाति इच्छति करोति*'—पहले समझोगे, तब चाहोगे और तब करोगे। जहाँ इच्छा और कर्मके

मूलमें बुद्धि नहीं है, वहाँ साधन-वाधन कुछ होनेवाला नहीं है। यदि कहो कि हम तो भगवान्‌से यह वरदान माँगते हैं कि हमें बुद्धि-हीन बना दो—*'बना दो बुद्धिहीन भगवान्!'* सचमुच एक सज्जनने इसी शीर्षकसे एक कविता लिखी है। लेकिन इनसे कौन पूछे कि तुम अपनेको इतना बुद्धिमान समझते हो कि बुद्धिहीन बनकर अपनेको बचाना चाह रहे हो? असलमें यह भी अपनी बुद्धिमत्ताको प्रकट करना ही है। एक सज्जन सत्संगमें आये, तो जूताके पास आकर बैठ गये। लोगोंने कहा कि ऊपर, बैठिये तो बोले कि हम तो यहीं बैठकर सत्संग करेंगे, क्योंकि और सब लोग तो अभिमानी हैं, वे ऊँचे आसनपर बैठकर सत्संग करते हैं। हम तो निरभिमान हैं, इसलिए हमें जूतोंमें बैठकर सत्संग करना अच्छा लगता है। यह निरभिमानताका अभिमान है कि नहीं? अन्य सब लोग अभिमानी हैं और हम अभिमान-रहित हैं—यह निरभिमानपनेका अभिमान हो गया कि नहीं? इसलिए बुद्धिहीन-पनेकी भी एक बुद्धि होती है। मैंने देखा है कि जो लोग यह प्रार्थना किया करते थे कि **'बना दो बुद्धिहीन भगवान्'**, वे अपनेको हमसे ज्यादा बुद्धिमान समझते थे।

इसलिए भाई, जब बुद्धिका नाश हो जायेगा, तब न ईश्वरके बारेमें ज्ञान होगा और न अपने बारेमें। तब तो प्रणाश हो जायेगा। अदर्शन ही तो प्रणाश है। इसलिए यह समझ लो कि बिना बुद्धिके ईश्वरका भी दर्शन नहीं होगा और बिना बुद्धिके गृहस्थका व्यवहार भी नहीं होगा। अब आगे देखो—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ (६४)
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ (६५)

भगवान्‌को पर्यवस्थित बुद्धि बहुत पसन्द है। जिनकी बुद्धि चञ्चल है, वे एक दिन कहेंगे कि भगवान्, तुम बड़े दयालु हो, सर्वज्ञ हो, सर्वशक्तिमान हो, हम आपकी भक्ति कर रहे हैं। दूसरे दिन कहेंगे कि कुछ नहीं, कल मैंने इतनी प्रार्थना की और तुमने एक भी नहीं सुनी। हम नहीं मानते तुमको! ऐसे अस्थिर चित्तवाले लोगोंसे भगवान् भी डरते हैं।

अब आपको हम एक सिद्धान्तकी बात सुनाते हैं। वह सिद्धान्त यह है कि भक्तलोगोंकी सदाचारवृत्ति होती है, और वह भी प्रेमपूर्वक। किन्तु जो सदाचार-वृत्ति योगपूर्वक होती है, उसको भक्ति नहीं मानते, क्योंकि उसमें रसोल्लास नहीं होता है। *'आनुकूल्येन श्रीकृष्णानुशीलनम्'*—(भक्तिरसामृतसिन्धु १.१.११) अनुकूल

भावसे श्रीकृष्णका अनुशीलन करना भक्ति है। किन्तु योगी लोग पहले स्थूलके आधारसे शान्ति, फिर इन्द्रियोंको निर्विषय करके शान्ति, फिर अस्मिता मात्रकी शान्ति, फिर विवेकख्याति होकर असम्प्रज्ञात समाधिकी शान्ति—ऐसा क्रम मानते हैं।

अब आप देखो, हम आपको इस गीता-गुरुकी पहचान कराते हैं। गीता-गुरुको पहचानना थोड़ा कठिन है। यह कहता है कि काम करो और आनन्दमें रहो। वेदान्तका सिद्धान्त समाधिस्थ नहीं है और वेदान्तका सिद्धान्त तदाकार वृत्ति करनेका सिद्धान्त नहीं है। वेदान्तका सिद्धान्त है निर्भय, निर्द्वन्द्व रहना! धुँआधार फावड़ा चला रहे हैं, गाय चरा रहे हैं, सौदा तौल रहे हैं, सामने तीर मार रहे हैं, वेद-पाठ कर रहे हैं और सबसे निवृत्त होकर मस्तीमें हँस रहे हैं तथा समाधि लगाकर बैठे हैं। पर इनमें कोई फर्क है? बोले कि नहीं, निर्द्वन्द्व! कहीं विरक्त लोग दोपहरीमें भिक्षाविक्षा करनेके बाद पुराने कपड़ोंके जूते बना देते हैं और अपने हाथसे उसको सीते रहते हैं। एक दिन किसीने पूछा कि इतने बड़े-बड़े महात्मा होकर आप लोग जूते सी रहे हैं? विरक्त महात्माने कहा कि जो समाधि लगाना है, वही जूता सीना है और जो जूता सीना है, वही समाधि लगाना है।

यह वेदान्त है, निर्द्वन्द्व, निर्भय! *'अभयं वै जनक प्राप्तोसि'* (वृहदा. ४.२.४) इसमें अभय पदकी प्राप्ति हो गयी। हाथ जोड़कर बैठनेका नाम वेदान्त नहीं है, सिकुड़कर बैठनेका नाम भी वेदान्त नहीं है; फिर किसका नाम वेदान्त है। कर्ममें, अकर्ममें, विकर्ममें— जहाँ भी मौज हो, वहाँ रहो!

अब भगवान् बुद्धिके पर्यवस्थानकी जो युक्ति बताते हैं, वह आप देखो। 'इन्द्रियैः *गोभिः*'—इन्द्रियाँ गाय हैं और वे '**विषयान्** *घासान् चरन्*'—विषयरूप घासको चरती हैं। यहाँ घास शब्दको संस्कृत ही रहने दो! कोई उसमें डरने-वरनेकी बात नहीं है। पाणिनीय व्याकरणमें *अद्* धातुका *जघास* रूप बना दिया। *घुस* आदेश करके कहाँ धातु और कहाँ यह मूल धातुका विवर्त! तो **विषयान् इन्द्रियैश्चरन्**—इन्द्रियाँ हैं गाय और ये चर रही हैं विषयोंमें लेकिन '**रागद्वेषवियुक्तैः**'—रागद्वेष-विहीन होकर। अब ये घास चरें अर्थात् किसी विषयका सेवन करें। किन्तु इसमें उनका न राग है, न द्वेष है विषयोंके चरागाहमें। दूब है कि नागरमोथा, कुश है कि कास-इसका विवेक पण्डित लोग करें, तुम तो जाकर हरी-हरी घास चर आओ! न कहीं राग है, न कहीं द्वेष है। ऊसरमें मुँह डाल दिया, तो वहाँ भी कुछ चर लिया! मतलब तो पेट भरनेसे है, घासकी जातिसे मतलब नहीं है। '**रागद्वेषवियुक्तैस्तु**'—न कहीं राग है, न द्वेष है, घास चर रही हैं इन्द्रियाँ।

परन्तु '**आत्मवश्यैः**'—ये इन्द्रियाँ ऐसी नहीं कि चाहे जहाँ चली जायँ, चाहे जिस जंगलमें या चाहे जिस खेतमें मुँह मार लें। ये इन्द्रियाँ तो अपने वशमें हैं। तो इन्द्रियोंमें रागद्वेष न हो और वे अपने वशमें हों तो यह आवश्यक नहीं कि घास खाना बन्द कर दें। जबलपुरमें एक गाय ऐसी थी जो हरी-हरी घास तो खाये, लेकिन सूखा पुआल हो, तो न खाये। इससे गाय पालनेवालेके सामने समस्या खड़ी हो गयी, क्योंकि बराबर हरी-घास मिलना सम्भव न था। इसलिए उसने हरे शीशेका चश्मा बनवाया और लगा दिया गो माताको। आँखपर चश्मा लगानेके बाद पीली घासको भी हरी घास समझकर खाने लगी!

तो इसलिए इन्द्रियाँ अपने वशमें होनी चाहिए, उसके बाद जो मौज हो, सो करो। यदि मौज न हो, तो कह दो कि इसके आगे मौज नहीं है, हटो! मौजमें भी मर्यादा होती है। एक दिन कुछ लड़कियाँ मेरे पास आयीं, जो बी.ए.-एम.ए. में पढ़ती थीं। बोलीं कि स्वामीजी, आप लोग यह करो, यह मत करो, यह खाओ, यह मत खाओ-यह सब कहकर हम लोगोंको क्यों कैदमें डालते हो? आप क्यों नहीं छुट्टी दे देते कि हमारी जो मौज हो, सो करें? इसमें आपका क्या बिगड़ता है? मैंने कहा कि अच्छा, मैं जो कहूँगा, वह तुम लोग खाओगी? यह सुनकर वे जरा सोच में पड़ गयीं। मैंने कहा कि अरे भाई, कोई-न-कोई चीज ऐसी निकल आयेगी, जो तुम लोग नहीं खा सकोगी। कहो तो मैं अभी नाम ले लेता हूँ। लड़कियाँ बोलीं कि हाँ महाराज, यह बात सच है। इसलिए जब ऐसा है कि यह चीज हम नहीं खायेंगे, तो जानबूझकर एक कायदा बना लो, संविधान बना लो, संहिता बना लो। मर्यादामें रहो। मर्यादा क्या है? *'मर्यैः मनुष्यैः आदीयते इति मर्यादा'*—मनुष्य जिस नियमको अपने जीवनमें स्वीकृति दे, उसीका नाम मर्यादा होता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्यको अपने लिए एक सीमा बना लेनी चाहिए कि हम इस मेंड़के आगे जायेंगे और इस मेंड़के आगे नहीं जायेंगे।

मर्यादा तो पशु-पक्षियोंमें भी देखनेमें आती है, फिर हम मनुष्य होकर भी अपने जीवनमें मर्यादा न बनावें, तो क्या यह लज्जाकी बात नहीं है? इसलिए इन्द्रियाँ हमारे वशमें हों और हम मनसे जो कह दें कि यह करो, वह करें? और मना कर दें, वह न करें। यह कैसा नौकर है, जो हमारे मना करनेपर भी काम करे और आज्ञा देनेपर भी न करे? सोचो तो, हमारा मन और हमारी इन्द्रियाँ अपनी नौकर हैं कि मालिक हैं? तो '**विधेयात्मा**'—इसमें जो विधेय है, उसका अर्थ है आज्ञाकारी। जो हमारी विधिका पत्र है, विधिके योग्य है, उसे विधेय बोलते हैं—*'विधातुं योग्यःविधेयः।'*

बोले कि विधेय होनेसे क्या होगा? यह होगा कि '**प्रसादमधिगच्छति।**' अर्जुन आये थे रोते हुए। भगवान् कहते हैं कि तुम विषाद लेकर आये थे, अब प्रसाद लेकर जाओ। अर्जुनको विषाद है और भगवान् उसको प्रसादका उपाय बताते हैं-'*प्रसादस्तु प्रसन्नता*'-निर्मल चित्त हो जाओ। शोक-मोहको छोड़ दो।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। (६५)

मनुष्यको वस्तु दुःख नहीं देती, आदमी दुःख नहीं देता, वासना दुःख देती है। गृहस्थ लोग कहते हैं कि महाराज, खानेको रोटी नहीं मिलती है; पर वे भरपेट खाकर आते हैं। यह जरूर है कि वे चाहते होंगे कि रोटी घीमें चुपड़ी हो और बढ़िया गेहूँकी हो! उसकी जगह उन्हें सूखी रोटी मिलती होगी और अच्छे गेंहूँकी नहीं मिलती होगी। पर रोटी मिलती जरूर होगी। आपको एक सच्ची बात सुनाता हूँ। एक दिन एक व्यापारी मेरे पास आकर रोने लगा। ये जो बड़े-बड़े करोड़पति हैं, ये जब इन्कमटैक्समें पकड़े जाते हैं या इनको कोई बड़ा घाटा लगता है, तब आकर रोते हैं। उनका रोना देखते ही बनता है! मैंने उस व्यापारीसे कहा कि बात क्या है? उसने बताया कि महाराज, हमारे घरमें खानेकी तकलीफ हो गयी है। आप जानते ही हैं, अमुक आदमीने हमारा लाख रुपया ले लिया है; आप उसे कह दीजिये कि हमें वापिस दे दे। उसको रोते देखकर मुझे बड़ी दया आयी। मैंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा कि अच्छी बात है। ऐसे तो मैं नहीं कहूँगा; किन्तु जब वे मेरे पास आयेंगे, तब मौका पड़नेपर मैं कह दूँगा। दस दिनके भीतर ही वह फिर मेरे पास आया और बोला कि एक जमीन मैंने ली है। उसमें दस लाख रुपयेकी फैक्टरी लगानी है। आप भूमि-पूजनके समय चलकर शिलान्यास कर दीजिये। मैंने मनमें सोचा कि यह तो रोटीके बिना मर रहा था, फिर इसके पास दस लाख रुपये कहाँसे आगये? उसके बाद वह विलायत गया और वहाँसे पचास लाख रुपयोंकी मशीन खरीद कर ले आया।

तो आप सोचो कि दुःख क्या है? दुनियामें इसी प्रकारका दुःख है। खाते हैं, पीते हैं, पहनते हैं, सोते हैं और रोते रहते हैं। उनको उनकी वासना दुःख देती रहती है। एक दिन बचपनमें स्वयं मुझे बड़ा दुःख हो गया। वह दुःख यह था कि मुझे मेरे पितामहके शिष्यने प्रणाम नहीं किया। इसीपर मुझे बहुत बुरा लगा। मैंने सोचा कि यह मेरे खानदानका चेला होकर मुझे प्रणाम नहीं करता। उसके बाद मैं एक महात्माके पास गया और उनको प्रणाम आदि करके उनसे बोला कि महाराज, आज अमुक व्यक्तिके प्रणाम न करनेपर मुझे बड़ा दुःख है। महात्माने कहा कि अरे, उसका क्या दोष? उस बेचारेका मन कहीं और चला गया होगा और उसने

प्रणाम नहीं किया होगा। तुम्हारे मनमें जो प्रणाम करवानेकी लालसा है उसने तुम्हें दुःख दिया है। यह वासना भी मनका मैल है। यदि हमारे मनमें कोई वासना नहीं है, हमारा मन निर्मल है तो हमें सत्यनारायणका प्रसाद मिल रहा है। लेकिन वासना होनेपर चाहे कोई हाथीपर बैठावे, चाहे छत्र-चँवर लगावे, वासनावान्के मनमें निर्मलता नहीं है, वहाँ सुख नहीं है। संसारमें जो दुःखी हैं, वे बेवकूफ भी हैं, क्योंकि जहाँ ज्ञान है, वहाँ आनन्द है और जहाँ आनन्द है, वहाँ ज्ञान है। जहाँ आनन्द-ज्ञान हैं, वहाँ सत्य है, जहाँ सत्य है, वहाँ ज्ञान है, जहाँ सत्यज्ञान है, वहाँ आनन्द है। सच्चिदानन्द कभी अलग-अलग नहीं होते हैं। अगर आपका आनन्द अलग हो गया है, तो आपका ज्ञान भी आपको छोड़ गया है और आपकी सत्ता भी आपसे अलग हो गयी है; आप मुर्दे हैं। जो दुःखी है, वह अज्ञानी है, ज्ञानी नहीं है, क्योंकि मृत्यु, अज्ञान और दुःख—ये एक ही वस्तुके तीन नाम हैं। जो सत् है, सो चित् है और वही आनन्द है। इसलिए प्रसादका अनुभव करो। मनमें वासना न रखो। होश-हवास तो हो, पर वासना न हो। फिर देखो, कितनी निर्भयता, कितनी निर्मलता आजाती है।

हमारी दुःख-हानि, दुःखकी निवृत्ति दूसरेके हाथमें नहीं है कि वे कुछ देंगे, तब दुःख मिटेगा! ऐसे दुःख नहीं मिटता है। जब तुम्हारा हृदय निर्मल होगा, निर्वासन होगा, सम्प्रसन्न होगा, तो अपने आप ही सारे दुःख मिट जायेंगे।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते। (६५)

देखो, *चिति— संज्ञाने* धातुका रूप है चेतस्। आपका संज्ञान यदि सम्प्रसन्न है, ठोस है, निर्मल है, निर्वासन है, तो **आशु** माने शीघ्र, बिना किसी साधनके ही आपकी बुद्धि स्थिर हो जायेगी, डाँवाडोल नहीं होगी। बुद्धिको स्थिर करनेके लिए साधनकी जरूरत नहीं है। सिर्फ ये इधर-उधर डुलानेवाली जो वासनाएँ हैं, यही मल हैं चित्तकी! इसलिए इनको धो देना चाहिए।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ (६६)

जो अयुक्त है, युक्त नहीं है ? और जिसमें युक्ताहार-विहार नहीं है, वह **'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'** नहीं है और **'युक्त आसीत मत्परः'** भी नहीं है। तब होगा क्या? बुद्धि नहीं मिलेगी उसको। इसलिए युक्त होना चाहिए, 'युक्ताहार-विहार' होना चाहिए, **'युक्तस्वप्नावबोध'** होना चाहिए। इसलिए युक्त हो जाओ। युक्तको ही बुद्धि मिलती है, अयुक्तको बुद्धि नहीं मिलती। युक्ति माने योग, साधना, उपाय, जो बना रहना चाहिए और युक्त माने *'युक्ति अस्यास्तीति युक्तः'* और

'अयुक्तः तद्रहितः' इसलिए अपने आपको सुखी रखनेकी युक्ति आनी चाहिए।

एक सज्जन उपदेश कर रहे थे कि मनको कैसे वशमें करना है। यह बता रहे थे कि मनको ऐसे मारना चाहिए, वैसे मारना चाहिए। एक श्रोताने खड़े होकर कहा कि महाराज, आप हमारे लिए तो बड़ा बढ़िया उपाय बता रहे हैं, लेकिन जरा यह भी बताइये कि आपका मन आपके वशमें है कि नहीं? इसपर वक्ताजी बगलें झाँकने लगे। खुद अपना मन तो वशमें हुआ नहीं अपने मनको मारा नहीं, और लाउडस्पीकर पर घोषणा करने लगे कि आओ, आओ, मैं तुम्हें मनके निरोधका उपाय बताता हूँ। हम लोग तो ऐसे बोलते हैं कि मनको तुमने जो 'मैं 'मेरा' माना है, बह गलत है। न तुमने उसको बनाया है, न वह तुम्हारे साथ ज़ायेगा। वह क्षण-क्षण बदल रहा है, उसको मेरा क्यों मान रहे हो? ऐसे बदमाशको, जिसको तुमने पैदा नहीं किया, जो तुम्हारे चलाये चलता नहीं है, जो तुम्हारे रखे रहता नहीं है, जो दिन-रात रंग बदलता है, बहुरूपिया है, उसको तुम मेरा क्यों मानते हो?

'न चायुक्तस्य भावना'—देखो, अयुक्तकी भावना भी नहीं बनती है. आजकल स्कूल-कालेजोंमें क्या होता है? लड़के-लड़कियाँ धर्मकी बहन बन जाती हैं। दोनों चार-छः महीने तो धर्मके भाई-बहन बने रहते हैं, फिर प्रेमी-प्रेमिका हो जाते हैं। उनकी भावना पक्की कहाँसे होगी? टिकाऊ कैसे होगी? वे अयुक्त हैं, सदाचारी नहीं हैं। न आचारमें युक्ति है और न बुद्धिमें युक्ति है। छः महीनेकी बहन और फिर छः महीनेकी प्रेयसी! चार दिन राम, चार दिन कृष्ण, चार दिन नारायण!

हमारे श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज एक बात बहुत बढ़िया बोलते थे। पूछते थे कि तुम्हारे गुरु हैं? हैं महाराज! तुम्हारे मनमें बैठ गये? हाँ, बैठ गये हैं। अब यदि तुम्हारे वे बाहरवाले गुरु भ्रष्ट हो जायें, तो जो भीतर गुरु बनकर बैठा है, वह भी भ्रष्ट हो जोयेगा क्या? अरे वह तो हमारा प्राइवेट हो गया है, वह कैसे बिगड़ेगा? बाहरवाला मर गया। मर जाने दो, भीतरवाला तो नहीं मरा न? वह तो ऐसा सदाचारी दिव्य सत्पुरुष होकर हमारे हृदयमें बैठा है कि जबतक सूक्ष्म शरीर भङ्ग नहीं होगा, तबतकके लिए वह बैठा रहेगा। सूक्ष्म शरीरका नाश होनेपर ही वह अपने आकारको नहीं छोड़ेगा। फिर क्यों गुरुके नामपर हजार आकार अपने भीतर डालते जा रहे हो?

'न चाभावयतः शान्तिः'—यदि भावना ही नहीं टिकेगी, तो शान्ति कहाँसे आयेगी? भावनाकी एकाकारताके बिना शान्ति नहीं है। इस दुनियामें जिसका गुरु नहीं है, वह सबसे बड़ा अभिमानी है। अच्छा, तुम्हारी दृष्टिमें दुनियामें कोई निर्दोष

महात्मा है कि नहीं ? यदि कहो कि आजकल निर्दोष महात्मा मिलना शक्य नहीं है, तो तुम दुनियामें हो कि नहीं हो ? फिर जब दुनियामें कोई निर्दोष नहीं है, तो तुम निर्दोष कहाँसे हो जाओगे ? यदि तुम्हारी ऐसी मान्यता है कि आजकल भगवान् किसीको नहीं मिलते हैं, तो जाओ और किसीको मिले हों या न मिले हों; लेकिन तुमको भगवान् नहीं मिलेंगे। एकदम असहाय हो तुम! तुम्हारा कोई मददगार नहीं, किसीपर तुम्हारा विश्वास नहीं। अरे, लोगोंको अपनी बुद्धिका इतना बड़ा अभिमान होता है कि सिर ऊँचा-ऊँचा उठाये डोलते हैं और किसीको भी प्रणाम नहीं करते।

एक बात मैं आपको सुनाता हूँ। मैं एक बड़े सेठकी सेठानीके साथ कहीं जा रहा था। मार्गमें चार-छः गेरुआ वेषधारी साधु किसी दुकानपर चाट खा रहे थे, चाय पी रहे थे। उनको देखकर मेरे मुँहसे निकल गया कि इन्हींको खड़िया पलटन कहते हैं। सेठानीने कहा कि महाराज, हम तो इन्हीं लोगोंको देखकर हाथ जोड़ते हैं और सिर झुका लेते हैं। गेरुआ कपड़ा देखकर हमें एक बार सिर झुकानेका मौका तो मिलता है! वे कैसे हैं, यह तो वे जानें, पर हमें इन्हें देखकर हाथ जोड़ने और सिर झुकानेका मौका मिल जाता है। यह सुनकर मेरे ऊपर तो सौ घड़े पानी पड़ गया; क्योंकि मेरी अक्लसे ऊँची सेठानीकी अक्ल निकली। तो जो सफेदपोश लोग यह समझते हैं कि उनके बराबर कोई नहीं है, वे अभिमानमें डूबे-डूबे फिरते हैं और ईश्वरसे थोड़ा दूर ही रहते हैं। उनको समझना चाहिए कि पता नहीं किस रूपमें कौन महात्मा है ! जो भगवान् मछली होकर आता है, कछुआ होकर आता है, सूअर बननेमें जिसको शर्म नहीं लगी, वह भगवान् क्या झूठ-मूठका गेरुआ वस्त्र पहनकर नहीं आ सकता ? इसलिए अपना अभिमान टूटना चाहिए और हृदयमें श्रद्धा पैदा होनी चाहिए। बिना भावनाके शान्ति नहीं मिलती। यह नहीं कि सत्य सबको करामलकवत् हो जायेगा और सब सत्यको देख लेंगे। भावना पाक नहीं है, भावना साधन है। भावनाके बिना शान्ति नहीं मिलती।

एक दिन एक महात्माके सामने कोई बात हुई, तो उनके शिष्यने मुझसे कह दिया कि आप तो श्रद्धाकी बात करते हैं! मैं तो चुप रहा, पर वे महात्मा बोले कि क्यों भाई, तुम्हें यह किसने बता दिया कि श्रद्धा करना पाप है ? अरे, श्रद्धा तो ऐसी वस्तु है कि वह जिसके हृदयमें आती है, उसका हृदय पवित्र हो जाता है। पापी पुण्यात्मा बन जाता है। व्यास भगवान्ने लिखा है कि जैसे माँ अपने बच्चेकी रक्षा करती है, वैसे श्रद्धा श्रद्धालुकी रक्षा करती है (व्यास भाष्य १.२०)।

'अशान्तस्य कुतः सुखम्'—जिसके हृदयमें शान्ति नहीं है, उसको सुख कहाँसे मिलेगा ? *'धावतो ह्यर्थार्जितः'*—यहाँ जानेसे चार पैसे मिलेंगे। इस प्रकार

कमाई करनेके लिए लोग यहाँसे वहाँ और वहाँसे यहाँ दौड़ रहें हैं। अरे भाई, पैसेमें कहाँ सुख है ? हम जानते हैं ऐसे पैसेवालोंको, जिन्हें रातको नींद नहीं आती। वे गोलियाँ खा-खाकर सोनेकी चेष्टा करते हैं। इसलिए पैसेमें सुख नहीं है। शान्तिमें सुख है और शान्ति भावनासे प्राप्त होती है तथा भावना युक्त होनेसे प्राप्त होती है।

अब हम एक बड़ी व्यावहारिक बात बताते हैं आपको। आप अपनी प्रज्ञारानीको देखिये। प्रज्ञा महारानीकी इज्जत होनी चाहिए। आज मैं यहाँसे जब कथा करके गया, तो मुझसे कहा गया कि 'चिन्तामणि' के लिए एक लेखकी जरूरत है। बङ्गलोर विश्वविद्यालयमें एक भाषण हुआ था संस्कृतमें, जो मेरे पास था। मैंने उसका अनुवाद करा दिया। वह भाषण पालकीवालेका था। उसने कहा था कि आज वेदको सबसे ज्यादा जरूरत प्रामाणिकताकी है। अर्थार्थी क्षेत्रमें तो कुछ प्रामाणिक लोग मिल भी जाते हैं। वे यदि वायदेका सौदा कर लें, तो उससे टलते नहीं हैं, पैसा चुका देते हैं। लेकिन बौद्धिक क्षेत्रमें प्रामाणिकता इतनी नष्ट हो गयी है कि यदि उसने आज अपना कोई निश्चय बनाया, तो वह कलतक उसपर कायम रहेगा कि नहीं—यह मालूम ही नहीं पड़ता। बौद्धिक क्षेत्रमें प्रामाणिकताका नाश हो गया है और यह देशके लिए सबसे बड़ा खतरा है। बुद्धिमान् लोग आज कुछ और कल कुछ सिद्ध कर देते हैं। कुछ भरोसा नहीं है इनका। एक दिन बारह जज इकट्ठे हुए। उनमें-से-पाँच सुप्रीम कोर्टके थे और सात हाई कोर्टके थे। एक जजने हमें बताया कि एक जजने किसी मुकदमेंमें एक फैसला दिया। जब वह जजीसे निवृत्त हो गया, तो वकालत करने लगा। उसी मुकदमेकी अपीलमें वह पैरवी करने आया था। जब उससे पूछा गया कि फैसला आपका ही है और आप ही उसके खिलाफ पैरवी कर रहे हैं, तो उस रिटायर्ड जजने कहा कि वह फैसला एक जजका था। इस समय मैं अपने मुवक्किलके पक्षका निरूपण कर रहा हूँ। तो बौद्धिक प्रामाणिकता समाप्त हो गयी न!

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। (६७)

एक सिद्धान्त है कि आत्मा ब्रह्म है। यदि ब्रह्मा भी आकर कहें कि यह गलत है, तो कटनेवाला नहीं है। युक्तियोंसे ब्रह्मा स्वप्नवत् हो जायेंगे और सिद्धान्त सच्चा रहेगा। श्रीकृष्ण कहते हैं कि आगे-आगे चलती हैं इन्द्रियाँ। आँखने देखा कि अरे, बहुत बढ़िया साड़ी है, ऐसी तो हमारे घरमें नहीं है। मनने कहा कि ठीक है, ऐसी साड़ीके लिए तो पाँच सौ रुपये चाहिए। बोली कि कोई बुद्धि लड़ाओ। अब बुद्धि यह लड़ी कि देवीजी रूठकर बैठ गयीं। यह बुद्धि है। आगे चली आँख, पीछे चला

मन और उसके पीछे चली बुद्धि, कि कैसे पाँच सौ रुपये प्राप्त करें। इन्द्रियाँ हुईं मालकिन, मन हुआ उनका अनुयायी और प्रज्ञा बेचारीको मनके पीछे-पीछे चलना पड़ा।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि। (६७)

बुद्धि लुट गयी! नौकरके हाथमें आगयी बुद्धि और जैसे हवा पानीमें नावको उड़ाकर ले जाती है, वैसे ही इन्द्रियाँ मन-बुद्धिको उड़ा ले गयीं।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (६८)

भगवान् कहते हैं कि हे महाबाहो, जिसकी इन्द्रियाँ चारों ओरसे इन्द्रियार्थ द्वारा निगृहीत हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। इन्द्रियार्थसे इन्द्रियोंको निगृहीत करके रखो, काबूमें रखो। कुत्ता रखो, पर जिस समय उसको इशारा करो कि इसके ऊपर टूट पड़ो, उस समय टूट पड़े और जिस समय बुलाओ, उस समय वह लौट आये। कुत्ता रहे घरमें, पर आज्ञाकारी रहे। यह श्लोक आयेगा गीतामें—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। (३.३४)

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे–'प्रत्येक इन्द्रियका इन्द्रियके अर्थमें (भोगमें) राग-द्वेषकी स्थिति है। अपने-अपने विषयमें राग-द्वेष हैं, परन्तु '**तयोर्न वशमागच्छेत्**'। इन्द्रिय रहे, इन्द्रियका विषय रहे और उनके व्यवस्थित राग-द्वेष भी रहें, परन्तु राग-द्वेष अपने अधीन हों, हम राग-द्वेषके अधीन न हों। वेदान्तका यह कहना नहीं है कि आँख फोड़ लो, पाँवसे चलो मत, हाथसे काम मत करो, गुफामें घुसकर बैठ जाओ। वेदान्त तो कहता है—

सेनापत्यं राज्यं च दण्डनेतृमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ —मनुस्मृति १२.१००

छान्दोग्योपनिषद्में बताया है कि तीन बातें ऐसी हैं, जो ब्रह्ममें तो नहीं हैं, किन्तु ब्रह्मज्ञानीमें हैं। वे तीनों बातें कौन-सी हैं? एक तो ब्रह्ममें वैदुष्य नहीं है और ब्रह्मज्ञानीमें वैदुष्य है। स्वराट् अत्यन्त प्रदीप्त, प्रज्वलित रूपमें विराजमान रहता है और वह अधिपति है। विलक्षण आनन्द है उसका, विलक्षण वैदुष्य है उसका और विलक्षण सत्ता है उसकी।

तो जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। जब वह कहे कि आत्मा ब्रह्म है, तो उसकी बुद्धिका कभी तिरस्कार नहीं करना। यह बड़ी प्रतिष्ठित, बड़ी इज्जतदार प्रज्ञा है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (६९)

'पश्यतो मुनेः'—अरे, यह मुनि आँखवाला है, देख रहा है। इसकी तरह जिसकी आँखें खुली होती हैं, वही परमार्थ देखती हैं। जिस परमार्थके सम्बन्धमें सारे प्राणी सोते हैं, यह नहीं जानते कि परमार्थ क्या है, वह है निशा। *'न शं यस्यां सा निशा'*—जिसमें शान्ति न मिले, उसका नाम निशा। अथवा *'नितरां शं यस्यां सा निशा'*—जिसमें खूब शान्ति है, उसका नाम है निशा। एक कविने कहा है कि जिसमें परिन्दे भी सोते हैं, पेड़-पौधे भी विश्रामका अनुभव करते हैं, उस परमार्थको संसारी, व्यवहारी लोग नहीं जानते हैं; किन्तु उसमें संयमी पुरुष जागता है। संयमी संन्यासीका एक पर्यायवाची शब्द भी है। पूर्व प्रसंग भी यही है कि *'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः निगृहीतानि'* अर्थात् इन्द्रियोर्थसे जिसकी इन्द्रियाँ निगृहीत हैं, उसका नाम संयमी है। योगदर्शनमें संयम शब्द पारिभाषिक शब्द है और वह उनका अपना ही है। पारिभिाषिक शब्द भी बनते-बिगड़ते रहते हैं। पाणिनिने कहा है कि वृद्धि होती है। वृद्धि माने धनकी वृद्धि, जनकी वृद्धि नहीं। तब किसकी वृद्धि? उन्होंने कहा कि *'वृद्धिरादैच्'*—यहाँ यह शब्द पारिभाषिक हो गया। यह परिभाषा उनकी अपनी है; यह मत सनझना कि वेदान्तमें वृद्धि शब्द आये, तो उसका अर्थ वही है। ऐसा अर्थ नहीं होता। इसीसे अपने मनसे जो लोग शास्त्र पढ़ते हैं, वे शास्त्रकी परिभाषा न जाननेके कारण गलत अर्थ समझ जाते हैं। योगसूत्रमें संयमका अर्थ है *'त्रयम् एकसंयमः'*—(३.२) धारणा, ध्यान और समाधि-तीनोंका विषय जहाँ एक होता है। धारणा माने स्थानकी उपाधिसे चित्तकी एकाग्रता, ध्यान माने कालकी उपाधिसे चित्तकी एकाग्रता और समाधि माने वस्तु-विशेषमें चित्तकी एकाग्रता। यह उसका विवेक है।

'*देशबन्धश्चित्तस्य धारणा*'(योगसूत्र ३.१) देशकी उपाधिसे चित्तकी एकाग्रता धारणा है। *'तत्रैकतानता ध्यानम्'* (३.२)—क्रमकी उपाधिसे एकतानताका ध्यान है। अर्थमात्र 'समाधि' है (३.३)। विवेकख्याति होनेके बाद स्वरूपमें स्थिति होनेसे उसका नाम सम्प्रज्ञात है। यह मैंने इसलिए सुनाया कि स्पष्ट हो जाये। वैद्यलोग रोगीको जो संयम बताते हैं, जैसे यह खाना, यह नहीं खाना—यह संयम दूसरा है और योगियोंका संयम दूसरा है। यहाँ तो संयमका मतलब यह है कि घोड़ेकी बागडोर जैसे घुड़सवार अपने हाथमें संयमित करके रखता है, वैसे ही इन्द्रियरूपी घोड़ोंकी बागडोरको अपने वशमें रखनेका नाम यहाँ संयम है।

'यस्यां जाग्रति भूतानि'— *'जागर्ति'* का बहुवचन है **'जाग्रति'**। दुनियाके सब लोग व्यवहारमें, स्त्री, पुत्र, धन, व्यापार, दुकान, मकान आदिके विषयमें कितने जागते हैं। बड़े सावधान हैं लोग! कोई चुपके-से भी उनकी निन्दा एकान्तमें कर रहा हो, तो कान लगाकर सुन लेते हैं कि हाँ, हमको थोड़ा सुन लेना जरूरी है। अरे, एकान्तमें कोई निन्दा करता है, तो करने दो। एक बार किसी बड़े आदमीसे मेरी बात हुई। मैंने उनसे कहा कि महाराज, लोग आपकी निन्दा करते हैं। बोले कि करने दो। उनका मुँह है, करते हैं। उनकी इतनी हिम्मत तो है नहीं कि हमारे सामने आकर बोलें। वे इधर-उधर कुछ वाणीकी खुजली मिटाते हैं, तो बेचारे मच्छर भी तो भुनभुनाते हैं। उनकी बोली समझनेकी क्या जरूरत है? सामने आकर तो बोलेंगे नहीं ! अकेलेमें बोलते हैं, तो बोलने दो।

तो जान-बूझकर, कान लगाकर सुनना— कि मेरे बारेमें क्या बोल रहे हैं, यह दुःख मोल लेना है। जब वह छिपाकर बात कर रहा है, तो इसका अर्थ है कि वह अच्छी बात तो नहीं करता होगा। मुझे एकान्तका बहुत अनुभव है। लोग जब एकान्तमें आते हैं, तो अपने घरका कर्ज बताते हैं, अपनी बहू-बेटीकी तकलीफ बताते हैं ; सब कोई अच्छी बात नहीं करते हैं। लेकिन ईश्वरकी बात करनी हो, तो चौड़ेमें पूछ लेते हैं।

'सा निशा पश्यतो मुनेः' —एक आत्मदर्शी महात्माके लिए यह व्यवहार ही रात है, महाश्मशानमें भूत चेत रहें हैं, मुर्दे चेत रहे हैं। यह संसार महाश्मशान है और उसमें रातके समय जैसे भूत श्मशानमें बोलते हैं, वैसे ही मुर्दे चेतते हैं। रातमें भीड़ जग रही है, क्या हो रहा है ? कहीं बेटा हो रहा है, कहीं विवाह हो रहा है और कहीं मृत्यु हो रही है। तो सब भूत हो तो चेत रहे हैं! इस महाश्मशानमें आप तो शिवरूप हो और आपके चारों ओर भूत रहते हैं। भूत ही तो नाम रखा है न — **'यस्यां जाग्रति भूतानि।'** क्या बढ़िया नाम रखा है । ये भूत-प्रेत जो हैं, ये शिवजीके गण ही हैं और रातको जब श्मशान चेतता है तो उठकर नाचते हैं, गाते हैं, बजाते हैं, ब्याह-शादी करते हैं, सुख-दुःख मनाते हैं, रोते हैं, चिल्लाते हैं और जहाँ रात बीती, वहाँ सब खत्म!

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। (७०)

यदि किसी महात्माके सामने सोनेके बड़े भारी थालमें छप्पन तरहके भोग-राग रख दिये जायें, तो वह खायेगा कि नहीं खायेगा ? खायेगा, लेकिन उसके मनमें खानेकी इच्छा नहीं थी, वह किसीके पास माँगने नहीं गया था। समुद्र कभी किसी

नदीके पास नहीं गया कि हे नदी, तुम हमारे पास आओ। किन्तु नदियाँ उसमें बराबर आकर गिरती रहती हैं और वह कभी मना नहीं करता। '**आपूर्यमाणम्**'— कामनाके पीछे दौड़ना मूर्खता है। *'परा चः कामान् अनुयन्ति बालाः।'* (कठ० ६.२) किसीने सच ही कहा है कि ये जो पराक् काम हैं, बाहरी भोग्य पदार्थ हैं, इनके पीछे तो बच्चे दौड़ते हैं। उपनिषद्में कहा गया है कि *'ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।'* (कठ० २.१.२) मौतने जाल फैला रखा है, उसमें हम फँस जाते हैं। परन्तु '**आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठम्**'—मर रही है दुनिया और वह अपनी प्रतिष्ठामें बिलकुल अचल बैठा है, अपने स्वरूपसे बिलकुल च्युत नहीं होता। '**समुद्रमापः**

Derivation of the word Samudra

प्रविशन्ति यद्वत्। समुद्रम्=*मुद्राभिः सहितम्*'—कभी वह शान्त मुद्रा में बैठा है, कभी विक्षिप्त मुद्रामें बैठा है। मुद्रा दो प्रकारकी होती है—कभी हाथ-पाँव हिलाता है, कभी बोलता है, कभी शान्त होकर बैठता है और भोग उसके पास स्वयं आता है। उसमें चारों ओरसे नदियाँ आकर गिर रही हैं, लेकिन उसकी प्रतिष्ठा अविचल है। प्रश्नोपनिषद्में आता है—

नद्याः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति।

अरे, नदियाँ तो अपनेको समुद्रमें लीन करनेको आती हैं। लीन हो जानेपर उनका नाम-रूप नहीं रहता है, केवल समुद्रका नाम-रूप रह जाता है। इसी तरह महात्मा अपनी मुद्रामें बैठे रहते हैं। *'मुदं राति इति मुद्रा'*—इनकी मुद्रा आनन्द देती है।

'**तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे**'—सारी कामना, सारे भोग आकर प्रवेश कर जाते हैं। उनको हटानेमें भी बड़ा तमाशा होता है। जैसे कोई आकर मेरे पाँवोंके सामने झुक जाता है, तो हमारे साथी कहते हैं कि नहीं-नहीं, चलते समय ऐसा मत करो। अरे, वह तो झुक ही गया, अब तुम क्यों हल्ला करते हो? अगर उसके रास्ता रोकनेसे पहले, ब्रेक लगानेसे पहले मना कर सको, तो करो। जैसे चलती मशीनमें बारम्बार ब्रेक लगानेसे वह बिगड़ जाती है, ऐसे ही चलते समय बार-बार पाँव रोकनेसे हृदयको धक्का लगता है।

एक बार श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने कहा कि आप चन्दन क्यों लगवाते हैं? माला क्यों पहनते हैं? बोले कि भैया, हमसे तो रोकते नहीं बनता है, तुम उनको रोकनेका कोई बन्दोबस्त कर लो, तो अच्छा है। हमें चन्दन नहीं चाहिए, पर लगानेवालेको रोके कौन? अरे, जैसे बुलानेमें विक्षेप है, वैसे ही रोकनेमें भी विक्षेप है। हम तो न किसीको बुलाने जाते हैं और न किसीको रोकने जाते हैं। आया तो वाह-वाह, गया तो वाह-वाह! आयाराम भी ठीक है और गयाराम भी ठीक है।

एक साधु बम्बईमें कालबादेवी रोडपर चल रहे थे। चार आदमी उनके आगे-पीछे चिल्लाते जा रहे थे कि हटो-हटो, महाराजका पाँव मत छूना। अब बम्बई जैसे व्यस्त नगरमें कौन किसका पाँव छूने जाता है ? कौन देखता है कि कितने साधु या भिखमंगे घूम रहे हैं ? लेकिन जब कुछ लोगोंने हटो, बचोकी आवाज सुनी, तब उनका ध्यान साधुकी ओर गया और वे बोले कि भाई, ये तो कोई बड़े अच्छे साधु मालूम पड़ते हैं। हमें इनके पाँव जरूर छूने चाहिए। इसपर हटो, बचो कहनेवालोंने कहा कि सुनो, जिस दिन कोई इनके पाँव छू लेता है, उस दिन ये उपवास करते हैं, भूखे रहते हें। बोले कि रहें भूखे, हमको तो पाँव छूनेका पुण्य होगा। इसलिए जरूर छूयेंगे!

इसलिए जैसे सटानेमें विक्षेप है, वैसे ही हटानेमें भी विक्षेप हैं। कामके पीछे दौड़ो तो जितना दौड़ोगे, उतना ही वह दूर हटता जायेगा। वह तो तुम्हारे हृदयमें बैठे हुए आत्मारामकी परछाईं है, जो बाहर दिखती है। अगर तुम उसकी ओर मुँह करके दौड़ोगे तो जितना दौड़ोगे, वह उतना ही दूर भागेगा।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (७१)

'पुमांश्चरति निःस्पृहः'—इसका अर्थ है कि बैठा हुआ नहीं है, चलता हुआ है। समाधिवालेसे पूछना कि **'चरति'** का क्या अर्थ है। वे कहेंगे कि समाधि चरति है ? वेदकी आज्ञा है कि *'चरैवेति चरैवेति'*—चले-चलो, चले चलो। आगे बढ़े चलो। *'चरन् वै मधु विन्दति।'* (ऐतरेय ब्राह्मण ७.१३-१७) चलनेवाला ही मधुको प्राप्त करता है।

हमें एक महात्माने संन्यासीके कुछ लक्षण बताये थे। एक लक्षण तो यह बताया था कि किसी स्थानविशेषमें संन्यासीकी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। हर बार हमें वही कुटिया मिलनी चाहिए—यह गृहस्थका लक्षण है, संन्यासीका लक्षण नहीं है। दूसरा लक्षण यह बताया था कि संन्यासीकी किसी व्यक्ति-विशेषमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि यह आदमी हमारे पास ही रहे। वहाँ तो दोनों बँधेंगे; संन्यासी भी बँधेगा और वह—जिससे आसक्ति करेगा, भी बँधेगा। तीसरा लक्षण यह बताया था कि संन्यासीकी किसी वस्तु-विशेषमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। जबतक हम दूध नहीं पीयेंगे, तबतक टट्टी ही नहीं उतरेगी—यदि ऐसी स्थिति है, तब तो संन्यासी मर गया, सेर भर दूधके लिए! उसको तो जहाँ दूध मिलेगा, उसी बानियेकी जेबमें रहना पड़ेगा, जिससे कि वह उसे सेरभर दूध रोजाना पिलाता

रहे। तो स्थान, व्यक्ति और वस्तु—तीनोंमें संन्यासीकी आसक्ति न हो। उसकी अन्तर्दृष्टि प्रदीप्त रहे, प्रज्वलित रहे। स्थान, व्यक्ति और वस्तु बाधित होते चलें; बस! '**पुमांश्चरति निःस्पृहः विहाय कामान् यः सर्वान्**'— बेफिक्र होकर घूमो, जो नहीं मिला, उसके लिए कामना मत करो। अप्राप्तकी प्राप्तिकी कामना मत करो और जो प्राप्त हो गया है, वह बना रहे—इसकी स्पृहा मत करो। कोई आगया तो बड़ा प्रेम है और जानेका मन हो तो जाये। किसीको आइये, जाइये, रहिये—यह सब करनेकी जरूरत नहीं है। तुम आओ अथवा जाओ—इसमें मस्तराम होकर बैठे हैं बाबा!

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा।
सम्माननं च न ब्रूयात् मुनिर्मोक्षपरायणः॥

'**विहाय कामान्यः सर्वान्**'—इसका अर्थ है कि जो अप्राप्त है, आपके पास नहीं है, वह आजाये—यह इच्छा मत करो। '**पुमांश्चरति निःस्पृहः**—इसका अर्थ है कि जो है, वह बना रहे—यह स्पृहा मत करो। अच्छा, यदि आकर नहीं जाये और यहीं बना रहे, तो? बोले—'**निर्ममः**' उससे ममता-रहित हो जाओ। उसे मम्मी मत बनाओ। आप लोग बुरा मत मानना। कई साधु लोग तो ईश्वरकी दी हुई अपनी मम्मी और पापाको तो भूल जाते हैं, किन्तु नये-नये मम्मी-पापा बनाते रहते हैं। इन सम्बन्धोंका निषेध इसीलिए है कि ये फँसाते हैं। एक कविका कहना है-

अरे विश्व तू मुझे लुभाने का करता है व्यर्थ प्रयास।
नहीं जानता मेरे उरमें दीख रहा प्रियका मृदु हास॥
भले फूट जायें ये आँखें, पर न लखेंगी तेरी ओर।
देख देख यह नृत्य कर रहा मेरा प्यारा नन्दकिशोर॥

तो '**निर्ममः**'—इसका अर्थ है कि ममता नहीं है। यह मेरा कटिवस्त्र है, इसकी भी जरूरत नहीं है। यह मेरी बम्बई, इसकी भी जरूरत नहीं है। अरे जब शरीर ही तुम्हारा नहीं है, अन्तःकरण ही तुम्हारा नहीं है, जीव ही तुम्हारा नहीं है, कोई दृश्य वस्तु ही तुम्हारी नहीं है और स्वयं तुम नहीं हो तो इस संसारमें तुम्हारा क्या है? मेरा क्या है?

अब बोले कि भाई, यह तो ठीक है कि अप्राप्तको हम नहीं चाहते, प्राप्तमें स्पृहा नहीं करते और स्वयं कुछ मिले तो उसमें ममता नहीं करते! बहुत बढ़िया है! लेकिन यह जो भावना है कि मेरे समान त्यागी कौन है, इसका क्या होगा? यह जो अहंकार हो गया कि मेरे समान त्यागी और कौन होगा, मैं निर्मम हूँ और किसी भी

वस्तुसे ममता नहीं रखता! अरे भाई, इसीनें तुम फँस गये हो। 'ममता नहीं', इसमें ही तुम्हारा फँसाव हो गया है। इसलिए तुम सर्वथा निरहंकार हो जाओ! **निरहंकारः—** निरहंकार शब्दका अर्थ यह नहीं होता कि व्यवहारमें भी अहंकार न हो। ये सब जितनी चीजें हैं, इनको भगवान्ने कुछ सोच-समझकर बनाया है। अगर आपको कोई कहे कि यह चीज लो और अपने पास रख लो, तो आप उसको बोल दो कि देखो भाई, हम संन्यासी हैं। हम यह चीज नहीं लेंगे। यहाँ ऐसा बोलनेमें कोई अहंकार नहीं है। इसलिए नहीं है कि आप ऐसा कहनेसे संग्रह-परिग्रहसे बच जायेंगे। लेकिन यदि कहीं किसी रास्तेपर चलना हो और आप कहें कि हम संन्यासी हैं, आगे-आगे चलेंगे और तुम गृहस्थी होनेके कारण पीछे-पीछे चलोगे, तो यह आपका अहंकार है। दूसरेको पीछे करनेमें अहंकारका सदुपयोग हो गया। इसलिए अहंकारको अपनी जगहपर रहने दो। किसीने आकर कहा कि हमारे मुकदमेमें झूठी गवाही दे दो, तो कहो कि हम पण्डित हैं, ब्राह्मण हैं, रोज संन्ध्या-वन्दन करते हैं, गायत्रीका जप करते हैं, हमारा काम झूठी गवाही देना नहीं है। इसपर यदि वह कहे कि पण्डितजी, आप तो बड़े अहंकारी हैं, तो बोलो कि हमारा अहंकार हमको मुबारक हो। हम तुम्हारी झूठी गवाही नहीं देंगे। यह बहुत बढ़िया अहंकार है।

काशीमें एक पण्डितजी थे, अभी भी हैं। उन्होंने एक दूसरी जातिकी लड़कीसे शादी कर ली। आठ-दस-पन्द्रह वर्ष हो गये। एक दिन मैं उनके घर गया तो उनकी वह दूसरी जातिकी पत्नी मेरे पास आकर रोने लगी और बोली कि स्वामीजी, जब मेरे पति पण्डितजी महाराज मुझसे कहते हैं कि तू शूद्र है, तब मेरे प्राण सूख जाते हैं। व्याह किया, बच्चे हुए, खान-पान सब साथ चल रहा है और अब मुझे शूद्र कहकर मेरा तिरस्कार करते हैं! मैं उस स्त्रीको क्या उत्तर देता? मैंने मन-ही-मन कहा कि पण्डितजीका ब्राह्मणत्व तो पहले ही नष्ट हो गया। अब उसका कैसा अभिमान?

देखो, निरहंकार शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें अहंकारका नाश नहीं है, जैसे *'अहंकारात् निष्क्रान्ताः निरहंकाराः'।* इसलिए अहंकारको अपनी जगहपर रहने दो। एक अहंकार वह है, जो आँखसे धरतीको देखता है और पाँवसे उसपर चलता है। आँख अपना संदेश अहंके पास पहुँचाती है कि रास्ता ठीक है और अहं अपना संदेश पाँवके पास पहुँचाता है कि चलो। आँखों और पाँवोंमें अगर एक ही अहं काम न करता होता तो आँखसे रास्ता देखने और पाँवसे चलनेके दोनों काम एकसाथ कैसे होते? इसलिए एक अहंकार ही आँखसे देखता है और पाँवसे

शरीरको चलाता है। लेकिन तुम कौन हो? यह अहंकार तुम्हारा स्वरूप नहीं है। तुम तो असंग, अद्वय ब्रह्म एक हो और जैसे हड्डी-मांसका शरीर अपना काम कर रहा है, वैसे ही एक सूक्ष्म शरीरमें बसा हुआ बाधित अहंकार-अहंकाराभास अपना काम कर रहा है। आभासके द्वारा कर्म हो रहा है और तुम उसके साक्षी हो।

'स शान्तिमधिगच्छति'—उसे शान्ति मिलती है। अधिगमका अर्थ होता है कि शान्ति भी पैदा नहीं की जाती। आप इसपर ध्यान दो। '**अधिगच्छति**'का अर्थ है 'अधिगम करना।' एक जगह ऐसी है, जहाँ शान्ति जाती है। जबा हम उससे बाहर निकलकर बैठते हैं तब वह नहीं दिखती है। किन्तु जब हम शान्तिके अधिष्ठान बनकर देखते हैं तब शान्तिकी झाँकी दिखायी पड़ती है कि यह रही शान्ति, यह रही शान्ति।

श्रीहरिबाबाजी महाराज एक पण्डितके घरमें कथा सुनने जाते थे। चार महीने बाद सेवकने कहा कि महाराज, उनके घरमें तो शाल-दुशाले और पीताम्बर आदि खूँटियोंपर टँगे हुए हैं। हजारों रुपयेके तो कम्बल हैं। बड़ा भारी प्रदर्शन है उनके घरमें। श्रीहरिबाबाजीने कहा कि चार महीने हमें उनके घर जाते हो गये। मैंने तो पण्डितजीको देखा, उनकी कथा सुनी, किन्तु भीतरकी ओर तो कभी देखा ही नहीं कि उनके घरमें क्या-क्या है! इस उत्तरसे वह सेवक लज्जित हो गया। उसको तो केवल शाल-दुशाले आदि ही दिखे। पण्डितजी तो नहीं दिखे, उनकी वाणी नहीं दिखी।

इसी तरह आपके हृदयमें जो हड्डी, मांस चामके रूपमें तमोगुण है, क्षमा, दया आदि वृत्तियोंके रूपमें सत्त्वगुण है और नित्य शान्तिकी अवस्था है, उसपर आपकी दृष्टि नहीं जाती, फिर आप देखते किसको हैं? कहाँ बैठकर देखते हैं? '**अधिगच्छति**'—इसका अर्थ है कि आपके हृदयमें पहलेसे विद्यमान जो शान्ति है, उसका अधिगम होता है। अधिगम शब्द ज्ञानका पर्यायवाची है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। (७२)

यह सारा-का-सारा त्वं-पदार्थका निरूपण है। डरना मत। '**मत्परः**' आते ही तत्पदार्थ मिल गया। भगवान्‌ने उपक्रम किया आत्मासे, उपसंहार किया यह कहकर कि '**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ**'। ब्राह्मी स्थिति माने आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है। आत्माकी स्थिति ही ब्रह्मकी स्थिति है। फिर '**नैनां प्राप्य विमुह्यति**'—यह भी बता दिया। जहाँ एक बार वृत्ति-व्याप्ति हो जाती है, वहाँ दो बार वृत्ति-व्याप्तिकी आवश्यकता नहीं रहती। एक बार ज्ञान होनेके बाद दुबारा मोह नहीं हो सकता

क्योंकि परोक्षका ज्ञान हो तो दूसरेका ज्ञान हो, यहाँ तो उस स्वरूप-विशेषका ज्ञान है, जो कभी परोक्ष होता ही नहीं। स्वरूप ही परोक्ष नहीं होता तो उसका ज्ञान परोक्ष कहाँसे होगा? एक बार उसकी प्राप्ति हो जानेके बाद फिर अप्राप्तिका प्रसंग नहीं है। अब बोले कि भाई, हमारी जिन्दगी तो ऐसे ही कट गयी। फिर क्या हो? एक भक्त कविकी कविता याद आगयी—

प्रभु नहीं चीन्हा रे उमरिया बीत गयी।
उपरिया बीत गयी सारी, प्रभु नहीं चीन्हा रे।
ऐसे ही जनम समूह सिराने।
प्राननाथ रगुनाथ सों पति तजि सेवत पुरुष बिराने।

बोले, कि नहीं-नहीं, डरना मत। जो धर्म गिरे हुएको ऊपर नहीं उठायेगा, नीचेको ऊँचा नहीं बनायेगा, वह धर्म कहाँ रहेगा? जिस धर्ममें पतितको पावन करनेकी सामर्थ्य नहीं है, उस धर्मकी आवश्यकता ही कहाँ है? धर्म वह है, जो पतितको पावन बना दे, नीचको ऊँच बना दे और केवल ब्राह्मणका ही कल्याण न करे; वरन् जो भी उसके पास जाये, उसका ही कल्याण करे। वह धर्म ऐसा है कि यदि मरनेके दिन भी और मरते-मरते भी उसका स्मरण हो जाये, बोध हो जाये तो काम बन जाये।

'**स्थित्वा स्यामन्तकालेऽपि**' सारी जिन्दगी वेदान्ततत्त्वका चिन्तन करते-करते बीत गयी। ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हुआ; लेकिन यदि कदाचित् भाग्योदयसे सत्संगसे, श्रवणसे, आखिरी साँसमें भी अपने ब्रह्मत्वका बोध होकर जीवत्वका भ्रम मिट गया तो '**ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति**' (२.७२) निर्वाण माने जहाँ संसारको प्रकाशित करनेवाली दीया बुझ जाती है; वह वृत्ति शान्त हो जाती है, जो संसारको प्रकाशित करनेवाली है, संसारमें सत्यत्वकी भ्रान्ति करानेवाली है।

जो दीया हम जलाते हैं, उसमें श्रद्धाका तो तेल हो, बुद्धिका पात्र हो और वृत्तिमें आरूढ़ आत्माकी ज्योति हो। अविद्या अन्धकार है, उस अविद्याकी निवृत्ति मोक्ष हैं और इस सब तमाशेको देखनेवाला जो साक्षी है, वही ब्रह्म है; आत्मा है। यही है वेदान्तका सार। '**ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति**'-माने ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति हो गयी। ब्रह्मनिर्वाण शब्दको कोई एक शब्द मानते हैं—ब्रह्ममें निर्वाण, ब्रह्मरूप निर्वाण और कोई निर्वाणसे अलग मानते हैं। ब्रह्म कैसा है? निर्वाण है, ऐसा निर्वाण है, जिसके पास गति नहीं है-वाण माने गति। और ऐसा निर्वाण है, जिसमें वासनाकी गन्ध नहीं है—वाण माने गन्ध। जिसमें वासनाकी तो गन्ध नहीं है और जन्मसे जन्मान्तरकी, लोकसे लोकान्तरकी गति नहीं है, उसको बोलते हैं निर्वाण।

अब आओ, निर्वाण ही कर लें। पहले बाण लगता है तो उसके लगनेका लक्षण क्या है? शरीरमें दर्द होता है। आनन्दके विरुद्ध बाण हो तो दु:ख होता है। फिर बेहोश हो जायेंगे तो वह चेतनके विरुद्ध हो जायेगा और उसके बाद मर जायेंगे। इस प्रकार बाण तीन काम करता है—पहले दु:ख देता है, फिर बेहोश करता है और फिर मार डालता है, लेकिन निर्वाण माने यह होता है कि उसमें न दु:ख है, न बेहोशी है और न मृत्यु है। तीनोंसे मुक्ति है। जिसमें वासना है नहीं और जाना-आना है नहीं, उसका नाम हुआ निर्वाण। '**ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।**'

॥ इस प्रकार यह 'सांख्ययोग' नामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ॥



तीसरा अध्याय

अर्जुनका प्रश्न कितना सीधा-सादा और सरल है! उसके मनमें बात आयी तो उसने पूछनेमें कोई संकोच नहीं किया। '**अर्जुन उवाच**'का अर्थ है *'अर्जुनस्य वचनम्'* अर्थात् अर्जुनका वचन। संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं कि मैं जो बोल रहा हूँ, वह अर्जुनका वचन है। अर्जुन श्रीकृष्णसे पूछते हैं कि महाराज, अन्ततोगत्वा आपका मत क्या है ? इसपर भगवान् श्रीकृष्णने एक बुद्धि तो बता दी सांख्यकी और दूसरी बुद्धि बता दी योगकी। सांख्य और योग क्या है? *सम्यक्ख्यानम् संख्या*—किसी प्रकारका सम्यक् आख्यान कर देना, वर्णन कर देना, व्याख्यान कर देना, इसका नाम है संख्या। *संख्यैव सांख्यः सम्यक्ख्यानमेव सांख्यम्*—किसी वस्तुका भलीभाँति ठीक-ठीक, यथार्थ वर्णन करना, शुद्ध वस्तुका निरूपण करना—इसका नाम है सांख्य। इसी तरह *'योजनम् योगः'*। *युज् धातु* समाधि अर्थमें भी है और संयोग अर्थमें भी है। *योगः समाधिः। योगः संयोजनम्।* एक वस्तुको दूसरी वस्तुके साथ जोड़ देनेका नाम योग है अथवा एकमें दूसरे वस्तुको मिलाकर, समाहित करके सारे प्रश्नोंका समाधान कर लेना योग है। समस्त कार्य-कलापोंका कारणमें लय कर देना भी योग है और दो अलग-अलग वस्तुओंको जोड़ देना भी योग है। योग अधिकारीके द्वारा अनुष्ठित कर्तृतन्त्र, प्रयत्नरूप, फलोत्पादक व्यापार-विशेष है। कर्ताके द्वारा अनुष्ठित बारम्बार आवर्तमान, फल-विशेषका उत्पादक, प्रयत्न रूप—चाहे वह शारीरिक हो, मानसिक हो अथवा बौद्धिक हो—एक क्रिया-कलापका, व्यापारका, नाम भी योग है।

संक्षेपमें हम योग और सांख्यके सम्बन्धमें कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि मन-पसन्द वस्तुको मिलानेवाला योग है और जो वस्तु जैसी है, उसको वैसा लखा देनेवाला सांख्य है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इन दोनोंको बुद्धि कहा है और साफ-साफ बताया है कि हे अर्जुन, तुम बुद्धियोगी रहो। वे यह भी कह चुके हैं कि-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। (२.४५)

वेद गुणत्रयाभिमानीके लिए कर्मका विधि-निषेध करते हैं। इसलिए तुम निस्त्रैगुण्य अवस्थाको प्राप्त हो जाओ। यह भी कह चुके हैं कि '**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ**'

(२.७२) यह ब्राह्मी स्थिति है और इसमें निर्वाण प्राप्त हो जायेगा। यह भी कहा गया है कि '**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**' (४७) लेकिन इन वचनोंके द्वारा भगवान् कहना क्या चाहते हैं—अर्जुनकी बुद्धिमें जितना स्पष्ट होना चाहिए, उतना सपष्ट नहीं हुआ। इसलिए साफ-साफ उत्तर देनेके लिए आग्रह करते हैं। उनका प्रश्न परीक्षा लेनेके लिए नहीं है, उसमें कोई छल-कपट नहीं है। इसलिए अर्जुनको जो बात स्पष्ट नहीं हुई, उसके सम्बन्धमें वे प्रश्न करते हैं।

अब देखो, भगवान् आखिर कहते क्या हैं ? उनका बुद्धिके प्रति बहुत पक्षपात है। यह बात प्रारम्भसे ही मालूम पड़ती है कि भगवान् श्रीकृष्ण बुद्धिके पक्षपाती हैं। बुद्धि का यह स्वभाव है कि उसका सत्यके प्रति पक्षपात होता है। जिसको वह सत्य समझती है, उसकी ओर झुकती है। लेकिन हम जबरदस्ती उसको स्वीकार न करें तो यह बात दूसरी है।

अर्जुनके प्रश्नमें भगवान्के लिए जो '**जनार्दन**' सम्बोधन है, उसका अर्थ है दुष्टजनोंका अर्दन करनेवाला। *'जननं जनः जन्म मरणं च अर्दयति इति जनार्दनः'* जो जन्म और मृत्युके चक्करसे छुड़ा दे, उसका नाम भी जनार्दन है। *'जनयति जगत् इति-माया ताम् अर्दयति इति जनार्दनः'*—जो मायाको मार दे, उसका नाम जनार्दन। जो अविद्याको, अज्ञानको मिटा दे, उसका नाम जनार्दन। अर्जुनका आशय यह है कि आपका काम अविद्याको निवृत्त करना है, क्योंकि आप बुद्धिके पक्षपाती हैं और बुद्धि सत्यकी समर्थक है। आप दूसरे अध्यायमें कह आये हैं कि '**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धि-योगाद्धनञ्जय**' (२.४९)। अर्थात् कर्म बुद्धियोगसे बहुत दूर, बहुत नीचे पड़ता है। कर्म बुद्धिसे दूर है माने मूर्खतापूर्ण है। जब किसी कर्मके सम्बन्धमें कहा जाये कि वह बुद्धिसे बहुत दूर है तो लोग उसका क्या अर्थ समझेंगे? यही समझेंगे कि और सब तो ठीक है, लेकिन कर्म करनेवालेको जरा अकलसे परहेज है। परहेज माने परिजिहीर्षा! क्योंकि उसका कर्म वर नहीं, अवर है, वरेण्य नहीं, त्याज्य है। यही इसका अर्थ होता है कि वह कर्म बुद्धिसे अवर माने बुद्धि-योगसे दूर है।

अच्छा, यदि कहो कि भगवान्ने यह बात सबके लिए सामान्य रूपसे कही है तो ऐसा नहीं है। क्योंकि दूसरी अर्द्धालीमें उन्होंने बिलकुल साफ कह दिया है कि '**बुद्धौ शरणमन्विच्छ।**' यह तो अर्जुनके लिए आज्ञा है कि बुद्धिकी शरण ग्रहण करो। जो बुद्धिकी शरण ग्रहण नहीं करते, उनकी निन्दा भी कर दी गयी है—'**कृपणाः फलहेतवः**' (२.४९)। इस प्रकार फलहेतु कार्पण्यकी निन्दा, बुद्धिकी शरणका उपदेश, कर्मकी निन्दा और कर्ममें बुद्धियोगसे दूरी आदि बातोंसे अर्जुनका समाधान न होना स्वाभाविक है। इसमें उसका कोई दोष नहीं दिखता है। अर्जुन तो

बेचारा बड़ा सीधा-सादा, भोला-भाला है। नीलकण्ठीमें अर्जुन शब्दकी व्याख्या
Meaning of the word Arjun
करते हुए कहा गया है कि वह ऋजु स्वभावका है। पाणिनि व्याकरणसे यह शब्द नहीं बनता है। वहाँ तो *'अर्जनात् अर्जुनः'* बनता है। इसलिए नीलकण्ठने *'ऋजुत्वात् अर्जुनः'*—यह अर्थ किया। यहाँ अर्जुनके प्रश्नसे यह स्पष्ट हो गया है कि कर्मकी अपेक्षा बुद्धि **ज्यायसी** है, माने श्रेयसी है, श्रेष्ठ है, श्रेयका साधन है—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ (१)

अर्जुन कहते हैं कि हे केशव, '**तत्कर्मणि—तत्रापि घोरे कर्मणि मां किं नियोजयसि**'? मुझे फिर कर्म करनेको क्यों कहते हो जहाँ बुद्धियोग है ही नहीं—बुद्धिका संयोग ही नहीं है, उस निर्बुद्धिता-पूर्ण कार्यमें हमको क्यों लगाते हो? और, वह कार्य भी कैसा है? घोर है। फिर उसमें मुझे क्यों नियुक्त करते हो?

Meaning of the word Keshaba

केशव नामका *अर्थ* है बड़े-बड़े काले बालोंवाला। श्रीकृष्णके बाल इतने काले हैं कि उनके बीचमें उनका साँवरा-सलोना मुख भी चमकने लगता है। मैंने देखा है कि जिन लोगोंका मुख कुछ साँवला होता है, वे बड़े-बड़े बाल रखकर दोनों तरफ लटका देते हैं। मुँह कितना भी काला हो, बालोंसे तो कम ही होता है। इसलिए काले-काले बालोंके बीचमें साँवले मुखका गोरापन मालूम पड़ने लगता है।

केशव शब्दके और *अर्थ* देखिये। *'प्रशस्तः केशः'*—जिसके बाल बड़े सुन्दर हों, प्रशस्त हों, उसका नाम केशव है। *'केशा रश्म्याः'*— श्रीकृष्णके बाल क्या हैं—किरण हैं। उनसे ज्ञानांशु निकलते हैं, ज्ञानरश्मियाँ निकलती हैं। केश माने दाढ़ी-मूँछ नहीं, साधारण बाल नहीं। जो चिन्मात्र वस्तुसे चिदाभासकी रश्मियाँ निकलती हैं, उसीको 'केश' बोलते हैं और ऐसे केश जिसके हैं वे ही केशव हैं। वे सम्पूर्ण चिदाभासोंके मूल उद्गम हैं, उसी चिन्मात्रसे, चित्-सत्तासे चिदाभास सत्तालाभ करते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि आभास भी सत्य है। लेकिन आभास नैमित्तिक है कि निर्निमित्तिक है? निर्निमित्तिक है। निर्निमित्तिक अनादि है, यह तो हम मानते हैं। जिसमें आभास पड़ता है, वह निमित्त अनादि है। परन्तु क्या वह तत्त्वज्ञानके द्वारा वाधित नहीं होता? अन्तःकरण-विहित, अविद्या-विहित जो निमित्त है, वह क्या तत्त्वज्ञानसे निवृत्त नहीं होता? जब आभासका फल निवृत्त हो जायेगा तो आभास
Anaditva / beginningless is not equal to Abadhitva / without destruction
कहाँ रहेगा? कोई भी वस्तु अनादि होनेसे ही अबाधित नहीं होती। अनादित्व अबाधित्वका प्रयोजक नहीं है। यदि वह वस्तु अधिष्ठान-ज्ञानसे बाधित न हो तो सत्य हुआ करती है। इसलिए आभास अनादि है और वह जबतक अन्तःकरणमें पड़ रहा है, तबतक रहेगा। वह प्रवाही नित्य है—ऐसा माननेमें कोई हर्ज नहीं है।

परन्तु जहाँ अन्तःकरण समाप्त हो जायेगा, वहाँ उसमें पड़नेवाला आभास भी समाप्त हो जायेगा। यही वेदान्त-सिद्धान्त है। हमलोग जिस शांकर सिद्धान्तको वेदान्त मानते हैं, उसका सिद्धान्त यही है।

देखो, *'कश्च, अश्च, ईशश्च एषां'* (ब्रह्मा, विष्णु और शंकर—इन तीनोंका) नाम है केश। *'केशान् ब्रह्मा-विष्णु-शिवान् वयते प्रशास्ति इति केशवः'*—जो ब्रह्मा, विष्णु, शिवका भी शासन करता है, उसका नाम है केशव।

हमारे एक मित्र बड़ी कोमल बुद्धिके थे। एक दिन वे उड़िया बाबाजी महाराजके पास गये तो बाबाने कहा कि भाई कुछ पूछना हो तो पूछ लो! उन्होंने कहा कि देखो महाराज, आपलोग तो बड़े बुद्धिमान् हैं, प्रतिभाशाली हैं और मैं हूँ बहुत सुकुमार बुद्धिका सेवक। पता नहीं आप क्या-क्या कह दोगे और उसका कैसा प्रभाव मेरी बुद्धिपर पड़ जायेगा। इसलिए मेरी बुद्धिको कुछ पलटा-वलटा मत करो। मैं तो सीधा-सादा आदमी हूँ। इसपर बाबा बहुत हँसे और बोले कि जा, तू ठीक है!

इसी तरह मानो अर्जुन कहते हैं कि श्रीकृष्ण, तुम तो बड़े प्रबल शासक हो, ब्रह्मा, विष्णु और शिवको भी नचाते रहते हो—*'विधि हरि शम्भु नचावन हारे'*। तुम्हींने विधिको विधाता, हरिको हरिता और शिवको शिवता प्रदान की है। इसीलिए तुम जिसको जो समझाना चाहोगे, समझा दोगे। लेकिन श्रीकृष्ण, मुझे तो सीधे-साधे शब्दोंमें यह बताओ कि श्रेय क्या है ? मैं श्रेयका पिपासु हूँ, श्रेयका जिज्ञासु हूँ। इसलिए उसीके बारेमें जानना चाहता हूँ—

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ (२)

देखो, मैंने जब अपनी शाखाका वेदाध्ययन किया, उसमें वर्णित *'श्रेयश्च-प्रेयश्च'* पर विचार करते समय यह समझा था कि मनुष्यको प्रेयमें तात्कालिक सुखमें नहीं फँसना चाहिए; अपितु जो मुख्य श्रेय है उसका वरण करना चाहिए। अर्जुनका भी यही कहना है कि हमें चाहिए श्रेय और हम हुए हैं तुम्हारे शरणागत। इसलिए आप मुझसे मिली-जुली बातें क्यों कर रहे हैं ?

देखो, अर्जुन यहाँ बहुत सँभालकर बोलता है। मुझे याद है कि मैं बचपनमें बड़ा ढीठ था। मुझे एक महात्मा कुछ समझा रहे थे तो मैंने कह दिया कि आप झूठ बोलते हैं। लेकिन मेरे ऐसा कहनेपर भी वे नाराज नहीं हुए। बोले कि ठीक है, हम जो बोलते हैं वह झूठ है, तो तुम सच बोलकर बताओ। मैंने कहा कि महाराज, मैं जो बोलूँगा, वह भी झूठ होगा। क्योंकि जब वाणीको जीभका जूठा बना दिया तो वह झूठी होगी ही। इसीलिए महात्मा लोग *'अवचनं अवचनेव प्रोवाच'*—वाणीका निषेध करके व्याख्यान देते हैं। इसपर महात्माजी प्रसन्न हो गये और हँसने लगे।

यहाँ अर्जुनकी दृष्टिमें श्रीकृष्णके वाक्य कैसे हैं ? '**व्यामिश्रेण इव वाक्येन**'— खिचड़ी सरीखे लगते हैं। उसमें दाल और भातका अलग-अलग स्वाद नहीं आता, कुछ खिचड़ीका-सा स्वाद आता है। यह तो गुजरातियोंकी-सी सब्जी, जिसमें नमक और गुड़ दोनों एक ही साथ हैं। श्रीकृष्ण जब द्वारिका गये थे तो उनपर गुजरात-काठियावाड़का प्रभाव तो पड़ ही गया था। इसलिए उनके वाक्य व्यामिश्र हैं—'**व्यामिश्रेणेव वाक्येन**'। उसके बाद अर्जुन कहते हैं कि '**बुद्धिं मोहयसीव मे**'। यहाँ '**इव**' शब्दका प्रयोग करते हैं, इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन कितना सम्हालकर बोल रहे हैं। भगवान्‌को यह कह देना कि तुम खिचड़ी बना रहे हो- इसका भीतरी अर्थ क्या है ? यह है कि भगवान् समुच्चयवादी हैं। उनके व्यामिश्र वाक्य हैं। माने उनमें कर्म और ज्ञानका समुच्चय है। उनकी बातोंसे ऐसा लगता है कि एक ही व्यक्ति एक साथ कर्म और ज्ञानका अनुष्ठान कर सकता है। लेकिन इससे अर्जुनकी बुद्धि व्यामुग्ध हो रही है—'**मोहयसी इव**'। वे यह मानते हैं कि भगवान् अपने भक्तको, शिष्यको, प्रपन्नको मोहमें नहीं डाल सकते। उनकी करुणापर, सच्चाईपर अर्जुनको विश्वास है। परन्तु इस समय उनको ऐसा ही लगता है कि भगवान् मुझे मोहमें डाल रहे हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि '**तदकं वद निश्चित्य**'—हमारे लिए निश्चय करके एक बात बताओ!

इसपर मानो भगवान्‌ने पूछा कि कौन-सी बताऊँ ? मैं तो बता ही रहा हूँ। अर्जुन बोले कि नहीं, नहीं, ऐसे नहीं। फिर कैसे ? '**येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्**'— जिससे मुझे श्रेयकी प्राप्ति हो, वह बताओ!

अब भगवान् यह बताते हैं कि एक व्यक्ति एक ही कालमें कर्म और ज्ञान दोनोंका युगपत अनुष्ठान करे—मेरा यह अभिप्राय नहीं है। अधिकारी-भेदसे योग-निष्ठा और सांख्य-निष्ठा दोनोंका विधान है। इसलिए मैंने दोनों निष्ठाओंका वर्णन किया है। इसमें कर्मयोग और सांख्यमें अङ्गाङ्गी-भाव है। अंग है योग और अंगी है सांख्य। अङ्गाङ्गी-भावका अर्थ यह हुआ कि अन्तःकरण-शुद्धिके लिए बहिरंग साधनरूप योग है और पदार्थ-शुद्धिके लिए अन्तरंग साधन रूप वैराग्य भी है। धर्मादि परम्परा-साधन हैं। सच्चारित्र्य आदिसे तो अन्तःकरणमें शम-दमादि उत्पन्न होते हैं और जैसे बन्दूककी नली साफ की जाये, ऐसे ही ये वृत्तिको साफ करते हैं, तत्त्व ग्रहणके योग्य बनाते हैं। वृत्ति बहिरंग है और पदार्थ माने त्वंपदार्थ और तत्पदार्थ—ये वृत्तिकी अपेक्षा अन्तरंग हैं। बहिरंग साधन हैं विवेक, वैराग्य, समाधि और निमित्त। क्योंकि ये अन्तःकरणको शुद्ध करते हैं। बटलोही साफ करना एक बात है और उसमें चावल पकाना दूसरी बात है। वैसे ही ये बटलोही साफ करनेके लिए हैं।

आजसे चालीस-पचास वर्ष पूर्व जब हमलोग राजस्थानमें थे तब भोजन करनेसे पहले थालीको थोड़ा पानी डालकर साफ कर लेते थे, क्योंकि थाली सूखे बालूसे साफ की हुई रहती थी। इसी तरह थाली साफ करनेकी जो प्रक्रिया है, वह बहिरंग साधन है और थालीमें जो तत्पदार्थ-त्वंपदार्थके रूपमें भोज्य पदार्थको परोसना है—वह अन्तरंग है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन तत्पदार्थ, त्वंपदार्थका होता है, इसलिए अन्तरंग है और अन्तःकरण-शुद्धि औजारकी शुद्धि है। क्लीनरका मोटर साफ करना दूसरी चीज है और उसपर सवारका बैठना दूसरी चीज है।

अब अर्जुनने प्रश्न तो कर दिया, लेकिन डर गया होगा कि मैं '**व्यामिश्रेण वाक्यं**' और '**घोरे कर्मणि**' बोल रहा हूँ तो कहीं श्रीकृष्ण नाराज न हो जायें। पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। (३)

अर्जुन, तुम अनघ हो, निष्पाप हो। तुम्हारा कोई दोष नहीं। तुम तो सच्ची बात कह रहे हो। अगर तुम्हारे मनमें पाप होता तो तुम उसे छिपाते। पहली बात तो यह है कि तुमने बहुत बढ़िया प्रश्न किया।

देखो, प्रश्नकर्ताके प्रश्नका अभिनन्दन करनेसे उसकी बुद्धि और बढ़ती है। यदि कोई किसी प्रश्नकर्ताको पहले ही कह दे कि तू मूर्ख है, कुछ समझता नहीं है, तेरा अन्तःकरण अशुद्ध है और तू अनधिकारी है तो इससे जिज्ञासु हतोत्साहित हो जायेगा। इसलिए तुम उसे ब्रह्म देखो बाबा! ऐसा समझो कि शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ही जिज्ञासु होकर तुम्हारे सामने प्रश्न करने आया है। तुम ज्ञानका चोला पहनकर बैठे हो और वह जिज्ञासाका चोला पहनकर आया है। तुम दोनोंके भीतर वही एक है। इसलिए उसका सत्कार करो।

तो श्रीकृष्ण बोले कि हे **अनघ**—निष्पाप अर्जुन, मैंने पहले इस लोकमें दो प्रकारकी दृढ़ निष्ठा बतायी है—'**पुरा प्रोक्ता मयानघ**'—यह '**पुरा**' शब्दका अर्थ क्या? इसको बताते हैं दूसरे अध्यायमें। कुछ लोग कहते हैं कि '**पुरा**'का अर्थ यह है कि श्रीकृष्णका कोई आदि ही नहीं है। हमने कोई बात पाँच मिनट पहले कही है कि पाँच हजार बरस पहले कही है—इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। बात अगर सच्ची है तो उसके आगे-पीछे होनेका कोई अन्तर नहीं पड़ता। सच्ची बातको चार दिन पहले कहो या चार दिन बाद कहो, काल सत्यको प्रभावित नहीं कर सकता। ठीक है लेकिन यदि हम '**पुरा-प्रोक्ता**'को ऐतिहासिक सत्य मानें तो ? उसके लिए पहले यह देखो कि भगवान् कहाँ बैठकर बोलते हैं ? वे चौथे अध्यायके प्रथम श्लोकमें कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ (४.१)

यह जो योग है, वह कहाँ है ? बुद्धिस्थ है। सूर्य माने बुद्धिमें प्रकाश—*'धियो यो नः प्रचोदयात्।'* उसको पहले मैंने बताया, फिर विवास्वान्ने मनुको बताया और **'मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्'**-मनुने इन्द्रियोंको बताया। इक्ष्वाकु इन्द्रियाँ। **'एवं परम्पराप्राप्तम्'** (४.२) इसका अर्थ है कि वह परम्परासे इन्द्रियोंमें आया। इसका मतलब यह है कि भगवान् कालके आदिमें बैठकर नहीं बोलते, स्थानके आदिमें बैठकर नहीं बोलते, भगवान् तो सृष्टिके आदिमें बैठकर बोलते हैं, जहाँसे वृत्तियोंका उत्थान-पतन होता है। उत्थान और लय जहाँ होता है, वहाँ बैठकर भगवान् बोलते हैं। इसलिए चलो, वहीं चलो, तब हमारी बात समझमें आयेगी। **'द्विविधा निष्ठा'** द्विधाका अर्थ दो होता है। *'द्वै विधे यस्यां ता द्विविधा निष्ठा एका:'*। निष्ठा एक है और उसकी विधा माने प्रक्रिया दो हैं, प्रकार दो हैं, विधा दो हैं लेकिन निष्ठा दो नहीं हैं। यही बात मैंने कही है—

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। (३)

जो लोग सत्यकी गणना करके सत्यका साक्षात्कार करना चाहते हैं, सम्यक् ख्याति चाहते हैं कि सत्य निरावरण हो जाये, उनके लिए ज्ञानयोग है। किन्तु जो सत्यको अपरोक्ष मानते हैं, अप्राप्त मानते हैं, उसकी प्राप्तिके लिए उपाय करना चाहते हैं उनके लिए कर्मयोग है। श्रीमद्भागवतमें एक मध्यम निष्ठाका वर्णन आया है—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः। (११.२०.७-८)

पूरा वैराग्य हो तो ज्ञानयोग है और संसारमें देहेन्द्रियादिमें राग हो तो कर्मयोग है। किन्तु यदि न तो पूरा राग हो और न पूरा वैराग्य हो तब ? बोले कि वहाँ भक्तियोग है। लेकिन गीतामें तो विधा ही है। विधा माने प्रक्रिया। यह विधि नहीं है, विधा है। विधि दूसरी चीज है और विधा दूसरी चीज है। विधा माने समझानेका प्रकार, शैली, ढंग। **'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्'** (३.३) इससे तो यही मालूम हुआ कि सब लोग सांख्यका विचार करें; क्योंकि कोई भी अपनेको निर्बुद्धि तो स्वीकार करता ही नहीं। सब अपनेको बुद्धिमान ही स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि क्या हम तुमसे कुछ कम हैं ? हम भी ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। हमको अनधिकारी बतानेवाले तुम कौन होते हो!

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। (४)

अब हम आपको कर्म और ज्ञानका अङ्गाङ्गी भाव बताते हैं। यदि आप पहले कर्म नहीं करेंगे तो आपको नैष्कर्म्यकी प्राप्ति नहीं होगी। नैष्कर्म्य फल है और कर्माराधन उसका साधन है। आप साफ-साफ देख लो इसे। इसमें बनावट करनेकी कोई जरूरत ही नहीं है। यदि आप कर्मका आरम्भ नहीं करोगे तो नैष्कर्म्यकी प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् कर्मका आरम्भ करनेसे आप नैष्कर्म्य-प्राप्तिके योग्य हो जाओगे। यदि कहो कि महाराज, हमारी आँखसे तो तस्वीर दिखती नहीं है, तो यह ठीक बात है। लेकिन तस्वीर दिखे कैसे ? जरा पाँवसे चलकर जाओ, तब तो दिखेगी! यह देखो, यहाँ पाँवसे चलना कर्म है और आँखसे देखना ज्ञान है। संसारमें लोग अन्ध-पंगु-न्याससे समुच्चित होते हैं। पाँवसे चलते हैं और आँखसे देखते हैं। परन्तु जहाँ चलकर जाना नहीं है, वहाँ समुच्चित नहीं होते हैं, वहाँ केवल देखना ही होता है। आप देखो, परमार्थ पाँवसे चलकर जानेकी जगह नहीं है, हाथसे पकड़कर जानेकी जगह नहीं है। कर्म और ज्ञानका समुच्चय कहाँ होगा ? जहाँ कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनोंकी जरूरत पड़ेगी। हम एक बड़ी कोमल , सुकुमार वस्तुको अपने हृदयसे लगाना चाहते हैं, लेकिन हमारी त्वचा उसको छू नहीं पाती। तब हाथसे पकड़कर उसको हृदयसे लगाना पड़ता है। फूलको आँखसे लगाना है, इत्रको नाकसे लगाना है। नाकको गन्ध देना है तो हाथसे इत्र लेकर नाकसे लगा लेते हैं। यह क्या हुआ ? कर्म और ज्ञानका समुच्चय हुआ। गन्धका ज्ञान हुआ नाकसे और इत्रको नासिकातक पहुँचाना—यह कर्म हुआ।

हमारी आत्मा एक ऐसी चीज है, जहाँ कर्मकी पहुँच नहीं है। वह ज्ञानस्वरूप है, केवल आवरणमात्रसे ही परोक्ष हो रहा है। वहाँ कर्म ज्ञानका समुच्चय क्या करेगा ? वहाँ तो कर्म-त्याग ही है, भले ही उसको कर्म-मुक्ति कहो। बात यह है कि नैष्कर्म्य शब्द जरा उससे भी बड़ा है। *'कर्मणो निष्क्रान्तं निष्कर्म ब्रह्म'*—जो कर्ता, कर्म और कर्मफल इन तीनोंसे निष्क्रान्त है उसका नाम है निष्कर्म! *'निष्कर्मणो ब्रह्मणो भाव: नैष्कर्म्यम् अश्नुते व्याप्नोति ब्रह्म भवति।'* यदि कोई कर्मका आरम्भ करके अन्त:करण शुद्ध नहीं करेगा तो वह ब्रह्मभावको प्राप्त नहीं हो सकेगा। इसलिए ब्रह्मभाव अंगी है और कर्म अंग है। इसका अर्थ यह हुआ कि कर्म द्वारा अन्त:करण शुद्ध करनेकी आवश्यकता है। यह पहली बात हुई।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समाधिगच्छति। (४)

दूसरी बात यह है कि अन्त:करण शुद्ध तो हुआ नहीं और आपने कर्म छोड़ दिया तो क्या होगा ?

नारि मुई घर सम्पति नासी। मूँड़ मुँड़ाय भये संन्यासी॥

यह स्थिति हो जायेगी। वैराग्यहीन संन्यास ग्रहण करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती। क्योंकि कर्म किये बिना नैष्कर्म्य नहीं होता। इसलिए कर्म करना चाहिए। केवल वैराग्यहीन संन्यास मात्रसे शुद्धि नहीं मिलती। इसलिए भी कर्म करना चाहिए।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (३.५)

अब तीसरी बात देखो! जो ब्रह्मतत्त्व है,आत्मतत्त्व है, वह अकर्मकृत रहे परन्तु *'कश्चित् व्यक्तिविशेषः'* कोई भी शरीरधारी व्यक्ति क्षणमात्रके लिए भी, कभी भी कर्मके बिना नहीं रह सकता। लोग एकान्तमें जाकर किसी पेड़के नीचे रहते हैं, वहाँ दिनभर झाड़ूलगाते रहते हैं। आप लोग बुरा मत मानना। चिड़िया आकर बीट कर जाये या काँव-काँव, चीं-चीं करने लगे तो ढेला ही मारते हैं। जरा अकर्मकृत् बैठकर देखो तो सही! कई लोग तो एकान्तमें कुटिया मिल जानेपर उसे बाहरसे बन्द कर लेते हैं और उसमें कसरत करने लगते हैं। कसरत नहीं करते तो तेल लगानेमें उनका समय व्यतीत होता है। एक महात्मा थे तो अपनी कुटीया इसलिए बन्द रखते थे कि किसीसे मिलेंगे नहीं। लेकिन एकान्तमें करें तो क्या करें ? बेचारे आठ घण्टे सो भी नहीं सकते थे। सोवें तो घर्र-घर्र नाक बोले और वह बाहरसे भी सुनायी पड़े। इसलिए वे उसमें दिनभर तेल लगायें और कसरत करें। उनको देखकर वह कहावत याद आती थी कि *'बैठा बनिया क्या करे, इस कोठेका धान उस कोठे करे।'* कहनेका मतलब यह है कि सर्वथा कर्म त्याग करके रहा नहीं जाता। इसलिए भी कर्म करना चाहिए और व्यवस्थित रूपमें कर्म करना चाहिए।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैगुणैः। (५)

अब चौथी बात लो—सबके शरीरमें एक प्रकृति होती है। प्रकृतिके अनुसार गुण प्रकट होते हैं और सबको कर्म करनेके लिए मजबूर कर देते हैं। शरीरधारी मनुष्य कर्म करनेके लिए मजबूर है। इसलिए भी मनुष्यको निषिद्ध कर्म नहीं करना चाहिए, विहित कर्म करना चाहिए। कर्ममें एक मर्यादा बना लेनी चाहिए, अमर्यादित कर्म नहीं करना चाहिए।

अब बताते हैं कि सबकी जो आत्मा है—आत्मा माने शरीर है, यह कर्म और ज्ञान दोनोंका मिश्रण है। शरीर न केवल कर्म है और न केवल ज्ञान है। इसको चाहे अभ्यास कह लो या ग्रन्थि कह लो, पर ग्रन्थिमें दोनों होगा कि नहीं होगा ? बिल्कुल वेदान्तकी बात है यह। ग्रन्थि तो है। आओ इस शरीरको रोक दिया जाये कि कर्म नहीं करेंगे। पर जब शरीरको कर्म करनेसे रोक दोगे तो मन कर्म करने लगेगा। मन कर्म करने लगेगा तो क्या कर्म करेगा ? वही, जो पहले देखा-सुना है, उसीका स्मरण करेगा। मन इन्द्रियोंके द्वारा तो उसीका स्मरण करेगा। मन इन्द्रियोंके

द्वारा तो अज्ञातका भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परन्तु यदि मन अनुकूल पदार्थोंकी स्मृतिमें ही डूब जाये तो ? अनुभव तो संसारका ही है, परमेश्वरका तो है नहीं, तब दूसरोंका ही चिन्तन होगा! शरीरको तो हम सुखासनसे बाँध लेते हैं, पद्मासनसे बाँध लेते हैं, बद्ध पद्मासन कर लेते हैं। हमने बहुत आसन कर-करके देखे हैं; अभी इस मोटे शरीरसे भी मैं चार-चार घण्टे बैठ सकता हूँ। इतना मोटा शरीर होनेपर भी मैं स्वस्तिकासनसे बैठ जाऊँ तो कई घण्टे बैठा रह सकता हूँ। परन्तु शरीरको साधकर बैठ जानेसे मन बैठ जाता है क्या ? मनको फिर किसका स्मरण होता है ? गृहीत-ग्राहक स्मृति होती है। पहलेसे जो देखे, सुने और अनुभव किये हुए विषय हैं, वे मनमें फुरने लगते हैं। परन्तु उनमें कहीं उपादेय-बुद्धि हो जाये कि ये तो बहुत अच्छे हैं तो बस! जय-जय सीताराम! इसलिए—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ (६)

अरे, कर्मेन्द्रियोंको तो बाँध लिया और मनसे इन्द्रियार्थोंका स्मरण कर रहा है। मन तो है सात्त्विक, इन्द्रियार्थ हैं राजस और फल क्या हुआ ? यह हुआ कि '**विमूढात्मा**' हो जायेंगे, तमोगुण आजायेगा और लोग कहेंगे कि बाबाजी समाधि लगाकर बैठे हैं। घाटपर हजारों लोग गंगा स्नान कर रहे हैं और बाबाजी उनके बीच समाधि लगाकर बैठे हैं। मार्गमें हजारों आदमी चल रहे हैं, भीड़ लगी हुई है और बाबाजीकी समाधि लगी हुई है। अब आप ही बताओ कि घाटमें, बाटमें, हाटमें समाधि लगाकर बैठनेवाले व्यापारी होते हैं या महात्मा होते हैं ? इसलिए ऐसे स्थानोंपर समाधि लगानेका आचार बिल्कुल मिथ्या है—'**मिथ्याचारः स उच्यते**'। मिथ्याचारी है वह पुरुष, जो विषयोंका तो स्मरण करता है और कर्मेन्द्रियोंका संयम करता है—'**कर्मेन्द्रियाणि संयम्य**'— अतः तुम मिथ्याचारी न बन जाओ— इसके लिए भी कर्म करना आवश्यक है। यदि आपको जितनी जानकारी प्राप्त होनी चाहिए, उतनी हो गयी है, कुछ ज्ञातव्य नहीं है तो एकान्तमें उसको दृढ़ करनेके लिए बैठिये। थोड़ी देर बैठिये अथवा बहुत देर बैठिये। लेकिन यदि आपकी जानकारी पूरी नहीं हुई है तो एकान्तमें बैठनेपर अधूरी जानकारी आपको हिप्नोटाइज कर देगी। आप अपनी बुद्धिसे ही सम्मोहित हो जायेंगे और समझेंगे कि हमको तो दर्शन हो रहा है, साक्षात्कार हो रहा है। होगा अपने मनका साक्षात्कार और आप समझेंगे कि आपको सत्यका साक्षात्कार हो रहा है। जिज्ञासुको तो तीर्थ-यात्रा भी ज्यादा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उससे भी विक्षेप होता है। इसी तरह जिज्ञासुको ज्यादा एकान्तवास भी नहीं करना चाहिए और ज्यादा व्रत भी नहीं करना चाहिए।

अपनी बुद्धिमें जो मलिनता भरी है, वह निकाल देनी चाहिए और उसके लिए सत्संगसे बढ़कर अन्य कोई उपाय सृष्टिमें नहीं है—

श्रवणं सर्वधर्माणां परमाह तपोधनः।

सारी सृष्टिमें श्रवण सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है, अज्ञात-ज्ञापक है। जो चीज आप नहीं जानते, वह श्रवणसे मालूम पड़ेगी। इसलिए कहीं आप मिथ्याचारी न बन जायें, इसके लिए कर्म कीजिये।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ (७)

साधकको चाहिए कि वह अपने मनसे इन्द्रियोंका नियमन करके कर्मेन्द्रियोंके द्वारा कर्मारम्भ करे और कहीं भी उसकी आसक्ति न हो। वह कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करे कि भाई,यह तो मेरा अवश्य कर्तव्य है। लेकिन जबतक आपमें कर्तापन है, तबतक आप कर्मसे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकते। दुनियामें यह देखनेमें आता है कि कर्तापनका अभिमान तो छूटा नहीं और लोग अपनेको निष्काम समझ बैठे। मैंने एक निष्कामाचार्यसे पूछा कि अपने भोक्तृत्वका अभिमान बना रहने पर निष्कामताकी प्रतिष्ठा कैसे होगी ? बोले कि नहीं-नहीं,हम पूर्व निष्कामताकी बात नहीं करते हैं। उससे स्वार्थ छूट जायेगा—इतना ही मतलब हमारा है। असलमें पूर्ण कामनाकी निवृत्ति तो तभी होगी; जब अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, अपरिच्छिन्न, प्रत्यक्-चैतनयाभिन्न ब्रह्म तत्त्वका बोध होगा। नहीं तो बेईमानीका व्यापार करेंगे और कहेंगे कि हम तो निष्काम भावसे करते हैं। यह निष्कामता नहीं, निष्कामताका उपहास है। जिज्ञासु पुरुषको इसके सम्बन्धमें बहुत सावधान रहना चाहिए। मनसे इन्द्रियोंका नियमन प्रारम्भ करना चाहिए, वह भी मनोयोग-पूर्वक होना चाहिए और उसमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

'असक्तः स विशिष्यते'—ऐसा करनेवाला ही विशिष्ट व्यक्ति है। विशिष्ट माने क्या होता है? मिथ्याचारीका तो पहले वर्णन आया है। मिथ्याचारी कर्म नहीं करता है, लेकिन विषय-चिन्तन करता है और विशिष्ट व्यक्ति कर्म करता है, लेकिन विषय-चिन्तन नहीं करता। इसको आसक्ति नहीं है, इसलिए यह विशिष्ट हो गया।

नियतं कुरु कर्म त्वं ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ (८)

'नियतं कुरु कर्म त्वं-*नियतं शास्त्रोक्तम्। यस्मिन् कर्मणि अधिकृतः तत्।'* तुम जिस कर्मके अधिकारी हो, उस कर्मको निश्चित रूपसे करो।

'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः'—देखो, अकर्मण्यता तमो गुण है, **'निद्रालस्यप्रमादोत्थ'** है। न करनेकी अपेक्षा तो करना अच्छा है। तुम्हारा यह रोना

ठीक नहीं कि हाय-हाय हमारा रिश्तेदार मर जायेगा; हम राज्य लेकर क्या करेंगे ? कोई साथ नहीं हमारे! इस प्रकार मनमें शोक भरा है, मोह भरा है, ममता भरी है, विषाद भरा है और ये सब तुम्हें कर्तव्यसे विमुख करनेवाले हैं। असलमें कर्म संकल्पसे करना चाहिए। हम अपने कर्तव्यकी पूर्तिके लिए कर्म करते हैं—यह

Derivation and meaning of Pratyavaya

कल्पना सुन्दर है। नहीं करोगे तो प्रत्यवाय होगा, पाप लगेगा। प्रत्यवाय माने क्या होता है ? 'प्रति' माने प्रतीप, 'अव' माने नीचे और 'आय' माने गति। प्रत्यवाय माने जहाँ हम जाना चाहते हैं वहाँसे उलटे, विपरीत जा रहे हैं और जहाँसे ऊपर उठना चाहते हैं उसकी जगह नीचे जा रहे हैं। लक्ष्य-प्राप्तिके विपरीत जाओगे कहाँ ? कर्म करोगे तो तमोगुणका नाश होगा, रजोगुणका जागरण होगा। क्षत्रिय-कर्म करोगे तो मानवताका भी स्फुरण होगा, मानव-कर्म करोगे तो जीवत्वका भी स्फुरण होगा और जीव-कर्म करोगे तो ईश्वरत्वका भी स्फुरण होगा। कर्म करोगे तो रास्तेपर चल पड़ोगे भाई! कर्म करना माने रास्तेमें पड़ना।

यदि कहो कि हम कभी-कभी गिर भी जाते हैं, तो कोई बात नहीं, गिरना मनुष्यका कोई अपराध नहीं है पर गिरकर फिर न उठना अपराध है और उठकर फिर अपने लक्ष्यकी ओर न चलना अपराध है। इसलिए चलते रहो भाई!

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूति-कर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ॥ (उद्योगपर्व १३५.२९.३०)

अपने हृदयमें पीड़ाका अनुभव मत करो। आशा रखो कि पहुँचोगे लक्ष्यपर। मिलेंगे राम—यह निश्चय रखो। उठो, जागो, लक्ष्यकी ओर बढ़ो। जिज्ञासु सावधान! तुम यह ध्यानमें रक्खो कि अकर्मण्यतासे नियत कर्म श्रेष्ठ है—इसलिए भी कर्म करना चाहिए।

अरे, कर्म-त्याग कर दोगे और कहोगे कि हम अपने हाथसे उठाकर खायेंगे भी नहीं तो यह भी एक कर्म ही है। यदि कहो कि दूसरा कोई कर्म करे और हम न करें तो वह हमारा कर्म कैसे होगा? ऐसे होगा कि यदि तुम्हारे मुँहमें कोई कौर डाल देगा तो तुम्हें जीभ हिलानी पड़ेगी और निगलना या बाहर निकालना पड़ेगा। इसलिए ढोंग करनेकी जरूरत नहीं है। अपने हाथसे उठाकर खा लो। शरीर-यात्राके लिए, शरीरका ठीक-ठीक निर्वाह हो—इसलिए भी कर्म करना चाहिए, कर्म नहीं छोड़ना चाहिए।

अब आओ, यह देखो कि एक तो हुआ कर्तव्य-पालनके लिए कर्म और दूसरा हुआ अन्तःकरण-शुद्धिके लिए कर्म। इसको ऐसे समझो कि हमारे यहाँ पहले ऐसे भी बर्तन होते थे, जिनके मुँहमें हाथ नहीं जाता था। लेकिन उन छोटे मुँहवाले बर्तनोंको भी माँजना तो पड़ता ही था। इसलिए ऐसा करते कि उसमें थोड़ी मिट्टी, थोड़ा पानी और थोड़ा कंकड़-पत्थर डाल देते और फिर खूब जोरसे उसको

हिलाते! इस प्रकार जब कंकड़-पत्थर, माटी-पानी उसके पेटमें घूमने लगते, तब सब मैल उसका छुड़ा देते। कभी-कभी तो उसको संधानामें डाल देना पड़ता। रातभरमें वह बिल्कुल नीला हो जाता तो बादमें उसे धो लेते। इसको शोधन-कर्म कहते हैं। यह कर्म-साम्य है, अध:पात है। अध:पातके द्वारा भी शोधन होता है। जिन लोगोंको अपने सत्कर्मका बड़ा भारी अभिमान लगा हुआ है, उनको इस प्रक्रिया द्वारा खटाईमें डालकर ठीक करना पड़ता है। नहीं तो, हमारे जैसे धर्मात्मा और कौन हैं—इस प्रकारका जो बड़ा भारी अभिमान है, वह कैसे जायेगा?

अब तीसरा है ईश्वरके लिए कर्म करना। वह कैसे होता है, यह देखो—

यज्ञ कौन है? विष्णु है—*'यज्ञो वै विष्णु* (शतपथ:।)'

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग: समाचर॥

(९) (ब्रा० १३.१.८.८)

Meaning of Vishnu

विष्णु कहाँ मिलेंगे कि हम उनके लिए कर्म करें? विष्णु माने *'वेवेष्टि'*— सबके भीतर जो बैठा है—वह। इसलिए सर्वोपयोगी, सर्वोपकारी जो कर्म है, वही यज्ञार्थ-कर्म है। एकबार भगवान्ने कहा कि पण्डितोंने बहुत दिनोंसे मुझको यज्ञशालामें धुआँ खिलाया है। अब हम जरा घरोंमें, बाजारोंमें, दूकानोंमें कुछ तफरीह करनेके लिए चलना चाहते हैं। पुजारियोंने भी मंदिरोंमें बहुत दिनोंसे मुझे बन्द कर रखा है। अब मुझको निकालो बाहर। यह बात मैं हँसीके लिए नहीं बोल रहा हूँ, इसे आप सत्य समझ लीजिये। यह सम्पूर्ण विश्व ही भगवान् विष्णुका रूप है। विष्णु-सहस्रनाममें भगवान् विष्णुका पहला नाम यही है—*'ॐ विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभु:।'* इसमें विष्णुसे भी पहले 'विश्व' आया है। उसी स्वरूपकी सेवाके लिए जो कर्म होता है, उसमें बन्धन नहीं है। सारी दुनिया कर्ममें बँधी हुई है। लेकिन जो कर्म यज्ञके लिए किया जाता है, उसमें बन्धन नहीं है। इसलिए

Work for GOD does not produce bondage

यज्ञार्थ माने सर्वात्मा विष्णुके लिए कर्म करो। ईश्वरके लिए जो कर्म होता है, वह यज्ञार्थ कर्म है। जो कर्म उद्देश्यके प्रति चला जाता है, वह कर्ताके प्रति नहीं रहता। कर्मका स्वभाव यह है कि वह कर्तासे चिपकता है, भले ही कर्म चाहे अन्त:करणमें रहे माने अन्त:करण-निष्ट हो चाहे कर्तृनिष्ठ हो, वह अपूर्व बनकर अन्त:करणमें या कर्तामें चिपक जाता है। परन्तु जब भगवान्के लिए कर्म किया जाता है और उस कर्मको भगवान्की ओर फेंक दिया जाता है, तब वह भगवान्को समर्पित हो जाता है और कर्ताको बाँधता नहीं है। जो भगवान्के प्रति अर्पित हो जाता है, वह अन्त:करणमें अपूर्व होकर नहीं बैठता, कर्ताको बाँधता नहीं और अन्त:करणको अशुद्ध नहीं करता।

इसलिए '**तदर्थं कर्म कौन्तेय**'—कर्म करो। किन्तु किसके लिए करो? भगवान्‌के लिए करो और '**मुक्तसंगः समाचर**'—स्वयं कर्ममें आसक्त मत होओ।

अब देखो! यहाँ सात बातें आगयीं। श्रीशंकराचार्यने तो यज्ञ शब्दका अर्थ करते हुए कहा है कि कर्म किसके लिए? यदि कर्तव्य-पूर्तिके लिए, अन्तःकरण-शुद्धिके लिए, ईश्वरार्पणके लिए कर्म किये जायेंगे तो वे बन्धनके हेतु नहीं होंगे, उनसे आसक्ति छूट जायेगी और अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (१०)

मनुष्यकी सृष्टि ही यज्ञके साथ हुई है। यह प्रजा यज्ञके साथ ही पैदा हुई है। अरे यह जीव माटी खाता हुआ निकला, पानी पीता हुआ निकला, गर्मी लिये हुए निकला और साँस लिये हुए निकला। यदि वायु देवता यज्ञके द्वारा इसे श्वास न देते, यदि अग्निदेवता यज्ञके द्वारा इसे अपनी ऊष्मा न देते तो यह कैसे जीवित रहता? यह तो यज्ञके साथ ही पैदा हुआ है—कुछ लेता हुआ, कुछ देता हुआ और किसी मर्यादामें रहता हुआ! यज्ञका यही स्वरूप होता है। आदान, प्रदान, उत्सर्ग—ये सब यज्ञमें होते हैं।

अब देखो कि इस स्थितिमें तुम्हारा क्या कर्तव्य है? क्या तुम दुनियाको अच्छी साँस देते हो? यदि तुम धुएँ वाली साँस दुनियामें फैलाते हो, तो वह कोई यज्ञ थोड़े ही होता है। धुएँकी साँस फैलाना, मोटर, ट्रक, बस या चिमनियोंसे धुआँ छोड़ना, नदियोंमें फैक्टरीका पनाला गिराना—यह यज्ञ नहीं है। अरे तुम यज्ञ करना चाहते हो तो सुगन्ध फैलानेके लिए, मधुर रसकी वर्षा करनेके लिए, सौन्दर्यकी सृष्टि करनेके लिए, सुकुमारताका विस्तार करनेके लिए कर्म करो! गाली देनेके लिए तुमको भगवान्‌ने जन्म नहीं दिया है। तुम तो दूसरोंके कानोंमें अमृत उड़ेल दो।

भगवान्‌ने, प्रजापतिने यज्ञके साथ तुम्हारी सृष्टि की है और यह आदेश दिया है कि '**अनेन प्रसविष्यध्वम्**'—हम तुमको ऐसा यज्ञरूप साधन देते हैं कि यह तुम्हारे लिए कामधेनुका काम करेगा—'**इष्टकामधुक्।**' यदि तुम यज्ञमें तत्पर रहोगे, दूसरोंकी सेवा, दूसरोंकी भलाई करते रहोगे तो कामधेनु तुम्हारे घरमें रहेगी। इससे तुमको जो चाहिए, वह अपने-आप आजायेगा। इसलिए तुम्हारे पास जो अच्छे-से-अच्छा है, वह तुम दूसरोंको देते चलो। किसी अनुभवी कविने कितना अच्छा कहा है—

पानी बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम॥

इसीका नाम यज्ञ है। इसीसे तुम्हारी वृद्धि होगी। अतएव यज्ञ करो, कर्म करो। यज्ञ अथवा कर्मके रूपमें तुम्हें कामधेनु ही दी जा रही है। यज्ञ करोगे तो तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होंगे। यज्ञ माने केवल होम ही नहीं है; उसका अर्थ आपको स्वयं भगवान् ही बता रहे हैं—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (११)

तुम पृथिवीको सुगन्ध दो, जलको दूध दो, अग्निको आरती दो, वायुमें शुद्ध वायु दो, आकाशको घण्टी या वीणा बजा-बजाकर मधुर-मधुर शब्द दो। यही यज्ञ है।

देखो, हमें घरोंमें जाना पड़ता है। वहाँ स्त्रियाँ हमलोगोंके सामने तो ऐसा मीठा-मीठा बोलती हैं कि हाँ महाराज, जो आज्ञा महाराज! किन्तु जब वे समझती हैं कि अब कोई सुननेवाला नहीं है तब नौकरोंके साथ ऐसी कर्कश बोली बोलती हैं, ऐसी कड़वी आवाजसे बोलती हैं कि मत पूछो! उनकी असली आवाजका पता तो तभी मिलता है, जब वे समझती हैं कि कोई सुननेवाला नहीं है।

'**देवान्भावयतानेन**'—देव माने हमारी इन्द्रियोंमें बैठे हुए देवनशील देवता। हमारे आचार्य कहते हैं कि इस यज्ञके द्वारा आप अपनी इन्द्रियोंको शक्तिशाली बनाओ, जिससे आँख देखती रहे, कान सुनता रहे, जीभ स्वाद लेती रहे, नासिका सूँघती रहे और पाँव चलते रहें। इस यज्ञके द्वारा तुम्हारी इन्द्रियोंकी शक्ति बनी रहेगी और '**देवान् भावयत**'—देवता तुम्हें शक्ति देते रहेंगे, बल देते रहेंगे। तुम्हारे भीतर कर्म करनेकी शक्ति बनी रहेगी। तुम अपनी इन्द्रियोंको शक्तिशाली बनाओ और इन्द्रियाँ तुम्हें शक्तिशाली बनावें—'**परस्परं भावयन्तः।**' तुम उत्तम रीतिसे अपना जीवन व्यतीत करो और श्रेयकी प्राप्ति करो—'**श्रेयः परमवाप्स्यथ**' श्रुतिमें जो यह कहा गया है कि *'कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।'*(ईशोप० २) इसका यही अर्थ है। देवता भी दो तरहके होते हैं—एक आजान देवता और दूसरे कर्म देवता। सूर्यादि आजान देवता हैं और कर्मके फलस्वरूप जो शतक्रतु आदि हैं, वे कर्म देवता हैं।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥ (१२)

यदि तुम्हारा आचरण निन्दनीय है तो क्या होगा? '**स्तेन एव सः**'—तुम चोर कहलाओगे और चोर हो जाओगे। क्योंकि देवतालोग ही तुम्हें भोग देते हैं। यदि तुम्हें पृथिवी देवता रहने न दें, जल देवता पीनेके लिए पानी न दें, सूर्य देवता देखनेके लिए रोशनी न दें, अग्नि देवता गर्मी न दें और वायु देवता साँस न दें, तो क्या तुम जिन्दा रह सकते हो? कभी तुमने उनका बिल चुकाया है? तुमने बिजलीका

बिल चुकाया, हाउस-टैक्स दिया, मालगुजारी दी, लेकिन तुम जो साँस लेते हो भगवान्‌की हवामें, इसके बदलेमें भी कभी कुछ दिया? रोज देखते हो सूर्यकी रोशनीमें, लेकिन क्या कभी सूर्यका बिल चुकाया है? नहीं चुकाया है। फिर इनसे ले-लेकर जो रोज खा रहे हो, इसका भुगतान कब करोगे?

आपने यह कथा जरूर सुनी होगी कि कर्णके पास एक ऐसी शक्ति थी कि उसको वह जिसके ऊपर चलायेगा, वह मर जायेगा। जब इन्द्रको यह बात मालूम हुई तब वे हाय-हाय करके कहने लगे कि कहीं इसने हमारे बेटे अर्जुनपर चला दिया तो वह मर जायेगा। इधर कर्णकी प्रतिज्ञा थी कि कोई उसके पास आकर जो-कुछ भी माँगेगा, उसे वह अवश्य दे देंगे। इस प्रतिज्ञाका लाभ इन्द्रने उठाया। वे ब्राह्मण होकर आये और बोले कि कर्ण, तुम अपनी शक्ति मुझको दो! कर्णने शक्ति दे दी। जब इन्द्र चलने लगे तो उनके पाँव धरतीमें धँसने लगे, वे एक-कदम भी आगे नहीं बढ़ सके। इतनेमें आकाशवाणी हुई कि इन्द्र, तुमको लेना ही आता है, देना नहीं आता। इसलिए तुम्हारी गति अवरुद्ध हो गयी है। अब तुम स्वर्गमें नहीं आ सकते। अब इन्द्र क्या करें? उन्होंने बदलेमें कर्णको कवच दिया तब स्वर्ग जा सके।

आप समष्टिसे सब-कुछ लेते हैं—गर्मी लेते हैं, सर्दी लेते हैं, पानी लेते हैं, अन्न लेते हैं और मीठा-मीठा शान्तिमय संसार लेते हैं, परन्तु देते क्या हैं? '**तैर्दत्तानप्रदायैभ्यः**'—देवताओंका दिया हुआ तो लेते हैं, परन्तु देते कुछ नहीं हैं, याद भी नहीं करते देवताओंको! आगसे रसोई पका लेते हैं, लेकिन उसके प्रति कृतज्ञता बिलकुल नहीं प्रकट करते। जिस आगनें आपने रसोई बनवायी है, उसमें एक ग्रास डाल दें इतना भी नहीं होता है आपसे। जिस सूर्यकी रोशनीमें आप देखते हैं, उसे प्रातःकाल उठकर हाथ जोड़ लें, उस प्रकाशदाताके प्रति इतनी कृतज्ञता भी नहीं है आपमें। इसीलिए बोले कि '**स्तेन एव सः**'—यज्ञ न करना, अपने कर्तव्य-कर्मकी उपेक्षा करना, जिनसे लेते हैं उनको कुछ न देना—यह चोरी है, अपराध है। अतः इससे बचनेके लिए भी कर्म करना आवश्यक है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (१३)

देखो, जो दूसरोंको खिलाकर खाते हैं, माने थोड़ा धरतीके लिए दे देते हैं, थोड़ा खेतीके लिए दे देते हैं, थोड़ा गायके लिए देते हैं, थोड़ा चिड़ियाके लिए दे देते हैं, थोड़ा कुत्ते आदिके लिए दे देते हैं और फिर खाते हैं, उनको पाप नहीं लगता। इसलिए पञ्च-महायज्ञ करके, बलि वैश्वदेव करके जो बचा हुआ है, उसको खाओ तो सारे पाप मिट जायेंगे। अन्न पैदा करनेमें, खरीदनेमें, बेचनेमें, सींचनेमें, पकानेमें

और आग जलानेमें जो पाप हुए, प्राणियोंकी हत्या हुई, उससे उन सारे पापोंसे बच जाओगे, यदि खिलाकर खाओगे। उससे सारे किल्विष छूट जायेंगे तुम्हारे! हम लोगोंके यहाँ पहले तवेपर बनी पहली और आखिरी रोटी घरका आदमी नहीं खाता था और उसे किसी अन्यको खिला दिया जाता था।

यहाँ '**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्**' (१३)—कहकर गाली देते हैं भगवान्। कहते हैं कि वे पापी हैं और पाप खाते हैं जो केवल अपने लिए पकाते हैं। और सुनिये—*'केवलाघो भवति केवलादी।'* (ऋग्वेद १०.११७.६) अरे महाराज! औरोंको तो छोड़ो, संन्यासियोंको जो भिक्षा मिलती है, उसमें भी ऐसा विधान है कि पहले तो वह जरूरतसे ज्यादा माँगे नहीं, यदि ज्यादा मिल जाये तो उसको प्राणियोंमें बाँटकर भोजन करे। भिक्षाको जूठा करके न बाँटे, खानेसे पहले बाँट दे। बाँटनेके बाद वह भिक्षाकी झोलीको गंगाजीमें डालकर पूरी-की-पूरी भिगो दे, जिससे कि उस भिक्षामें जो नमक-मिर्च-मसाला और अपवित्रता हो वह सब धुल जाये। फिर बचे हुएको संन्यासी खाये। यह नहीं कि संन्यासी उस भिक्षामें-से कुछ जूठा छोड़ दे। उसको ऐसे खाये कि जूठा न छूटे। सन्यासियोंके लिए शास्त्रमें कहा है—

अष्टग्रासा मुनेः प्रोक्ताः।

For Brahmacharins / Celebrates quantity of food is not restricted ??

लेकिन यह विधान केवल संन्यासीके लिए है, ब्रह्मचारीके लिए नहीं है। उसको तो इस बातकी छूट्टी है कि जितना चाहो उतना खाओ। संन्यासीका नित्य चान्द्रायण होता है। यदि वह आठ ग्रास रोज खायेगा तो महीनेमें दो-सौ चालीस ग्रास होंगे और दो-सौ चालीस ग्रासका भोजन ही चान्द्रायणमें होता है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ (१४)
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ (१५)
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ (१६)

यहाँ यह बात कही गयी है कि यज्ञ भोग और अपवर्ग—दोनोंकी प्राप्तिका साधन है। यज्ञ ही भोग देनेमें भी सहकारी है और मोक्ष देनेमें भी सहकारी है। जिसके द्वारा यजन हो, उसका नाम है यज्ञ। यजन माने देवपूजा, सत्सङ्ग। यह कैसे होता है—इसको बताते हुए कहते हैं कि इधर तो है भूत। भूत माने प्राणी। ये सब कर्मसक्ति-प्रधान हैं। इनको जीवन कहाँसे मिलता है? अन्नसे मिलता है। अन्न ही जीवन है इनका। अन्न कहाँसे आता है? पर्जन्यसे। पर्जन्य बरसते हैं, रस-प्रधान हैं, भोग-

दाता हैं। इसलिए भूतका कारण अन्न हुआ और अन्नका कारण पर्जन्य हुआ। यह तो एक चक्र है, भोगदाता चक्र है। इसमें तीन चीजें होनी चाहिए—एक तो भोगकी शक्ति माने पर्जन्य होना चाहिए, दूसरे अन्न माने भोग्य-पदार्थ होना चाहिए और तीसरे उससे भोक्ता माने शरीर होना चाहिए। इस प्रकार भोक्ता शरीर, भोग्य अन्न और भोगरसकी वर्षा करनेवाली शक्ति—ये तीनों चीजें यज्ञसे पैदा होती हैं।

अब इस यज्ञके पीछे भी क्या है, यह देखो! कहते हैं कि '**यज्ञः कर्मसमुद्भवः, कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि , ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।**' यज्ञ किससे होता है? क्रिया-शक्तिसे होता है। क्रिया-शक्ति कहाँसे होती है? ज्ञान-शक्तिसे होती है। इसलिए कर्म है क्रिया-शक्ति, ब्रह्म है ज्ञान-शक्ति और सम्पूर्ण शक्तियोंसे विलक्षण है अक्षर तत्त्व। क्षरण-रहित अविनाशी अक्षर-तत्त्वसे ज्ञान-शक्ति-प्रधान सगुण ब्रह्म और ब्रह्मसे कर्म, क्रिया-शक्ति। व्यवहारमें जो ब्रह्म है, वह क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्तिका समुच्चित रूप है। जिसको हम सगुण ईश्वर, सविशेष ईश्वर बोलते हैं, वह हमारे जीवनमें ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनोंका सम्मिलित रूप है। सगुण ब्रह्मका मॉडेल है हमारा यह शरीर। ईश्वर कैसा है? जैसा हमारा शरीर है, जैसे हम हैं। शास्त्रोंमें यह बात बहुत ज्यादा आती है कि भगवान्ने जब मनुष्यको बनाया तब अपने सरीखा बनाया, अपना मॉडेल बनाकर धरतीपर भेजा। श्रीमद्भागवतमें तो कई जगह इसकी चर्चा है कि सगुण ब्रह्म ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनोंका मिश्रण है। कर्म एवं ब्रह्म दोनों क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति हैं तथा निर्गुण ब्रह्म अक्षर तत्त्व है। निर्गुण ब्रह्म अक्षरकी प्राप्ति और सगुण ब्रह्म ईश्वरकी प्राप्ति, महान् पौरुषकी प्राप्ति, सर्वज्ञकी प्राप्ति, कर्तृत्व आदिकी प्राप्ति है।

जब यज्ञके ऊपर चलोगे तो सत् होगा और यज्ञके नीचे चलोगे तो पर्जन्य होगा, अन्न और भोग होगा। इनके बीचमें यज्ञ होगा। यज्ञ चक्र है, जिसके ये तीन अरे नीचे हैं और तीन अरे ऊपर हैं। चक्र माने पहिया। इसमें जैसे अरे लगे होते हैं, वैसे ही इनके द्वारा यह चल रहा है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। (१६)

यह चक्र चलते रहने दो। यह चर्खा चलाओ। अगर नहीं चलाओगे तो जानते हो क्या होगा? वैराग्य हुआ नहीं, अधिकारकी प्राप्ति हुई नहीं और तुमने चक्र चलाना छोड़ दिया तो तुम्हारी गति अवरुद्ध हो जायेगी, प्रगति नहीं होगी और तुम आगे नहीं बढ़ोगे। फिर मनुष्यकी क्या गति होगी? वह पापमय जीवन व्यतीत करेगा, बेईमानीका खायेगा, इन्द्रियाराम हो जायेगा और उसका जीवन व्यर्थ हो जायेगा—'**अघायुः इन्द्रियारामः मोघं पार्थ स जीवति**' (१६)। वह पुण्यायुकी जगह पापायु हो जायेगा, तपस्वीकी जगह इन्द्रियाराम हो जायेगा और सफल जीवनकी

जगह व्यर्थ जीवन हो जायेगा, जो इस छः अरोंवाले चक्रका संचालन नहीं करेगा। इसलिए आपको लोक चाहिए तो भी यह चक्र चलाइये और परलोक चाहिए तब भी अन्तर्मुख चक्र चलाइये।

देखो, भगवान्का यह कथन गाली नहीं तो और क्या! है कि जो इस यज्ञ-चक्रको नहीं चलाता, उसका जीवन व्यर्थ है! उनको द्वारकामें तो गाली देनेका कोई प्रयोजन नहीं था, लेकिन जब वे व्रजमें थे तब उनपर जैसा संग वैसा रंग चढ़ गया। उनको अहीरोंके बालकोंमें रहनेके कारण अहीरोंकी, ग्वारियोंकी भाषामें बोलना आ गया था। फिर अर्जुन थे साथ तो साले-बहनोईका सम्बन्ध भी था, इसलिए उसके साथ खुलकर बात करते थे। बोले कि भाई, जो यह यज्ञ-चक्र एक ओर चलाओगे तो उसका भोग मिलेगा और दूसरी ओर चलाओगे तो मोक्ष मिलेगा। पर इसको चलाना चालू रखो; यज्ञ-चक्रको बन्द मत करो। यदि चलाना बन्द करोगे तो जीवन व्यर्थ हो जायेगा।

अब मानो अर्जुन बोले कि श्रीकृष्ण! यह तो तुमने ऐसी बात कही, जैसे संसारमें कोई कर्म-त्याग कर ही नहीं सकता। इसपर भगवान्ने कहा कि नहीं भाई, यह बात हम सबके लिए नहीं कर रहे हैं। अधिकारी ऐसा भी होता है, जिसके लिए यह चर्खा चलाना जरूरी नहीं है।

एक बार गुरु गोलवलकरजी वृन्दावनमें आये थे। वहाँ बौद्धिक शिक्षाकी क्लास लगती थी और सबको व्यायाम आदिकी शिक्षा भी दी जाती थी। लाठी-वाठी चलाना भी सिखाया जाता था। गुरुजी हमसे कई बार मिले। वृन्दावनमें भी मिले, अहमदाबादमें भी मिले, कानपुरमें भी मिले। मैंने अपने एक मित्रसे पुछवाया कि तुम पूछकर आना कि वे हमसे क्या चाहते हैं? क्या हम ब्रह्म-चिन्तन छोड़कर लाठी चलाना सिखायें? इसका उत्तर गुरुजीने यह दिया कि महाराज, हमने तो आपकी पहरेदारीके लिए लाठी उठायी है! जब आप ही लाठी उठा लेंगे तो हमारी लाठी किस काम आयेगी? इसलिए आप लाठी मत उठाओ, ब्रह्मचिन्तन ही करो।

दूसरी ओर संसारी लोग सोचते हैं कि जब हमारा राज्य होगा, तब हम साधुओंसे हल जुतवायेंगे, क्योंकि बैल-वैल तो ज्यादा मिलेंगे नहीं। लेकिन उनका यह सोचना गलत है, क्योंकि हल जोतना सबका काम नहीं है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (१७)
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ (१८)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ (१९)

यहाँ पहले श्लोकमें रति, तृप्ति और संतुष्टि—ये तीन बातें कही गयी हैं। स्त्री-पुरुषकी परस्पर रति होती है और खाने-पीनेसे तृप्ति होती है।

हमारे साथ एक साधु रहते थे। जिस दिन उनको खीर खानेको मिल जाये, उस दिन पेटपर हाथ फेरते हुए बोलते थे कि ब्रह्मानन्द तो आज ही आया। वे अभी भी हैं। उनकी जिह्वाको जब रस मिलता था, तब वे बड़ी तृप्तिका अनुभव करते थे। एक और बड़े महात्मा थे। सौ बरससे ज्यादा उम्र थी उनकी। जगन्नाथपुरीमें रहते थे। किसीसे ज्यादा बोलते नहीं थे। मसनदके सहारे लेटे रहते थे। लेकिन उनसे बात करनेकी एक युक्ति थी। कोई उनके पाँवपर हाथ फेरकर बोलता कि महाराज, कुछ लोग आपको देखनेके लिए आये हैं, उन्हें लड़कीकी शादी करनी है। यह सुनकर वे कहते कि 'अच्छा भैया, हमसे लड़कीका ब्याह करनेके लिए आये हैं? लेकिन हम तो बूढ़े हो गये, अब हमसे कौन ब्याह करेगा।' अरे नहीं महाराज, अभी आप बूढ़े कहाँ हुए हैं? आप तो अभी जवान हैं। अच्छा तो बुलाओ! महात्मा बड़े सीधे, बड़े सरल और बड़े अच्छे थे। फिर भी रसमयी बातोंसे वे पिघल जाते थे।

तो संसारी मनुष्यको सन्तोष कब होता है? जिस दिन उसे खूब रुपया-पैसा मिले। यदि किसी व्यापारीके पास कहीं किसी प्रान्तसे आमदनीका तार आ जाये, भले ही वह झूठा ही क्यों न हो तो वह खुश हो जाता है। लेकिन महात्मा वह है, जिसको रतिके लिए स्त्री-पुरुष नहीं चाहिए—क्योंकि उसके हृदयमें तो '**आत्मरतिरेव स्यात्**'—अपने आप ही, स्त्री-पुरुषके संयोगके बिना ही रतिका आनन्द उल्लसित रहता है। उसको खीर आदि खानेसे आनन्द नहीं आता। वह तो '**आत्मतृप्तश्च**'—बिना खाये-पीये ही अपने आपमें तृप्त रहता है। उसको ऐसे ही तृप्ति बनी रहती है। वह चाहे सोये, चाहे जागे, चाहे खाये, चाहे उपवास करे; परन्तु तृप्तिमें रहता है।

अतरौलीके पास एक दूल्हा बाबा थे। उनको एक सेठ प्रतिदिन दूध पिलाता था। एकबार वह सेठ कहीं बाहर गया तो अपने नौकरसे कह गया कि महात्माजीको दूध पिला आना। नौकरने सोचा कि जरा बाबाकी परीक्षा तो लें। वह दूध तो ले न जाये, मट्ठेमें नमक और लाल मिर्च डालकर ले जाये उनके पास। वे रोज पीयें और नौकर पूछे कि महाराज, दूध कैसा है? महात्मा बोले कि बेटा, जैसा तू ले आया है, वैसा ही है। बहुत बढ़िया। कई महीनोंतक लाल मिर्च और नमकका मट्ठा पीते रहे, कभी उन्होंने अपने मुँहसे नहीं कहा। इसका कारण क्या है? उनको जो तृप्ति थी,

वह दूधमें-से थोड़े ही आती है! मट्ठेमें-से थोड़े ही आती है! उनकी तृप्ति तो अपने भीतरमें-से निकलती है।

ऐसे विद्वान् ब्राह्मण भी होते हैं। काशीके राजेश्वर शास्त्री द्राविड़को कौन नहीं जानता! बड़े अच्छे महात्मा थे। बम्बई गये तो उनको भोजनकी सब सामग्री भेज दी गयी कि बनवाकर खा लें। वे दूसरेके हाथका नहीं खाते थे। स्वयं पकाकर खाते थे। लेकिन सामग्री भेजनेमें एक भूल हो गयी। नमक नहीं भेजा गया। वे वहाँ सात दिन रहे और सातों दिन भोजन बनाकर उन्होंने खाया, लेकिन यह नहीं बताया कि नमक नहीं आया है और न नमक माँगा। सातों दिन अलोना ही खाया। इसलिए कि तृप्ति नमकमें नहीं है। तृप्ति तो अपने भीतर है, उसको हम चाहे जिसमें भर दें। हमने तृप्तिको आराम दिया है, सन्तोष दिया है। हमारी जो आत्मसत्ता है, आत्मज्ञप्ति है और हमारा जो आत्मानन्द है, उसीसे तो सारी सृष्टिमें सत्ता, स्फूर्ति, आनन्द आता-जाता रहता है। उसको हम किसीसे उधार माँगने नहीं जाते कि हमारे घरमें नहीं है, तुम हमें उधार दे जाओ!

सन्तुष्टके लिए कर्तव्य नहीं है। कार्य और कर्म दोनों शब्द अलग-अलग होते हैं। इनके अर्थ भी अलग-अलग होते हैं। **'कार्यं कर्म समाचर'**—आपके ध्यानमें होगा। यह गीतामें ही है कि अपने कर्तव्य-कर्मका आचरण करो। कार्यका अर्थ होता है कर्तव्य और कर्मका अर्थ होता है जो शरीरसे किया जाये—*'क्रियते इति कर्म।'* अर्थता है कार्यमें और कर्मता है कर्ममें। यदि कहो कि उससे कर्म नहीं होता, तो ऐसा नहीं है। अरे, उससे कर्म तो होता है! वह चलता है, फिरता है, उठता है, बैठता है। बोलना कर्म है कि नहीं? बताओ बोलना क्या है? कर्म है कि ज्ञान है? कर्म है। लेकिन उसकी दृष्टिसे यह सब ज्ञान है, चलना भी ज्ञान है, बोलना भी ज्ञान है, उसके लिए तो ज्ञानातिरिक्त कुछ है ही नहीं—चिन्मात्र ही है सब कुछ। श्रुतियाँ कहती हैं कि *'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'* (बृहदा० ४.१५.१३)। *'आह च तन्मात्रम्'*—(ब्रह्मसू० ३.२.६) वह तन्मात्र ही है, परमात्मा ही है। लेकिन वह कर्म करे, यह बात दूसरी है। उसकी मौजमें हम कोई बाधा नहीं डालते।

एकबार मैंने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा कि आप लोगोंको ब्रह्माकार वृत्ति, ब्रह्माकार वृत्ति सुनाते रहते हैं, लेकिन ब्रह्माकार वृत्ति करनेका विधान कहाँ है कि निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति बनायी जाये? बाबा बोले कि विधान तो नहीं है, पर निषेध भी कहाँ है—यह बताओ! यही बात यहाँ भी है। कर्तव्य तो नहीं है—यह हम मानते हैं; पर निषेध कहाँ? क्योंकि **'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** करनेसे उसको कोई फायदा नहीं और न करनेसे भी कोई फायदा नहीं। निष्कर्म

होनेसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो जायेगा और कर्म करनेसे कहीं स्वर्ग-नरकमें चले जायेंगे! इसलिए कर्म करके स्वर्गमें जाना नहीं है और कर्म त्याग करके ब्रह्म होना नहीं है। क्योंकि ब्रह्म तो स्वतः सिद्ध ही है। तो फिर ? बोले कि देखो, इसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के उपयोगकी कोई अपेक्षा नहीं है। वह तो अपनी वृत्तिकी नोकपर ब्रह्मको उठा सकता है और अपनी क्रियाशक्तिके बलपर दुनियाको बदल सकता है।

अरे, वह तो राग,द्वेष, भयादिके अनुरूप आचरण करता हुआ भी अपने भीतर आकाशके समान अत्यन्त निर्मल है और इसलिए उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। उसके लिए करने और न करने दोनोंमें संवित्‌का विलास है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शनकी भाषामें बोलेंगे तो करना भी संवित्‌का विलास है और न करना भी संवित्‌का विलास है। कहीं दुष्ट पदार्थमें उसका कोई अर्थ व्यपाश्रय नहीं है कि ऐसा रहे, ऐसा न रहे। प्रलयकी गर्जना हो रही है, चलाचल विचलित हो रहा है और वह अपने मनमें मग्न बैठा हुआ है। उसके लिए यह शरीर आज अस्त हो जाये या जबतक चन्द्रमा-सूर्य रहें तबतक बना रहे—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। वह तो कहते हैं कि मैं चिन्मात्र हूँ, चिद्वपु हूँ, आज मरनेमें और सूर्य-चन्द्रमा-पर्यन्त रहनेमें मुझको कोई फर्क नहीं है। घड़ा आज फूट जाये तो क्या और सौ बरसतक रहे तो क्या ? इससे घटाकाशका क्या बिगड़ता है ? घड़ा रहनेसे घटाकाशका कुछ बन जाये और फूट जानेसे कुछ बिगड़ जाये—ऐसा कुछ भी नहीं है। अरे, यह तो गढ़ा हुआ है। पट्ठा पहले था ही नहीं, गढ़ा गया है, इसलिए घड़ा बना हुआ है। जब गढ़ा ही गया है तो फूट जानेमें क्या बिगड़ता है ? कालिदासने बहुत बढ़िया लिखा है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम् विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः। (रघुवंश ८.८७)

पानीमें पैदा हुआ बुलबुला पानीमें समा जाये, यह स्वाभाविक है। यह यदि कुछ देरतक बना रहता है तो यही आश्चर्य है। इसी तरह यह शरीर थोड़ी देर रहता है, यह आश्चर्य है। इसके लिए मत कहो कि यह एक मिनट और रहे। अरे, यह जाये तो जाये। ईश्वरके यहाँसे आये दूत और जानेवाला बोले कि ठहरो एक मिनट! क्यों ठहरें भाई ? इसलिए ठहरो कि जरा बेटेके नाम वसीयतनामा तो लिख दें! ईश्वरके दूतोंने कहा कि मारो चाँटा इसको। अरे, तुमने ईश्वरके धनका उपभोग इतने दिनोंतक किया, अब अपने बेटेको देकर जाना चाहते हो! यहाँ बेटा नहीं, चेला कह लो! अगर गृहस्थोंको यह बात अच्छी न लगती हो तो साधु-संन्यासियोंके लिए समझ लो। वे गृहस्थियोंकी तरह बेटेको नहीं, चेलोंको देकर जाना चाहते हैं। अरे महाराज, चेले-चेलोंके बीचमें दीवार बन जाती है। मुकदमे लड़ जाते हैं और लाठी चल जाती है। लेकिन न गुरुजी लेकर आये थे और न चेला लेकर जायेंगे।

तो भाई मेरे, आत्मरति करने-न-करनेमें कोई भेद नहीं है। एक बात सुन लो। तुम और सब कर्म मत करो, लेकिन '**कार्यं कर्म समाचार**'—तुम्हारा जो कर्तव्य है, वह कर्म अवश्य करो।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे। (१८.५९)

यदि तुम कहते हो कि मैं यह नहीं करूँगा, वह नहीं करूँगा तो इसका भी अहंकार होता है। '**बुद्धेर्फलम् अनाग्रहः**'—बुद्धिका जो फल है जिद्दी न होना।

यहाँ मैं एक महाराजकी बात सुनाता हूँ। एक शहरकी बात है, जहाँ महाराजके लिए ऊँचा आसन लगाया हुआ था। महाराज उसपर जाकर बैठ गये। बैठ गये तो आर्यसमाजी लोग आये और बोले कि तुम्हारे अन्दर क्या विशेषता है कि तुम सबसे ऊँचे बैठे हो? महाराज बोले कि भाई, तुम जहाँ कहोगे, वहीं बैठ जायेंगे। वे आसनसे उतर गये और उन लोगोंके पास जाकर बैठ गये। अब जिन लोगोंने सिंहासन बनाया था, वे बोले कि हम लाठीसे तुम्हारा सिर फोड़ देंगे। तुमने हमारे गुरुजीको, हमारे महाराजजीको नीचे क्यों उतार लिया? महाराज बोले कि मेरे लिए लाठी मत चलाओ, शोर मत करो, मैं फिर वहाँ बैठ जाता हूँ और वे फिर उस सिंहासनपर बैठ गये। अब देखो, इसमें क्या लगता है? लोगोंको अपनी शानमें, जिदमें नहीं आना चाहिए; बल्कि अपने जो कर्तव्य-कर्म हैं, उनको पूरा करते जाना चाहिए। **असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः** (३.१९)

अपने कर्मको, कर्तव्यको बेमनसे भी मत करो! इसको भली-भाँति मन लगाकर पूरा करो। जो असक्त होकर कर्म करता है, उसको परम सत्यकी प्राप्ति होती है। परमात्माकी प्राप्तिका यही साधन है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

देखो, जनकादिको जो संसिद्धि प्राप्त हुई है, वह कर्म करके ही प्राप्त हुई है। संसिद्धि शब्दका एक अर्थ है अन्तःकरण-शुद्धि होकर परमात्माको प्राप्त करनेकी योग्यता और दूसरा अर्थ है परमात्माकी प्राप्ति। यदि आत्मा स्वभावतः नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अद्वितीय ब्रह्म है तो कर्म अन्तःकरण-शुद्धि द्वारा ही अज्ञान-निवृत्ति, अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित मोक्षका साधन हो सकता है। अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष है और यदि मोक्ष स्वतः सिद्ध नहीं है, उत्पाद्य है तो कर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होगी। हमको स्वामी दयानन्दजीसे इसलिए बहुत प्रेम है।

आर्यसमाजी लोग कहीं हमको बुलाते हैं तो हम चले जाते हैं। हम उनके मंचपर जाकर वेदकी प्रशंसा करते हैं और निराकार ईश्वरका निरूपण करते हैं। हमें उसमें कोई आपत्ति नहीं दीखती। वे हमें बहुत पसन्द आते हैं, क्योंकि उनके कथनानुसार मोक्षसे पुनरावृत्ति होती है।

यदि पूछो कि मोक्षके बाद पुनर्जन्म होना कैसे पसन्द आया है ? जब आपके रोम-रोममें शंकराचार्य बसे हुए हैं और आपके अन्तःकरणका एक-एक कण शंकर है तो आपको क्यों पसन्द आता है ऐसा सिद्धान्त ? देखो भाई, वे कहते हैं कि कर्मसे मोक्ष होता है! वे जब कर्मसे मोक्ष मानते हैं, तब यदि मोक्षके बाद पुनरावृत्ति न मानें तो उनकी मूर्खता सिद्ध होगी। जब ज्ञानसे मोक्ष होता है तब पुनरावृत्ति नहीं होगी, यह ठीक है। भक्तिसे मोक्ष मानना भी ठीक है, लेकिन उसमें भी पुनरावृत्ति होना संभव है। होती है कि नहीं—यह हम नहीं बोलते। होना सम्भव है—यह बोलते हैं, क्योंकि वहाँ ईश्वरकी कृपासे मुक्ति हुई है। जो चीज जिसकी दी हुई होती है, उसको वह वापिस भी ले सकता है। सरकारने रायबहादुरीका खिताब दिया और छीन लिया। जब ईश्वरेच्छासे पराधीन मुक्तिकी प्राप्ति हुई, ईश्वर चाहे तो उसे मुक्तिको स्थगित कर सकता है। वह कह सकता है कि मैं तो अवतार लेकर दुनियाँमें चलता हूँ लोकोपकार, लोकोद्धार करनेके लिए और तुम यहाँ मुक्त बने बैठे हो! चलो हमारे साथ तुम भी जन्म लो!

इसलिए जो लोग कर्मसे मुक्ति मानते हैं उनका पुनर्जन्म मानना उचित है, क्योंकि भेद-सहिष्णु अभेद भी एक तथ्य है। एक छोटा-सा जीवन-कण सम्पूर्ण ईश्वरके किसी अंशमें चिपका रहेगा तो ईश्वर जब चाहेंगे तब उसे निकालकर अलग कर देंगे। लेकिन जो स्वतःसिद्ध ब्रह्म है वह सहज मुक्ति है, और केवल अज्ञानावरणसे ही अपनेको बद्ध मानता है। जब तत्त्वज्ञानसे अज्ञानावरण क्षीण हो गया तब वहाँ पुनर्जन्मका कोई प्रसंग नहीं। हमने स्वामी दयानन्दजीको इसलिए बहुत पसन्द किया कि वे बिलकुल शास्त्रकी रीतिसे बोलते हैं। मेरी यह बात आप लोग मानो या मत मानो। हम आपको मनवाते थोड़े ही हैं। हम तो विवरण करते हैं, बात बताते हैं। क्योंकि दयानन्दजीके सिद्धान्तमें भी एक लड़ी है, कड़ी जुड़ी हुई है।

'लोकसंग्रमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि'—इसका तात्पर्य है कि दूसरे लोग अगर अन्तःकरण-शुद्धिके लिए कर्म नहीं करेंगे तो सृष्टिमें कोई मोक्षका अधिकारी बन ही नहीं सकेगा। इसलिए दूसरे लोग भी अन्तःकरण-शुद्धि के लिए कर्म करें—इसके लिए भी कर्म करना चाहिए।

देखो, भोग प्राप्त करनेके लिए भी काम करना पड़ता है। बिना काम किये भोग नहीं मिलता। नेता लोग हाथमें झाड़ू लेकर फोटो खिंचवाते हैं, जिससे कि

जनता यह समझे कि हम सड़कपर झाड़ू लगा रहे हैं। यह लोक-संग्रह ही तो है! ऐसा काम करना, जिससे लोग हमें वोट दें और यह समझें कि हमारे नेताजी बहुत अच्छे हैं। इसीका नाम लोकतन्त्र है, लोक-संग्रह है।

हमारे एक मित्र बड़े भारी लोक-संग्रही विद्वान् थे। एक बार हमने लोक-संग्रहकी बात की तो हमारे उस मित्रने कहा कि स्वामीजी, आप भोले-भले हो, दुनियादारीकी बात नहीं समझते। अरे, लोक-संग्रह माने *'लोकेभ्यः चन्दा संग्रहः'*—लोगोंसे चन्दा वसूल करना है। यहाँ किसी व्यक्ति-विशेषसे हमारा कोई अभिप्राय नहीं है। हम तो सिद्धान्त-पक्षकी बात करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है दूसरे लोग भी वैसा ही करने लगते हैं, लेकिन समझकर नहीं करते, उसकी नकल करते हैं। हमारे पास रोज ऐसे माँ-बाप अपने बच्चोंको लेकर आते हैं और बच्चोंसे कहते हैं कि स्वामीजीके पाँव छूओ। बच्चे भागते हैं, रोते हैं, पर जब माँ-बाप तथा उनके साथके लोग पाँव छू लेते हैं तब बच्चे भी दौड़कर छूने लगते हैं। इसलिए मूर्खोंसे, पागलसे, बच्चोंसे यह उम्मीद करना कि वे सिखानेसे मान जायेंगे, गलत है। उनको तो अनुकरण करनेके लिए आदर्श चाहिए। जब बड़े लोग कर्मका आचरण करेंगे तो दूसरे लोग भी कर्माचरण करके अन्तःकरण शुद्ध करेंगे और वे उसे प्रमाण मानेंगे—

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते। (३.२१)

अब भगवान्‌ने सोचा कि मैंने दूसरोंका तो दृष्टान्त दे दिया, लेकिन लोग कहेंगे कि यह कितना चतुर है कि अपने बारेमें कुछ नहीं बोलता। इसलिए आओ भाई, हम अपने बारेमें सुना देते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ (३.२२)

भगवान्‌ने कहा कि हे पार्थ, हमारे लिए तीनों लोकोंमें ऐसा कोई भी कर्तव्य नहीं है, ऐसा कुछ भी अप्राप्त नहीं है, जिसके लिए हम कुछ साधन करें। फिर भी हम कर्म करते हैं।

यहाँ हम आपको एक बात सुनाते हैं। हमारे यहाँ रासलीला होती है। उनमें जो पात्र होते हैं, उन बेचारोंको कुछ धन चाहिए। उनको यदि धन न मिले तो उनकी जीविका कैसे चलेगी? मान लो हमें उनको कुछ रुपये देने हैं तो हम अपने दस आदमियोंसे कह देते हैं कि एक-एक, दो-दो, पाँच-पाँच या दस-दस रुपये लेकर जाओ और जाकर उनपर न्यौछावर करो। अब अगर हमारे दस आदमी जाकर निछावर करते हैं तो दर्शकोंमें-से सौ आदमी उनपर न्यौछावर कर देते हैं और

उनको सैकड़ों रुपये मिल जाते हैं। यदि हम अपने आदमियोंसे न्योछावर न करायें तो अन्य लोगोंको यह सूझता ही नहीं कि हम लीलामें जायें और न्योछावर करें। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो लीलाधारी लोग खुद ही करते हैं और उनकी देखा-देखी दूसरे लोग भी न्यौछावर करने लगते हैं।

अब आप लोग आश्रमोंकी बात सुनें! जगह-जगह जूठे पत्तल पड़े रहते हैं, मैला पड़ा रहता है और शिष्य लोग कहते हैं कि हम ईश्वरकी प्राप्तिके लिए आये हैं कि झाड़ू लगाने आये हैं। अब गुरुजी क्या करें ? जो समझदार होते हैं वे स्वयं सफाई करना शुरू कर देते हैं। फिर तो सब चेले लोग खुद-बखुद आकर सफाई करनेमें लग जाते हैं। लेकिन गुरुजीसे झाड़ू लगवाये बिना चेले झाड़ू नहीं लगाते।

इसीलिए '**वर्त एव च कर्मणि**'—पहले भगवान्‌से काम करा लेनेके बाद ये जीव कर्म करते हैं और भगवान् बताते हैं कि अगर हम कर्म न करें तो बड़ी गड़बड़ हो जाय।

> **यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।**
> **मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥** (२३)
> **उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।**
> **संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥** (२४)

अतन्द्रित माने ऊँघना नहीं, बोर होकर काम करना नहीं, सावधान रहकर काम करना। भगवान् कहते हैं कि यदि मैं सावधान रहकर काम न करूँ तो सब लोग मेरा उदाहरण देंगे। बड़प्पनकी निशानी यह नहीं हैं कि लोग गद्देपर मसनदके सहारे मजेसे बैठे रहें। इसीलिए हमें काम करना पड़ता है! यदि हम काम न करें तो '**मम वर्त्मानुवर्तन्ते**'—सब लोग निकम्मे हो जायेंगे।

देखो, ईश्वर प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ खटपट करता ही रहता है। दुनियामें हर समय कुछ-न-कुछ होता ही रहता है। उजड़ जाये यह दुनिया, यदि भगवान् कर्म न करें, '**संकरस्य च कर्ता स्याम्**'—सब वर्णसंकर हो जायें और सारी प्रजाका सत्यानाश हो जाये। इसलिए—

> **सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।**
> **कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्** ॥ (२५)

जैसे अज्ञानी लोग मनोयोग-पूर्वक कर्म करते हैं, वैसे ही विद्वान्‌के लिए भी, ज्ञानी पुरुषके लिए भी कर्म करनेका ढंग वही होना चाहिए परन्तु संसारी लोगोंमें, अज्ञानी लोगोंमें आसक्ति होती है और उनमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए—

'**कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तः**'। यही लोक-संग्रह है कि आसक्ति नहीं है, पर कर्म करते जा रहे हैं।

> **न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।**
> **जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥** (२६)

ऐसा मालूम होता है कि श्रीकृष्णको बोलते समय इस बातकी जानकारी नहीं थी कि यह श्लोक छपेगा और हर आदमी इसको पढ़ेगा। क्योंकि यह श्लोक पढ़कर जितना बुद्धि-भेद होता है, उतना बुद्धिभेद बिना पढ़े नहीं होता। '**न बुद्धिभेदं जनयेद्**'—इसका अर्थ है कि जो कर्मासक्त मूर्ख लोग हैं, उनके अन्दर बुद्धि-भेद मत पैदा करो। उनको कर्म करने दो। अब इसको जो पढ़ेगा, वह समझ जायेगा कि भगवान्‌की बतायी कर्म-विधि तो अज्ञ और कर्मसंगीके लिए है। हमारा बुद्धि-भेद न हो, इसलिए भगवान् ऐसा कह रहे हैं।

'**जोषयेत्सर्वकर्माणि**'—यह वचन विद्वान्‌के लिए है, सबके लिए नहीं है। विद्वान्‌का यह कर्तव्य है कि वह सावधान होकर सदाचारपूर्वक भली-भाँति सारे कर्मोंको करे और यह किसीको न बतावे कि कर्मसे मुक्ति नहीं मिलती, कर्मसे ईश्वर नहीं मिलता। बल्कि यह कहे कि पहले कर्म करके अन्तःकरणको माँज लो और उसके बाद देखो तो उसमें परछाईं दिखेगी। किसकी परछाईं दिखेगी? देखनेवालेकी दिखेगी। अन्तःकरणको माँजकर चमाचम कर लेनेपर उस शुद्ध अन्तःकरणमें द्रष्टाका प्रतिबिम्ब, द्रष्टाकी प्रतिच्छाया दिखायी पड़ती है। यह मत बताओ कि परछाईं दिखेगी, यह कहो कि तुम दिखोगे। तुम्हें परमात्माका दर्शन होगा। कब होगा ? जब खूब प्रेमसे कर्म करोगे।

सच पूछो तो लोग यह झूठा अभिमान करते हैं कि हमने कर्म किया है। अरे किसीके करे-धरे कुछ होता है क्या ? यदि कहो कि हम जब चाहें हाथ उठा सकते हैं, पर आप कब चाहेंगे—यह आपको मालूम है ? जब प्रकृति कहेगी तभी आप हाथ उठा सकेंगे, आपको हाथ उठाना पड़ेगा।

पहले यह चर्चा चल रही थी कि जैसे कर्ममें आसक्त पुरुष, अज्ञानी पुरुष कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुषको भी कर्म करना चाहिए। बाहरकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं होना चाहिए, परन्तु अज्ञानी कर्म करता है तो फलमें आसक्त होकर करता है और ज्ञानी पुरुष कर्म करता है तो—उसमें उसकी आसक्ति नहीं होती। इसका मूल कारण भगवान्‌ने विवेकका आश्रय लेना बताया है। अधिकांश वेदान्ती पूर्व-मीमांसाको पूर्वरूप तथा उत्तरमीमांसाको उत्तररूप मानकर और ज्ञानका समन्वय करके धर्मसे

अन्त:करणको शुद्ध तथा ज्ञानसे वस्तु-तत्त्वका बोध—इसी वृत्तिको अपनाते हैं। ब्रह्मसूत्रमें सांख्ययोगका स्वभावमय अनुदर्शन-न्यायसे खण्डन किया गया है। वे तो कहते हैं कि प्रकृति जगत्का कारण ही नहीं हो सकती। प्रकृति जड़ है, वह सृष्टिका कारण कैसे हो सकती है ? इस प्रकार सांख्य और योगपर पहले ही कुठाराघात कर दिया गया है। किन्तु गीताकी अपूर्वता यह है कि उसमें इसी सांख्य और योगकी प्रक्रियाको स्वीकार करके वेदान्तके सिद्धान्तकी स्थापना की गयी है। रास्ता दुश्मनवाला और गन्तव्य स्थान अपना! चलो उसी रास्ते निकल चलें, क्योंकि वह भी गन्तव्य तक पहुँचा देता है। यही विवेकका मार्ग है। यही विवेक है। वेदान्तमें तत्त्व-ज्ञान है

Six philosophies and their inter-relationship

और सांख्यमें विवेक है। छ: दर्शनोंकी यह प्रक्रिया है कि न्याय प्रमाण है और वैशेषिक प्रमेय है। परस्पर उपकार्य-उपकार भाव, उसमें है। पर प्रमाणकी परीक्षा न्याय-दर्शनमें है और प्रमेय वस्तुका, द्रव्यका निरूपण वैशेषिकमें है। प्रकृति और विवेकमें जिस प्रकारसे अविवेकके कारण सन्बन्ध है और प्रकृतिकी जिस प्रक्रियासे सृष्टि उत्पन्न होती है, उसका निरूपण सांख्यमें है और योगकी साधना उसको प्रत्यक्ष करवा देती है। योग और सांख्यका साधन-साध्य भाव है। पूर्वमीमांसा अन्त:करणको शुद्ध कर देती है और उत्तरमीमांसा तत्त्वका साक्षात्कार करवा देती है। हमारे कई विद्वान् दर्शनको साध्य और साधनके क्रमसे नहीं मानते हैं। दर्शन तीन ही है—अनेक द्रव्य, एक द्रव्य और अद्वितीय वस्तु। बस यही इनका स्वरूप है।

तो, प्रसंग यह चल रहा था कि पहले विवेक करो कि कर्म कैसे होता है और तुम उसको मेरा कैसे मानते हो! यदि योगकी प्रक्रियासे ही यह सिद्ध हो जाये कि कर्म करनेवाला कोई और है और नहीं करनेवाला अविवेकीवत् उस कर्मको अपना मान रहा है तो वेदान्तकी दृष्टिसे जो आत्मा-अनात्माका विवेक किया जाता है—उसका बहुत बड़ा मार्ग यहीं तय हो जाता है कि प्रकृतिका विभाग दूसरा है और पुरुषका विभाग दूसरा है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार-विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (२७)

भगवान् कहते हैं कि प्रकृति गुणमयी है—'**गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।**' (१४.५) सत्त्व-रज-तम—ये तीन गुण हैं और प्रकृति गुणमयी है। प्रकृति और गुण एक हैं, गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति है। प्रकृतिसे गुण पैदा होते हैं। ये सब बातें, वैसे तो थोड़ा-थोड़ा सूक्ष्म भेद रखती हैं पर एक ही तराजूके ये चट्टे-बट्टे हैं। गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति है, प्रकृतिसे गुण उत्पन्न होते हैं, प्रकृति गुणमयी है। एक बात

जरूर है कि गीतामें प्रकृतिको स्वतन्त्र कारण नहीं स्वीकार किया गया है। इसपर आप ध्यान दें—'**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**' (९.१०)।

भगवान्का कथन है कि निष्पतिका प्रकृति जगत्का प्रसव नहीं करती, सपतिका प्रकृति जगत्का प्रसव करती है और उसका पति मैं हूँ। मैं हूँ पति, प्रकृति है पत्नी GOD is also Prakriti और मुझसे संयुक्त होकर प्रकृति सृष्टि बनाती है। ईश्वर ही प्रकृति है। वह चेतनांश ज्यों-का-त्यों रहता हुआ ही प्रकृत्याकार होकर जगत्की सृष्टि करता है। प्रकृति और पुरुष दोनों ईश्वरमें अलग-अलग नहीं हैं। जब हम असंग चेतनाका विवेक करते हैं तब प्रकृतिका प्रकृतित्व बाधित हो जाता है। चरकने क्षेत्रज्ञ और प्रकृति दोनोंको पर्यायवाची बताकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

तो, जितने भी कर्म होते हैं, प्रकृतिके गुणसे होते हैं। हड्डी-मांस-चाम जड़ हैं। प्रकृतिमें इसका कारणभूत जो विवेक है, उसको सद् कहते हैं। शरीरके हिलने, बोलने, डोलने तथा कर्म करनेकी कारणभूत जो प्रकृति है, उसको रजस् कहते हैं और हम बोलते हैं, सुनते हैं, सोचते हैं, समझते हैं, इसका कारण-भूत जो प्रकृतिमें है, उसको सत्त्व कहते हैं। पहले गुण-दोषके बाधमें यह सृष्टि नहीं देखी गयी है। सृष्टिको देखकर मूलमें इन गुणोंका अनुमान किया गया है। इसीलिए ब्रह्मसूत्रमें सांख्य-सिद्धान्तका नाम अनुमान ही रखा हुआ है।

कार्यके रूपमें कारणका अनुमान एक प्रक्रिया है, कारणको देखकर कार्यका अनुमान दूसरी प्रक्रिया है और दोनोंको सामान्यरूपसे साथ देखकर एक तीसरा अनुमान होता है। तीनों प्रत्यक्ष-पूर्वक होते हैं और यही हैं प्रकृतिके गुण।

अब हम '**अहंकार-विमूढात्मा**'को स्पष्ट करनेके लिए प्रकृतिके वंश बता देते हैं। प्रकृति, प्रकृतिसे महतत्त्व, महतत्त्वसे अहंकारतत्त्व, अहंकारतत्त्वसे पञ्चतन्मात्रा और पञ्चतन्मात्रासे पञ्चमहाभूत। वेदान्ती लोग जिसको अपञ्चीकृत भूतसूक्ष्म बोलते हैं, उनको सांख्यमें पञ्चतन्मात्रा बोला जाता है। दोनोंमें केवल भाषाका ही भेद है।

यह तो हुआ प्रकृतिका वंश। अब अविद्याका वंश देखिये। अविद्यासे अस्मिता, अस्मितासे राग, रागसे द्वेष और द्वेषसे अभिनिवेश। सांख्य प्रकृति और प्रकृतिके वंशका नाम नहीं लेता। वेदान्तियोंकी ईश्वर-सृष्टि यावज्जीवन रहती है और गुण-सृष्टिकी मृत्यु हो जाती है। मैं और मेरा जीव-सृष्टि है और पृथिव्यादि पञ्चभूत ईश्वर-सृष्टि है। स्त्री-पुरुष ईश्वरके बनाये हुए हैं। ज्ञान होनेसे ये मिटते नहीं हैं। स्त्री भी रहेगी, पुरुष भी रहेगा, धरती भी रहेगी और पानी भी रहेगा। इस बातको कभी-कभी लोग समझते नहीं हैं और मस्तीमें सब बोल जाते हैं। ईश्वर-सृष्टि तो यावज्जीवन भासती रहेगी और तत्त्वज्ञान होनेपर जीव-सृष्टिमें मैं-पना, मेरा-पना आदिका जो बौद्ध-भ्रम है, वह निवृत्त हो जायेगा। यही वेदान्तियोंका कहना है।

इसीको वे जीव-सृष्टि, ईश्वर-सृष्टि मानते हैं। सांख्यमें यह मानते हैं कि प्रकृतिकी जो सृष्टि है, वह बनी रहेगी। यदि आप निद्रामें हों तो कल्पना करो कि इस समय केवल प्रकृति है। नींद टूट गयी और मैं कौन हूँ—यह बोध नहीं हुआ तो इस समय महतत्त्व है। मैं कौन हूँ—यह बोध हो गया तो संसार आगया और जब दुनिया दीखने लगी तो पञ्चतन्मात्रा अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आ गया! यह है सांख्यकी 'नित्यानुभूयमान प्रकृति'—कार्यको देखकर कारणका अनुमान।

अब इसमें जो बुद्धिका अविवेक होनेसे अस्मिता पैदा होती है और अस्मिताके कारण जो अनुकूल होता है, वह सुखदायी होता है और उसे राग होता है। इसी तरह दुःखदायीसे द्वेष होता है और देहमें अभिनिवेश होकर मृत्युका भय आजाता है। सांख्य अविद्याके वंशका निराकरण करता है, किन्तु प्रकृतिके वंशका निराकरण नहीं करता। यदि आपको बहुत जरूरत मालूम पड़े तो आप प्रतिलोम-प्रक्रियासे कार्यको कारणमें लीन करके समाधि-पर्यन्त चले जाइये। विवेक होगा तब तो प्रकृति-लय नहीं होगा। यदि विवेक-ख्याति नहीं हुई तो प्रकृति-लय हो जायेगा और यदि विवेक-ख्याति हो जायेगी तो असम्प्रज्ञात समाधि लग जायेगी।

अब यह बताते हैं कि कर्म तो प्रकृतिके वंशमें होता है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण और यहाँतक कि मन, बुद्धि, प्राकृत गुण संस्थापक अहंकार, स्वप्न, सुषुप्ति—ये सब प्रकृतिके वंशमें होते हैं। परन्तु प्रकृतिके कार्य—अहंकारमें जिसका आत्मा विमूढ़ हो जाता है अर्थात् अविवेकके कारण अस्मिता हो जाती है, वह अपनेको कर्ता मान बैठता है। वह कर्ता है नहीं, लेकिन अपनेको कर्ता मानता है। कभी आपने गौर किया है कि आपके शरीरमें जो खून है, इसको कौन चलाता है? मैंने एक दिन अपने डाक्टरसे पूछा कि अभी इन्जेक्शनसे आपने जो दवा डाली है, वह कितनी देरमें मेरे शरीरमें फैल जायेगी? उन्होंने कहा कि महाराज, यह तो शरीरमें फैल चुकी है। रक्त इतने जोरसे दौड़ता है कि केवल रक्तमें दवा गयी और सारे शरीरमें घुस गयी। इसलिए मेरा आपसे निवेदन है कि आप बड़े भारी कर्ता हैं, यह तो मैं मानता हूँ; लेकिन क्या शरीरमें रक्तको दौड़ानेका काम आप ही करते हैं? शरीरमें जो बाल बढ़ते हैं, उनको क्या आप ही बढ़ाते हैं? भोजनका पाचन क्या आप ही करते हैं? मलापसरण क्या आप ही करते हैं? नाड़ी आप ही चलाते हैं? उत्तर है, नहीं। तो भाई, इतना काम मैं नहीं करता हूँ और इतना काम मैं करता हूँ—यह अहंकार विमूढात्माका लक्षण है। प्रकृतिसे महान्, महान्से अहंकार और उस अहंकारमें जिसकी आत्मा विमूढ़ हो गयी है माने असंग चैतन्य पुरुष विमूढ़ हो गया है, अटक गया है, वह मानने लगा है कि यह अहंकार प्रकृतिका कार्य नहीं है, मैं स्वयं हूँ। इस प्रकार स्वयं प्रकृतिके साक्षी होकर, प्रकृतिसे असंग होकर, प्रकृतिके

खिलौनेको अपना आपा मान बैठना—'**अहंकार-विमूढात्मा**' कहलाता है। अब आप हो गये कर्ता। माने समझदारीको आलेमें रखकर आये और बन गये कर्ता! अरे, हाथके कर्ता तुम नहीं, पाँवोंके कर्ता तुम नहीं, जीभके कर्ता तुम नहीं, दिल-दिमागके कर्ता तुम नहीं तो फिर कर्ता किसके? तुम्हारे इस कर्तृत्वका विवेकके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। एक दृष्टिसे प्रकृति और पुरुषका जो विभाजन है, यही आत्मा-अनात्माका विभाजन है और यही वेदान्तकी बड़ी सीधी-सी बात है। इसके बाद इतना ही करना है कि आत्मा ब्रह्म है और ब्रह्ममें प्रकृतिकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसके बाद तो तत्त्ववेत्ता पुरुष ही होता है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ (२८)

इस शरीरमें एक है गुण-विभाग और दूसरा है कर्म-विभाग—ऐसा विभाजन कर दो। जिसको विश्लेषण करना नहीं आता, वह वैज्ञानिक नहीं हो सकता। जो एकमें मिले हुए दो तत्त्वोंको लेबोरेटरीमें विश्लेषणकी प्रक्रियासे अलग-अलग कर दे, वह वैज्ञानिक कहलाता है। इस शरीरमें दो चीजें मिली हुई हैं—एक तो असंगात्मा है और दूसरा कर्ता-भोक्ता है। इनका विभाजन कर लो। विभाजन माने विश्लेषण कर दो, बँटवारा कर दो, अलग-अलग बाँट दो—इसको इसके हिस्सेमें और इसको इसके हिस्सेमें। क्योंकि तुम महाबाहु हो—महाबाहो! तुम्हारे हाथ बड़े लम्बे हैं। तुम बाण मारकर लक्ष्य-वेध करनेमें बड़े निपुण हो। लेकिन तुमने स्थूल लक्ष्यका वेध किया तो क्या किया! जो तत्त्ववेत्ता हैं, वे गुण-विभागसे और कर्मविभागसे यह विचार करते हैं कि '**गुणाः गुणेषु वर्तन्ते**'—*गुणाः कर्माणि गुणेषु विषयेषु वर्तन्ते*—अर्थात् इन्द्रियाँ विषयोंमें बरतती हैं। कितनी भी कोशिश करो, अगर आँख नहीं होगी तो रूप कहाँसे दिखेगा? यह न प्रकृति है और न पुरुष है। फिर क्या है? गुण है।

किसीने कहा कि हाय, उसने मुझे मार डाला। उसने कहा कि यह मैं नहीं, मेरी अदा है। इसी तरह प्रकृति पुरुषको नहीं मारती, यह प्रकृतिकी अदा है। वह कहीं इन्द्रियोंके रूपमें जाहिर हो रही है और कहीं विषयोंके रूपमें जाहिर हो रही है। ये गुण हैं। गुण माने प्रकृति नहीं, प्रकृतिके गुण। यह प्रकृतिकी अदा है कि आँख रूपको देखती है, कान शब्दको सुनता है। लेकिन आपने तो अबतक हजारों-हजारों, लाखों-लाखों और करोड़ों शब्द सुनकर छोड़ दिये हैं। न शब्द आपके कानमें चिपके हुए हैं और न आपका कान किसी शब्दमें चिपका है। इसी तरह हजारों रूप देखकर आँखोंने छोड़ दिया है—न आँख किसी रूपके साथ मरी और न कोई रूप आँखके अन्दर घुसा। आँख तो ज्यों-की-त्यों है। रूप बदलते गये।

कहाँ आपकी आसक्ति हुई? हम आपका ध्यान इस बातकी ओर खींचते हैं कि आपके औपाधिक ज्ञानमें भी आसक्ति नहीं है। है औपाधिक ज्ञान, परन्तु आसक्ति नहीं है। आपने कितने रूप देखे और छोड़ दिये, कितने शब्द सुने और छोड़ दिये और कितने स्पर्श-सुख लिये और छोड़ दिये। न कोई स्पर्श चिपका रह गया और न हमारा चाम किसीके साथ चला गया। इसलिए औपाधिक ज्ञान भी असंग है, रसनोपाधिक ज्ञान भी असंग है, नासिकोपाधिक ज्ञान भी असंग है, हृदयोपाधिक ज्ञान भी असंग है और बुद्ध्योपाधिक ज्ञान भी असंग है। न ज्ञान किसी विषयके साथ चिपका, न कोई विषय ज्ञानके साथ चिपका। यह तो हमारा भ्रम है कि हमको आसक्ति हो गयी। भ्रम कहो या अविवेक कहो, एक ही बात है। यह केवल मूर्खतामात्र है कि हम किसीके बिना नहीं रह सकते और कोई हमारे बिना नहीं रह सकता। इस मूर्खताके कारण न जाने कितने जन बेहोश पड़े हैं। मूर्ख शब्दका संस्कृतमें यही अर्थ होता है—'*मूर्च्छति इति मूर्खः*'—जो होश-हवास खोकर हो रहा है, उसका नाम मूर्ख है।

इसलिए '**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**'—आँख देखती जा रही है, कान सुनता जा रहा है। जिसको देख लिया, देख लिया; जिसको सुन लिया, सुन लिया; जिसको छू लिया, छू लिया और जिसको चख लिया, चख लिया। यहाँ इतने महात्मा बैठे हैं। यदि इनसे पूछा जाये कि परसों आपने कौन-सी दाल खायी थी तो ये ध्यान करके बतायेंगे। उनको याद नहीं होगा। कम-से-कम हम तो नहीं बता सकते कि परसों हमको क्या दाल-साग खानेको मिला था। इसलिए जब खाया हुआ दाल-साग, जो उस समय बहुत सुस्वादु लगा था—आज हमको याद नहीं है तो वह हमारे साथ चिपका कि हम उसके साथ चिपके! न देह चिपकी, न दिमाग चिपका। चिपकन तो कहीं है ही नहीं। मूर्खतामें ही चिपकन है। यह आसक्ति न प्राकृत है और न आत्मीय है। बिल्कुल मूर्खताके वशमें ही आसक्ति उत्पन्न हुई है। इन्द्रियोंका काम ही है विषयोंमें बरतना और देखते रहना विषयोंको। यदि आपसे यह पूछा जाये कि आपने जन्म लेनेसे लेकर अबतक अपने हाथसे कौन-कौन काम किये हैं और कहाँ-कहाँ गये हैं—इसकी लिस्ट बनाकर दीजिये तो आप बना सकेंगे? अरे, जिनकी गिनती याद ही नहीं है, उनको आप कैसे बतायेंगे? एक सज्जनको तो अपने बच्चोंतकको गिनती याद नहीं रहती। वे पहले गिनते हैं, तब हमको बताते हैं कि स्वामीजी, यह दसवें नम्बरकी बेटी है, यह सत्रहवें नम्बरका बेटा है। ये सब जिन्दा हैं। बीचमें कितने मर गये—यह उनको मालूम नहीं है। उन्हें अपने बेटोंका भी पता नहीं है। उन्होंने चार-पाँच ब्याह किये होंगे तो किसी पत्नीका नाम भी याद

नहीं होगा, लेकिन आसक्तिके पीछे मरे डोलते हैं। यह भ्रम ही है उनका और कुछ नहीं है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ (२९)

प्रकृतिके गुणमें संविद् होना माने उनमें अटक जाना। अच्छा, आप यही बताइये कि आपके मनमें अबतक सात्त्विक अथवा राजसिक वृत्तियाँ कितनी बार आ चुकी हैं? यह आप बता सकेंगे? अरे एक दिनमें कितनी बार ये वृत्तियाँ आती हैं—यह भी आप नहीं बता सकते। आप प्रयास करके भी यह नहीं बता सकते कि आपके मनने क्या-क्या आकार ग्रहण किये हैं, आँखने क्या-क्या रूप देखे हैं और कानने क्या-क्या शब्द सुने हैं। यह मूढ़ता नहीं तो और क्या है? याद कीजिये गोस्वामी तुलसीदासजीके इस पदको—

ऐसी मूढ़ता या मनकी।
परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकनकी॥

जो अपना आत्मदेव है और जिसका कभी लोप ही नहीं होता, उसे छोड़कर लोग इन उड़नेवाली, पड़नेवाली, गिरनेवाली, आनेवाली, जानेवाली, बदलनेवाली बहुरूपियों, वेश्याओं तथा कुलटाओंको समझते हैं कि ये हमारे साथ आकर चिपकती हैं और हम उनसे आसक्ति करते हैं।

असलमें प्रकृतिके गुणोंसे जो संमूढ़ हैं, वे ही उसके गुण-विभागमें या कर्म-विभागमें आसक्त हो जाते हैं। वे कौन हैं? अधूरे जानकार हैं। '**अकृत्स्नविद्**' माने उनको पूरा ज्ञान नहीं है। उनके पास उड़ती हुई जानकारी है, पल्लवग्राही पाण्डित्य है! मन्द हैं, माने उनके संगसे बचना चाहिए। उनकी गति इतनी धीमी है कि यदि आप उनके साथ रह जाओगे तो आपकी प्रगति रुक जायेगी। आप ऐसे मन्दोंकी कम्पनी कभी मत बनाना। वे तो मन्दगतिसे कभी आगे, कभी पीछे, कभी दायें, कभी बायें, अटकते-भटकते-सिसकते चल रहे हैं। इनके चक्करमें भी मत आना। अगर आप इनको अपने साथ रख लेंगे तो आपके ऊपर साढ़े-साती शनिश्चर आ जायेगा। ज्योतिषमें मन्द माने शनिश्चर होता है। वह एक-एक राशिपर ढाई-ढाई बरस रहता है। इसलिए महाराज, आप उनसे दूर रहना। उनको रहने दो यथास्थान, चलने दो उनको अपनी चालसे। '**कृत्स्नविन्न विचालयेत्**'—उनको विचलित करनेकी जरूरत नहीं है।

हाथी चलता अपनी चालसे कुत्ता वाको भुँकवा दे।
तू तो राम भजो जग लड़वा दे!

फिर हम क्या करें महाराज? बोले कि कुछ करनेकी नहीं, यह समझनेकी जरूरत है कि कर्म तो होते ही रहेंगे। गीताके मतसे अकेली प्रकृति कुछ नहीं कर सकती है, वह ईश्वरके सहयोगसे ही करती है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (९.१०)

यदि ऐसा नहीं समझोगे तो कहना पड़ेगा कि मैया इतनी चालाक है कि उसने बिना बापके ही इतने बच्चे पैदा कर दिये हैं। ईश्वर है बाप और प्रकृति है मैया। अगर ईश्वरको नहीं मानोगे तो उसका क्या अर्थ होगा? यही होगा कि मैया बिना बापके ही बच्चे पैदा करती है। इसलिए यह समझो कि इसमें ईश्वरका हाथ है, क्षेत्रज्ञका हाथ है। तेरहवें अध्यायके प्रारम्भमें ही यह बात आती है कि—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ (१३.१)

अब भगवान् प्रस्तुत प्रसंगमें कहते हैं कि—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ (३०)

सारे कर्म ईश्वरको समर्पित कर दो। कैसे समर्पित करें महाराज? क्या कर्मको ईश्वरमें रख दें? बोले कि रखोगे कैसे? ईश्वर तो अमूर्त है। किसी बटलोहीमें तो कोई चीज रख सकते हो! ईश्वरमें कैसे रखोगे कर्मको? हम हैं कर्ता और ईश्वर है अकर्ता, इसलिए कर्ताके द्वारा किये हुए कर्मका सम्बन्ध अकर्तासे कैसे होगा? उसको अपने कर्मका समर्पण कैसे करोगे? अब भगवान् समर्पणकी क्रिया बताते हैं। कहते हैं कि इसके लिए '**अध्यात्मचेतसा**' अध्यात्म-ज्ञान होना चाहिए। जिसको मोटरके पुर्जोंका ज्ञान नहीं है, वह अच्छा ड्राइवर नहीं हो सकता। अच्छा ड्राइवर वही हो सकता है जो मोटरके एक-एक कल-पुर्जेको जानता है और जिसे मालूम है कि कहाँसे पेट्रोल जाता है, कहाँ से बिजली पैदा होती है और कैसे चलती है। अच्छा ड्राइवर वही है जो मोटरके बिगड़नेपर बना सके। **अध्यात्म** शब्दका है शरीरके भीतर काम करनेवाली मशीनरीका ज्ञान! '*आत्मनि देहे एव इति अध्यात्मम्*'—देहमें जो कर्म करनेकी यान्त्रिक प्रणाली है, उसका नाम है अध्यात्म। ज्ञान प्राप्त करनेकी, व्यवहार करनेकी, जो यन्त्रिक प्रणालो है, उसको अध्यात्म कहते हैं। यह बात आप अपने मनसे ठीक-ठीक समझ लो। इसके बाद कर्मका सम्बन्ध कर्तासे मत जोड़ो, उद्देश्यके साथ जोड़ दो। लड़ो तो सही, पर अपने लिए नहीं, राजाके लिए। यही अध्यात्म है।

न ह्यनध्यात्म-वित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते। (मनु० ६.८२)

मनुजीने कहा कि यदि तुम अध्यात्मको नहीं समझोगे तो कर्मका फल भी तुम्हारी समझमें नहीं आयेगा। इसलिए अध्यात्म-चित्तसे ईश्वरको कर्मका समर्पण करो। जब हमारा बुद्धि-विशेष ईश्वरको विषय बनाकर ईश्वरमें जायेगा, तब हमारे कर्मोंका समर्पण उसमें हो जायेगा।

अब आपको हम एक गँवारू बात सुनाते हैं। क्या करें भाई, हम भी गँवार हैं, इसलिए गँवारू बात तो करेंगे ही! हमने एक महात्मासे कहा कि हमें आप ईश्वरकी शरणमें कर दीजिये। लोग उपासनाके प्रसंगमें समर्पण और सर्वज्ञ-सर्वशक्ति ईश्वरके प्रसंगमें शरणागति बोलते हैं। महात्माने कहा कि मैं तुमको समय देता हूँ। जाओ, सोच-विचारकर आओ कि ईश्वरकी शरणमें पृथिवी है कि नहीं, जल है कि नहीं, अग्नि है कि नहीं, वायु है कि नहीं, आकाश है कि नहीं, पंचतन्मात्राएँ हैं कि नहीं, अहंकार है कि नहीं, तत्त्व है कि नहीं और प्रकृति है कि नहीं? ऐसी क्या चीज है जो ईश्वरकी शरणमें नहीं है! यदि सब चीज पहलेसे ही ईश्वरकी शरणमें है तो उन्हीं पंचभूतोंसे बना हुआ तुम्हारा शरीर और इसमें होनेवाली समस्त चेष्टाएँ ईश्वरकी शरणमें क्यों नहीं हैं? जाओ, विचार करके कल आना और हमें बताना कि ये सब कुछ ईश्वरकी शरणमें हैं कि नहीं हैं? तुम्हारी समझमें जो चीज ईश्वरकी शरणमें न हो, हमको दिखाते जाना और हम उसे ईश्वरार्पित कराते जायेंगे। अब महाराज, दिन बीत गया, रात बीत गयी। दूसरे दिन मैं उनके पास गया और बोला कि महाराज, ऐसी कोई चीज नहीं मिली, जो ईश्वरकी शरणमें न हो! महात्मा बोले कि असलमें असमर्पण नामकी—यह चीज ईश्वरकी नहीं है—इसका भ्रम हो गया है, भ्रान्ति हो गयी है। इसलिए समर्पणकी नवीन क्रिया करनेकी जरूरत नहीं है। **'अध्यात्मचेतसा'**—पैनी नजरसे देखोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि सब ईश्वरमें है, सब ईश्वरका है और सब ईश्वरके द्वारा संचालित है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (१८.६१)

जो चीज पहलेसे ही ईश्वरको समर्पित है, उसका समर्पण तुम क्या करोगे? किसी कर्मकाण्डी पण्डितको बुलाकर हाथमें जल लेकर, पुष्प लेकर, अक्षत लेकर, द्रव्य लेकर संकल्प करना समर्पण नहीं होता है। अरे, यहाँ तो मालिक ही वही है भाई!

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतस्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किं नु समर्पयामि ते॥

भक्त कहता है कि जो कुछ मैं हूँ, अथवा जो कुछ मेरा है, वह सब तेरा है। जब हम यह जान गये कि सब भगवान्‌का है तब समर्पणका कर्तापन भी अपने ऊपर क्यों लें! इसलिए '**निराशीर्निर्ममो भूत्वा**'—आशा रखकर समर्पण मत करो। एक आदमीने कहा कि मैंने तुमसे प्रेम कर लिया तो तुम हमारे लिए कपड़ा लाओ, रुपये लाओ और मकान बनाओ आदि-आदि। इस प्रकारका समर्पण करनेवालोंसे तो संसारी लोग भी खुश नहीं होते! कहते हैं कि अच्छा समर्पण किया तुमने, हम क्या तुमको लेकर चाटेंगे! जा-जा, हम तुमसे कुछ नहीं लेते। हम क्या करेंगे तुम्हारे साथ? इस प्रकार न आशा रखो और न ममता रखो। ईश्वर जो करे, वह सब ठीक। अपना कुछ नहीं, सब उसका है।

देखो, यह प्रसंग पहले आ चुका है कि अर्जुनने धनुष-बाण छोड़कर यह दिखा दिया था कि—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ (१.२९)

इसपर भगवान्‌ने कहा कि शर्म नहीं आती तुमको अर्जुन! '**शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**'—कहनेके बाद, लड़ाईके नामपर बुखार चढ़ाकर बैठे हो? अरे, '**युध्यस्व विगतज्वरः**'—जैसे पहले लड़नेके लिए आये थे, वैसे ही चलो लड़ो!

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ (३१)
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥ (३२)

कहते हैं कि ईसाने जो मत प्रकट किया था, उसको बाइबिल बोलते हैं। उसके बाद हजरत मुहम्मदने कुरान शरीफ प्रकट किया, तब उसमें कह दिया कि बाइबिलमें हमने जो कुछ कहा था, वह सब मन्सूख। अब तो बस कुरान शरीफका मत ही चलेगा। लेकिन यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि '**ये मे मतमिदं नित्यं**'—मेरा यह मत थोड़े दिनोंके लिए नहीं है। यह मत समझना कि इस समय हम जिस मतका प्रतिपादन करते हैं, इसका आगे चलकर बाध कर देंगे। नहीं, हम अपने इस मतका अपवाद करनेवाले नहीं हैं। हमारा यह मत नित्य है।

इसके बाद '**अनुतिष्ठन्ति मानवाः**'—यह एक बात और कहते हैं। पूर्वमीमांसामें जिस कर्मानुष्ठानका वर्णन आता है, उसमें बृहस्पति-सव एवं वाजपेयका अधिकारी ब्राह्मण होता है। राजसूयका अधिकारी क्षत्रिय होता है, वैश्यस्तोमका अधिकारी वैश्य होता है और रौद्रेष्टिका अधिकारी निषाद होता है। लेकिन मैं जो मत बता रहा

हूँ—वह किसी जातिके लिए, किसी खास वर्णके लिए, किसी खास आश्रमके लिए, किसी खास मजहबके लिए, किसी खास देशके लिए, किसी खास भूगोलके लिए नहीं है, अपितु 'मानवाः'—इस मतके अधिकारी मनुष्य मात्र हैं। उसके पास जनेऊ हो चाहे न हो, चोटी हो चाहे न हो, वह समुद्रके इस पार रहता हो या उस पार रहता हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। उसे तो बस मानव होना चाहिए। यदि हृदयमें श्रद्धा हो, दोष-दृष्टि न हो तो मनुष्य मात्र हमारे इस मतका अधिकारी है।

देखो, यह भगवान्‌की वाणी है। जो केवल एक देशके लिए कानून बनावे, वह तो एक देशका राजा हो सकता है। लेकिन जो सब देशोंका राजा होगा, वह तो सब देशोंके लिए कानून बनावेगा। इसीका नाम ईश्वर है। यदि कोई कहे कि भाई, हमारे मजहबवाले लोगोंके लिए तो यह कानून है तो उसका उत्तर है कि मजहबी दायरा बहुत छोटा होता है। यहाँ तो सर्वदाके लिए, सम्पूर्ण मानव जातिके लिए भगवान् बोल रहे हैं। उनका यह मत सारे भूगोलमें, सारे इतिहासमें, सारे भविष्यमें चलेगा। यह मत सार्वभौम है, सार्वकालिक है, सार्वजनिक है और मानव-मात्रके लिए है। यह श्रौत, स्मार्त धर्मके समान अधिकारी विशेषके लिए नहीं है, बल्कि यह भागवत-धर्म है और भगवान्‌के सब बच्चोंके लिए है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥ (३२)

अभ्यसूया माने दोष निकालना। *'गुणेषु दोषाविस्तरणम्।'* असूया बाँझ है। *न सूते इति असूया।* जिससे कोई फल न निकले, उसका नाम असूया। बन्ध्या मन्त्रीका नाम असूया है। इसीसे अत्रि ऋषिकी पत्नी अनसूया है। अनसूया बाँझ नहीं है, तीन बड़े-बड़े, बढ़िया-बढ़िया बेटे हुए उसके। वह किसीमें दोष नहीं देखती। उसके पास ब्रह्मा, विष्णु, महेश आये और बोले कि नंगी होकर भिक्षा लाओ! अनसूयाने कहा कि अच्छी बात है, तुम बच्चे होकर खेलो और मैं नंगी होकर नाचूँगी। उसने उनकी बातोंमें भी दोष नहीं निकाला। लेकिन असूया जिसके प्रति होती है, उसका कुछ नहीं बिगाड़ती, जिसके हृदयमें होती है, उसका सत्यानाश कर देती है। असूयाका यही विशेष है। दोष-दृष्टि जिसके बारेमें होती है, उसे तो छूती ही नहीं और जिसके दिलमें पैदा होती है, वहाँ कैंसर हो जाता है। शिरा जिसमें किम् हो जाये—किम् माने दुष्ट हो जाये (जैसे किम्पुरुष होता है) वैसे ही जिसमें शिरा दुष्ट हो जाये—दूषित हो जाये, उसका नाम किंशिरा अथवा कैंसर है।

मैंने एक बात देखी है। यहाँ कोई एक आँखवाले व्यक्ति बैठे हों तो वे बुरा न मानें! वे तो एक दृष्टिसे सारे जगत्‌को देखते हैं, उनके बारेमें मुझको कुछ नहीं कहना है। लेकिन मेरा अनुभव यह है कि दोषदर्शी पुरुष काना हो जाता है,

दूसरोंका दोषदर्शन करते रहनेके कारण दो आँख होते हुए भी उसकी एक आँख बिगड़ जाती है और एक आँख रह जाती है। ऐसे दस-बीस-पचास उदाहरण मेरी दृष्टिमें है। आप भले ही इसे हँसनेकी बात समझ लें। लेकिन मैंने देखा है ऐसा! भगवान् कहते हैं कि जो हमारे मतमें दोष निकालते हैं और उसका अनुष्ठान नहीं करते, वे सर्वज्ञान-विमूढ़ हैं माने उन्हें किसी ज्ञानकी पूरी-पूरी उपलब्धि नहीं होगी। इसका एक अर्थ और है। वह यह है कि *'लोकदृष्ट्या सर्वज्ञानपि अवमूढानपि'*—लोकदृष्टिसे उनको लोग सर्वज्ञ और अवमूढ़ मानते हैं। ऐसा मानते हैं कि ये बड़े भारी ज्ञानी हैं, महात्मा हैं, इनका कट्ठा बहुत बड़ा है, इनके पास हाथी बहुत बड़ा है, छत्र-चँवर बहुत बड़ा है, इनकी गद्दी बहुमूल्य रुईकी बनी हुई है—अब तो डनलपकी होती है—परन्तु वस्तुतः वे नष्ट हैं, अपना नाश कर चुके हैं और अचेतस् हैं, बेहोश हैं, मतवाले हो गये हैं।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ (३३)
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (३४)

देखो, एक होती है जानकारी। जन्म लेनेके बाद ज्यादातर जानकारी माँ-बाप, भाई-बहन और परिवारके अन्य लोग ही देते हैं। इनमें-से तत्त्वज्ञानी तो शायद ही किसीके माँ-बाप, भाई-बहन और परिवारके लोग होते हैं। इसलिए वे लोग मनुष्यकी प्रकृतिके अनुसार ही जानकारी देते हैं। ऐसी जानकारी इसीलिए देते हैं कि मनुष्यकी प्रकृतिको ही समझते हैं। इस समय गुणत्रयात्मिका प्रकृतिका कौन-सा गुण प्रकट हो रहा है, इसपर तो उनका ध्यान जाता नहीं। असलमें यह जो प्रकृति है, इसमें बाहरका ज्ञान चाहे जितना ठूँस-ठूँसकर भरो, इसके भीतर जैसी भरी है वैसी निकलेगी। कोई कहे कि हम आँखसे सुनेंगे और कानसे देखेंगे तो यह गलत है। कानकी प्रकृति सुननेकी है और आँखकी प्रकृति देखनेकी है। आप यह मान लो कि अखण्ड-ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही सब है। मान लिया कि आप ज्ञानवान् हैं, आपके लिए ज्ञानमात्रके सिवाय और कुछ नहीं है; लेकिन आप कहें कि हम आँखसे सुनेंगे, कानसे देखेंगे और नाकसे चखेंगे और जीभसे सूँघेंगे तो क्या यह सम्भव होगा ? वहाँ आपका अखण्ड ज्ञानस्वरूप क्या करेगा! अरे भाई, यह तो प्रकृति है और एक ढंगसे बनी है। ऊपर खायेंगे, नीचे जायेगा, पचेगा और मलापसरण होगा। भले ही कोई ज्ञानी हो, ज्ञानशास्त्री हो, परोक्षज्ञानी हो, अपरोक्षज्ञानी हो, प्रकृति तो सबकी एक है न! प्राणायाम कर लो, प्रत्याहार कर लो, आसन बाँध लो,

प्रकृतिमें जो गुण जहाँ प्रकट हुआ है, वह अपने विषयको ग्रहण करेगा ही; आप थोड़ी देरके लिए उसे भले ही रोक लो। इसीसे महात्मा लोग सहज भावसे रहते हैं।

हमारे एक भक्त हैं जो घण्टों पाँव ऊपर और सिर नीचे करके शीर्षासन करते हैं। हम ऐसे कई लोगोंको भी जानते हैं, जो मूत्रेन्द्रियसे पानी खींचते हैं, दूध खींचते हैं और घी खींचते हैं। यहाँ उनका नाम लेकर क्या करना है! यह तो एक टैकनीक है। अभी मैं दिल्लीमें था तो वहाँके एक डाक्टरने हमारा ब्लड प्रेशर लिया। ऊपरका एक सौ चौंतीस और नीचेका अस्सी आया, बिलकुल नार्मल। मैंने कहा कि डाक्टर जरा फिरसे लेना! तो फिरसे लिया। अब ऊपरका एकसौ चौंतीसकी जगह एकसौ चौंसठ हो गया। डाक्टरने कहा कि महाराज, यह क्या हो गया ? मैंने बताया कि इसमें एक टैकनीक है भाई! हम चाहें तो ब्लड प्रेसर बढ़ा लेते हैं। इसी तरह कई लोग जो भरी सभामें दिखाते हैं कि देखो, हमारी नाड़ी नहीं चल रही है, वह भी उनकी एक टैकनीक है। ये सब अप्राकृत काम हैं और इनका अभ्यास एकदम नहीं करना चाहिए। यदि कहो कि अब हम योगाभ्याससे शरीरसे पसीना नहीं निकलने देंगे, बाल नहीं बढ़ने देंगे तो क्या योगाभ्यास यही करनेके लिए है ? योगाभ्यासको इतने क्षुद्र काममें मत लगाओ। भले ही तुम ज्ञानी हो, पर प्रकृतिमें प्रकृतिके अनुसार काम होने दो। शब्द तन्मात्रा-प्रधान कान शब्द सुनेगा स्पर्श-तन्मात्रा-प्रधान त्वचा स्पर्शका अनुभव करेगी और रूप-तन्मात्रा-प्रधान नेत्र रूप देखेंगे। ये इन्द्रियाँ अपना काम करती रहेंगी। इनको जबरदस्ती रोकोगे तो थोड़ी देरके लिए रुक जायेंगी फिर ज्यों-की-त्यों हो जायेंगी। इसीलिए वज्रौली, विपरीतकरणी, शीर्षासन आदि सिद्धियोंके चक्करमें पड़कर उल्टापल्टा काम करोगे तो कुछ दिन पहले भले ही कर लो, लेकिन फिर वही ढाकके तीन पात—जहाँ-के-तहाँ पहुँच जाओगे! इसीलिए अस्वाभाविक कर्ममें मनुष्यको नहीं लगना चाहिए। प्रकृतिको सहज भावमें कर्म करने दो और तुम अपने सहज स्वरूपमें मस्त रहो।

देखो, प्रकृतिके निग्रह-अनुग्रह आदिमें भी फँसनेकी कोई जरूरत नहीं है। कई लोग एकके प्रति निग्रह और दूसरेके प्रति अनुग्रह करनेकी चेष्टा करते हैं। कई लोग ऐसे होते हैं कि पानी पीनेमें तो अनुग्रहबुद्धि रखते हैं और लघुशंका करनेमें निग्रह-बुद्धि रखते हैं। उनको जलोदर रोग होगा कि नहीं होगा ?

इन्द्रियस्य- इन्द्रियस्य—इसको दो बार बोलनेका अर्थ ऐसा ही है जैसा हम जन-जनका, मन-मनका बोलते हैं। मतलब है कि हमारी इन्द्रियाँ अपने शब्दमें, स्पर्शमें, रूपमें, रसमें, गन्धमें, अनुकूलतामें, प्रतिकूलतामें, राग-द्वेषमें व्यवस्थित हैं। इसमें आपकी चतुराई इतनी है कि आप **'रागद्वेषयोर्न वशमागच्छेत्'** राग-**द्वेषके वशमें न हों**। राग-द्वेष आपके अधीन रहें, आप राग-द्वेषके अधीन न हो

जायें। रागका उदय होना दोष नहीं है, उदय होनेपर तो वह मालूम पड़ता है, उसको रोकोगे कैसे ? किसीको देखकर दिलमें आग लग गयी, किसीको देखकर जलन होने लगी, तो आग लगने और जलन होनेपर ही तो तुमको मालूम पड़ा। जो चीज पैदा होनेके बाद मालूम पड़ती है, उसको पैदा होनेसे पहले कैसे रोकोगे ? ठीक है, जो हो गयी सो हो गयी, उसको जाने दो। गुण्डेको घरमें बुलाकर रखो मत। उसको छोड़ दो और बह जाओ। गंगाजीमें मुर्दा आता देखकर कोई बोला कि हम ऐसा प्रतिबन्ध लगायेंगे कि गंगोत्रीसे इधर कोई मुर्दा आने ही न पावे। लेकिन है यह आपके वशकी बात ? यह आपके वशकी बात नहीं है। इसलिए जब मुर्दा बहता हुआ आये तो उसे बह जाने दीजिये, आगे बढ़ने दीजिये। इसी तरह अन्तःकरणकी वृत्तिमें कभी राग भी बहता हुआ आता है, कभी द्वेष भी बहता हुआ आता है। उसे यदि आप पकड़कर रोक लेंगे तो सड़ाँध पैदा हो जायेगी, आपके अन्तःकरणमें दुर्गन्ध हो जायेगी और यदि आप गंगा-किनारे पहरेपर बैठ जायेंगे कि हम आने ही नहीं देंगे तो आपका जीवन ही खत्म हो जायेगा। इसलिए उनकी ओरसे लापरवाह हो जाना चाहिए; जो आवे-सो-आवे और जो जाय-सो-जाय। उसके वशीभूत होकर कर्म नहीं करना चाहिए।

असलमें इसकी युक्ति यह है कि यदि मनमें कोई बात आजाये तो उसको शरीरसे करनेकी जरूरत नहीं है। जैसे सपना मनमें आता है, वैसे ही बात आयी और गयी। यह पहली युक्ति है। दूसरी युक्ति यह है कि बुद्धिसे उसका समर्थन मत करो कि आयी तो बहुत बढ़िया आयी। मैं शास्त्रकी एक बात आपको बताता हूँ कि यदि स्वप्नावस्थामें कोई देवता दर्शन दे जाये और कोई गुरु दर्शन दे जाये और कोई मन्त्र बता जाये तो आप जागरणका देवता, गुरु और मन्त्र छोड़ना मत, क्योंकि कभी उसके विपरीत सपना आजायेगा तो वह भी बदल जायेगा! इसलिए जब तक जाग्रत्‌के सद्गुरुसे परिपुष्ट न हो, तबतक स्वप्नके गुरु, देवता, मन्त्रको मानना नहीं चाहिए। सपना तो अपना मनोविकार है। इसी तरह यदि मनमें काम-क्रोध आजाये तो रामकी भाँति यह मत कहो कि—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मन कुपन्थ पग धरइ न काऊ॥

हमारा मन दुष्यन्तका मन नहीं है, जो शकुन्तलाको देखकर कहता है कि—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणम् अन्तःकरण-प्रवृत्तयः।

अरे, तुम्हारा मन तो अनेक विकारोंसे, अनेक संस्कारोंसे, अनेक वासनाओंसे, अनेक संगोंसे बहुमुखी हो गया है। इसलिए उसमें जो जाता है खेलते हुए बहते

हुए—उसको जाने दो पकड़कर रखो मत। '**तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ**' अरे, ये तो मनुष्यके परिपन्थी हैं। परिपन्थी माने दुश्मन है, लुटेरे हैं।

कहते हैं कि एक बार अट्ठारह सिन्धी कहीं जा रहे थे। सबके साथ सामान था। रास्तेमें उन्हें दो आदमी मिले, जो डंडा लेकर खड़े हो गये और उनसे बोले कि सब लोग अपना-अपना सामान इकट्ठा करो। उन्होंने इकट्ठा कर दिया। अब बोले कि इनको उठाओ सिरपर और जहाँ हम कहते हैं, वहाँ ले चलो। रास्तेमें कोई बोलना मत। सिन्धियोंने सामान ले जाकर वहाँतक पहुँचा दिया। फिर बोले कि जबतक तुम लोग अपने घर नहीं पहुँचो तबतक चुप रहना, मुँहसे शब्द नहीं बोलना। सिन्धी लोग चुपचाप अपने घर लौट गये। गाँवके लोगोंने पूछा कि क्या हुआ भाई ? शरीरपर न कपड़ा है और न कोई सामान है। तुम लोग ऐसे कैसे आ रहे हो ? सिन्धी बोले कि डाकुओंने सबकुछ लूट लिया। गाँववालोंने पूछा कि कितने डाकू थे ? सिन्धी बोले कि दो डाकू थे। अरे, तुम लोग अट्ठारह थे और वे दो, फिर कैसे लूट कर ले गये ? सिन्धी बोले कि उन्होंने कहा कि सामान रख दो तो हमने रख दिया। गाँववालोंने पूछा कि क्या तुम्हारे पास कुछ डण्डे-वण्डे नहीं थे ? सिन्धी बोले कि हाँ, डण्डे तो थे; पर उन्होंने कहा तो हमने फेंक दिया। फिर चिल्लाये क्यों नहीं ? उन्होंने कहा कि चुप रहो तो हम चुप रहे। गाँववालोंने कहा कि अरे भाई, दो आदमी अट्ठारह आदमियोंका सामान ले कैसे गये ? सिन्धी बोले कि उन्होंने कहा कि सिरपर उठाकर पहुँचा दो तो हमने पहुँचा दिया। गाँववालोंने कहा कि अरे, जब पहुँचा दिया, तब पहुँचाकर लौटते समय चिल्लाते! सिन्धी बोले कि उन्होंने कहा था कि घर पहुँचनेसे पहले बोलना मत!

तो भाई, राग-द्वेष भी ऐसे ही लुटेरे हैं, परिपन्थी हैं। हम अनजानेमें ठगे जाते हैं, सोते समय चोर ले जाते हैं और आँखके सामने डाकू ले जाते हैं। राग-द्वेष ठग नहीं हैं, चोर भी नहीं हैं, ये तो परिपंथी हैं, डाकू हैं, जागते समय लूट लेते हैं। इसलिए इनके वशीभूत कभी नहीं होना चाहिए।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ (३५)

ईश्वर-कृपासे अबतक यह बात स्पष्ट की गयी कि विवेकके द्वारा प्रकृतिका धर्म प्रकृतिमें रहने दो और पुरुषका धर्म पुरुषमें रहने दो। असंगता, प्रस्तरता, चेतन-मात्रता—यह पुरुषका धर्म है। इसमें कोई गुण नहीं है। गुण तो प्रकृति-धर्ममें होता है, इसमें गुण नहीं होता, यह विगुण है। जो स्वधर्म है, वह प्रकृति-प्राकृत धर्म नहीं है—न प्रकृतिका धर्म है और न प्राकृत धर्म है। यह तो स्वका धर्म है। इसमें

कोई गुण नहीं है, इससे गुणका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसमें न विषय है और न इन्द्रिय है। यह विगुण है। इसलिए पुरुष अपने पुरुष-धर्ममें स्थिर रहे और प्रकृति तथा प्राकृत धर्मको स्वीकार न करे। गुणोंको स्वीकार न करनेपर ही वह श्रेयोभाजन होता है। **'परधर्मात् स्वनुष्ठितात्'**—प्रकृति-प्राकृतका जो धर्म है, जो गुणानुवाद है, उसको भली-भाँति करोगे तब भी वह पुरुष धर्मके विपरीत करेगा। इसलिए **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।'** अपने धर्ममें मुर्देकी तरह रहना भी ठीक नहीं है परन्तु प्रकृति-प्राकृतके साथ तादात्म्य करके उनके धर्मको अपना धर्म स्वीकार कर लेना ठीक नहीं है।

एक होता है नैसर्गिक धर्म और दूसरा होता है संस्कृत धर्म। विचित्र धर्म है, संस्कृत धर्म। जो धर्म खतनासे, बपतिस्मासे, चोटीसे और जनेऊ आदिसे आता है वह संस्कार धर्म है और प्रकृतिसे जो धर्म आता है, वह निसर्ग धर्म है। जो पुरुष है, वह विकार धर्म और संस्कार धर्म दोनोंसे अपकृत है। इसमें न विकार-धर्म है, न संस्कार-धर्म है। विकार-धर्मके निवारणके लिए संस्कार-धर्म होता है और तत्त्व-ज्ञानसे संस्कार-धर्म छूट जाता है। यह इसकी प्रक्रिया है। इसलिए **'परधर्मो भयावहः'**—प्रकृति-प्राकृत धर्मको बिलकुल स्वीकार मत करो। अब अर्जुन कहते हैं कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ (३६)

पुरुषके 'प'में चाहे ह्रस्व लगाकर बोलो, चाहे दीर्घ लगाकर बोल दो, दोनों ही ठीक हैं। है तो पुरुष। कोई चाहता नहीं है कि हम पाप करें, क्योंकि पापका फल है दुःख। दुःख किसीको इष्ट नहीं है। *'सुखं मे भूयात् दुःखं मे मा भूत्'*—सब चाहते हैं कि हमको सुख हो, दुःख न हो। इसलिए जब हम दुःख न हो—ऐसा चाहते हैं तो जिससे दुःख मिलता है, उस पापमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। जो आदमी जानता है कि आगपर चलेंगे तो जल जायेंगे, वह आगपर क्यों चले!

एक सुकरात नामका वैज्ञानिक हुआ है। उसका कहना था कि जब आदमी जान जायेगा कि भोजनमें जहर मिला हुआ है तो उसे उसको खानेकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। फिर भी मनुष्य पाप करता है। और कोई शक्ति उसे जबरदस्ती ले जाकर पापमें डाल देती है—**'बलादिव नियोजितः'**। केनोपनिषद् भी कहता है कि *'केनेषितं यतति प्रेषितं मनः'*(१.२)। प्रस्तुत प्रसंग गीताका केनोपनिषद् है। यहाँ सम्पूर्ण मनकी प्रकृतिके प्रवृत्तिके सम्बन्धमें प्रश्न है और यहाँ पाप-प्रकृतिके सम्बन्धमें प्रश्न है। दोनोंमें फर्क है। वहाँ सामान्य प्रवृत्ति-विषयक प्रश्न है—जैसे

सब किसकी रोशनीमें देखते हैं ? बोले कि अरे भाई, सूर्यकी रोशनीमें। सो तो ठीक है। पर यदि आँख जरा मन्दी पड़ गयी हो और लाल-ही-लाल देखना हो और कोई मदारी खेल दिखाता हुआ कह रहा हो कि हमारी बन्दूककी गोली तुम्हारे आँखमें लग रही है तो ? तब खास तरहका चश्मा लगाकर देखना पड़ता है।

सामान्य प्रवृत्ति परमेश्वरसे होती है, लेकिन विशेष प्रवृत्ति अकेले ईश्वरसे नहीं होती, उसमें कुछ मिला हुआ होता है। कुछ इसमें मिक्सचर होता है। फिर वह कौन है, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य न चाहनेपर भी पाप करता है और मानो कोई बलपूर्वक उसे पापमें लगा देता है ? तुमने भी तो कह दिया कि '**ध्यायतो विजयान्पुंसः**' (२.६२)—जो विषयका ध्यान करेगा उसका नाश हो जायेगा। फिर यह विषय-ध्यान मनुष्य करता ही क्यों है ?

अब बोलते हैं भगवान्। लेकिन चतुराईसे बोलते हैं। वे यह नहीं कहते हैं कि प्रकृति पाप करवाती है—यह भी नहीं बोलते कि चेतन पाप करवाता है। तब कौन पाप करवाता है ? क्या प्रकृति, महतत्त्व, अहंकार तत्त्व, तन्मात्रा, पञ्चमहाभूत—इनमेंसे कोई पाप करवाता है ? लेकिन उनको तो पाप-पुण्यका कोई विवेक ही नहीं है। फिर क्या असंग चेतन पुरुष पाप करवाता है ? नहीं ऐसा भी नहीं है। फिर क्या है ? भगवान् बोले कि देखो अर्जुन, राग-द्वेषकी कई भूमिकाएँ होती हैं। राग-द्वेष ही अभिव्यक्त होकर काम-क्रोधकी भूमिकामें आते हैं—जैसे मनमें जलन हो तब तो द्वेष है और जबानसे गाली देने लगे, आँख लाल हो जाये, ओठ फड़कने लगे, हाथ-पैर काँपने लगे तो वह द्वेष नहीं, क्रोध है। जब गाली देने लगे, मारने लगे तो वह हिंसा हो गयी। गाली देना, मारना हिंसा है। मुँहका लाल होना, चेहरेका तमतमाना, हाथ-पैरका काँपना क्रोध है। भीतर-ही-भीतर जलन होना और बाहर वालेको उसका पता न चलना तथा बारह बरसके बाद बदला लेंगे—ऐसी भावनाका होना द्वेष है। द्वेष सूक्ष्म है, क्रोध स्थूल है और हिंसा स्थूलतम है। यहाँ भगवान् न सूक्ष्मतमकी बात करते हैं और न स्थूलतमकी बात करते हैं। उन्होंने दोनोंके बीचमें एक मध्यम कक्षा निकाल ली है। वे कहते हैं कि यह जो काम है सो क्रोध है और जो क्रोध है सो काम है—

काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (३७)

यहाँ **एष** शब्दका प्रयोग दो बार करनेका अर्थ यह है कि ये दोनों मूलतः एक हैं। जिसके मनमें काम होगा, उसे उसके पूरा न होनेपर क्रोध आयेगा। क्रोध तो आता ही इसलिए है कि अपनी इच्छा पूरी नहीं हुई है। इसलिए क्रोधमें भी काम आता है। जब किसीपर क्रोध आयेगा, तब वह यह कहेगा कि इस सालेको हम मार डालेंगे।

यहाँ मार डालनेकी कामना भी हो गयी और किसीको पानेकी इच्छा होगी तो बाधकको मार डालनेकी इच्छा होगी और क्रोध होगा। इसलिए जो काम है, वही क्रोध है, और जो क्रोध है वही काम है। ये दोनों कहाँसे निकले हैं? बोले कि जब आत्माका रजोगुणके साथ सम्बन्ध हुआ और जब रजोगुणमें मैं-मेरा हुआ। रजोगुणसे प्रवृत्ति होती है—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ (१४.१२)

जब हमारा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-असंग आत्मा अविवेकके कारण रजोगुणके साथ तादात्म्यापन्न हो गया, तब उसमें-से काम-क्रोध निकल आये। '**महाशनो महापाप्मा**'—कामका पेट कभी भरता नहीं है। यह महाशन है, अघासुर है।

श्रीमद्भागवतमें तो ऐसे लिखा हुआ है कि—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥ (९.१९.१३)

संसारमें जितना भी धन-धान्य है, जितनी भी सेना है, जितने भी हाथी-घोड़े हैं, जितने भी हार्स-पावरके मोटर हैं और जितने भी हवाई जहाज हैं और जितनी भी स्त्रियाँ हैं, वे सब एक व्यक्तिकी तृप्तिके लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। इसलिए इनका भोग करके हम कभी तृप्त हो सकेंगे—यह आशा मत रखो। भोगसे हमें कभी तृप्ति नहीं मिलेगी। इसे तो एक जगह बाँधना पड़ेगा। काम महाशन है और महापाप्मा है। '**एष कामः महाशनः एष क्रोधः महापाप्मा।**' क्रोध महापापी है। यह गुरु, पिता, माता, भाई, बन्धु—जिनका आदर करना चाहिए—उनका अनादर करवा देता है। यह बड़ा भारी पापी है। इसलिए, भाई, इस बैरीको समझो। क्रोध पापका मूल है। यह कभी सन्तुष्ट नहीं होता। अपना बैरी अगर ढूँढ निकालना हो तो वह पड़ोसीके घरमें नहीं रहता, गाँवमें नहीं रहता, राजधानीमें नहीं रहता; यह तो बाबा '*इह अन्तःकरणे*'—इस अन्तःकरणमें ही रहता है। आप कहाँ उस दुश्मनको ढूँढते हो? दुश्मन तो आपके घरमें ही बैठा हुआ है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ (३८)

आपका ज्ञान तो बहुत बड़ा है, क्या पूछना है उनका! एक पण्डित जी हैं काशीमें। वे वेदान्त और व्याकरण—इन दो शास्त्रोंके सर्वमान्य, धुरन्धर विद्वान् हैं। हम दोनों पूर्वाश्रमके सम्बन्धी हैं। उनका जमाई मर गया तो मैं और मेरा साथी दोनों गये मातमपुर्सीके लिए। मैं उन दिनों 'कल्याण-परिवार'में गोरखपुर रहता था।

पंडितजीने कहा कि मैंने शास्त्र पढ़े हैं। वेदान्तकी ऐसी कोई पंक्ति नहीं है, जिसका अर्थ न लगा सकूँ और उसके बारेमें शंका-समाधान करके पूर्वपक्षका खण्डन न कर सकूँ। लेकिन जमाईके मरनेके बाद मेरा दिल शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो गया है। आप ही बताइये कि मैं क्या करूँ? कैसे धैर्य धारण करूँ?

तो,ऊपर जो काला-काल धुआँ और नीचे आग जलती हुई दीखती है—यह सात्त्विक आवरण है। **'यथादर्शो मलेन च'**—शीशेपर जो धूल छा जाती है और उससे कहीं दिखता है, कहीं नहीं दिखता—यह राजसिक आवरण है। **'यथोल्बेनावृतो गर्भः'**—जेरसे, जरायुसे गर्भ परिवेष्टित होता है तो कहींसे भी नहीं दिखता—वह तामसिक आवरण है। जब किसी विद्वान्‌को भी क्रोध आता है तब उसे जरा याद दिलाओ कि महाराज, आप ज्ञानी होकर ऐसा क्रोध करते हैं तो वह आग-बबूला होकर कहेगा कि जा-जा, बड़ा चला है उपदेश करने! पहले मैं तुम्हें समझ लूँ, तब तुम उसके बाद ज्ञानकी बात करना। इसलिए उस समय ज्ञानकी बात मत बोलना। **'तेनेदम् आवृतम्'**—जब कामावेश, क्रोधावेश आता है, तब ज्ञानको दबा देता है। व्यासजीने कहा है कि—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्। (भाग० ९/१९.१७)

व्यासजीके इस कथनपर जैमिनीने कहा कि गुरुजी, आप यह क्या लिखते हैं? ऐसी क्या बात है! इसके बाद ऐसा हुआ कि एक बार रातको जैमिनी कहीं जा रहे थे तब वर्षा होने लगी। चारों ओर धुन्ध छा गयी। एक कुटिया दिखी और उसके पास गये तो देखा कि वहाँ एक बहुत सुन्दर स्त्री थी। उसने कहा कि महाराज, भीतर आजाइये! मैं आपको अकेले बाहर नहीं रहने दूँगी। जैमिनी बोले कि नहीं-नहीं, मैं वृद्ध हूँ, महात्मा हूँ, महर्षि हूँ, ज्ञानी हूँ, मेरे लिए क्या है! यह कहकर वे बाहर सो गये। लेकिन उन्हें नींद नहीं आयी। उन्होंने किवाड़ी खटखटाकर कहा कि खोलो! स्त्री बोली कि अब मैं नहीं खोलूँगी! लेकिन जैमिनीसे रहा नहीं गया। वे कुटियाके ऊपर चढ़ गये, उसका छप्पर उघाड़ डाला और उसके भीतर घुस गये। वहाँ क्या देखते हैं कि जटा और बड़ी-बड़ी दाढ़ीके साथ साक्षात् व्यासजी ही बैठे हुए हैं और बोल रहे हैं कि क्यों बेटा, यह सब क्या है? इसलिए बात यह है कि काम-क्रोध विद्वानोंको भी ढक देते हैं।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ (३९)

कामने ज्ञानको ढक रखा है। जो अज्ञानी हैं, मूर्ख हैं, उनको तो यह भोगके समय सुख देता है और बादमें पश्चाताप देता है, ग्लानि देता है, दुःख देता है।

लेकिन ज्ञानी पुरुषोंके लिए तो यह नित्य वैरी है—'**ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।**' उनको तो भोगके समय भी यह चैन नहीं लेने देता। पहले जब कामना आयी, तब भी चैन नहीं और जब भोग लिया, तब भी चैन नहीं। यह हमेशा उनको तकलीफ ही देता है।

देखो, अविद्या दूसरी चीज है, अस्मिता दूसरी चीज है, राग-द्वेष दूसरी चीज है और ये काम-क्रोध दूसरी चीज हैं। ये दुष्पूर अनल हैं। कोई चाहे कि हम कामनाकी पूर्ति कर लें तो वह यह कर ही नहीं सकता है। इसलिए आओ, इनपर विजय प्राप्त करनेकी युक्ति सोची जाये। बोले, कि पहले शत्रुका सारा पता लगा लेना चाहिए। अपना खुफिया-विभाग इतना पक्का होना चाहिए कि यह शत्रु कहाँ सोता है, कहाँ बैठता है, कहाँ रहता है, इसकी कैसी-कैसी आदतें हैं और इसमें क्या-क्या कमजोरियाँ हैं—ये सब बातें मालूम हो जायें।

अब पहले इनके रहनेकी जगह बताते हुए कहते हैं—

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येव ज्ञानमावृत्त्य देहिनम्॥ (४०)

यह दूसरेके घरमें नहीं रहता, अपने घरमें ही रहता है। हम जिस रथपर चढ़कर चलते हैं, उसके घोड़ोंको खिला-पिलाकर इसने अपने साथ मिला लिया है। घोड़े अर्थात् इन्द्रियाँ इसके माने कामके काबूमें। बागडोर भी इसने बिलकुल अपने हाथमें ले रखी है और सारथिको खिला-पिला रखा है। मतलब यह कि जिस रथमें बैठकर हम संसारके व्यवहारमें चलते हैं, उसके बुद्धि-रूपी सारथिको कामने काबूमें कर लिया है और बागडोरको भी अपने काबूमें कर लिया है। अब तो स्थिति यह है कि पूरा-का-पूरा रथ ही उसके काबूमें है और वही हमें लिये जा रहा है। '**इन्द्रियाणि**'—घोड़े, मन-बागडोर और बुद्धि -सारथि—ये सब इसके अधिष्ठान हैं, इन्हींमें यह रहता है। इनके रूपमें हमारे अपने खास आदमियोंको मिलाकर इसने अपने पक्षमें कर लिया है। अब यदि हम कहते हैं कि सारथि, तू अमुक जगहपर रथ ले चल तो वह उधर ले ही नहीं जाता, दूसरी तरफ मोड़ देता है। बागडोरको कहें कि कड़ी हो जा तो कड़ी नहीं होती, ढीली रहती है। घोड़ोंको घुमाते हैं कि इधर चलो तो वे दूसरी ओर चल पड़ते हैं। कामने बुद्धि , मन और इन्द्रियोंको अपने पक्षमें कर लिया है। और-तो-और, मन्त्री तो दुश्मनसे मिल ही गया, पत्नी भी दुश्मनसे मिल गयी, पुत्र भी दुश्मनसे मिल गया, सेना भी दुश्मनसे मिल गयी। ये तो सब-के-सब दुश्मनके काबूमें चले ही गये, हमारा ज्ञान भी उससे ढक गया।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ (४१)

अर्जुनका प्रश्न तो यह था कि पाप कौन कराता है? इसपर भगवान्ने बताया कि पापका प्रेरक काम है। उस कामको वशमें कैसे करें? बोले कि पहले घोड़ोंको अपने वशमें कर लो। क्योंकि '**तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ**'—नियमन स्थूलसे प्रारम्भ होकर सूक्ष्ममें प्रवेश करता है। इसलिए '**आदौ इन्द्रियाणि नियम्य**'।

देखो, डरना नहीं, क्योंकि तुम भरत हो, ऋषभ हो, भरतर्षभ हो, भरत-वंशियोंमें श्रेष्ठ हो। घोड़ा चलानेका तो तुम्हारा काम ही है। अश्वभार हो तुम—अश्वका जो भार सहे सो अश्वभार। जो अश्वको स्वच्छन्द न चलने दे, उसका नाम अश्वभार माने असवार होता है। घोड़ेका जहाँ मन हो वहाँ ले जाये, तो पता नहीं किस गड्ढेमें ले जायगा। इसलिए '**पाप्मानं प्रजहिह्येनम्**'। यहाँ **प्रजहिहि** क्रियापद है। '*जहि, जहीहि, जहाहि*'—ये तीन '**हा त्यागे**' धातुसे होते हैं। यहाँ है **प्रजहिहि** अर्थात् इन्द्रियरूपी घोड़ोंको वशमें करके कामका परित्याग कर दो, क्योंकि यह रहेगा तो ज्ञान-विज्ञानका नाश करेगा। इसके बाद भगवान्ने इनका क्रम समझाया—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ (४२)

विषयोंके परे इन्द्रियाँ हैं—'*पिपर्ति इति परम्*' विषयोंको परिपुष्ट करनेवाली इन्द्रियाँ हैं, '**इन्द्रियेभ्यः परं मनः**' इन्द्रियोंको परिपुष्ट करनेवाला मन है, '**मनस्तु परा बुद्धिः**'—मनसे परे बुद्धि है और '**बुद्धेः परतस्तु सः**'—जो बुद्धिसे परे है, वह तुम हो, आत्मा। इस प्रकार तुम मन, इन्द्रिय, बुद्धिसे परे हो और इसलिए इन्द्रिय-मन-बुद्धिकी कोई क्रिया-प्रक्रिया, विक्रिया-संक्रिया तुम्हें प्रभावित नहीं कर सकती। किसी-किसीने यहाँ कामका वर्णन किया है। पर उसका विस्तार करके क्या करना?

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ (४३)

यहाँ देखो, इनका क्रम। इन्द्रियका नियमन करोगे तो कामका परित्याग होगा और जब आत्मज्ञान होगा तब कामका नाश होगा। '**जहि**' क्रियापद है यहाँ। पहले जो '**प्रजहिहि**' आया है सो त्यागके अर्थमें है। उसमें '**प्र**' उपसर्ग है और 'जहिहि' क्रियापद है। इन्द्रिय-नियमनसे कामका परित्याग होता है और आत्मज्ञानसे काम-नाश होता है। लोग संस्कृत नहीं जानते और आजकल तो ऐसा है कि धाँधली-सरीखी चल रही है। इसलिए जिसका जैसा मन होता है, वैसा अर्थ कर देता है।

हमारे एक मित्र हैं, तो गीतापर बंगलाकी टीका पढ़कर वैसी ही टीका लिखी है। कई लोग मराठी टीका और गुजराती टीका पढ़ लेते हैं तथा गीतापर टीका लिख लेते हैं। इस प्रकार धाँधली है। वे संस्कृतकी प्रकृति जानते नहीं, अतः उनको '**प्रजहि**' और '**ह्येनम्**'में कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता। वे 'प्रजहि' को एक ओर कर देते हैं और '**ह्येनम्**'को दूसरी ओर कर देते हैं। अरे, वह तो आदौ है, शुरूआत है; कामका नाश नहीं है, कामका त्याग है और यहाँ कामका नाश है, आत्मज्ञान है, अन्तिम पराकाष्ठा है।

तत्त्वज्ञानी पुरुष केवल इच्छा ही क्यों नहीं छोड़ देता, अनिच्छाको भी छोड़ देता है। क्योंकि इच्छाके रूपमें भी काम रहता है और अनिच्छाके रूपमें भी काम रहता है। हमें यह नहीं चाहिए, यह नहीं चाहिए—यह क्या है ? बोले कि भाई, पैसा पानेकी इच्छा तो नहीं है, लेकिन किसीने लाकर पाँच रुपये रख दिये तो ज्ञानीजी महाराजने उन पाँच रुपयोंको उठाकर देनेवालेके मुँहपर पटक दिया कि हमको तो रुपयेकी इच्छा नहीं है। वहाँ वह अनिच्छा क्या है ? वह अनिच्छा काम है। क्या काम है ? इसलिए काम है कि उसने क्रोधका भी आवाहन कर दिया। किसी विरक्तने कहा है कि एक घरसे एक ही रोटी लेनेका हमारा नियम है। उनको किसीने दो लाकर दे दी। इसपर विरक्तजीको ऐसा गुस्सा आया कि उन्होंने उन रोटियोंको उठाकर लानेवालेके मुँहपर फेंक दिया। अब विरक्तजीके मनमें एक घरसे दो रोटी लेनेकी इच्छा तो नहीं है, पर उनकी यह अनिच्छा किसी कामसे कम थोड़े ही है। असलमें इच्छा और अनिच्छा दोनोंका विसर्जन कर देना—यह तत्त्वज्ञकी ही सामर्थ्य है और कामका रूप दुरासद उसको पकड़ पाना कठिन है। जैसा कि पहले कहा गया, वह इन्द्रिय-नियमनसे तो परित्याक्त होता और आत्म-ज्ञानसे उसका नाश होता है।

॥ इस प्रकार यह 'कर्मयोग' नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ॥



चौथा अध्याय

अब चौथा अध्याय प्रारम्भ होता है श्रीभगवान्‌के वचनसे। हमलोग जो प्रवचन बोलते हैं, उसमें 'वचन' शब्द है। वचन शब्दके पहले 'प्र' लग गया तो प्रवचन हो गया। हम मध्यप्रदेशमें गये थे तो लोग वहाँ प्रवचन नहीं बोलते थे। यह बोलते थे कि आज स्वामीजीके प्रिय वचन होंगे। प्रकृष्ट वचन नहीं, प्रियवचन। किसी-किसीकी ऐसी श्रद्धा होती है कि यदि बात पुरानी हो तो उनको बहुत ज्यादा महत्त्व देते हैं। उनकी दृष्टिमें प्राचीन आचार्योंकी कही हुई बातका महत्त्व होता है। किन्तु कई लोगोंकी श्रद्धा ऐसी होती है कि अत्यन्त आधुनिकतम बात हो तो वे उसीको महत्त्व देते हैं। कहते हैं कि यह विज्ञान है, साइंस है।

अब यहाँ जो कर्मयोग है, कर्म-संन्यास है और उसके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार है, इसे पुरानी बात मानी जाय कि नयी बात ? भगवान्‌ने कहा कि यदि पुरानी बात माननेमें तुम्हारी श्रद्धा हो तो यह पुरानी है और यदि नयी बात माननेमें तुम्हारी श्रद्धा हो तो जो मैं बोल रहा हूँ वह बिल्कुल नयी बात है। उसको दोनों तरफसे लो।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। (१)

असलमें यह योग शाश्वत है, अव्यय है। परमात्मा तो अव्यय है ही, जीवात्मा भी अव्यय है और जगत् भी अव्यय है गीतामें जगत्‌के लिए भी अव्यय शब्दका प्रयोग है।

अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। (१५.१)

जब अश्वत्थ अव्यय है, परमात्मा अव्यय है और आत्मा अव्यय है तो इस योगने ही ऐसा क्या अपराध किया है कि यह अव्यय नहीं है ? जगत् अव्यय, आत्मा अव्यय, परमात्मा अव्यय और उसकी प्राप्तिका उपाय भी अव्यय है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि योग अविनाशी है। जबतक जगत् रहेगा, जीव रहेगा और ये हमेशा रहेंगे ही, तबतक ईश्वर रहेगा। ईश्वरकी प्राप्तिका उपाय योग भी रहेगा। यह बात सबके आदिमें मैंने ही कही थी, मैंने ही सबसे पहले इसका उपदेश दिया था।

यहाँ देखो; ब्रह्मज्ञानियोंका प्रभाव! वे कहते हैं कि दूसरा कोई ज्ञानी ही नहीं है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज तो कहते थे कि एक बार दस-बारह ज्ञानी इकट्ठे हुए तो मैंने उनसे कहा कि ज्ञानी तो आजतक कोई हुआ ही नहीं। बाबा, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तो मैं हूँ। उसमें ज्ञानी-अज्ञानी दोनों ही अध्यस्त हैं। न कोई सच्चा ज्ञानी हुआ और न सच्चा अज्ञानी हुआ। अरे, वह तो मैं ही हूँ, दूसरा कोई तो है ही नहीं। यह तो श्रद्धालु लोग ज्ञान-सम्प्रदायके प्रवर्तनके लिए ज्ञानीको सिंहासनपर बैठाते हैं। आप अगर स्वयं ज्ञानीके सिंहासनपर बैठ जाओगे तो ज्ञानस्वरूप कहाँसे होओगे। इसलिए यहाँ भगवान् स्वयं अपनेको ही बैठाते हैं सिंहासनपर। क्यों न हो! वे आद्याचार्य हैं। इसलिए बोले कि मैंने विवस्वान्को इस योगका उपदेश किया था।

विवस्वान् माने क्या होता है ? विवस्वान् सूर्यको कहते हैं। आप देखते हैं कि सूर्य दिन-रात चलते रहते हैं और सबको रोशनी देते रहते हैं। लेकिन क्या बदलेमें कुछ तनख्वाह, कोई कीमत वसूल करते हैं ? नहीं; एकदम निष्काम भावसे अपना काम करते हैं सूर्य भगवान्।

स्वस्ति पंथामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। (ऋग्वेद ५.५१.१५)

यदि आपको निष्काम कर्मयोगका कोई प्रत्यक्ष उदाहरण देखना हो तो सूर्य भगवान्को देखिये। प्रकाशस्वरूप होनेसे वे ज्ञान भी हैं। कुटिया-उटिया तो उनके पास है ही नहीं। परमहंस परिव्राजककी भाँति दिन-रात चलते रहते हैं और सबको प्रकाश माने ज्ञान प्रदान करते रहते हैं, जो सबको ज्ञान दे और ले किसीसे कुछ नहीं! उससे बढ़कर कर्मयोगी और कौन हो सकता है ? इसलिए कर्मयोगके सच्चे आदर्श सूर्य हैं।

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण बोलते हैं कि मेरा सबसे पहला शिष्य सूर्य है। यह बात दूसरी है कि विवस्वान् सविता भी है। सविता माने होता है मायाविशिष्ट ब्रह्म। वही माया-विशिष्ट ब्रह्म सृष्टिका कर्ता है। लेकिन मैं माया-विशिष्ट नहीं हूँ, मैंने माया विशिष्टको पहला चेला बनाया है।

विविस्वान्के पुत्र हुए मनु। इस नाते जीवात्माको भी ज्ञानका उपदेश मैंने ही दिया है। क्योंकि श्रद्धा और मनन दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुए मनु, मनुष्यके आदि पुरुष हैं। हम लोग स्वायम्भुव मन्वन्तरमें नहीं हैं। वैवस्वत मन्वन्तरमें हैं। इसलिए मनु विविस्वान्के शिष्य हैं। मतलब यह है कि यदि मनुष्यको भी जीवन व्यतीत करना हो तो उसे सूर्यके समान अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए।

विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्। (१)

कहते हैं कि एकदिन मनुको छींक आयी। यह पौराणिक कथा है, मैं मनगढ़न्त नहीं बोल रहा हूँ। जब उनको छींक आयी तब उसमें-से एक पुरुष पैदा हो गया। उसीका नाम इक्ष्वाकु पड़ा। वे इक्ष्वाकु वराहरूप ही हैं। साक्षात् भगवान्‌के अवतार हैं। आपने सुना होगा, सुना क्या होगा, यहाँ तो योगवासिष्ठ पढ़नेवाले बहुत लोग बैठे हैं, उन्होंने पढ़ा होगा कि इक्ष्वाकु इतने शान्त प्रकृतिके थे कि शत्रुने उनके राज्यपर कब्जा कर लिया तब भी वे भागकर वहाँसे कहीं गये नहीं, बोले कि बाबा, 'यह राजधानी तो हम नहीं थे तब भी थी और अब भी है। पहले राजा होकर रहता था, अब भिखारी होकर रहूँगा।' इस प्रकार वे अपने शत्रुके नगरमें भिक्षा माँगकर अपना जीवन व्यतीत करते थे। इसका नाम है कर्मयोग।

एक कथा यह भी है कि जब शत्रु राजा मर गया, तब यह निश्चय हुआ कि उसके हाथीकी सूँड़में माला दे दी जाये और वह जिसको पहना दे वही राजा हो जाय। उस हाथीने सारे नगरमें ढूँढ़-ढूँढ़कर उसी इक्ष्वाकुके गलेमें माला पहना दी, तो फिर राजा हो गये। उनके लिये राज्य छोड़ना और राज्य पाना एक जैसा ही था। भगवान् बोले कि हमारा चेला ही था वह भी! साक्षात् चेला सूर्य है और छोटा चेला ही नाती-चेला मनु-इक्ष्वाकु हुए।

'मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्' यहाँ जो अब्रवीत् है, उसका अर्थ है—शिक्षण। भगवान्‌ने समग्र सृष्टिको शिक्षा दी है। पृथिवीको धारण करना सिखाया है, पानीको तृप्त करना सिखाया है, वायुको साँस देना सिखाया है और आकाशको अवकाश देना सिखाया है। इस प्रकार यह जो सारी सृष्टि है, जितने भी जो तत्त्व हैं, ये सब-के-सब कर्मयोगी हैं। ये तो आदमी हैं जो बिगड़ गये हैं। यद्यपि न तो इनकी आँखें बिगड़ीं हैं, न कान बिगड़े, न नाक बिगड़ी है, न ज्ञान बिगड़ा है और न बल बिगड़ा है। इनके प्राणका पतन नहीं हुआ, ज्ञानका पतन नहीं हुआ और आँख, कान, नाकका भी पतन नहीं हुआ। लेकिन जो इनको 'मैं'—'मेरा' मानकर बैठ गया है, वह पतनका अनुभव कर रहा है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। (२)

अनादि परम्परासे प्राप्त है यह योग। इस योगपरम्परामें कितने ही राजार्षि हुए, जो राजा भी थे और ऋषि भी थे।

देखो, अश्वपतिके पास जो विद्या थी, उसको प्राप्त करनेके लिए बड़े-बड़े विद्वान् ब्राह्मण गये और उसने कह दिया कि आजतक यह विद्या हमारे राजर्षियोंमें रही है। आज तो ब्राह्मणोंको यह बात मालूम ही नहीं है। वर्णाश्रमकी रीतिसे ब्रह्मज्ञान होता है—उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। हम सिर झुकाकर, हाथ जोड़कर

यह बात स्वीकार करते हैं। लेकिन यह भी कह देना चाहते हैं कि यह ज्ञान संन्यासाश्रममें ही होता है संन्यासाश्रममें ही दण्डी स्वामी होते हैं, दण्डी स्वामियोंमें भी पाँच-सातको ही ज्ञान होता है और दण्डी स्वामी केवल ब्राह्मण ही होते हैं। इसलिए यह जो क्षत्रिय हैं, वैश्य हैं, शूद्र हैं या कोई भी जिज्ञासु हैं, उनको ज्ञान कहाँसे होगा ? इसपर जरा सोच लीजिए। वर्णाश्रमकी रीतिसे ज्ञान होता है यह तो ठीक है, लेकिन वह कितने आदमियोंको होता है ? हम किसीको ठेस पहुँचानेके लिए यह बात नहीं बोलते हैं। हम तो विचारकी सामग्री देते हैं कि जो बात कही जाती है उसको आप समझनेका प्रयास कीजिये। यह अश्वपतिके ज्ञानकी परम्परा है तथा विवस्वान् मनु और इक्ष्वाकुके ज्ञानकी परम्परा है। इसमें भगवान् राम और भगवान् कृष्ण बेटा बनकर आते हैं। इसलिए इस ज्ञानकी परम्पराका तिरस्कार नहीं किया जा सकता—

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।

देखो, पहले तो भगवान्‌ने योगको अव्यय बताया। अब बोले कि उस योगका लोप हो जाता है। ठीक है, पुराना तो बहुत है। लेकिन इस पुरानेका गुरु भी मैं ही हूँ और नयेका गुरु भी मैं ही हूँ।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। (३)

योग है पुरातन और मैं इस योगका उपदेश कर रहा हूँ। बोले कि कुछ ऐसी ही ऐरी-गैरी बात तो नहीं कहे जारहे हो ? नहीं, यह सबको नहीं बतायी जाती।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्। (३)

मैंने तुमको आत्मीयत्वेन स्वीकार किया है। मुक्त संवित्-मात्र तत्त्वकी तुम एक रस्सी हो। भक्त हो सेवाकी प्रधानतासे और सखा हो स्नेहकी प्रधानतासे। हमलोग एक साथ बैठकर खाते भी हैं और तुम हमारी आज्ञाका पालन भी करते हो। तो तुम भक्त और सखा दोनों हो। इसलिए यह उत्तम रहस्य हम तुम्हें बताते हैं।

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है। अर्जुनके मनमें आ सकता है कि बाबा, यह वसुदेवका बेटा कृष्ण द्वापरान्तमें तो पैदा हुआ है और यह डींग हाँकता है कि हम सूर्यके गुरु हैं और मनुके दादा-गुरु हैं। कहीं आगे चलकर लोग संशय न करें और हमारे मित्रपर आक्षेप न करें। हमारे सखापर, हमारे स्वामीपर किसीको आक्षेप करनेका अवसर मिलेगा तो हमें दुःख होगा। इसलिए आओ हम उसकी बातका खुलासा कर लें।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। (४)

अर्जुन कहते हैं कि तुम भी तो परम्परया सूर्यवंशमें ही पैदा हुए हो। असलमें

चन्द्रवंश और सूर्यवंश दोनोंका मूल एक ही है, दो नहीं हैं। आप पैदा हुए बादमें और विवस्वान् पैदा हुआ पहले—यह बात मेरी समझमें कैसे आये ? **'कथमेतद्विजानीयाम्।'** **'विजानियाम्'**का अर्थ है यह विज्ञान कैसे हो हमको ? जब **'जानीयाम्'**के पहले **'वि'** लग जाता है तब उसका अर्थ विज्ञान हो जाता है। विज्ञान माने यह अनुभव हमें कैसे हो कि इसके आदि गुरु तुम हो ? **'आदौ त्वं प्रोक्तवान्।'**

यहाँ आदि-गुरुकी बात बड़ी विलक्षण है। तान्त्रिक सम्प्रदायमें तो आदिनाथसे ही गुरु-परम्परा प्राप्त होती है। जो उनके पहले गुरु हैं, उनका नाम आदिनाथ है। फिर उसमें क्रम होता है, परम्परा होती है और पूजाका विधान होता है।

यहाँ श्रीकृष्ण बोलते हैं कि मैं ही आदिनाथ हूँ। गोरखनाथकी गुरु-परम्पराके आदिनाथ। जन्मसे गुरु-परम्परा। शङ्कर आदि भी इसी परम्परामें हैं। तांत्रिकोंमें भी यहीपरम्परा है।अब श्रीकृष्ण समझ गये कि अर्जुन मूर्खोंकी शंकाका अनुवाद कर रहा है। शङ्कराचार्यजीने भी ऐसे ही लिखा है—

या वासुदेवे अनीश्वरासर्वज्ञाशङ्का मूर्खाणां तां परिहरन् श्रीभगवानुवाच।

वे कहते हैं कि वासुदेव सर्वज्ञ नहीं हैं; वासुदेव अनीश्वर हैं—ऐसी आशंका मूर्खोंके मनमें ही होती है। यह बात हम जानबूझकर सुना रहे हैं आपको। यदि श्रीकृष्ण कहते कि तुम मूर्ख हो, तब तो केवल अर्जुनपर यह बात जाती। लेकिन शङ्कराचार्य बोलते हैं, इसलिए यह बात अर्जुनपर नहीं जाती। उनके कथनानुसार मूर्ख लोग यह आशंका करते हैं कि वासुदेव सर्वज्ञ नहीं है, वासुदेव ईश्वर नहीं है। जो लोग ऐसा कहते हैं, वे ईश्वरके साथ कोई न्याय नहीं करते हैं। उनका यह कथन कितना असंगत है कि सब कुछ तो ईश्वर हैं—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** लेकिन वासुदेव ईश्वर नहीं है। हे भगवान्! तुम्हारा ईश्वर कैसा है ? क्या वासुदेवको छोड़कर बाकी सब ईश्वर हो सकता है ? इसलिए वासुदेवमें ईश्वर न होनेकी, सर्वज्ञ न होनेकी, जो आशंका है, वह विप्रतिपत्ति है।

भगवान्ने कहा, कि अच्छा अर्जुन! अब जब तुम मूर्खोंकी शंका मिटानेपर ही तुल गये हो तो लो हम मिटा देते हैं। वास्तवमें अर्जुनका यह प्रश्न मूर्खोंकी शंका मिटानेके लिए ही है। क्योंकि कोई बुद्धिमान् आदमी तो ऐसा प्रश्न कर ही नहीं सकता।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ (५)

भगवान् कहते हैं कि मेरे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं। तुम्हारे भी बहुत-से जन्म बीत चुके हैं। हम तुम तो जन्म-जन्मके सखा हैं। इस समय अन्तर इतना ही है कि मैं अविनाशी ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ होनेके कारण जातिस्मर हूँ। इसलिए सब कुछ जानता हूँ, तुम भूल गये हो। यदि तुम भूल न जाओ तो दुश्मनोंको मारनेका जो काम है यह तुमसे बनेगा नहीं। इसलिए तुम्हारा भूलना ही ठीक है—**'न त्वं वेत्थ परंतप'**।

अब जन्म कैसे होता है। इस जिज्ञासाका समाधान करनेके लिए भगवान् कहते हैं कि **'अजोऽपि सन्'** (६) अर्थात् जन्म लेनेसे हमारी अजतामें कोई फर्क नहीं पड़ता। क्या शरीरके रूपमें प्रतीत होनेपर भी हमारी ब्रह्मतामें कोई फर्क है ? सारी दुनिया शरीर-धारीके रूपमें हमको देख रही है। लेकिन इससे क्या हम ब्रह्मसे अब्रह्म हो गये! अरे तुम नाक देखो, आँख देखो, कान देखो, सिंहासनपर बैठा दो या धरतीपर पटक दो। लेकिन इससे हमारी ब्रह्मतामें कोई फर्क पड़नेवाला नहीं है। **'अजोऽपि सन् संभवामि।** *अजः सन् एव संभवामि।'* यह शरीर अज रहता हुआ भी पैदा होता है और **'अव्ययात्मा'**-जन्म लेकर भी मरता नहीं है। यह भूत-भौतिक शरीरसे जन्म नहीं लेता, सृष्टिका ईश्वर रहकर जन्म लेता है, इससे उसकी ईश्वरतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। अजन्मापनमें कोई बाधा नहीं,अमरपनेमें कोई बाधा नहीं पड़ती। बोले कि तब जन्म लेते कैसे हो महाराज! तुम्हारा यह कथन कि **'संभवामि'** कैसे सार्थक हो गया? वह भी **'भवामि'** नहीं **'संभवामि'—सम्यक् भवामि**,माने बिलकुल वही-का-वही हो जाता हूँ। इस समय मैं वासुदेव हूँ, कृष्ण हूँ। यह कैसे ? ऐसे कि इसमें दो काम हैं। एक तो है अपनी प्रकृतिका अधिष्ठान। **'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय'** (४.६)—प्रकृतिका अधिष्ठाता बनकर। यह प्रकृति क्या है? सबकी अपनी-अपनी प्रकृति होती है। भगवान्‌की प्रकृति है ज्ञान। परन्तु यदि कोई ज्ञेय न हो तो ज्ञान किसका हो? आप देखो! भगवान्‌की प्रकृति है द्रष्टा। किसके द्रष्टा ? दूसरा तो कोई है ही नहीं, तो द्रष्टा किसके होंगे ? असलमें द्रष्टा निरंश होनेपर भी अपनेको ही दृश्य रूपमें दिखाता है और द्रष्टा-रूपसे देखता है। यही उसकी प्रकृति है। अद्वैत ज्ञानकी प्रकृति ही यह है कि ज्ञाता और ज्ञेय दोनोंके रूपमें वही विभक्त-सा होकर दीखता है। आत्मा द्रष्टा नहीं है, 'दृक्' मात्र है। पर दृक्-मात्रकी सार्थतकता तब है, जब वह द्रष्टा और दृश्यका रूप प्रकट करके, उसके रूपमें प्रतिभास्य होकर यह सारा-का-सारा व्यवहार संचालन करे। द्रष्टा और दृश्य व्यवहार है और दृक्-मात्र अव्यवहार है। उसकी प्रकृति क्या है ? स्वयं द्रष्टा और स्वयं दृश्य। स्वयंतामें अभेद रहते हुए भी द्रष्टा और दृश्य रूपमें प्रतीत

होना। लेकिन यह ब्रह्मकी प्रकृति है, सांख्योंकी प्रधान प्रकृति नहीं है। यह प्रक्रिया प्रकृति नहीं है। यह प्रकृत्या प्रकृति नहीं है। 'प्र' माने सत्त्व, कृ माने रजस और 'ति' माने तमस्। प्रकृति माने सत्व-रजस्-तमस्। बोले कि नहीं, नहीं वह प्रकृति यह नहीं है। यह परब्रह्म परमात्माकी प्रकृति है कि वह अद्वितीय ज्ञान होनेपर भी अपनेको ज्ञाता और ज्ञेय, द्रष्टा और दृश्यके रूपमें प्रतिभास कराता है। यही इसकी प्रकृति है।

Meaning of Atma Mayaya Sambhavami

इसी प्रकृतिको अपने वशमें करके, काबूमें करके 'आत्ममायया सम्भवामि।' *'आत्म-रूपया मायया', 'आत्माभिन्नया मायया सम्भवामि।'* यह माया भी कोई

Maya vs Avidya

स्वाश्रय-विमोहिका नहीं है। मायाका स्वरूप यह है कि जो माया कर्त्ता है, उसे माया मोहित नहीं करती है। अविद्याका स्वभाव यह है कि वह जिसमें होती है, उसको मोहित करती है। *'अविद्या स्वाश्रय-विमोहिका माया तु स्वाश्रय-विमोहिका न भवति।'* परमात्मा जो अपनेको द्रष्टा और दृश्यके रूपमें दिखा रहा है और स्वयं अधिष्ठान-ज्ञान स्वप्रकाश रूपमें ही रह रहा है, यह उसकी माया है और उसको मोहित नहीं करती है। मतलब यह है कि परमात्मा अमुग्ध रहकर ही, मुग्ध हुए बिना ही अपनी मायासे स्वयं अपनेको द्रष्टा होनेपर भी दृश्यके रूपमें दिखा रहा है। दृक् मात्र होनेपर भी द्रष्टा और दृश्यके रूपमें दिखा रहा है। यही है उसका अवतरण। अवतरण क्या है ? अवतार माने एक तो होता है सीढ़ी और दूसरा होता है उतरना। जैन मतमें अवतार नहीं है, क्योंकि वहाँ कोई ईश्वर हो तो उतरे। वहाँ तो कोई ईश्वर है ही नहीं, तो उतरेगा कहाँसे ? बौद्ध मतमें भी अवतार नहीं है, क्योंकि

Avatara vs Utara/Utthana

उनके भी ईश्वर नहीं है। उनके यहाँ अवतार नहीं होता, उतार होता है। अर्थात् जीव शुद्ध होकर ऊँची स्थितिमें जाता है और बुद्ध होता है, महाबीर होता है, नेमिनाथ होता है, पार्श्वनाथ होता है। ये सब जीव शुद्ध होकर और ऊँचाईपर जाकर इकाईके रूपमें जगमग-जगमग सूर्य-चन्द्रमाकी तरह चमक रहे हैं। ठीक है हम भी मानते हैं कि इनका प्रकाश सूर्य-चन्द्रमाकी तरह फैल रहा है, परन्तु यह ईश्वरके अवतार नहीं हैं। इनके रूपमें तो जीवका उतार-उत्थान हुआ है और तभी ये बुद्ध, महावीर आदि बने हैं।

आप एक बात और देखें। ईसाइयोंके भी अवतार नहीं है। उनका ईश्वर है, लेकिन निराकार है। साकार होनेकी उसमें सामर्थ्य ही नहीं है। वह सर्वज्ञ है, परन्तु सर्वशक्तिमान नहीं है। इसी तरह मुसलमानोंके ईश्वरमें भी अवतारकी शक्ति नहीं है। वह भी सर्वज्ञ है पर सर्वसमर्थ नहीं है। आप लोग माफ करें, आर्यसमाजियोंके भी ईश्वर हैं, पर उनमें भी अवतार लेनेका सामर्थ्य नहीं है। यह 'सर्वभवन-

सामर्थ्य' तो हमारे ईश्वरमें ही है। *'स सर्वम् अभवत्।' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* (छान्दोग्य ३.१४.१)। मछली, कछुआतक हो जानेकी जो सामर्थ्य है, वह तो जो जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होगा; उसीमें होगी। आप इस बातपर ध्यान देना। आर्य-समाजका ईश्वर, ईसाईका ईश्वर, मुसलमानका ईश्वर जगत्का निमित्त कारण तो है, परन्तु उपादान कारण नहीं है और जब उपादान कारण नहीं है तब उसमें आकृति कहाँसे आयेगी ? आकृति भले ही विवर्त हो या परिणाम हो—यह हमलोग आपसमें तय कर लेंगे। यह तो हमारा घरका मामला है। हम जब श्रीरामानुज-सम्प्रदायसे बात करेंगे तब तय कर लेंगे कि ईश्वर सचमुच ही आकृति-परिणामको प्राप्त हुआ है या केवल ज्ञान-स्वरूप होनेके कारण आकृति-विवर्ती है! लेकिन यह तो निश्चित है कि अभिन्न निमित्तोपादान होनेके कारण ईश्वर सर्वरूपमें प्रकट है। वह कछुआ भी है, मछली भी है, सूअर भी है, घोड़ा भी है, कोल भी है, पीपल भी है, औरत भी है, मर्द भी है, हाथी भी है और रोशनी भी है। वह क्या नहीं है ? *'स सर्वम् अभवत्'*। इसलिए आप अवतारका सिद्धान्त बाइबिल पढ़कर, कुरान पढ़कर, सत्यार्थ-प्रकाश पढ़कर निश्चित मत करना। पहले निखिल जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है परमेश्वर—इस बातका निश्चय कर लेना और फिर देखना कि ईश्वरका अवतार बिल्कुल बुद्ध्यारूढ़ हो जायेगा। यह कोई बेअकलीकी बात नहीं, अक्लमन्दीकी बात है। इसके बिना एक विज्ञानसे सर्व विज्ञानकी प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी। लौह-मृत्तिका आदिके दृष्टान्त सिद्ध नहीं होंगे और *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं', 'आत्मैवेदं सर्वम्', 'स एवेदं', 'अहमेवेदं सर्वम्'*—ये जो श्रुतियाँ हैं इनमें-से एक भी श्रुति संगत नहीं होगी। इसलिए अवतार-सिद्धान्त सर्वथा युक्तियुक्त साक्षी-अनुभवारूढ़ है। इसीसे प्रकृति और मायाकी सिद्धि होती है। प्रकृति माने आदत। उनकी यह प्रकृति है, उनका यह स्वभाव है। ईश्वरकी प्रकृति है कि वह अद्वितीय होनेपर भी सर्वरूपमें प्रकट होता है और सर्वरूपमें प्रकट होकर भी परिणामी नहीं होता। '**आत्ममायया**'—इसलिए कहा कि वह प्रकृतितः सर्वरूपसे प्रकट होता है और '**मायया**' इसलिए कहा है कि वस्तुतः वह अपने स्वरूपका परित्याग नहीं करता, ज्यों-का-त्यों रहता है। '**मायया**'का अर्थ यह भी है कि वह ऐसा जादूगर है, जो अपनेको तरह-तरहका दिखा देता है, किन्तु रहता वही है। इसलिए वह किसी भी तरहका दिखे, है वही।

अब आओ आगे चलें! भगवान् अपने अवतारका काल और प्रयोजन दोनों बताते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। (७)

जब धर्मका लोप होने लगता है, उस कालमें भी अवतार होता है। देशमें भी अवतार होता है और प्रयोजनवश भी अवतार होता है।

मैंने बचपनमें एक बार सोचा था कि धर्मका नाश नहीं होना चाहिए। क्यों नहीं होना चाहिए ? इसलिए नहीं होना चाहिए कि पृथिवी-धर्मका नाश होनेपर पृथिवीका नाश हो जायेगा। पृथिवीका धर्म क्या है ? पृथिवी ही तो है। इसी तरह जलका जलत्व नष्ट हो जाय और अग्निका अग्नित्व नष्ट हो जाय तो पदार्थ ही कहाँ रहेगा ? इसलिए पृथिवीके, अग्निके, जलके रहते पृथिवीका, अग्नित्वका, जलत्वका नाश हो जाय—यह तो शक्य ही नहीं है। असलमें धर्मका नाश कभी नहीं होता, उसकी ग्लानि होती है। ग्लानि शब्दका अर्थ है कि धर्मका जो उत्साह है, वह लोगोंके मनमें नहीं रहता है। '**धर्मस्य ग्लानिर्भवति**'—माने जो उत्साह लोगोंके मनमें धर्म पालनका होना चाहिए, क्षीण होने लगता है। धर्म कोई मूर्त पदार्थ नहीं हैं, वह तो अमूर्त पदार्थ है। उसके सम्बन्धमें शास्त्रोंने कहा—

Parama Dharma or Dharma as per Mahanarayana Upanishad 22.1

धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद्‌ धर्मं परमं वदन्ति। (महानारायण उप० २२.१)

ऐसे अमूर्त धर्मकी ग्लानि कहाँ होगी ? स्वरूपत: धर्मकी ग्लानि नहीं होगी। ग्लानिका धर्म यह है कि लोगोंके हृदयमें जो धर्मानुष्ठानके प्रति उत्साह है; वह क्षीण हो जाता है। वे ऐसा कहने लगते है कि अरे भाई, अगर मैंने सच न बोला होता तो मेरी यह हानि नहीं होती। मैं झूठ बोलता तो बच जाता। इस प्रकार जो धर्म हमारी रक्षा करता है, उसके प्रति लोगोंके मनसे विश्वास मिट जाना—यही धर्म-ग्लानि है। धर्म-ग्लानि माने यह नहीं कि धर्म बूढ़ा हो गया। धर्म नहीं बूढ़ा हो गया, उसके प्रेमियोंका मन बूढ़ा हो गया।

अब आता है '**अभ्युत्थानमधर्मस्य।**' इसका अर्थ है कि लोगोंके मनमें अधर्मका उत्साह आजाता है। वे कहते हैं, आओ मार डालें, काट डालें, लूट लें, चोरी कर लें। इस तरह अधर्ममें उत्साह हो जाता है। यही अधर्मका अभ्युत्थान है। अधर्म धावा बोलता है। जब एक राजा दूसरे राजापर चढ़ाई करता है, तो चढ़ाई करनेवाले राजाके लिए बोला जाता है कि उसने अभ्युत्थान किया है। इस तरह जब लोगोंके मनमें अधर्मके प्रति उत्साह जाग्रत् हो जाता है, तब अधर्म अभ्युत्थान करता है। भगवान् कहते हैं कि भाई, यह तो सृष्टिक्रमके विपरीत होरहा है। अभी प्रलयका समय तो आया नहीं है, अभी तो सृष्टिका समय है। यदि गेहूँमें गेहूँपना नहीं रहेगा, दालमें दालपना नहीं रहेगा, चावलमें चावलपना नहीं रहेगा, आदमीमें आदमीपना नहीं रहेगा और इस प्रकार तत्-तत् योग्यताविच्छिन्न शक्तिका ही ह्रास हो जायेगा, लोप हो जायेगा, तो धर्म कहाँ रहेगा ?

ऐसी स्थितिमें भगवान्ने कहा कि तब मैं अपने आपको बनाता हूँ—'**तदात्मानं सृजाम्यहम्**' '**सृजामि**'का अर्थ है कि मैं अपने आपको बनाता हूँ, अपने आपको आवश्यकताके अनुसार बनाकर प्रकट करता हूँ। वेदकी रक्षा करनी हो तो घोड़ा बनकर, हयग्रीव बनकर हिनहिनाता हूँ और तब मेरा शब्दावतार हो जाता है। अमृत-मन्थन करना हो तो कछुआ बनकर पानीमें डूब जाता हूँ और तब कच्छपावतार हो ज़ाता है। ऐसा किसलिए महाराज! इसका क्या प्रयोजन है ?

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (८)

भगवान् कहते हैं कि एक प्रयोजन तो है साधुओंका परित्राण। सत्पुरुषोंकी रक्षा। नहीं तो शिष्ट-परम्पराका ही लोप हो जायेगा। अगर दुनियामें साधु न होते तो क्या होता ? यही होता कि सब लोग डाकू-चोर हो जाते। इस प्रसंगमें मैं आपको बताता हूँ—वैसे शिष्टाचारकी भाषा तो यह है कि मैं आपको याद दिलाता हूँ कि यदि दुनियामें त्यागकी भावनाका कोई महत्त्व न रह जाये तो क्या होगा ? सबलोग संग्रही हो जायेंगे। नोंचा-खोंची होने लगेगी और लूट-पाट मच जायेगी। अरे भाई! जब बिना घरके भी सुखी रहा जा सकता है, बिना धनके भी सुखी रहा जा सकता है, बिना व्याहके भी सुखी रहा जा सकता है, तब घरके लिए, धनके लिए, व्याहके लिए, जो अन्याय किया जाता है, अनर्थ किया जाता है, वह कितना गलत है! इसी अन्याय और अनर्थके कारण नाना प्रकारके दु:खोंकी सृष्टि होती है, इसलिए लक्ष्यको ठीक करनेकी आवश्यकता है। यही लक्ष्य ठीक बन जाये कि हमें भी त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करना है, तो जीवन-कालमें कहीं भी आसक्ति नहीं होगी और आसक्ति नहीं होगा तो दु:ख भी नहीं होगा।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि मैं साधुओंकी रक्षाके लिए अवतार लेता हूँ। जैसे गृहस्थोंकी रक्षा आवश्यक है वैसे ही साधुओंकी रक्षा भी आवश्यक है। असलमें प्रवृत्ति मर्यादित रह ही नहीं सकती, यदि निवृत्तिका आदर्श संसारमें न रहे। प्रवृत्तिको मर्यादित करनेके लिए ही निवृत्तिकी आवश्यकता है। स्वच्छन्द प्रवृत्तिमें रुकावट डालता है वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म निवृत्तिको परिपुष्ट करता है। इसीलिए कि भगवान् साधु-परित्राण करते हैं। जो लोग चाहते हैं कि हमको भगवान् मिलें—चाहे स्वामीके रूपमें मिलें, सखाके रूपमें मिलें, पुत्रके रूपमें मिलें, पतिके रूपमें मिलें और जो किसी-न-किसी रूपमें भगवान्को अपना बनाना चाहते हैं, वे तो मर जायेंगे भगवान्के बिना। अत: उनकी रक्षा करनेके लिए भगवान्को अवतार लेना पड़ता है। यह मत श्रीरामानुजाचार्य महाराजका है।

'विनाशाय च दुष्कृताम्'—इसमें जात-पाँतकी कोई बात नहीं है। कोई भी दुष्कृत हो तो उसका लोप होना चाहिए। जेलखानेमें बन्द कर देना ही विनाश है। विनाश माने दुनियादारीके सामने न रहना, लोप हो जाना है।

'धर्मसंस्थापनार्थाय'—धर्मकी संस्थापना करना ही भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन है। अर्थ माने होता है, प्रयोजन। **'युगे-युगे संभवामि'**—एक ईश्वर है और एक समय है। दोनों मिलाकर होते हैं युग। जब दो चीजें मिलेंगी तब युग होगा। परिस्थितिके अनुसार धर्मको संरक्षण देनेके लिए भगवान् अवतार लेते हैं। कोई-कोई **'युगे-अयुगे च'** दोनों ही अर्थ करते हैं। समय-बेसमय। उनके अनुसार कोई अवतार समयसे होता है और कोई बेसमय भी होता है। जैसे गजेन्द्रकी रक्षा करनेके लिए कोई निश्चित काल नहीं था। उसने पुकारा और भगवान् आगये। द्रौपदीके वस्त्रके रूपमें अवतीर्ण होनेका कोई समय निश्चित नहीं था फिर भी पुकारनेपर आगये। इसी तरह ध्रुवको दर्शन देनेका कोई समय निश्चित नहीं था, लेकिन दर्शन देने आगये। अब भी तुलसी, मीरा, सूर जैसे भक्तोंको दर्शन देनेके लिए आजाते हैं। भगवान् युग-परिवर्तनके लिए भी आते हैं। और नवीन युगके अनुरूप व्यवस्था चलानेके लिए भी आते हैं। यह प्रवर्तनके लिए भी आते हैं और परिवर्तनके लिए भी आते हैं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (९)

भगवान् कहते हैं कि मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं। दिव्यका मतलब यह होता है कि जिस तत्त्वसे हमारा मन बना है, उसी धातुसे हमारा शरीर बना है। जिन मसालोंसे स्वप्नके पदार्थ बनते हैं, उसी मसाले, माने भावात्मक पदार्थसे हमारा जन्म हुआ है। भगवान्‌का शरीर मिट्टी, पानी आगका बना हुआ शरीर नहीं है। भगवान्‌को भाव हुआ कि हम अवतार लें तो उनका वह भाव ही मूर्त होकर अवतारके रूपमें आगया। जैसे देवताका शरीर स्थूल तत्त्वका बना हुआ नहीं होता है, वैसे ही भगवान्‌का शरीर पंचभूतका बना नहीं होता। मनुष्यका शरीर कर्तृत्व और वासनापूर्वक किये हुए कर्मका फल है। किन्तु भगवान्‌का शरीर कर्तृत्वरहित, वासनारहित तथा कर्मफलाशयसे विनिर्मुक्तभावात्मक अवतरण है।

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'—भगवान्‌का जन्म कर्मका फल नहीं है और उनका कर्म फलोत्पादक नहीं है। दिव्यता यह है। भगवान्‌के कर्मसे पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदिकी उत्पत्ति नहीं होती। कर्मकी दिव्यता यह है कि कर्म करनेपर भी उससे सुख-दुःखादि रूप फलकी उत्पत्ति न हो। अगर आप भी ऐसे कर्म करते

हैं, तो आपका कर्म भी दिव्य हो जायेगा। भगवान्‌का जन्म, भगवान्‌का अवतार वह है, जो पहलेके किसी कर्मका फल नहीं है। श्रीरामका, श्रीकृष्णका जन्म, पहलेके किसी पाप-पुण्यका फल नहीं है और उनका कर्म भी आगेके लिए स्वर्ग अथवा सुख-दु:खादिका उत्पादक नहीं है। यही दिव्यता है, उनके जन्म-कर्मकी।

'एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।' भगवान्‌के जन्म-कर्मकी दिव्यताको इधरसे मत समझो, उधरसे समझो। **तत्त्वतः**का अर्थ यह है कि इसको आकारसे मत समझो, मैटरसे समझो, मृत्तिकासे समझो, ब्रह्मसे समझो। यह ब्रह्मका आविर्भाव है।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन। (९)

अब आप यह विचार किजिये कि आपके कर्मसे आपका शरीर पैदा हुआ है कि नहीं ? उसको छोड़ दीजिये—**'त्यक्त्वा देहम्।'** आप जो कर्म कर रहे हैं इससे कोई फल उत्पन्न होगा कि नहीं ? जबतक कर्तृत्व और वासना रहेगी तबतक तो फल उत्पन्न होगा ही। इसलिए यदि आप फलसे बचना चाहते हैं तो आप भी कर्तृत्व और वासना छोड़ दीजिये। तब क्या होगा ? यह होगा कि आप भी पुनर्जन्मसे मुक्त हो जायेंगे। **'पुनर्जन्म नैति'**—फिर आप जायेंगे कहाँ ? बोले! **'मामेति सः'**—जो मैं सो तू और जैसा मैं वैसा तू।

अब प्रश्न यह है कि हम जानें तो भगवान्‌के जन्म-कर्मको और हो जायँ जन्म-कर्मसे मुक्त। यह बात कैसे हो सकती है ? जानें दु:खको और हो जायँ बहिश्त और जानें बहिश्तको और हो जायँ दु:ख। यदि दोनोंमें एकता नहीं होगी तो यह वह नहीं होगा। इसलिए भगवान्‌का जन्म-कर्म कैसे दिव्य है, आप भी उसके तत्त्वको समझिये। फिर आपका जन्म-कर्म भी दिव्य हो जायेगा। आप जन्म-मरणके चक्करसे छूट जायेंगे! और आपको परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी। असलमें आप स्वयं संवित्-स्वरूप हैं। आपका जो स्वयंप्रभा संवित् है, वही तो नाना आकारोंके रूपमें दिखायी पड़ रही है। आप अपनेको आकार-मात्र मानते हैं, नाना रूपवाला मानते हैं, इसीलिए आपको संवित्-मात्र भूल गया है। यदि आप अपनेको संवित्-मात्र जान लें तो फिर **'नैति, पुनर्जन्म नैति'**—आपका जन्म नहीं होगा और आपको **'मामेति'**—परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी।

अब कहते हैं कि भगवान्‌की यह बात शिष्टाचारानुमोदित है। पहले यह बताया कि आदि गुरु तो मैं ही हूँ। तथापि मुझे गुरु-परम्परा प्राप्त है। जब अर्जुनने यह पूछा कि तुम पहले कैसे थे ? तो बता दिया कि मैं समय-समयपर प्रयोजनवश अपनेको शरीरके रूपमें प्रकट करता रहता हूँ। परन्तु वह शरीर कर्ममूलक नहीं है और कर्म आगे फल देनेवाला नहीं है। इस प्रकार भगवान्‌के कथनमें एक तो गुरु-परम्पराका शिष्टाचार है और दूसरा मुक्ति प्राप्त करनेका शिष्टाचार है।

'**त्यक्त्वा देहम्**' का अर्थ देहको मारना नहीं है। बल्कि देहमें जो अहंभावका परित्याग है, वही देहत्याग है। देहका त्याग अपनेको जला देनेसे नहीं होता है, नहीं तो कितने लोग अपनेको जला-जलाकर अपना देह-त्याग कर लेते। योगवासिष्ठमें कथा आती है कि एक बार कचने अपने शरीरको जलाकर देह-त्याग करनेका प्रयास किया। जब उसने कहा कि बेटा, पढ़ तो लिया तुमने, पर अभी तुम्हारा त्याग पूरा नहीं हुआ। यह सुनकर कचने अपने कपड़े-लत्ते उठाकर फेंक दिये। फिर एक बर्षके बाद कमण्डलु और दण्ड भी उतारकर फेंक दिया। अन्तमें फिर भी जब त्याग पूरा नहीं हुआ तब वह चिता लगाकर शरीरको जलानेके लिए उद्यत हो गया। वृहस्पतिने हाथ पकड़ा और बोले! अरे बेवकूफ, जलनेका नाम देहत्याग नहीं है, चित्तत्यागका नाम सर्वत्याग है—'*अहं देह: मम देह:*'—मैं शरीर हूँ और मेरा शरीर है—इस भ्रान्तिका नाम ही शरीर ग्रहण है और इस भ्रान्तिका परित्याग ही शरीरत्याग है। जहाँ इस भ्रान्तिका त्याग हुआ कि वहाँ पुनर्जन्म नहीं होता और भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—'**पुनर्जन्म नैति, मामेति।**' अब बोले कि महाराज, ऐसा कभी हुआ ? भगवान्‌ने कहा कि, एक बार नहीं, हजार बार हुआ है—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ (१०)

देखो! जो मैं हूँ, वही तुम हो—'**मद्भावमागताः**'—यह भाव आते ही तुम वही हो गये। कैसे हो गये ? बोले कि तुमने राग-भय-क्रोध इनकी केंचुल उतारकर फेंक दी—'**वीतरागभयक्रोधाः।**' क्योंकि राग-भय-क्रोध यह आत्माके स्वरूप नहीं हैं जब दूसरा है ही नहीं, तब राग किससे करें! जब अपनेंमें आनन्द न हो और दूसरेमें आनन्द हो, तब न उससे बात करेंगे! राग कब करेंगे ? राग करना कंगाल आदमीका काम है जो अपनेमें मजेदार नहीं है, वही दूसरेसे मजा उधार लेने जाता है। बोले कि भाई, जरा छटाँकभर दूध दे दो, चाय बनाना है। अरे, उसके घरमें दूध होगा तभी तो वह देगा। इस तरह जो दूसरोंसे मजा लेने जाता है, वह कंगाल नहीं तो और क्या है ? कंगाल ही दूसरेसे राग करता है। इसी तरह जो अपनेको मरनेवाला समझता है, वही डरता है और जो दूसरेका अस्तित्व स्वीकार करता है, जिसका कोई दुश्मन होता है उसे ही क्रोध आता है। जिसका कोई दुश्मन नहीं है, जिसको कोई डरानेवाला नहीं है और जिसका किसीसे राग नहीं है वह क्या है ? बोले कि, वह '**मन्मय**' है, भगवन्मय है। वह '**मामुपाश्रितः**' माने भगवान्‌के बिलकुल पास पहुँच गया है। यह '**मामेव उपाश्रितः**' है। '**ज्ञानतपसा**'—उसकी वह ज्ञान-निष्ठा ही उसकी तपस्या है। जो काँटेपर लेट रहे हैं या पंचाग्नि ताप रहे हैं, वे

तपस्वी नहीं। जो तपस्या अन्य संसर्गसे होती है—अग्निके बीचमें बैठकर होती है, काँटेपर सोकर होती है, वह तपस्या नहीं होती। तपस्या तो ज्ञान ही है—*'यस्य ज्ञानमयं तपः।'* (मुण्डक उप० १.१.९) जो ज्ञान द्वैतका स्पर्श नहीं करता, वही ज्ञान तप है। जिसका ज्ञान द्वैतका स्पर्श करे, वह तपस्वी नहीं है। भगवान् कहते हैं कि **'ज्ञानतपसा पूताः'**—अर्थात् ज्ञान-तपसे बहुत-से लोग बड़े ही पवित्र हो गये और शुद्ध ज्ञानमें अवस्थित होकर **'मद्भावमागताः।'** मुझसे एक हो गये।

देखो अधिकार-भेद तो सब जगह होता ही है इसलिए ईश्वर भी अधिकार-भेदके अनुसार सबसे अलग-अलग मिलता है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। क्योंकि ज्ञानियोंमें भी कोई ईश्वरका लँगोटिया यार आगया तो उससे वे दूसरी तरह मिलते हैं। भगवान् कह रहे हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ (११)

भगवान्‌का कहना है कि जो जिस भावसे मेरी शरणमें आता है, उसी भावसे मैं उसे स्वीकार करता हूँ। आवश्यकता पड़नेपर, मैं पाँव भी दबा देता हूँ और पंखा भी झल देता हूँ। जिसको अपने बड़प्पनका अभिमान रहता है, वह छोटा काम नहीं करता। लेकिन मुझमें अपने बड़प्पनका कोई अभिमान नहीं है। इसलिए मुझको यह डर नहीं रहता है कि मैं छोटा काम करूँगा तो मेरी भगवत्ता मिट जायेगी। वह तो उन बनावटी भगवानोंकी बात है, जो डरते रहते हैं कि यदि वे छोटा काम करेंगे तो उनका भगवान्‌पना मिट जायेगा। मेरी तो यह स्थिति है कि—**'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।'** (११) संसारके जितने भी प्राणी हैं, ये सब मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं, इसलिए जब मैं ठीक-ठाक रहता हूँ तब सब ठीक-ठाक रहता है। जो सकाम भावसे कर्म करते हैं उनके लिए भी सिद्धिका मार्ग है। तुम देवताकी पूजा करो उससे भी कर्म-सिद्धि होती है—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। (१२)

देखो, मैं आपको एक सद्‌गृहस्थके घरकी बात बताता हूँ। उनके घरमें एक लड़कीका ब्याह था। बारात आयी हुई थी। द्वार-चारके बाद लड़केको मण्डपमें ले जानेकी तैयारी हो रही थी। इतनेमें लड़केको कोई शंका हो गयी और उसने मना कर दिया कि अब मैं ब्याह नहीं करूँगा। यह सुनकर बेचारे कन्याके बाप बड़े घबड़ाये और कहने लगे कि अब मेरी लड़कीका क्या होगा ? वे एक महात्माके पास गये और बोले, कि महाराज! बड़ा भारी संकट है, उबारिये! महात्माने कहा मैं क्या करूँ ? कन्याके पिताको बड़ा दुःख हुआ। उसने कहा कि मेरे दुःखमें इनको

जरा भी सहानुभूति नहीं है। वे उनसे निराश होकर दूसरे महात्माके पास गये। वे महात्मा लड़केके पास गये और उससे एकान्तमें पूछ-ताछ की। बहुत पूछनेपर लड़केने कहा कि, मुझको किसीने आकर कहा कि कन्याके गर्भ है। महात्माने कहा कि यदि ऐसी बात है तो तुम दूल्हेका कपड़ा-वपड़ा उतार दो और जिस लेडी डाक्टरके पास कहो, उसके पास कन्याको ले चलें। उससे लड़कीकी जैसी परीक्षा करवानी हो, करवा लो। लेकिन ब्याह आज हो जाने दो। अगर अगले महीनेमें उसका मासिक धर्म न हो तो तुम उसको छोड़ देना। इसकी जिम्मेदारी मैं लेता हूँ। इसपर लड़का तैयार हो गया। और ब्याह हो गया।

इसलिए काम वह है, जिसमें सिद्धि मिले। कामको बिगाड़ देना और यह कह देना कि तुम तो अधिकारी नहीं हो, किसी योग्य ही नहीं हो, ठीक नहीं है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि कर्म करो। '**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।**' (१२) यह मनुष्य शरीर कर्मके लिए पैदा ही हुआ है। नहीं तो आपको बढ़िया-बढ़िया दो हाथ मिले हैं, ये और किसीको नहीं मिले हैं। गायका जीवन कर्म करनेके लिए नहीं है। वह दूध देनेके लिये है। बैलका जन्म हाथसे यज्ञ करनेके लिए, स्वाहा करनेके लिए नहीं है, कन्धेपर हल रखकर ढोनेके लिए है। हाथीका जन्म माला फेरनेके लिए नहीं हुआ। यह बात दूसरी है कि हाथी भी भगत हो गया, ऊँट भी भगत हो गया। लेकिन यह सब अपवाद तो सृष्टिमें होते ही रहते हैं, उनके लिए क्या किया जाय ? ये अपवाद हैं जो गुणवादके ही अन्तर्गत आते हैं। वे भूतार्थवाद नहीं हैं। अनुवाद भी नहीं है। इसलिए यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि कोई अनधिकारी हैं। जो जहाँ है उसको वहीं भगवान्की प्राप्ति हो सकती है, वहीं उसके अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है। वहाँ क्या द्विजाति, क्या शूद्र, एक बराबर हैं। कोई अनधिकारी नहीं। एक कविने लिखा है कि ईशको वेश्या भी भज सकती है, भक्तिभावमें वेश्याको भी शुचिता कब तज सकती है ? यदि कोई कहे कि हमारे सामने सब पवित्रात्मा, सब धर्मात्मा आने चाहिए, कोई पतित न आने पावे, कोई वेश्या न आने पावे, तो फिर आप महात्मा ही क्यों हुए ? महात्मा तो वह है जिससे पतितका भी उद्धार हो, वैश्याका भी उद्धार हो, कुमार्गगामीका भी उद्धार हो। यदि धर्मात्माओंका ही उद्धार करना था तो उसका उद्धार तो उसके अपने ही कर्मसे हो जायेगा—ऐसे ही अवसरके लिए एक कविने लिखा है—*'अपने कर्मसे जो उतरेंगे पार तो पै हम कर्तार तुम काहे के ?'* इसलिए सकाम पुरुषका भी कल्याण होता है और इसकी व्यवस्था शास्त्रमें है। मनुष्य योनि इसीलिए बनी है। यह मत कहो कि अब इसका अमंगल हो गया, अकल्याण हो गया, यह सुधर नहीं

सकता। क्योंकि हमारे शास्त्रोंमें सबके लिए आश्वासन है। जो धर्म पतितका उद्धार नहीं कर सकता, नीचको ऊँच नहीं बना सकता, भूखेको अन्न नहीं दे सकता, मूर्खको पढ़ा-लिखा नहीं बना सकता, रोगीको दवा नहीं दे सकता और निर्बुद्धिको बुद्धिमान नहीं बना सकता, उस धर्मकी जरूरत ही क्या है दुनियामें, उस धर्मको तो मर जाना चाहिए। जो अनाश्रितका आश्रय बने और जिनका कोई न हो उनका अपना हो जाय, उसीका नाम महात्मा होता है, उसीका नाम धर्म होता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ (१३)

भगवान् कहते हैं कि मैंने गुण-विभाग और कर्म-विभागसे चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की है। चातुर्वर्ण्यके स्रष्टा हैं भगवान् और गुण-विभाग, कर्म-विभाग (पहले प्रकृतिका गुण-विभाग और कर्म-संस्कारका कर्म-विभाग) अनादि हैं। जीव भी अनादि हैं। वह कालसे कर्म करता आया है इसलिए कर्म-विभाग भी अनादि है और प्रकृति गुणमयी है, इसलिए गुण-विभाग भी अनादि है।

इस प्रकार गुण-विभाग और कर्म-विभाग दोनोंके अनुसार चातुर्वर्ण्यके स्रष्टा भगवान् हैं। देखो जो सिर है,इसमें दो आँखे हैं, दो कान हैं, दो नाक हैं, एक मुख है, और ये सब उसमें रहते हैं। इसको किसने बनाया है ? उसीने जिसने दो हाथ बनाया है, उसीने जिसने दो जाँघें बनायी हैं और उसीने जिसने दोनों पाँव बनाये हैं। अरे उसने बनाया नहीं है, स्वयं बना है। भगवान् कहते हैं कि *'मया तेनैव उपादानेन भूतेन सृष्टा'*। मैं ही सर्वोपादान हूँ, गुण-कर्म तो निमित्त हैं, मैंने ही वैश्वानर होकर शूद्रकी सृष्टि की है। मैंने ही तैजस हिरण्यगर्भ होकर वैश्यकी सृष्टिकी है, मैंने ही प्राज्ञ ईश्वर होकर क्षत्रियकी सृष्टि की है और मैंने ही तुरीय ब्रह्मके रूपमें ब्राह्मणकी सृष्टि की है। यही तो है चातुर्वर्ण्य, इसे जान लोगे तो तुम्हें ब्रह्मज्ञान हो जायेगा- **'तस्य कर्तारमपि माम्।'** अगर तुम्हें बनानेवालेकी खोज हो तो जान लो कि मैंने बनाया है। लेकिन महाराज, आपने यह बढ़ई-लुहारका काम कबसे शुरू कर दिया है ? तो बोले कि,

वस्तुतस्तु अकर्तारम्। तस्य कर्तारमपि माम् लोकव्यवहारदृष्ट्या तस्य चातुर्वर्ण्यस्य कर्तारमपि माम्।

लोकव्यवहारकी दृष्टिसे चातुर्वर्ण्यका कर्ता हूँ, तथापि वस्तुतः **'अव्ययमकर्तारम् विद्धि'**—मैं न बनता हूँ और न बनाता हूँ।

अब देखो, भगवान्की एक बड़ी मजेदार बात। मैं तो पहले इस श्लोकका अर्थ किया करता था, बादमें छूट गया।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ (१४)

इसमें भगवान् कर्म-बन्धनकी मुक्तिका उपाय बताते हैं। कहते हैं कि कर्मबन्धन उसका स्पर्श नहीं करता जो मुझे जानता है—'**य माम् अभिजानाति।**' लेकिन इसमें एक प्रश्न उठता है, कि हम भगवान्‌को जानेंगे तो कर्मबन्धनसे मुक्त कैसे होंगे ? यदि हम यह जान जायँ कि ईश्वर कर्म-बन्धनसे मुक्त है तो ईश्वर कर्म-बन्धनसे मुक्त होगा! हम कैसे न कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायेंगे ? क्या यह कोई पुण्य-कर्म है; कि हमें जाननेका फल मिल जायेगा ? भगवान् कहते हैं कि मुझे कर्मलेप नहीं है। माने कर्मका कर्तृत्व मुझमें नहीं है। जो कर्म करता है उसके अन्त:करणमें एक लेप लगता है, एक चीज चिपक जाती है वह ऐसी चिपक जाती है कि कर्म करनेवाला उसमें चिपक जाता है—और फिर वहाँ एक अंकुर पैदा हो जाता है। भगवान्‌का कहना है कि कर्मका लेप सबको लगता है, लेकिन मुझको नहीं लगता। दूसरी बात यह है कि लोग कर्म करते हैं तो उसका नतीजा चाहते हैं, उनका यह बन जाय, वह बिगड़ जाय। इस प्रकारकी स्पृहा हो जाती है। लोग अनाज बोते हैं तो इसलिए बोते हैं कि वे एक मन बोवें और पचास मन पैदा हो। वे कहते हैं कि मैंने यह बगीचा लगाया है, यह मकान बनाया है। पहले राजा लोग कहा करते थे कि हमारे पास पच्चीस कोसकी भूमि है, पच्चीस महल है, पच्चीस राजधानियाँ हैं और हमारी प्रजाकी संख्या लाखोंमें है। टिहरीवाले राजा बोलते थे कि हमने श्रीनगर, प्रतापनगर आदि नामोंसे बहुत नगर बसाये हैं। अब तो साधु-संन्यासी भी कहते हैं कि हमारे पास पच्चीस-तीस आश्रम हैं। एक महात्मा मुझे मिले, तो बोले, कि मेरे तो डेढ़ लाख चेले हैं। आप क्या समझते हो ? इस तरह आज जिसके पास जितने ज्यादा मकान हों, जितने ज्यादा चेले हों, वह उतना ही बड़ा महात्मा अपनेको समझता है। लेकिन भगवान् कहते हैं कि '**न मे कर्मफले स्पृहा**'—मैंने यह बनवाया, वह बनवाया, यह किया, वह किया आदिका कर्मलेप नहीं और कर्मफलकी स्पृहा भी नहीं। पर भगवान्‌की यह बात कितनी विचित्र है कि यदि ऐसा तुम मुझे जानोगे तो तुम भी स्वयं वैसे ही हो जाओगे। जैसा मैं वैसे तुम। यदि भगवान्‌का मैं, जाननेवालेका मैं न हो तो, उसमें भगवान्‌का अकर्तापन भगवान्‌का अभोक्तापन जानने भरसे कहाँसे आयेगा ? इसलिए यह तो बिल्कुल एकत्वका वर्णन है। परमात्माके स्वरूपको ठीक-ठीक समझ लो वही आत्माका स्वरूप है। कर्म-बन्धन न परमात्मामें है और न तुममें है। यदि परमात्मा कर्म-बन्धनसे मुक्त है, तो आत्मा भी कर्म-बन्धनसे मुक्त ही है। क्योंकि दोनों दो नहीं हैं। यही इसका अभिप्राय है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। (१५)

भगवान् कहते हैं कि पहलेके मुमुक्षुओंने यह समझकर ही कर्म किया कि अन्ततोगत्वा कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे, कर्तापन और भोक्तापनसे मुक्त होना ही है। इसलिए अर्जुन तुम भी कर्म करो। पहलेसे लोग जिस परम्पराका पालन करते आये हैं, उस परम्पराके परित्यागका कोई कारण नहीं है।

एकने हमसे पूछा कि महाराज, हम सन्ध्या-वन्दन क्यों करें ? मैंने उससे पूछा कि तुम्हारे पिताजी सन्ध्या-वन्दन करते थे कि तुम नये सिरेसे करने जा रहे हो ? अगर नये सिरेसे करने जारहे हो, तुम्हारे पिताजीके जनेऊ नहीं था, वे सन्ध्या-वन्दन नहीं करते थे, शूद्र थे, तो तुम्हारे करनेका कोई सवाल ही नहीं उठता है। वे बोले कि नहीं महाराज, वे तो ब्राह्मण थे, जनेऊ पहनते थे, रोज सन्ध्या-वन्दन करते थे। इसपर मैंने कहा कि, तुम्हारे दादा सन्ध्या-वन्दन करते थे या नहीं ? परदादा करते थे कि नहीं, वे भी करते थे। मैंने कहा कि, जब तुम्हारे बाप करते थे, दादा करते थे, परदादा करते थे, तब तुम यह कैसे पूछते हो कि मैं सन्ध्या-वन्दन क्यों करूँ ? यह क्यों नहीं पूछते हो, कि मैं सन्ध्या-वन्दन क्यों छोड़ूँ ? तुम यह बताओ कि सन्ध्या-वन्दनमें ऐसा कौन-सा दोष आगया कि अब तुम उसको छोड़ने जा रहे हो ? अरे, क्या जनेऊमें कोई भार है ? यदि सन्ध्या-वन्दन तुमने सबेरे उठकर कर लिया, सूर्यको हाथ जोड़ लिया तो तुम्हारा क्या बिगड़ गया ? क्या तू इतना पतित हो गया है कि पाँच मिनट भी बिना फायदेका काम नहीं कर सकता ? निष्काम कर्म भी नहीं कर सकता ? मैं तो उम्मीद रखता हूँ कि तुम चौबीस घण्टे निष्काम कर्म करोगे। लेकिन तुमसे पाँच मिनटकी सन्ध्या भी निष्काम भावसे नहीं होती!

लोग निष्कामताकी डौंडी पीटते हैं कि हम निष्काम हैं, निष्काम हैं। लेकिन यह नहीं समझते कि आठ बर्षके बच्चेके जीवनमें जो आठ बर्ष जोड़ दिया गया है, वह कितना लाभदायक है। तुम्हारी दृष्टिमें भले ही इसका कुछ फल नहीं मिलेगा, कुछ फायदा नहीं होगा, स्वर्ग भी नहीं मिलेगा इससे, लेकिन आठ मिनट निष्काम कर्म तो कर लिया करो। इसकी आदत पड़ी रहेगी तो आगे चल कर ऐसे और भी अच्छे काम करोगे, निष्काम भावसे। इसलिए भगवान् कहते हैं कि हमको अगर अपने अन्तःकरणमें-से कुछ हटाना है और उसमें कुछ बढ़ाना है तो पूर्व मुमुक्षुओंकी तरह, बाप-दादाओंकी तरह कुछ-न-कुछ करना ही पड़ेगा। कर्मके सिवाय अन्तःकरणकी शुद्धिका और कोई मार्ग नहीं है। अगर मैल छुड़ाना है तो साबुन लगाना ही पड़ेगा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मैल छूट जानेपर भी साबुनको पोते रहेंगे। नहीं, साबुनको भी धो देना पड़ेगा। पर पहले मैल तो छूट जाय।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ (१६)
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ (१७)

कर्म क्या है, अकर्म क्या है—इस विषयमें बड़े-बड़े कवि भी मोहित हैं। इसलिए जिस बारेमें समझनेमें कठिनाई पड़ती हो, उसको समझा देना ही ठीक रहता है। जो बात साफ-साफ है, उसको समझानेकी क्या जरूरत है ? उसे समझानेकी तकलीफ क्यों उठायी जाय ? अरे आज इतनी गर्मी है, इतनी सर्दी है यह तो सब समझते हैं। तब इनके लिए बोलनेकी तकलीफ क्यों करना ? लेकिन जिसको समझनेमें कठिनाई पड़ती है, उसको तो समझा देना ही ठीक है। बड़े-बड़े कवि भी अर्थात् क्रान्तदर्शी भी सच्चाईका वर्णन करते समय जरा नमक-मिर्च लगा देते हैं। सच्ची भक्तिमें भी कविता और संगीत इन दोनोंने बाहरी रस डाल दिया। लोग अलंकार समझते हैं, रस समझते हैं। लेकिन पदका अर्थ नहीं समझते। भक्तिरस, कविता और ताल-स्वरसे आच्छादित हो गयी। नाचनेका मजा आता है, गानेका मजा आता है, लेकिन भगवान्‌के प्रेमका मजा नहीं आता। '*जनरंजन खंजन मंजन*'—में खंजन मंजनका मजा तो आता है, परन्तु परमात्माका आनन्द नहीं आता। यही हाल वेदान्तका भी है। यहाँ भी तर्क-युक्तिने ऐसा सत्यानाश किया कि जो सीधी-सीधी बात थी, वह टेढ़ी हो गयी। शरीर अलग-अलग है लेकिन उनमें चेतन एक है। चेतन आकाशसे भी सूक्ष्म होता है। आकाश ज्ञात ही होता है चेतनसे। फिर जब आकाश ही दो शरीरोंमें दो नहीं है तो इस आकाशको भी प्रकाशित करनेवाला चेतन दो शरीरोंमें दो कैसे हो सकता है ? शरीरके भेदसे चेतनमें भेद नहीं होता, लेकिन महाराज! युक्तिवादियोंने अवच्छेदकावच्छिन्नकी ऐसी झड़ी लगायी, ऐसी प्रकारता निरूपित की कि एक ही चोटमें समझी जानेवाली सीधी-सादी बात भी दुरूह हो गयी और उसपर पर्दा पड़ गया।

इसलिए तर्क-युक्तिका पर्दा हटा दो तथा स्वर, ताल और गलेबाजीका आनन्द एक तरफ कर दो, वह तो ऐसा ही है जैसा अपनी जीभमें-से पानी निकाल-निकालकर अपना ही ओठ चाटना। लोग अपने ही गलेमें-से स्वाद निकाल-निकालकर चाटते हैं। लेकिन ईश्वरका स्वाद नहीं होता है। इसलिए बातको समझना चाहिए।

भगवान् कहते हैं कि '**तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि**'=*कर्म प्रवक्ष्यामि, अकर्म प्रवक्ष्यामि।* इसमें दोनों प्रकारके पदच्छेद हैं। माने मैं तुम्हे कर्म और अकर्म दोनों बताता हूँ। उस

कर्म- अकर्मका ज्ञान हो जानेपर, *'तत् ते अकर्म ब्रह्म प्रवक्ष्यामि'*—तुम्हारे लिए उस अकर्म ब्रह्मकाका निरूपण करता हूँ अथवा *'तत्ते कर्म जगत् प्रवक्ष्यामि'*—तुम्हारे लिए उस कर्मका निरूपण करता हूँ जिसको सुनकर **'अशुभात्** *संसारात्* **मोक्ष्यसे'** अर्थात् इस अशुभ संसारसे मुक्त हो जाओगे। इसलिए कर्म समझो, विकर्म समझो और अकर्म समझो।

क्यों महाराज! यह समझनेकी क्या जरूरत है ? बोले कि, **'गहना कर्मणो गतिः'**—कर्मकी गति बड़ी गहन है। यह किस चालसे चल रहा है, इसे समझना बड़ा कठिन है। यह मत समझ लेना कि देहकी चेष्टाका नाम कर्म है, चुपचाप बैठनेका नाम अकर्म है और कर्तव्यके विपरीत आचरणका नाम विकर्म है। जीवनमें जो अकर्मण्यता है, प्रतिषिद्ध कर्म हैं और विहित कर्म है, इनको ठीक-ठीक समझना चाहिए।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (१८)

भगवान् कहते हैं कि उल्टा देखो, प्रवृत्तिमें निवृत्तिका रस लो और निवृत्तिमें प्रवृत्तिका रस लो। मतलब यह है कि प्रवृत्तिमें वैराग्य बना रहे और निवृत्तिमें स्वाद-भंग न हो। ऐसा न हो कि हाय-हाय! हमारे पास तो कुछ है ही नहीं। दैन्य आगया तो निवृत्ति चौपट हो गयी। यह समझो कि अरे! हम तो शहनशाह हैं। ये सब दुनियाके जितने लोग हैं, हमारे मुनीम हैं, खजांची हैं, चपरासी हैं। हम अपनी जेबमें नोट लेकर नहीं चलते, मुनीमोंकी जेबमें भर कर चलते हैं। यह तो मुनीमोंकी भूल है कि वे अपनेको हमारा नहीं समझते हैं, खुद अपनेको मालिक मान बैठते हैं।

देखो! जो जितने बड़े सेठ होते हैं, वे अपने पास कुछ लेकर नहीं चलते। या तो उनके ड्राइवरके पास रुपये रहते हैं या उनके मुनीमके पास रुपये रहते हैं। फिर अपनेको खतरेमें क्यों डालना ? भाई! ये बाबाजी लोग बड़े चालाक हैं। अपनेको खतरेमें नहीं डालते। ये दूसरेके हिस्सेसे उधार नहीं लेते। किसीसे माँगते नहीं हैं। कुछ खरीदते नहीं हैं। उनकी जो चीज दूसरोंके पास है, वही लेते हैं।

कर्म हो रहा है शरीरसे। चल रहे हैं बादल, मालूम पड़ रहा है कि चन्द्रमा चल रहा है। बादल तेजीसे उड़ते हैं चन्द्रमाके ऊपरसे, तो मालूम पड़ता है कि चन्द्रमा भागा जा रहा है। है न यह बेवकूफी, अरे चन्द्रमा नहीं भागा जा रहा, बादल भागे जा रहे हैं। ऐसे ही कर्म तो ऊपर-ऊपरसे होते हैं। लेकिन तुम तो बिलकुल स्थिर हो, अकर्म हो। बोले कि नहीं-नहीं, हम अकर्म तो तब होंगे, जब जरा सिद्धासन बाँधेंगे, पीठकी रीढ़ सीधी करेंगे और छाती तानकर कहेंगे कि यह उड्डीयान हो

रहा है। हम आपको सच-सच बताते हैं, शहरी लोग माफ करें हमको, हम लोग देहाती हैं। एक जगह हमने देखा कि लगभग दो सौ आदमी बैठे हैं। गुरुजी चौकी पर बैठे हैं और लोगोंसे भस्त्रिका करवा रहे हैं। भस्त्रिका प्राणयाम होता है, जिसमें धौंकनी चलाते हैं। उससे लोहारकी धौंकनीकी तरह आवाज भी होती है और साँस भी धौंकनीकी तरह निकलती है। मैंने कहा कि भलेमानुष, अगर किसीको दमा होगा तो दूसरेको भी लग जायगा, किसीको जुकाम हुआ होगा तो दूसरेको भी हो जायगा। यह भस्त्रिका तो किसी एकान्त स्थानमें बैठकर किया जाता है। यहाँ तो दो सौ आदमी एक साथ बैठकर भस्त्रिका कर रहे हैं। ऐसे तो यहाँ जितने संक्रामक रोग हैं, वे सब एक दूसरेके साथ मिलकर परस्पर संक्रान्त हो जायेंगे।

लेकिन आजकल लोगोंको योगासनकी नुमायशका शौक हो गया है। भीड़के सामने सिद्धासन बाँधकर, पद्मासन लगाकर बैठ जाते हैं और पीठकी रीढ़ सीधी करके कहते हैं कि अब हम कोई कर्म नहीं कर रहे हैं। अरे, पाँव बाँधना भी कर्म है, पीठकी रीढ़ सीधी करना भी कर्म है और यदि तुम कर्तृत्वपूर्वक कर्म-निवृत्त हुए
What is true renunciation of work?
हो तो वह भी कर्म है। केवल बाहरी कर्म छोड़ देनेसे कोई अकर्ता नहीं हो जाता। अकर्ममें भी जहाँ कर्तृत्व है, वहाँ अकर्म है। कर्म करते हुए भी जहाँ कर्तृत्व नहीं है, वहाँ अकर्म है। इस बातको समझो।

असलमें यहाँ अकर्तृत्वके ज्ञानसे तात्पर्य है। कर्तृत्व निस्स्वभाव है। बौद्ध लोग कहते हैं कि कर्तापन निःस्वभाव है इसलिए शून्य है। सांख्य लोग कहते हैं कि कर्तृत्व प्रकृतका है, इसलिए हममें कर्तृत्व नहीं है, हम असङ्ग हैं। वेदान्तियोंका कहना है कि कर्तृत्वके भीतर जो साक्षी बैठा हुआ है, वह साक्षी वास्तवमें अद्वितीय ब्रह्म है। इसलिए द्वैत प्रतिभास-मात्र है। उसमें कर्ता-कर्म और कर्मफल—ये सब बिना हुए ही मिथ्या भासित हो रहे हैं। केवल कर्तृत्वकी निस्स्वभावताके ज्ञानसे
How to be free from the notion of doer-ship?
कोई अकर्ता नहीं हो सकता। अधिष्ठान ब्रह्मके रूपमें अपने आत्माको जानकर ही कर्तृत्वसे मुक्त हुआ जा सकता है। साक्षी भी तबतक वस्तुतः कर्तृत्वसे मुक्त नहीं है जब तक वह अपनेको परिच्छिन्न साक्षी समझता है। यदि वह एक देहका साक्षी है, एक कर्ताका साक्षी है, तो वह भी कर्तृत्वसे मुक्त नहीं है। वे सब साक्षीभाव धारण कर रहे हैं। अब भला बताओ, साक्षीभाव धारण करते हैं तो उसमें कर्तापन है कि नहीं? यदि कहो कि हम आज आध घण्टेतक साक्षी होकर बैठे रहें तो तुम्हारा आधा घण्टेका साक्षीपन बनावटी है। इसलिए अक्लसे काम लो। तुम्हें मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। तुम अपनेको सीओ मत किसीके साथ। बुद्धिमान होकर, युक्त होकर सारे कर्म करते हुए भी उनको कैंचीसे काट लो। तुम अद्वितीय ब्रह्म और सारे

Meaning of Kritsnakarmakrit 4.18

कर्म करते हुए भी अकर्ता रहो। '**कृत्स्नकर्मकृत्**'—*कृत्स्नानि कर्माणि कृन्तति इति। कृति कर्तने।*

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ (१९)

जब हम बचपनमें एक महात्माके पास जाते थे तो, उन्होंने इस श्लोकपर बहुत ध्यान दिलाया था। बात यह है कि मूर्खलोग तो चाहे जिसको पण्डित कह देते हैं। वे तो 'पालागी पण्डितजी' बोलते ही रहते हैं। लेकिन मूर्खलोग जिसको पण्डित कहते हैं, वह पण्डित नहीं है। ज्ञानी लोग, विद्वान् लोग, जिसको पण्डित कहते हैं, वह पण्डित है। '**तमाहुः पण्डितं बुधाः।**' वह विद्वान् नहीं कहा जा सकता जो, *'यत्र वैयाकरणाः तत्र वैदिकः।'* वैयाकरणोंकी सभामें बोले कि मैं वेदका विद्वान् हूँ *'यत्र वैदिकाः तत्र वैयाकरणः'*। जहाँ वेदके पण्डित बैठे हों वहाँ बोले कि मैं व्याकरणका पण्डित हूँ। तथा *'यत्र चोभयं तत्र नोभयम्'*। जहाँ वेद, व्याकरण दोनोंके पण्डित हों, वहाँ कहे कि दोनोंमें-से किसी भी विषयका विद्वान् नहीं हूँ। ऐसे काम नहीं बनता है। विद्वान् लोग जिसके वैदुष्यको स्वीकार करें, वही पण्डित

Meaning ofPandit / Who is a Pandit ?

है। पण्डित वह होता है, जिसकी बुद्धिमें सदसद्-विवेकिनी पण्डा उदय हो गयी है। यह विवेक बड़ा अद्भुत है, विलक्षण है। सत्-असत्का ज्ञान कराता है। सबलोग कहते हैं कि हम सद्-असद्का विवेक करें। लेकिन यदि असत् सूअर हो और सत् गाय हो और हम उनको पहचान जायँ, कि यह सूअर है और यह गाय है तो क्या यह सत्-असत्का विवेक हुआ ? अरे, असत् तो उसको कहते हैं, जो होता ही नहीं। सत्-असत्के विवेकमें द्वैत रहता ही नहीं है। फिर विवेक कहाँसे होगा ? वह विवेक नहीं, अनुभव होगा। सच्ची पण्डा कौन है ? ब्रह्म-विद्या है। वह जिसको प्राप्त हो गयी उसका नाम हो गया पण्डित।

Chit - Achit or Jad discernment or Viveka

और देखो, चिद्-अचिद्में द्वैत होता है। सामान्य दृष्टिसे एक जड़ है, दूसरा चेतन है। लेकिन जड़ चूँकि चेतनके बिना मालूम ही नहीं पड़ता, इसलिए चेतनाश्रित है और जब आश्रय है चेतन और आश्रित है जड़ तो जड़-रूप आश्रित अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठान चेतनमें भास रहा है। इसलिए जड़ भी मिथ्या है, असत्

Viveka of Sorrow or Dukhah

है। अच्छा, आनन्द और दुःख दो हैं न! हाँ, होते हैं। दुःख कहाँ दिख रहा है ? दुःख अपने परम प्रेमास्पद आत्मामें ही दिख रहा है, लेकिन आत्मा तो दुःखके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान है और वही दुःख दिख रहा है। इसलिए दुःख मिथ्या है। फिर असत् क्या है ? असत् तो उसीको कहते हैं, जो नहीं है। उसका अत्यन्ताभाव अपने अधिष्ठानमें ही दीख रहा है, इसलिए असत् भी नहीं है। तब पण्डितका अर्थ

क्या हुआ ? यही हुआ कि '**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः**'— ज्ञानाग्निके द्वारा कर्ता, कर्म, कर्मफल—ये तीनों जिसके जड़में दिखायी पड़ते हैं वह प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मज्ञानसे जल चुका है जिसका, उसका नाम होता है पण्डित।

अब उस पण्डितके जो समारम्भ हैं, उनको देखो, वह जो काम करता है, उनमें कोई काम-संकल्प नहीं है, भोग-संकल्प नहीं है। '**यस्य सर्वे समारम्भाः काम-संकल्पवर्जिताः**' (१९)।—उसके द्वारा काम सब हो रहे हैं, लेकिन उसमें काम-संकल्प नहीं है। क्योंकि ज्ञानकी आगसे उसके सब संकल्प जल गये हैं। उसमें यदि अनेक अतीत जन्मोंके संचित कर्म हों तो वे भी जल गये हैं। लेकिन यदि इस जन्मके किये गये कर्म हों तो ? उनका पूर्वार्ध नष्ट हो गया, फिर उत्तरार्ध ? अरे, उत्तरार्धकी तो सत्ता ही नहीं है, तो कहीं और असत्का संश्लेष होगा ? वे कहीं संश्लिष्ट होंगे!

अच्छा महाराज, जितने पाप हैं, वे जल जायँ तो ठीक है लेकिन पुण्य-पुण्य तो रह जायँ। जैसे पाप जल जायँ और छूटें नहीं, वैसे ही पुण्य भी जल जायँ और छूटें नहीं तो! अरे भाई, महात्माका जीवन पाप-पुण्यसे नहीं चलता। महात्माका जीवन तो उसीकी मौजसे चलता है। जैसे चिद्वस्तु, संविद्वस्तु प्रतीतिमात्र तरंगायमान हो रही है, वैसे ही महात्माका जीवन है। न वह कर्मका कर्ता है और न वह कर्मका फल है। वहाँ तो यह सब कुछ है ही नहीं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥ (२०)

इसलिए कर्मफलकी आसक्ति छोड़ दो। कर्मासंग, फलासंग दोनोंको अलग-अलग करके छोड़ दो। हम यहाँ कर्म पूरा ही करेंगे, लेकिन मर गये तो! अरे बाबा, यदि एक जीवनमें, दो जीवनमें, तीन जीवनमें काम पूरा नहीं हुआ तो चौथे जीवनमें यह काम पूरा करेंगे। जो काम अंशुमान्से पूरा नहीं हुआ, उसको भगीरथने पूरा किया। इसलिए कर्मका फल पाना भी अपने हाथमें नहीं है। जो लोग जिद्द कर लेते हैं कि हम यह कर्म पूरा ही करेंगे, वे जानते नहीं हैं कि कालमें क्या हो रहा है। इसलिए कर्मासंग भी छोड़ो और फलासंग छोड़ो। हम कालको भरते हैं, जबतक बोल सकते हैं, तबतक बोलते हैं, नहीं बोल सकेंगे तो नहीं बोलेंगे। फिर पछतायेंगे थोड़े ही, कि हाय-हाय नहीं बोल सकते। हम तो जहाँ हैं, जैसे हैं, जब हैं, जो हैं, जिसमें हमें तृप्ति-ही-तृप्ति है; परमानन्द-ही-परमानन्द है। हम नित्य तृप्त हैं—यह नहीं किया, यह नहीं किया, हमारा यह रह गया, यह रह गया—इस प्रकार झूठ-मूठ ही मौतको अपने गले लगा रहे हो! ऐसा सोचना प्रमाद है।

'**नित्यतृप्तो निराश्रयः**'—निराश्रयका अर्थ है, हमारा कोई दूसरा आश्रय नहीं है। यदि तुम्हारा कोई दूसरा आश्रय है तो इस कल्पनाके आश्रय भी तुम ही हो। '*आश्रयन्निष्क्रान्तः*'—जो कल्पनावच्छिन्न चैतन्य है, वही कल्पितावच्छिन्न चैतन्य भी है। ऐसे समझो कि हमने अपने मनमें एक सूअरकी कल्पना की। कल्पना हुई हमारे अन्तःकरणमें और कल्पित हुआ सूअर। इसलिए कल्पनावच्छिन्न जो चैतन्य है, वही कल्पितकी तरह अवच्छिन्न चैतन्य है कि नहीं ? क्या सूअरमें कोई नया चैतन्य पैदा हो गया ? नहीं, इसलिए जो प्रपञ्च कल्पनावच्छिन्न चैतन्य है वही प्रपञ्चावच्छिन्न चैतन्य है। चैतन्य दो नहीं है! '**निराश्रयः**'—इसका अर्थ हुआ कि तुम किसीके आश्रित नहीं हो, तुम स्वयं सबके आश्रय हो। ईश्वर भी तुम्हारी पूजा लेकर खुश होता है। जब तुम उनको कुछ फल-पुष्प-सुगन्ध देते हो तब तुमसे कुछ पाकर ईश्वर खुश होता है। इसलिए ईश्वरको खुशी देनेवाले तुम हुए। तुमने ही अपना आनन्द ईश्वरको दिया।

देखो, एक महात्माने कभी हमको बताया था कि गुरुको गुरु बनानेवाला कौन है ? ये गुरुजी हमारे गुरु बनने लायक हैं कि नहीं—यह फैसला कौन करता है ? इसका जज कौन है ? जब यह मुकदमा अदालतमें आया कि ईश्वर है या नहीं, तो एक पक्षने कहा 'है' और दूसरे पक्षने कहा कि 'नहीं है'। फिर किसीने फैसला किया कि ईश्वर है या नहीं ? बोले कि वह तो मैंने ही किया कि ईश्वर है। ईश्वर तो वहाँ अभियुक्त होकर, अभियोक्ता होकर, वादी-प्रतिवादीके रूपमें, पूर्व-पक्ष, उत्तर-पक्षके रूपमें आया था। उसके निर्णायक महेश्वर तो तुम ही हो, इसलिए यही तुम्हारा स्वरूप है कि तुम '**नित्यतृप्तो निराश्रयः**' हो। तृप्ति उधार नहीं ली जाती और जगत्, अन्तःकरण, माया, प्रकृति, ईश्वर ये सब हमारे आश्रय नहीं हैं- हम स्वयं सबके आश्रय हैं।

अब देखो '**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि**'—कर्मी लोग तो बड़े मजेसे इसका अर्थ करते हैं कि कर्म करते रहो। चारों ओर कर्म, दाहिने कर्म, बाँये कर्म, सामने कर्म, पीछे कर्म, ऊपर कर्म, नीचे कर्म—'**अभिप्रवृत्तः**'का यही अर्थ होता है न! लेकिन भाई, जब सब कुछ करते हुए भी तुम कुछ नहीं करते हो तो इसका अर्थ क्या है, यही है न कि तुम्हारा स्वरूप अकर्ता है। तुम प्रतीयमान कर्मसे कर्मवान नहीं होते—यह तो सीधा अर्थ है और यदि उसके भीतर घुसें तो यह अर्थ होगा कि '*अभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति किं पुनः अन्-अभिप्रवृत्तः।*' यहाँ संन्यासीकी महिमा हो गयी कि नहीं हो गयी ? यदि कर्म करता हो तो तब भी कुछ नहीं करता और यदि कर्म न करता हो तब तो कहना ही क्या है! यहाँ '**अपि**' शब्दका भी यही अर्थ है। इसपर कर्मयोगाचार्योंको ध्यान देना चाहिए कि यहाँ जो अपि शब्द है यह संन्यासीकी महिमा

प्रकट कर रहा है, कि कर्मयोगकी महिमा प्रकट कर रहा है। असलमें संसारी लोगोंका वैराग्य जहाँ पूर्ण नहीं होता, वहाँ उनको कुछ-न-कुछ *'काशकुशावलम्बन'* चाहिए अथवा यों कहो कि जैसे कुएँमें गिरते हुएके लिए तिनकेका सहारा काफी होता है, वैसे कोई-न-कोई सहारा चाहिए। अरे भाई जब अपने स्वरूपमें कर्तृत्व नहीं है, कर्म नहीं है, कर्मफल नहीं है, भोक्तृत्व नहीं, द्वैत नहीं है, तब कर्म करनेमें क्या हानि नहीं है! वहाँ तो कर्म करना मालूम पड़ता है, वह प्रतीति मात्र है, इसलिए हानि नहीं है। परन्तु यदि कर्तृत्व प्रतीत भी न होता हो तो उससे कुछ बिगड़ नहीं गया, बल्कि और बन गया, और बढ़िया हो गया, चार चाँद लग गये!

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ (२१)

इस श्लोकमें किसका वर्णन है, यह आपलोग देख लो, निष्कामाचार्योंको इसपर ज्यादा ध्यान देना चाहिए। आजकल लोग बण्डल-के-बण्डल नोट बिछाकर उसके ऊपर खूब बढ़िया गद्दा बिछाकर और तकिया लगाकर आराममें सोते हैं और बोलते हैं कि हम तो निष्काम भावसे पड़े हुए हैं। बुरा मत मानना और **'त्यक्तसर्वपरिग्रहः'** पर जरा ध्यान देना। इसका अर्थ है सारे परिग्रहोंका त्याग। इसका यह मतलब नहीं है कि उसका परिग्रह बाहरी है, भीतरसे नहीं है। **निराशीः**— माने उसके मनमें आशा नहीं है, अभिलाषा नहीं है और **यतचित्तात्मा** है अर्थात् उसके मनमें चांचल्य नहीं है। कभी-कभी बिना कामनाके भी चंचलता होती है, मनोराज्य होता है, और वह मनोराज्य बेमतलब होता है, आदतन होता है। लेकिन आदतन मनोराज्य नहीं है तो क्या, इतना काफी है ? बोले कि नहीं, **'त्यक्तसर्वपरिग्रहः'** बाहरका परिग्रह नहीं होना चाहिए, भीतर कामना नहीं होनी चाहिए और मनोराज्य भी नहीं होना चाहिए। अब कहते हैं कि **'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।'** यहाँ **'शारीरं केवलं कर्म'** का अर्थ है कि शरीरसे होनेवाले काम। हम शौच भी कर आते हैं और चेष्टा भी कर लेते हैं। शरीर-निर्वाहक कर्म अथवा शरीर-निर्वृत्य कर्म होते रहते हैं। किन्तु **'नाप्नोति किल्बिषम्'**—इनसे अविद्या और अविद्याजन्य कार्य नहीं चिपकते हैं।

देखो, गीताका कृष्ण बड़ा चालाक है। कृष्ण जैसा बुद्धिमान तो शायद ही इस दुनियामें कोई हुआ हो। एक ओर बोलता है कि करो और दूसरी ओर बोलता है कि अरे भाई, न करनेवाले संन्यासी लोग बहुत बढ़िया हैं। लेकिन हम तुम्हें ऐसी अक्ल बताते हैं, कर्म करो तब भी कोई नुकसान नहीं है।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ (४.२२)

यहाँ जो '**कृत्वापि न निबध्यते**' है, इसमें भी '**अपि**' है। इसका अर्थ है कि करके भी बन्धन नहीं होता। असलमें कर्म छोटी चीजमें चिपकते हैं, वासनावान्‌में चिपकते हैं और फलेच्छुमें चिपकते हैं। किन्तु जहाँ कर्तृत्व-भोक्तृत्व न हो, संसारित्व, परिच्छिन्नत्वकी भ्रान्ति न हो, वहाँ कर्म क्या करेंगे!

'**निराशीर्यतचित्तात्मा**'—इसका अर्थ अभिलाषा मत करो। **आशीः** शब्दका अर्थ अभिलाषा ही है। चाहो मत, व्यर्थका मनोराज्य मत करो, परिग्रह मत रखो और फिर '**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्**'—केवल शरीर-धारणानुकूल जितना आवश्यक व्यवहार है उतना करते जाओ। परिग्रहमें पाप आता है, मनोराज्य कहीं-न-कहीं आविष्ट कर देता है और अभिलाषा अभिलषणीयके पास पहुँचा देती है। इसलिए काम उतना ही करना चाहिए, जितना शरीरके लिए आवश्यक हो। इसमें पाप-तापकी कोई सम्भावना नहीं रहती है।

तो '**यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः**'—इसका अर्थ है कि अपने-आप बिना माँगे जो आजाय, मिल जाय, वह पर्याप्त है। भक्तिके प्रसंगमें जब यही यदृच्छा शब्द आता है, तब उसका अर्थ होता है—भगवद्-इच्छा। माने भगवान्‌ने जो भेजा है, वह आगया। परन्तु तत्त्व-ज्ञानके प्रसंगमें जब यह शब्द आता है तो उसका अर्थ होता है कि भगवान् कार्योपाधि नहीं है, अन्तःकरण नहीं है, इसलिए भगवान् अपनी ओरसे कोई इच्छा नहीं करते। ईश्वर कारणोपाधिक है। उसमें अन्तःकरण नहीं है। अन्तःकरण तो कार्य है, वहाँ तो माया-ही-माया है। तत्त्व-ज्ञानकी विधामें भगवान् कोई इच्छावाले नहीं हैं कि वे सोच-सोचकर एक-एक आदमीके लिए इच्छा करते रहें। अतः यदृच्छा शब्दका अर्थ है कि बिना माँगे, बिना सोचे, बिना किये जो आगया, उसीमें सन्तुष्ट रहो। सन्तुष्टि अपने भीतरसे निकलती है। आत्मोल्लासका नाम सन्तुष्टि है। वह कहीं बाहरसे नहीं आती। जैसे गर्मी आती है, सर्दी आती है, सुख आता है, दुःख आता है, कभी भीड़ आती है और कभी एकान्त, वैसे सन्तुष्टि नहीं आती। ये तो द्वन्द्व हैं, आते-जाते रहते हैं। अमुक साधुको बड़ी बढ़िया-बढ़िया भिक्षा मिलती है। उसके पास बहुत चेले आते हैं। इसके लिए मात्सर्य करनेकी आवश्यकता नहीं है। हम जो हैं, जहाँ हैं, जैसे हैं, परमानन्दमें मग्न हैं। यह देखनेकी जरूरत नहीं है कि हमारे आगे कौन चलता है। जहाँ यह भाव मनमें आया कि यह तो हमसे आगे बढ़ रहा है, वहाँ मत्सर आगया। इसीको मात्सर्य बोलते हैं। कई ड्राईवर ऐसे होते हैं जो आगे बढ़ जानेवाले ड्राइवरके लिए कहते हैं कि अच्छा, यह हमें पीछे छोड़कर अपनी मोटर आगे लेगया। देखो, हम इसको मजा चखाते हैं। यह कहकर वे अपनी मोटरसे धूल पानी उड़ेल देते हैं, आगे जानेवाली मोटरपर, ऐसा नहीं करना चाहिए। इसमें मात्सर्य है। और जो आगे चला

गया, उसे आगे जाने दो। तुम अपनी गाड़ी ठीक चलाओ। हम जहाँ हैं, वहाँ परब्रह्म परमात्मा अपने स्वरूपसे ही प्राप्त है। आगेवालेको कुछ ज्यादा मिल गया और पीछेवालेको कुछ कम मिलेगा, ऐसा कुछ नहीं है। अरे, जो आगे है, वह ड्राईवर है, जो पीछे है, वह गार्ड है और दोनोंके हाथमें रेलगाड़ी है। इसलिए मौजसे यात्रा करो।

'**समः सिद्धावसिद्धौ च**'—सिद्धि मिल गयी तो भी ठीक और असिद्धि मिल गयी तो भी ठीक। क्योंकि जहाँ कुछ लक्ष्य ही नहीं है, कामना नहीं है, वहाँ फलका अर्थ कुछ नहीं रहता, वह निरर्थक हो जाता है। '**कृत्वापि न निबध्यते**'— आदमी कर्म करके ही अपनेको बाँधता है। '**निबध्यते**'का प्रयोग कर्मकर्ताके लिए है। *'स्वयमेव आत्मानं बध्नाति खलवासना-कालुष्यम् उपाधाना:।'* मनुष्य खलवासनाके कालुष्यको स्वीकार करके अपनेको बाँधता है। हम यह करेंगे तो यह पायेंगे—इस प्रकार पानेकी जो इच्छा है, वह चारों ओर लिपटकर बाँध देती है। इसलिए काम करते जाओ, लेकिन कुछ चाहो मत। मार ले गोली बाबा, हम तो अपने रास्तेमें चलते हैं। इस तरह दोनों हाथ ऊपर उठाकर चलो; चलते रहो, फिर कहीं नहीं फँसोगे।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (२३)

'**गतसङ्गस्य**'का अर्थ है कि फलमें आसक्ति मत रखो और '**गतसङ्गस्य मुक्तस्य**'का मतलब है कि कहीं भी आसक्ति नहीं है तथा धर्माधर्मादिके बन्धनसे निर्मुक्त है। यह आप निश्चित रूपसे समझो कि जहाँ अभिमान है, वहीं धर्म और अधर्म है। मैं ब्राह्मण हूँ—ऐसा मानते ही, ब्राह्मणोचित कर्म करोगे तब तो ठीक है और ब्राह्मणोचित कर्तव्य अगर छोड़ गये तो बन्धनमें पड़ जाओगे। जैसे पुलिस-सिपाहीके रूपमें भर्ती हो जानेपर ड्यूटी लग जाती है। यदि ट्रैफिक पुलिसके रूपमें ड्यूटी लगी तो चौराहेपर खड़े होकर हाथ दिखाना पड़ेगा, कि इधरसे जाओ, उधरसे न जाओ और नहीं दिखाओगे तो डिसमिस हो जाओगे। किन्तु यदि पुलिसमें भर्ती नहीं हुए तो चौराहेपर खड़े होकर हाथ दिखानेकी ड्यूटी नहीं रहेगी। ड्यूटी तब बनती है जब पहले अभिमान धारण किया जाता है। '**मुक्तस्य**'का अर्थ है— कोई अभिमान अपनेमें धारण ही मत करो। न हिन्दू बनो, न मुसलमान, फकीर बन जाओ, बेमजहब, बेख्वाहिश, बेपरवाह!

आखिर मन कहाँ अवस्थित रहे ? मन इसमें अवस्थित रहे कि मैं ज्ञान-स्वरूप हूँ, मैं धर्मी नहीं हूँ। जैसे हाथमें दण्ड धारण करनेपर दण्डी हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञानको वृत्तिमें डालकर स्वयं वृत्तिमान् मत बनिये। मैं ज्ञान-वृत्तिवाला हूँ— इसका अभिमान मत कीजिये। ज्ञानावस्थित होकर कर्म कीजिये।

Derivation of the Word Vishnu

'यज्ञायाचरतः कर्म'—इसका अर्थ है कि कर्म कीजिये, परन्तु जैसे सूर्य करता है; चन्द्रमा करता है, अग्नि करता है, वायु करता है, वैसे ही कर्म कीजिये और यज्ञके लिये कीजिये। **'यज्ञाय *विष्णवे।*'** सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डको आवेष्टित करके जो है—वह विष्णु है। *'वेवेष्टि विश्वम् इति विष्णुः।'* विष्णु शब्द व्याप्तिके अर्थमें है और विश्व शब्द प्रवेशके अर्थमें है। यदि *'विश प्रवेशने'* धातुसे विष्णु शब्दको बनायेंगे तो मूर्धन्य षकार दुर्लभ हो जायेगा। इसलिए *'विष्लृ व्याप्तौ'*से विष्णु शब्द बनता है—*'वेवेष्टि अस्य दशाङ्गुलम्'*। सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर भी जो बड़ा है, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिसके एक-एक रोम-कूपमें समाये हुए हैं; उसको दृष्टिमें रखकर कर्म करो, केवल घरवालोंके लिए नहीं। निष्काम कर्मका स्वरूप यह है, वह सबके लिए होता है, केवल अपने लिए नहीं, बेटेके लिए नहीं, बहूके लिए नहीं, परिवारके लिए, रिश्तेदार-नातेदारके लिए नहीं। उसीको कहते हैं **'यज्ञायाचरतः कर्म।'** अब जब कर्म ढूँढ़ने लगता है कि हम अपना फल लेकर कहाँ जायँ ? इधर कर्ताने तो उसको ढकेल दिया विष्णुकी ओर और विष्णु ढूँढ़नेपर मिले नहीं। वे इतने भारी हैं, इतने बड़े हैं कि ढूँढ़नेपर उनका कहीं अता-पता नहीं चलता। तब कर्म कहाँ जाय ? कर्ताने तो उसको अपनी ओरसे फेंक दिया है, किन्तु जिसकी ओर फेंका है, वे कर्मकी पकड़में आते नहीं। फिर क्या हो ? **'समग्रं प्रविलीयते।'** एक गिलास पानी यदि सारे आकाशमें फेंक दोगे तो पानीका कहीं पता चलेगा! वह तो खत्म हो जायेगा, लेकिन यदि एक गिलास पानी छोटी-सी कटोरीमें डालोगे तो कटोरी भर जायेगी और बाकी पानी बाहर बिखर जायेगा। इसी तरह यह जो कर्म है, इसको पकड़कर रखोगे तो यह तुम्हें बाँध लेगा और यदि इसको उड़ा दोगे तो यह तुम्हें छूयेगा नहीं।

यह सामान्य व्याख्या है यज्ञकी। अब सबसे बढ़िया यज्ञ क्या है ? उसका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म-समाधिना॥ (२४)

यदि कहो कि हम जो करेंगे उससे फलकी उत्पत्ति कैसे नहीं होगी और उसका समग्र प्रविलापन कैसे हो जायेगा ? तो इसका उत्तर है, सब कुछ ब्रह्मार्पण कर देनेसे ऐसा हो जायेगा। देखो स्रुवा भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म है, हवन करनेवाला पुरोहित-यजमान भी ब्रह्म है। उसके रूपमें *'ब्रह्मणि ब्रह्म जृम्भते'*—ब्रह्ममें ब्रह्म जम्भाई ले रहा है। ब्रह्ममें ब्रह्म मुस्करा रहा है, ब्रह्म ही बोलता है, ब्रह्म ही सुनता है, शब्द भी ब्रह्म ही है। अर्पण भिन्न प्रतीत होता है, हविष्य भिन्न प्रतीत होता है, अग्नि भिन्न प्रतीत होता है, उसका गन्तव्य उद्देश्य इन्द्रादि देवता भिन्न

प्रतीत होते हैं और हवन कर्म भिन्न प्रतीत होता है, परन्तु है सब ब्रह्म। यह समाधि है—'**ब्रह्मकर्म समाधिना**'। एक ही ब्रह्ममें सबका आधान हो गया। बड़ी पतीलीमें सब छोटी पतीलियाँ समा जाती हैं। घड़े तो हजार थे लेकिन वे सब माटीमें मिल गये। सबसे बड़ा यज्ञ यही है कि ब्रह्म-दृष्टि प्रज्वलित रहे। *'ब्रह्मातिरिक्तं किमपि नास्ति'*—ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस दृष्टिका जाग्रत् रहना ही सबसे बड़ा यज्ञ है—

Biggest sacrifice or yanja is to merge everything in Brahman

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ (२५)

यह ब्रह्म-यज्ञ है यह तेरहवाँ यज्ञ है। इसके अलावा बारह यज्ञ और हैं—दैव यज्ञ, सूर्योद्देश्यक यज्ञ, वायूद्देश्यक यज्ञ आदि। यह देखो, यज्ञमें आ रहे हैं सूर्य देवता, आरहे हैं चन्द्र देवता। देवता माने—इन्द्रियोद्देश्यक यज्ञ भी होता है! ये सब देवता हमारी इन्द्रियोंमें बैठे हैं। हम जो-जो देखते हैं, जो-जो सुनते हैं, जो-जो खाते हैं, जो-जो पीते हैं—यह सब यज्ञ है। *'जहँ-जहँ चलो सोई परिक्रमा, जो-जो करौं सो पूजा।'* यह यज्ञ सब लोग नहीं करते। इसको योगी लोग ही करते हैं! पहलेमें वस्तुस्थिति है, दूसरेमें भावना है और योगी लोग इस भावनाके द्वारा उपासना करते हैं। इसमें सावधान बना रहना पड़ता है कि हर समय वृत्ति बनी रहे।

पहले यज्ञका अर्थ है—कारणमें कार्य मात्रका लय कर देना-ब्रह्माग्नि कारण है और बाकी सब कार्य है। यज्ञ-से यज्ञको ब्रह्माग्निमें हवन करते हैं। दैव शब्दका अर्थ भगवान् भी है। सबके कारण हैं भगवान्। इसलिए सब कुछ भगवान्के लिए करना यज्ञ है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ (२६)

प्रत्येक इन्द्रियमें संयम भिन्न-भिन्न होता है। *'श्रोत्र-चक्षुर्भ्यां तद्-तद् ब्रह्मेति भावय'*।—हम जो आँखसे देखते हैं, वह ब्रह्म है। जो कानसे सुनते हैं, वह ब्रह्म है। ऐसा संयम रखो कि सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्मकी अनुभूति हो। असलमें विषय बाहरसे नहीं आते, ये सब मनमें भरे हुए हैं और आँखसे बाहर दीखते हैं और कानसे बाहर सुनायी पड़ते हैं। जितने भी विषय हैं, ये सब ऐन्द्रियिक हैं। नैयायिक भी मानते हैं कि पंचभूतके गुण हैं— विषय और वे इन्द्रियोंसे दिखायी पड़ते हैं। सांख्योंके मतमें इन्द्रियाँ हैं कारण, जो सूक्ष्म होनेके कारण तन्मात्रसे बनती हैं। इन्द्रियों और उनके स्थूल कार्यसे ही इन विषयोंका अनुभव होता है। *'अन्तरा विज्ञानमनसी'* (ब्रह्मसूत्र २.३.१५)—अधिकरणमें यह विचार किया गया है कि पचंभूतोंसे विषय पैदा होकर इन्द्रियोंमें आते हैं या इन्द्रियोंसे विषय पैदा होकर पचंभूतोंमें जाते हैं। गन्ध,

रस, रूप, स्पर्श, शब्द—ये विषयोंसे पैदा होकर इन्द्रियोंमें आते हैं या इन्द्रियोंसे पैदा होकर विषयोंमें जाते हैं ? बोले कि—यह विषय अनिर्वचनीय ही है; इसके झगड़ेमें कभी मत पड़ना। यह जो कार्य-कारण भाव है वह अदृश्य ही है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि आओ इन्द्रियोंका संयम कर लो। फिर सारे विषयोंका होम हो जायेगा इन्द्रियोंमें।

यदि तुम कहो कि हम दोपहरको पापड़ खा रहे थे और उसमें स्वाद आ रहा था। तो यह क्या हुआ ? यह हुआ कि 'जिह्वावच्छिन्न चैतन्य' 'पापड़ावच्छिन्न चैतन्य'से एक हो गया। असलमें '**संयमाग्निषु जुह्वति**'का अर्थ यह है कि पापड़ावच्छिन्न चैतन्य और रसनावच्छिन्न चैतन्य दो नहीं हैं। पापड़ और जिह्वाको एक कर लो और चैतन्य तो पहले ही है। बस, होम हो गया। होम ऐसे ही होता है। पापड़ और जीभ एक हैं भौतिक दृष्टिसे भी बिल्कुल एक हैं और उभयावच्छिन्न चैतन्य है, वह विवेक-दृष्टिसे एक है। अब क्या हुआ कि पापड़ और जीभ दोनोंको अधिष्ठान-चैतन्यमें हवन कर दो। बस, '**संयमाग्निषु जुह्वति**' हो गया। अब संयमकी आगमें न ये श्रोत्रादि इन्द्रियाँ हैं और न इनके विषय हैं। संयमकी दृष्टिसे देखो तो एकत्वमें ओर संयम-अग्निमें, माने कारणाग्निमें इनका हवन हो रहा है।

अरे यह और भी विचित्र है! आप यह मत समझना कि जबतक पण्डित न आये और आग, घी न-मिले तबतक होम नहीं होता है। वह सब तो माडल हैं, होमके नमूने हैं। होम तो असलमें यहाँ होता है। संन्यासी लोग होम करते हैं कि हम वाह्यग्निमें हवन नहीं करते, जठराग्निमें हवन करते हैं। हमें तो बचपनमें ही हमारे बाबाने भोजनके समय पञ्चाहुति देनेकी विधि बतायी थी। *'प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा'*। लो, हो गया हवन! हम लोग जो खाते-पीते हैं, उसको हम अपनेमें नहीं डालते हैं। तब कहाँ डालते हैं ? इन्द्रियोंकी जो अग्नि प्रज्वलित हो रही है, इसमें विषयोंका होम कर रहे हैं। '**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**।' (३.२८) इन्द्रियाँ विषयोंको खा रही हैं, हम न खानेवाले हैं और न खाये जानेवाले हैं। इस होमके लिए चन्दा-वन्दाकी। जरूरत नहीं पड़ती। इस यज्ञके लिए मन्त्रोंको बोलनेमें कुछ गलती हो जाय तो कुछ अपराध नहीं लगता। अगर ब्राह्मण न मिले तो उसकी कोई जरूरत ही नहीं है। जाने दो उसे। मन्त्र अशुद्ध हो, ब्राह्मण और सामग्री न मिले तब भी कोई बात नहीं। हमारे झोलेमें जो सामग्री आगयी, वही यज्ञीय वस्तु है। अग्नि और ब्राह्मण तो हमारे भीतर ही हैं।

सर्वाणीन्द्रिय-कर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ (२७)

देखो, शरीरमें जो प्राण-वायु है, वह आत्मिक है। यह शरीरमें रहकर अपना काम करता है—उदानन करता है, व्यदानन करता है, अपानन करता है समानन और प्राणन करता है। यही इसका कर्म है और इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करती हैं। इन सबको कहाँ ले जाना है—इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि **'आत्मसंयम-योगाग्नौ'**। जैसे घी डालकर अग्निको प्रज्वलित करते हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानसे ज्ञानाग्निको प्रदीप्त कर लीजिये। उसमें बाहरकी कोई वस्तु नहीं डालनी। शरीरके भीतर जो इन्द्रिय-कर्म और प्राण-कर्म हो रहे हैं, उन सब कर्मोंको उसमें हवन कर देना है। हवनका अर्थ होता है—स्वाहा। जैसे अग्निमें घीका स्वाहा होता है, वैसे ही सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका आत्माग्निमें स्वाहा होता है। इसीका नाम है यज्ञ।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ (२८)
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापनगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ (२९)

यज्ञमें जलने वाली जो चीजें हैं, इनका नाम द्रव्य है। द्रव्य माने जो द्रवित हो जाय, कार्य कारणमें लीन हो जाय। बर्फ पिघल गया तो बर्फका यज्ञ हो गया। क्या यज्ञ हुआ ? यह यज्ञ हुआ कि वह पानीमें मिल गया। यही उसका यज्ञ है। कंगन गल गया तो कंगनका होम हो गया। कहाँ होम हुआ ? सोनेमें होम हो गया। घड़ेका मिट्टीमें होम हो गया। इस तरह विभूतिका योगमें लीन हो जाना होम है। आभूषण विभूति है और सोना योग है। बर्फ विभूति है और पानी योग है। हमलोगोंका जो शरीर है यह विभूति है और पञ्चभूत योग है। कार्यका कारणमें लय चिन्तन ही वास्तवमें यज्ञ है। कोई द्रव्यका यज्ञ करते हैं और कोई तपस्यासे यज्ञ करते हैं। दानादि द्वारा यज्ञ सम्पादन करना द्रव्य यज्ञ हो गया और तपस्याका यज्ञ सम्पादन करना तप यज्ञ हो गया। और हम खायेंगे, यह भी यज्ञ हो गया। भगवान्‌ने कहा है कि दो तरहके यज्ञ होते हैं। उसमें जो द्रव्ययज्ञ होता है, उसको भगवान् खाते हैं क्योंकि वह तत्-पदार्थ-प्रधान यज्ञ होता है। और जो तप यज्ञ होता है, वह आत्म-प्रधान यज्ञ होता है। आत्माके रूपमें भी वही और परमात्माके रूपमें भी वही।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वभूतमहेश्वरम्। (५.२१)

यज्ञके भोक्ता हैं। भगवान्। कैसे यज्ञके ? एक सबको खिला दिया तो यज्ञ हो गया और दूसरा स्वयं नहीं खाया तो यज्ञ हो गया। भगवान् दोनोंसे पसन्न होंगे। दूसरेको खिलाकर खुद नहीं खाना भी यज्ञ है और भीतर जो भगवान् ही बैठे हैं उनको खिलाना भी यज्ञ है। हम अपने मुँहमें जो ग्रास दे रहे हैं, यह भी यज्ञ है

हमारा। हाथसे रोटी-दाल उठाना स्रुवा है और हम जो उसे मुँहमें डाल रहे हैं वहाँ भगवान् ही तो बैठे हैं। यह मत समझो कि हम कौरको अपने मुँहमें डाल रहे हैं, यह देखो कि हमारे भीतर जो नन्हें-से बालगोपाल अथवा बालक राम बैठे हैं उनको खिला रहे हैं। भगवान् हमसे छोटे हैं, यह हमने नाप कर देखा है। जब वे हमारे कलेजेकी छोटी-सी जगहमें अँट जाते हैं, *'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः'* और हमारी जीभकी नोंकपर नाचते हैं। *'जीह जसोमति हरि हलधरसे'*। तब वे हमसे छोटे नहीं तो और क्या हैं! लेकिन जो भगवान् बाहर होते हैं वे जरूर बड़े होते हैं। **योगयज्ञास्तथापरे।**

तो द्रव्यसे यज्ञ करना, तपसे यज्ञ करना। योगसे माने अभ्याससे यज्ञ करना और स्वाध्यायसे भी यज्ञ करना—'**स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च**।' ऐसा नहीं कि वस्तुसे ही यज्ञ होता है। जब जिह्वासे स्रुवापर *'गणानां त्वं गणपतिꣳहवामहे'*—यह आहुति रखकर विश्वान्तर्यामी भगवान्‌के लिये समर्पित करते हैं तब वह स्वाध्याय यज्ञ हो जाता है। यदि कहो कि क्या *'अग्निमीळे पुरोहितं'* के साथ-साथ कुछ द्रव्य-शाकल्य भी चाहिए ? नहीं, हम जो स्वाध्याय कर रहे हैं, उसीके द्वारा यज्ञ सम्पन्न हो जायेगा।

और '**ज्ञानयज्ञाश्च**' यदि प्रदीप्त ज्ञान-सत्ताका कारण है तो सत्ताका उसमें हवन करना पड़ेगा। क्योंकि एक चिन्मात्र वस्तु ही सर्वकारण-कारण है। यह यज्ञ कौन लोग करते हैं ? ऐरे-गैरों नत्थू-खैरोंके करनेका यह यज्ञ नहीं है। जो यति हैं, प्रयत्नशील हैं और ईमानदार हैं—वे ही इसे करते हैं। **संशितव्रताः**—संशित शब्दका अर्थ है, शान धराया हुआ। ऐसा व्रत जिनका है, वे हैं संशित व्रत। पहले तालव्य शकार हो फिर दन्त्य सकार हो, वह होता है प्रसंशित। और जब पहले दन्त्य सकार हो तथा बादमें तालव्य शकार होता है तो वह होता है संशित। संशित-व्रत माने उज्ज्वल व्रत, '**संशितव्रताः**' माने *उज्ज्वलव्रताः, 'निर्मलीकृतव्रताः'*। संशित व्रतका अर्थ प्रशस्त व्रत नहीं है, उज्ज्वल व्रत; इसका अर्थ है। जिनका व्रत बड़ा चमकदार है, वासना आदिकी कोई मैल नहीं लगी हुई है, वे यतिलोग यह यज्ञ करते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ (३१)

जैसा पहले कहा जा चुका है, यज्ञ बारह है और '**ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः**' यह तेरहवाँ यज्ञ है। कोई रेचक करते हैं, कोई पूरक करते हैं और कोई पूरक-रेचक दोनोंका अवरोध करके बाह्य कुम्भक अथवा अन्तःकुम्भक करते हैं। योगदर्शनमें

इन चार प्रकारके प्राणायामोंका ही वर्णन है। और सब जो कसरत करते हैं वे बादके ग्रन्थोंमें हैं। मैंने 'हठयोग-प्रदीपिका' पढ़ी है, 'वृहद्‌योगी याज्ञवल्क्य' पढ़ा है, 'हठयोग-संहिता' पढ़ी है। लेकिन पतञ्जलिने केवल चार प्रकारके ही प्राणायाम बताये हैं—पूरक, रेचक, कुम्भक; उन्होंने कुम्भकके दो भेद कर दिये हैं—अन्तःकुम्भक और बाह्य कुम्भक।

आपने प्राणापानकी गतिको बाहर रोक दिया तो बाह्य कुम्भक हो गया और भीतर रोक दिया तो अन्तःकुम्भक हो गया। उनको बाहर निकालने लगे तो रेचक हो गया और इकट्ठा करने लगे तो पूरक हो गया। इन प्राणायामोंको सुन-सुनाकर नहीं करना चाहिए। जिनको किसी विश्वविद्यालयसे डिग्री मिली हो उनके कहनेसे भी नहीं करना चाहिए। आजकल तो योगीराजकी डिग्री अभी किसी युनिवर्सिटीसे नहीं मिलती है, जो मूर्ख चेले होते हैं और योगके बारेमें कुछ नहीं जानते हैं, वे इकट्ठे होकर या संस्था बनाकर उन्हें योगिराजका खिताब दे देते हैं। कई संस्थाएँ तो ऐसी हैं जो रुपये लेकर बड़े-बड़े सुनहले अक्षरोंमें छपी हुई, धर्मधुरन्धर; धर्मधुरीण, धर्मालङ्कार आदिकी उपाधियाँ प्रदान करती हैं। आप हजार पाँच सौ रुपये दे दो, इन्हें, ये आपको कोई भी उपाधि दिला देंगे। लेकिन ये जो डिग्रीवाले योगिराज होते हैं, उनकी बात आप मत मानना, क्योंकि—

देखा देखी करे योग, छीजे काया बाढ़े रोग।

इसलिए देखा-देखी योग नहीं करना चाहिए। बल्कि जो योगके ठीक जानकार हैं उनसे सीखकर योग करना चाहिए। किताबमें पढ़ा हुआ योग हानि पहुँचा सकता है, लाभ नहीं पहुँचा सकता। यदि कोई योग सिखाने लगे तो उससे यह मत कहना कि हाँ, मैं अब समझ गया। बल्कि उससे यह कहना कि आप करके दिखा दीजिये। पहले हम देख लेंगे, फिर करेंगे। योगका अनुकरण होता है। योगकी शिक्षा नहीं होती है।

भगवान्‌ने कहा है कि '**अपरे नियताहाराः**'—माने दूसरे लोग आहारको निश्चित करके यज्ञ करते हैं। नियत आहार; खानपानका संयम भी यज्ञमें बड़ा आवश्यक है। आजकल तो राजनीतिक क्षेत्रोंकी तरह आध्यात्मिक और योगके क्षेत्रमें भी नारेबाजी चल रही है। लेकिन नारेबाजीके चक्करमें नहीं आना चाहिए, आहार-विहार नियत करके यज्ञ करना चाहिए। भगवान्‌ने गीताके छठवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें कहा है कि—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

यदि युक्ताहार-विहार न हो और कर्ममें युक्त चेष्टा न हो तो वह योग दुःखहाके स्थानपर सुखःहा हो जाता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ (३१)

आप जानते होंगे और आपका ध्यान, उपनिषदोंके इस वचनपर गया होगा— *'एवं उपासते', 'य एवं वेद'*। ये दोनों बातें एक साथ आती हैं जो ऐसी उपसाना करता है और जो ऐसा जानता है, उन दोनोंको एक ही फल मिलता है। इसका अर्थ आप समझिये! जहाँ ज्ञानमात्रसे फलोपलब्धि होती है, वहाँ उपसानाका आयास व्यर्थ हो जाता है। छह महीने उपासना करनेपर वही फल मिलता है और एक मिनटमें समझ लेनेपर वही फल मिलता है। उपासना मनको गाढ़ बनाती है, दृढ़ बनाती है और ज्ञान बुद्धिमें बैठ जाता है। यदि किसीको यह बताया जाय कि लाख रुपया खर्च करके यज्ञ करनेपर जो फल मिलेगा, बुद्धिके द्वारा यज्ञको ठीक-ठीक समझ लेनेपर भी उसी फलकी प्राप्ति हो जायेगी, तो वहाँ वक्ताका यह अभिप्राय नहीं है कि आप लाख रुपया खर्च करके यज्ञ मत कीजिये, बल्कि यह अभिप्राय है कि आप यज्ञको ठीक-ठीक समझ लीजिये। उपनिषद् ज्ञान-प्रधान होते हैं, कर्म-प्रधान नहीं होते। निरन्तर सत्कार-भावसे संसेवित दीर्घकालीन उपासनाका जो फल है, वही फल उपासक-उपास्य उपासनाके वास्तविक स्वरूपके ज्ञानका भी है। यही उपनिषद्का अभिप्राय है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातम्।

इसका अर्थ क्या है ? यज्ञका जो शिष्ट है, वह अमृत है। यदि यज्ञ करनेके बाद आपको थकान आजाय और मनमें यह आये कि हाय-हाय हम कहाँ इस झगड़ेमें पड़ गये! उधर पण्डितजी नाराज हुए जारहे हैं; इधर विधि-विधानमें बाधा पड़ रही है, तो आपकी इस थकानसे, आपके इस उद्वेगसे यज्ञ करनेका फल तमोगुण ही मिलेगा और वह यज्ञ ठीक नहीं होगा। लेकिन यदि यज्ञ हो जानेपर आपको ऐसा अमृतास्वादन होता है कि आप धन्य हो गये, एक बन्धनसे छूट गये, मृत्युके झगड़ेसे मुक्त हो गये तो समझना चाहिए कि यज्ञ सफल हो गया और सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी।

लेकिन बाबा खिलाकर नहीं खाओगे, यज्ञ नहीं करोगे तो क्या होगा? **'नायं लोकोस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'**। बेटा तुमसे नाराज, पत्नी तुमसे नाराज। मनुजी ने तो कहा है कि—*'कुर्याद् भृत्यानपीडयन्'*। जब कभी यज्ञ करना हो तो अपने नौकरको कोई तकलीफ नहीं पहुँचे, इसका ख्याल रखना। यदि नौकरको

तकलीफ पहुँचेगी तो देवता सन्तुष्ट नहीं होंगे। क्योंकि नौकरकी इन्द्रियोंमें उसके अन्तःकरणमें भी तो वही बैठा है। मनुजीने यह भी लिखा है कि, कम-से-कम तीन वर्षोंतक आपने कुटुम्बको कोई कष्ट न हो तभी यज्ञ करना चाहिए। यह नहीं कि यज्ञ तो कर दिया और अपना कुटुम्ब पीड़ाग्रस्त हो गया। इसलिए यज्ञ करना हो तो उसके पहले तीन वर्षों तकके लिए कुटुम्बके भरण-पोषणकी व्यवस्था कर लेनी चाहिए और फिर जो बचता हो; उससे यज्ञ करना चाहिए। वह भी शुक्ल धनसे। शुक्ल धन माने सफेद धन। काला धन नहीं। शास्त्रमें शुक्ल धनकी व्यवस्था है—

यदृच्छागतवित्तेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।

जो ईमानदारीकी कमाई हो, वही शुक्ल धन है और उसीसे यज्ञ करना चाहिए। जब बेईमानीकी कमाईसे यज्ञ होगा, तब उससे जो फल पैदा होगा, वह आसमानमें खड़ा होकर सोचने लगेगा कि मैं असलमें जिसका धन है उसके पास जाऊँ या जिसने यज्ञ किया है उसके पास जाऊँ? इस प्रकार यज्ञका फल दुविधामें पड़ जायेगा, तो वह न इधरका रहेगा और न उधरका रहेगा। बीच ही-में नष्ट हो जायेगा।

एक बात जरूर है। वह यह है कि जो धन सरकारी कानूनके अनुसार है, वही शुक्ल है—यह दावा हम नहीं कर सकते। क्योंकि सरकारी कानून बनानेवाले कोई मनु-याज्ञवल्क्य या वसिष्ठ-विश्वामित्र नहीं हैं। शास्त्रीय रीतिसे धनपर अपना हक होना चाहिए। हम कानूनको धर्म नहीं मानते। धर्म होता है अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए। दोनोंका विषय बिल्कुल अलग-अलग है। इसलिए जो धर्मानुसार धन है वही यज्ञका हेतु है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ (३२)

देखो, आत्मा निर्व्यापार है। आत्मा व्यापारी नहीं है यह लेन-देनका झगड़ा तो दुकानमें बैठकर ही करता है। यह तो स्वप्नवत् है। यह जब तैजस होकर बैठता है, तब लेन-देनका व्यापार करता है और जब विश्व होकर बैठता है तब पाप-पुण्य करता है। लेन-देनका व्यापार तैजसमें है। शान्ति प्राज्ञमें है और निर्द्वन्द्वता तुरीयमें है—*'तुरीयं त्रिषु संततम्'* (भागवत ११.२५.२०)। शान्त आत्माका नाम तुरीय नहीं है। जिसमें-से जगमग-जगमग, झिलमिल-झिलमिल, चमचम-चमचम, देश, काल वस्तु, जीवात्मा और ईश्वरकी रश्मियाँ निकल रही हैं, तथा वास्तवमें नहीं निकल रही हैं, इसका नाम तुरीय होता है। तो वेदमें बहुत सारे यज्ञोंका विस्तार है। वे सब कर्मजन्य हैं। **'कर्मजान्'** माने कायिक, वाचिक, मानसिक व्यापारसे उनका जन्म

होता है। आत्मा निर्व्यापार है। *'अतस्त्वं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे न मद्व्यापारा इमे'*। ये सब यज्ञ-यागादि मेरे व्यापार नहीं हैं। *'निर्व्यापारोऽहम् उदासीन:'*—मैं निर्व्यापार उदासीन हूँ। *'इत्येवं ज्ञात्वा अस्मात् सम्यग्दर्शनात् मोक्ष्यसे संसार-बन्धनात्।'* यह सम्यक् दर्शन बना रहेगा तो संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाओगे। मैंने अभी संस्कृतकी जो पंक्ति पढ़ी है, वह शांकरभाष्यसे पढ़ी है। यह जो हमारे सामने पुस्तक है, इसमें शङ्कर, रामानुज, मध्वाचार, वल्लभी सबकी टीकाएँ हैं।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वंकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ (३३)

एक आदमी अपने घरमें था। उसको हो गया नशा। उसने कहा कि जल्दी मोटर ले आओ। क्या बात है? आप कहाँ जायेंगे? अरे भई! मोटर पर बैठेंगे और अपने घर जायेंगे। लोगोंने देखा कि यह तो अपने घरमें ही है और मोटर मँगानेकी जरूरत नहीं, इसका नशा उतारनेकी जरूरत है। नशा उतर जायेगा तो यह अपने आप समझ जायेगा कि हम अपने घरमें ही हैं। बस, यही है श्रेयान्। हम अपने सिरपर बोझ लेकर कहीं पहुँचनेके लिए जायँ तो यह द्रव्ययज्ञ हुआ और ज्ञान-यज्ञ यह हुआ कि जहाँ हम पहुँचना चाहते हैं, वहाँ तो पहले से ही पहुँचे हुए हैं। हम तो ब्रह्मके पास पहुँचनेके लिए सत्तू इकट्ठा कर रहे हैं कि छब्बीस दिनमें पहुँचेंगे, सत्तू खाते हुए जायेंगे। बहुत दिन पहले जब मेरी माँ वदरीनाथ गयी थीं तब छब्बीस दिन खानेका सत्तू ले गयी थीं। लेकिन जिसके अपने हृदयमें वदरीनाथ यहीं हैं, वह कहाँ जायेगा?

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्राम्यन्ति तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मोक्षो भवेत् प्रिये॥

वदरीनाथ, रामेश्वर, जगन्नाथ, द्वारकानाथ, अयोध्यानाथ, मथुरानाथ—ये सब तो नाथ हैं और वृनदावनमें नाथ नहीं, वृनदावन-बिहारी हैं। ये सब-के-सब अपने हृदयमें ही तो रहते हैं, आत्म-ज्योतिके प्रकाश हैं। द्रव्यमय यज्ञसे श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है, ज्ञान-यज्ञ। क्योंकि ज्ञानके बिना तो कुछ है ही नहीं।

एक दिन गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहीं घूम रहे थे तो घोड़ेपर चढ़े हुए दो बालक उनके सामनेसे निकले। दोनों ही बड़े सुन्दर, बड़े मधुर गौर-श्यामकी जोड़ी थी। वे दोनों तुलसीदासजीको बहुत अच्छे लगे, लेकिन उनके सामनेसे निकल गये। गोस्वामीजीने कहा कि हम तो भगवान्‌का दर्शन चाहते हैं। हनुमानजीने कहा कि तुमको दर्शन हो गये उनके! वे तुम्हारे सामनेसे ही तो गये हैं। भगवान् दर्शन दें और तुम उनको पहचानो ही नहीं तो दर्शनका क्या महत्त्व होगा?

इसके बाद भगवान् फिर आये जब, तुलसीदासने तब भी नहीं पहचाना तो हनुमानजी पेड़पर बैठकर बोले—

चित्रकूट के घाटपर भइ सन्तन की भीर।
तुलसीदास चन्दन घिसें तिलक करें रघुवीर॥

इसलिए पहचानो भाई, पहचानो! नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अद्वितीय, ब्रह्म आत्माके रूपमें स्वयं-प्रकाश है—*'नहि द्रष्टुर्दृष्टे विपरिलोपो विद्यते'* (बृहदारण्यक ४.३.२३)। परन्तु पहचानोगे ही नहीं तो क्या होगा? यदि कहो कि गुफाके भीतर घुसेंगे तब पहचान होगी और ऐसी शक्ल-सूरतमें आयेंगे तब पहचान होगी, तो तुम्हारी यह मान्यता ठीक नहीं। अरे बाबा! पहचान लो यह तो सारा झगड़ा मिट जाय।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

इसको समझनेके लिए दो विभाग कर दो। सर्वम् और अखिलम् ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। सारे कर्म पूर्णरूपसे समाप्त हो जाते हैं। समाप्तिकी पूर्णताके लिए अखिल है और कर्मकी सर्वरूपताके लिए सर्व है। कर्म चाहे किसी भी रूपका क्यों न हो—पाप हो, पुण्य हो वैकुण्ठ-प्रापक हो, समाधिजनक हो, प्रवृत्ति-कर्म हो, निवृत्ति-कर्म हो, राग-कर्म हो और वैराग्य-कर्म हो- इन कर्मोंकी चाहे कोई भी किस्म हो। कर्मकी किस्मका बोधक है 'सर्व' शब्द और जब परिसमाप्ति हुई तब पूर्णरूपसे समाप्ति हो गयी। समाप्तिकी पूर्णताका बोधक है अखिल शब्द। समाप्ति हो जानेपर कर्मोंके अंकुर नहीं फूटते—न तो संस्कार-सहित, न अभिमान-सहित और न भ्रान्ति-सहित। क्योंकि ज्ञानमें जाकर न कर्म रहता है, न उसका संस्कार रहता है और न उसकी भ्रान्ति रहती है। सब-के-सब कर्म पूर्णरूपसे समाप्त हो जाते हैं। वे न सुख-दुःख देते हैं और न नरक-स्वर्गमें ले जाते हैं। वहाँ न कोई बहिर्मुख, अन्तर्मुख करता है और न उसमें कोई प्रतीक्षा करनी पड़ती है। प्रतीक्षा होनेपर काल-सम्बन्ध होता है, अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता—वैकुण्ठादिका सम्बन्ध होनेपर देश-सम्बन्ध रहता है, सुखाकार-दुःखाकारता आदि होनेपर वृत्ति-सम्बन्ध रहता है और विषयोंका तो नाम ही छोड़ो। सब कर्मोंकी परिसमाप्ति ज्ञानमें होती है।

श्रीमध्वाचार्य कहते हैं कि *'उपासनाङ्गयुक्तम् इति'* ज्ञान होनेपर उपासनाके सारे अङ्ग समाप्त हो जाते हैं। क्रियानुरूप, उपासनानुरूप जितने कर्म हैं, वे सब समाप्त हो जाते हैं, माने विलीन हो जाते हैं, बाधित हो जाते हैं और उनका बीजत्व ही भस्म हो जाता है। **'ज्ञाने परिसमाप्यते'**—इसका अर्थ है कि साधन और साध्य दोनोंका भेद मिट जाता है। उस ज्ञानसे बड़ा और क्या है? जहाँ सुख नहीं, दुःख नहीं, नरक नहीं, स्वर्ग नहीं, समाधि नहीं और विक्षेप नहीं। यह ज्ञान तो सबसे भारी सिद्ध हो गया न!

अब देखो, यह ज्ञान मिलेगा कहाँ? अरे मिलेगा तो यहीं मिलेगा! मरनेके बाद मिलेगा, यह बात छोड़ो। कई लोग जो कहते हैं कि महर्लोकमें, जनलोकमें, तपलोकमें रहनेवाला गुरु कभी आकर दे जायेंगे, तो उनका यह कथन चेला बनानेकी एक पद्धति है। जिसके मनमें इस धरतीपर कोई गुरु ही नहीं है, वह खुद इस धरतीपर रहकर ज्ञानी बनना चाहता है। जिसको इस धरतीपर कोई ज्ञानी नहीं मिला, वह अपने बारेमें कैसे सोचता है कि हम इस धरतीपर रहकर ज्ञानी बन जायेंगे? जिसको इतना अभिमान अपनी विद्याका, बुद्धिका है कि उसको सिखानेवाला ही नहीं है, उसके बारेमें क्या कहा जाय? अरे बाबा, जरा अभिमान छोड़ो और फिर विचार करो इस विषयपर!

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (१४)

देखो, अपने अभिमानको छोड़कर, मानको छोड़कर नामको पकड़ो। मानका उल्टा होता है नाम—न+अ+म—नाम और म+अ+न—मान। इसलिए मानको छोड़कर प्रणामको पकड़ो। जो यह कहते हैं कि *'क्या हम तुम तें कछु घाट हैं'* क्या हम तुमसे कुछ कम हैं? उनको कभी ज्ञान नहीं होता। अभी रातकी ही बात है, मैं किसी सज्जनसे बात कर रहा था; कि यदि तुम्हारी बुद्धि भौतिकताकी ओर जायेगी तो तुमको जड़त्वके सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा! जड़वादी हो जाओगे तुम। यदि तुम बुद्धिसे बहुत तर्क-वितर्क करोगे तो शून्यवादी हो जाओगे, बौद्ध हो जाओगे। यदि बुद्धिके साथ थोड़ी-सी श्रद्धा मिला लोगे तो ईश्वरवादी हो जाओगे। यदि अनुभवपर दृष्टि डालोगे तो अबाधित ब्रह्मत्व निरावरण हो जायेगा। अनुभव-प्रधान ब्रह्मत्व है। श्रद्धा-बुद्धि-प्रधान ईश्वर है। केवल बुद्धि-प्रधान शून्य है और केवल ऐन्द्रियक, यान्त्रिक ज्ञानका नाम जड़वाद है। अब आपकी जहाँ मौज हो वहाँ जाइये। यदि प्रत्यक् चैतन्याभिन्न-ब्रह्मत्वको उपलब्ध करना है तो अपने अनुभवका विश्लेषण करना पड़ेगा। *'अनुभवपर्यवसाना हि अगवतिः'*—जितना ज्ञान है वह अनुभवमें जाकर ही परिसमाप्त होता है। इसके लिए आचार्यके पास जाइये और बोलिये कि महाराज, मैं भवसागरमें डूब रहा हूँ, आपके चरणोंमें आया हूँ, आप मेरा उद्धार कीजिये। अभिमान छोड़कर जाइये। यहाँ निपात शब्द है। जैसे गेंदको धरतीपर पटकनेके बाद वह ऊपरको उछलता है, है वैसे ही जो गुरुके चरणोंमें अपनेको पटकता है, वही ऊपर उछलता है।

यहाँ तो लोग हड्डी-मांस-चामका सिर ऊँचा उठाये हुए घूम रहे हैं और कहते हैं कि हमको ज्ञान हो जाय। ज्ञानकी गंगा हिमालयसे नीचेकी ओर उतर रही है और

आप अपने सिरको हिमालय बनाते जा रहे हैं ? अरे, यह मत सोचिये कि हम इनसे पूछेंगे तो ये हमें मूर्ख समझ लेंगे और हमारे प्रश्नोंमें कोई गलती निकाल देंगे। अगर आप प्रश्न नहीं करेंगे तो आपकी जिज्ञासामें कितनी तीव्रता है इसका पता कैसे चलेगा ? इसलिए आप चुप मत बैठिये तबतक, जबतक आपको तत्त्वज्ञान न हो जाय। उसके लिए आप हाथ-पाँव पटकिये, छटपटाइये, रोइये, व्याकुल होइये। यदि कहो कि नहीं, हम चुप होकर बैठेंगे तो हमारे भीतर भरा हुआ जो ज्ञान है वह निकल आयेगा। लेकिन अगर तुम्हारे भीतर ज्ञान भरा हुआ होता तो, क्या तुम अबतक मुक्त न हो गये होते ? क्या तुम्हारा वह ज्ञान संस्कारके रूपमें कहीं दबा हुआ बैठा रहता ? नहीं, ब्रह्मज्ञानका संस्कार नहीं होता। वह न संस्कारजन्य है और न संस्कारजनक है। संस्कार-जननके लिए चाहिए अनुभव। लेकिन वह अनुभव यदि ब्रह्मज्ञानका हो जाय तो संस्कर्ता, संस्कार और संस्कार्य तीनों भस्म हो जायेंगे।

यदि तुमने एक-दो बार पूछकर देख लिया और ज्ञान नहीं हुआ। निराशाकी बात, नहीं। गुरुकी तो सेवा करो, '**परिप्रश्नेन सेवया**।' यदि तुम सेवा करते रहोगे तो—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

तत्त्वदर्शी तुम्हें ज्ञानका उपदेश करेंगे और एक-न-एक दिन तुम्हें ज्ञान हो जायेगा।

एक बात और है। भगवान् कहते हैं कि—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ (३५)

हे पाण्डव! इस सम्बोधनका अर्थ क्या है ? *'पाण्डुर् धवलः'* सफेदको पाण्डु बोलते हैं। गोरेका नाम पाण्डु होता है। इसलिए गोरा जो अन्तःकरण है, उसका नाम है पाण्डु और वह जब आकार धारण करके आया, साकार होकर आया, उसका नाम हुआ पाण्डव। मतलब भगवान्‌का मत है कि उज्ज्वल अन्तःकरणकी, धवल अन्तःकरणकी अभिव्यक्ति हो तुम अर्जुन! ज्ञानकी पहचान यह है, कि जैसा मोह इस समय तुमको हुआ है, ऐसा मोह फिर-फिर कभी ज्ञान हो जानेपर नहीं होगा। मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं नारकीय, मैं स्वर्गीय, मैं परिच्छिन्न, मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं संसारी, मैं जीव—इत्याकारक मोह कभी नहीं होगा। एक बार ब्रह्माजी किसी जीवके पास आये और बोले कि देखो; तुम मेरे बनाये हुए जीव हो। मैंने पुर्जे जोड़-जोड़कर तुम्हें बनाया है। जीवने कहा कि बाबा, ले जाओ अपने पुर्जे-जोड़, ले जाओ हड्डी-मांस-चाम। मैं तुम्हारे जोड़े हुए पुर्जे नहीं हूँ। मैं वह चिदाकश हूँ जिसमें तुम फुर रहे हो। जिस अधिष्ठानमें और जिस प्रकाशमें तुम फुर

रहे हो वह चिदाकाश मैं हूँ। इसलिए तुमने मुझे नहीं बनाया है। मेरे चिदाकाशमें तुम तिरमिरेकी तरह, इन्द्र धनुषकी तरह लाल-पीले चमक रहे हो। अरे, भाई! ब्रह्माजी न सही, स्वयं गुरुजी कहें कि मेरे चेले, अभी तू ब्रह्म नहीं है, जीव है तो कहो कि महाराज, आप रहने दीजिये, मैं इससे विचलित होनेवाला नहीं। अब तो जो आप हैं, वही मैं हूँ।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते। ६.२२

यहाँ '**गुरुणापि विचाल्यते**' का अर्थ है *'वृहस्पतिनापि विचाल्यते।'* ज्ञानीको वृहस्पति भी विचलित नहीं कर सकते। गुरुजी भी विचलित नहीं कर सकते। क्योंकि यह साक्षात् अपरोक्ष अनुभव है। इसको कोई काट नहीं सकता। स्वर्गमें लोग लाल कपड़ा पहनते हैं या पीला पहनते हैं या सफेद पहनते हैं या स्कार्ट पहनते हैं या धोती—इसके बारेमें लोग गलतफहमी पैदा कर सकते हैं—बहका सकते हैं क्योंकि स्वर्ग परोक्ष है। किन्तु जो साक्षात् अपरोक्ष, जिसको हम देख रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं, उसके सम्बन्धमें गुरुजी भी हमें नहीं बहका सकते। यहाँतक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी नहीं बहका सकते, यह ऐसी प्रत्यक्ष स्थिति है।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि। (३५)

इसका अर्थ अभिनव गुप्त इस तरह करते हैं कि—*'येन इमानि आत्मनि मयि अशेषेण द्रक्ष्यसि अथो इति निरर्थकं पादपूरणे'।* '**अथो**'-यह तो निरर्थक पादपूरण है। क्योंकि '**आत्मनि**' और '**मयि**' में सामान्याधिकरण है फिर इनके बीचमें यह '**अथो**' का पत्थर कहाँसे आगया? '**अशेषेण**' माने समग्ररूपसे, सम्पूर्ण भूतोंको अपने आपमें देखो, अपना आप परमात्मा ही है। उसे ब्रह्माभिन्न प्रत्यगात्मामें और प्रत्यागात्माभिन्न ब्रह्ममें देखो। यदि **अथो**का पार्थक्य ही करना हो तो *'आत्मनि त्वं-पदार्थे; पुनश्च त्वंपदार्थः।' अशेषं=शेषरहितं यथा स्यात् तथा।* किञ्चित् भी शेष इसमें मत रखना कि जगत् और परब्रह्म परमात्माके बीचमें कोई अज्ञान है, माया है, कारण है, छाया है। मैंने अवधूत गीतामें पढ़ा था कि *'माया कथं तात छाया छाया न विद्यते।'* (१.४३) मतलब यह है कि माया-माया क्या कर रहे हो? मायाकी तो परछाँई भी नहीं है परमात्मामें। और जब माया छाया ही नहीं तो ये भूत कहाँसे आयेंगे? जब भूत ही नहीं होंगे तो व्यष्टि भूतके शरीरसे ईश्वर और जीवकी उपाधि कैसे रहेगी और उपाधि नहीं रहेगी तो भेद कहाँसे आयेगा?

अरे कहो कि महाराज, आप तो ब्रह्मज्ञानका उपदेश कर रहे हैं। यह तो बड़े-बड़े पुण्यात्माओंके लिए; शुद्धान्तःकरणवालोंके लिए है। बात ठीक है लेकिन

सच्चाईके बारेमें कुछ लोगोंका ख्याल है कि जो बात गंगाके किनारे बैठकर कही गयी हो, पवित्र स्थानपर कही गयी हो तो वही सच्ची होगी। अरे बाबा, बात सच्ची होनी चाहिए, वह चाहे गंगाके किनारे कही जाय, चाहे जूआघरमें कही जाय। हमें सच्चाईसे मतलब है कि गंगा किनारे और जूआघरसे मतलब है! यदि वह सत्य है तो कहाँ कही गयी, इससे कोई मतलब नहीं। इससे भी कोई मतलब नहीं कि कब कही गयी? चार दिन पहले कही गयी या चार दिन पीछे कही गयी? यदि सत्य है तो चार दिन पहले कही गयी भी ठीक अथवा चार दिन बाद कही गयी तो भी ठीक। सत्यको देशकी अपेक्षा नहीं है, कालकी अपेक्षा नहीं है। यह प्रश्न भी नहीं है कि बच्चेने कही कि बूढ़ेने कहा। बूढ़ा कहे तो सच और बच्चा कहे तो झूठ? नहीं-नहीं यह जाँच करो कि जो बात कही गयी वह सच है कि नहीं?

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।

इसलिए बच्चे और बूढ़ेकी कोई बात नहीं है। मनुस्मृतिमें तो एक श्लोक आता है।

अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि। (२.२३८)

इसपर मेधातिथिने जो अर्थ किया है वह यह है। उनके अनुसार यहाँ अन्त्य शब्दका अर्थ अन्त्यज तो है, लेकिन जैसे किसी नदीमें नहाना हो, कहीं रातको जंगलमें सोना हो और वहाँ कोई अन्त्यज भी आकर कह दे कि यहाँ मगर रहता है, मत नहाओ और यहाँ साँप निकलता है, रातमें मत सोओ, तो उसकी इस बातको परम धर्म मानकर स्वीकार कर लेना चाहिए। लेकिन मेधातिथिके बाद कुल्लूक भट्टने टीका लिखी है और वह आजकल सर्वापेक्षा अधिक प्रामाणिक टीका मानी जाती है। मेधातिथिका खण्डन करते हुए उन्होंने कहा है—नहीं-नहीं '*परं धर्मम्*'का अर्थ तत्त्वज्ञान है। यदि अन्त्यजके मुखसे भी तत्त्वज्ञानकी बात सुननेको मिले तो ग्रहण कर लेना चाहिए। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि भला अन्त्यजको कैसे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ होगा? इसका उत्तर है कि पूर्वजन्ममें उसको ब्रह्मज्ञान हो गया था। इस जन्ममें प्रतिबन्ध-विशेषके कारण वह अन्त्यज हुआ है। इसलिए ब्रह्मज्ञान यदि उस अन्त्यज शरीरसे मिले, तब भी उसे प्राप्त कर लेना चाहिए। अरे, तुम्हें ब्रह्मज्ञान चाहिए कि दुकानदारसे कुछ लेना-देना है! तुम जो माल चाहते हो वह जिस दुकानसे मिले उससे खरीद लो, तुम्हें कोई बेटी थोड़े ही ब्याहनी है।

तो यह सब मत देखो भाई! बोले कि नहीं महाराज, हम तो बड़े पापी हैं, ब्रह्मज्ञानके अधिकारी नहीं हैं। ठीक है, ज्ञानके अधिकारी नहीं हो तो क्या? लेकिन सचको सच तो समझो। इस पचड़ेमें मत पड़ो कि हम स्त्री हैं या हम चाण्डाल हैं या

हम पापी हैं या हम परदेशी हैं या हम नरकसे निकलकर आरहे हैं। तुम्हें तो अन्त:करणकी शुद्धि चाहिए। वह चाहोगे तो हो जायेगी? उसके लिए कोई समय निर्धारित नहीं है। हम इस बातकी चुनौती देते हैं। कोई किसी वेदान्त-ग्रन्थमें यह बात निकालकर बता दे कि कितने वर्ष या कितने महीने या कितने घण्टे या कितने मिनट पहलेसे अन्त:करण शुद्ध हो तो तत्त्वज्ञान होता है। यहाँ तो वृत्तिज्ञानके उदयके व्यवहित पूर्व-क्षणमें अन्त:करण शुद्ध होना चाहिए। देखो, भगवान् क्या कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ (३६)

असम्भावना, विपर्यय भावना और विपरीत भावना छोड़ो! दुनियाके पापियोंमें-से कुछको छाँट लो कि उनमें-से तीन बड़े-बड़े पापी निकलें। एक पहले नम्बरका, दूसरा दूसरे नम्बरका, तीसरा तीसरे नम्बरका। दुनियामें सबसे बड़े तीन पापी निकलें और उन तीन पापियोंमें पहले नम्बरका पापकृत्, दूसरे नम्बरका पापकृत्तर और तीसरे नम्बरका पापकृत्तम। पापकृत्तम माने जिससे बड़ा पापी दुनियामें और कोई नहीं है और वही आज हमारे सामने जिज्ञासुके रूपमें आया है। उसको क्या हम मना कर दें कि तुम ज्ञानकी नावपर मत चढ़ो। पहले बारह वर्षोंका प्रायश्चित करके आओ; इस द्वादश वार्षिक प्रायश्चितमें धरतीपर सोओ, हाथमें कुशमुष्ठी रक्खो, भिक्षा माँगकर खाओ, सबसे कहते फिरो कि मैं ऐसा पापी हूँ,मैं यह पाप करके आया हूँ। कहीं वह बेचारा बारह वर्षोंके भीतर मर गया तो! तब पापी जरूर मर जायेगा लेकिन उसका पाप नहीं मरेगा। यदि उसको इसी समय तत्त्व-ज्ञान हो जाय तो वह सारे पापों तथा सारे नरकोंसे मुक्त हो जायेगा। इसलिए क्यों सत्यानाश कर रहे हो, उस बेचारेका?

'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव'—भगवान् कहते हैं कि हमारे ज्ञानका दरवाजा तुम्हारे लिए हमेशा खुला है। आओ हमारे ज्ञानके नौकापर, हमारे ज्ञानके बेड़ेपर चढ़ जाओ। यह प्लव है, प्लेन है, प्लवन है। प्लु धातु गत्यर्थक होती है। जैसे मेढ़क एक जगहसे उछलकर दूसरी जगह पहुँच जाता है, वैसे ही आओ। प्लवैनैव इसमें जो **'एव'** है, उसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है—*'कर्मोपासना-निरिपेक्षम्'*। बिना कर्म मार्गमें फँसे, बिना उपासना मार्गमें फँसे **'ज्ञानप्लवेनैव'**, केवल ज्ञानकी नावपर बैठ जाओ। बोले कि इससे हमारे पापोंका क्या होगा? यह होगा कि तुम **'सर्वं वृजिनं संतरिष्यसि'** सारे पापोंका संतरण कर जाओगे। तुम देखोगे कि देहमें पाप था, इन्द्रियमें पाप था, मनमें पाप था, बुद्धिमें पाप था। लेकिन शुद्ध, बुद्ध, मुक्त

आत्मामें तो पाप था ही नहीं, उसका संतरण हो गया। मैं जिस समय अपनेको पापी समझता था, उस समय भी पापी नहीं था और जिस समय अपनेको निष्पाप समझ रहा हूँ, उस समय भी निष्पाप हुआ नहीं हूँ। सर्वका अर्थ है कि पुण्य भी उसीमें है। दुनियामें जिसको पुण्य कहते हैं, वह भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व वासनापूर्वक करनेपर पाप ही हो जाता है। इसमें आश्चर्यकी बात नहीं—यह अधिकारीका वर्णन है।

'संतरिष्यसि'—अब बोले कि फिर कुछ बाकी नहीं रह जायगा। सब कुछ धुल जायगा। *'सम्यक् तरिष्यसि'*—संतरण होगा तो सम्यक् होगा। ऐसी है महिमा इस ज्ञानकी।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ (३७)

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन जैसे वायु आदिसे प्रदीप्त अग्नि, अथवा तैलादिसे प्रदीप्त अग्नि बड़े-बड़े ईंधनके ढेरको भस्सात् कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि इन पापों और पुण्योंके ढेरको जला देती है, इसलिए तुम डरो मत, यह ज्ञानधर्मका महान् आश्वासन है। जब ज्ञानकी अग्नि प्रज्वलित होगी तब कर्म कर्तृफल सहित नष्ट हो जायेंगे। प्रारब्ध-वाला जो अर्थ है वह रहने दो, माने जिससे शरीर आरब्ध हो गया है उसको छोड़ो! शरीरके आरब्धका अर्थ यह है कि जैसे लोहेसे, आल्म्युनियमसे, प्लास्टिकसे कोई माशीन बनाते हैं तो उसकी डिजाइन पहले सोच ली जाती है। यह डिजाइन हुई उसकी जाति, उसीका नाम आकृति है। वह मशीन कितनी गर्मी-सर्दी सह सकेगी—यह हुआ उसका सुख-दुःख और कितने चक्कर लगानेके बाद बेकार हो जायेगी—यह हुई उसकी आयु। इस प्रकार हम कोई मशीन बनाते समय निश्चय करते हैं कि वह कबतक काम करेगी, उसकी आयु क्या होगी? उसकी डिजाइन माने शक्ल-सूरत क्या होगी और वह कितने गर्मी-सर्दी सह सकेगी? इसी तरह जब यह मनुष्य शरीर आरब्ध हुआ तब उसकी शक्ल-सूरतसे ग्रहण होनेवाली, 'आकृतिग्रहणा' जाति निश्चित हुई। सुख-दुःखके वेगको सहन करनेकी कितनी सामर्थ्य माने यह कितनी डिग्री तक बुखार सह सकेगी, इसका निर्धारण हुआ। महाराज क्या बताऊँ? हमारे पास पहले एक साधु रहते थे, जो प्रतापगढ़ या जौनपुरकी ओरके थे। एक दिन बोले, 'महाराज! हमरे तो बुखरिया हो गयी!' कितना हुआ? यही दो सौ-ढाई सौ डिग्री तक। अरे भाई, एक सौ पाँच या छै डिग्री तक हो जाय, यही बहुत है। तुम्हारे दो सौ, ढाई सौ डिग्री बुखार कैसे होगया? बोले कि नहीं महाराज, डेढ़ सौ डिगरिया तक तो बुखरिया हमेशा रहती है। यह है न आश्चर्यकी बात! कहनेका मतलब यह है कि शरीरमें गर्मी-सर्दी सहनेका सामर्थ्य

निश्चित है कि यह कितने सुख-दु:खका वेग सह सकता है और कितने चक्कर लगा सकता है। माने इसका जो फूलना-पचकना होता है वह भी यह कितनी बार फूल-पचक सकता है और डिजाइन इसकी क्या है, इसीको बोलते हैं आरब्ध। आरब्ध कहता है कि ठीक है बाबा! शरीरमें जो आरब्ध है वह जबतक रहना हो तबतक रहे, लेकिन कर्म, कर्ता, कर्मफलकी जो त्रिपुटी है और जो अनादि कालसे अबतक संचित है, उसको यह ज्ञान तत्काल भस्म कर देता है।

इसलिए पाप-पुण्यके झगड़ेसे आज ही छूट जाओ, सुखी-दु:खीपनके अभिमानसे आज ही छूट जाओ। और नरक-स्वर्ग में जानेके झगड़ेसे आज ही छूट जाओ। तुम्हारा ईश्वर न तो पातालमें आधार-शक्ति कच्छप बनकर बैठा हुआ है और न बैकुण्ठमें। वैसे पातालमें भी है, बैकुण्ठमें भी है। लेकिन जब पहले यहाँ होगा तब न पाताल और बैकुण्ठमें उसकी सिद्धि होगी! यदि साक्षात् अपरोक्ष नहीं होगा तो बैकुण्ठ-पातालमें भी नहीं होगा। तब क्या सृष्टिके आदिमें है, अन्तमें है? हे भगवान्, ईश्वरको फेंक रहे हो आदिमें और अन्तमें? यह देखो कि इस समय कौन है? फिर सब अज्ञान भस्म हो जाता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विदन्ति॥ (३८)
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ (३९)

भगवान् कहते हैं कि ज्ञानके सदृश पवित्र और कुछ नहीं है। यह संस्कार-लेशको भी, अविद्या-लेशकी अशुद्धिको भी निकालकर फेंक देनेवाला है। यह जो

. Derivation of the Word Pavitra

संसार-वज्र है, अज्ञानवत् है। वह क्या है? पवि माने वज्र होता है और *'पवेः वज्रात् त्रायते इति पवित्रं'*—अज्ञानके वज्रसे रक्षा करनेवाले इस पवित्र ज्ञानके समान और कोई नहीं है।

एक बात और है—यहाँ **सदृश** शब्द है। इसका मतलब है कि ज्ञानमें आँख हैं और अन्य सब अन्धे हैं। यह सदृश पवित्र है। दूसरे अदृश अपवित्र हैं। उनमें पवित्रताका दर्शन नहीं होता, मान्यता होती है। इसमें पवित्रताका दर्शन होता है और अज्ञानका घोर वज्र जो कष्ट देता है, यह मिट जाता है।

'तत्स्वयं योगसंसिद्धः'—वह आत्मा ज्ञान-स्वरूप ही है। योगसंसिद्ध माने पहले कर्म-योग, उपासना-योग, अष्टांग-योगसे जब शुद्धान्तःकरण हो जाता है, तब यह ज्ञान केवल नेति-नेतिके निषेधसे ही प्राप्त हो जाता है, उसको किसी

दूसरेसे उधार लेनेकी जरूरत नहीं होती। अथवा '**कालेन योग-संसिद्धः**'—जब समयपर योग-सिद्ध होता है तब उसको उपलब्धि होती है।

पहले बताया था कि ज्ञानी लोग ज्ञानका उपदेश करते हैं, वे बड़े कृपालु होते हैं। जब कोई उनसे कहने लगता है कि हम बड़े दीन हैं, हीन हैं, दु:खी हैं तो कहते हैं कि अरे बाबा, तू तो ब्रह्म है, परमानन्दस्वरूप तुझे कैसा दु:खलेश? उनको तो यही बोलनेका अभ्यास है। वे तो कहते रहते हैं पर उनकी कही हुई बात लोग पकड़ते नहीं हैं।

'**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं**'—इसका अर्थ है कि हृदयमें श्रद्धा-सम्पत्ति होनी चाहिए। यह अन्तरङ्ग साधन है। '**तत्परः संयतेन्द्रियः**'—यह बहिरङ्ग साधन है। '**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम्**'—माने स्वरूपावस्थिति, ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है। और '**अचिरेण**'का अर्थ है *'तावदेव चिरं यावद् विमोक्ष्यसे अथ सम्पत्स्ये'* (छान्दोग्य ६.१४.२)। लेकिन *'तावदेव चिरं'* वाली चर्चा यहाँ मत करो। अचिरेण। यहाँ तो कृष्ण बोलनेवाले हैं इसलिए देर-वेर नहीं है—**अचिरेण**।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ (४०)
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥ (४१)

यदि कहो कि हम तो अज्ञानी हैं। क्या करें! अच्छा बाबा, माना कि कोई-कोई अज्ञानी पैदा होते हैं। लेकिन अज्ञानी हो तो श्रद्धा करो। बोले कि श्रद्धा भी तो सबके ऊपर नहीं होती। अच्छा, जिसपर होती हो उसपर करो! जब अज्ञान है तो श्रद्धा करनी ही पड़ेगी, तब काम बन जायेगा। यदि श्रद्धा न कर सको तो विचार करके संशयको मिटा लो। यदि तुम अज्ञानको मिटानेके लिए विचार करते नहीं और ज्ञानियोंकी बातपर श्रद्धा करते नहीं, तब क्या होगा? बड़ा बुरा होगा। '**विनश्यति**'—बस, विनाश ही तुम्हारे भाग्यमें लिखा है। संशयालु पुरुषको न इस लोकमें सुख है, न परलोकमें सुख है, उसको कहीं भी साक्षात् अपरोक्ष सुख नहीं है। इसलिए योगके द्वारा कर्मका संन्यास करो और ज्ञानके द्वारा संशयके कारणभूत अविद्याका नाश करो। ब्रह्मके रूपमें प्रत्यगात्माका साक्षात्कार हो जानेपर कर्म-बन्धनके हेतु नहीं होते।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ (४२)

यह जो तुम्हारे हृदयमें अज्ञान आगया है, वह संशयका पूर्वज है, संशयका बाप है? तो क्या बेटेको मारें। नहीं मत मारो, कोई बात नहीं। लेकिन अज्ञान-बापको जरा मार डालो। *'न रहेगा बाँस न बजेगी बंशी'*। ज्ञानकी तलवार उठाओ और आत्माके ब्रह्म होनेमें जो संशय है उसे काट डालो। कैसे काटें महाराज! बोले कि **'योगमातिष्ठ'**—जो तुम कर्ताके रूपमें कर सकते तो उसके पहले करके अन्तःकरण शुद्ध कर लो और फिर आस्था करो। **'योगमातिष्ठ'**—माने योगपर आस्था करके अन्तःकरण शुद्ध करो। फिर परमात्मासे मिल आओ। कैसे मिलें? मिलनेका उपाय? बस, बात यह है कि सोनेसे काम नहीं चलेगा और बैठनेसे भी काम नहीं चलेगा। इसलिए—*'उत्तिष्ठत जाग्रत् प्राप्य वरान्निबोधत'* (कठोप० १.३.१४)। उठो, जागो, बड़ोंके पास जाकर जानो।

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, यह रोनेका समय नहीं है, बैठनेका भी समय नहीं है—**'रथोपस्थ उपाविशत्'**(१.४६)। यह उपवेशनका समय नहीं है। इसलिए खड़े हो जाओ और देखो, ज्ञानकी तलवार हाथमें लेकर अज्ञानको मारना ही पड़ता है। देखो, जब परमार्थमें भी खड़े होना पड़ता है, ज्ञानकी तलवार हाथमें लेनी पड़ती है और उससे अज्ञानको मारना पड़ता है, तब कम-से-कम उस परमार्थकी प्राप्तिके लिए व्यवहारका एक नमूना तो खड़ा करो। बैठेसे खड़े हो जाओ, हाथमें तलवार उठाओ और शत्रुको मारनेके लिए टूट पड़ो। यह परमार्थका युद्ध है—परमार्थ-अपरमार्थका, ज्ञान-अज्ञानका युद्ध है। इसमें पीठ मत दिखाओ, विजय प्राप्त करो!

॥ इस प्रकार यह 'ज्ञान-कर्म-संन्यास योग' नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ॥



पाँचवाँ अध्याय

श्रीकृष्णका जन्मस्थान क्या है? ब्रह्मविद्‌का हृदय ही श्रीकृष्णका जन्मस्थान है। उसीमें वसुदेव हैं, उसीमें देवकी हैं, उसीमें नन्द हैं, उसीमें यशोदा हैं, उसीमें सर्व है और उसीमें सर्वज्ञ है। यदि किसीकी अज्ञान सत्ता स्वीकार करोगे तो अपने अज्ञानाश्रयत्वको मानना पड़ेगा। जो अज्ञात सत्ताको स्वीकार करेगा, उसे हम अज्ञानी हैं—यह स्वीकार करनेके लिए बाध्य होना पड़ेगा। चाहे ईश्वर हो, चाहे जगत् हो, अज्ञात सत्ताकी स्वीकृति अपने अज्ञानीत्वकी स्वीकृति है।

ये जो गीताजी हैं स्वयं प्रकाश ही हैं। ब्रह्मविद्याका ही एक नाम है गीता। *'उपनिषत्सु योगशास्त्रे'*—यह न महाभारतमें है और न किसी प्राचीन प्रामाणिक पाठमें है। यह तो साक्षात् ब्रह्मविद्या ही है। किसी भी आचार्यने इन पंक्तियोंकी व्याख्या ही नहीं की है। *'शतसाहस्त्र्यां संहितायां ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे उपनिषत्सु'*—इसकी व्याख्या भी किसी पूर्वाचार्यने नहीं की।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णका परम मित्र था। इसलिए वह उनसे खुले दिलसे बात करता था। उसकी मनःस्थिति थी कि अरे बाबा, दिलमें बात आगयी तो अपने मित्रसे क्या कपट। स्पष्टम्,स्पष्टम् बोल देना ही ठीक है। अर्जुनके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति इतना प्यार है कि उसने उनके नामके आगे न श्री लगाया,न श्रीमान् लगाया, न पूज्यपाद लगाया और न जगद्‌गुरु लगाया जब कि लोग लम्बे-से लम्बे विशेषण-विशिष्ट नामका उच्चारण करते हैं। अर्जुनने तो कोई भी विशेषण न लगाकर केवल 'कृष्ण' कहकर सम्बोधित किया। कृष्णका अर्थ आकर्षण भी होता है, कृष्णका अर्थ नित्य सत्ता भी होता है, कृष्णका अर्थ चुम्बक भी होता है, कृष्णका अर्थ काला भी होता है और कृष्णका अर्थ किसान तो है ही। उसने कहा—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ (१)

कृष्ण, तुम एक बार तो कर्मोंके संन्यासका निरूपण करते हो और फिर कर्मोंके योगका निरूपण करते हो। यहाँ जो '**शंससि**' शब्द है उसका अर्थ

प्रशंससि' नहीं होता है, निरूपण मात्र ही होता है। जबतक 'शंससि' के साथ 'प्र' उपसर्ग नहीं लगेगा तबतक 'प्रशंससि' नहीं बनेगा। इसलिए यहाँ शंसन करते हो माने कर्म-संन्यासका भी वर्णन करते हो और कर्मयोगका भी वर्णन करते हो। इसलिए '**यत् श्रेयः एतयोः एकम्**'—इन दोनोंमें-से जो श्रेयस्कर हो वह बताओ। यहाँ मानो श्रीकृष्णने कहा कि अरे बाबा, जब हम दोनोंका वर्णन कर रहे हैं तब समझो दोनों ही श्रेयस्कर हैं। अर्जुनने कहा कि—*'तत् सुनिश्चितम् श्रेयः मे = मह्यम् मदर्थं मदनुष्ठानाय सुनिश्चितम् ब्रूहि'*—मैं, किसका अनुष्ठान करूँ यह मेरे लिए बोलो। तुम सारी दुनियाको अपनी नजरमें रखकर बोल रहे हो। विरक्तोंके लिए भी, अनुरक्तोंके लिए भी। पता नहीं किस अधिकारीके लिए क्या बोल रहे हो। लेकिन मैं तो एक ही अधिकारी तुम्हारे सामने बैठा हूँ। इसलिए '**सुनिशिचतं श्रेयः ब्रूहि**' और '**सुनिश्चितम् ब्रूहि।**' यहाँ क्रिया-विशेषण भी है और श्रेयका विशेषण भी है। तात्पर्य यह है कि कभी तो कहते हो कि कर्ममें अकर्म देखना ही ठीक है! कभी कहते हो कि कर्मोच्छेद ही ठीक है, अभी कहते हो कि केवल शारीर कर्म ही करना चाहिए। कभी कहते हो कि कर्मोच्छेद ही ठीक है, कभी कहते हो यदृच्छा-लाभ-संतुष्ट रहना चाहिए। कभी कहते हो कि ब्रह्मार्पण होना चाहिए और कभी कहते हो कि कर्म-यज्ञ अच्छे नहीं होते, सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं, ज्ञानाग्नि सारे कर्मोंको दग्ध कर देती है। इससे तो मालूम पड़ता है कि तुम कर्मसंन्यासके बड़े पक्षपाती हो। फिर बोलते हो कि '**योगमातिष्ठोत्तिष्ठ**' योगपर आस्था करो, उठकर खड़े हो जाओ। इस प्रकार बाबा! तुम दोहरी बात क्यों बोलते हो। दोहरी बात तो तब बोली जाती है, जब सामनेवाले आदमीकी समझमें कुछ गड़बड़ पैदा करनी होती है। इसलिए यह क्या बोल रहे हो? मैं हूँ तुम्हारे सामने। जरा मेरी ओर देखकर बोलो और केवल मेरे लिए बोलो!

अब कहते हैं कि '**श्रीभगवानुवाच**' माने भगवान् बोले कि अच्छा अर्जुन, तुम्हारे लिए ही बोलते हैं। यह ठीक है कि यहाँ कर्मत्याग-कर्मसंन्यास और कर्मानुष्ठान— इन दोनोंमें दुविधा है। पहले बुद्धि और घोर-कर्ममें दुविधा थी। कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों बाह्य अनुष्ठेय है। भगवान्ने कहा कि भाई, प्राप्तव्य है निःश्रेयस। निःश्रेयस क्या है? जिसमें निरुत्तर निरतिशय श्रेयसे और जिसके बाद कोई श्रेय बाकी न रह जाय, वह है निःश्रेयस। निरतिशय माने जिससे बड़ा कोई न हो और निरुत्तर माने जिसके बाद कोई न हो, वही निःश्रेयस मुझको बताओ!

भगवान्ने कहा कि देखो कर्म तो दोनों निःश्रेयसका ही है—

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ (२)

देखो! यह एकदम साफ है, बिना दीयेके दिखायी पड़ता है कि यहाँ जिस संन्यास और कर्मयोगका वर्णन है, वे दोनों निःश्रेयसके साधन हैं। साधनविषयक निर्णय है यहाँ, साध्य-विषयक निर्णय नहीं है। साधन अनुभवीके लिए नहीं होता, अज्ञानीके लिए होता है, अनुभव हेतु होता है। इसमें-से कर्म-संन्यास साध्य है कि कर्मयोग साध्य है—यह प्रश्न नहीं है। निःश्रेयस रूप साध्यका साधन क्या है—यह प्रश्न है। प्रश्न है—साधन-विषयक। यहाँ जो '**निःश्रेयसकरौ**' है, इसमें निःश्रेयसके साथ जब *कृ-धातु* जुड़ी हो तो हेतुमें *प्रत्यय* होकर '**कराः**' बना। ये निःश्रेयसके हेतु हैं। निःश्रेयस प्राप्त नहीं हुआ है, निःश्रेयसकी प्राप्तिके साधन हैं। कौन? कर्मयोग भी और कर्मसंन्यास भी। दोनों हैं। अच्छा, कृष्ण! बताओ, हमारे लिए विशिष्ट क्या है? '**तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते**'—इन दोनोंमें कर्म संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट है? किन्तु तत्वज्ञ '**कृतात् कर्म-संन्यासात्**'—नहीं, '**अज्ञकृतात् कर्म-संन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते**'। बिल्कुल मूलमें एकदम यह बात स्पष्ट है, इसमें लड़ाई करनेकी कोई जरूरत ही नहीं है।

भगवान् कहते हैं कि—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (४)

योगी युक्त है और जो श्रद्धावान् मेरा भजन करता है वह युक्ततम है। यहाँ प्रश्न उठता है कि इस कथनमें भजन और भक्तकी प्रशंसा ही अभीष्ट है या कुछ और है? श्रद्धालुने भगवान्‌को तो देखा ही नहीं है। वह श्रद्धालु है, भजन करता है और केवल युक्त नहीं, युक्ततम है। वहाँ भजनकी प्रेरणाके लिए ही उसको युक्ततम कहा गया है। यहाँ वास्तवमें वह '**योगिनामपि सर्वेषाम्**' श्रेष्ठ हो, इसके लिए उसको युक्ततम नहीं कहा गया है। गीतामें यह कथन भी भगवान्‌का ही है कि—

श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।(१२.२०)
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।(१२.१३)

इसके एक ओर है भक्त और दूसरी ओर है '**तेऽतीव मे प्रियाः श्रद्दधाना मत्परमाः**' यह तो ऐसा ही है जैसे कोई बच्चेसे कहे कि शाबास बेटे, मैं तुम्हारे बड़े भाईसे तुम्हें ज्यादा प्यार करता हूँ। इसपर बच्चा बेचारा उत्साहित हो जायेगा। लेकिन हम यहाँ उस बापको नहीं जोड़ते हैं। गीताके बारहवें अध्यायमें भी इसी प्रकारकी बातें आयी हैं जैसे—'**मय्येव मन आधत्स्व**'—एक, '**अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्**'—दो, '**अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय**'—तीन, '**अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव**'—चार, '**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि**'—पाँच और '**अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।**'

'**सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु**'—यह क्या हुआ? सबके पीछे यही पड़ा न! एक नम्बर हो गया बुद्धि-मनका समर्पण, दूसरा हो गया अभ्यास, तीसरा हो गया मतर्थ कर्म, चौथा हुआ सर्वकर्म-फलत्याग और जब फल बताना हुआ तो बोले कि— '**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**'।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ (१२.१२)

इसमें जो चीज चौथे नम्बरकी थी, उसको पहले नम्बरपर पहुँचा दिया। बात यह है कि हमारा यह ग्वारिया बोलनेमें इतना निपुण है कि इसकी बात समझना बड़ा मुश्किल पड़ता है।

देखो, मैं जो यह ग्वारिया-ग्वारिया बोलता हूँ, इसके पीछे एक कहानी है। मेरे एक मित्र गोस्वामीजी हैं। उन्होंने एकबार मुझको अपने घर भोजन करनेके लिए बुलाया। ठाकुरजीको भोग लगाया, तुलसी डाली और उसके बाद वह थाली लाकर मेरे सामने रख दी। मैंने कहा कि गोस्वामीजी आपने अपने लिए प्रसाद नहीं लिया? वे बोले कि मैं तो इसका जूठा खाता ही नहीं। मैंने पूछा कि ऐसा क्यों? आप क्यों नहीं खाते? बोले कि कहाँ यह ग्वारिया और कहाँ मैं ब्राह्मण! फिर भला इसका जूठा कैसे खाऊँगा? मैं इसका जूठा खाकर अपनी जात नहीं बिगाड़ूँगा? इसके बाद मैंने एक महात्मासे पूछा कि ये गोस्वामीजी महाराज भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा क्यों करते हैं, उनको भोग लगाते हैं, तब भी ऐसा क्यों बोलते हैं? महात्मा बोले कि देखो, गोस्वामीजी मूर्तिको मूर्ति नहीं समझते, साक्षात् ग्वारिया समझते हैं और अपनेको ब्राह्मण मानते हैं। मूर्तिमें साक्षात् श्रीकृष्णका भाव है उनका!

तो बाबा, यह जो गीतावक्ता है, वह एक ग्वारिया है। उसके वचनपर ध्यान दो! '**तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**'—इन दोनोंमें तारतम्यका निश्चय करना हो कि कौन बड़ा है और कौन छोटा है अथवा दोनों ही समानरूपसे निःश्रेयसके साधन हैं, यह कैसे निश्चय किया जा सकेगा? वह तो छाती ठोंककर बोलता है कि कर्मयोग बड़ा है—'**कर्मयोगो विशिष्यते।**' इसपर बाबाजी लोगोंका मुँह जरा उदास हो सकता है। लेकिन इसमें उदास होनेकी कोई बात नहीं है। आप इस बातको ध्यानमें लोगे तो देखोगे कि एक मनुष्य संन्यास लेता है, किन्तु उसके मनमें कामना भरी है और दूसरा आदमी कर्म करता है पर उसके मनमें कामना नहीं है। इन दोनोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है? निश्चय ही जो निष्काम है वह श्रेष्ठ है क्योंकि निष्कामता अन्तरङ्ग है और कर्मानुष्ठान तथा कर्मत्यागपूर्वक कर्म-संन्यास हो तब तो वह श्रेष्ठ होगा और यदि निष्कामतापूर्वक कर्मानुष्ठान होगा तो वह भी श्रेष्ठ होगा। असलमें निष्कामता ही अन्तःकरणकी शुद्धि है।

अब देखो, हम वर्गीकरण करते हैं। एक मनुष्यके मनमें कामना है और वह कर्म छोड़ देता है। पहले उसीपर विचार कर लें। प्रश्न यह है कि वह कामनाको मिटाना चाहता है कि पूरी करना चाहता है? कर्म तो छोड़ दिया, परन्तु मनमें जो कामना है; उसको पूरी करना चाहता है कि मिटाना चाहता है? यदि मिटाना चाहता है तो कर्म-त्याग करनेपर भी मनमें कामना रहनेपर वह साधक है क्योंकि वह कामनाको मिटाना चाहता है। पर कामनाको मिटाना नहीं चाहता, पूरी करना चाहता है और कर्म-संन्यास कर लेता है तो कर्म-त्याग करनेपर भी वह मिथ्याचार हो जायेगा—'**मिथ्याचारः स उच्यते।**' क्योंकि वह अपनी कामना पूरी करना चाहता है। उसने पहलेसे निश्चय कर लिया है कि जब हम संन्यासी होंगे तब हमको इस मठकी महन्ती मिलेगी, इस गद्दीका आधिपत्य मिलेगा। ऐसा निश्चय करनेके बाद ही वह संन्यासी हुआ है। लेकिन वह संन्यासी कहाँ हुआ? उसने तो करोड़पति होनेके लिए संन्यास लिया है। उससे पहलेसे लिखा-पढ़ी हो गयी है कि जब तुम संन्यासी हो जाओगे, तब तुमको इस गद्दीका महन्त बना देंगे। इसलिए उसने कामनाकी पूर्तिके लिए जो संन्यास ग्रहण किया है, वह उसका मिथ्याचार है।

अब एकने कहा कि भाई, अभी तो मनमें कामनाएँ आती हैं। पर संन्यास ग्रहण कर लेंगे तो धीरे-धीरे मिट जायेंगी, हम उनको मिटा लेंगे। ऐसा जो व्यक्ति है, वह साधक है।

दूसरा आदमी कर्म करता है। कर्म तो है उसके जीवनमें। परन्तु कामना भी है। इस तरहके आदमियोंमें दो भेद हैं। यदि वह कामनाकी पूर्तिके लिए निषिद्ध कर्म करता है तो पामर है और यदि कामनाकी पूर्तिके निए विहित कर्म करता है तो विषयी है, संसारी है।

अब एक तीसरे व्यक्तिको देखो, जिसमें कर्म तो हैं, पर कामना नहीं है। तब तो वह साधक हो गया, बढ़िया साधक हो गया। यह बात तीसरे अध्यायके सातवें श्लोक में आ चुकी है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

इसमें '**स विशिष्यते**' है और यहाँ '**कर्मयोगो विशिष्यते**' है। बात एक ही है।

अच्छा अब एक दूसरी बात लो। चाहे त्याग हो, चाहे कर्म हो, उसमें जो निष्कामता है, वही शून्य है और उसके बिना कर्मसंन्यास भी शून्य है।

अब देखो कि निष्कामताके मूलमें कर्तृत्व है तो यह निष्कामता भी समाधिस्थ कर देगी, समाधिमें ले जायेगी अथवा भगवत्-कामनाका रूप धरण करके भक्तिमय

हो जायेगी। यदि कर्तृत्व है तो निष्कामताके दो परिणाम होंगे। यदि अन्त:परिणाम होगा, प्रतिलोम परिणाम होगा तो समाधि लगेगी और यदि दिव्य विषयाकार परिणाम होगा तो भक्ति बन जायेगी। यदि कर्तृत्व नहीं है (समाधि आदिमें कर्तृत्व नहीं भासता है) तो यह प्रश्न यह है कि अज्ञान है कि नहीं? यदि अज्ञान है तो कर्तृत्व शान्त होता है और यदि अज्ञान ही मिट गया है तो कर्तृत्व केवल आभासमात्र है, उसकी कोई कीमत नहीं है। परन्तु अज्ञान मिट गया है तो नि:श्रेयस प्राप्त हो गया है। अज्ञानकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही निश्रेयस है, फिर साधनानुष्ठानका कोई प्रश्न नहीं है।

देखो, मैंने इस प्रकार वर्गीकरण करके आपको इसलिए सुनाया कि प्रशंसा न कर्मयोगकी है और न कर्म-संन्यासकी है, केवल निष्कामताकी है। सकाम कर्मत्याग भी निन्दित है। उसमें यदि सकामता है तो योगत्व ही नहीं है। इसलिए अज्ञानकृत माने कर्तृत्वकृत=कामकृत कर्म-संन्यासकी अपेक्षा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है और मनुष्यको अन्त:करण-शुद्धिके लिए निष्काम कर्मयोग ही करना चाहिए।

यः प्रव्रज्य पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः॥ (श्रीमद्भा. ७.१५.३६)

जैसे कुत्ता कै की हुई वस्तु खा लेता है वैसे ही यदि सकाम पुरुष कर्म-संन्यास करेगा तो वह फिर कहीं-न-कहीं कर्म और कर्मफलके चक्करमें पड़ जायेगा और उगले हुए-को खायेगा। इसलिए कर्मयोगके द्वारा अपने अन्त:करणको शुद्ध और परिपुष्ट करके, अधिकारी बनकर कर्म-संन्यास करना चाहिए।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ (३)

अरे भाई, बीचमें संन्यासी हुए—इसकी अपेक्षा तो नित्य संन्यासी होना अपेक्षित है। निष्काम होना प्रशंसनीय है, निष्कामको नित्य संन्यासी ही समझो। संस्कारके द्वारा जो संन्यास आता है, वह अपने प्रागभावमें-से निकलता है। राग-द्वेष राहित्यमें-से जो निकलता है, वह अपने प्रागभावमें-से नहीं निकलता, अपनी नित्यतामें-से निकलता है।

'न द्वेष्टि न काङ्क्षति'—यहाँ जो काङ्क्षति है, इसमें राग है, क्योंकि द्वेषका सहकारी 'काङ्क्षति' है। जिसके हृदयमें राग-द्वेष नहीं है, वह नित्य संन्यासी है, निर्द्वन्द्व है। उसको तो किधर जाय किधर न जाय—यह भी ख्याल नहीं रहता। ***'द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वम्'***—ऐसा पतला रास्ता है कि इस पर दो साथी मिलकर अगल-बगल चलना चाहें तो नहीं चल सकते। हम पति-पत्नी हैं, दोनों संन्यास लेंगे। हम दो मित्र

हैं, एक साथ ही संन्यास लेंगे और एक साथ रहेंगे। निर्द्वन्द्वका यही अर्थ है कि दो-दो मिलकर रहेंगे—यह इसमें चलनेवाला नहीं है। यहाँ तो भगवान् ही सबको अलग-अलग पैदा करता है। यहाँ जो लेकर आये थे, वही लेकर जाना है, बाकी लेकर जानेकी कोशिश मत करना—इसीका नाम संन्यास है। जैसे पैदा हुए थे, वही तुम्हारा स्वरूप है—**निर्द्वन्द्व!**

अब देखो '**महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।**' आसानीसे बन्धनसे छूटनेका उपाय यही है। भई, बात तो यह है कि ये जो श्लोक हैं, इनमें-से एक-एक श्लोकपर कम-से-कम एक-एक दिन बोलना हो तब इनकी गहराईमें प्रवेश किया जा सकता है। यहाँ तो यह ख्याल रहता है कि नौ-दस दिनोंमें गीताको पूरा करना है। इसलिए संक्षेपमें ही इनपर विचार किया जा सकता है।

सांख्ययोगो पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

शास्त्रमें बालक शब्दका अर्थ किसी उम्रका बालक नहीं होता है। तर्क-संग्रहमें ऐसा आता है कि यदि कोई व्याकरणादि शास्त्रका तो अध्ययन न किये हुए हो तो उसको बालक कहते हैं।

'*अधीत-व्याकरणादि-शास्त्रोऽपि-अनधीत-न्याय-शास्त्रो बाल:*' अर्थात् बालक माने बच्चा नहीं होता, जो सांख्योगके रहस्यको नहीं जानता है, उसका नाम बालक है।

'**बाला: प्रवदन्ति**'—माने बालकोंमें यह प्रवाद फैला हुआ है। प्रवाद माने अफवाह, बकवास! यहाँ सांख्य माने सांख्य-विचार-प्रधान कर्म-संन्यास है। लक्षणा है यहाँ। अभिधेय सांख्य शब्दका अर्थ कर्म-संन्यास है। सांख्य अलग है, योग अलग है—यह बच्चोंका प्रवाद है। पण्डित लोग ऐसी चर्चा आपसमें नहीं किया करते। पण्डित तो ऐसे-ऐसे हैं महाराज, कि मत कुछ पूछिये! ईश्वर कृपासे एक सम्प्रदायके एक पण्डित हैं, जो आचार्य-पीठपर बैठे हुए हैं। एक दिन मैंने उनसे पूछा कि आपके आद्याचार्यने कितने ग्रन्थ बनाये हैं। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंकी संख्या कितनी है? इसपर वे इधर-उधर देखने लगे। यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अपने सम्प्रदायके आचार्य-पीठपर बैठे हुए महानुभावको भी यह नहीं मालूम है कि उनके आद्याचार्यने कितने ग्रन्थ बनाये हैं।

इसी तरह एक सज्जन आये और बोले कि मैं चारों वेद जानता हूँ। मैंने पूछा कि महाराज, चारों वेदोंमें क्या-क्या है? इसपर वे बोले—कि भाई, मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि वेद चार हैं। इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ मालूम नहीं है।

लेकिन यह पण्डितोंकी बात नहीं है कि वेद चार हैं—'**वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः।**' इसलिए ये तो बालक हैं।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।

'एकमपि कर्मसन्यासं वा कर्मयोगं वा सम्यक् आस्थितः निष्कामतया आस्थितः'— अर्थात् कर्म-संन्यास निष्कामतासे माने विषय-विषयक कामनाका परित्याग करके हो तो ठीक! '**सम्यक्-आस्थितः**'—आस्थामें सम्यक्ता चाहिए कि दोनोंका फल चाहिए? दोनोंका फल तो यही है जिससे अज्ञानकी निवृत्ति होती है, वह तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाये। अन्तःकरण शुद्धि तुम कर्मयोगसे करते हो कि कर्म-संन्याससे करते हो, इसमें हमारा आग्रह नहीं है। प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्वका जो अज्ञान है—*'अहम् आत्मानं ब्रह्म न जानामि'*—मैं अपने आपको ब्रह्म नहीं जानता— इत्याकारक जो अज्ञान है, इसकी निवृत्ति ही फल है। इसको चाहे कर्मयोगसे अन्तःकरण शुद्ध करके प्राप्त करो और चाहे कर्मसंन्याससे प्राप्त करो!

अब आगे प्रश्न यह उठाते हैं फलका। फल जब दो हो जायेंगे तब तो काम ही बिगड़ जायेगा।

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (५)

हमारे मित्र लोग इसकी व्याख्या दूसरे ढंगसे करते हैं। सांख्य-विचारसे जिस स्थानकी प्राप्ति होती है, वहाँ *'योगैरपि परम्परया तदेव गम्यते।'* बात यह है कि इसमें '**अपि**' जोड़ देनेपर सांख्यकी प्रधानता और योगकी गौणता हो जाती है। योगकी गौणता क्यों हो गयी? बीचमें कुछ गुण आना चाहिए। लेकिन हम उसकी चर्चा नहीं करते, छोड़ देते हैं कि '**अपि**'का क्या अर्थ है। हमारे गुरुजीको व्याकरण पढ़ाते समय 'ओल्यो' बोलनेकी आदत थी। वैरागी लोग 'राम भरोसे' बीच-बीचमें बोलते जाते हैं। इसी तरह श्रीकृष्णको 'अपि' बोलनेकी आदत थी। यह तकियाकलाम था उनका।

तो, फलमें कोई भेद नहीं है। फल तत्त्वज्ञान है, क्योंकि फल भी असलमें अपनी प्रयोजन-पूर्ति करके, खानेवालेका पेट भरकर नष्ट हो जाता है। मतलब यह है कि अविद्याकी निवृत्ति करके तत्त्वज्ञान-रूप फल भी नष्ट हो जाता है- निवर्तकत्वेन ही उसका सार्थक्य है। वह जिज्ञासाको परिसमाप्त कर देता है, इसलिए निष्काम कर्म-योग और संन्यास—इन दोनोंसे एक ही वस्तु प्राप्त होती है। सांख्य माने कर्म-संन्यास ही होता है।

अतएव जो सांख्य और योगको एक देखता है, दोनोंमें अनुगत फलको एक देखता है, और यह देखता है कि सांख्य अलग है, योग अलग है, परन्तु एक चीज है ऐसी जो सांख्यमें भी है और योगमें भी है, एक ही फल दोनोंमें अनुगत है, वही वास्तविक तत्त्वज्ञानी है। संस्कृत भाषामें एक माने अनुगत होता है—

इण् गतौ; एति इति एकः। एति- अन्वेति।

दोमें, तीनमें, चारमें, पाँचमें जो अनुगत हो उसका नाम होता है एक। इसलिए सांख्य और योग दोनोंमें अनुगत है। ज्ञानरूप फलकी दृष्टिसे जो सांख्य और योग दोनोंको देखता है, वही वास्तवमें देखता है।

यः पश्यति स पश्यति, *अन्यस्तु अन्धः।*
दिवान्धाः प्राणिनः केचित् रात्रावन्धास्तथापरे। (४८)
केचिद् दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः। (४९)
ज्ञानेऽपि सति पश्यैतान् पतङ्गाञ्छावचञ्चुषु। (५१)
कणमोक्षादृतान् मोहात् पीड्यमानानपि क्षुधा। (५२)
दृष्टोदोषापि विषये ममत्वाकृष्टमानसौ। (४४)

(सप्तशती अ० १)

देखो लोग देखते है कि विषयमें दोष हैं, लेकिन ममता खींचकर उसी ओर ले जाती है। यह क्या है ? यह मोह है—*'यन्मोहो ज्ञानिनोरपि।'* (सप्तशती १.४४) तो सांख्य और योग दोनोंका फल है तत्त्वज्ञान, जिससे अविद्याकी निवृत्ति होती है। विवरण-प्रस्थानमें कर्मयोगका फल अन्तःकरण-शुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान है और भामती-प्रस्थानमें कर्म योगका फल अन्तःकरण-शुद्धि द्वारा विविदिषोत्पादन है। भामतीप्रस्थानमें जिज्ञासा-पर्यन्त कर्मयोग जाता है और विवरण-प्रस्थानमें अन्तःकरण शुद्धि द्वारा वेदनोत्पत्तिपर्यन्त कर्मयोगकी गति है। यह विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थानमें भेद है।

अब एक बात और कह दी यदि कर्मसंन्यासको सफल बनाना है तो भी कर्मयोग ही करना चाहिए।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।

यदि कर्मयोग नहीं करोगे तो सच्ची बात यह है कि जिन्होंने ब्रह्मचर्याश्रममें रहकर ब्रह्मचर्य-धर्मका पालन नहीं किया, गृहस्थ-धर्मका पालन नहीं किया और वानप्रस्थाश्रममें रहकर वानप्रस्थ-धर्मका पालन नहीं किया, वे संन्यासी होकर संन्यासाश्रमका मुँह उजागार कर देंगे, ऐसी उम्मीद करना बिल्कुल व्यर्थ है। जो ब्रह्मचर्याश्रममें कर्मयोग करेंगे, गृहस्थाश्रममें कर्मयोग करेंगे, वानप्रस्थाश्रममें लययोग

करेंगे, जिनको अपने धर्मके पालनका अभ्यास होगा, वहीं संन्यासी होनेपर संन्यास-धर्मका पालन कर सकेंगे। नहीं तो वहाँ तो गड़बड़ करके आये ही हैं; यहाँ भी गड़बड़ करेंगे। आश्रम-धर्मके उल्लंघनकी जब आदत ही पड़ गयी है तो वह संन्यासी होनेपर भी संन्यास-धर्मका उल्लंघन करेंगे। इसलिए जो कर्मयोगी नहीं है, उसके लिए कर्म-संन्यासकी प्राप्ति बड़े कष्टसे होती है, उसके लिए वह आयास-साध्य है। उस बेचारेको शुरूसे; विविदिषु संन्यासी होकर गुरु-सेवारूप धर्मका पालन करना पड़ेगा, उसे भिक्षादिका आनयन करना पड़ेगा और उसको थोड़ा सँभालना भी पड़ेगा। कुछ टिकटके लिए रखना पड़ेगा, कुछ खानेके लिए रखना पड़ेगा और कुछ चेला-चाँटीके बिना भी उसका काम नहीं चलेगा। मतलब यह कि कर्मयोगका ठीक-ठीक पालन किये बिना, अन्त:करणके निष्काम हुए बिना बाह्य कर्म-संन्यास ग्रहण कर लेगा, उसे संन्यास-धर्मके पालनमें बड़ा कष्ट होगा।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति। (६)

'यः पूर्वं योगयुक्तो भूत्वा पश्चात् मुनिर्भवति स अचिरेण ब्रह्म अधिगच्छति'— यानी जो पहले कर्मयोग युक्त होकर अन्त:करण शुद्ध करके बादमें मुनि होता है, संन्यासी होता है, उसको बहुत जल्दी ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, अथवा जो पहलेका कर्मयोगी नहीं है, वह संन्यासी हो जायेगा तो उसको ब्रह्मसाक्षात्कारमें भी बड़ा देर लगेगी।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ (७)

यदि यह कहो कि कर्म करनेमें तो कुछ-न-कुछ लेप लगेगा ही और यह उक्ति हुए बिना नहीं रहेगी कि—

काजरकी कोठरीमें कैसो हू सयानो जाय।
एक रेख काजरकी लागि है पै लागि है॥

ठीक है; ऐसा होता तो है। लेकिन इसके पीछे जो संशय है, वह कर्मको शुद्ध बनानेमें बाधक बनता है। मेरे एक परिचित सेठ हैं। वे लोगोंका बड़ा उपकार करते हैं। बाबाजी लोगोंको कुँआ बनानेके लिए, प्याऊ लगवानेके लिए, सदाव्रत खुलवानेके लिए पैसे देते हैं। उनको जब मालूम पड़ता है कि मैं उसी तरफ जा रहा हूँ, जहाँ उसका कुँआ, प्याऊ अथवा सदाव्रत चलता है, तो वे कहते हैं कि स्वामीजी, आपको कष्ट न हो तो जरा देखते आना कि उधर उस बाबाजीने कुँआ बनवाया है कि नहीं, प्याऊ या सदाव्रत चलवाया है कि नहीं? मैंने एक बार कह दिया कि सेठजी, 'संशयात्मा विनश्यति।' यदि तुम्हारे मनमें संशय ही था तो तुमने पैसे

दिये ही क्यों? मुझको तुम्हारी नौकरी करनेमें कोई आपत्ति नहीं है, मैं तो देखकर आऊँगा, पर तुम्हारे मनमें जो शंका है, वह तो तुम्हारे सद्भावको काट डालेगी। शंका किसको कहते हैं? जो हृदयकी शान्तिको काट दे—

कं शान्तिं कृन्तति इति शंका।

जो शंकालु है, वह पहले अपनी शान्तिका ही नाश करता है।

इसलिए '**योगयुक्तो विशुद्धात्मा**' कर्म करोगे तो अन्तःकरण शुद्ध होगा। अन्तःकरण-शुद्धिका लक्षण यही है कि मन और इन्द्रियाँ अपने वशमें हो जाती हैं। विजितात्मा माने जिसका मन वशमें हो गया है। हम मनको जहाँ लगा दें, वहाँ वह लग जाय। यही अर्थ होता है '**विजितात्मा**'का। इसी तरह जितेन्द्रियका अर्थ यह नहीं कि आँख फोड़ लिया, कानको बहरा कर लिया और जीभ काटकर फेंक दी— इसका नाम जितेन्द्रिय नहीं है। जितेन्द्रिय माने जब बोलना चाहें तब बोलें; जब सुनना चाहें, तब सुनें और जब न चाहें तब इन्द्रियोंको बिल्कुल बन्द कर दें, ठप्प कर दें। विजितात्मा और जितेन्द्रिय वही है; जिसमें अपने अन्तःकरण-बहिष्करणको निर्विषय रखनेका सामर्थ्य उदित हो जाय। वह जब चाहे तब सविषय और जब चाहे तब निर्विषय। विचार करे तो विचार, नहीं तो निर्विचार।

'**सर्वभूतात्मभूतात्मा**'—इसका अर्थ है कि अपने-परायेका भेद नहीं है। यह नहीं कि मैं इसी शरीरकी आत्मा हूँ। यदि इसी शरीरकी आत्मा बने रहोगे तो क्या होगा? एक सज्जन बोलते थे कि ईश्वर तो परोक्ष ही रहेगा। क्योंकि भाई, ईश्वर परोक्ष क्यों रहेगा? इसीलिए रहेगा कि तुम इसी शरीरको 'मैं' करके बैठे हो। तभी तुम्हारी दृष्टिमें ईश्वरमें परोक्षता है। यदि तुम ऐसा मानोगे कि आकाश ही तुम्हारा शरीर है—तुम चिदाकाश हो तो देखोगे कि ईश्वरकी अज्ञात सत्ता नहीं है, ईश्वर परोक्ष नहीं है, बिल्कुल अपरोक्ष है।

आज कोई ईश्वरकी व्यापकताके बारेमें पूछ रहे थे। हम ईश्वरमें '*मूर्तसंयोगित्व-रूप विभुत्व*'—नहीं मानते हैं, जैसा कि नैयायिक लोग, आर्यसमाजी लोग, ईसाई लोग, मुसलमान लोग मानते हैं। हम तो ईश्वरमें '*सर्वोपादानत्व रूप विभुत्व*' मानते हैं। जैसे कंगनमें सोना है, घड़ेमें माटी है, औजारमें लोहा है, वैसे ही संसारमें सब स्त्री-पुरुषों, पेड़-पौधों, मिट्टी-पानीमें मूलसत्ताके रूपमें, मूल तत्त्वके रूपमें सर्वोपादानत्वेन ईश्वर व्याप्त है।

एक महात्मा हमारे गाँवसे चौदह मील दूर गंगाके किनारे रहते थे। मैं उनके पास जाकर उनकी सेवा कर दिया करता। उनकी जात-पाँतका कुछ पता नहीं था। वे नंगे रहते थे। अस्सी-पच्चासी या नब्बे वर्षकी उनकी उम्र थी। मैं उनके पास

जाता तो उनकी रसोई बना दिया करता था। वे जब खा लेते थे तब मैं उनका प्रसाद खा लेता था। जब यह बात मेरे गाँवके ब्राह्मणोंको मालूम हुई तब वे लोग इकट्ठे हुए और बोले कि बाबा, हमारा यह बालक तुम्हारा जूठा खाता है ? तुम बताओ कि तुम्हारा दूध क्या है ? तुम किस जातमें पैदा हुए हो ? इसपर बाबाने जवाब दिया कि 'गुरु' जो चींटी है सो मैं हूँ, जो मच्छर है सो मैं हूँ, और जो पेड़-पौधा है, सो भी मैं ही हूँ। इस उत्तरसे हमारे गाँवके ब्राह्मणोंको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने बहुत जिद की, तब बाबाने कहा कि आपलोग यह जानकर क्या करेंगे कि हमारा जन्म कहाँ हुआ, किस कुलमें जन्म हुआ, हमने अबतक क्या किया है, किस युनिवर्सिटीमें पढ़ा हूँ और कौन-सी डिग्री प्राप्त की है ? अरे, न्यायाचार्य-वेदान्ताचार्यकी उपाधियाँ लिखनेके लिए संन्यासी नहीं हुआ जाता है। बी०ए०, एम०ए० और डाक्टर लिखनेके लिए भी संन्यासी नहीं हुआ जाता। संन्यासीके लिए कहा गया है कि—*'आत्मवृत्तं न प्रकाश्यम्'*—वह अपने पूर्व चरित्रको प्रकाशित न करे। इसलिए यह समझो कि जो सबका आत्मा है, वही मेरा आत्मा है। चोर-चमारकी आत्मा भी मैं ही हूँ। साँप-बिच्छूकी आत्मा भी मैं हूँ। मायोपाधिक ईश्वरकी परमार्थ-स्वरूप आत्मा भी मैं ही हूँ। यह है—'**सर्वभूतात्मभूतात्मा**'।

एक और महात्मा थे, जिनको किसी न्यायालयमें जाना पड़ा। उनसे मजिस्ट्रेटने पूछा कि तुम कौन हो ? महात्माने उत्तर दिया कि तुम्हें मैं क्या दीखता हूँ ? मजिस्ट्रेटने कहा कि मुझको तो तुम आदमी दिखते हो। महात्माने कहा कि तब तुम चमार हो। क्योंकि तुम चाम देखते हो, यदि तुम आत्मा देखो तो आत्मज्ञ होते! अरे महाराज, वह मजिस्ट्रेट तो दंग रह गया। और बोला कि अरे मेरे सामने यह कौन लाया गया है ? यह तो कोई सिद्ध पुरुष है। महाराज नमस्कार है आपको! आप जाइये। हो गया बयान आपका।

तो, क्या देखते हो तुम ? तुम्हारी दृष्टि कहाँ तक पहुँचती है ? हमको पापी देखते हो तो तुम भी पापी हो, हमको पुण्यात्मा देखते हो तो तुम भी पुण्यात्मा हो, हमको योगी देखते हो तो तुम भी योगी हो, हमको ज्ञानी देखते हो तो तुम भी ज्ञानी हो, हमको ब्रह्मज्ञानी देखते हो तो तुम भी ब्रह्मज्ञानी हो और हमको ब्रह्म देखते हो तो तुम भी ब्रह्म ही हो। जहाँ तुम हो, वहींसे तो देखोगे, जो तुम हो, वही तो देखोगे—अपने आपको ही देखता है आदमी, दूसरेको तो देखता ही नहीं है—'**सर्वभूतात्मभूतात्मा**'।

अब देखो, '**कुर्वन्**'का अर्थ। 'कुर्वन्'का अर्थ है वर्क करते हुए, काम करते हुए देखते हैं। ठीक है, कुर्वन् तो तुम देखते हो, परन्तु '**न लिप्यते**'! तुमको तो वर्क

ही दिखता है, कहीं भी कर्मका लेप नहीं दिखता। कर्मका लेप तब होता है, जब कर्म करनेकी वासना हो, कर्मका कर्तृत्व हो और कर्मफलका भोक्ता बननेकी इच्छा हो। जब कर्मसे अपूर्व उत्पन्न हो और उसमें फलदानका सामर्थ्य रहे तभी रस पैदा होता है।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ (८)
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ (९)

किन्तु यदि तत्त्ववेत्ता पुरुषको तत्त्वका दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कार न हुआ हो तो यह जो धारणा है, यह तत्त्वका दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कार हो जानेके बादकी नहीं है, यह भी पहलेकी है। अदृढ़ ज्ञानीको ही धारणाकी आवश्यकता होती है। दृढ़ ज्ञानीको तो धारणाकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए तत्त्ववित् पुरुष युक्त होकर '**नैव किंचित् करोमि इति मन्यते**'--मैं कुछ नहीं करता हूँ, यहाँ तक कि मैं कुछ नहीं करता हूँ—यह भी मैं नहीं करता हूँ। मैं कुछ नहीं करता हूँ—ऐसा भाव भी, ऐसी वृत्ति भी मैं नहीं करता हूँ। तब फिर क्या वह बेचारा चारों ओरसे बन्द हो गया? चतुर्बन्दमें चला गया?

गली तो चारों बन्द भई, कैसे मिलूँ पिया सो जाय?

नहीं, चतुर्बन्दमें नहीं चला गया। वह आँखसे देखता है, कानसे सुनता है, त्वचासे छूता है, नाकसे सूँघता है, मुँहसे खाता है और पाँवसे चलता है। उसको भी स्वप्न-जागरण होता है, वह भी साँस लेता है, वह भी '**प्रलपन्**'—बकवास करता है, वह भी '**विसृजन्**' शौच -लघुशंका कर आता है, वह भी '**गृह्णन्**' खाता है और आँखकी पलक उसकी भी उठती-गिरती है। पर यह सब होते हुए भी उसकी ऐसी स्थिति होती है कि—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्। (९)
नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। (८)

इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें बरत रही हैं, मैं कुछ नहीं बरत रहा हूँ।

देखो, जो रूखे-सूखे प्रकृतिवादी होते हैं, वे अपने कर्मको प्रकृतिमें रख देते हैं और स्वयं असंग-द्रष्टा बनकर देखते रहते हैं। किन्तु ब्रह्मज्ञानी अपने कर्मोंको प्रकृतिमें नहीं देखता है। उसमें प्रस्थान-भेद हैं।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ (१०)

कर्मोंका अधिष्ठान ब्रह्म है, कर्मोंको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला ब्रह्म है, कोई परिच्छिन्न कर्ता-भोक्ता इस शरीरमें बैठा हुआ नहीं है। उसने सारे कर्मोंको अद्वितीय ब्रह्ममें डाल दिया। बड़ी जगहमें जाते ही छोटा अपनी सत्ताको खो बैठता है। अपरिच्छिन्न अधिष्ठान प्राप्त होते ही परिच्छिन्न अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें हो जाता है, इसलिए उसकी परिच्छिन्नता मर जाती है।

कर्म तभीतक है, जबतक ब्रह्ममें इनका आधान नहीं होता। '**सङ्गं त्यक्त्वा**'—उसमें यह आसक्ति नहीं है कि कर्मका फल मिले अथवा कर्म पूरा हो जाय अथवा मैं एक बड़ा-सा काम करके दिखा दूँ। बस, वह कर रहा है।

'**लिप्यते न स पापेन**'—'**पापेन**'का अर्थ है '*कर्मफलेन*'—चाहे वह पाप-कर्मसे, चाहे पुण्य-कर्मसे हो।

एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते। (छान्दोग्य० ४.१४.३)

इस श्रुतिके व्याख्यानमें श्री शङ्कराचार्यने पापका अर्थ कर्ममात्र किया है।

जैसे जल पद्मपत्रका स्पर्श नहीं कर सकता, इसी प्रकार कर्म उसका स्पर्श नहीं कर सकते, लेप नहीं कर सकते। बस, आसक्ति नहीं है और परब्रह्म परमात्मामें, अधिष्ठानमें यह सम्पूर्ण अध्यस्त बिना हुए ही, स्फुरित हो रहा है। प्रकाशके अत्यन्ताभावके अधिष्ठान स्वप्रकाशमें प्रकाश्य वस्तु नितान्त मिथ्या है। करो कर्म और कर्म होता है तो होने दो।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ (११)

योगी लोग केवल कायासे भी कर्म करते हैं, केवल मनसे भी कर्म करते हैं, केवल बुद्धिसे भी कर्म करते हैं, केवल इन्द्रियोंसे भी कर्म करते हैं। यहाँ केवल कहनेका अभिप्राय क्या है? यह है कि योगी लोग उसमें आत्मसंयोग नहीं करते हैं। उनमें 'काय द्वारा अहं कर्ता, मन द्वारा अहं कर्ता, बुद्धि द्वारा अहं कर्ता और इन्द्रिय द्वारा अहं कर्ता'—इस प्रकारकी भावना नहीं होती। वे अपनेको उसमें नहीं जोड़ते, यही सङ्गका पत्याग है। ये जो काय, मन, बुद्धि और इन्द्रिय हैं, '**नाहं न-मे**'—न मेरे हैं और न मैं हूँ। '*न तु सन्ति*'—ये वस्तुतः हैं ही नहीं। '**आत्मशुद्धये**'का अर्थ हुआ कि हम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माका साक्षात्कार प्राप्त करनेके लिए अथवा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए कर्म करते हैं।

कई लोगोंका मत है कि भोग शुद्ध होनेपर अन्तःकरण शुद्ध होता है—

आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। (छान्दोग्य० ७.२६.२)

हम जो इन्द्रियोंसे भोग करते हैं, वह यदि शुद्ध हो तो अन्त:करण शुद्ध होता है। कुछ लोगोंका मत है कि कर्म शुद्ध हो तो अन्त:करण शुद्ध होता है—

यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन—(बृहदा० ४.४.२४)

कई लोगोंका मत है कि भाव शुद्ध हो तो अन्त:करण शुद्ध होता है। ईश्वर-भावनासे अन्त:करण शुद्ध होता है। कई लोगोंका मत है कि स्थिति शुद्ध हो तो अन्त:करण शुद्ध होता है। यह गोपियोंका मत है। वेदान्तियोंका मत है कि शुद्धके चिन्तनसे ही अन्त:करण शुद्ध होता है।

लेकिन शुद्ध क्या है—पहले इसको तो समझो। हमारे गाँवमें लोग 'निखालिस' बोलते थे। परन्तु 'निखालिस' शब्द शायद उर्दूमें नहीं है, खालिस है। उसका अर्थ है कि बिना मिलावटका है, शुद्ध है। इसलिए ऐसे तत्त्वका चिन्तन करो, जिसमें माया, प्रकृति, कर्म, इनकी कोई मिलावट न हो। शुद्ध त्वंपदार्थका चिन्तन करो तब भी अन्त:करण शुद्ध होगा। चिन्तनसे ही अन्त:करण शुद्ध होगा इसमें साधनान्तरकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि तुम्हारा चिन्तन शुद्ध हो गया तो अन्त:करण शुद्ध है। इसमें अपनी निष्ठा बड़ी प्रबल होती है।

एक महात्माने हमको सुनाया था कि एक बार उत्तरकाशीमें ऊपरसे सूचना आयी कि बड़ी भारी बाढ़ आनेवाली है। उससे गंगामें इतना पानी ऊपर चढ़ जायेगा कि कई आश्रम डूब जायेंगे। वहाँ एक आश्रममें कई साधु रहते थे। एकने पूछा कि कितना पानी चढ़ेगा? उसको उत्तर मिला कि कम-से-कम चार फुट पानी तो चढ़ ही जायेगा। यह सुनकर उस साधुने फावड़ा उठाया और कहा कि हम छहसे आठ फुटतक ऊँचा बाँध बना देते हैं, फिर पानी कैसे आयेगा? अब वह फावड़ेसे मिट्टी खोदने लगा। दूसरे साधुने कहा कि अरे भाई, आओ, हम भगवान्‌से प्रार्थना करें कि वे बाढ़को फैला दें, उसका मुँह मोड़ दें और बाढ़से हमारी रक्षा करें। वह हाथ जोड़कर भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा। तीसरे साधुने कहा कि बाढ़की जो मौज हो सो करे, हम तो आँख बन्द करके समाधि लगाकर बैठते हैं। और चौथे साधुने कहा कि अरे भाई, अच्छा हुआ। प्रारब्ध कब समाप्त होता, यह शरीर कबतक चलता, इसलिए बाढ़ आयेगी, तो उसमें यह शरीर बह जायेगा, फिर क्या फिक्र है और वह जाग्रतमें मौजसे बैठ गया।

असलमें मनुष्यकी जो अपनी निष्ठा है, उसीमें दु:ख-निवारणकी सामर्थ्य है—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुण: परिकीर्तित:। (श्रीमद्भा० ११.२०.२६)

इसलिए अपनी निष्ठामें पक्का रहना चाहिए। फिर तुम्हारा दु:ख मिट जायेगा। अगर अपनी निष्ठा ही बदलते चलोगे—वेदान्तीसे योगी हो जाओगे, फिर वेदान्ती न

रहकर योगी बन जाओगे, फिर योगी न रहकर भक्त योगी बन जाओगे, फिर भक्त न रहकर धर्मात्मा हो जाओगे, और फिर धर्मात्मा भी न रहकर समाजसेवी बन जाओगे तो क्या होगा?

अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमधुना।
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥ (नीतिशतक १०)

जो अपनी जगहसे गिरेगा, वह कितना गिरेगा—इसका कुछ ठिकाना नहीं है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ (१२)

इसलिए कर्मफलपर ध्यान मत दो, काममें लगे रहो, निष्ठामें-से शान्ति निकलेगी। निष्ठा माने विच्युत न होना। अरे, च्युत मत हो जाओ, विचलित न हो जाओ। बैठ जाओ अपनी जगह पर। इसीको नैष्ठिकी शान्ति कहते हैं। यदि अपने साधनसे युक्त नहीं रहोगे, कामनाके वश होकर फलमें आसक्त हो जाओगे तो बाबा मेरे, '**निबध्यते**'—बँध जाओगे, बिल्कुल बँध जाओगे। इसीलिए महात्मा लोग कामनामें, कर्मफलसे आसक्त नहीं होते।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्॥ (१३)

वशी देही माने जिस पुरुषका मन और उसकी इन्द्रियाँ उसके अपने वशमें हैं। तो वशी-देही है, मन और इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं, वह पुरुष देहधारी तो है; परन्तु क्या करता है?

दास कबीर जतनसे ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

वह देहधारी पुरुष अपने मन ही मन सारे कर्मोंको नवद्वारवाले इस शरीर-रूप नगरमें, जिसमें नीचे भी दरवाजे हैं और ऊपर भी दरवाजे हैं—सात ऊपर हैं और दो नीचे हैं—उस शरीररूप नगरमें डाल देता है और '**संन्यस्य स्वयं सुखमास्ते।**' काम तो सब नगर-पालिकाका चल रहा है। उसको तो नगरपालिका कर रही है। यह तो म्युनिसिपैलिटी का काम है कि शरीरमें पानी भी भरे, अनाज भी मुहैय्या करे और जो मल-मूत्रादिकी नालियोंकी सफाई है, वह भी वही करे। उसके लिए नगर-पालिकाका चेयरमैन या जमादार बननेकी कोई जरूरत नहीं है। नगर-पालिकाका काम नगर-पालिका करे। अपनेको उसकी देखभाल करने भी नहीं जाना है—'**नैव कुर्बन् न कारयन्।**'

हमारे एक महात्माने हमें बचपनमें बताया था कि तुम्हारे बारेमें कभी कोई कुछ कहता है तो उसको कहने दो और जो होता है, उसको होने दो। दूसरेकी जीभ पकड़नेकी जरूरत नहीं है। जो हो रहा है, उसको तुम नहीं कर रहे हो!

तो, यही बात गीताकी है। यह मनुस्मृति नहीं है, यही गीता है। मनुस्मृति भी अन्तमें यही कहती है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥ (१२.९१)

अपने परिच्छिन्न अहंका बलिदान कर दो। सबमें आत्मा है, आत्मामें सब हैं—यह दृष्टि रख लो। फिर तुम स्वतन्त्र हो, तुम्हारा स्वराज्य है। यही बात गीता कहती है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ (१४)

अब बोले कि भाई, जब ईश्वरने ही हमको इस झगड़े में डाल दिया है तब हम क्या करें? यह तो

जे न तरहिं भवसागरहिं नर समाज अस पाइ।
ते कृतनिन्दक मन्दमति आत्माहन गति जाइ।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाइ।

अरे, ईश्वरने तुमको कर्ता थोड़े ही बनाया। ईश्वरने तुमको कब पट्टा लिखकर दिया, कब अधिकार-पत्र समर्पित किया कि तुमको मैं कर्ता बनाकर भेज रहा हूँ। उसने कब कहा कि अब कर्तृत्वका अधिकार मेरा नहीं है, तुमको मिल गया है। क्या ईश्वरने तुमको अपना अधिकार कभी हस्तान्तरित किया था, नहीं, '**न कर्तृत्वम्**' ईश्वर तुमको कर्ता नहीं बनाता।

तब क्या बनाता है? कर्म बनाता है? नहीं, कर्म भी नहीं बनाता।

प्रभुः विभुः ईश्वरः परमात्मा लोकस्य कर्तृत्वं न सृजति। लोकस्य कर्माणि च न सृजति।

ठीक है, लेकिन बाबा बाँधता तो है? बोले कि नहीं, '**कर्मफल-संयोगं च न सृजति**'—ईश्वर कर्मफलके साथ संयोग भी नहीं बनाता है। यह तो पूर्वमीमांसा-वाले मानते हैं कि कर्ता जब कर्म करता है तो उससे अपूर्व पैदा होकर उसके साथ जुड़ जाता है और कुप्रवृत्ति, अशुभ प्रवृत्ति होनेसे एक अदृश्य पैदा होता है, जो कर्ताके साथ जुड़ जाता है। यह नैयायिक लोग मानते हैं कि ईश्वर तो नहीं करता है। लेकिन बात यह है कि जब हमलोग ही कहते हैं कि हे ईश्वर! हम कर्ता हैं; हे ईश्वर! यह हमारा कर्म है; हे ईश्वर! हमारे इस कर्मका यह फल है। इसमें-से अच्छे-अच्छे फल हमको दे दिया करो और बुरे-बुरे तुम भोग लिया करो। अब बताओ कि बुरे-बुरे क्या होंगे?

हमारे एक महात्मा थे। एक लड़केको जो उन्नीस-बीस वर्षका होगा, बहुत मिर्गी आती थी। मिर्गी माने अपस्मार। उसके बाप-दादाओंने सिखा दिया, तो उस लड़केने जाकर उस महात्माके पाँव पकड़ लिये और कहने लगा कि हमारी मिर्गी दूर कर दो। महात्माजी बोले कि क्यों रे, तूने जो पहले पाप किया है और उसका फल अब भोगना पड़ रहा है—इसको कौन भोगेगा? इसका उत्तर लड़का क्या दे? महात्माने उसको आशीर्वाद दिया। उससे वह अच्छा हुआ या नहीं, यह मुझे स्मरण नहीं।

तो अच्छे-अच्छे कर्मका फल तो ले लेना चाहते हैं और बुरे कर्मका फल ईश्वरपर डाल देना चाहते हैं। लेकिन उससे क्या ईश्वर दुःखी बनेगा! वह कहाँ आयेगा? बोले कि नहीं; जब हम ईश्वरसे कर्मका फल माँगते हैं, तभी वह देता है। जब कर्म माँगते हैं तब कर्म देता है और जब कर्तापन माँगते हैं, तब कर्तापन देता है। ''स्वभावस्तु प्रवर्तते'—अपना भाव ही प्रवृत्त होता है। हमने अपनेको कर्ता माना लिया और कह दिया कि ईश्वरने हमको कर्ता ही गढ़ा है। हमने अपने कर्तव्य कर्म मान लिये और बोले कि ईश्वरने गढ़ा है! हम अपने कर्मका भोग स्वयं ले-लेकर भोग रहे हैं। यह विषय इतना हल्का-फुल्का है कि इसको समझनेमें कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन दुनियाके लोग इसको बहुत बड़ा समझते हैं और दुःख भोगते रहते हैं।

देखो, मैं अपने एक ब्रह्मचारीकी बात आपको सुनाता हूँ। हमलोग बद्रीनाथ जा रहे थे। वह ब्रह्मचारी भी हमारे साथ था। उसकी घड़ी रुद्रप्रयागसे आगे चट्टीपर खो गयी। वह रास्तेमें कहीं गिर गयी या किसीने ले ली—कुछ मालूम नहीं। हमलोग तो आगे बढ़े, लेकिन ब्रह्मचारी अपनी घड़ी खोजनेके लिए पीछे लौट गया। वह पाँच मीलतक नीचे गया और फिर पाँच मील ऊपर लौटा। तबतक हमलोग दस मील आगे निकल गये। उस बेचारेको खूब चलना पड़ा। लगभग बारह-एक बजे दोपहरतक हमारे पास पहुँचा। घड़ी तो उसे क्या मिलनी थी। वह उसके खो जानेके कारण भूखा-प्यासा, हाय-हाय-हाय करता रहा। यह कहता रहा कि उसने अबसे बीस-पच्चीस वर्ष पहले सवा रुपयेमें वह घड़ी खरीदी थी। उसके लिए वह बड़ा दुःखी था। जब वह नीचे जाकर हमारे पास लौटा, तब उसे झरनेपर पानी लेनेके लिए जाना पड़ा। वहाँ उसे एक पीली-पीली अँगूठी पड़ी हुई मिली। उसमें एक सफेद नग भी लगा हुआ था। उसको उठाकर वह मेरे पास ले आया। हममें-से कोई नहीं पहचान सका कि वह अँगूठी पीतलकी थी या सोनेकी? फिर भी मैंने ब्रह्मचारीसे कहा कि अरे भाई, यह अँगूठी दो हजारकी तो जरूर होगी!

सवा सौ रुपयेकी तेरी घड़ी खो गयी और हजार रुपयेकी अँगूठी भगवान्ने तुमको दे दी। अब तो उस ब्रह्मचारीका सारा दुःख ही दूर हो गया। जब हमलोग बद्रीनाथ पहुँचे तब उसने किसीको वह अँगूठी दिखाई। उसने बताया कि यह तो पीतलकी है, चवन्नीकी होगी। फिर वह ब्रह्मचारी पहलेकी तरह ही दुःखी हो गया। कहनेका मतलब यह है कि दुःख बिल्कुल मनसे कल्पित होता है, मनसे उपस्थित होता है और मनसे स्वीकृत होता है। इसमें कुछ भी दम-खम नहीं है। इसको हमारा बनाकर ईश्वरने नहीं भेजा था। हमने ही उसको अपना माना, हमने ही उसको बिछुड़ता माना और हमने ही उससे अपनेको दुःखी किया। 'स्वभावस्तु प्रवर्तते'— हमने अपना यह स्वभाव बना लिया है।

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ (१५)

आत्माके बिना कोई चीज चेतन नहीं होती—यह आप बिल्कुल मान लो। समझमें न आता हो तो हमारे कहनेसे मान लो कि जो आत्मा अपना स्वरूप होगा, वही चेतन होगा। जो अपनेसे अन्य होगा, वह दृश्य होगा, जड़ होगा, परिच्छिन्न होगा, आश्रित होगा, मिथ्या होगा। केवल आत्मा ही चेतन होता है और दूसरा आत्मा चेतन नहीं होता है। दूसरा होते ही उसकी चेतनता समाप्त हो जायेगी। ब्रह्म भी यदि आत्मासे जुदा रहेगा तो जड़ ही रहेगा, कल्पित ही रहेगा, परोक्ष ही रहेगा, दृश्य ही रहेगा, मिथ्या ही रहेगा। हमारी आत्मासे अलग रहकर कोई चेतन और सत्य रह सके, ऐसा नहीं हो सकता। यदि कहो कि ब्रह्मसे हमारा आत्मा अलग रहे तो क्या होगा? उस अवस्थामें चेतन तो रहेगा, लेकिन परिच्छिन्न रहेगा, टुकड़े-टुकड़े रहेगा। क्षणिक चैतन्य हो जायेगा, आत्मा ब्रह्मसे अलग होकर और आत्मासे अलग होकर ब्रह्म जड़ हो जायेगा। इसलिए जबतक दोनों सुलह नहीं करेंगे, एक नहीं होंगे, तबतक न्याय नहीं होगा, यथार्थ निर्णय नहीं होगा।

यह जो विभु है, इसका क्या अर्थ है? *'विवर्तेन भवतीति विभुः'*—*वि* माने *विवर्त*। वि माने *'विबभूव विश्वम्'*। श्रुतिमें ऐसे आया है कि—*'एकं वै सद् विबभूव सर्वम्'* (ऋग्० ८.५८.२)। वर्तनके साथ *'वि'* लगाते हैं तो विवर्त होता है और *'भू'* के साथ *'वि'* लगाते हैं तो *'विबभूव'* होता है। यहाँ *'भू'* के साथ ही तो *'वि'* लगा हुआ है। इसका अर्थ है कि—*'यथा अस्ति तथा न भवति तद् विपरीतं भवति इति विभुः'*—जैसा है वैसा नहीं होता, इसलिए ये विभु देवता हैं। ये किसी शरीरका पाप नहीं लेते हैं। ऐसे लोग कहते हैं कि देवताको पाप नहीं लगता। एकबार वह लगने आया तो भगवान् शंकरने त्रिशूल लेकर उसको ऐसा खदेड़ा कि वह भाग गया ब्रह्माके पास। फिर भगवान् शंकरने ब्रह्माका एक सिर काट दिया।

आपलोग बद्रीनाथकी तरफ जाते होंगे तो वहाँ जो ब्रह्मकपाली है, वहीं ब्रह्माजीका सिर कटा था। इसलिए उसका नाम ब्रह्मकपाली है। पाप चाहे ब्रह्मा करें, चाहे चींटी करें, चाहे मच्छर करें, चाहे आदमी करें, एक ही बात है। लेकिन पाप-पुण्य लगता है आदमीको ही, दूसरेको नहीं लगता। विभु परमात्मा किसीका पाप और पुण्य ग्रहण नहीं करता है।

तब फिर हमें जो मालूम पड़ता है कि हम पापी और पुण्यात्मा हैं, यह क्या है? यही है कि '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्**'—अज्ञानने तुम्हारे सत्यके ज्ञानको ढक दिया है, अज्ञानावरणके कारण तुम अपनेको पापी और पुण्यात्माके रूपमें देख रहे हो और तबतक देखते रहोगे, जबतक ब्रह्मज्ञान नहीं होगा। पाप-पुण्य कर्म ही व्यावहारिक सत्ता है और पाप-भावना तथा पुण्य-भावनाकी प्रातिभासिक सत्ता है। प्रतिभासमें तो मजहबके भेदसे अदला-बदली हो जाती है। आश्रमके भेदसे भी अदला-बदली हो जाती है। गृहस्थका पाप दूसरा, पुण्य दूसरा और संन्यासीका पाप-पुण्य दूसरा। आश्रम-भेदसे जिसका परिवर्तन हो जाता है, वह तो प्रातिभासिक ही है। लेकिन सर्वमान्य जो पाप-पुण्य है, उसको यदि व्यावहारिक मान लें तो वह ब्रह्मज्ञानैक-बाध्य है, केवल ब्रह्मज्ञानसे ही उसका बाध होता है। व्यावहारिक सत्ता उसको कहते हैं, जो ब्रह्मज्ञान हुए बिना बाधित न हो।

तो, अज्ञानावरणके कारण यह ज्ञान आवृत हो गया है।'**तेन जन्तवः मुह्यन्ति**'— यहाँ '**जन्तवः**' कहकर मनुष्यका बहुत बढ़िया नाम बड़ी इज्जतके साथ लिया गया है। जन्तु माने जानवर होता है। अज्ञानावरणके कारण जानवर लोग अपनेको पापी-पुण्यात्मा मानकर मुग्ध हो रहे हैं, बेहोश हो रहे हैं। इसलिए भाई, अज्ञानावरणको मिटाओ!

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्॥ (१६)

इसका अर्थ इस प्रकार करो कि *'आत्मनः ज्ञानेन तत् आत्मनः अज्ञानं नाशितम्'* अथवा इस प्रकार करो कि *'आत्मनो ज्ञानेन आत्मनः अज्ञानं येषां जिज्ञासूनाम् नाशितम्।'* ये दोनों अर्थ ठीक हैं। किन्तु इनमें तो '**अशितम्**' है, वह क्या? '**अशितम्**' माने नाश्ता। अज्ञानी लोग अज्ञानका ही नाश्ता करते हैं, अज्ञान ही खाते हैं, अज्ञान ही पीते हैं, अज्ञान ही देते हैं, अज्ञान ही लेते हैं। बाल-भोग भी अज्ञान हीका लगाते हैं।

झूठहि लेना झूठहि देना। झूठहि भोजन झूठ चबेना॥

'**अशितम्**' माने *'भुक्तम्' 'नाशितम्'* भी होता है—जो अज्ञानका उपभोग नहीं करता। असलमें ये ज्ञानी कहलानेवाले लोग बेवकूफोंकी बेवकूफीसे फायदा

उठाते हैं। यही ज्ञानका उपभोग है। यदि तुम दूसरेके अज्ञानसे फायदा उठाते हो और चाहते हो कि दुनियामें लोग अज्ञानी रहें, हम इससे फायदा उठाते रहें, पूजा-पत्री-भेंट सब लेते रहें तो अज्ञानसे तुम्हारा प्रेम हुआ कि नहीं हुआ? अरे बाबा, ऐसा ज्ञान प्राप्त करो कि अज्ञानका बाल-भोग जरूरी न रहे, अज्ञानका भोजन जरूरी न रहे। अज्ञानियोंसे कुछ फायदा उठानेका काम मत करो।

'तेषामादित्यवज्ज्ञानम्'—जब ज्ञान देखता है कि अब अज्ञानको इन्होंने अपना भोग्य नहीं बनाया तो वह **'आदित्यवत्'**—सूर्यके समान प्रकाशित होता है। असलमें जो शुद्ध वृत्तिमें आरूढ़ चेतन है, उसीका नाम आदित्य है। *'अदितिः अस्ति अदीना'*—अदीन वृत्तिमें आरूढ़ जो चेतन है, वह अदिति है, सविता है, सूर्य है। जैसे प्रातःकाल सूर्य उगता है, वैसे तत्त्वज्ञानका उदय होता है और उदय होनेपर वह परमार्थ वस्तु प्रकाशित कर देता है—*'तत् परम् परमार्थम्'* इसलिए लोकमें आदित्य हैं और हृदयमें ज्ञान है—यह दृष्टान्त दे दिया।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृतिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ (१७)

तत् माने क्या? वही जो परमार्थ प्रकाशित हुआ, वह तत्। *'यत् परमज्ञानं प्रकाशितं तस्मिन् गतः बुद्धिर्येषां'*—तत्त्वज्ञानमें अज्ञानको निवृत्त करके जिस परमार्थका साक्षात्कार कराया है, उसका नाम है तत्। श्रीमद्भागवतमें यही बताया गया है कि—

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्यान्न तु सद्विधत्ते।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः॥ (११.२८.३४)

सूर्योदय होनेसे मनुष्यकी आँखके आगे जो अन्धेरा छाया हुआ है, वह मिट जाता है। सूर्य दुनियामें कुछ नहीं बनाता है, केवल अन्धेरा दूर कर देता है और जो है, वह दीखने लगता है। इसी प्रकार जब परमात्माका ज्ञान उदय होता है, तब बुद्धिमें अन्धकार दूर कर देता है और जो असली चीज है, वह दीखने लगती है। सूर्यकी तरह ज्ञान भी कुछ बनाता नहीं बिगाड़ता नहीं। प्रेम तो अप्रियको भी प्रिय बना देता है। प्रेम निर्माता है। किन्तु ज्ञान निर्माता नहीं है, विधाता नहीं। वह केवल, जो जैसी चीज है, उसको वैसा ही दिखा देता है। यह शिव भी नहीं है, प्रलयंकर भी नहीं है। ज्ञान किसीको मारता नहीं, किसीको पालता नहीं, किसीको पैदा नहीं करता। ज्ञान केवल अन्धकारको मिटा देता है और जो चीज जैसी है वैसी दीखने लगती है। इसीलिए ज्ञानका फल अविद्या-निवृत्ति मात्र ही है। यदि उत्पाद्य फल होगा तो वह भी नाशवान् हो जायेगा।

'तद्बुद्धयः' माने उसी परमार्थमें अपनी बुद्धि लगाओ। वही परब्रह्म, वही परमार्थ-तत्त्व आत्मा है—**'तदात्मानः'**। उसीको आत्माके रूपमें देखो और

'**तन्निष्ठाः**'—उसीमें अभिनिवेश करो। अरे साक्षात् अपरोक्ष अनुभव न हो, तब भी जिद कर लो कि हम तो ब्रह्म ही हैं। '*अस्यते प्राप्यते ध्यानाद् नित्यात्मब्रह्म चिन्तनाः तत्परायणाः*'—बस, वहीं पहुँचना है, उसके आगे और कुछ नहीं है।

देखो, शैवोंने इसको 'अनष्ट महल' कहा है। मैं आपको 'अनष्ट महल'का अर्थ सुनाता हूँ। '*अनचूकं अनहलं*' अर्थात् अच् प्रत्याहार हल् प्रत्याहार दोनोंसे जितने शब्द बनते हैं, उनकी गति वहाँ तक नहीं है। फिर आप कहाँ पहुँचाना चाहते हैं? हम आपको '*अनष्टमहलम्*'में पहुँचाना चाहते हैं? यह 'अनष्ट महल' क्या होता है? अरे बाबा, कुछ तो रहस्यको रहस्य रहने दो! यह गुरुवाग्-गम्य है, बिना गुरुसे सीखे इसका मतलब समझमें नहीं आ सकता।

तो '**ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**'—ज्ञानसे जो कल्मष निर्धूत हो जाता है, उसका मतलब क्या है? कर्मको ही कल्म बोलते हैं। रेफ़ और 'ल'में तो कोई फर्क नहीं है—'*रलयोरभेदः*'। कल्मष माने आखिरी कर्म, अन्तिम कर्म, अविद्यारूप जो कल्मष है, उसका ज्ञानके द्वारा निर्धूनन हो जाता है और निर्धूनन हो जानेपर '**गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम्**' ऐसी गति प्राप्त हो जाती है, जहाँसे लौटना न पड़े। तब क्या होता है?

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (१८)

देखो, सपनेमें कुत्ता-ब्राह्मण-हाथी-गाय सब अलग-अलग होते हैं। वहाँ ब्राह्मणको नमस्कार भी किया जाता है, हाथीपर चढ़ा भी जाता है, कुत्तेको डण्डा भी मारा जाता है। वहाँ भी संस्कार-वश चाण्डाल अछूत ही होता है। लेकिन जब आदमी जाग जाता है, तब विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मणकी श्रेष्ठता उसके ध्यानमें आ जाती है। ब्राह्मण तभी श्रेष्ठ है, जब वह विद्या-विनय सम्पन्न हो। विद्या न हो तो ब्राह्मण क़निष्ठ हो जायेगा और विनय न हो, तब तो अतिकनिष्ठ हो जायेगा। विद्या-विनयकी सम्पदा ही ब्राह्मणको श्रेष्ठ बनाती है, नहीं तो जैसे गायका नाम है, हाथीका नाम है, कुत्तेका नाम है, वैसे ही ब्राह्मणका भी नाम होगा। बोले कि ब्राह्मणोंमें भी मामूली ब्राह्मण नहीं, विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण। महाभाष्यकार पतंजलि बोलते हैं कि '*त्रीणि यस्यावदातानि*' (४.१.४८) अर्थात् ब्राह्मणमें तीन प्रकारकी शुद्धि होनी चाहिए; एक तो आधिभौतिक शुद्धि हो कि वह ब्राह्मण-ब्राह्मणीसे पैदा हो, दूसरी आधिदैविक शुद्धि हो कि वह गायत्री आदिकी उपासना करे और तीसरी आध्यात्मिक शुद्धि हो कि वह शम-दमादिसे सम्पन्न हो। यदि ये तीनों बातें ब्राह्मणमें होंगी, तब उसे श्रेष्ठ ब्राह्मण माना जायेगा। लेकिन ब्राह्मणके

साथ-साथ जो गाय, हाथी, कुत्ता और श्वपाकका वर्णन है, वह क्या है? बोले कि भाई, यह चतुर्थ भूमिकाकी बात है, और चतुर्थ भूमिकाकी चर्चा हमारे सिद्धान्तमें नहीं है। यह तत्त्वकी भूमिका नहीं है, चित्तकी भूमिका है। ये सब भूमिकाएँ आभासमें ही विराजमान रहती हैं। निरंकुश त्रिपुटी-पर्यन्त जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख आभासमें ही है। वह भी चित्तकी भूमिका है, आत्माके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है! इसलिए जब जाग गये तब समदर्शन ही होने लगता है—'**पण्डिताः समदर्शिनः**'।

इसमें भी जो पहली स्थिति है, उसमें दर्शन और वर्तनमें भेद रहना शक्य है। लेकिन पराकाष्ठाकी जो स्थिति होगी, उसमें वर्तन तो दर्शनमात्र ही है. ज्ञानमात्रसे पृथक् वर्तन कहाँ होता है? पूर्वावस्थामें दर्शन और वर्तनका भेद होता है किन्तु उत्तरावस्थामें दर्शन और वर्तनका भेद नहीं होता है। उत्तरावस्थामें दर्शनसे पृथक् वर्तनका भी अस्तित्व नहीं रहता है। उसमें तो दत्तात्रेयवत् अवस्था हो जाती है—

क्वचिच्छिष्टः क्वचिद्भ्रष्टःक्वचिद्भूतपिशाचवत्।
नानारूपधरो योगी विचचार महीतले॥

देखो, वेदान्तका निरूपण करना हो तो वह डर-डरकर नहीं करना चाहिए। यह तो '*अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि*'—(बृहदा०) बिलकुल अभय होकर दो टूक बोलना चाहिए। क्या आप फक्कड़ोंका, फकीरोंका अस्तित्व स्वीकार करते हो? सब सम्प्रदाय-परम्पराके अधीन ही हों! अरे, पंचमाश्रमी भी होते हैं भाई! चतुर्थाश्रमी ही सब रहें, यह आग्रह क्यों करते हो? अवधूत भी तो होने चाहिए न!

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥(१९)

जिनका मन समतामें स्थित हो गया, जिनके लिए स्वप्न-सृष्टिके समान हाथी, गाय, कुत्ता, श्वपाक, ब्रह्मण सब सम हो गये और ऐसा जिनका मन हो गया, उसने सृष्टिपर विजय प्राप्त कर ली। क्या वह मरनेपर विजय प्राप्त करेगा? अरे बाबा, मरनेकी बात मरनेवालेके लिए छोड़ दो। मरना तो ऐसी चीज है, जो हमारे अनुभवमें कभी नहीं आयी। मैं आप सभी महात्माओंके बीचमें, गंगाके किनारे अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर कह रहा हूँ कि मैं कभी मरा नहीं हूँ। अगर कभी मर गया होता तो आज आप लोगोंके बीचमें बोलता कैसे? मैं इस शरीरके जन्मनेके पहले भी नहीं मरा हूँ। यदि मर गया होता तो जन्म ही कहाँसे होता? मैं बिल्कुल मरा नहीं हूँ। इसलिए एक ऐसी बात, जो कभी हमारे अनुभवमें नहीं आयी, उसकी कल्पना करना कि मैं आगे मर जाऊँगा—एकदम बेबुनियाद है। हे भगवान्, अबतक नहीं

मरा तो आगे कैसे मर जाऊँगा ? इसलिए मरनेके बाद मुझको स्वर्गापवर्ग मिलेगा, यह कल्पना बिल्कुल छोड़ दो। महात्मा पलटूदास कहते हैं—

साधो तुम मरते नहीं, पलटू करो विचार।
पलटू करो विचार हमही कर्त्ताके कर्त्ता।
क्या पूछो साधो उमर हमारी हो।
कोटि कोट कलप ब्रह्मा भए, दस कोटि कन्हाई हो।
छप्पन कोटि जादव भये मरे एक पलाई हो॥

तो जिसके मनमे समता आगयी, इहैव माने इसी जीवनमें, उसने सारी सृष्टिपर विजय प्राप्त कर ली। यह समता निर्दोष है, क्योंकि जहाँ विषमता रहेगी, वहाँ राग-द्वेष जरूर रहेगा। विषमतामें राग-द्वेष रहते हैं और समतामें राग-द्वेष नहीं रहते। सम कौन है ? ब्रह्म है। जो 'माँ' से अर्थात् प्रमासे सिद्ध हो, उसका नाम सम। 'मा=*प्रमा सिद्ध्यते इति समं ब्रह्म*'। यथार्थ प्रमासे यही सिद्ध है कि सब ब्रह्म है।

अब जब ब्रह्ममें स्थिति हो गयी और मनमें भी समता आगयी तो क्या होगा ? ब्राह्मी स्थिति अपने आप हो जायेगी।

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ (२०)

देखो, यह जिन्दा ब्रह्मवित्का वर्णन है, इसमें मुर्देको मत ढूँढना। बहुत लोगोंके मनमें ऐसी कमजोरी रहती है कि जो मर गये, वे तो ब्रह्मवेत्ता थे और जो जिन्दा हैं, वे ब्रह्मवेत्ता नहीं हैं। यह कल्पना ही शास्त्र-विरुद्ध है। इस तरहकी कल्पना करके तो लोग इतने उपकारी बन गये हैं कि कोई ठगा न जाये, इसके लिए वे वेदान्त-सम्प्रदायका ही उच्छेद करना चाहते हैं। एक बात हम आपको बता देते हैं कि जो अपना सर्वस्व ठगवानेके लिए तैयार नहीं है, उसको गुरुका मिलना मुश्किल है। तुम्हारी सारी सम्पदा ठगी जाये, सारी मान्यता ठगी जाये, तब तुम्हें गुरु मिलेगा। तुम माया-ठगिनीके वशमें होकर ठगे गये हो, तुमने ठग-ठगकर सब अपना बनाया है। यह ठगा हुआ माल जबतक फेंकोगे नहीं, जबतक ठगे हुए मालको ठगा नहीं जाओगे, तबतक तुम्हें गुरु-उरु नहीं मिलेगा। अरे कोई क्या ठगेगा तुम्हारा ? जिससे तुमको वैराग्य है, वही ठगेगा कि नहीं ? यदि कहो कि नहीं महाराज, हमें वैराग्य नहीं है, तब ब्रह्मज्ञानके लिए क्यों आते हो अपने रागास्पदकी सेवा करो। लेकिन जो तुम्हें ठगेगा, वही चीज ठगेगा, जिससे वैराग्य करके तुम आये हो। एक कीड़ेसे लेकर ब्रह्मातक और एक तृणसे लेकर प्रकृतिपर्यन्तमें यदि तुमको वैराग्य नहीं है, तो ब्रह्मज्ञानकी इच्छा क्यों करते हो ?

तुम विष्ठा कर आये कहीं जंगलमें और तुमने जान लिया कि वह गन्दा है। यदि उसको कोई उठा ले जाये और अपने खेतमें खाद बना ले, तो इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ता है ? तुम तो वैराग्य करके आये हो। और जिससे वैराग्य करके आये हो, उसीसे ठगानेमें डरते हो। भाई मेरे, दो टूक बात यह है कि तुम्हारे पास ठगानेके लिए कुछ है ही नहीं।

'न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य'—तुम्हारे मनकी कोई चीज मिल जाये तो हर्षसे फूलो मत। वह हर्ष नहीं है, वह सूजन है। शोथ रोग हो गया है तुम्हारे कलेजेमें, जो हर्षसे फूल उठते हो। इसी तरह **'नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्'**—अप्रिय मिल जानेसे उद्विग्न मत हो जाओ, घबराओ मत, सूख मत जाओ। और **'स्थिरबुद्धिरसंमूढः'**—बुद्धिको स्थिर रखो, कहीं सम्मूढ मत बनो, अटको मत—कि इसके बिना हम नहीं रहेंगे।

देखो, जब हमलोग बच्चे थे, ब्याह नहीं हुआ था, तो कितनी मौजसे रहते थे! ब्याह हुआ तो समझने लगे कि ब्याह हीमें मौज है। पैसा नहीं था तो इतने निडर थे कि चाहे जहाँ सो जाते थे; पैसा आया तो बिल्कुल बन्द कमरेमें ताला लगाकर सोने लगे। इस तरह पैसेको कैद रखनेके लिए अपनेको भी कैदमें जाना पड़ता है। और पत्नीको पहरेमें रखनेके लिए खुदको पहरेदार बनाना पड़ता है।

मैं एक बड़े सेठकी बात जानता हूँ। उसकी पत्नी हमें बताती है कि महाराज, जब रातको हम दोनों एक ही कमरेमें, एक ही पलंगपर सोते हैं, तो जब उनकी नींद टूटती है, तब वे बिजली जलाकर जिसका स्विच पलंगमें ही फिट रहता है—यह देख लेते हैं कि मैं पलंगपर सोई हुई हूँ कि नहीं! नींद टूटनेपर मैं उनको रोज चार गाली सुनाती हूँ कि तुम सोने क्यों नहीं देते ? सर्च क्यों करते हो ? लेकिन उनके मनमें मेरे प्रति इतनी शंका है कि मानते ही नहीं। अब बोलो, वे पहरेदार हो गये कि नहीं ? इसी तरह एक दूसरे सज्जनकी पत्नी जब हमारे पास आती है, तब आते ही अपने पतिको फोन करती है कि मैं स्वामीजीके पास आयी हूँ। इसपर पति कहते हैं कि जरा स्वामीजीसे बात तो कराओ, जिससे मुझे विश्वास हो जाये कि तुम स्वामीजीके पाससे ही बोल रही हो। फिर आधे घण्टे बाद वे मुझे फोन करके पूछते हैं कि स्वामीजी, मेरी स्त्री आपके पास ही है न, कहीं दूसरी जगह तो नहीं गयी है ? अब आप ही बताइये कि ऐसे लोगोंको गृहस्थाश्रमका सुख क्या मिलेगा, ये तो अपनी पत्नीके प्रति भी शंकालु हैं। ये समझते हैं कि कोई हमारा धन छीन न ले जाये। मानों इनको भगवान्‌ने अपने हाथसे धन देकर भेजा है और जो छीन ले जायेगा, वह उनका धन छीन ले जायेगा। उनको इस बातका ध्यान नहीं कि वे भी किसीसे छीनकर ले आये हैं।

'**स्थिरबुद्धिरसंमूढः**'—इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मवेत्ता स्थिर बुद्धि और असंमूढ़ होता है। असंमूढ़ माने वह कहीं अटका नहीं है—न पत्नीमें, न पुत्रमें, न धनमें, न मकानमें, न मजहबमें और न जातिमें। कहीं भी उसका अटकाव नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्मवेत्ता है, ब्रह्मनिष्ठ है। '**ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः**' माने जिसने ब्रह्मको जान लिया, वह बिलकुल ब्रह्म ही है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ (२१)

स्पर्श माने विषय। ये जो बाहरी स्पर्श हैं— अर्थात् इन्द्रियोंसे जिन विषयोंका भोग किया जाता है, उन भोग-पदार्थोंमें जो आसक्त नहीं है, उसको अपनी आत्मामें एक अनिर्वचनीय सुखका अनुभव होता है। यह तो ठीक है, लेकिन यदि उसको ब्रह्मविद्या प्राप्त हो जाये, तो? बोले कि ब्रह्मविद्या प्राप्त हो जानेपर योगीको बाह्य स्पर्श मिले चाहे न मिले, वह बाह्य स्पर्शसे मुक्त होकर सुखानुभव करता है। यदि उसे ब्रह्मज्ञान हो जाये तो चाहे वह बाह्य स्पर्शमें रहे अथवा अन्तःस्पर्शमें रहे अथवा इन दोनोंके अस्पर्शमें रहे, कोई फर्क नहीं पड़ता। वे अस्पर्शमें भी तो रहते ही हैं। गीता कहती है—

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखमश्नुते। (६.२८)

ब्रह्मसंस्पर्शमें अत्यन्त सुख है और वह अक्षय सुख ब्रह्मयोग-युक्तात्माको हर अवस्थामें मिलता है। यह अस्पर्श योग है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तय न तेषु रमते बुधः॥ (२२)

जो संस्पर्शज अर्थात् विषय और इन्द्रियोंके संस्पर्शसे उत्पन्न भोग हैं, वे क्या है? श्रीमद्भागवतमें आया है कि '*कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्*'। जब किसीको दाद हो जाती है तो उसे खुजलानेमें मजा आता है. लेकिन जितना ही खुजलाओ, उतनी ही दाद बढ़ती है और खुजलाना बन्द कर दो तो दाद अच्छी हो जाती है। इसी तरह इन्द्रियोंमें भी खुजली होती है। आँखोंमें खुजली होती है कि रूप देखें, कानोंमें खुजली होती है कि शब्द सुनें, त्वचामें खुजली होती है कि स्पर्श करें और नाकमें खुजली होती है कि सुगन्ध सूँघे। असलमें यह आदत ही है। किन्तु जिसको सुगन्ध समझकर लोग शरीरमें लगाकर आते हैं—चाहे उस सुगन्धका नाम इत्र रखो, चाहे सेंट रखो—जिनको आदत होती है, उन्हींको उसमें सुगन्ध मालूम पड़ती है। जिनको आदत नहीं होती, उनका दिमाग उससे बिगड़ने लगता है। वह दिमागपर ऐसा असर डालता है कि सहन नहीं होता। असलमें वह सबके लिए नहीं

होता—जिनको आदत है, उनके लिए होता है. एक दिन जब मैं लेटा हुआ था तो कोई सज्जन आये और बोले कि आपसे समाधिके बारेमें कुछ चर्चा करनी है। वे आनन्दानुगत समाधिकी बात करने लगे कि सम्प्रसन्न अन्तःकरणका ही नाम आनन्दानु गत समाधि है। जहाँ करण विषय-संस्पर्शके बिना ही खिल रहा है, उसका नाम आनन्दानुगत समाधि हो गया। जब वे बात करने लगे तो मैंने कहा कि भाई, हम समाधिकी बात तो तुमसे करेंगे, लेकिन तुम थोड़ा दूर बैठकर बात करो। सिगरेटका धुआँ, जो तुम्हें बड़ा प्यारा लग रहा है, उसे मुझे परेशानी हो रही है, मैंने सुना है कि विलायतमें स्त्रियाँ तलाक दे देती हैं सिगरेट पीनेवालोंको, लेकिन पीनेवालोंको सिगरेट कितना अच्छा लगता है—यह भी तो देखो! यही है बाह्य स्पर्श। जो संस्पर्शज भोग है, वे दुःखयोनि हैं। दुःखयोनि हैं माने आदत डाल देते हैं, अभ्यास पड़ जाता है, इनका बन्धन हो जाता है। इसी तरह एक खास तरहका मनोराज्य करनेसे भी बन्धन होता है। अभिमानसे भी बन्धन होता है। एक करोड़पतिके पास लाख रुपये रह जायें तो बस, समझ लो, उसके दुर्दिन आ गये। वह रोने ही लगेगा कि हाय-हाय, मैं करोड़पति नहीं रहा। अरे, तुम्हारे पास करोड़ न सही, लाख रुपये तो हैं! यदि हजार रुपया महीना भी खर्च करोगे तो सौ महीनोंतक चल सकता है। पता नहीं सौ महीनोंतक जिन्दा रहोगे कि नहीं! सौ महीना माने आठ वर्ष। पर करोड़पतिपनेका अभिमान नष्ट हो गया और लखपतिपना उनको जँचता ही नहीं है।

तो, यह पराधीनता है. मनोराज्यका अभिमान, विषय-भोगका अभिमान, जाति-पाँति-धनका अभिमान और उसके ऊपर आदत डाल लेनेका बन्धन। सुनते हैं, एक विलायती वक्ता था, जो व्यख्यान देते समय कमीजके गलेके बटन हाथसे पकड़कर घुमाया करता था। एक दिन किसीको मजाक सूझा और जब बह व्याख्यान देने गया तो उसके पहले उसने बटन ही निकाल लिये। जब वह बोलनेके लिए उठा, तब हाथसे बटन ढूँढने लगा और वे नहीं मिले तो बिना कुछ बोले ही बैठ गया। उसे व्याख्यान देना भूल गया, क्योंकि बटन घुमा-घुमाकर बोलनेकी आदत पड़ गयी थी।

तो, ये दुःखके जो कारण हैं, '**आद्यन्तवन्तः**' हैं। इनकी शुरुआत भी होती है और इनका अन्त भी होता है। इसलिए विद्वान् पुरुषको, जानकार पुरुषको इनमें रमना नहीं चाहिए—'**न तेषु रमते बुधः।**'

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर-विमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ (२३)

देखो भाई, हम मरनेके बादकी तो बात ही नहीं करते, शरीर छोड़नेसे पहलेकी बात जरूर करते हैं। वेदान्त अदृष्ट सुखका प्रतिपादन नहीं है, अदृष्ट पाप-

पुण्यका प्रतिपादक नहीं है और अदृष्ट नरक-स्वर्गका भी प्रतिपादक नहीं है। वेदान्त तो साक्षात् अपरोक्षका प्रतिपादक है, अदृष्टका प्रतिपादक नहीं है। इसलिए वेदान्त यह आश्वासन नहीं देता कि मरनेके बाद सुख मिलेगा। वेदान्तका यह कहना है कि इसी समय यह सुख आपके पास है, आप स्वयं यही सुख हैं—सुखस्वरूप हैं, परन्तु न पहचाननेके कारण आप दु:खी हो रहे हैं, इसलिए शरीर छूटनेके पहले पहचान लीजिये। इसी जीवनमें आप कामक्रोधोद्भव वेग सह लीजिये; वे आयें तो उनके साथ वहाँ मत जाइये। जब समुद्रमें लहर आती है, तब स्नान करनेवाले चुपचाप सिर नीचा करके बैठ जाते हैं। लहर ऊपरसे आती है फिर चली जाती है और स्नान करनेवाले बिल्कुल सुरक्षित रहते हैं। आप बुद्धिसे उसका समर्थन न कीजिये, उसको बुलाइये मत कि हे लहर, तुम आओ! हाथ जोड़कर बुलानेकी जरूरत नहीं है और जब चली जाये, तो हाय-हाय, चली गयी—करके रोनेकी भी जतरूरत नहीं है। आप उद्वेगके अनुसार न कर्म कीजिये और न बुद्धिसे उसका समर्थन कीजिये। वेग तो अपने आप ही नष्ट हो जायेगा। आप केवल यह देखिये कि आपके अधिष्ठानमें वेग उठ गया और शान्त भी हो गया—'**स युक्तः स सुखी नरः।**' आप अपने स्थानपर रहेंगे तो हमेशा सुखी रहेंगे।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ (२४)

आप अपने सुखको बाहर मत रखो—'**योऽन्तः सुखः।**' आपका सुख कहाँ है? बम्बईमें बोलते हैं कि आजकल आपका सुख बम्बईमें है कि पेरिस गया हुआ है? जिससे प्रेम हो, वह अगर पेरिस चला जाये तो उनका सुख भी पेरिस चला जाता है। कई लोग पूछ बैठते हैं कि आपका सुख आजकल लाकरमें ही है न? उसको अपने घरमें, अपनी आलमारीमें मत रखना। यदि घरमें आलमारीमें रखोगे, तो चोरी होनेका बहुत डर है, इसलिए आजकल लाकरमें रखिये। लेकिन यहाँ जो सुख है, वह पेरिस जानेवाला नहीं है। लाकरमें रखनेवाला भी नहीं है। अपने अन्तःसुखको अपने भीतर ही रखिये; स्वयं आप ही सुख हैं। सबसे अन्तर कौन है? निरतिशय आन्तर कौन है? अपना आत्मा है—'*सर्वस्मात् अन्यस्मात्, सर्वस्मात् अन्तरतरं मदयम् आत्मा।*' (बृहदाण्यक १.४.८) यही है परम प्रेमास्पद। '*यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति यदल्पं तद् मर्त्यम्।*' (छान्दोग्य ७.२३.१-२४-१) सुख तो आप ही हैं; बिलकुल आप ही हैं—'*आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्वानि भूतानि जायन्ते।*' (तै० उप० ३.६.१) '*सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति।*' (तै० २.८.१) आनन्द माने क्या? '*आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन*' (तै० २.४.१)।

इसी तरह आपका आराम भी आपके भीतर ही है। दूसरेके घरमें आराम करने मत जाइये। '**अन्तर्ज्योतिरेव यः**'—प्रकाश भी भीतर ही है। हमने एक आदमीको देखा, जिसके घरके सामनेसे बिजलीका तार जाता था। उसने ऐसी युक्ति की थी कि दो तार बना लिये थे और घरमें बल्व लगा लिया था। रातमें वह अपने उन दोनों तारोंको बिजलीकी लाइनमें फँसाकर बिजली ले लेता था। रात भर बिजली जलाता और सबेरा होते-होते दोनों तार निकालकर रख देता।

लेकिन यहाँ उधारकी, चोरीकी ज्योति काम नहीं देगी। उधार माने अध्याहार, अध्यारोप, दूसरेकी चीजको अपने ऊपर थोप लेना। यहाँ उधार लिये हुए मालसे काम नहीं चलेगा। न उधार लिया हुआ ज्ञान ही काम देगा। दूसरेका ज्ञान काम नहीं देता। लैबोरेटरीमें परीक्षा कोई दूसरा करे और दवा कोई दूसरा खाये—ऐसा नहीं होता। यहाँ तो अपनी ही लैबोरेटरीमें इसकी परीक्षा होती है, वहीं रसायन बनता है और अपना ही सब काम आता है।'**अन्तर्ज्योतिरेव यः**' —यह ज्योति अपने भीतर जगनी चाहिए. फिर '**स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्म भूतोऽधिगच्छति**'—वह योगी ब्रह्मभूत है और उसको ब्रह्म निर्वाणका अधिगम हो जाता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। (५.६)

जैसा कि पहले बताया गया, जो अपने आचरण द्वारा ब्रह्मचर्यमें, गृहस्थमें रहकर ठीक कर्मयोग नहीं कर लेगा, उसके लिए सच्चे संन्यासकी प्रापित बहुत कठिन है। यहाँ भगवान्‌ने यह नहीं कहा कि नहीं होगा, पर कहा कि '**आप्तुं दुःखम्**' सच्चा संन्यासी होना उसके लिए बहुत कठिन है, क्योंकि वह सच्चा ब्रह्मचारी नहीं हुआ, सच्चा गृहस्थ नहीं हुआ, सच्चा वानप्रस्थ नहीं हुआ तो एकाएक गेरुआ कपड़ा पहन लेनेसे उसको सुर्खाबके पर लग जायेंगे, ऐसा कैसे होगा? इसलिए पहले कर्मयोग कर लो, उसके बाद संन्यासकी प्राप्ति होती है, सच्चा संन्यास तभी होता है।

अब भगवान् श्रीकृष्णकी बातका मोड़ (मूड) कुछ ऐसा घूम गया कि संन्यासी होनेके बाद महात्मा लोग कैसे रहते हैं—उसका वर्णन करने लगे। नहीं तो किसी गृहस्थके बारेमें यदि यह बात कही जाय कि वह निराशी है, अपरिग्रही है, तो कैसे संगति बैठेगी? यथाकथंचित् निराशीको अन्तर्धर्म मान लें, परन्तु अपरिग्रहको अन्तर्धर्म कैसे मानेंगे? इसलिए यहाँ सारी-की-सारी बातें ही बिलकुल उलट जाती हैं और भगवान् यह कहते हैं कि अर्जुन, पहले तुम निष्काम होकर, फलाकांक्षासे रहित होकर, स्वधर्मरूप युद्धका अनुष्ठान करो, तभी तुम भैक्ष्याचरणके योग्य हो सकोगे। जबतक तुम स्वधर्मका पालन नहीं करते, तबतक '**श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह**

लोके' (२.५)। बात नहीं बनेगी। केवल भिखारी संन्यासी होना चाहते हो तुम, कि सच्चे संन्यासी होना चाहते हो? यह दृष्टिकोण लेकर जब लोग गीता-प्रतिपादन करने लगते हैं, तब कहते हैं कि सारी गीता कर्मपरक ही है। लेकिन ऐसे लोगोंके सामने प्रश्न-चिह्न लगाकर यह कहना पड़ता है कि आओ, जरा इसपर विचार तो करो! पहले प्रस्तुत प्रसंगपर विचार तो करो!

'**योऽन्तः सुखोऽन्तरारामः**'। '**अन्तः सुखः**' माने आत्मसुख, '*अन्तःआत्मा स एव सुखं यस्य असौ अन्तः सुखः।*' जिसका सुख आत्मा है, अनात्मा नहीं है, वह किसी बाह्य पदार्थसे तादात्म्य करके या इन्द्रियोंकी निर्विषयता मात्रसे या प्राकृत अहंकारमें अस्मिता जोड़कर या विवेकख्याति करके सुखी नहीं हो सकता। आत्मसुख ही उसका सुख है। उसका आत्मा ही परमानन्दस्वरूप है। हम हैं, हम जानते हैं और हम होश-हवासमें हैं—यही उसका सुख है। '**योऽन्तः सुखोऽन्तरारामः**' —वह क्रीड़ा कहाँ करता है? आरमण कहाँ करता है? बोले कि **अन्तरारामः**—उसके बिहारका स्थान आत्म-सत्ता है, उसके सुखका स्थान आत्मानन्द है और '**तथान्तर्ज्योतिरेव यः**' उसकी ज्योति, उसके प्रकाशका स्थान अपनी आत्मा है। वह अन्यसे ज्योति नहीं लेता, अन्यमें विहार नहीं करता और अन्यसे सुखास्वादन नहीं करता।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति। (२४)

भगवान् कहते हैं कि वह योगी जहाँ त्वं-पदार्थ और तत्-पदार्थका भेद नहीं रहता, उस ब्रह्मसे ऐक्यका अनुभव करके ब्रह्मनिर्वाणका अनुभव करता है। यदि इसका नाम कर्मयोग है तो यही कहना पड़ेगा कि '*त्वन्मुखे घृतशर्करा*' —तुम्हारे मुँहमें घी शक्कर! ऐसे कर्मयोगको तो हम सिरपर उठानेके लिए तैयार हैं। यदि इसीका नाम कर्मयोग है तो फिर क्या पूछना है? अगर इसका नाम कर्मयोग है तो तुम्हारी उमर सौ बरसकी हो बेटा!

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ (२५)

इसमें जो '**सर्वभतहिते रताः**' है यह आपका 'मोटो' है। यहाँ कर्मयोग करनेके बाद जो ऋषि हो गया है, उसका वर्णन है। यदि तुम '**ऋषयः**' का अर्थ गृहस्थ लगाओ तो हमें आपत्ति नहीं है। '**क्षीणकल्मषा** *ऋषयः अत्र कल्मष-शब्देन संचितम् क्रियमाणं प्रारब्धञ्च इति त्रिविधं कर्म उच्यते*' —इसका अर्थ है कि जिनका संचित पूर्वार्जित, क्रियमाण और फलदानोन्मुख—त्रिविध कर्म क्षीण हो गये हैं, वे ऋषि ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होते हैं। **ब्रह्मनिर्वाण** यह—सर्वका निर्वाण

होनेके बाद दीया भी खत्म, तेल भी खत्म, बत्ती भी खत्म, बुझ गयी बहिर्ज्योति। पर अन्तर्ज्योति प्रज्वलित हो रही है। उसमें छोटी-सी लौ नहीं है, तेल नहीं है, बत्ती नहीं है, दीया नहीं है, किन्तु फिर भी प्रकाश है। परिच्छिन्नता दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। जिसके महान् प्रकाशमें सम्पूर्ण दृश्य डूब गया है, उसका नाम है ब्रह्मनिर्वाण। ब्रह्म रह गया और बाक़ीका निर्वाण हो गया।

और देखो, '**ऋषयः**' तो है ही। ऋषिको ऋषि क्यों कहते है? **ऋषयः** माने *'ऋष् गतौ' ऋषयः ज्ञानस्वरूपाः'*। *ऋषयो मन्त्राः*—ऋषि मन्त्र हैं। ऋषि ज्ञान है। *'ऋषि दर्शनात्'* ऋषिको ऋषि इसलिए कहते हैं कि उसे दर्शन प्राप्त है।

अब उनका परिचय देखो। '**छिन्नद्वैधाः**' —एक तो उनके मनमें किसी बातके लिए दुविधा नहीं है कि इधर जायें या उधर जायें! पूर्व जायें तो परमेश्वर मिलेगा! और पश्चिम जायेंगे तो कुछ और मिलेगा! यह संशय उनके मनमें नहीं है। एक महात्माके बारेमें विख्यात है कि वे जहाँ बैठते थे या सोते थे, वहाँसे उठनेके बाद जिधर उनका मुँह होता था, उधर ही चल पड़ते थे। अरे, परमात्मा तो पूर्व भी है, पश्चिम भी है, उत्तर भी है, दक्षिण भी है, ऊपर भी है, नीचे भी है। परमात्माके लिए किसी खास दिशामें जानेकी जरूरत नहीं है। उनको यह 'डाउट' (ष्ठश्नह्वड्ढह्ल) नहीं था कि ईश्वर कहाँ मिलेगा! डाउट माने द्वैत अथवा संशय ही होता है। अरे भाई इधर भी, उधर भी ! उनका द्वैध कट गया, दुविधा जो उनके दिलमें थी वह मर गयी। संशय अज्ञानका बच्चा है। वह कट गया है और '**यतात्मानः** — उनकी इन्द्रयाँ तथा मन—सब-के-सब काबूमें हैं। वे '**सर्वभूतहिते रताः**' अर्थात् सर्वभूतोंके हितमें संलग्न हैं। जब मैंने श्रीशङ्करानन्द स्वामीकी गीता-टीका पढ़ी थी तो उसमें इसका अर्थ ऐसे लिखा हुआ था कि *'सर्वभूतेषु हितं यद् ब्रह्म तस्मिन् सर्वभूतहिते ब्रह्मणि रताः'*—सम्पूर्ण भूतोंमें जो निहित ब्रह्म है, उसमें उनकी रति है। वे इसको लोकोपकारमें नहीं लगाते थे। गीतापर शङ्करानन्दी टीका बड़ी बढ़िया है। साधुओंके कामकी तो वही है।

नीलकण्ठमें एक महात्मा रहते थे। वे अपने मकानमें-से कभी बाहर नहीं निकलते थे। गंगा-स्नान भी नहीं करते थे; विश्वनाथका दर्शन भी नहीं करते थे। रोटी कहीं बाहरसे आजाती तो खा लेते थे। एकबार मैं उनके पास गया तो देखा कि वे शङ्करानन्दी टीकाका स्वाध्याय करते थे। उन्होंने मुझे बताया कि शांकरभाष्य तो श्रवण है; वह तो एक धक्केमें ही योग्य अधिकारीके अज्ञानका नाश कर देता है। कोई प्रतिबन्ध हो तो मधुसूदनी टीका पढ़नी चाहिए और यदि विपर्यय शेष हो तो उसका निवारण करनेके लिए शङ्करानन्दी टीका है। शङ्करानन्दी टीका निदिध्यासन है, मधुसूदनी मनन है और शाङ्करभाष्य श्रवण है। उत्तम अधिकारीके लिए शाङ्करभाष्य पर्याप्त है, परन्तु संशय-विपर्यय हो तो मधुसूदनी-शङ्करानन्दी पढ़ लेनी चाहिए।

'**सर्वभूतहिते रता:**'—इसमें जो 'हित' शब्द है, यह औपनिषद है। कौषीतकी उपनिषद्‌में कथा आती है कि जब इन्द्रने प्रतर्दनसे कहा कि वर माँग लो तो प्रतर्दनने कहा कि बाबा, हम नहीं जानते कि क्या माँगना चाहिए। इसलिए—'*यदेव हिततमं तदेव मे ब्रूहि*'—जो हिततम हो, वह हमें बताओ। इन्द्रने कहा कि एक ऐसा ज्ञान है, जिसे प्राप्त कर लेनेपर पाप-पुण्यका संश्लेष नहीं होता है। वहीं इन्द्रने पापोंके जो नाम गिनाये हैं, उन्हें हम आपको नहीं सुनाना चाहते, क्योंकि '*कथापि खलु पापानां अलम् अश्रेयसे यत:*' (शिशुपालवध २.४०) पापोंके नाम ले-लेकर नहीं गिनाना चाहिए कि यह भी पाप है, यह भी पाप है। पापोंके नामोच्चारणसे भी अमंगल होता है। यदि नाम ले-लेकर गिनाना ही हो तो भगवान्‌का ही नाम लेना चाहिए। असलमें सर्वभूतोंका हित इसमें नहीं है कि उसके लिए कोई खास काम करने लगें या खास स्थितिमें बैठ जायें। यह सर्वभूतहित नहीं है। जबतक अविद्यान्धकारका नाश न हो जाये, तबतक सर्वभूत-हित होता ही नहीं।

योगवासिष्ठमें उपशम-प्रकरणमें एक कथा आती है। प्रह्लादका नारायणीकरण हो गया था; नारायणका ध्यान करते-करते प्रह्लाद नारायणस्वरूप हो गये थे—उन्हींकी तरह चतुर्भुज, शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी श्यामवर्ण! देवताओंने नारायणसे प्रार्थना की कि महाराज, यदि प्रह्लाद भी आपके समान हो गये, तब तो हम लोगोंकी दुर्गति हो जायेगी। इसके बाद नारायण गरुड़पर चढ़कर आये और बोले कि प्रह्लाद, वर माँगो! प्रह्लादने कहा कि महाराज, आपके ज्ञानमें जो सर्वोत्तम है, वह हमें बताइये। आप सबसे श्रेष्ठ किसे जानते हैं? वही ज्ञान हमें चाहिए। भगवान्‌ने वर देते हुए कहा कि अन्नमय कोशसे लेकर आनन्दमय कोश-पर्यन्त तुम्हें विवेक होकर ब्रह्मका बोध हो जाना ही सर्वोत्तम ज्ञान है। यह ज्ञान तुम्हें प्राप्त हो जाये। यही सर्वभूत-हित है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ (२६)

कई लोग ऐसा कहते हैं कि गीतामें तो संन्यासियोंका वर्णन ही नहीं है। लेकिन हम जितने श्लोक पढ़ते जा रहे हैं—क्या इनमें संन्यासीकी चर्चा नहीं है? अभी हमने जो श्लोक पढ़ा, इसमें प्रयुक्त '**यतीनाम्**'का क्या अर्थ है? क्या उसका अर्थ '*सन्तानोत्पादकानाम्*' है? नहीं '**यति**' शब्दका अर्थ है'**काम-क्रोध-वियुक्तानाम्**'—स्वयं काम-क्रोधने ही जिनको छोड़ दिया है। जिनके पास डरके मारे काम-क्रोध नहीं फटकते हैं। वे यह सोचते हैं कि यदि हम इनके पास गये और इन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोलकर ज्ञानदृष्टिसे हमें देखा, तो हम मर जायेंगे।

शंकरजी तो अपने तृतीय नेत्रसे, ज्ञान-नेत्रसे केवल कामको मारते हैं, क्रोधको नहीं मारते, पर तत्त्वज्ञ लोग तो जब ज्ञान-दृष्टिसे देखते हैं तो काम ही नहीं, क्रोध भी मर जाता है। शंकरकी दृष्टिसे केवल काम मरता है और तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे काम-क्रोध दोनों मरते हैं—यह विशेषता है। इसलिए ये ब्रह्मनिष्ठ यतियोंके पास नहीं फटकते हैं।

महात्माओंके निर्मल अन्तःकरणमें केवल काम ही नहीं, कामानुज क्रोध भी प्रवेश करनेसे डरता है। इनका जो तीसरा नेत्र है, वह बड़ा विलक्षण है।

असलमें ज्ञानीके पास तीसरा नेत्र नहीं चौथा नेत्र है। तीसरा नेत्र तो शंकरजीके पास है और ज्ञानीके पास चौथा है। तुरीय नेत्र है यह! उसके डरसे काम-क्रोध भाग गये और बोले कि बाबा, यह यति है, '**यतचेतस्**' है। ज्ञान इसका सहज स्वभाविक नहीं है, इसने पहले प्रयत्न करके अपने मन और इन्द्रियोंको वशीभूत कर लिया और तब इसमें ज्ञानका अविर्भाव हुआ है।

तो '**अभितो ब्रह्मनिर्वाणम्**' जिनको आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है, उनका ब्रह्मनिर्वाण अन्तरमें, हृदयके भीतर नहीं हैं। तब कहाँ है, उनका ब्रह्मनिर्वाण? बोले कि उनके तो चारों तरफ ब्रह्मनिर्वाण ही है! वे ब्रह्मनिर्वाणपर पाँव रखकर चलते हैं, ब्रह्मनिर्वाणका पानी पीते हैं, ब्रह्मनिर्वाणमें साँस लेते हैं, ब्रह्मनिर्वाणको आँखसे देखते हैं और ब्रह्मनिर्वाण उनके शरीरमें वायु बनकर गुदगुदाता है। उनके ऊपर ब्रह्मनिर्वाण, नीचे ब्रह्मनिर्वाण। '**ब्रह्मैवेदमृतं पुरस्तात्**' (मुण्डक उप २.२.११)। **अभितः** माने चारों ओर—पूर्व-पश्चिम, ऊपर-नीचे बाहर-भीतर, आगे-पीछे, मैं-तू, यह-वह— सबका सब है। ब्रह्मनिर्वाण ही ब्रह्मनिर्वाण है।

देखो, यहाँ इस सम्यक् दर्शनका अन्तरङ्ग अभ्यास है, वह भी श्रीशंकराचार्यकी दृष्टिमें हम लोगोंके हकमें ही है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ (२७)
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ (२८)

हम आपको मना नहीं करते हैं, पर आप अपनेको ईमानदारीसे '**मुनिर्मोक्षपरायणः**' बोलकर देखिये तो! आप कहिये कि '**अहं मुनिर्मोक्षपरायणः**' और फिर देखिये कि आपपर इसका क्या असर पड़ता है।

'**स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्** *विषयाः*'। बाह्य विषयोंको बाहर ही छोड़ दो। जो जहाँ है, उसको वहीं रहने दो, उनकी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है।'**चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः**'—भौहोंके बीचमें अपने चक्षुको कर लो। फिर '**प्राणापानौ समौ कृत्वा**'—प्राणापानकी गति सम कर लो। '**नासाभ्यन्तरचारिणौ**'—प्राण-आपानकी गति

सम होनेसे सुषुम्नाका संचार होता है अथवा कुम्भक स्वयं हो जाता है। प्राण और आपानकी गति सम होनी चाहिए। इसकी अनेक पद्धतियाँ हैं। नाक दबाकर प्राणायाम करनेवाली विधि यह नहीं है; नाक दबाना तो आठ वर्षके बच्चेको भी सन्ध्या-वन्दन करनेके लिए सिखाया जाता है।

जब साँस आकर भीतर जाती है तो भ्रूमध्यसे होकर, शिरोभागसे होकर धीरे-धीरे कण्ठमें आती है, हृदयसे नाभिमें आती है। आप उसीके साथ-साथ—जैसे-जैसे हवा भीतर जाती है, वैसै-वैसे मनको ले जाइये और फिर वह जब वहाँ एक क्षण रुके तो रुक जाइये और फिर जब वहाँसे ऊपरको चले तो पहले हृदयमें, फिर कण्ठमें, फिर आज्ञाचक्रमें और फिर नासिकामें ले जाइये। वह नासिकासे बारह अंगुल दूरतक अधिकसे-अधिक आती है, वहाँ एक क्षण रुक जाती है फिर वहाँसे लौटती है। आप बिल्कुल साँसपर जोर मत लगाइये; वह जैसे चलती है, उसके साथ अपने मनको कर दीजिये। आप अपने मनीरामको साँसके साथ भीतर ले जाइये और फिर साँसके साथ बाहर निकालिए। जहाँ साँस रुक जाये, वहाँ रुक जाइये और जहाँ चलने लगे, वहाँ चलने लगिये। प्राण और मन इन दोनोंको एक साथ कर दीजिये।

'नासाभ्यन्तरचारिणौ'—इसमें भेद नहीं होना चाहिए। नासाभ्यन्तरचारीका यही अर्थ है। ऐसा करनेपर आप देखेंगे कि इन्द्रिय-मन-बुद्धि सब आपके वशमें हो गये हैं। आप अनुभव करेंगे कि आप मुनि हैं। एक बात जरूर है कि यदि आप कुछ पकड़ना चाहते हैं तो यह बात नहीं बनेगी—**'मुनिर्मोक्षपरायणः'**। क्योंकि वहाँ हम छूटना चाहते हैं, पाना कुछ नहीं चाहते। सबसे छूटा हुआ आत्मा ब्रह्म है और किसीको पकड़े हुए आत्मा बद्ध है, जीव है। यदि वह किसीको पकड़ता है तो वह बद्ध है और यदि वह सबको छोड़ देता है तो मुक्त है। बस इतनी ही बात है।

तो **'मुनिर्मोक्षपरायणः'**—मोक्ष ही आपका स्वरूप है। आप किसीके साथ सम्बन्ध न चाहें। सम्बन्धका नाम बन्धन है। उसको तो भगवान्‌ने ही भेज दिया है कि हे बन्धन, तुम जरा दुनियामें घूम आओ। जब वह आया, तब चारों ओर घूमघामकर कहने लगा कि तुम हमें ले लो, तुम हमें ले लो। लेकिन कोई उस बन्धनको स्वीकार ही न करें। वह लौटकर आया भगवान्‌के पास और उनके सामने रोने लगा कि हमें तो कोई नहीं लेता है। अब हम क्या करें महाराज! हमारा जीवन तो व्यर्थ हो गया! भगवान्‌ने कृपा करके उसके मुँहपर 'सम्'का बढ़िया सुन्दर घूँघट चढ़ा दिया। अब जब बन्धनके मुँहपर सम्यक्ताका घूँघट चढ़ा तब वह सम्बन्ध हो गया और जब सम्बन्ध हो गया तो लोग कहने लगे कि हमें चाहिए, हमें

चाहिए! फिर तो साधु लोग भी कहने लगे कि हमारे काका-गुरु लगते हैं, ये भतीजा-चेला लगते हैं। नहीं तो गुरु-चेला क्या होते हैं? महात्माओंके गुरु-चेला नहीं होते हैं। गुरु-चेले पन्थाई लोगोंमें होते हैं; पन्थाई लोग दूसरे हैं, महात्मा लोग दूसरे हैं। आपलोग बुरा नहीं मानना, अगर आपमें कोई पन्थाई बैठे हों तो! हम तो यह आशा करके बोल रहे हैं कि आपलोग सब पन्थ पार कर गये हैं, निर्ग्रन्थ हैं, पंथातीत हैं। यदि कोई पंथाई हों और अपना पन्थ बढ़ानेके लिये चेलोंकी संख्या बढ़ा रहे हों तो संन्यास-धर्ममें यह नहीं है। शिष्य-संग्रह और धन-संग्रह, दोनों ही संन्यास धर्ममें वर्जित हैं।

तो, भगवान् कहते हैं कि '**विगतेच्छाभय-क्रोधः**' अप्राप्तकी इच्छा मत करो; जो प्राप्त है, वह खो जाये तो उससे डरो मत और मान लो, कोई तुम्हारी इच्छामें विघात करे या भय उत्पन्न करे तो उसके ऊपर क्रोध मत करो। जो ऐसा करता है, वह सदा मुक्त है। वह उत्पाद्य मुक्त नहीं है, वह तो पहले भी मुक्त ही था और आगे भी मुक्त ही रहेगा—'**सदा मुक्त एव सः।**'

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ (२९)

'**भोक्तारं यज्ञतपसाम्**'—इसका अर्थ क्या है? देखो, गीताके अनुसार सकाम पशुयाग यज्ञ नहीं है। आप यह ध्यानमें ले लें कि गीताके काम्य-कर्मका नाम यज्ञ नहीं है। इसमें तो जो नित्य और नैमित्तिक कर्म है, वे यज्ञ हैं। पुत्रेष्टि गीताका यज्ञ नहीं है, शरीरेष्टि गीताका यज्ञ नहीं है। किन्तु अन्तःकरणके प्रक्षालनके लिए जितने भी नित्यनैमित्तिक कर्म होते हैं, उनका नाम गीतामें यज्ञ हैं। जिससे अपूर्वकी उत्पत्ति होकर मरणान्तर फल मिलता है, वह गीतामें यज्ञ नहीं है।

एक बात और। जिसमें कर्म स्वातन्त्र्यतया फल देता है, वह गीताका यज्ञ नहीं है, जहाँ कर्माराधित होकर ईश्वर फलदाता है, वह गीताका यज्ञ है। पूर्वमीमांसामें कर्म स्वातन्त्र्येण अपूर्व बनकर समयपर फल देता है। अचेतन अपूर्व फलदाता है पूर्वमीमांसामें। यह उद्घोष है। यदि कोई झूठमूठ अपूर्वको हमारे वेदान्त-दर्शनके साथ मिलाना चाहे तो वह नहीं मिलता है। यहाँ तो कर्मका फलदाता ईश्वर है—'**फलमत उपपत्तेः**' (ब्रह्मसूत्र ३.२.३८)। यही युक्तियुक्त है कि चेतन परमेश्वर कर्मका फल दे, अपूर्व कर्म स्वयं समय पर फलदान करे। ऐसा कुछ नहीं—न संचित, न क्रियमाण और न प्रारब्ध। ईश्वर यदि प्रसन्न हो जाये तो क्षणभरमें सब कर्मोंसे मुक्त कर दे। यही गीताका परमेश्वर है। इसको आप वेदान्त-दर्शनके पक्षमें ले जाइये, किन्तु इसे पूर्वमीमांसाके पक्षमें नहीं ले जाया जा सकता। सृष्टिके एक विद्वान् नहीं, हजारों विद्वान् गीताको धर्मपक्षमें नहीं ले जा सकते; यह जब जायेगा तब ईश्वर-पक्षमें ही जायेगा।

अतः '**भोक्तारं यज्ञतपसाम्**' का अर्थ यह हुआ कि हम जो परोपकारके लिए काम करते हैं, भजन करते हैं, त्याग करते हैं, तपस्या करते हैं, उसका भोग ईश्वर करता है। हम अपने लिए जो संयम करते हैं, व्रत करते हैं, उपवास करते हैं, उसका उपभोग ईश्वर करता है। हमने आज नहीं खाया तो हमारा वह खाना ईश्वरने खा लिया। यह जो उपवास है, दूसरोंको खिलाना है, वह अन्य पक्षमें तो यज्ञ और स्वपक्षमें तपस्या हो जाता है। क्या आप ईश्वरको भोग लगाना चाहते हैं ? तो एक भूखेको भोजन कराकर ईश्ववरको भोग लगा दीजिये। वही भोक्ता है।

'**भोक्तारं यज्ञतपसाम्**'—इसका अर्थ श्रीशंकराचार्यने बहुत बढ़िया किया है। वह क्या है ? वे कहते हैं कि ईश्वर ही यजमानके भीतर बैठकर यज्ञ ग्रहण कर रहा है और देवताके भीतर बैठकर यज्ञ ग्रहण कर रहा है। इसलिए आप अपनेको न कर्ता देखिये और न इन्द्रादि देवताको भोक्ता देखिये। दोनोंमें जो अन्तर्यामी है, वही कर्ता-भोक्ता है। यदि तुम यह मानते हो कि कर्ता मैं हूँ और भोक्ता इन्द्र है, तो तुम्हारे मतमें बड़ा भारी व्यतिक्रम है। असलमें कर्मका जो कर्ता होता है, वही कर्मके फलका भोक्ता होता है। कर्ता हो तुम और भोक्ता बन जाये इन्द्र—ऐसा तो होना कभी शक्य ही नहीं है। इसलिए जो अन्तर्यामित्वेन तुम्हारे हृदयमें कर्मकी प्रेरणा दे रहा है, वही भोगित्वेन इन्द्रके भीतर बैठकर उसको भोग दे रहा है। असलमें अन्तर्यामी है। दोनोंका फल एक परमेश्वर ले रहा है; करनेवाला भी वही और करानेवाला भी वही।

एक बार एक सज्जनने हमें बहुत डराया कि पूर्वमीमांसामें ऐसा है, पूर्वमीमांसामें वैसा है। इसपर हमें जोश आगया। हमने कहा कि भाई, तुम मीमांसाका नाम लेकर उन लोगोंको डराया करो, जिन्होंने कभी मीमांसा नहीं पढ़ी। यह विभीषिका हमारे ऊपर इसलिए प्रभाव नहीं डालेगी कि पूर्वमीमांसाके अनुसार संन्यासश्रमकी कोई कीमत ही नहीं है, यहाँतक कि पूर्वमीमांसाके अनुसार ईश्वरकी कोई कीमत नहीं है। अपूर्व-अचेतन, अचेतन-अपूर्व ही फल दे-लेता है। जिस मतमें सृष्टि-प्रलय ही नहीं है; जिस मतमें वैराग्यका कोई स्थान ही नहीं है, जिस मतमें अन्धे-पंगु आदि ही संन्यासके अधिकारी हैं, वह मत हमारे सामने कोई विभीषिका नहीं उत्पन्न कर सकता।

'**सर्वलोकमहेश्वरम्**'—हमारे तो एक परमेश्वर ही सर्वलोक-भहेश्वर है। यदि सारी सृष्टिका परमेश्वर एक न हो और इस शरीरका स्वामी जीव न हो तो जीवत्व और ईश्वरत्व—दोनोंका परित्याग कर देनेपर अखण्ड चेतनमें एकता कैसे होगी ? अखण्ड चेतनकी एकता तबतक उत्पन्न नहीं होगी, जबतक ईश्वरकी सिद्धि न हो।

पूर्वमीमांसामें तो सृष्टिकर्ता ही नहीं है। *'न कदाचिदनीदृशं जगत्'*—दुनिया हमेशासे अपने आप चल रही है।

'सुहृदं सर्वभूतानाम्'—हमारा परमेश्वर उपकार-निरपेक्ष है, सबका भला करनेवाला है, सुहृदय है। ऐसा नहीं है कि उसको भेंटपूजा चढ़ाओ, तब तो वह भलाई करेगा और भेंट-पूजा न चढ़ाओ तो भलाई नहीं करेगा। भला करना तो उसका सहज स्वभाव है। जो अर्घ्य नहीं देता है, सूर्य उसको भी प्रकाश देता है। इसलिए जब सूर्यका यह स्वभाव है, तब ईश्वर भेंट-पूजा करनेवाले और न करनेवाले—दोनोंका हित कैसे नहीं कर सकता है? **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** इसका अर्थ है कि परमेश्वर हमसे दूर नहीं है, हमारे हृदयमें ही उसका निवास है।

एक महात्माने हमें एक बड़ी अच्छी बात सुनाई थी। एक राजा बड़ा दयालु था। यह किसी विद्यालयमें गया। उसके सामने विद्यार्थियोंसे प्रश्न पूछे गये। उनमें एक साधारण-सा दीखनेवाला लड़का सब प्रश्नोंके उत्तर बड़े बढ़िया ढंगसे देता गया। राजाने कहा कि यह तो बड़ा बुद्धिमान लड़का है। यह किसका पुत्र है? विद्यालयके अधिकारी बोले कि अनाथ है, इसके माँ-बाप नहीं हैं। राजाने कहा कि तब इसके पढ़ने-लिखनेका बन्दोतस्त कैसे होता है? अधिकारीने उत्तर दिया कि हम लोग किसी तरह कुछ ले-देकर और कुछ माँग-मूँगकर इसकी गुजर-वसर कर देते हैं। राजाने कहा कि आप लोग कुछ न कीजिये। इसकी पढ़ाई-लिखाईका, इसके निर्वाहका सारा व्यय मेरी ओरसे आया करेगा। राजाने मनमें यह निश्चय किया कि हमारे तो कोई बेटा नहीं है, इसलिए इसीको हम अपना उत्तराधिकारी बनायेंगे। अब उस लड़केको राजाकी ओरसे निर्वाह-व्यय मिलने लगा और इससे वह बड़ा प्रोत्साहित हुआ तथा और भी परिश्रम-पूर्वक पढ़ने-लिखने लगा। वह बड़ा भारी बुद्धिमान हो गया। पर वह यह सोचता रहता था कि जबतक पढ़ता हूँ तबतक तो राजाकी ओरसे व्यवस्था है, जिस दिन पढ़ना बन्द हो जायेगा, उस दिन क्या काम करूँगा? कहाँ जाऊँगा? किसकी नौकरी करूँगा? क्या व्यापार करूँगा? यह चिन्ता उसे सताती रहती थी। जब वह पढ़-लिख चुका तब राजाके यहाँसे आज्ञा-पत्र आया कि दरबारमें हाजिर हो जाओ। डरता-डरता राज-दरबारमें गया। राजाने उसके लिए अपनी बगलमें आसन लगवा रखा था; उसपर उसे बिठाया और कहा कि तुम तो हमारे युवराज हो! हमने तो जिस दिन तुम्हें देखा था, उसी दिन यह निश्चय कर लिया था कि जब तुम पढ़-लिख जाओगे, तब तुम्हें अपना उत्तराधिकारी बना देंगे। अब तो वह राजकुमार हो गया, उत्तराधिकारी हो गया और उसको बड़ी प्रसन्नता हुई! लेकिन इससे पहले उसे कुछ मालूम नहीं था, इसलिए वह चिन्तित

था। जब उसे मालूम हुआ कि ओहो, राजाने हमें अपना राजकुमार, उत्तराधिकारी बना रखा है, तब उसे बड़ा संतोष, बड़ी शान्ति प्राप्त हो गयी! वह राजकुमार उसी दिन हो गया था जिस दिन राजाने मन-ही-मन उसका वरण किया, लेकिन जबतक उसकी पढ़ाई-लिखाई पूरी नहीं हुई, तबतक उसे कुछ मालूम नहीं पड़ा और वह चिन्तित बना रहा।

यह कथा बड़ी पुरानी है। इस कथाको रामानुज सम्प्रदायमें रामानुजके पूर्ववर्ती आचार्य द्रविडाचार्यने इस रूपमें लिखा है। श्रीशंकराचार्यने भी बृहदारण्यकोपनिषद्में इस कथाका उल्लेख किया है, परन्तु उसमें यह अन्तर है कि वह राजकुमार भीलोंमें मिल गया था।

अब आप यह समझ लो कि आप तो परमेश्वरकी आत्मा हो, परमेश्वरके अंश हो, परमेश्वरके सखा हो, परमेश्वरके पुत्र हो। परमेश्वरने तो पहलेसे ही निश्चय कर रखा है; आपको मालूम नहीं है। अब आप मालूम कर लो। हम आपको परमेश्वरकी ओरसे यह दस्तावेज देते हैं, प्रमाण-पत्र देते हैं कि परमेश्वर आपका सुहृद् है, आपका भला चाहनेवाला है। इसलिए अब आप यह जानकर प्रसन्न हो जाओ!

॥ इस प्रकार यह 'कर्मसंन्यासयोग' नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ॥



छठवाँ अध्याय

अब, आओ। छठें अध्यायमें प्रवेश करें और यह देखें कि योगाभ्यासकी विधि क्या है—

योगाभ्यास-विधिर्योगी चतुर्था योगसाधनम्।
योगसिद्धिस्तु योगस्य पारम्यम् तद् इहोच्यते॥

पहले इसको गृहस्थाश्रमसे ही प्रारम्भ करते हैं। परन्तु इससे यह मत समझना कि संन्यासी कुछ छोटा पड़ गया है। जब किसी सेठकी प्रशंसा करते हुए कहा जाता है कि अरे, ये कोई मामूली सेठ थोड़े ही हैं, ये तो राजा हैं तो वहाँ बड़ा कौन हुआ? सेठ या राजा? राजा ही बड़ा हुआ! इसी तरह यदि यह कहा जाये कि सेठ जी ऐसे धर्मात्मा हैं कि प्रतिदिन सन्ध्या-वन्दन करते हैं, स्वाध्याय करते हैं और वलिवैश्वदेव भी करते हैं, इसलिए ये वैश्य नहीं, ब्राह्मण ही हैं तो यह मत समझना कि यहाँ ब्राह्मण छोटा हो गया और सेठ बड़ा हो गया। ब्राह्मण कहकर तो सेठकी प्रशंसा ही की जा रही है। अतः बातका मतलब समझना चाहिए। भगवान् कहते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ (१)

इसका अर्थ है कि *'अयम् निरग्निर्न भवति, किन्तु संन्यासी भवति।'* इसने अग्निका परित्याग नहीं किया है, परन्तु संन्यासी है। यह चारो ओर कर्म-ही-कर्म करता हो, सो बात नहीं है; यह सारे कर्म नहीं करता, परन्तु योगी है। क्यों योगी है? इसलिए योगी है कि कर्म करता है, परन्तु *'आश्रितः न भवति'*—कर्मफलका आश्रय नहीं लेता, कर्ममें सब कर्म नहीं करता। *'कार्यं कर्म करोति'*—जो कर्तव्यकर्म हैं, उन्हींको करता है।

यहाँ भगवान्ने कर्मके साथ *'कार्यम्'* जोड़ दिया है। इसका अर्थ है कि कर्मयोगी लोग यह समझते हैं कि अंट-शंट चाहे कुछ भी करो, **'कार्यं कर्म करोति'**—इसका तात्पर्य यह है कि जो शास्त्र-विधानसे प्राप्त है, वही कर्म करता है, निषिद्ध और काम्य कर्म नहीं करता। कार्य वही है, जिसका पालन न करनेसे प्रत्यवायका श्रवण होता है-*'अकरणे प्रत्यवाय-श्रवणम्'*काम्य कर्म होता है स्वर्गादिकी



प्राप्तिके लिए और अण्ट-शण्ट कर्म होते हैं लौकिक लाभके लिए। किन्तु योगी नित्य और नैमित्तिक कर्म करता है, कर्तव्य कर्म करता है। यह भी बात है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वेद पढ़ें, दान करें—ये तो उनके आवश्यक कर्तव्य हैं। परन्तु पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना—उनके आवश्यक कर्म नहीं हैं। बल्कि दान लेनेका काम वैश्य और क्षत्रियके लिए बिलकुल मना ही है। उनके लिए पढ़ाना और यज्ञ कराना भी आपतकालमें ही है, सामान्य कालमें नहीं। जीविकार्थ कर्मोंको करनेसे पाप लगता है। किन्तु धर्मार्थ कर्मोंको न करनेसे पाप लगता है। यदि वह स्वाध्याय छोड़ दे, यज्ञ छोड़ दे, दान देना छोड़ दें तो इससे उसको पाप नहीं लगता है। क्योंकि धर्ममें जीविकार्थ धर्म और अन्तःकरण-शुद्ध्यर्थ धर्म—ये दो विभाग हैं। इसलिए जिस कर्मके परित्यागसे प्रत्यवाय लगता है, उस कर्मको अवश्य करना चाहिए; वह कार्य-कर्म है, कर्तव्य कर्म है। किन्तु कर्तव्य-कर्म करके, उसको पूरा करके उसके फलके लिए लड़ने लगे और कहे कि मैंने इतने दिनोंतक निष्काम भावसे तुम्हारी सेवा की, श्रम करते-करते मेरे हाथ घिस गये, लेकिन तुमने हमें कुछ नहीं दिया तो यह निष्काम कर्मका उपहास है। **'स संन्यासी च योगी च'**—जो कर्म करता है वह कर्मयोगी है और जो फल नहीं चाहता, वह संन्यासी है। इस प्रकार कर्म करनेवालेमें योगीपना और संन्यासीपना-दोनोंका निरूपण करके भगवान्‌ने उसके महत्त्वका स्थापन किया कि कर्म करना हो तो ऐसे करना चाहिए। यह कर्म करनेकी विधि है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ (२)

भगवान् कहते हैं कि संन्यासका ही नाम योग है। संन्यास शब्दके दो अर्थ हैं। एक तो *'सम्यक्-न्यासः संन्यासः'* अर्थात् भली-भाँति किसीका परित्याग कर देना है। कबीरके शब्दोंमें *'ज्यों-की-त्यों धर दीन्हि चदरिया'* है। अनात्माको आत्माके रूपमें छोड़ देना, मायाको मायाके रूपमें छोड़ देना—इसका नाम संन्यास है। दूसरा अर्थ है संन्यासका *'सति परमात्मनि अधिष्ठाने न्यासः अध्यस्तत्वेन निरीक्षणं संन्यासः।'* सत् परमात्मामें, अधिष्ठानमें सम्पूर्ण प्रपंचको अध्यस्तके रूपमें देखनेका नाम संन्यास है। सत् न्यासका, सति न्यासका रूप भी संन्यास ही बनेगा और सम्यक् न्यासका रूप भी संन्यास ही होगा। 'म्'का भी न होगा और 'त्'का भी न होगा, इसलिए डबल 'न्न' जोड़कर 'सन्न्यास' शब्द बनता है। सिंगल 'न्' का सन्न्यास नहीं होता, डबल 'न्न' का 'सन्न्यास' होता है। डबल 'न्न' होना माने नेति-नेति। एक नेति नहीं, दो नेति होना चाहिए, माने स्थूल और सूक्ष्म दोनोंका निषेध होना चाहिए। तभी सन्न्यास होता है। यही योग है माने परमात्मासे मिलन है।

यदि संकल्पका संन्यास नहीं किया तो योगी कहाँसे होंगे? संकल्प माने कामका बाप। यह तो सर्व-प्रसिद्ध ही है कि कामके बापका नाम संकल्प है। महाभारतमें एक 'मंकि गीता' है। मंकिका अर्थ बन्दर मत समझना; यह संस्कृतका शब्द है, अंगरेजीका शब्द नहीं है। मंकि गीतामें कामको ललकारते हुए कहा गया है कि—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायते।
न त्वां संकल्पयिष्यामि ते न मे भविष्यति॥ (शान्तिपर्व १७७.२५)

अरे ओ काम, मैं तेरी जड़ जानता हूँ। कामने कहा कि वाह-वाह, तुम्हें हमारी जड़का पता कैसे चला? बोले कि *'संकल्पात्किल जायते'*—तुम संकल्पसे पैदा होते हो। जब किसी वस्तुमें सम्यक्त्वकी कल्पना होती है कि यह चीज बहुत बढ़िया है, तब उसे पानेकी इच्छा पैदा हो जाती है। इसलिए मैं तुम्हारी जड़ उखाड़कर फेंक दूँगा—*'न त्वां संकल्पयिष्यामि ते न मे भविष्यति।'* ऐसा कैसे करोगे? ऐसे करूँगा कि मैं दुनियामें किसी चीजको अच्छी नहीं समझूँगा। जब अच्छी नहीं समझूँगा, तब उसे पाने-हटानेकी इच्छा ही हमारे अन्दर कहाँसे आयेगी।

इसलिए जो कामको नहीं काटता, कामके बापको ही उखाड़कर फेंक देता है, वही योगी होता है। जिसने संकल्पका संन्यास नहीं किया, वह चाहे कोई हो ('कश्चन'का अर्थ है कि भले ही उसने संन्यासाश्रमकी दीक्षा ले ली हो) पर यदि उसके मनमें संकल्प-ही-संकल्प बना है कि यह करेंगे, वह करेंगे, इतने चेले बनावेंगे और हमारे चेले दुनियामें इतना-इतना काम करेंगे तो पादरियोंवाले मिशनकी नकल हमारे संन्यासमें नहीं है। पादरी तो पुरोहित हैं। यदि हमारे पुरोहित लोग भी पादरियोंकी तरह संघटित हो जायें तो वे हिन्दू-धर्मका संरक्षण और संवर्द्धन करनेमें समर्थ हैं। पादरी-धर्म पुरोहित-धर्म है, संन्यास धर्म नहीं है। मिशनरी ढंगसे काम करनेके लिए संन्यास नहीं है। मिशनरी ढंगसे काम करनेके लिए ब्राह्मण-पुरोहित हैं। वे अपने सम्प्रदायके अनुसार सबका संचालन करते हैं। संन्यास तो है व्यक्तको अव्यक्तमें लीन कर देना और व्यक्त-अव्यक्तको छोड़ देना। जो व्यक्त है, वही अव्यक्त है और जो अव्यक्त है वही व्यक्त है। इसलिए संन्यासी दोनोंको छोड़ देता है। क्योंकि व्यक्त रहेगा तो अव्यक्त हो जायेगा और अव्यक्त रहेगा तो वह व्यक्तमें लीन होगा। व्यक्त मरकर अव्यक्तमें मिलेगा और अव्यक्त पैदा होकर व्यक्त हो जायेगा। इसलिए इन दोनों मरने-जन्मनेवालोंको छोड़कर जो अपने स्वरूपमें बैठा है, उसका नाम संन्यासी होता है। संकल्पका संन्यास किये बिना कोई योगी नहीं हो सकता।

अब एक और बात देखो। यह सिद्धान्त गीताका है और कर्मियोंके पास इसका कोई जवाब नहीं है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ (३)

यहाँ भगवान्‌ने प्रवृत्ति और निवृत्तिका विभाग बताते हुए कहा है कि कोई मुनि योगपर आरूढ़ होना चाहता है तो उसके पास योगारूढ़ होनेके लिए कर्म कारण है। आपको योगकी छतपर चढ़ना हो तो आप सीढ़ी लगाकर एक-एक सीढ़ीपर पाँव रखते हुए, सप्तभूमिकाके क्रमसे, योगारूढ़ हो जाइये। योगारूढ़ होनेके लिए कर्मगति अपेक्षित है। आप चाहे साइकिल चलाइये, चाहे मोटर चलाइये और चाहे हवाई जहाज चलाइये। जब आपको कहीं चढ़ना है तो चढ़नेके लिए गति चाहिए। लेकिन जब पहुँच गये तब! **'योगारूढस्य तस्यैव'**—जब चलकर पहुँच जाओगे तब नीचे भी गिरोगे क्योंकि वहाँ कर्मका आराम नहीं है, जब नीचे गिरोगो तब देहेन्द्रियादिको स्वीकार करना पड़ेगा। फिर वहाँ शमः माने निवृत्ति-संन्यास लेना पड़ेगा। योगारूढ़ हो जानेके बाद निवृत्ति ही साधन है—यह प्रवृत्ति और निवृत्तिका विभाग है। जबतक कोई प्राप्तव्य प्राप्त करना है, तबतक उसके लिए कर्मका आरम्भ है और जब प्राप्तव्यकी प्राप्ति हो गयी तो उसके बाद शान्तिसे अपने घरमें बैठ जाओ। जबतक घरमें पहुँचे नहीं हो तबतक चलना है। पहुँच जानेके बाद चलना नहीं है।

यही कर्मयोग और संन्यास-योगका निर्णय है। इसके आगे कोई निर्णय नहीं है। **'आरुरुक्षु'** माने आरोहणकी इच्छा। इसके ऊपर कुछ है तो करो और जहाँ सबसे ऊपर तुम्हीं हो, तुम्हारे ऊपर कोई नहीं है वहाँ यदि कहो कि हमारे ऊपर एक और परोक्ष है तो वह परोक्ष तुम्हारी कल्पनामें है। कल्पनाकारावच्छिन्न चैतन्य और कल्पिताकारावच्छिन्न चैतन्य एक ही है। वह तुमसे ऊपर नहीं है, वह तो तुम्हारे चैतन्यमें ही कल्पनाकार अन्तःकरण और कल्पिताकार विषय—इन दोनोंके रूपमें भास रहा है। वह तुमसे ऊपर चढ़नेके लिए नहीं है, चलनेके लिए नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब योगारूढ़ हो जानेपर कर्तव्य नहीं रहता तो आओ, योगारूढ़को ही पहचानें कि वह कौन है?

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ (४)

'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु'—जब आपके मनमें आये कि हम तो इसी घरकी रोटी रोज खायेंगे, हमें रोज गेहूँकी रोटी मिले, बेझरकी रोटी कभी नहीं मिले, तब

समझना कि अभी आप योगारूढ़ नहीं हो। जब यह ख्याल हो कि रोज रासलीला ही देखनेको मिलनी चाहिए, रोज इत्र ही सूँघनेको मिलना चाहिए, रोज बड़ा सुकोमल वस्त्र ही धारण करनेको मिलना चाहिए, रोज तारीफ ही कानसे सुननेको मिलनी चाहिए और रोज मधुर संगीत ही सुननेको मिलना चाहिए तो समझिये कि आप अभी राग और भोगमें रमे हैं। राग माने प्रेम, राग माने आसक्ति और राग माने गीत-संगीत। इसी तरह भोग माने शारीरिक भोग और खान-पान। यदि आप भोग-भावना और भोग-सेवन —इन दोनोंसे मुक्त नहीं हो जाओगे तो योगारूढ़ कहाँसे होओगे!

'न कर्मस्वनुषज्जते'—देखो, कर्मेन्द्रियाँ तो कर्म करती ही रहती हैं। लेकिन यदि कहो कि हमें तो यही विषय रोज चाहिए, हमारी इसमें अनुसक्ति हो गयी है, तब आप योगारूढ़ नहीं हैं। इसलिए किसी भी इन्द्रियार्थमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। जो सुननेको मिले वह सुनते जाओ, जो देखनेको मिले वह देखते जाओ, जो छूनेको मिले वह छूते जाओ। अरे, तुम छूने थोड़े ही जाते हो; वही आकर छूता है, छूनेकी कोशिश करता है, तुमको तो कोई छू सकता नहीं। संसारके किसी विषयने आजतक हमको देखा नहीं। हमारा स्वरूप तो वह है, जिसको ईश्वरने भी कभी नहीं देखा। हम कभी ईश्वरके दृश्य नहीं हुए हैं। हमने ईश्वरको हजार बार देखा है, पर ईश्वरने हमको नहीं देखा है। वह साक्षी जो है न!—*'दृग्गेव न तु दृश्यते।'* आभास-भास्य संसार हैं, साक्षी-भास्य आभास है और स्वयं साक्षी स्वभास्य भी नहीं है। हमने अपनेको भी नहीं देखा और ईश्वरने भी हमको नहीं देखा। हम स्वयं देखे नहीं गये, परन्तु देखते सबको हैं। हम ऐसे झरोखेके भीतर बैठे हैं कि देखते सबको हैं, परन्तु देखे किसीसे नहीं जाते हैं।

हम ईश्वरके पीछे बैठकर ईश्वरको देखते रहते हैं। ईश्वर काम करता रहता है। हम जीवको भी देखते रहते हैं। जीव भी काम करता रहता है। उसके पास बहुत मसाले हैं, बहुत मशीनें हैं, उनसे वह काम करता रहता है। परन्तु यहाँ? किसी भी इन्द्रियार्थ और कर्ममें अनुसक्ति नहीं है। सर्व-संकल्पका संन्यास हो गया है। इसीका नाम होता है योगारूढ़ और योगारूढ़के लिए निवृत्ति ही इष्ट है, प्रवृत्ति इष्ट नहीं है। भगवान्ने यहाँ योगारूढ़को पारिभाषिक बना दिया है। इसलिए योगारूढ़ होनेके लिए आप खुद तैयार हो जाइये। कस लीजिये कमर कि हम योगारूढ़ हो जायें। चढ़ बैठें योगके ऊपर और योगको नीचे दबा दें।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ (५)

योगारूढ़ होनेके लिए दूसरा कोई हमें गोदमें लेकर उठा ले और ऊपर ले जाये—यह उम्मीद मत करो। अरे, वह खुद नीचे न होता तो तुमको उठाता कैसे? क्या उम्मीद करते हो दूसरे-से? अवधूत गीतामें कहा गया है कि *'स्वयमेव तत्त्वं स्वयमेव बुद्धम्'*—तुम स्वयं तत्त्व हो और उसको तुम्हें स्वयं समझना पड़ेगा। दूसरेका ज्ञान काम नहीं आयेगा, दूसरेका प्रयत्न काम नहीं आयेगा।

देखो, श्रीहरिबाबाजी महाराज एक बार गंगाकिनारे अच्युत मुनिजीके पास गये। वे बड़े प्रतापी विद्वान् महात्मा थे। श्रीहरिबाबाजीने उनसे कहा कि महाराज, ऐसी कृपा कीजिये, जिससे हमारी निष्ठा पक्की हो जाये। श्रीहरिबाबाजीके कथनानुसार उस समय अच्युत मुनिजी वृद्ध हो गये थे और उनका शरीर झुक गया था। उन्होंने श्रीहरिबाबाजीकी बात सुनी तो बिल्कुल तनकर बैठ गये और बोले कि अरे हरि! तू कृपाकी भीख माँगता है? आलसी होना चाहता है क्या? बता, मैं तुमको सब कुछ प्राप्त करा दूँ तो तू क्या करेगा?

तो, तुम कृपाके भिखारी मत बनो, अपनी आत्माका अपने-आप उद्धार करो माने यह जो कूड़ा-करकट तुमने अपने ऊपर ओढ़ लिया है, इसको उतारकर फेंक दो!

मुझे एक महात्माने बताया था कि किसी जंगलमें शंकरजीका मन्दिर था। वहाँ कोई जाता तो था नहीं, इसलिए चिड़ियोंने उसमें घोसला बना लिये थे, घोसलोंकी घाससे, पत्तोंसे, मिट्टीसे तथा चिड़ियोंकी बीटसे मन्दिरमें जो शिवलिंग था, वह ढक गया। एक दिन एक सज्जन वहाँ आये और बोले कि भाई, मुझे तो शिवजीकी पूजा करनी है। पर यहाँ तो शिवजी नहीं है। इसलिए आओ कहींसे शिवजीको लाकर यहाँ स्थापना करें। इतनेमें एक महात्मा वहाँ आ गये और बोले कि बेवकूफ, तू नया शिवलिंग लाकर स्थापना क्यों करना चाहता है? यहाँ जो घास-पात पड़ी है, चिड़ियोंका बीट पड़ा है, इसको हटाकर फेंक दो। उसके नीचे तो शिवजी पहलेसे ही यहाँ मौजूद हैं।

तो, यही है **'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** तुमने स्वयं अपने ऊपर चिड़ियोंकी बीट डाल रखी है, लकड़ी डाल रखी है, कूड़ा-करकट डाल रखा है और कभी अपने अन्त:करणमें झाड़ू नहीं लगाया है। इसलिए अपनी सफाई, अपना उद्धार अपने-आप करो।

'नात्मानमवसादयेत्'—तुम अपनेको अवसन्न मत करो, विषादग्रस्त मत करो। अपने मित्र स्वयं तुम हो—**'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः।'**

बंगालमें पत्नियाँ बन्धु शब्दका प्रयोग अपने पतिके लिए करती हैं—मेरे चिर-बन्धु, मेरे प्रियतम! जब पत्नीके लिए बधू शब्दका प्रयोग होता है, तो पतिके

लिए बन्धु शब्दका प्रयोग स्वाभाविक ही है, क्योंकि '*बध्नातीति बधुः*'। बध्नातीति बन्धुः। वैसे बधु शब्दका अर्थ बोझ उठानेवाली भी होता है—'बहतीति बधुः।' जो घर-गृहस्थीका बोझ अपने ऊपर ले, वह बधू। जो अपने पतिको अपने ऊपर उठाये, उसका नाम बधु। जो बाँध ले भुजपाशमें, वह बधु। यदि अपने-आपका कोई बन्धु है, हितैषी है तो अपना आप ही है और '**आत्मैव रिपुरात्मनः**'—आप स्वयं अपने शत्रु हैं, दुश्मन हैं।

जिसने अपने-आपको अपने आपसे संयत कर लिया, समेट लिया, देहेन्द्रियादिकोंके सम्बन्धसे मुक्त कर लिया, वह अपना मित्र है, अपना बन्धु है, अपना भाई है, अपना प्रियतम है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ (६)

इसी तरह जिसने देहेन्द्रियादिकोंको अपने वशमें नहीं किया, वह स्वयं अपने साथ शत्रुता कर रहा है, अपने आपको सता रहा है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ (७)

एक बार हम लोग श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके साथ कहीं जा रहे थे तो बड़े जोरसे आँधी आयी, धूल उड़ने लगी और चलना मुश्किल हो गया। बाबा बोले कि तुम सब बैठ जाओ। हम सब बैठ गये। फिर बोले कि अपनी-अपनी चादर अपने-अपने मुँह पर लगाकर भजन करो। हमलोग घंटे-आध घंटे तक भजन करते रहे। थोड़ी देरके बाद जो अन्धड़-तूफान था, वह चला गया। उसके बाद बाबा बोले कि अब सब लोग चलो और हम चल पड़े। इसलिए जीवनमें आँधी-तूफान आये तो उससे लड़ना नहीं चाहिए। चुप होकर बैठ जाना चाहिए।

'**जितात्मनः प्रशान्तस्य**'—जो गर्मीमें, सर्दीमें,सुखमें, दुःखमें, मानमें, अपमानमें अपने मनपर काबू रखता है और शान्त रहता है, परमात्मा उसके लिए समाहित है। समाहित है माने बिल्कुल प्राप्त ही है। परमात्मा कहीं अनमिला थोड़े ही है।

एक दिन किसी सुनारने अपने बच्चेसे कहा कि बेटा, वहाँ आलमारीमें सोना रखा है, जरा उठाकर ले तो आ! वह बच्चा गया, उसने आलमारी खोलकर देखा, ढूँढ़ा, लेकिन उसको सोना नहीं मिला। वह लौट आया और बोला कि पिताजी, वहाँ तो सोना नहीं है। पिताने कहा कि सोना नहीं है तो क्या हुआ? चलो देखें! सुनार वहाँ गया तो कंगन मिला, कुण्डल मिला और बोला कि बेटा, यह सब सोना ही तो है। अब वह बच्चा कंगनको तो पहचानता था, कुण्डलको तो पहचानता था,

लेकिन सोनेको नहीं पहचानता था। इसलिए बच्चेको सोना नहीं मिला। किन्तु जो सोनेको पहचानता है, उसके लिए तो कंगन भी सोना है कुण्डल भी सोना, सोनेकी आकृति चाहे कुछ भी हो और नाम चाहे कुछ भी हो।

Brahma satya Jagat satya

तो, जो तत्त्वको पहचानता है, वह नाम-रूपके भुलावेमें कभी नहीं आता। वह तो मसालेको पहचानता है। *'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी'* (श्वेताश्वतर उप ४.३)। *'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'*(मूण्डक० २.२.१)। *'सद् हीदं सर्वं चिद् हीदं सर्वम्'* (नृसिंह. उत्तर.७)। इस प्रकार पहचान लेनेपर सब ब्रह्मस्वरूप ही है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ (८)

अब देखो, योगारूढ़का यही लक्षण है कि वह ज्ञान-तृप्तात्मा है, विज्ञान-तृप्तात्मा है। जो उसे मालूम पड़ता है, उसीमें वह तृप्त है।

एक भक्त कविने अपनी ओर आते हुए सर्पको देखकर कहा कि—

भले बने हो लम्बकनाथ!
देख मौतका रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ॥

jnana Vs Vijnana as per 11th Skandha / Canto of Bhagavata

जैसा कुछ ज्ञान आता है वह परमात्माका ही है। विज्ञान माने होता है आत्मानुभूति। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें ज्ञान-विज्ञानकी ऐसी ही व्याख्या है। वहाँ यह बताया गया है कि जिस एकसे सबकी सिद्धि होती है और जिस एकमें सब विलीन हो जाता है, उसका नाम ज्ञान है। ज्ञानसे सब प्रकाशित होता है और ज्ञानमें सब विलीन होता है। विज्ञान उसको कहते हैं, जिसके सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं। जिसका अन्वय-व्यतिरेक होता है, वह ज्ञान है और अन्वय-व्यतिरेक भी जिसमें कल्पित है, उसका नाम विज्ञान है। परमात्मामें अन्वय-व्यतिरेक नहीं है। वह तो प्रक्रिया है बच्चोंको सिखानेके लिए। *'अव्यावृतम् अननुगतम्'*—परब्रह्म परमात्मा किसीसे व्यावृत नहीं है और किसीमें अन्वित नहीं है । यदि कोई दूसरा हो तो उससे व्यावृत अलग हो और यदि कोई हो तो उसमें अनुगत हो । अनुगत होनेके लिए भी द्वैत नहीं है । जिसमें अन्वय-व्यतिरेक करनेके लिए द्वैत है ही नहीं, उसका नाम विज्ञान है और जहाँ अन्वय-व्यतिरेक एकसे होता है, उसका नाम ज्ञान है । विज्ञान अद्वितीय है और ज्ञान एक है ।

'युक्त इत्युच्यते योगी।' योगियोंके बारेमें लोगोंकी बड़ी भ्रान्त धारणा है। वे कहते हैं कि योगी तो वह होगा, जिसकी पीठकी रीढ़ बिलकुल सीधी होगी और आँख खुलती न होगी । जिसका मन कभी उठता ही न हो, उसका नाम योगी होगा। लेकिन ऐसे व्यक्तिको आप योगी क्यों कहते हैं, उसको पत्थर ही क्यों नहीं कहते ?

आपको पत्थर चाहिए कि योगी चाहिए? योगी चाहिए, तो गीता कहती है कि '**युक्त इत्युच्यते योगी**'—जो युक्त है, वह योगी है। हम अवस्था-विशेषका विरोध नहीं करते हैं। किसी खास समयमें मनोवृत्ति किसी ऐसी दशामें पहुँच जाती है, जहाँ आँखकी पलक भी नहीं हिलती है और पीठकी रीढ़ भी नहीं झुकती है। यह भी ठीक है कि वहाँ मन भी नहीं उठता है। परन्तु वह चित्तकी एक अवस्था है। वहाँ तो सपने मिट-मिट जाते हैं, जीवन नहीं मिटता है। समाधि भी सपनेमें ही आती है और चली जाती है। हमने कई बार सपनेमें समाधिको देखा है। आप लोग इसको वहम मत मानना। हमारी समाधि अज्ञात नहीं है। यदि समाधि अज्ञात होगी तो उसका बाध कैसे करोगे? अज्ञातका तो बाध ही नहीं होता, ज्ञातका बाध होता है। प्रत्येक दो वृत्तियोंकी सन्धिमें यदि समाधि न आती और समाधि दर्शन न देती तो हम उसका बाध कैसे करते कि यह हमारे सामने आने-जाने वाली चीज है। वेदान्तियोंको समाधिसे परहेज नहीं करना चाहिए। कहना चाहिए कि हाँ, समाधि हमारे घरमें कई बार आती-जाती रहती है, लेकिन हमने उससे कभी यह नहीं कहा कि अब तुमको चेली बनाकर हमेशाके लिए रखेंगे। वह तो आती है और चली जाती है, लेकिन हम उसका सम्मान नहीं करते।

Who is a Yogi - who has same-sightedness in every event

तो, ये योगी कैसे हैं? बोले कि '**समलोष्टाश्मकाञ्चनः**।' उनको मिट्टीका डला दिख गया, पत्थरका डला दिख गाया, सोनेका डला दिख गया। लेकिन उन्हें मिट्टीके डलेसे खेती नहीं करनी है, पत्थरके डलेसे मारना नहीं है और सोनेका डला बेचकर कमाई नहीं करनी है। उनके लिए सब एक सरीखे हैं। सपनेका सोना, सपनेका पत्थर, सपनेकी मिट्टी मनोराज्य मात्र है। यह कोई कीमत नहीं है उनकी।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ (९)

यहाँ '**विशिष्यते**' आगया फिर! यह क्या है? पहले तो लोष्ट, अश्म और कांचन—इन पदार्थोंकी समता बतायी। उससे पहले जातिमें समता बता चुके हैं—'**ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि चैव श्वपाके च**।' अब कहते हैं कि लोगोंके कर्म अलग-अलग होते हैं जो व्यवहार करते हैं, वह भी अलग-अलग करते हैं। कोई हमसे सुहृद्-जैसा व्यवहार करता है, हमारा भला चाहता है और किसीके साथ हम बड़ा उत्तम व्यवहार करते हैं, मित्रताका आचरण करते हैं। कोई अरि है तो वह हर हालतमें चक्र लेकर मारनेकी फिराकमें रहता है।

Meaning & Derivation of Udasina

किन्तु वे चाहे सुहृद्‌का व्यवहार करें, मित्रवत् व्यवहार करें अथवा उदासीन रहें! उदसीन माने चाहे कुछ भी हो जाये, उससे कोई मतलब नहीं। पहाड़पर चढ़े

बैठे हैं—नीचे गन्दा नाला बह रहा है या पवित्र नाला बह रहा है, सूअर घूम रहा है या हाथी घूम रहा है। उससे उसको कोई वास्ता नहीं। उदासीनका अर्थ है कि जरा ऊपर बैठकर रहें—*उत् ऊर्ध्वं आसीन उदासीनः*। श्रुतिमें तो *'तस्यं उदिति नाम्'* (छान्दोग्य० १.६.७) ऐसा वर्णन आया है। उद् माने ब्रह्म, वही सर्वोर्ध्व है, उसमें जो आसीन है, वह उदासीन है। **ऊर्ध्वमूलमधः शाखा** वही है। यह ब्रह्मासीन है, ब्रह्मकी गद्दीपर नहीं बैठता। जो ब्रह्मकी गद्दीपर बैठता है, वही उदासीन होता है।

'मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु'—कोई दो जनोंके झगड़ेमें मध्यस्थ बन जाता है। कोई ऐसा काम करता है कि द्वेष करने योग्य हो जाता है। कोई ऐसा होता है, जो अपना भाई-बन्धु निकल आता है। कोई सज्जन होता है और कोई पापी होता है। लेकिन जो जैसा है, उसको वैसा रहने दो। तुम तो **'समबुद्धिर्विशिष्यते'**-उसमें जो सम है, उसको देखो। कौन-सा राग है, कौन-सी रागिनी है और कौन-सा पद है—यह देखनेकी जरूरत नहीं है। सम ठीक पड़ता है या नहीं, यह देखना चाहिए। यदि संगीतमें सम ठीक है तो हमें क्या लेना है भैरवीसे और क्या लेना है केदारासे? तुम्हारी मौज हो—मामकौस बजा लो, तुम्हारा मन हो घनाक्षरी बजा लो। राग-रागिनीसे हमारा मतलब नहीं है, पर सम ठीक पड़ना चाहिए। यदि सम ठीक है तो सब ठीक है। **'समबुद्धिर्विशिष्यते'** का अर्थ है कि बुद्धिमें समता बनी रहनी चाहिए, विषमता नहीं आनी चाहिए।

Yoga means equanimity

तो योगीकी दृष्टिमें पदार्थोंमें समता है, जातिमें समता है, पापी-पुण्यात्माओंमें समता है, सगे सम्बन्धियोंमें समता है और शत्रु-मित्रमें भी समता है और **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः'**—सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिमें समता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ (१०)

अब देखो **'योगी युञ्जीत'** इसका अर्थ है कि योगी योगाभ्यास करे। भाई, किससे योग करे? जिससे वियोग हुआ है, उससे योग करे? नहीं-नहीं जिससे योग नहीं करना चाहिए, उससे तुमने योग कर लिया है। तुम्हारी मैत्री श्मशानमें विचरनेवाले कल्पित भूतोंसे हो गयी है। इसलिए **'आत्मानं युञ्जीत'**—अपने आपसे योग करो, अपना आप ख्याल करो। यहाँ *'परं युञ्जीत'* नहीं है, *'आत्मानं युञ्जीत'* है।

'आत्मानं युञ्जीत'—(मैत्रीउप. ६.३) यह श्रुति है माने अपने साथ जुड़ो। अब इसके लिए उपकरण बताते हुए कहते हैं कि **'रहसि स्थितः'** अर्थात् एकान्त में योग करना चाहिए। एकाकी माने कोई मददगार नहीं रखना चाहिए। यह नहीं

कि शिष्य या सेवकसे कहा कि तुम हमारे लिए भिक्षा माँग कर ले आया करो, हम योग करेंगे। तुम हमें पानी पिला दिया करो, हम योग करेंगे। तुम झाड़ू लगा दिया करो, हम योग करेंगे। इस प्रकार अपने लिए मददगार, चेली-चेला रखकर योग नहीं करना चाहिए, नहीं तो उससे पराश्रय हो जाता है। एकाकी माने असहाय। आजकल तो लोग कहते हैं कि हे गृहस्थजी, हम योगाभ्यास करते हैं, तुम समयपर हमें भोजन करा दिया करो। भोजन जरा **'रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्याः** (गीता १७.८) होना चाहिए, क्योंकि योगाभ्यास करनेसे खुश्की हो जाती है। इसलिए थोड़ा घी-दूध जरूर होना चाहिए। दूध-घीके बिना योग कैसे होगा? लेकिन इस प्रकार योग नहीं होता। **'एकाकी'** और **'रहसि स्थितः'** माने एकान्तमें स्थित होना चाहिए और लोगोंकी नजर नहीं पड़नी चाहिए। **'यतचित्तात्मा**—योगीको चाहिए कि वह मनको, इन्द्रियोंको और शरीरको भी वशमें करे।

'निराशी '—इसका अर्थ होता है कि किसीसे कोई आशा न रखे। हमारे पास पाँच-सात जने रोज जप करनेके लिए बैठते थे। उस समय कुछ था नहीं। कोई दस हजार जप करता था, कोई पन्द्रह हजार जप करता था। उनमें-से कई तो बड़े-बड़े महात्मा हो गये हैं। बड़ी इज्जत है उनकी दुनियामें। वे गद्दीनशीन हो गये हैं। हम तो ज्यों-के-त्यों रह गये। वे लोग जब जप करते थे तब मैं उनसे पूछता था कि तुम्हारे मनमें क्या आता है? वे बताते कि आज जप करते समय मनमें आरहा था कि जलपान करनेके लिए तो कुछ नहीं है, कोई थोड़ा किशमिश-बादाम दे जाता तो अच्छा रहता। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि सचमुच कोई-न-कोई आकर बादाम-किशमिश दे जाता था। लेकिन यह योगीके लिए ठीक नहीं है। इसलिए निराशी—किसीसे कोई आशा न रखना कि वह आकर कुछ दे जाये तो ठीक रहे! अच्छा बाबा, आशा तो नहीं रक्खेंगे, लेकिन पहलेसे ही अपने पास इकट्ठा हो तो क्या करें? यदि प्राणायाम करते-करते गला सूखने लगे तो कुछ उठाकर मुँहमें डाल लेनेमें क्या हर्ज है? बोले कि नहीं, **'अपरिग्रहः'**—पहलेसे कोई परिग्रह नहीं रक्खे, संग्रह न रक्खे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ (११)
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ (१२)

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य'—योगके लिए स्थान पवित्र चाहिए, क्योंकि स्थानमें भी विचारोंका संस्कार रहता है। यदि बूचड़खानेमें बैठकर ध्यान करने लगेंगे तो

हिंसाके जो परमाणु वहाँ फैले हुए हैं, वे मनको प्रभावित करेंगे। हिंसाकी तन्मात्राएँ मनपर प्रभाव डालती हैं। इसलिए पवित्र स्थानमें बैठना चाहिए। बैठनेका आसन भी पराया नहीं होना चाहिए और उधार लिया हुआ नहीं होना चाहिए। यह नहीं कि किसी साधुका आसन लेकर बैठ गये। वह तो **'आत्मनः'**—अपना आसन होना चाहिए, और उसी आसनपर रोज बैठना चाहिए। फिर तो बैठते ही मन एकाग्र होने लगेगा। **'स्थिरम्'** माने आसन स्थिर होना चाहिए। उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करके उसमें देवताका आवाहन कर लेना चाहिए कि हे देवता, तुम आकर इसमें बैठो और पवित्र रहो! आसनको एक जगहपर बैठा लेना चाहिए।

'नात्युच्छ्रितं नातिनीचम्' अब यहाँ समता प्रारम्भ होती है। इसका अर्थ है कि आसन ऊँचा-नीचा नहीं होना चाहिए। नीचा होगा तो कभी उसपर पानी आ सकता है और ऊँचा होगा तो कभी उससे गिर सकते हो। इसलिए आसनमें समता होनी चाहिए। असलमें समताका आदर करनेके लिए ही कहा है कि **'नात्युच्छ्रितं नातिनीचम्, चैलाजिन-कुशोत्तरम्'** अर्थात् धरतीपर पहले सूतका आसन हो, फिर उसके ऊपर अजिन हो। अजिन माने मृगचर्म।

हम एक बात आपको बता देते हैं। यह जो मृगचर्म या व्याघ्र-चर्म है, इसपर भजनके लिए तो बैठनेका विधान है। लेकिन यदि कोई इसपर बैठकर भोजन करे या शयन करे तो यह शास्त्रमें निषिद्ध है। मृगचर्ममें वस्तुगत पवित्रता नहीं है, केवल विधिगत पवित्रता है। इसलिए जिस अंशमें उसका विधान है, उसी अंशमें वह पवित्र होता है। उसमें विधिनिष्ठ पवित्रता है, वस्तुनिष्ठ पवित्रता नहीं है—यह बात उन लोगोंकी समझमें नहीं आती, जिनमें शास्त्र-समस्त संस्कार नहीं हैं। वे समझते हैं कि मृगचर्म सब कार्योंके लिए पवित्र है।

देखो, यह जो छठाँ अध्याय है, गीताका मूल है, बीज है। जब बीज फटता है तो पहले गीला होता है और गीला होनेके बाद फटता है। उसमें-से जो अंकुर निकलता है, उसमें पहले दो पत्ते निकलते हैं। गीताके छठवें अध्यायमें-से भी सांख्य-बुद्धि और योग-बुद्धि रूप दो पत्रक निकलते हैं।

यदि हमारी बुद्धि भिन्न-भिन्न दर्शनोंका विवेचन करके शुद्ध होगी तो जो कर्तृ-प्रधान होगी, वह योगमें लगेगी और जो वस्तु-प्रधान होगी, वह सांख्यमें लगेगी। पर दोनोंके लिए बुद्धि चाहिए जरूर। गीता बुद्धि-वादी ग्रन्थ है और इस बीसवीं शताब्दीमें ही नहीं, इक्कीसवींमें भी, बाईसवींमें भी और उसके बाद भी जबतक सृष्टिमें बुद्धिमान् लोग रहेंगे, तबतक इसको मानते रहेंगे। हाँ, कभी ऐसी सृष्टि बन जाये कि उसमें सब मूर्ख-ही-मूर्ख हों तो बात दूसरी है। उस अवस्थामें गीताके

इस कथनके अनुसार कि '**स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप** (४.२)।' फिर भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट होंगे और गीता-ज्ञान चालू करेंगे। इसलिए यह बुद्धिमानोंका ग्रन्थ है। जो इसको स्वीकार नहीं करता वह बुद्धिका पक्षपाती नहीं है, निर्बुद्धि है।

अर्जुनका पहला प्रश्न था कर्मका। कर्ममें आते हैं श्रौत कर्म, स्मार्त कर्म और पशु-याग कर्म। पशु-याग सम्बन्धी दारुण कर्मको भगवान्ने अधिकारीको निष्काम बनाकर बिलकुल काट दिया। कर्मकी आवश्यकता बताते हुए कहा कि कर्म तो करो, परन्तु पशु-मारणका जो दारुण कर्म है, वह नहीं चाहिए। कर्म-मीमांसामें यह संशोधन कर दिया भगवान्ने। दूसरी बात कर्म मीमांसामें यह है कि ईश्वर कर्मफल-दाता नहीं है, फलदाता तो कर्म ही है—अपूर्व ही है। लेकिन गीताके चौथे अध्यायमें ईश्वर धर्मकी रक्षा करता है, समय-समयपर अवतार लेता है और फल भी देता है। इसलिए ईश्वरके मौजूद रहते कर्मको फलदाता मानना, यह गीताको अभीष्ट नहीं है।

पाँचवे अध्यायमें यह प्रसंग है कि आत्मचिन्तन और आत्माकार-वृत्तिके द्वारा महत्त्वबुद्धि कैसे आती है। छठें अध्यायमें पातंजलयोगमें क्या त्रुटियाँ हैं और सातवें अध्यायमें सांख्ययोगमें क्या त्रुटियाँ हैं—वह बताकर भगवान् गीताको वेदान्त-दर्शनके साथ मिलाते हैं। हम प्रत्येक अध्यायमें बतायेंगे कि उस अध्यायका व्यावर्त्य क्या है, क्योंकि लक्षण सबके-सब व्यावर्तक होते हैं, उनसे क्या बात सिखायी जा रही है, हमारी बुद्धिमें क्या शोधन किया जा रहा है, कौन सी मैल लगी हुई है हमारी अक्लमें कि उसको काट दें! इसी ज्ञानके लिए सब-के-सब लक्षण होते हैं।

अब आओ, पहले योग-दर्शनपर एक दृष्टि डालें। मधुसूदन सरस्वतीने तो समग्र योग-दर्शनको ही और उसकी व्याख्याओंको ही इस छठें अध्यायकी टीकामें भर दिया है। हम जरा-सा आपको इसका संकेत कर देते हैं। आप दूसरोंसे व्यवहार करते हैं कि नहीं? करते हैं तो सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचोंका ध्यान रखकर दूसरोंसे व्यवहार करें। अपने घरमें व्यवहार करते समय तपस्या, शौच, स्वाध्याय, सन्तोष और ईश्वर-प्रणिधान—इन पाँचों नियमोंको ध्यानमें रखकर व्यवहार करें। पराये व्यवहारमें सत्य, अहिंसा नहीं सीखनी चाहिए और अपने व्यवहारमें तपस्या, शौच, सन्तोष, ईश्वर-प्रणिधान, स्वाध्याय नहीं छूटना चाहिए।

अब देखो, योग बाहरसे भीतर आगया। शरीरसे जो चेष्टा हो, वह आसन-प्रधान हो। फिर आप अपने व्यवहारसे ही अपनी चेष्टामें आगये। उसके बाद श्वासकी गतिको कम करना—यह प्राणायाम आगया। इन्द्रियोंको विषयोंमें न डालना—यह प्रत्याहार आगया। मनको एक स्थानपर रोक लेना—यह धारणा आगयी; इतने

कालतक रोक लेना—यह ध्यान हो गया। एकाकारतामें रोक लेना—यह सम्प्रज्ञात समाधि हो गयी और उससे असंग साक्षीका विवेक करके कार्यको कारणमें लीन कर दिया तो असम्प्रज्ञात समाधि हो गयी। साक्षी ज्योंका-त्यों रहा।

यह मैंने संक्षेपमें आपको यम-नियमसे लेकर समाधि और द्रष्टाका स्वरूपावस्थान-पर्यन्त सुनाया। अब आप फिर क्रमसे चलो और देखो। योगाभ्यासके लिए अपना आसन होना चाहिए। उसके बारेमें आप निश्चय कर लें कि यह योगाभ्यास करनेके लिए है। वह आसन बैठकर खानेके लिए नहीं है, सोनेके लिए नहीं है, योगाभ्यासके लिए है। मृगचर्मका आसन योगाभ्यासके लिए उपयोगी है। लेकिन वह वैष्णवोंके भगवद्भजनके लिए उपयोगी नहीं है, भोजनके लिए भी उपयोगी नहीं है और शयनके लिए भी उपयोगी नहीं है। लोग घरकी शोभा बढ़ानेके लिए जहाँ-तहाँ हरिणका सिर, बाघका सिर काटकर सजा देते हैं। यह योगाभ्यासके लिए उपयोगी नहीं है। शरीरमें जो शक्ति पैदा होती है, वह अधोमुखी न हो जाये, ऊर्ध्वमुखी हो—इसके लिए मृगचर्मका विधान है। वह शक्तिको नीचे जानेसे रोकनेके लिए है। वेदान्तका विचार मृगचर्म पर ही बैठकर किया जाय या सभामें बैठें तब मृगचर्मपर ही बैठें-यह योगाभ्यासमें आवश्यक नहीं है।

अब जो आसन हो, वह न ऊँचा हो और न नीचा हो अर्थात् सम हो। कुशासन हो तो उससे कर्म आगया और मृगचर्म हो तो उससे शक्तिका आच्छादन आ गया। इसके बाद चैलकी बात आती है। चैल शब्दका अर्थ मृदु वस्त्र होता है। यह भी सम होना चाहिए।

योगाभ्यासके लिए मनमें भी समता आनी चाहिए। '**तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा**'—मनका एकाग्र होना माने एक-नोक होना। अग्र माने नोक। उद्देश्य-विशेषकी ओर मन चले; निरुद्देश्य मनको रोकनेका नाम एकाग्रता नहीं है। '**दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**'। '**तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा**' (कठ. उप. १.३.१२)। इसमें जो अग्रया बुद्धि है, वह नुकीली हो, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषयमें प्रवेश कर जाये।

'**यतचित्तेन्द्रियक्रियः**'—चित्तमें चार बातें तो आनी ही चाहिए। एक तो संकल्प, दूसरा विकल्प, तीसरा निश्चय और चौथा अहंक्रिया। ये चारों निश्चित हैं। इन्द्रियाँ विक्षिप्त न हों और शरीर स्थिर हो। शरीरसे हिल-हिलकर योगाभ्यास मत करना। शरीरको भी स्थिरता चाहिए, समता चाहिए।

अब योग क्यों करना? '**आत्मविशुद्धये**'। आत्मशुद्धिके लिए योग करना चाहिए। '**आत्मविशुद्धये**'का अर्थ है कि आत्मा और अनात्मा—ये दोनों मिलकर मिलावटी बीज बन गयी हैं। आजकल तो अरहरकी दालमें केसारीकी दाल मिला

देते हैं और चनेके बेसनमें केसारीका बेसन मिला देते हैं। यह मिलावट इतनी बढ़ गयी है कि धनिया-मिर्चमें घोड़ेकी लीद मिला देते हैं। इसी तरह आत्मामें जो जड़ताकी लीद मिल गयी है, इस लीदको अलग करना '**आत्म-विशुद्धये**' का अर्थ है। तुम्हें बुद्धिको चाहे कर्मयोगमें ले जाना हो, चाहे सांख्ययोगमें ले जाना हो—चाहे योग-बुद्धि बनानी हो, चाहे सांख्य-बुद्धि बनानी हो; उसका शुद्ध होना अनिवार्य है। यदि बुद्धि शुद्ध नहीं होगी उसमें वासना मिली होगी तो न सांख्यका यथार्थ ज्ञान होगा और न कर्मयोग ही शुद्ध होगा। इसलिए '**आत्मविशुद्धये**' का अर्थ है कि आत्म-शोधन करना चाहिए, अपनी बुद्धिको शुद्ध बनाना चाहिए। अब आगे बढ़ो—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ (१३)

देखो, यह समताका योग है। आप पातञ्जलयोगसे इसको अलग रखना—बादमें सुनायेंगे आपको। पातञ्जलयोग समताका योग नहीं है। वह विक्षेप और समाधिमें भेद करके विक्षेपसे पृथक् समाधिमें स्थापित करनेवाला योग है। लेकिन भगवान् श्रीकृष्णका जो योग है, यह व्यवहारको छुड़ानेवाला नहीं है, युद्धभूमिमें होनेवाला योग है।

इसलिए भगवान्‌ने कहा कि बुद्धि ठीक कर लो, फिर युद्ध करो। बुद्धि ठीक कर लो, फिर युद्ध करो। बुद्धि ठीक करलो, फिर समाधि लगाओ। बुद्धि ठीक करलो, फिर वेदान्तका विचार करो। तुम्हारा औजार बिलकुल ठीक होना चाहिए। अगर बन्दूककी नली मैली होगी, जंग खा गयी होगी तो उसमें-से भरी हुई गोली निकलेगी ही नहीं, उसीमें अटक जायेगी। बुद्धि माने बन्दूककी नली। उससे चाहे सांख्यका निशाना मारना हो, चाहे योगका निशाना मारना हो, वह बिलकुल ठीक-ठाक साफ-सुथरी होनी चाहिए।

'**समं कायशिरोग्रीवम्**'—इसका अर्थ है कि छाया अर्थात् शरीर, सिर और गर्दन—ये तीनों सम हों, बराबर हो,। सूत लगाकर इसको बिलकुल सीधा कर लेना चाहिए। जैसे बढ़ई लोग सीधा करनेके लिए सूत लगाते हैं, वैसे ही इसपर सूत लग जाना चाहिए। बैठते समय एक मटर रख लो सिरपर और वह गिरने न पावे तो समझो कि तुम्हारा शरीर ग्रीवा और सिर तीनों एक सूतमें सीधे हैं। लेकिन यदि योगाभ्यासी बालवाले हों तो उनके लिए कोई दूसरा उपाय करना पड़ेगा।

एक बालवाले महात्मा थे। वे ऐसे बैठे कि उनके बालोंमें चिड़ियोंने घोसला बना लिया। महाभारतमें ही यह वर्णन है। आजकल तो स्त्रियाँ अपने बालोंमें लोटा रख लेती हैं, गिलास रख लेती हैं।

'धारयन्नचलं स्थिरः'—इसका अर्थ है कि शरीर चञ्चल नहीं होना चाहिए, बिलकुल स्थिर होकर बैठना चाहिए।

'संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं'—भ्रूमध्यसे देखें। इसका सम्प्रदायसे प्राप्त अर्थ ऐसा ही है। नासिकाग्र माने जहाँ भ्रूमध्यमें नासिकाका ऊपरी भाग है, वह नासिकाग्र है। *'नासिकाग्रं भ्रुवोर्मध्यं यत्र वाराणसी पुरी'*—भौहोंके मध्यको नासिकाग्र बोलते हैं। वहाँ वाराणसी पुरी है। वहाँ जिसकी मृत्यु होती है, वह मुक्त हो जाता है, *'वाराणसी भ्रुवोर्मध्ये'*—यह वाराणसीकी महिमा है।

'दिशश्चानवलोकयन्'—बैठे योग करने और कभी दाहिने देखते हैं तो कभी बायें देखते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण नहीं देखना चाहिए—यह **'अनवलोकयन्'**का अर्थ है। किसी तन्त्रग्रन्थमें भैरवजी कहते हैं कि भैरवी, सुन! तुम अपनी पुतलीको स्तब्ध कर लो तो समाधि लग जायेगी। अपनी आँखकी जो पुतली है, यह स्थिर होनी चाहिए। एक मिनटमें आप देख सकते हैं कि आपका मन चंचल नहीं होगा और एक मिनटमें आप कहो तो हम कथा करना बन्द कर दें। जहाँ आँखकी पुतली स्तब्ध हुई कि वहाँ मन स्तब्ध हुआ।

लेकिन यह समाधि ऋत्विजोंकी समाधि नहीं है, *'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेत् वषट्-करिष्यन्'*—ऐसा नहीं है। क्योंकि यह तो एकाकी है। यहाँ कोई अठारह सहायक थोड़े ही बैठे हैं। *'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म'* (मुण्डक उप. १.२.७) वह नहीं है यहाँ। यह अठारह वाला नहीं है, यह तो एकाकी है। **'निराशीरपरिग्रहः'**—यहाँ न तो स्वर्ग पानेकी आशा है और न कोई परिग्रह है। अपरिग्रह माने हविष्य भी नहीं है और निराशी माने स्वर्ग पानेकी इच्छा भी नहीं है। इसलिए इसको ऋत्विजोंसे अलग करना पड़ेगा!

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः॥ (१४)

'प्रशान्तात्मा'—कभी मयूरासन किया, कभी सर्पासन किया, उष्ट्रासन किया और कभी गर्दभासन किया। यह जो जीव चौरासी लाख योनियोंमें रहता आया है, उन योनियोंके संस्कार इसके मनमें हैं। आसन चौरासी नहीं, चौरासी लाख हैं महाराज! अगर स्कूलमें मास्टर लोग किसी बच्चेको मुर्गा बना देते हैं तो वह घरपर आकर रोता है कि आज मास्टरने मुर्गा बना दिया। लेकिन यहाँ तो जीव जान-बूझकर खुद ही मुर्गा बनता आ रहा है।

असलमें पूर्व जन्मके जो संस्कार हैं, गीता उनको स्वीकार करती है। भगवान् कहते हैं कि ऐसा आसन बाँधकर बैठो; जिससे शरीर भी, मन भी, बुद्धि भी प्रशान्त

हो। बुद्धि शुद्ध करनेके लिए जो आसन होता है, वह व्यायामात्मक नहीं होता। आसनका फल हड्डी-मांस-चामके शरीरका निर्माण नहीं, अन्तःकरणका निर्माण है। आजकल एक बड़े भारी योगिराज हैं, जिनकी विलायतमें बड़ी पूजा है। मैंने एक दिन उनको समझाना चाहा कि *'योगःचित्तनिरोधः'* नहीं है, *'चित्त-वृत्तिनिरोधः'* है। चित्तके निरोधका नाम योग नहीं है, चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम योग है। योगीराजजी थोड़ी देर तो सुनते रहे, फिर हमसे बोले कि महाराज, हमको तो इतने दिन योगकी क्लास चलाते हो गये, लेकिन आजसे पहले चित्त और चित्तवृत्तिका भेद क्या होता है, यह मालूम नहीं था। यह हालत है आजकलके योगिराजोंकी! अरे भाई, हाथको काटकर फेंक देनेका नाम योग नहीं है, हाथका जो हिलाना है, उनको बन्द कर देनेका नाम योग है। चित्त हाथकी तरह है और वृत्ति माने बर्ताव बरतन। चित्तवृत्तिनिरोधका मतलब है कि चित्तकी संड़ासीसे किसी विषयको ग्रहण मत करो। संड़ासीका संचालन उस समय बन्द हो जाता है।

'विगतभीः'—बैठे तो समाधि लगाने, योग करने, किन्तु डर लगता है कि कहीं साँप आकर काट न ले, कहीं शेर आकर निगल न जाये ओर कहीं दुश्मन आकर डण्डा न मार दे। ऐसी स्थितिमें समाधि कैसे लगेगी? इसलिए भय छोड़कर निर्भय होकर देखना चाहिए।

'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः'—अरे भाई, तुम मत मानो उनको संन्यासी। हम क्या बतावें! वे एकाकी हैं, निराशी हैं, अपरिग्रह हैं, फिर भी आप जिद करो कि यह वर्णन गृहस्थके ही लिए है तो हम भी मान लेते हैं तुम्हारी बात! पर उनको **'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः'** तो मानते हो न! इसलिए लड़ाई क्यों करते हो?

'मनः संयम्य'—योगी अपने मनकी बागडोरको अपने हाथमें सँभाल लें। **'संयम्य'**का अर्थ योगशास्त्रके अनुसार धारणा, ध्यान और समाधि है। एक देशमें, एक कालमें, एक वस्तुमें अपने मनको जोड़े, पर वह वस्तु क्या हो? बदल दिया बिलकुल। यह हठयोग लययोगमें नहीं चलेगा। तब क्या हो!

'मच्चित्तः'—परमात्मामें चित्त होना चाहिए और **'युक्तः'** माने सावधान रहना चाहिए। यह नहीं कि दुराचार करके आये, पाप करके आये और बैठ गये योगाभ्यास करने। उस स्थितिमें तो पुलिसके डरसे, बदनामीके डरसे दिल धक्-धक् करेगा! इसलिए यदि सदाचार पूर्वक योगाभ्यासमें लगोगे तभी वह होगा, अन्यथा दुराचारपूर्वक योगमें लगोगे तब नहीं होगा।

अच्छा भाई, योगके द्वारा पाना क्या है? कुछ तो संकल्पका, फलका, त्याग होता ही है। बोले कि **'मत्परः'**का अर्थात् भरोसा भगवान्‌का होना चाहिए।

'मत्परः 'का अर्थ है कि योगके प्रवर्तक श्रीकृष्ण, योगके निर्वाहक श्रीकृष्ण, योगके फल श्रीकृष्ण और योगके फलदाता श्रीकृष्ण-इन्हें चाहे भगवान् कहो, परमेश्वर कहो; इनपर विश्वास करो। इनका भरोसा रक्खो।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ (१५)

'युञ्जन्नेव सदात्मानम्'—असलमें यह आत्मयोग ही है। अन्य योग नहीं है यह। इसलिए अपने आपको इस योगमें लगा दो और मनको नियत कर लो। इससे क्या होगा? जब मनको परमात्मामें लगाओगे तब परमात्माकी शान्तिका आविर्भाव तुम्हारे हृदयमें हो जायेगा। **'शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थाम् अधिगच्छति'**—निर्वाण ही है उसका परम स्वरूप। वृत्तिकी बत्तीमें स्नेहका तेल डालकर जो रोशनी जल रही है, वह वर्तिका-मूलक, स्नेह-मूलक परिच्छिन्न ज्योतिका बुझकर अनन्त ज्योतिसे एक हो जाना—इसीका नाम योग है।

अब भगवान् बताते हैं कि योगमें बाधक क्या है और योगमें साधक क्या है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ (१६)

'नात्यश्नस्तु योगोस्ति'—ज्यादा भोजन करनेसे योगाभ्यास नहीं होगा। अन्नमें नशा होता है। जौमें नशा होता है, गेहूँमें भी नशा होता है और चनेमें भी नशा होता है। इनको सड़ाकर देखो तब मालूम पड़ जायगा। इसलिए मात्रासे अधिक भोजन करनेपर उसका जो परिपाक होता है, उसमें मदकी, नशेकी उत्पत्ति हो जाती है। यदि कहो कि अच्छा, हम खाना ही छोड़ दें तो? नहीं, यदि खाना छोड़ दोगे तो शरीरको जो शक्ति चाहिए, वह नहीं मिलेगी। इसलिए शरीरको शक्ति मिले, लेकिन नशा न हो, इस हिसाबसे खाना चाहिए। *'न शं यया सा नशा'*—नशामें शान्ति नहीं है। कबीरदास कहते हैं कि—

नसा पीकर धरे ध्यान। गिरही होकर कथे ग्यान॥
यति होकर कूटे भग। कहे कबीर ये तीनों ठग॥

तो भाई, नशा नहीं होना चाहिए, किन्तु शरीरमें शक्ति बनी रहनी चाहिए। ज्यादा सोना नहीं चाहिए, नहीं तो आलस्य, निद्रा और प्रमाद बढ़ जायेगा। ज्यादा सोनेवालेका पेट बढ़ जाता है। जो खा-पीकर सो जाते हैं, उनका पेट बढ़ जाता है। भोजन करके ज्यादा बैठनेसे भी पेट बढ़ता है। पर यदि कहो कि हम सोयेंगे ही नहीं तो जब ध्यान करने बैठोगे तब नींद चढ़ बैठेगी, मन एकाग्र नहीं होगा, निद्रा-आलस्य-प्रमाद आजायेगा। इसलिए ज्यादा खाना, बिलकुल न खाना, ज्यादा सोना और बिलकुल न सोना—ये योगके बाधक हैं।

अब योगके साधक क्या हैं, यह देखो—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (१७)

'युक्ताहारविहारस्य'—योगीका आहार-विहार युक्त होना चाहिए। युक्तका अर्थ परिमित है। श्रीमद्भागवतमें आया है कि *'पथ्यं हितं मितम्'* भोजन शरीरके लिए पथ्य हो, हितकारी हो और मित हो। मित माने कम नहीं, ज्यादा नहीं, भोजनकी मात्रा बराबर हो। यह नहीं कि कभी ज्यादा तो कभी कम और कभी इतना और कभी उतना। एक बात और है। यदि आप अपने हाथसे पकाते हो तो पकानेमें आसान होना चाहिए। यह नहीं, कि पकानेमें घण्टों लगें। पंजाबी लोग सरसोंका साग बनाते हैं तो छह-सात घण्टे लगाते हैं। दक्षिणी लोग इडली-दोसा बनाते हैं तो पहले दिनसे ही उसकी सफाई और पिसाई करने लगते हैं। कश्मीरमें जो रोटी बनाते हैं, उसके लिए खमीर उठानेमें घण्टों लगते हैं। ऐसा समय-साध्य भोजन नहीं बनाना चाहिए। दलिया, खिचड़ी जैसी कोई चीज चढ़ा दी। वह पक रही है। मौजसे अपना भजन भी कर रहे हैं और शान्तिसे बैठे हैं। अन्यथा दिनभर रोटी बनाने और बर्तन माँजनेमें ही बीत जायेगा तो योग कब करोगे? भोजन अनायास होना चाहिए—*'हितं मितं अनायासम्।'* उसके लिए ज्यादा आयास नहीं होना चाहिए। यहि घरमें स्त्री बनानेवाली हो, तब भी भोजन झटपट बनावे और उधर से निवृत्त होकर अपने मनको बिलकुल ठीक रखे। यह नहीं कि बिचारीको दिनभर रसोई-घरमें ही रहना पड़े। क्योंकि, जीभके लिए ही जीवन नहीं है।

'युक्तचेष्टस्य कर्मसु'—निकम्मा बिलकुल नहीं होना चाहिए। जो अपने कर्तव्य हैं, उनका पालन करके तब योग करना चाहिए। ठीक समयसे सो जाओ। सोने-जागनेका भी नियम होना चाहिए। तभी **'योगो भवति दुःखहा'**—योग दुःखको मिटाता है, नहीं तो दुःखको बढ़ाता ही है। वैद्यकी जो औषध है, वह गदहा होनी चाहिए—*'गदं रोगं हन्ति इति गदहा।'* लेकिन योग गदहा नहीं है, योग दुःखहा है। जो दुःख मिटा दे, ऐसा योग होना चाहिए।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ (१)

'यदा विनियतं चित्तं'—अब यह बात बताते हैं कि योग करते-करते एक अवस्था आती है। अभ्युत्थान समाधि—ऐसी समाधि, जो कभी छूटे ही नहीं—

गीताको अभीष्ट नहीं है। असलमें समाधिसे बुद्धि परिशुद्ध होती है और उससे फिर मनुष्यको परमार्थका बोध होता है। यदा माने जिस अवस्थामें। यह अवस्था थोड़ी देरके लिए आती है। *'यदा यस्मिन् काले विनियतं चित्तं विशेषणं नियतं संयतं एकाग्रताम् आपन्नं चित्तम्'*—जब चित्त एकाग्र भावको प्राप्त होकर **'आत्मनि एवावतिष्ठते'**—अपने आपमें ही बैठता है, बाह्य विषयमें नहीं जाता और किसी भी वस्तुकी कामना नहीं रहती, **'निस्पृहः सर्वकामेभ्यः'**—किसी उपभोगकी इच्छा नहीं रहती, तब योग होता है। यहाँ काम शब्दका अर्थ है उपभोग। *'कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र'*—(मुण्डक. ३.२.२)। कामना ही ऐसा ड्राइवर है, जो खींचकर दूसरेके घरमें पहुँचा देता है। आपको घसीटनेवाली चीज कामना ही है। सूरदासजी कहते हैं—

मेरो मन हरिजू हठ न तजै।
निसिदिन भ्रमत रहत गृहपसु ज्यों सिर पदत्रान बजै॥

यह जहाँ जाता है, वहाँ डण्डा खानेको मिलता है, जूता खानेको मिलता है। यहाँ-से-वहाँ और वहाँ-से-यहाँ मनको भटकानेवाला काम ही है। जब जिसको निःस्पृहता आजाती है, उपभोगकी इच्छा नहीं रहती और जिसका चित्त अपने आपमें स्थित हो जाता है, तब उसको कहते हैं कि ये युक्त हैं। युक्त हैं माने योगी हैं। एक होता है **'युञ्जान'** और एक होता है **'युक्त'**। जो योगाभ्यासका साधक है, उसका नाम होता है युञ्जान और जिसका योगाभ्यास सिद्ध हो गया, उसका नाम होता है युक्त। युक्तका चित्त कैसा होता है—यह बात समझानेके लिए कहते हैं कि जैसे वायुहीन स्थानमें रख देनेपर दीयाकी लौ डाँवाडोल नहीं होती है, वैसे ही युक्तका चित्त होता है—**'यथा दीपो निवतस्थो नेङ्गते।'** दीया बत्तीको खा रहा है, तेलको खा रहा है, पर **'नेङ्गते'**—चञ्चल नहीं हो रहा है और बुझ भी नहीं रहा है।

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनं अनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत् तदा॥ (माण्डूक्य कारिका ३.६)

देखो, जितने भी आचार्य हैं, उनको यदि हम उनका नाम लेकर कह दें कि जो आप हैं, वही हम हैं तो हमसे आचार्य और आचार्यके अनुयायी सब-के-सब नाराज हो जायेंगे। लेकिन एक शंकराचार्य ऐसे हैं, जिनके सामने बोलो कि *'शिवोऽहम्'* तो वे नाराज नहीं होते, क्योंकि वे चाहते ही हैं कि यह हमसे एक हो जाये।

हमारे दादागुरु गौड़पाद बोलते हैं कि *'यदा न लीयते चित्तम्'*—चित्तका दीया बुझना नहीं चाहिए। *'न च विश्क्षिप्यते पुनः'*—वह चञ्चल भी नहीं होना चाहिए।

'अनिङ्गनम्'—अपने आपमें भी नहीं हिलना चाहिए अहं भी नहीं आना चाहिए। *'सम्पन्नं ब्रह्म तत् तदा'*—वहाँ तो चित्तकी यह अवस्था ही ब्रह्म है। अपरमार्थदर्शीके लिए चित्तकी यह अवस्था ही ब्रह्म है, और परमार्थदर्शीके लिए तो यह ब्रह्मके सिवाय कुछ है ही नहीं। शंकराचार्यने यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि अपरमार्थदर्शीका चित्त जब ऐसा होता है, तब उस चित्तका नाम ही ब्रह्म हो जाता है।

लये सम्बोध्येत् चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयात् तमप्राप्तं न चाल्येत्॥

यह योगीके चित्तकी स्थिति है। उसके चित्तकी उपमा देते हुए कहते हैं—

आत्मनः योगं युञ्जतः योगिनः यतचित्तस्य।
योगिनः पुरुषस्य यद् यतं चित्तं तस्य॥

यह योगीकी उपमा नहीं, योगीके यतचित्तकी उपमा है। *'यतचित्त'* में बहुव्रीहि समास नहीं है। योगीका यतचित्त कैसा है? शान्त दीपक है। यह नाटकदीप है। पञ्चदशीमें नाटकदीपका वर्णन है। मञ्चपर दीपक प्रज्वलित हो रहा है, नटियाँ आती हैं, नाचती हैं और चली जाती हैं। नट आते हैं, अभिनय करते हैं और चले जाते हैं। मञ्च खाली हो जाता है। किन्तु दीपक जब नटी-नट नाचते और अभिनय करते हैं, तब भी प्रकाशित कर रहा है और सब-के-सब पर्देके भीतर चले जाते हैं, तब भी वह खाली मञ्चको प्रकाशित करता है। इसलिए यह नाटक दीपक है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ (२०)
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ (२१)
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ (२२)
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ (२३)

आपसे प्रार्थना है कि अगर आप इस प्रसंगपर ध्यान देंगे तो योगदर्शनके योगसे गीताके योगमें क्या अन्तर है—यह आपको बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा। दर्शनोंमें केवल वेदान्त-दर्शन ही यथार्थका निरूपक है और सब दर्शन अपने-अपने विषयके निरूपक हैं। लेकिन अपने-अपने विषयका निरूपण करना—यह बात दूसरी है। वह ऐसा ही है कि हमारी दुकानपर आओ, हमारी दुकानपर आओ!

इसीलिए उनके अलग-अलग रास्ते हैं। लेकिन गीता कहती है कि योग-सेवनसे चित्त निरुद्ध होकर उपराम हो जाता है—'**उपरमते**'। फिर अपने-आपसे अपने-आपको देखता हुआ अपने-आपमें सन्तुष्ट होता है। '**आत्मनि तुष्यति**'का अर्थ है कि वह भोजन-वनितादिमें सन्तुष्ट नहीं होता। '**आत्मना तुष्यति**'का अर्थ है कि वह नेत्र-श्रोत्रादि करणोंके द्वारा भोग करके सन्तुष्ट नहीं होता। अरे, '**आत्मानं पश्यन्**'का अर्थ है कि दूसरोंको देखकर सन्तुष्ट नहीं होता—'*परं पश्यन् न तुष्यति।*' वह तो अपने-आपमें, अपने-आपसे, अपने-आपको देखकर परमानन्दमें मग्न है।

'**सुखमात्यन्तिकं**' अब आओ, सुखकी बात करें। गीतामें सुखका विवेचन बड़ा प्रबल है। गीतामें भावशुद्धि, मनःप्रसाद, मौन और ब्रह्मचर्यको भी तामस बना दिया गया है— आपके ध्यानमें यह बात होनी चाहिए। क्योंकि वह तीन तरहका होता है—'**तपस्तत् त्रिविधं**' (१७.१७) तपस् तीन तरहका होता है! **देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ**(१७.१४) की पूजा भी सात्त्विक राजस-तामस होती है। '**अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्**' १७.१५ वाणी भी सात्त्विक-राजस-तामस होती है और '**मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः भावसंशुद्धिः**'(१७.१६) भी सात्त्विक-राजस-तामस होते हैं। यह बात अपूर्व है गीताकी। नहीं तो लोग भाव-संशुद्धि, भाव-संशुद्धि करके और मनःप्रसादः करके मर जायें! गीताने कहा कि यदि श्रद्धाहीन भाव-संशुद्धि है तो राजस हो जायेगी और दुराचारसे युक्त भाव-शुद्धि है तो तामस हो जायेगी। भावशुद्धिके नामपर मरना मत, उसका भी विवेक करना।

भई, गीता भगवान्‌की वाणी है, सत्य है। निद्रा, आलस्य, प्रमादका जो सुख है वह तो तामस है। सुख भी तामस होता है। पर वह बुद्धि-ग्राह्य नहीं होता है, निर्बुद्धि-ग्राह्य होता है। जहाँ सुख बुद्धि-ग्राह्य होगा वहाँ सुख तामस नहीं होगा और जहाँ विषयेन्द्रिय-संयोगसे होगा वहाँ सुख तो होगा; लेकिन राजस हो जायेगा। और अभ्यास कर-करके जो जोड़ा जायेगा वह सात्त्विक सुख होगा, आत्मबुद्धि प्रसादज सुख होगा। गीताके इस श्लोकको देखिये—

> **अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥** (३६)
> **यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।**
> **तत्सुख सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥** (१८.३७)

मैंने एक जगह लिख दिया था कि अभ्याससे जो सुख होता है, उसमें मत रमना। वह तो साध्य सुख है, तामसिक सुख है। जो जन्य सुख होता है, वह अनित्य होता है। उसे पढ़कर एक सज्जन नाराज हो गये और बोले कि क्या लिखते हो? हमारा अभ्यास काटते हो? वह तो प्रसादज सुख है। उन सज्जनसे मेरा चार-

पाँच पीढ़ीका फर्क था, परदादा लगते थे। उन्होंने जवानीमें खूब दण्ड-बैठक की थी थे। जब बूढ़े हो गये, तब हम लोगोंके हाथमें ठण्डा दे देते और कहते कि हमारी पीठ, कमर और पाँवोंपर कसकर पैरोंसे पीटो। हम लोग डण्डा पकड़कर उनकी पीठपर चढ़ जाते और खूब एड़ी मारते थे, क्योंकि पीटे बिना उनको आराम नहीं मिलता था। उनका दण्ड-बैठकके अभ्यासका जो सुख था, वह बुढ़ापेमें उनको दु:ख देता था। वे जिस दिन सूर्य-नमस्कार न करें, उस दिन दिनभर उनको शान्ति न मिलती। इसीका नाम अभ्यासज सुख है। अरे आज तो यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ। इस प्रकार अपनेको अभ्यास-परतन्त्र कर देना बुद्धिमत्ताका लक्षण नहीं है। अभ्यासज सुख सच्चा सुख नहीं होता है।

सुख आत्यन्तिक होता है माने काल-परिच्छिन्न नहीं होता और बुद्धिग्राह्य होता है माने देश परिच्छिन्न नहीं होता। जहाँ बुद्धि है, वहाँ वह समझदारीके साथ रहता है। देश-परिच्छिन्न नहीं होता और तामसिक नहीं होता। वह अतीन्द्रिय होता है, वह विषय-परिच्छिन्न नहीं और राजस भी नहीं होता। शब्द राजस-सुखकी राजसत्ताका निवारण करता है और विषयेन्द्रिय-संयोगका भी निवारण करता है। अतीन्द्रिय माने निर्विषय और आत्यन्तिक माने अभ्यासजन्य नहीं। वह तो अनादि, अनन्त, स्वत:सिद्ध है— आत्यन्तिक काल-परिचिछिन्न नहीं है, अभ्यासजन्य नहीं है. 'बुद्धि-ग्राह्य'का अर्थ भी बुद्धि-प्रसादज अथवा बुद्धि-प्रसाद-जन्य नहीं; इसलिए तामस नहीं, देश-परिचिछिन्न नहीं और अज्ञात नहीं। अज्ञात होगा तब तो मार ही डालेगा बिल्कुल। कोई भी चीज जहाँ अज्ञात होती है, वहाँ हमको अज्ञानाश्रय बना देती है। वस्तु होती है अज्ञात और हम होते हैं अज्ञानी! ये जितनी अज्ञात वस्तुएँ हैं सृष्टिमें, वे हमें निरन्तर अज्ञानी बनानेका प्रयास कर रही हैं। इसलिए एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान हो जानेपर न कोई वस्तु अज्ञात रहेगी और न हम अज्ञानी रहेंगे। तब *'कस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'* (मुण्डक० १.१.३) औपनिषद प्रतिज्ञा पूरी हो जायेगी और स्वरूपभूत होनेसे इसमें विचलन भी नहीं होगा। ऐसी स्थिति नहीं होगी कि हम सुख छोड़कर चले आये!

हमारे एक मित्र हैं। वे अपनी पत्नीको छोड़कर हमारे पास चले आये। अब कहते हैं कि हाय-हाय, हमारा सुख मुझको छोड़कर चला गया। इस तरह जब आपका सुख बेटेमें रहेगा, पत्नीमें रहेगा, पैसोंमें रहेगा तब या तो आप छोड़कर चले जाओगे या वह छोड़कर चला जायेगा।

इसलिए सुख तो ऐसा होना चाहिए, जिसको हम न छोड़ सकें और जो हमको न छोड़ सके। ऐसा तभी होगा, जब आत्मरूप सुख होगा। वह सब जगह रहेगा और सबमें रहेगा। जो अनायास रहेगा, ज्ञात रहेगा, वही तो सच्चा सुख होगा।

अब देखो कि गीताका निरतिशय सुख क्या है? यही है कि इससे बड़ा और कोई सुख नहीं है—**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।'** (२२) यहाँ माफ करें योगी लोग! उनके योगमें जो आनन्द है, वह केवल सम्प्रज्ञात समाधिमें जो तीसरी कक्षाकी आनन्दानुगत समाधि है, वहीं तक चलता है, न विवेक ख्यातिमें है, न निर्विकल्पमें है, न निर्बीजमें है। क्योंकि यदि आनन्दकी अनुभूति होगी तो भोक्ता और भोग्यका भाव बन जायेगा और आत्मा दृशिमात्र नहीं रहेगा, द्रष्टा नहीं रहेगा, असंग नहीं रहेगा। फिर योगदर्शनमें आनन्दकी, सुखकी, क्या भूमिका है, जरा बताओ तो! है कि नहीं सीधा सवाल? योगदर्शनके अनुसार सुख अपनी भूमिकाका निर्वाह कहाँ करता है? असम्प्रज्ञात, निर्विकल्प समाधिमें या असम्प्रज्ञात निर्बीज समाधिमें या विवेक-ख्यातिमें या अस्मितानुगत समाधिमें? वहाँ आनन्द तो अपना पार्ट अदा करता है उस समय, जब हमारे करण विषयहीन होकर जाग्रत रहते हैं। इसीका नाम आनन्दानुगत समाधि है। हमारे सब करण सम्प्रसन्न हों, परन्तु बिना विषयके। वह भी सुख क्या हुआ? वह कोई भोग्यसुख थोड़े ही है! वहाँ तो वे करणोंकी सम्प्रसन्नताको ही आनन्दानुगत समाधि बोलते हैं। मैं यह बात विल्कुल योग-दर्शनके अनुसार बोल रहा हूँ।

परन्तु गीतामें तो सुख-ही-सुख, सुख-ही-सुख है—**'सुखेन ब्रह्म-संस्पर्शम्** अत्यन्तं सुखमश्नुते।' है यह नाम *'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं'* (योगसूत्र १, ३) में? अच्छा, योगदर्शनके ईश्वरमें आनन्द है कि नहीं? यदि है तो उसमें बोलनेकी हिम्मत क्यों नहीं है? वे यह तो बोलते हैं कि क्लेशसे अपरामृष्ट है ईश्वर, परन्तु वह परमानन्द-स्वरूप है—यह नहीं बोलते? अपरामृष्ट ही क्यों बोलते हैं? इसका अर्थ है कि जब ईश्वरमें आनन्द होगा, तब भोक्ता और भोग्यभाव होगा—शुद्ध द्रष्टा और असंगता—यह बात बन ही नहीं सकेगी। इसलिए भाई, हमारा जो प्रतिपाद्य है, वह योगदर्शन नहीं है, इसका नाम भगवद्गीता है।

अरे भाई, रसगुल्ला खाना हो तो बंगाल जाओ और बड़ा खाना हो तो पंजाब जाओ। यहाँ तो स्थिति है कि *'यस्मिन् आत्यन्तिके बुद्धिग्राह्ये अतीन्द्रियवेदनायुते सुखे स्थितः गुरुणापि दुःखेन न विचाल्यते'*—अर्थात् बड़े-से बड़ा दुःख आवे तो वह भी विचलित नहीं करेगा। फिर छोटे-मोटे दुःखोंकी तो बात ही क्या है! **'गुरुणापि'**—इसका एक अर्थ *'बृहस्पतिनापि'* भी है। बृहस्पतिजी महाराज देवताओंके गुरु हैं। वे अपने सब चेलोंको माने इन्द्रको, चन्द्रको, वरुणको और कुबेर आदिको इकट्ठा करके कह दें कि आओ, इसको दुःखी करो। फिर इन्द्र कहें कि हम मन ही नहीं उठने देंगे और सूर्य कहें कि हम आँखे ही नहीं चलने देंगे।

इस प्रकार देवताओंकी सारी सेना दुःख देनेमें लग जाये, तब भी वे गीताके योगीको विचलित नहीं कर सकते। अन्तमें गुरु बृहस्पतिजी स्वयं कहें कि अरे, तुम अपनेको जो सुखी मान बैठे हो, सुख-स्वरूप मान बैठे हो, यह ठीक नहीं है। अगर ऐसा अभिमान करोगे तो हम तुमको शाप ही दे देंगे। लेकिन गीताका योगी कहेगा कि महाराज, आप शाप देना चाहें तो भले ही दे दो, हमको जो अनुभव होता है, वह तो होगा ही ।

इसीलिए शंकराचार्यजीने कहा है कि *'नहि श्रुतिशतमपि घटं पटयितुम् ईष्टे।'* इसका अर्थ है कि यदि एक हजार वेद-मन्त्र भी बोलें कि यह घड़ा नहीं, कपड़ा है तो घड़ेको कपड़ा नहीं बना सकते। जहाँ यथार्थ अनुभव है, वहाँ वेद-मन्त्र भी विचलित नहीं कर सकते। अच्छा, यदि वे हमारे अनुभवके अनुकूल होकर अपनी बात कहें तो!

तं विद्याद्दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्।

यहाँ गीताने एक और गोली मारी। क्या योगाभ्यास दुःखको मिटा देता है? बोले कि नहीं। यह जो कहा कि **'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'**— इससे यह सिद्ध होता है कि यदि दुःख होता नहीं, यदि दुःख आता ही नहीं तो उससे विचलित होनेका सवाल ही कहाँसे उठता? इसलिए योगीके जीवनमें विशेषता यह है कि वह विचलित नहीं होता। दुःखका अभान योगका लक्षण नहीं है, दुःखका भान होते हुए भी उससे विचलित न होना योगका लक्षण है। दुःखानुत्पाद योगका लक्षण नहीं है। यह नहीं कि मकानमें, कुटियामें कभी आग नहीं लगेगी या कभी कमण्डलु नहीं फूटेगा। यह भी नहीं कि रोज रोटी मिलेगी, किसी दिन भूखे नहीं रहना पड़ेगा। अरे भाई, यह सब होगा, लेकिन होनेपर भी योगी विचलित नहीं होगा. यही इसका अर्थ है।

'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'— इसमें जो 'दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्' है, इसपर हम आपका ध्यान जान-बूझकर खींच रहे हैं। क्या दुःखके वियोगका नाम योग है? या दुःखका वियोग ही हो जाये माने दुःख कहीं परदेश चला जाये अथवा दुःखको उठाकर फेंक दिया जाय कि वह कुछ तो अमेरिकाकी ओर चला जाये और कुछ योरपकी ओर चला जाये—इसका नाम योग है? नहीं, दुःखवियोगका नाम योग नहीं है। तब? दुःखके संयोगके वियोगका नाम योग है। दुःख तो हो, पर उसके संयोगका वियोग हो माने वह अपने साथ चिपक न सके। जन-मरण भी हो, धन-हरण भी हो, भवन-दहन भी हो और भी जो होना हो सो होता रहे, लेकिन वह हमारे साथ न लगे। ऐसी कोशिश मत करो

कि तालमें जोंक न रहे, बल्कि इस तरहकी दवा लगा लो कि तुम्हारे शरीरमें जोंक चिपके ही नहीं। हमलोग गाँवमें धानकी रोपनीके दिन धानके पच्चीस-पच्चीस बोझ बाहामें डाल देते, एक बोझको दूसरेसे और दूसरेको तीसरेसे बाँध देते और मौजसे पानीमें बहाते हुए उसीके साथ चले जाते। वह पानी क्या होता? खेतोंमें-से बहकर आया हुआ होता और जगह-जगहकी माटी उसमें मिली हुई होती। वह माटी शरीरको काट खाती, लेकिन हमलोग पहलेसे कड़वा तेल शरीरमें लगाकर पानीमें घुसते थे। क्योंकि हम जानते थे कि पानीमें कितनी ही मिट्टी लगी रहे, जगह-जगहकी सड़ी हुई खादके तत्त्व भी उसमें हों, परन्तु जब शरीरमें तेल लगा रहेगा तब वह चिपकेगा नहीं। मिट्टीका चिपकना तो अलग रहा, जोंक भी नहीं चिपकेगी। इसी तरह दुनियाको रहने दो अपनी जगहपर। इसको मिटानेकी कोशिश मत करो। जो मरते हैं, उनको मरने दो; जो बिछुड़ते हैं, उनको बिछुड़ने दो; जो छूटते हैं, उनको छूटने दो, परन्तु इस बातका ध्यान रखो कि कहीं दुःख अपने साथ न चिपक जाये। अपनेको सब चिपकनोंसे बचा लेना ही योगका काम है, दुःखको मिटा देना योगका काम नहीं है।

किसी स्त्रीका बच्चा मर गया तो जैसे बन्दरिया अपने मरे हुए बच्चेको गोदमें लिये रहती है, वैसे ही कहती रही कि कोई इसे जिला दो, कोई जिला दो, कोई जिला दो, कोई जिला दो! लोगोंने कहा कि यह पागल हो गयी है। फिर लोगोंको मजाक सूझा तो उसको कह दिया कि बुद्धके पास जाओ। वे बड़े भारी महात्मा हैं, जिन्दा कर देंगे तुम्हारे बच्चेको। वह स्त्री गयी बुद्धके पास और बोली कि बाबा, हमारे बच्चेको जिन्दा करो। बुद्धने कहा कि माई, मैं जिन्दा कर दूँगा। लेकिन उसके लिए हमको एक मुट्ठी सरसों ऐसे घरसे लाकर दो, जिसके खानदानमें कोई मरा न हो। वह स्त्री गयी सरसों ढूँढनेके लिए, लेकिन सरसो नहीं मिली।

इसी तरह यदि तुम यह चाहते हो कि हमारा कोई मरे ही नहीं, तब हम सुखी होंगे तो तुम्हारी यह चाह ठीक नहीं है। अरे मरने दो लेकिन मरनेका दुःख तुम्हारे दिलमें व्यापे नहीं। अपने दिलको शाकप्रूफ नहीं, शोक-प्रूफ बनाओ।

इसीलिए गीताने कहा कि '**संयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्**'—संयोगके वियोगका नाम योग है। इससे योगकी परिभाषा ही अलग हो गयी। पढ़ते रहो *'चित्तवृत्तिनिरोधः'* किन्तु जरा गीता भी तो पढ़ लो। इसमें योग किसकी संज्ञा है? **'योगः कर्मसु कौशलम्', 'समत्वं योग उच्यते', 'वियोगं योगसंज्ञितम्'**—यह योगकी परिभाषा है। यह गीता प्रस्थान है और यह गीता-प्रस्थान वेदान्त-प्रस्थानके अन्तर्गत है तथा किसी अन्य दर्शनमें इसका अन्तर्भाव नहीं है। मीमांसामें, सांख्यमें, योगमें, न्यायमें,

वैशेषिकमें—कहीं इसका अन्तर्भाव नहीं है। इसका अन्तर्भाव होगा तो केवल वेदान्त-दर्शनमें होगा और कहीं नहीं होगा। इसलिए यह प्रस्थान-त्रयी है।

'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा'—इसमें दो बातें कही गयी हैं। एक तो **'निश्चयेन योक्तव्यः'**—निश्चय करके इसमें लगाना चाहिए और दूसरे चित्त निर्विण्ण न हो—**'अनिर्विण्ण चेतसा'**। यह कहना ठीक नहीं है कि अरे, बहुत दिन हो गये साधना करते-करते, लेकिन उसका परिणाम कुछ नहीं हुआ। एक श्रीमतीजीने ऐसा ही कहा और किया है। वह अपने पतिसे बोलीं कि तुम बड़े धर्मात्मा हो, बड़े भोले-भाले हो, सदाचारी हो। लेकिन पच्चीस वर्ष तुम्हारी सेवा करते हो गये। तुमने न तो भगवान् दिया, न बेटा दिया और न धन दिया। हमारी पच्चीस वर्षोंकी सेवा बेकार हो गयी। अब मैं तुम्हें छोड़कर जा रही हूँ। पन्द्रह वर्षकी उम्रमें उनका ब्याह हुआ, पच्चीस वर्ष सेवा करते हो गये, चालीस वर्षकी उम्र हो गयी उनकी। और बोलीं कि मैं जा रही हूँ और चली भी गयी।

इस तरह अगर तुमको कुछ पानेके लिए ही योग करना है तो क्यों करते हो? इसलिए योग करते हो कि सिद्धि मिले! अरे यहाँ सिद्धि-विद्धि नहीं मिलेगी। सिद्धिवाले तो ज्यादा करके ख्यालातमें ही रहते हैं। कुछ खुद मैस्मराइज होते हैं, कुछ दूसरोंको मैस्मराइज करते हैं और कुछको चमचा लोग सिद्ध बना देते हैं। सिद्धियोंमें बड़ी भारी ठगी है। हम यह सोच-समझकर बोल रहे हैं कि आप लोगोंमें-से कोई आकाशमें उड़नेका ढोंग नहीं करता! एकबार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज अपनी ही बात सुना रहे थे। वे कहीं कथा हो रही थी तो चुपचाप वहाँ श्रोताओंमें जाकर बैठ गये। किसी ने कथावाचक पण्डितजीसे पूछा कि आजकल उड़ियाबाबा नामक महात्माका नाम बड़ा सुनायी पड़ता है। वह आपसे कभी मिला है कि नहीं मिला है? पण्डितजीने कहा कि हाँ, मिला है। मैं आकाशमार्गसे गंगास्नान करनेके लिए जा रहा था, तब वह गंगास्नान करके आकाश-मार्गसे लौट रहा था। इसीसे तो उसको उड़ियाबाबा बोलते हैं, क्योंकि वह उड़कर चलता है। मैं सोचता हूँ कि यहाँ कोई ऐसा आकाश-गामी सिद्ध बैठा नहीं होगा। इसलिए आपको बताता हूँ कि *'समाधौ उपासर्गा व्युत्थाने सिद्धयः'* (योगसूत्र ३.३७) यह आपके योगी होनेका लक्षण नहीं है, विघ्न होनेका लक्षण है। आपके योगमें विघ्न पड़ गया, यदि आप सिद्धिके चक्करमें पड़ गये तो! इसलिए ***'निश्चयेन योक्तव्यः अनिर्विण्णेन चेतसा'*** अर्थात् निश्चय दृढ़ करके निर्विण्ण चित्तसे अपनेको योग करना चाहिए।

सिक्खोंके दस गुरुओंमें-से एक गुरुके दो शिष्य थे। एक तो उनका अपना लड़का था और दूसरा बाहरका था। उन्होंने उनसे कहा कि एक चबूतरा बनाओ।

यह कथा पंजाबमें बड़ी प्रसिद्ध है। जब चबूतरा बन गया तब गुरुजीने कहा कि इस चबूतरेको बिगाड़ दो। बेटे और शिष्यने बना-बनाया चबूतरा बिगाड़ दिया। उन्होंने कई बार चबूतरा बनाया और गुरुजीने बिगाड़ दिया। अब जो बेटाजी थे, बोले आपकी पसन्दका चबूतरा तो कभी बनेगा नहीं, इसलिए अब मैं यह काम नहीं करूँगा। वे निर्विण्ण हो गये। किन्तु शिष्यने कहा कि मुझको तो आपकी आज्ञाका पालन करना है। भले ही रोज चबूतरा बनाना और बिगाड़ना पड़ता है, लेकिन आपकी आज्ञाका पालन तो हो ही रहा है। अब गुरुजी महाराज बेटे पर तो खुश नहीं हुए, लेकिन चेले पर खुश हो गये और बोले कि हाँ, यही सन्त है, यही अनिर्विण्ण है।

संकल्प-प्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ (२४)
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ (२५)

कामकी उत्पत्ति होती है संकल्पसे और वह काम चाहे किसी भी संकल्पसे पैदा हुआ हो। उन सभी संकल्प-प्रभव कामोंको '**अशेषतः**' माने उनके संस्कारोंके साथ ही छोड़ना पड़ेगा—*'सर्वान् कामं तत्रापि अशेषतः'*। फिर उनको छोड़कर इन्द्रिय-ग्रामका मनसे विनियमन करना होगा। मनसे विनियमन करनेका अर्थ है आँखोंको मनसे रोकना और जीभ आदिको मनसे रोकना।

एकबार श्रीउड़िया बाबाने एक साधुको कह दिया कि क्या बोलता रहता है? उस साधुने एक कागजपर १४४ लिखा और अपने मुँहपर पट्टी बाँध ली कि अब नहीं बोलूँगा। जब कोई पूछता कि आपने यह पट्टी क्यों बाँधी है तो वे बताते थे कि श्रीउड़ियाबाबाने १४४ की धारा मेरे ऊपर लगा दी है। लेकिन यहाँ यह मतलब नहीं है।'**मनसैव**' माने मनसे वाणीपर नियन्त्रण रखिये।'**इन्द्रियग्राम**'का अर्थ है अलग-अलग, एक-एक इन्द्रियका नहीं, सब इन्द्रियोंका एक साथ नियन्त्रण कीजिये। क्योंकि जब किसी एक इन्द्रियको खुली छूट दे दी जाती है तब उसमें-से मन बह जाता है। इसलिए जब सब इन्द्रियोंको रोकेंगे तभी उनका विनियमन होगा।

एक साधु हैं, जो बड़े अच्छे हैं। उन्होंने अपने मूत्रेन्द्रियका भी संयम किया है, खाने-पीनेका भी संयम किया है; पर बोलनेका संयम नहीं किया है। वे जो मौज हो, वही बोलते जायेंगे, कभी-कभी ऊट-पटांग भी बोल देंगे। इसलिए इन्द्रियग्राम कहनेका अर्थ है कि वशमें करना हो तो इन्द्रियोंका पूरा-का-पूरा गाँव वशमें करना

होगा। उसमें एकाधको खुली छूट मत देना। '**समन्ततः**' का अर्थ है चारों ओरसे रोकना और जल्दी नहीं करना—'**शनैः शनैरुपरुमेत्**'—धीरे-धीरे रोकना और रोकना कैसे ? '**बुद्ध्या धृतिगृहीतया।**'

पहले बताया कि अपने इन्द्रियग्रामको मनसे रोको। मनमें रोकनेकी शक्ति कहाँसे आयेगी ? बुद्धिसे आयेगी। इसलिए समझदारीसे मनको रोको। क्योंकि जिस चीजको हम जानते हैं, उसीमें मन जाता है; बिलकुल निन्तान्त अज्ञातमें तो मन जाता नहीं! इन्द्रियाँ वहीं जाती हैं, जहाँ मन चाहता है और मन वहीं जाता है, जो जाना हुआ होता है। इसलिए अपनी जानकारीको भी '**धृति**'-शक्तिसे युक्त रखो। लेकिन कैसी धृति-शक्तिसे ? अठारहवें अध्यायमें आया है—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रिय-क्रियाः।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ (१८.३३)

अर्थात् सात्त्विकी धृतिके द्वारा बुद्धिपर भी लगाम लगाकर रखो। घोड़े काबूमें हों, ठीक हैं। बागडोर काबूमें हो, ठीक है। पर सारथिको भी काबूमें रखना—'**बुद्ध्या धृतिगृहीतया।**'

'**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**'—मनको कबरमें डाल दो। भक्ति-दर्शनमें तो *'संस्था'* माने स्थित होता है, परन्तु संस्था माने यह भी होता है कि *जिस सरका है यह बाल, उसी सरमें जोड़ दो।* जिस अधिष्ठानमें इस मनकी स्फूर्ति होती है जिस स्वप्रकाश निर्विशेष ज्ञानमें यह सविशेष-ज्ञानरूप मनकी स्फूर्ति होती है, उस सविशेप ज्ञान-स्फुरणको निर्विशेष ज्ञानसे स्थिर कर दो। '**आत्मा**' माने निर्विशेष ज्ञान और मन माने सविशेष ज्ञान। सविषय ज्ञानका नाम मन है और निर्विपय ज्ञानका नाम आत्मा है। मन और आत्मा एक ही चीज हैं, दो चीजें नहीं हैं। प्रक्रियाकी जो बात है, वह बच्चोंको समझानेके लिए है। ज्ञान एक है। ज्ञान-का-ज्ञान नहीं होता—यह नियम है। इसका ज्ञान कभी परोक्ष नहीं होता। जिसने अपने ज्ञानको उठाकर घड़ेमें, कपड़ेमें, विषयमें डाल दिया, वह विषयकी परोक्षताका आरोप ज्ञानमें करता है। ज्ञान परोक्ष नहीं होता, वह तो अपना स्वरूप ही है। वह परोक्ष कहाँसे होगा ? किसीने उसे घड़ेमें बैठा दिया, घड़ेको ज्ञान मान लिया और घड़ा कोई उठाकर ले गया तो बोले कि ज्ञान ही उठाकर ले गया। अरे बाबा, ज्ञान तो तुम्हारे पास है, घड़ा ही कोई उठाकर ले गया है। ज्ञान कभी परोक्ष नहीं होता, ज्ञान कभी अज्ञान नहीं होता और ज्ञान कभी ज्ञान भी नहीं होता। ज्ञानकी कभी अज्ञात सत्ता नहीं होती और ज्ञानकी कभी ज्ञात सत्ता भी नहीं होती। ज्ञाताज्ञात दोनों औपाधिक होते हैं। ज्ञान स्वयं-प्रकाश होता है। इसलिए जो सविशेष, सविषय ज्ञान

है, उसमें-से विषयांशका परित्याग कर दो। फिर वह आत्म-संस्थ ही है, आत्मा ही है। वह केवल विषयकी मिलावटसे ही मन मालूम पड़ता है। यदि विषयकी मिलावट छोड़ दो तो वह आत्मा ही है।

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' अर्थात् **'मनः स्वस्वरूपस्थं कृत्वा।'** मनका ही जो वास्तविक स्वरूप है आत्मा, उसमें उसको बैठने दो। यह तभी होगा, जब तुम *'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'*—मनमें कोई चिन्ता नहीं आने दोगे। इसलिए न जीवका चिन्तन करो, न ईश्वरका चिन्तन करो और न जगत्का चिन्तन करो।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ (२६)

यदि तुम्हारा चंचल अस्थिर मनीराम कहीं-कही जायें तो उनको रोक लो—'वशं नयेन्। यतो यतो निश्चरति, *यतो यतो हेतोरनिश्चरति* और *यस्मिन् यस्मिन् विषये निश्चरति'—यह सार्वविभक्तिक तस् प्रत्यय है।* इसका अर्थ है कि मन जिस-जिस कारणसे भागे, वहाँ-वहाँसे रोककर इसको कहो कि बाबा, तुम तो ज्ञान-स्वरूप हो, इन विषयोंके लिए कहाँ भाग रहे हो!

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ (२७)

मनको **अकल्मष** होने दो, उसमें तमोगुण न रहने पावे। **'शान्तरजसम्'** माने उसमें रजोगुण न रहे और **'प्रशान्तमनसम्'** माने सत्त्वकी भी विक्षिप्त वृत्ति न रहे। **'प्रशान्तमनसम्'** में दया-माया नहीं होती, क्योंकि दया-मायाको तो विषय चाहिए। 'शान्ति' माने निर्विषय और **'शान्तरजसम्'** माने रजोगुण रहित। उसमें कोई प्रवृत्ति ही नहीं है। इसे फिरसे सुन लो-**'अकल्मषम्'** माने रजोगुण नहीं है और **'प्रशान्तमनसम्'** माने सत्त्व भी शान्त हो गया है। ऐसा जो योगी है, उसके पास ब्रह्मभूत उत्तम सुख स्वयं आता है। ये ब्रह्मजी ऐसे हैं कि इन्हें तो बस, खाली जगह चाहिए। ये तो भिक्षु-पद-प्रसारण-न्यायसे जहाँ देखते हैं कि जगह खाली है, वहाँ जाकर कब्जा कर लेते हैं। क्योंकि वहाँ पहलेसे ही रहते हैं, जहाँ पर्दा हटा कि दिखने लग गये। इसीका अर्थ है कि सुख लाया नहीं जाता। यह अपने-आप ही आता है। जहाँ मन तमोगुण-रजोगुण और सत्त्वगुणकी वृत्तिसे रहित हुआ; वहाँ बेपर्द मनमें, मल-विक्षेप आवरण रहित मनमें, **'ब्रह्मभूतं सुखं उपैति'** माने अपने-आप ही आकर जाहिर हो जाता है। उसकी अभिव्यंजना हो जाती है और अभिव्यंजना भी विद्यमानकी ही होती है, अविद्यामानकी नहीं होती।

श्रीशंकर भगवान्ने कहा है कि मोक्ष-दशामें कोई नया ज्ञान या नया आनन्द आकर प्रकट नहीं होता है—*'नहि मोक्षदशायां विज्ञानान्तरम् वा अभिव्यंज्यते।'*

देखो, मेरे पास बड़े ढीठ-ढीठ सवाल करनेवाले आते हैं। एक दिन किसीने पूछा कि महाराज, मुझको ब्रह्म दिखा दीजिये कि वह कैसा होता है ? मैंने कहा कि ऐसा होता है। अगर ब्रह्म यह नहीं है, अभी नहीं है, यहीं नहीं है तो वह देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न कोई ब्रह्म नहीं होगा। वह तो किसीका बेटा होगा, जो इस कालमें ब्रह्म नहीं है, इस देशमें ब्रह्म नहीं है और इस वस्तुके रूपमें ब्रह्म नहीं है। वह तुम्हारी अशान्ति है। जो तुमको अब्रह दिख रहा है। इसीका नाम ब्रह्म है। यदि विद्यमान ही अभिव्यक्त होता है तो क्या अभिव्यक्त हुआ ? केवल पर्दा ही फटता है बाबा, बनता-वनता कुछ नहीं है। जो बनेगा, वह बिगड़ेगा। *जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।*

तो, योगी विगत-कल्मष होकर सदा आत्मानुभूति करता है—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (२८)

यहाँ '**सुखेन**'का अर्थ *'अनायासम्'* है। बारहवें अध्यायमें आया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ १२.५

ठीक है, देहवान् अधिकारी यदि देहाभिमानी हो तो उसके लिए '**क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्**' अर्थात् बड़ा भारी क्लेश है। यहाँ भी यही है। '**सुखेन ब्रह्म-संस्पर्शम्**'—यह उनकी नजरमें नहीं आता। यह अत्यन्त सुखरूप है और इसके सुखका अन्त नहीं है। अन्त नहीं है—इसको संस्कृतमें इस प्रकार कहेंगे कि *'यद् ज्ञानेनाति न बाध्यते तद् अत्यन्तम्। अन्तम् अतिक्रान्तः'*—अर्थात् इसका अन्त कभी नहीं होता। ज्ञानसे भी जिस सुखका बाध नहीं होता, वह अत्यन्त सुख है। वह परिच्छिन्न-स्पर्श नहीं है, ब्रह्म-स्पर्श है। उसमें परिच्छिन्नताकी निवृत्ति है। '**अश्नुते**' का अर्थ 'अश्नाति' नहीं है, भोग नहीं है। *'अश्नुते व्याप्नोति अभेदेन अनुभवति। आत्मतया अनुभवति।'* उसका अभेदानुभव होता है,' आत्मत्वेन अनुभव होता है।'

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ (२९)
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (३०)
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ (३१)

ये तीनों श्लोक मिलकर एक महावाक्य हैं। एकमें है त्वं-पदार्थका वर्णन। आत्मा कैसा ? बोले कि वह सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित है—'**सर्वभूतस्थं;**

भवन्ति इति भूतानि।' जो हो रहा है, उन सब होते हुए पदार्थोंमें स्वयं अनहुआ, अधिष्ठानरूपसे बैठा हुआ है। वह कौन है? आत्मा है माने प्रत्यक् चैतन्य है। **'सर्वभूतानि चात्मनि।'** —स्वप्रकाश अधिष्ठानमें ये सारे भूत दिखायी पड़ रहे हैं। *'आत्मनि'* माने स्वप्रकाश और *'सर्वभूतानि अध्यस्तत्वेन'* सारे अध्यस्त सर्वभूत स्वप्रकाश आत्मामें और आत्मारूप स्वप्रकाश अधिष्ठानमें। सारे भूत आत्मामें और सबमें आत्मा।

'ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः'— योग-युक्तात्मा पुरुष वह है, जिसको शुद्ध बुद्धि प्राप्त हो गयी है। **'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये** और **कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि'** (५.११) योगी लोग आत्मशुद्धिके लिए ही कर्म करते हैं। यह वर्णन प्रत्यक्-चैतन्य शुद्ध *'त्वं'*-पदार्थ है।

अब तत् पदार्थ कहाँ है, यह देखो—**'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'** (६.३०)—इन दोनों वचनोंमें लक्षण एक ही हुआ कि नहीं? आत्मामें सब और सबमें आत्मा—यह हुआ आत्माका लक्षण तथा सबमें भगवान् और भगवान्में सब—यह हुआ तत्पदार्थका लक्षण। इससे क्या होगा? इससे यह होगा कि **'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति'** उसके लिए मेरा अदर्शन कभी नहीं होगा। **प्रणाश** माने लोप अदर्शन। इसीलिए जो लोप है, वह कभी-कभी कार्यकारी हो जाता है। व्याकरणमें किया हुआ लोप भी कभी अशुद्ध हो जाता है। '*पूर्वत्रासिद्धम्*' (८.२.१) इस सूत्रके अनुसार किया हुआ लोप भी कभी असिद्ध हो जाता है और कभी-कभी कोई दूसरा सूत्र लगने नहीं देता। कहता है कि लोप तो हो गया, लेकिन हम जिन्दा हैं, इसलिए तुम यहाँ लग नहीं सकते!

'तस्याहं न प्राणश्यामि'—इसका अर्थ है कि मैं कभी आँखोंसे ओझल नहीं होता, सर्वत्र अपरोक्ष दर्शन होता है मेरा और **'स च मे न प्रणश्यति'** माने उसका भी मेरे लिए प्रणाश नहीं होता।

तो यह हुआ तत्पदार्थ। पहले श्लोकमें त्वं-पदार्थ आ चुका है। अब तीसरे श्लोकमें क्या है—यह देखो!

'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः'—इसका नाम है 'असि' पदार्थ। सब भूतोंमें स्थित जो मैं है, यह तत्पदार्थ है और जो **'एकत्वमास्थितः भजति'** है, यह त्वं-पदार्थ है। लेकिन तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थमें कोई अन्तर नहीं है। जो त्वं-पदार्थ है, वही तत्-पदार्थ है। यह वाच्यार्थका परित्याग करके लक्ष्यार्थमें एकताका अनुभव कराता है। उपाधिको छोड़कर उपहितमें एकता है। अवच्छेदकको छोड़कर अवच्छिन्नमें एकता है।

अब देखो उच्छृंखल स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति। इसमें डरनेकी जरूरत नहीं है। यह ठीक नहीं कि बात करें वेदान्तकी और झेंपे भी! एक माताजी वृन्दावनमें आती थीं। उनसे कहा गया कि माताजी, आप यहाँ आती हैं तो अमुक आदमी ऐसे-ऐसे कहते हैं। माताजी बोलीं कि महाराज, मैं मिलती उनसे भी हूँ। पर वे मिलते हैं तो बिल्कुल छिपकर मिलते हैं, जिससे कि किसीको पता न चल पावे। वे मिलते भी हैं और झेंपते भी हैं। इससे तो अच्छा है कि वे खुलेमें मिलें, जैसा कि मैं आपके पास खुलेमें आती हूँ और आप मिलते हैं। इसलिए भाई, वेदान्तकी बात भी करते जाओ और झेंपते भी जाओ—यह ठीक नहीं है। ऐसा नहीं वैसा और वैसा नहीं ऐसा—ये तो दो उल्टी बातें हुई। अरे भाई, लोग हमारी तारीफ करें—इसके लिए वेदान्तके किसी सत्यको छिपाना अपराध है।

'**सर्वथा वर्तमानोऽपि**'—यह जीवनमुक्तिका विलक्षण सुख है। क्योंकि वह शुकवत् समाधिमें स्थित है, वसिष्ठादिवत् पौरोहित्य कर रहा है, जनकादिवत् राज्य कर रहा है और दत्तात्रेयादिवत् स्वच्छन्द विचरण कर रहा है। उसका जीवन कर्कटादिवत् ही है तो क्या हुआ? कर्कटी भी तो है। यह हम नहीं कह सकते हैं कि आपमें-से कोई कर्कटी बन जाये। यह हमारा अभिप्राय नहीं है। हम तो यह कहते हैं कि आप अन्तःकरणगत सब दोषोंका परित्याग करके देवताके समान पुजिये। लोग आपके सामने हाथ जोड़कर खूब बोलें—'*स मे कामान् काम कामाय मह्यम्। कामेश्वरो वैश्रवणो दधातु।*' लोग आपकी स्तुति करते हुए कहें कि आप कामेश्वर हैं और आप स्वयं भी काम-काम बनें। हम चाहते हैं कि आप कामेश्वर होकर पुजिये। आप देववत् पुजिये, कुबेरवत् पुजिये। लेकिन हमारा अभिप्राय तो यह है कि आप भले ही कर्कटी बन जायें, किन्तु ज्ञानकी यह महिमा है कि कोई कर्तृत्व, कोई भोक्तृत्व, कोई कर्म, कोई फल आपके साथ लिप्त नहीं होता।'**सर्वथा वर्तमानोऽपि** *किं पुनः अवर्तमानः?*' यदि आप सर्वथा वर्तमान न हों तो हम शास्त्रीय मार्गसे आपका दर्शन करते हैं। इसमें हमारी हानि ही क्या है? लेकिन यह हमारा स्वातन्त्र्य है, हमारी मौज है कि हम शास्त्रके मार्गसे चलते हैं। शास्त्रोंकी भी यह सामर्थ्य नहीं है कि उनका कानून हमको बाध्य कर दे। हम कानूनसे स्वतन्त्र होकर कानूनका पालन करते हैं। यह हमारी मौज है, अन्यथा कोई कानून हमें बाँधनेवाला नहीं है।

'**स योगी मयि वर्तते**'—भगवान् कहते हैं कि योगी हर हालतमें मुझमें ही बर्तता है। उसका चलना-फिरना, उसका उठना-बैठना, उसका शौचाचार, उसका सोना-जागना, सब-का-सब मुझ परमात्माके स्वरूपमें ही है।

यह तो हुआ योगी। अब जरा परम योगीकी बात सुनो! यहींसे गीताका सिद्धान्त प्रारम्भ होता है। जबतक आप पातञ्जल योगदर्शनसे गीताके योगको पृथक्

करनेके लिए विवेचन नहीं करेंगे, तबतक यह विषय समझमें नहीं आयेगा। क्योंकि यह व्यवहारमें स्थित योगी है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (३२)

अष्टांगयोगमें जो आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, यम और नियम हैं—इसमें-से हम दो अंग यम-नियमको छोड़ देते हैं बोलनेमें; क्योंकि वे आजकल दुर्लभ हैं। आजकल जो योगिराज लोग हैं, उनमें आसन है, प्राणायाम है और प्रत्याहार भी है। लेकिन उनमें धारणा-ध्यान-समाधि तो दिखती नहीं है। फिर भी उनके न होनेकी हम शंका ही क्यों करें? लेकिन महाराज, उनमें यम-नियमका दर्शन तो सर्वथा दुर्लभ हो गया है।

देखो भाई, जैसे हमको सुख होता है, वैसे ही दूसरेको भी सुख होता है और जैसे हमको दुःख होता है, वैसे ही दूसरेको भी दुःख होता है। इस सुख-दुःखको व्यवहार में '**आत्मौपम्येन**' सर्वत्र देखना—यहाँतक कि चिड़ियामें भी, चींटीमें भी—यह क्या अमानदशा है। योगी इसी अवस्थाका अनुभव करता है और ऐसे ही दृष्टिकोणवाले योगीको परम योगी कह दिया है भगवान्‌ने—'**स योगी परमो मतः।**' श्रीमद्भागवतमें भी भगवान् कहते हैं कि बस, इतना ही धर्म है कि—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः। (३.२५.४४)

सबके दुःखके साथ मिल जाओ, सबके सुखके साथ मिल जाओ और केवल अपने देहके सुख-दुःखमें आबद्ध न रहो। यही है गीताका योगी और योगी भी साधारण नहीं—परम योगी है। यह बात हम आपको बता देते हैं कि ऐसा योगी योगदर्शनमें नहीं मिलेगा।

अब आपलोगोंसे यह निवेदन है कि जब हम दर्शनोंकी व्याख्या करते हैं तब गौतमके मतका, जैमिनिके मतका समालोचन करते हैं। हम औडुलोमि, आस्मरथ्य और काशकृत्स्नके मतकी भी आलोचना करते हैं। वहाँ यदि कोई वेदमन्त्र आत्मानुभूतिके अनुकूल नहीं पड़ता तो बलात् उसके अर्थका उन्नयन आत्मानुभूतिके अनुकूल कर लेनेसे नहीं डरते हैं। यदि कोई स्वानुभूति, ब्रह्मानुभूति, प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मानुभूतिके विपरीत मन्त्र बोलता हो तो हम उस मन्त्रको बलात् ब्रह्मानुभूतिके अनुकूल करनेमें समर्थ हैं। इसलिए आपलोग ऐसा नहीं समझना कि यह बात किसके अनुकूल पड़ती है और किसके प्रतिकूल पड़ती है। क्योंकि हम तो सबको अपना आत्मा ही समझते हैं।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥(३३)
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥(३४)

अब अर्जुन बोला कि बाबा, तुमने योग तो बहुत बढ़िया बताया, परन्तु अपूर्व हो गया। कोई भी किसी विषयका वर्णन करे तो पूर्व वर्णनसे उसमें थोड़ी अपूर्वता होनी चाहिए। यदि अपूर्वता नहीं होगी तो वह वर्णन व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि अपूर्वता तात्पर्य-निर्णयमें सहकारी है। इस योगमें अपूर्वता क्या है? इस योगमें अपूर्वता है समता। अर्जुनका कहना है कि हमारा मन चञ्चल है, इसमें साम्यकी स्थिति स्थिर नहीं होती। यह केवल चञ्चल ही होता तो कोई बड़ी बात नहीं थी! बच्चा चञ्चल ही होता है, खेलता है तो उससे कोई नुकसान नहीं होता। लेकिन यह चञ्चल तो है ही, हमें मथ भी डालता है। यह हमारी चोटी पकड़कर खींचता है, हमारी दाढ़ी-मूँछ पकड़कर खींचता है, हमें हिला देता है और हमारी आँखमें, नाकमें उँकली डालता रहता है। हम इसको पकड़ नहीं सकते। पकड़ें भी तो कैसे? यह हमसे ज्यादा बलवान् है। कमजोर होता तो पकड़ लेते। हम इसको मना भी नहीं पाते, क्योंकि यह अपनी बातपर विल्कुल दृढ़ है। इसका निग्रह करना, इसको पकड़ लेना तो वैसा ही है, जैसे कोई हवाको बाँधकर रखना चाहे और यह समझे कि हम नाक दबा लेंगे तो हवा काबूमें रहेगी।

देखो, एकबार मैंने अपने जीवनमें ऐसी बेवकूफी की थी। मेरा ऐसा ख्याल था कि मुँह-नाक बन्द कर लेनेसे हवा बन्द हो जायेगी। मैंने ऐसा किया। लेकिन बायें कानका पर्दा फाड़कर हवा निकल गयी। इसलिए जब हवाको बाँधना इतना मुश्किल है, तब मनको बाँधना कितना मुश्किल होगा।

अब जब भगवान्‌ने अर्जुनकी बात सुनी तब कहा कि तुम ठीक कहते हो—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ (३५)

देखो, जब कोई प्रश्नकर्त्ता प्रश्न करे तब यदि एकाएक कह दिया जाये कि तुम यह क्या मूर्खतापूर्ण प्रश्न कर रहे हो? तुम दुर्बुद्धि हो, नासमझ हो, अनधिकारी हो, हट जाओ मेरे सामनेसे। ऐसा किसीको नहीं बोलना चाहिए. यदि प्रश्नकर्ताके मनमें दुविधा न होती, शंका न होती, अदृढ़ता न होती तो वह तुम्हारे पास पूछनेके लिए आता ही क्यों? इसलिए भगवान् बोले कि हाँ-हाँ भाई, जैसा तुम्हारा अनुभव है, वैसा ही प्रश्न तुम कर रहे हो। संस्कृतमें बोलनेकी यह रीति है कि यदि कोई शंका

करे तो कहते हैं कि *'सत्यम्, वाढम्'*—सत्य है, तुमने बहुत बढ़िया प्रश्न किया। ऐसा कहनेके बाद ही किन्तु-परन्तु लगाकर पण्डित लोग प्रश्नकर्ताका समाधान करते हैं। यदि आप प्रश्नकर्ताका अभिनन्दन करोगे तो अपने प्रश्नके समाधानका श्रवण करनेमें उसका उत्साह बढ़ जायेगा। भगवान्ने ऐसा ही किया।

एक विद्वान्से मैंने पूछा कि महाराज, यह वृत्ति-व्याप्ति कैसे होती है? उन्होंने हमारी ओर आँख उठाकर पूछा कि तुमने चौबीस लाख गायत्रीका जाप किया है? मैंने कहा कि हाँ महाराज, किया है। फिर बोले कि किसी इष्टदेवका ध्यान करके कोई उपासना की है? हाँ, की है। इसके बाद उन्होंने पूछा कि तुम्हारे मनमें वैराग्य है? मैंने कहा कि हाँ, है। बात यह थी कि उनको आता तो था नही, बतायें क्या? वे खुद ही नहीं जानते थे कि वृत्ति-व्याप्ति और फल-व्याप्ति क्या होती है। इसलिए वे हमसे इधर-उधरके प्रश्न करने लगे। लेकिन प्रश्नकर्ताके प्रश्नका प्रसंगानुसार उत्तर न देकर उसके अधिकार पर ही आक्षेप कर बैठना—यह उत्तर देनेकी प्रणाली नहीं है।

यहाँ भगवान्ने कहा कि **'असंशयं महाबाहो'**—अरे अर्जुन, वाह-वाह, तुमने जो प्रश्न किया है, वह बिल्कुल ठीक है। सचमुच मनका निग्रह बड़ा कठिन काम है और यह चञ्चल भी बहुत है। लेकिन तुम्हें निराश नहीं होना चाहिए—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

मनका निग्रह करनेके लिए आवाहन-विसर्जन चाहिए। जहाँ-जहाँ राग है, वहाँ-वहाँ रागका विसर्जन करो और जो-जो सद्गुण तुम्हारे भीतर नहीं हैं, उनका आवाहन करो। जैसे पूजामें आवाहन-विसर्जन बोलते हैं, वैसे ही विधियुक्त कर्म करो और निषिद्ध कर्मका परित्याग करो। देवताका आवाहन करो।

देखो, हमलोग जहाँ पूजा करते हैं, वहाँ कोई भूत-प्रेत-दैत्य बैठे न हों—इसके लिए पहले उनका अपसारण किया जाता है—

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भूमिसंस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्तारः ते न सन्तु तवाज्ञया॥

इस प्रकार पहले भूतापसारण करके तब वहाँ कर्मकाण्डका स्थान बनाया जाता है। आवाहन-पूजन भी होता है और भूतापसारण भी होता है। इसी तरह यह जो वैराग्य है, वह भूतापसारण है और जो अभ्यास है, वह देवावाहन है। दुर्गुण-दुराचार-दुर्वस्तुसे वैराग्य हो—यह अपवादका प्रारम्भ है। विधि है अध्यारोप और निषेध है अपवाद। यह कर्म है। देवताकी पूजामें आवाहन है अध्यारोप और विसर्जन है अपवाद।

गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ प्रस्थानं परमेश्वर।

योगमें जो अभ्यास है, वह अध्यारोप है। क्योंकि अभ्याससे जो तर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत समाधि सिद्ध होती है, उसीसे असम्प्रज्ञात समाधिके लिए वैराग्य करना पड़ता है। इसी प्रकार वेदान्त-दर्शनमें अन्नमयसे प्राणमय, प्राणमयसे मनोमय और मनोमयसे विज्ञानमय—इस क्रमसे एक-एकका अपवाद करते जाते हैं तथा एक-एकका अध्यारोप करते जाते हैं। जहाँ अध्यारोप-अपवादकी परिसमाप्ति हो जाती है, वहाँ स्वयं रह जाते हैं और उस स्वयंताको शास्त्र-वेद-उपनिषद् ब्रह्म बताते हैं।

यही प्रणाली यहाँ भी है। जो सद्गुण तुम्हारे अन्दर नहीं है, उनको दुहराओ और जो चीज तुम्हें अभीष्ट नहीं है, उससे वैराग्य करो। वैराग्य माने घृणा नहीं, वैराग्य माने द्वेष नहीं और वैराग्य माने ग्लानि नहीं। क्योंकि जिस वस्तुसे तुम घृणा, द्वेष और ग्लानि करोगे, वह तुम्हारे दिमागमें घुस जायेगी। वैराग्य माने राग-द्वेष दोनोंकी शिथिलता, राग-द्वेष दोनोंका अत्यन्ताभाव नहीं। राग-द्वेष दोनोंके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान तो स्वप्रकाश ब्रह्म ही है। इसलिए जो व्यवहारमें राग-द्वेषकी दृढ़ता हो गयी है, उसको शिथिल करना होगा। हाँ, घृणा नहीं करना, ग्लानि नहीं करना, द्रोह नहीं करना, द्वेष नहीं करना। रागका सहकारी द्वेष है, इसलिए दोनोंको एक साथ छोड़ना, जिससे उस विषयका चिन्तन ही न हो। राग छोड़ोगे और द्वेष करोगे, तब भी उसीका चिन्तन होगा। फिर जब चिन्तन उसीका बन रहा हो तो वैराग्यसे फायदा ही क्या हुआ! इसलिए वैराग्य माने राग-द्वेषकी जो दृढ़ता चित्तमें है, उसको शिथिल बनाकर अपने अभ्यासको चालू रखना। इससे यह होगा कि मनीराम जिस दोस्त-दुश्मनके चिन्तनमें लगे हुए हैं वहाँसे हट जायेंगे और एक अभीष्ट चिन्तनमें, इष्टदेवके चिन्तनमें लग जायेंगे। इसलिए भाई, अगर अपने मनको काबूमें नहीं करोगे तो योगका प्राप्त होना दुर्लभ है, दुष्प्राप्य है। अपने मनको थोड़ा काबूमें करके प्रयत्न करो और प्रयत्न भी उपायसे करो। लेकिन जो मनमाना उपाय है, वह नहीं चलता है।

अध्यात्मविद्याऽधिगमः साधु-संगतिरेव च।
वासनासंपरित्यागः प्राणस्य च निरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजयेऽखिलाः॥

अगर आप अपने मनको वशमें करना चाहते हैं और चाहते हैं कि मोटर चलाते भी रहें तथा मोटर अपने काबूमें भी रहे तो मोटरकी मशीनरीको बिल्कुल ठीक-ठीक समझ लें। '*अध्यात्मविद्याधिगमः*' का अर्थ होता है, इन्द्रियाँ कैसे काम करती हैं, मन कैसे काम करता है, बुद्धि कैसे काम करती है तथा हाथ-पाँव

कैसे उठते-बैठते हैं—इसका ज्ञान। *'आत्मनि शरीरे एव इति अध्यातम्'*—इस शरीरके भीतर जो चीजें भरी हुई है, वे कैसी-कैसी हैं, कैसे साँस चलती है, कैसे आँख देखती है, कैसे मन सोचता है और कैसे बुद्धि विचार करती है—इस विद्याका अधिगम प्राप्त करो।

भूतसूक्ष्मसे पञ्चभूत पैदा होते हैं कि पञ्चभूतसे भूतसूक्ष्म पैदा होते हैं? एक ओर अनिवर्चनीयता भी सिद्ध करोगे और दूसरी ओर क्रम भी निश्चय करोगे तो कैसे बनेगा? गड़बड़ा जायेगा। क्रम बनाओगे तो अनिवर्चनीयता नहीं होगी और अनिर्वचनीयता बनाओगे तो क्रम नहीं बनेगा। *'मानाधीना मेयसिद्धिः व मेयाधीना मानसिद्धिः?'* अनिर्वचनीयता भी बनाओगे और *'मानाधीना मेयसिद्धिः'*को पकड़ बैठ जाओगे तो अनिर्वचनीयता कहाँसे सिद्ध होगी!

तो, यह सब है वेदान्तकी रीति—*'अध्यात्मविद्याधिगमः'*। इसलिए, जैसा आप बनना चाहते हैं, वैसी ही अपनी कम्पनी बनाइये। आप जैसे लोगोंमें बैठेंगे *'यादृशान् सन्निवेशते'*, जैसे लोगोंकी सेवा करेंगे—*'यादृशांश्चोपरोवसे'* और *'यदिच्छेत् च भवितुम्'*—जैसा आप स्वयं होना चाहेंगे, वैसा बनेंगे। इसलिए अपनी संगति देखिये कि आपकी कम्पनी कैसी है—*'साधुसंगतिरेव च'*।

'वासना-संपरित्यागः'—वासनाओंके चक्करमें मत पड़िये और *'प्राणस्य निरोधनम्'*—प्राणवायुको भी वशमें कीजिये। *'एतास्ता युक्तयः'* इसीका अर्थ है उपाय। उपायमें आसक्ति नहीं करनी चाहिए। उपाय माने आमदनीका स्रोत. आप जानते हैं न कि 'आय' माने आमदनी और 'उप' माने आमदनीका झरना—जहाँसे आमदनी निकलती हो। व्यापारी लोग देखते हैं कि अब इस व्यापारमें आमदनी नहीं है तो झट दूसरा व्यापार खोज लेते हैं कि नहीं? इसीका नाम है उपाय।

तो जहाँतक साध्यकी प्राप्तिका प्रश्न है, उसके लिए एक साधन नहीं दो साधन नहीं, तीन साधन नहीं, चार साधन नहीं—साधन-पर-साधन करो। साधनमें अनन्य होनेकी जरूरत नहीं है, साध्यमें अनन्य होनेकी जरूरत है। साध्य क्या है? साध्य माने ब्रह्म नहीं, आत्मा नहीं। जिनको मालूम न हो, वे फिरसे सुन लें कि साध्य माने ब्रह्म नहीं, साध्य माने आत्मा नहीं और साध्य माने दोनोंकी एकता नहीं। साध्य माने अन्तःकरणकी शुद्धि। साधनसे वही सिद्ध होती है। ब्रह्म तो सिद्ध ही है, आत्मा तो सिद्ध ही है, उनकी एकता तो सिद्ध ही है। आत्मा स्वभावसे ही, सहज भावसे ही ब्रह्म है। इसलिए वह साधनसे साध्य नहीं है। साधनसे तो अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। इस विभागको जानकर जिस साधनसे आपका अन्तःकरण शुद्ध होता हो, वह करना चाहिए।

मैंने एकबार उड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा कि क्या साधन करना चाहिए? वे बोले कि देख, जब पेटमें भूख बिल्कुल ठीक-ठाक लगती हो तब यह नहीं पूछा जाता कि क्या खायें! उस समय तो जो मिलता है, उसीसे पेट भर लिया जाता है। जब भूख लगती है, तब भोजनकी किस्म नहीं देखी जाती। *'येन केन प्रकारेण क्षुधा वै अपनीयते।'* यह श्लोक पंचदशीमें है, जिसका अर्थ है कि चाहे जैसे-तैसे भूख दूर की जाती है।

इसी तरह काम-क्रोध-लोभ-मोह रूप जो अन्तःकरणकी अशुद्धियाँ दुःख दे रही हैं, इनको दूर करनेके प्रकारमें निष्ठाकी आवश्यकता नहीं है। ये तो पड़ोसीके बुलानेसे दूर हों तो उसको बुला लो, पुलिसमें रिपोर्ट दर्ज करनेसे दूर हों तो रिपोर्ट दर्ज करा दो, सरकारके सामने हाथ जोड़नेसे दूर हों तो उसके सामने हाथ जोड़ लो और खुद ही दो-चार घूँसे लगानेसे दूर हों तो उनको लगाकर दूर कर लो। टार्च मारने से दूर हो तो टार्च मार लो। यह सोचो मुझे तो कैसे भी इस अशुद्धिको दूर करना है। यदि कहो कि हम ऐसे ही दूर करेंगे तो अभी तुमको कोई जल्दी नहीं है।

इसलिए तुम्हारे पास अपने अन्तःकरणकी अशुद्धिको दूर करनेका जो भी उपाय हो, साधन हो, उससे कर लो अन्तःकरणकी अशद्धि दूर। फिर मैंने जो इतना लम्बा व्याख्यान दिया है, उसमें कोई शंका नहीं होगी। क्योंकि जब तुमने अन्तःकरण शुद्ध करके तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया तब शुद्ध अन्तः-करणके लिए **'सर्वथा वर्तमानोऽपि'** का डर क्यों होगा? जब अन्तःकरण शुद्ध करके तुमने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया तब शुद्धान्तःकरण क्या तुम्हें वेश्याके घरमें ले जायेगा? क्या तुमको गुण्डा बना देगा? क्या तुम्हे चोर बना देगा? अरे, **'सर्वथा वर्तमानोऽपि'** से डरते क्यों हो? इसीलिए डरते हो कि अन्तःकरण तो शुद्ध हुआ नहीं, इसलिए झुठ-मूठ ज्ञानी बननेकी कोशिश करते हो। इसलिए शुद्ध अन्तःकरण करके ज्ञान प्राप्त करो। फिर देखो कि **'सर्वथा वर्तमानोऽपि'** तो *'स्वातन्त्र्यं परमं सुखम्'* हो जायेगा। कहा भी है कि—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वम् आत्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

तो, अभ्यास और वैराग्यका जो प्रसंग चल रहा था, इसमें अभ्यासका अर्थ है बार-बार दुहराना और वैराग्य माने राग-द्वेष नहीं करना। यह बताया जा चुका है कि वैराग्य माने त्याग नहीं, वैरागय माने द्वेष नहीं, वैराग्य माने घृणा नहीं, वैराग्य माने ग्लानि नहीं, और वैराग्य माने द्रोह नहीं। वैराग्य माने तो राग-द्वेष दोनोंकी शिथिलता। यदि आप राग छोड़ देंगे और द्वेष करने लग जायेंगे तो रागमें थोड़ा

माधुर्य भी रहता है और रागास्पद हो जाता है। किन्तु द्वेषमें तो जलन रहती है और द्वेषास्पद हो जाता है। इसलिए आप अपने दिलको अपने-आप जलाते भी जायें और चाहें कि हमारा मन एकाग्र हो जाये तो वह कभी होनेका नहीं। द्वेष माने ज्वलनात्मक चित्त-वृत्ति-विशेष। उससे आपके दिलमें आग लग रही है और वैराग्य भी नहीं है।

किसीने एक साधुसे पूछा कि हमें अमुक सिद्धि चाहिए। उसके लिए हम क्या करें महाराज? साधुने एक मन्त्र बता दिया और कह दिया कि बस, एक शर्त है। वह यह कि मन्त्र जपते समय वानरका ध्यान न आये! अब जब वे बेचारे मन्त्र जपनेके लिए बैठें, तब यही ख्याल आवे कि कहीं वानरका ध्यान तो नहीं आगया! इस तरह वानरका ध्यान करते-करते उनकी वानराकार वृत्ति हो गयी और सिद्धि गयी चूल्हे-भाड़में। इसलिए किसीको हटाना है—इसका ख्याल तो बिलकुल छोड़ दो, उपेक्षा कर डालो और जिसमें मनको जोड़ना है, उसमें लगा दो। *'तत्र स्थितौ यत्न अभ्यासः'*—(योगसूत्र १.१३) हम जिस स्थितिको प्राप्त करना चाहते हैं, उसके लिए बारम्बार प्रयत्न करनेका नाम योगशास्त्रमें अभ्यास बताया गया है। बार-बार दुहरानेका अभ्यास होता है। *'अभ्यासः पुनः पुनः'।* इसलिए अभ्यास और वैराग्य दीर्घ कालतक निरन्तर सत्कार बुद्धिसे करना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि कभी निराशा न आने पावे। ऐसा भाव कभी न आवे कि अरे, यह तो बहुत हो गया। इसमें 'अलम्' प्रत्यय कभी नहीं आना चाहिए।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ (३७)
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ (३८)

अब दूसरा प्रश्न अर्जुनका यह है कि यदि प्रयत्न करना छूट जाये और श्रद्धा बनी रहे तो! यदि मन योगसे विचलित होकर, '**योगाच्चलितम्**' होकर भोगकी तरफ चला जाये तो! लेकिन जिसकी श्रद्धा बनी हुई है, उसको सुफल तो मिलना चाहिए और जिसका साधन वर्तमानमें छूट गया, लेकिन पहलेका किया हुआ साधन है, उसका यदि मृत्युके समयमें मन विचलित हो गया तो उसे योग-संसिद्धि कैसे मिलेगी? वह बेचारा कहाँ जायेगा? वह तो लोकसे भी गया, परलोकसे भी गया। वह कहीं छिन्न-भिन्न बादलके समान भ्रष्ट तो नहीं हो जायेगा! उसको ब्रह्ममार्गमें कहीं भी स्थिति नहीं मिलेगी—'**अप्रतिष्ठो महाबाहो!**' क्या उसको कोई लाभ नहीं होगा!

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ (३९)

अर्जुन कहता है कि हे कृष्ण, हमारे इस संदेहको ऐसा छिन्न-भिन्न करो कि उसमें-से कहीं कुछ बाकी न रह जाय और वह निःशेष हो जाय।

कुछ लोग यहाँ '*एवं* मे' पाठ मानते हैं और कुछ लोग '**संशय**' शब्द पुल्लिंग है और '**एतत्**' नपुंसक लिंग है, इसलिए लिंग-विपर्यय हो जानेके कारण कुछ लोगोंके मनमें अशुद्धिकी कल्पना होती है। पर संशय शब्द नपुंसक लिंगमें भी बनता है। व्याकरणकी प्रक्रिया-विशेषसे ऐसा किया जा सकता है। इसलिए यह सब बिलकुल ठीक ही है। कोई कहते हैं कि '**एतत् प्रति यो मे संशयः**'—इसके सम्बन्धमें जो हमारा संशय है, उसको आप पूरी तरहसे काट दो!

अब देखो, जैसे कोई हमसे पूछता है कि आप कहाँ ठहरे हैं? आपका क्या प्रोग्राम है? तो हम कह देते हैं भाई, गोविन्दानन्दसे पूछ लो, हमको क्यों बुलवाते हो? अगर दूसरेसे पूछनेपर बात न बनती हो तब तो बुलवाओ, नहीं तो क्यों बुलवाते हो? इसी तरह श्रीकृष्णने भी अर्जुनसे इशारा किया कि अरे भाई, तुम्हारे संशयको और कोई काट देगा, इसलिए उसीसे पूछ लो। इसपर अर्जुन बोला कि नहीं, नहीं; हमारा पूर्ण विश्वास है कि तुम्हारे सिवाय इस संशयको काटनेवाला दूसरा कोई नहीं है।

देखो, जबतक उत्तर देनेवालेके मनमें यह बात है कि प्रश्नकर्ता कहीं भी पूछ लेगा, कहीं भी इसका समाधान हो जायेगा, तबतक उसके लिए बोलनेकी क्या जरूरत है? लेकिन जब प्रश्नकर्ता निर्भर हो जाता है तब उत्तर देना ही पड़ता है। इसलिए अर्जुनकी निर्भरता देखकर भगवान् उत्तर देते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥ (४०)

अर्जुन, जो अच्छा काम करता है, उसको हमेशा अच्छा ही फल मिलता है—'*सुकृतस्य सुकृतं फलम्*'। फिर तुम तो मेरे प्यारे पार्थ हो। पृथा-पुत्र होनेके नाते मेरे फुफेरे भाई हो, सम्बन्धी हो। फिर तुमने जिसके बारेमें प्रश्न किया, उसका इस लोकमें और परलोकमें कहीं भी नाश नहीं होता।

देखो, यहाँ '**न**' और '**हि**' दो अव्यय नहीं है। पूरा अव्यय ही है '**नहि**' जैसे हिन्दीमें '**न**' बोलते हैं, उसके अर्थमें मीमांसामें '**नहि**' शब्द प्रयुक्त है, केवल '**न**' नहीं है।

भगवान् कहते है कि जो कल्याणका काम करता है और मंगल मार्गमें चलनेके लिए **जागृत हो रहा है,** उसकी दुर्गति कभी नहीं होती। क्योंकि—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ (४९)

पुण्यकर्ता लोग जिस लोकमें जाते है, उसमें वह जाता है। सैकड़ों वर्षोंतक वहाँ **निवास करता है और उसके** बाद **'शुचीनाम्'** अर्थात् *उच्चकुले-नादकुले* और *श्रीमताम्* अर्थात् *बिन्दुकुले* जन्म ग्रहण करता है। नादकुले माने किसी अच्छे महात्माका चेला हो जाता है। हर जगह बेटा होना ही सुफल नहीं है। जो **'श्रीमतां गेहे' माने गृहस्थके वंशमें पैदा होगा** वह बिन्दुवंशमें पैदा होगा और जो महात्माके **वंशमें पैदा होगा माने उनका** शिष्य हो जायेगा—वह नादवंशमें आ जायेगा। इस प्रकार दो वंश होते हैं--एक तो नादवंश और दूसरा बिन्दुवंश। कानके द्वारा भी अपना बेटा बनाया जाता है और वह ऊपर-ही-ऊपर बेटा हो जाता है।

'शुचीनां श्रीमताम्'—इसका ऐसा अर्थ भी कर सकते हो कि श्रीमान् दो **तरहके होते हैं—एक बेईमानीसे** धन कमानेवाले श्रीमान्, और दूसरे ईमानदारीसे धन कमानेवाले श्रीमान्। जो बेईमानीसे धन कमाते हैं, उनको तो शुचि बोल नहीं सकते। उनके बारेमें तो मनुजीने कह दिया है कि—

सर्वेषामेव शौचानाम् अर्थशौचं परं स्मृतम्। (५.१०६)

अर्थात् पवित्रताके जितने भी नियम हैं, उनमें धनकी पवित्रता सबसे बड़ी है। *'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः न मृद्वारिशुचिः शुचिः'*—आपने इक्कीस बार मिट्टीसे हाथ धोया, अपरसका पवित्र रेशमी कपड़ा पहना, जनेऊ पहना, बड़ी भारी चोटी रखी और तीन घण्टोंतक सन्ध्या-वन्दन किया। किन्तु इसके बाद जब टेलीफोनपर बैठे **तो बेचारे बेवकूफोंकी** जेब काटने लगे।

तो, **बेईमानीका** धन जिनके घरमें आता है, वे श्रीमान् **तो हैं,** परन्तु शुचि नहीं हैं। अगर उनका धन पवित्र है, ईमानदारीका **है तो वे भी पवित्र हैं और** इन्हींके लिए कहा गया कि 'शुचीनां श्रीमताम्'? लोग कहते **हैं** कि स्वामीजी, आप सेठोंपर बहुत छींटा-कशी करते हैं। अरे भाई, हम छींटा-कशी सेठोंपर तो करते ही हैं, **साधुओंपर भी करते हैं और स्वयं अपनेपर** भी कर लेते हैं। क्योंकि **एक ही सत्तासे तो सब हैं, बेष चाहे साधुका हो,** गृहस्थका हो, हमारा हो या तुम्हारा **हो। जो छींटा-कशी करने लायक है,** उसपर यदि छींटा-कशी की **जाये तो हर्ज ही क्या है!** इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि पवित्र धनवान-कुलमें योग-भ्रष्ट जन्म लेते हैं। इसके बाद भगवान् कहते हैं—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ (४२)

योग-भ्रष्ट योगी-वंशमें भी पैदा होता है। योगी भी दो तरहके होते हैं—एक तो मूर्ख योगी और दूसरे ज्ञानी योगी। जो बुद्धि-नाशके पक्षपाती योगी हैं, उन योगियोंमें योग-भ्रष्टका जन्म नहीं होता, जो **'धीमतां'** माने अखण्डाकार-धीके पक्षमें हैं, उन योगियोंके वंशमें योग-भ्रष्ट जन्म लेता है। यदि लोकमें ऐसा जन्म प्राप्त हो जाये, तो वह दुर्लभ जन्म है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ (४३)

वहाँ उसी पूर्व देहका जो बुद्धि-संयोग है, योगनिष्ठा है, अभ्यास-निष्ठा है, वैराग्य-निष्ठा है; वह फिर पैदा होती है और संसिद्धिके लिए प्रयत्न होता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ (४४)

वहाँ तुम चाहो या मत चाहो, वह पूर्वाभ्यास ही तुमको लूटकर योगके पक्षमें ले जायेगा और छुड़ा देगा योगसे।

यहाँ एक बड़ी बात कही गयी है। पहले यह कहा गया था कि तत्त्वज्ञान होनेके बाद वेद निष्प्रयोजन हो जाता है, क्योंकि जो त्रैगुण्यवान् है, उसके लिए वेद विधि-निषेध करता है। वेद नियन्ता है उसका। किन्तु जो त्रैगुण्यप्रेमी नहीं है, उसका नियोग वेद नहीं करता है।

किन्तु यहाँ जो बात कही जा रही है, यह पहलेकी बातसे कुछ ज्यादा बड़ी है। यहाँ तो कहते हैं कि तत्त्वज्ञान होनेपर या त्रैगुण्यका विचार निवृत्त होने पर वेद काम करते हैं। इतना ही नहीं, यदि योग-मार्गमें जिज्ञासा पैदा हो जाये कि आनन्दानुगत समाधि कैसे होती है तो बोलते हैं कि निद्रा-आलस्य-प्रमाद तो हो नहीं, विषय-लालसा तो हो नहीं और करण अपने-अपने वर्गमें शान्त-सम्प्रसन्न स्थित हो तो वहाँ शब्द-ब्रह्म क्या करेगा? वहाँ तो शब्द-ब्रह्मकी गति ही नहीं है। अतः योगका जिज्ञासु भी शब्द-ब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है। वह विधि-निषेधसे अतीत हो जाता है और उसको बोलनेका हक मिल जाता है। आप लोग डरना नहीं इस बातसे। भक्त लोग ऐसा ही मानते हैं, योगी लोग भी ऐसा ही मानते हैं और वेदान्ती लोग भी ऐसा ही मानते हैं। श्रीमद्भागवतमें आया है—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥ (११.२०.९)

वैराग्य हो जाये और भगवत्-कथा-श्रवणमें श्रद्धा हो जाये तो कर्माधिकारकी निवृत्ति हो जाती है। यह करो यह मत करो—ऐसा नहीं रहता। क्योंकि वहाँ तो कर्माधिकार ही निवृत्त हो गया। और सुनो—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते भोः स्नान तुभ्यं नमो
भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम्।
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलावतंसस्य कंसद्विषः।
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे॥

(श्रीकृष्णकर्णामृत २.१०७)

हे सन्ध्यावन्दन! आपका कल्याण हो। आपने हमारा बहुत कल्याण किया। अब हम आपको कल्याणका आशीर्वाद देते हैं। स्नान! तुमको नमस्कार है। हे देवताओं और पितरों! अब हमसे तर्पण नहीं बनता है, माफ करो!

तो भक्तलोग भी, योगी लोग भी और ज्ञानी लोग भी मानते हैं कि जबतक मनुष्य श्रवण, मनन, निदिध्यासनके प्रति 'शिथिल-*श्रद्धा*' है, तबतक वह कर्म-श्राद्ध होता है। कर्म-श्राद्ध शब्द वैसे श्रद्धावान्‌के अर्थमें ही है। जैसे *प्रज्ञा*के साथ *अण्* प्रत्यय हो जानेपर *प्राज्ञ* शब्द बनता है, वैसे ही *श्रद्धा*के साथ *अण्* हो जानेपर *श्राद्ध* शब्द बनता है। क्या वे कर्मपर श्रद्धालु हैं? बोले कि नहीं, कर्मका श्राद्ध ही कर रहे हैं।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ (४५)

जो सिद्धि चाहता है, उसे जन्मकी ओर नहीं देखना चाहिए। पवित्रताकी ओर देखना चाहिए। उसे खूब प्रयत्नपूर्वक यत्न करना चाहिए, उसका सारा जन्म **संसिद्ध** हो जाता है। यहाँ संसिद्ध शब्द अन्तःकरण-शुद्धिके अर्थमें है। क्योंकि '**ततो याति परां गतिम्**'—अभी उसे परा गति तो मिली नहीं है। इसलिए परागतिकी पूर्वावस्थाका नाम संसिद्धि है। निस्संदेह परागतिकी अव्यवहित पूर्वावस्थाका नाम संसिद्धि है। यह बात गीताके तीसरे और अठारहवें अध्यायोंमें आयी है जैसे—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। (३.२०)
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।(१८.५१)
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।(१८.४९)

सिद्धि शब्दका अर्थ अन्तःकरणकी शुद्धि है, वह चाहे एक जन्ममें हो अथवा हजार जन्ममें हो—

जनम-जनम लगि रगरि हमारी। बरौं संभु न त रहउँ कुमारी॥

जबतक हमारे अन्त:करणकी शुद्धि नहीं होगी, हमारी चित्तवृत्ति शुद्धाकार नहीं होगी, तबतक हम लगे रहेंगे, लगे रहेंगे और अपने रास्तेसे कभी लौटेंगे नहीं! अन्यथा क्या होगा? यही होगा कि *'मैं बौरी ढूँढ़न चली, रही किनारे बैठ।'* इसलिए ऐसा मत करना। यह बिलकुल साक्षात् अपरोक्ष अनुभव है और ऐसा होता है।

अब बताते हैं कि इस अध्यायमें जिस योगका प्रतिपादन किया गया है, वह साम्ययोग है—'**योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।**' अर्जुनने भी समझ लिया कि यह योग एक-पक्षीय योग नहीं है, समाधि-योग नहीं है; यह तो विक्षेप-समाधि दोनोंमें समत्व-रूप योग है—'**समत्वं योग उच्यते।**' इस प्रकार अर्जुनने भी समझ लिया और भगवान्‌ने भो कह दिया कि '**सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।**' (६.३२ भगवान्‌ने भी योगका उपसंहार साम्यमें किया और अर्जुनने भी योगका अर्थ साम्यमें समझा। अब भगवान् क्या कहते हैं, यह देखो—)

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ (४६)

भगवान् कहते हैं कि यह योगी तपस्वीसे भी अधिक है, शास्त्रज्ञानीसे भी अधिक है, परोक्ष-ज्ञानीसे भी अधिक है और कर्मोसे भी अधिक है। इसलिए तुम योगी हो जाओ अर्जुन! इसपर मानों अर्जुनने कहा कि हाँ बाबा, योगी हो जाते हैं, पर क्या यही अवधि है? और कुछ नहीं होना पड़ेगा? भगवान् बोले कि बस, यही तो हमारा मतभेद है।

देखो, श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने पूछा था कि आप वेदान्ती लोग भक्तिको नहीं मानते हैं। बाबा बोले कि मानते क्यों नहीं हैं? तब आपका दूसरे भक्त मतवादियोंसे मतभेद क्या है? बाबाने कहा कि मतभेद यही है कि भक्त भक्तिको ही अवधि मानते हैं और कहते हैं कि इसके बाद और कुछ नहीं है। किन्तु हम मानते हैं कि नहीं, भक्तिके बाद भगवान् है और वह प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न है। भक्तिसे भी बड़ा भगवान् है। हम मानते हैं कि भक्ति बहुत आवश्यक वस्तु है, बहुत बड़ी चीज है। परन्तु भक्तिसे भी बड़ा वह है, जिसकी भक्ति है और जिसकी भक्ति है, वह प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही है।

इसलिए हम भी भक्तिको बहुत बड़ी मानते हैं। परन्तु वहींतक समाप्ति है—यह नहीं मानते हैं। उसके बाद प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मका बोध है। इसी तरह भगवान् कहते हैं कि योगी सबसे बड़ा है—यह तो हम मानते हैं। लेकिन योगी ही सबसे बड़ा है और उसके आगे कुछ नहीं—ऐसा नहीं है। उसके आगे भी कुछ है और वह यह है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (४७)

अरे भाई, तुमने धर्म किया, योग किया, तुम निष्काम हुए, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हुआ और तुम अपने स्वरूपमें बैठ गये। लेकिन अभी द्रष्टाका पूर्णताके साथ अभेद नहीं हुआ। इसलिए आओ, वह पूर्णता क्या होती है, यह भगवान्से ही सुनो।

'**श्रद्धावान् भजते यो माम्**'—यदि कहो कि वह दिखता तो है नहीं, फिर उसका भजन कैसे करें? तो इसका उत्तर है कि यदि दिखता नहीं है तो श्रद्धा करो—

श्रद्धस्व तात श्रद्धस्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः।

बेटा, इसमें मोह मत करो इन वचनोंपर ध्यान दो—

श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मनैवात्मनं पश्येत्। (माध्यन्दिन बृहदा० ७.२.२८

श्रद्धां प्रातर्हवामहे। (ऋग्वेद१०.१५१.५)

श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ (यजु० १९.३०)

नाश्रद्दधानाय हविरश्नन्ति देवाः।

जो चीज तुमने देखी नहीं है, उसके बारेमें जरा हमारी बात मानो। श्रत् माने आस्तिकता अर्थात् जिसको तुम देख नहीं रहे हो, वह भी है। *'श्रत् सत्यं तदस्यां धीयते इति श्रद्धा'* (निरुक्त ९.३१ टीका)।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो श्रद्धावान् मेरा अर्थात् भगवान्का भजन करता है, वह युक्ततम हो जाता है। युक्त, युक्तर और युक्ततम। जब युक्तमें *'तम'* प्रत्यय लग जाता है, तब वह युक्तको तीन पीढ़ी ऊपर कर देता है। एक पीढ़ी युक्त, दूसरी पीढ़ी युक्तर और उसके भी ऊपर तीसरी पीढ़ी युक्ततम। अब आओ, भजनकी बात यहाँसे प्रारम्भ करते हैं। यह अगले सातवें अध्यायका बीज है। बीजके बिना अंकुर कहाँसे होगा?

॥ इस प्रकार यह 'आत्मसंयम-योग' नामक छठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥



सातवाँ अध्याय

अब आओ, सातवाँ अध्याय प्रारम्भ करते हैं। यह द्वितीय षट्कके रूपमें है। श्रीशंकराचार्यने तो षट्कका भेद नहीं किया, पर श्रीयामुनाचार्यके सम्प्रदायमें षट्कका भेद पहलेसे ही प्रसिद्ध है। श्रीयामुनाचार्यादि भी इसको मानते हैं। श्रीनिम्बिकाचार्यके सम्प्रदायमें उसकी व्याख्या तो नहीं है किन्तु केशव कश्मीरीकी व्याख्यामें षट्कका भेद माना हुआ है। मधुसूदन सरस्वतीने कहा कि हम षट्क मानकर भी शंकराचार्यके अर्थका निरूपण करते हैं, निष्काम कर्म और योगके द्वारा इसकी सिद्धिका वर्णन है और दूसरे षट्कमें तत् पदार्थकी सिद्धि है तथा भक्तिके द्वारा भजनीयके स्वरूपका शोधन है।

भक्ति दोहरा काम करती है। दोहरा काम क्या? एक तो अन्त:करणको वासनारहित बनाती है। भगवद्-वासना, शुभ वासना उदय करके अशुभ वासनाओंका निराकरण करती है और दूसरे, भजनीयके स्वरूपको उज्ज्वलतर करके चमचम चमका देती है। एक ओर अन्त:करणकी शुद्धि करती है और दूसरी ओर पदार्थका शोधन भी करती है। इसलिए भगवान्‌ने '*अपृष्टमपि प्रोवाच*'—बिना प्रश्न किये ही कहा। अर्जुन तो यह पूछता ही नहीं कि कृष्ण, किस भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिए? इसलिए भगवान्‌ने कहा कि बाबा, मेरी भक्ति कर!

यहाँ साफ-साफ है कि मेरी भक्ति कर! असलमें नितान्त परोक्ष भगवान्‌के प्रति भक्ति-भाव होना अत्यन्त श्रद्धाका काम है। लेकिन यदि अवतारके रूपमें, मूर्तिके रूपमें भगवान् प्रत्यक्ष हों तो प्रत्यक्षमें परोक्ष भावनाका संयोग करके भक्ति बना दी जाती है। प्रत्यक्ष है शालग्रामकी बटिया, उसमें परोक्ष हैं चतुर्भुज विष्णु और चतुर्भुज विष्णुमें भी अन्तर्यामी ईश्वरत्व! शालग्रामकी बटियामें चार भुजाएँ कहाँ हैं? मानना ही तो पड़ता है न! और, चार भुजाधारी ही समग्र विश्वका अन्तर्यामी है—यह कहाँ प्रकट है? यह भी तो मानना पड़ता है! लेकिन वही परोक्ष अन्तर्यामी जब प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न होगा तब अपरोक्ष हो जायेगा। इसलिए प्रत्यक्ष-अ-भगवान्‌में जो श्रद्धामूलक भगवद्-बुद्धि है, उसे उपासना कहते हैं। आप यह परिभाषा बना लो कि नर्मदेश्वरमें, शालग्राममें, बढ़ईकी गढ़ी हुई मूर्तिमें, पतिमें, गुरुमें—जो प्रत्यक्ष रूपसे अनीश्वर है उसमें—परोक्ष ईश्वरकी भावनाको लाकर बैठाना, माने उसके निमित्तसे अपने अन्त:करणको ईश्वराकार बनाना—इसका नाम होता है उपासना।

और वह हो जाता है अपरोक्ष! कब? जब अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य और प्रत्यक्षविषयावच्छिन्न चैतन्य एक होता है। जब दिलमें जो आत्मा है वही आत्मा उस दीखनेवाले परमात्मामें भी दीखने लगता है, तब अपरोक्ष हो जाता है। '**श्रीभगवानुवाच**'का अर्थ है कि यह भगवान्‌का वचन है। इसको किसी मामूली आदमीका वचन मत मानना, यह साक्षात् भगवान्‌का वचन है। धर्ममें वचनपर ही श्रद्धा होती है। वचनपर श्रद्धा नहीं करोगे तो धर्म निष्पन्न नहीं होगा और वक्तापर श्रद्धा नहीं होगी तो निष्पन्न नहीं होगा। वक्ताका जो वचन है और उस वचनका जो वास्तविक अर्थ है, उस अर्थका यदि साक्षात्कार नहीं होगा, अनुभव नहीं होगा— तो ज्ञान नहीं होगा। वचन-प्रधान धर्म होता है, वक्तृ-प्रधान भक्ति होती है और अनुभव-प्रधान तत्त्व-बोध होता है—

अनुभवपर्यवसना हि तत्त्वगति:।

यदि अनुभव हो तो वक्ता चाहे ब्रह्मा हो और वह अपने वचनमें चाहे जितने वेदके मन्त्रोंकी झड़ी लगा दे, अज्ञानावरण-भंग नहीं होगा। वाच्यके परमार्थका साक्षात्कार ही तत्त्व-ज्ञान है; वचनमें श्रद्धा ही धर्मका मूल है और वक्ताका बड़प्पन ही भक्तिका उद्गम है। इसलिए आओ देखो भगवान्‌के वचनको—

मय्यासक्तमना: पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रय:।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ (१)

हमारा जो सांख्य दर्शन है, उसमें दो सांख्योंका वर्णन आता है; एक नास्तिक सांख्यका, दूसरे आस्तिक सांख्यका। भागवतमें कपिलका जो सांख्य है, वह आस्तिक सांख्य है और ईश्वर कृष्णका जो सांख्य है, वह अनीश्वरवादी सांख्य है। श्रुतिमें सामान्यकी प्रशंसा है, कपिल व्यक्तिकी प्रशंसा नहीं है; क्योंकि कपिलके बाद वेद नहीं बना, वेद तो कपिलके पैदा होनेके पहलेसे है। उसमें मनुका भी नाम है— लेकिन वह भी व्यक्तिका नाम नहीं है। इसलिए यह मत समझना कि उसमें उल्लिखित व्यक्ति पैदा हो चुके थे और उसके बाद वेद बना। नहीं, वेदमें जो नाम था, वही नाम किसीने अपने बेटेका रख लिया। बस!

अब आओ, उपर्युक्त श्लोकके अर्थपर विचार करें। '**पार्थ**'में जो प है, उसका अर्थ परमार्थ और वही है अर्थ जिसका वह पार्थ अर्थात् परमेश्वर। '*पा रक्षणे, पाति सर्वं जगत् इति प: परमात्मा। स एव अर्थो यस्य असौ पार्थ: तत् सविंद्धौ।*' हे पार्थ—परमेश्वरको प्राप्त करनेसे इसको पार्थ कहते हैं।

अब तुम्हें एक युक्ति बताते हैं। '*कश्चिद् राजाश्रयो भवति किन्तु तस्य आसक्ति: भार्यासु भवति।*'एक राजाश्रित व्यक्ति राजाका आश्रय तो लेता है लेकिन आसक्ति अपनी पत्नीसे, पुत्रसे करता है। यह भक्तिके मार्गमें नहीं चल सकता कि आश्रय लो

किसीका और प्रेम करो किसी अन्य से! इसलिए '**मय्यासक्तमनाः पार्थ**' जैसे पत्नी-पुत्रसे प्रेम करते हो, वैसे ही मुझसे प्रेम करो और आश्रय भी हमारा ही रखो। एक जगह आश्रय और दूसरी जगह आसक्ति—इस प्रकार आश्रय और आसक्तिका भेद यदि बना रहेगा तो भक्ति नहीं होगी।

'**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**'—निस्संदेह सांख्यकी तरह विविक्तरूपसे आत्माका ज्ञान इसमें नहीं होगा। यह प्रकृति प्राकृत है और मैं असंग हूँ। इसमें परमेश्वरका ज्ञान कैसे होगा? ऐसे होगा कि '**समग्रम्**'। इसमें प्रकृति-प्राकृत भी परमेश्वरका स्वरूप है-ऐसा ज्ञान होगा। *'समग्रं यथा स्यात् तथा।'* मेरे जैसा ज्ञान होगा, सुन लो!

अब तो भगवान् सुनाते हैं। क्योंकि *'अनापृष्टमपि ब्रूहि दीनवत्सल'*—जो दीनवत्सल गुरु होते हैं, वे बिना पूछे ही बता देते हैं। तुम्ही बताओ कि यदि कोई अन्धा रास्ता भटक गया हो तो तुम बिना पूछे ही रास्ता बताओगे। यही बात यहाँ भगवान्के सम्बन्धमें है। अब आगे देखो—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ (२)

यदि नदीके किनारेपर नाव लगी हो तो उससे क्या होता है? पार जानेके लिए नाव चलानेकी क्रिया भी तो आनी चाहिए। ज्ञान तो सबको होता है। क्या पशु-पक्षियोंको ज्ञान नहीं होता? अवश्य होता है। दुर्गापाठमें आता है—

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे।
ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किन्तु ते नहि केवलम्।
मतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः॥

पर ज्ञानका भी विज्ञान होना चाहिए। ज्ञानमें एक ऐसा विशेष आ जाना चाहिए कि वह अज्ञानकी निवृत्तिमें समर्थ हो जाये। मैं पुराने जमानेकी बात सुनाता हूँ। काशीमें-एकादशी कल है कि आज है—इसपर पण्डितोंमें शास्त्रार्थ हो जाता था। किसीने दस पण्डितोंको बुलाकर पाँच-पाँच रुपये दिये और उनसे हस्ताक्षर करवा लिया कि कल एकादशी है। इसी तरह अन्य मुहूर्तोंके सम्बन्धमें भी निर्णय हो जाता था। आपलोग बुरा मत मानना। मैं पण्डितोंपर आक्षेप करनेके लिए यह नहीं कहता हूँ। ईश्वरकी कृपासे हमारा नाम भी पण्डितोंमें ही है। हमारे बाप पण्डित, दादा पण्डित। भैरवदत्तजी महाराज तो हमारे दादाके दादा थे। उन्होंने इतिहासके बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखकर रखे हैं। संवत् सोलह सौ तेईसमें हाथकी लिखी हुई श्रीधरी टीका सहित श्रीमद्भागवत हमारे घरमें है; महाभाष्य हमारे घरमें है। मतलब यह कि पण्डतोंमें हम भी हैं। परन्तु पाँच-पाँच रुपयेके लिए धर्मशास्त्रकी व्यवस्थाको

बदल देना दूसरी बात है। ऐसे पण्डितोंको धर्मशास्त्रका ज्ञान तो है, पर विज्ञानका ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान जीवनमें उतर आये, वह ज्ञान हो जाता है। जीवनकी निर्माण-कलाका नाम विज्ञान है। केवल बौद्धिक ज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान, विज्ञान नहीं है।

इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि '**ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।**' अर्जुन, मैं तुम्हारे सामने पूरे ज्ञानका वर्णन करता हूँ। यहाँ व्याकरणका पण्डित '**वक्ष्यामि**'का अर्थ यह तो करेगा ही, कि मैं बोल रहा हूँ, तुम्हें बताऊँगा। इसका अर्थ यह भी होता है कि मैं सिरपर टोकरीमें रखकर, ढोकर तुम्हारे पास ज्ञान-विज्ञान पहुँचा रहा हूँ, क्योंकि बेटा, यह तुम्हारे काबूका नहीं है।

अब बताते हैं कि इस ज्ञानका लक्षण क्या है? वह ज्ञान अधूरा है जिसे जाननेके बाद कुछ और जानना बाकी रह जाता है। अरे, पूरा ज्ञान तो वह होता है, जिसको जाननेके बाद और कुछ जानना बाकी न रहे—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

एक विज्ञान ऐसा है जिससे सर्वविज्ञान हो जाता है। वही ज्ञान मैं तुमको बता रहा हूँ—

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति। आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते।

यहाँ विज्ञान शब्द ही मुख्य है। यह विज्ञान जरा दुर्लभ है। कोई-कोई ऐसे होते हैं जो दुर्लभका नाम सुनकर भड़क जाते हैं और यह कहकर कि वह बड़ा कठिन है—उस रास्तेमें चलते ही नहीं हैं। लेकिन कोई-कोई कहते हैं कि कठिन है, तब तो हम जरूर जायेंगे। अगर हम इस कठिन रास्तेको पार नहीं करेंगे तो और कौन करेगा? कोई-कोई ऐसे भी होते हैं, जो सरल कहनेपर उसकी ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। तो भगवान् ऐसे हैं, कहीं कठिन कहते हैं तो कहीं सरल कहते हैं। तात्पर्य यही होता है कि जिनकी सरलमें रुचि हो, वे सरल समझकर चलें और जिनकी कठिनमें रुचि हो, वे कठिन समझकर चलें। पर चलें जरूर। अभिमन्त्रण, आमन्त्रण सबके लिए है। भगवन्नामकौमुदीमें इस प्रकारसे दोनों प्रकारके वचनोंका समन्वय किया हुआ है। रुचि-भेदसे अधिकारी दो प्रकारके होते हैं और दोनों प्रकारके अधिकारियोंको इसमें खींचना है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (३)

ये जो लाखों-करोड़ों मनुष्य हैं, ये करते क्या हैं? बस, जहाँ देखो, वहाँ रिश्ता बनाना इनका काम है। पाणिनीय व्याकरणकी दृष्टिसे तो मनुका जो अपत्य है, उसको मनुष्य बोलते हैं, किन्तु नैरुक्त व्याकरणकी दृष्टिसे '*मनसा सीव्यति मनुष्यः*'—जो मनसे दूसरेके साथ रिश्ता बना ले, वह मनुष्य है। यह हमारी मैया, ये हमारे

बाबा। पशु ऐसे रिश्ते नहीं बनाते हैं। वे थोड़े दिनों तक साथ रहते हैं, फिर छोड़ देते हैं। यह आदमी है जो सुई धागा लेकर अपनेको दूसरेके साथ ऐसा सीता है कि स्वयं फट जाये, लेकिन सीयन न टूटे। यह बन्धनका प्रेमी है। वह तो कोई-कोई बुद्धिमान होते हैं जो बखिया ही उधेड़कर रख देते हैं। यहाँ हम बखिया ही उधेड़ रहे हैं भला!

जो लाखों-करोड़ों आदमी होते हैं, उनमें-से एकाध ही अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए प्रयास करते हैं और जो सहस्रों प्रयत्न करते हैं, उनमें-से कोई एक ही सिद्ध होता है। सिद्धोंके भी अन्तःकरण तो शुद्ध हो जाते हैं परन्तु अन्तःकरण शुद्ध होने मात्रसे सब ज्ञाता नहीं हो जाते हैं। **'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः'** शुद्धान्तःकरण होकर जो गुरूपसत्ति करते हैं, वही तत्त्वज्ञ होते हैं। यदि कहो कि हम अपने मनसे कौड़ी लेकर आये हैं महाराज? कहाँसे लेकर आये हो भाई? सातवें आसमानसे कौड़ी लेकर उतरे हैं। अरे भाई, कौड़ी लेकर तो जरूर उतरे हो, परन्तु उसके साथ अहंकारकी पोटली बाँधकर भी उतरे हो। इसलिए तुम्हारा यह मानना ठीक नहीं है कि तुम्हारी बुद्धिसे, तुम्हारे ज्ञानसे, तुम्हारी सूझसे तुम्हें बिना गुरुके ही ज्ञान मिल गया। उसके लिए तो तुम्हें गुरुके शरणमें जाना ही पड़ेगा—

तद् विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्।

देखो, यह वेद पढ़ानेवाले-गुरुका वर्णन नहीं है। यह तो ब्रह्म-विज्ञान बतानेवाले गुरुका वर्णन है। यह गुरु-शरणागति स्वाध्यायार्थ नहीं है, ब्रह्मविज्ञानार्थ है। यह अद्वितीय शरणागति है।

'कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः'—कोई ईश्वरका नाम जानते हैं कोई ईश्वरका आकार जानते हैं, कोई परोक्षतः ईश्वरको जानते हैं, परन्तु तत्त्वतः कोई-कोई ही जानते हैं। तत्त्वतःका अर्थ है *अनारोपित-नाम-रूपाकारम्*-जिसमें नामरूप-आकारका आरोप न हो। तत्त्व उसे कहते हैं जिसमें किसी प्रकारका आरोप न हो। जिसमें कर्म नहीं, नाम नहीं, रूप नहीं—ऐसे शुद्ध तत्त्वको कोई-कोई ही जानते हैं—**'कश्चित् मां वेत्ति'**।

अच्छा; अब आपको सांख्यकी रीतिसे समझाते हैं। अरे, कपिल सांख्य तो पहलेसे ही है, अब उसे समझानेकी क्या जरूरत? अर्जुनने कहा कि हमने भी द्विजाति होनेके कारण पहले सांगोपांग वेदका अध्ययन किया है, षडङ्ग सहित वेदका अध्ययन किया है। हम भी जानते हैं कि कपिल सांख्यमें क्या है। अब तुम हमें क्या समझाने चले हो? सचमुच अर्जुन वेदका अध्ययन नहीं किया होता तो द्विजाति ही नहीं होता। युधिष्ठिरने, अर्जुनने, भीमसेनने, नकुलने, सहदेवने—सबने

षडङ्ग वेदका अध्ययन किया था। वे अध्यापन नहीं करते थे, पर अध्ययन किया था उन्होंने। इसलिए अर्जुनने कहा कि कापिल सांख्य तो हमने पहलेसे पढ़ रक्खा है। इसपर मानों भगवान्ने कहा कि हाँ, पढ़ा है भाई, लेकिन जरा हमसे भी सुन लो। हम वही नहीं सुना रहे हैं, उसमें थोड़ा संशोधन करके सुना रहे हैं। देखो, कापिल सांख्य क्या है ?

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (४)

प्रकृति आठ प्रकारसे फूट गयी अर्थात् गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, शब्दतन्मात्रा, मन, बुद्धि, अहंकार और महतत्त्व—दन आठों रूपोंमें प्रकृति फूट गयी।'**भिन्ना**' माने जब घड़ा फूटा, बीज फूटा, तब आठ रूप उसके हो गये। इससे सांख्यसे विलक्षणता क्या है—आप इसपर ध्यान दो। आप बताओ, सांख्यमें प्रकृति किसकी है ? सांख्य दर्शनमें प्रकृतिका कोई मालिक नहीं है। किन्तु यहाँ भगवान् बता रहे हैं—'**इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**।' इस प्रकृतिका मालिक मैं हूँ, यह प्रकृति मेरी है। यह विकृत प्रकृति, यह व्यक्त प्रकृति, यह कार्य प्रकृति मेरी है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (५)

अब दूसरी प्रकृति सुनो। यदि कहो कि वह तो अव्यक्त है, कारणरूप है, तो ठीक है। कारणरूप अवश्य है, परन्तु वहाँ क्षेत्रज्ञ और प्रकृतिका जो अभेद है, अविवेक है—वही उसका स्वरूप है। याद कर लो इसको—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च॥ (१५.१६)
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ (१३.२)

यदि तुम्हें प्रकृतिकी इस क्षेत्रज्ञरूपतामें कोई संदेह हो तो—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**'—इसपर ध्यान दो।अष्टधा भिन्ना प्रकृति अपरा है। एक परा प्रकृति भी है। वह परा प्रकृति क्या ? वह क्षेत्रज्ञके साथ अविभक्त है, अविविक्त है। वहाँ क्षेत्रज्ञ और परा प्रकृतिका भेद नहीं है; अज्ञान बना हुआ है—वह क्षेत्रज्ञ प्रकृति है।

सांख्य तत्त्वके चार प्रकार स्वीकार करते हैं। एक तत्त्व केवल कार्य ही है—जैसे पंचमहाभूत। दूसरा तत्त्व केवल कारण ही है—जैसे प्रकृति। तीसरा तत्त्व कार्य और कारण दोनों ही है जो प्रकृति और पंचभूतके बीचमें है—जैसे चौथा तत्त्व वह है जो कार्य भी नहीं है और कारण भी नहीं है। वह है, असंग पुरुष।

अब देखो, यहाँ क्या विशेषता बतायी है? यहाँ असंग पुरुष और कारणप्रकृति दोनोंको एकमें मिला दिया है। उसका नाम प्रकृति भी रख दिया और जीव भी रख दिया। अच्छा, उसका मालिक कौन है? भगवान् कहते हैं कि उसका भी मैं मालिक हूँ—'**प्रकृतिं विद्धि मे पराम्**'। अपरा प्रकृतिका मालिक भी मैं और परा प्रकृतिका मालिक भी मैं। परा प्रकृतिमें प्रकृतित्व केवल इतना ही है कि प्रकृतिसे वहाँ आत्माका विवेक नहीं किया गया है। यह क्षेत्रज्ञ है—'**क्षरश्चाक्षर एव च**'। गीताका यह ज्ञान तुम्हें कापिल सांख्यसे ही मिलेगा।

एतद्योनीन भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य: जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ (६)

यही क्षेत्रज्ञाभिन्न प्रकृति और प्रकृत्यभिन्न क्षेत्रज्ञ, मायोपाधिक चैतन्य है, माया-विशिष्ट चैतन्य है। यहाँ एकदम मामला ही बदल गया! सांख्यकी जगह वेदान्त आ गया। यही प्रकृति और क्षेत्रज्ञ दोनों मिलकर सम्पूर्ण भूतके उत्पादक होते हैं। सर्वशरीरमें क्षेत्रज्ञाभास होता है और प्रकृति सबके शरीरमें आकार धारण करती है।

यह क्षेत्रज्ञ-विनिर्मुक्त प्रकृति नहीं है। आपने सुना होगा कि जब शंकरजीका ब्याह हो रहा था तब पुरोहितने पूछा कि शंकरजी, आपके बापका नाम क्या है? बोले कि ब्रह्माजी। फिर पूछा कि ब्रह्माजीके बापका क्या नाम है? बोले कि विष्णुजी। ठीक है लेकिन मुझे तो तीन पीढ़ीका ज्ञान चाहिए, इसलिए बताइये कि विष्णुजीके बापका नाम क्या है? शंकरजी बोले कि भाई क्यों पूछते हो? विष्णुका बाप मैं ही हूँ।

तो अपरा प्रकृति क्षेत्रज्ञ प्रकृतिसे भिन्न हो गयी है और परा प्रकृति क्षेत्रज्ञसे भिन्न नहीं हुई है। वहाँ तो बीज और परा प्रकृति क्षेत्रज्ञसे भिन्न नहीं हुई है। वहाँ तो बीज और क्षेत्रज्ञ दोनों एक हो गये हैं। उसीसे सारी सृष्टि बनी है। तब महाराज, आप क्या हैं? बोले कि—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

'**कृत्स्नस्य जगतः**' माने '*स-क्षेत्रज्ञस्य जगतः। पराप्रकृतिविशिष्ट क्षेत्रज्ञस्य*'। क्योंकि उपाधिसे ही तो क्षेत्रज्ञमें भेद है, इसलिए जितने जीव हैं, और जितनी मूल प्रकृति है और जितनी अपरा प्रकृति, सब '**कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा**'—इसके अन्तर्गत आगये। भगवान् कहते हैं कि मैं पुरुषोत्तम ब्रह्म ही '**कृत्स्न जगत्**' हूँ। यह जो कुछ चलने फिरनेवाला चराचर जगत् है, उसका प्रभव मैं ही हूँ।

अब देखो, यहाँ '*जन्माद्यस्य यतः*' लग गया कि नहीं? '*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म तद्*

विजिज्ञासत्व।' यहाँ जो '**प्रभवः**' है—उसका अर्थ है *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'*, और जो '**प्रलयः**' है—उसका अर्थ है *'यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति'।* *'प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः। प्रलीयन्ते अस्मिन् इति प्रलयः।'* लेकिन दोनों क्यों कहा? एक ही कहनेसे काम नहीं चल जाता? नहीं, इसलिए दोनों कहा कि '**प्रभवः**' निमित्त कारणको सूचित करता है और '**प्रलयः**' उपादान कारणको सूचित करता है। भगवान् कहते हैं कि अभिन्न निमित्तोपादान कारण मैं ही हूँ। कार्यका प्रलय होता है उपादान कारणमें और कार्यका उत्पादक होता है निमित्त कारण। इसलिए भगवान् ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं—यह बात इसमें-से निकल आयी।

देखो, मैं यहाँ गीताका मूल ही आपको सुना रहा हूँ। अकल बिगाड़नेके लिए जो बहुत सारी टीका-टिप्पणी होती है, वह नहीं सुना रहा हूँ। चुनारके आगे दुर्गाखोह स्थानमें एक महात्मा रहते थे और एकलिंग स्वामी उनका नाम था। उन्होंने मुझे गीताकी दो टीकाएँ दी थीं; एकका नाम था स्वयंविमर्श और दूसरीका नाम था स्वयं-प्रकाश। उन दिनों मेरी उम्र सत्रह-अट्ठारह वर्षसे ज्यादा नहीं थी, लेकिन ईश्वर-कृपासे मैं उन टीकाओंको पढ़ सकता था! यहाँ मैं जो सुना रहा हूँ, वह उसमें नहीं लिखा हआ है; उसमें तो वह युक्ति लिखी हुई है कि गीताका अर्थ कैसे करना चाहिए,गीताकी संगति कैसे लगानी चाहिए। बिना किसी टीका-टिप्पणीका आश्रय लिये, मूल श्लोकोंसे ही गीताका अर्थ निकालनेकी युक्ति क्या है?

तो उसीके अनुसार '**प्रभवः प्रलयस्तथा**'—इसका अर्थ देखो। '**प्रभवः**'का अर्थ है—*'प्रभवति अस्मात् निमित्तात्। वृक्षात् पत्रम् प्रभवति। हिमवतो गङ्गा प्रभवति।* यहाँ निमित्त कारण हो गया न! लेकिन *'वृक्षात् पत्रं पतति'*— यहाँ अलग हो गया, क्योंकि वृक्ष उपादान कारण नहीं है पत्तोंका, पञ्चभूत उपादान कारण हैं। इसी तरह *'हिमवतो गङ्गा प्रभवति'।* हिमवान् गंगाका उपादान कारण नहीं है, निमित्त कारण है। लेकिन *'प्रलीयते अस्मिन् इति प्रलयः'।* जो प्रलय होता है, वह क्या होता है? घड़ा फूटकर कहाँ जाता है? मिट्टीमें, अपने उपादान कारणमें चला जाता है।

अब भगवान् यह कहते हैं कि मैं कौन हूँ। मैं अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हूँ कृत्स्न जगत्का, अर्थात्, परा-अपरा प्रकृतिका; परा प्रकृति क्षेत्रज्ञ, क्षेत्रविशिष्ट चेतन और अपरा प्रकृति यह भूमि, जलादि-रूप, तन्मात्रा माने भूत सूक्ष्म। यहाँ '**भूमिरापोऽनलोवायुः**'का अर्थ भूत सूक्ष्म है। इसका मैं अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हूँ।

अच्छा, महाराज, ठीक है। मान लिया कि आप अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हैं। लेकिन आप कारण हैं और जगत् कार्य है—यह भेद तो रहेगा न? बोले—

मत्तः परतरं नान्यत्किंञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (७)

अरे धनञ्जय, '**मत्तः परतरं अन्यत् किञ्चित् नास्ति।**' '*नान्यत् किञ्चिन् मिषतं*'— यह श्रुति है। हिलती हुई, पलक झपकाती हुई कोई भी दूसरी चीज नहीं है। स्पन्दमान कोई भी दूसरा पदार्थ नहीं है। *मिषत्* माने '*स्पन्दमान निमेषोन्मेषशाली*' कोई भी दूसरा पदार्थ नहीं है। '*नान्यत् किञ्चिन् मिषत्*'—दूसरी कोई भी हिलती हुई चीज नहीं है।

'**परतरं**'का अर्थ है कि '*परात् परं परतरम्*'। इसमें-से अनिर्वचनीयता निकलती है। '*प्रतीयमानमपि अनिर्वचनीयं परतरम्*'।

'**सूत्रे मणिगणा इव**'का अर्थ है कि जैसे सूत्रमें मणिगण—वैसे सूत्रात्मामें विश्वगत पदार्थ। '*यथा सूत्रे सूत्रात्मनि स्वप्नाभिमानिनि मणिगणाः विभिन्नाः पदार्था दृष्टिगोचरा भवन्ति*'। सूक्ष्म शरीर विशिष्ट तन्मय। जैसे केवल कल्पनात्मक भिन्न-भिन्न पदार्थ दिखायी पड़ते हैं।, वैसे ही ये सब-के-सब मुझमें दिखायी पड़ रहे हैं। आपने कभी सपनेमें हीरा देखा है? सपनेमें एक हजार हीरे दीख रहे हैं। वह सूत्रात्मामें सूत्रात्मासे पृथक् हैं क्या? वह तो सूत्र ही हैं सब-के-सब। आपने तिब्बतियोंकी माला देखी है? सिक्खोंकी माला देखी है? जैसे सोनेका मनका, ऊनका धागा और ऊनका मनका, सूतका धागा और सूतका मनका—वैसे ही '**सूत्रे मणिगण इव**'।

'**प्रोतम्**' कहकर भगवान्ने और आश्चर्य कर दिया। प्रोतका अर्थ होता है ओत-प्रोत। जैसे कपड़ेमें ताना और बाना दोनों सूत हैं और आपसमें ओत-प्रोत हैं, वैसे ही ओत-प्रोत माने ताना-बाना, दोनों सूत हैं। इसी तरह परमात्मामें जो विश्वसृष्टि दिख रही है, यह केवल सूत्र-विन्यासरूप ही है। विन्यास-विशेषसे ही इसमें स्त्रीका, पुरुषका, कुमारका, कुमारीका, चेतनाका भेद मालूम पड़ता है। वह विन्यास-विशेषका ही भेद है, वस्तु-विशेषका भेद नहीं है। विन्यास-विशेषके भेदका मतलब क्या होता है? पहले तो हमने औरतोंकी ऐसी साड़ी देखी है जिसके किनारेपर ऐसे ढंगसे सूत बिठाये होते थे कि मोर नाच रहा है—ऐसा मालूम पड़ता। वह मोर नहीं होता, सूत ही होता। मैंने अहमदाबादके साबरमती आश्रममें देखा कि कपड़ेका एक ऐसा चित्र रखा है, जिसपर कोई रंग नहीं है और केवल सूतको ऐसे ढंगसे बुन दिया गया है कि उसमें गान्धीजी हाथमें डण्डा लिये नमक बनानेके लिए डाण्डी यात्रा कर रहे दिखायी देते हैं। है तो वह कपड़ा, पर सूत्र-विन्यासके कारण उसमें मालूम पड़ते हैं हाथमें डण्डा लिये हुए गान्धीजी। क्या उसमें गान्धीजी हैं? डण्डा है? उनका चलना-फिरना है? नहीं, वह तो सूत ही है। इसलिए प्रोतका अर्थ यह है कि जो कुछ भी ताना-बाना है, सब भगवान् है। '**चरं चाचरमेव च**'-चर भी भगवान् है, अचर भी भगवान् है। यह है अर्थ इसका।

'**सूत्रे मणिगण इव**'के लिए पन्द्रह दृष्टान्त दिये गये हैं, इसलिए कि गाँवके लोग भी समझ जायें। अर्जुनके लिए तो दृष्टान्तोंकी बहुत जरूरत नहीं थी। होगी, अर्जुनके भीतर भी कुछ-न-कुछ जरूरत होगी!

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ (८)
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ (९)
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥(१०)
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतवर्षभ॥(११)

यह जो पानी दिखता है, यह रस तन्मात्रका ही विलास है, रस तन्मात्र ही जलमें ओतप्रोत है। जलका उपादान रस तन्मात्र है, जलका स्थितिस्थापक रस-तन्मात्र है, जलका प्रलयस्थान रस-तन्मात्र है। रस-मात्रमें ही जल ओतप्रोत है। भगवान् कहते हैं कि जलमें रस ओतप्रोत है, रससे भिन्न जलकी सत्ता नहीं है. इसलिए जैसे जलमें अभिन्न निमित्तोपादान कारणसे रस है, वैसे ही समग्र सृष्टिमें मैं ही हूँ।

'**प्रभास्मि शशिसूर्ययोः**'—चन्द्रमा और सूर्यमें प्रभाके सिवाय क्या है? ओंकार न हो तो वेदका वेदत्व ही सिद्ध न हो। अकार-उकार-मकार—इसका अर्थ है कि विश्व-तैजस-प्राज्ञ ही पहले संसार था। विश्व-तैजस-प्राज्ञमें सन्तत और 'तदासीत्'के रूपमें, अमात्रके रूपमें परमात्माका निरूपण होता है। ॐकारका वाच्यार्थ परमात्मा नहीं है, ॐकारका लक्ष्यार्थ परमात्मा है।

'**शब्दः खे पौरुषं नृषु**'—आकाशमें शब्द तन्मात्रा है। शब्द तन्मात्राके बिना आकाश क्या है? मनुष्यमें यदि पौरुष न हो तो मनुष्यत्व क्या? यदि पुण्यगन्ध न हो तो पृथिवी क्या? तेज न हो तो अग्नि क्या? जीवन न हो तो सर्वभूत क्या? बुद्धि न हो तो बुद्धिमान् क्या? तेज न हो तो तेजस्वी क्या? बल न हो तो बलवान् क्या? बल भी वह, जो सच्चा बल हो-वह बल, जिसका उपयोग काम-भोगमें नहीं किया जाता। रागकी परिपुष्टिके लिए, पक्षपात करनेके लिए, भाई-भतीजोंके काम आनेवाला जो बल है—राग है, वह नहीं। काम और रागसे विवर्जित बलवान्में जो बल है, वह परमात्मा है। वैसे काम भी राग ही है, पर कब? जब धर्मादिमें रुचि हो, जो काम-मर्यादाको तोड़ता है वह तो वासनाके वशवर्ती व्यक्ति-विशेषमें रहनेवाला हो गया। जो काम सृष्टिके प्रारम्भमें था वह तो धर्मके विरुद्ध चलता ही नहीं था।

शुद्ध काम ही परमात्मा है। अरे भाई और कहाँतक सुनायें इस प्रसंगमें आपको! तो आगे बढ़ो!

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ (१२)

भगवान् कहते हैं कि सबको सत्ता-स्फूर्ति मुझसे मिलती है। सत्त्व, रज, तम—सबकी सत्ता-स्फूर्ति मैं हूँ—'**ये मयि**'—उनका आधार मैं हूँ।

अच्छा; भगवान्‌के इस कथनमें-से क्या निकला? यह अर्थ निकला कि जब भगवान् *'अस्मद्'* शब्दका प्रयोग करते हैं, '**मत्त एवेति**' कहते हैं, तब उससे चेतनत्व तो स्वयं प्राप्त हो गया! क्योंकि 'अस्मद्' शब्द सर्वथा चेतनगामी ही होता है। चेतन-पर्यवसान अस्मद् शब्द है। यह अस्मद् क्या है, इसका मूल ही बता देता है: जब *'अस्मि'* और *'अस्ति'* इन दोनोंको एकमें मिलाते हैं तब उसका स्वरूप क्या होता है—यह देखो। *'अस्'* और *'मित्'* जो विभक्ति है *'तिन्'* में जो *'मि'* है, दोनों को मिलानेपर *'अस्'* धातुका रूप बन जाता है *'अस्मि'। उत्तमपुरुष अस्मि*=मैं हूँ। और *अस्मीति, अस्मति इति अस्मत् अस्मीति अस्मत्*। जो अस्मि-अस्मि-अस्मि दिलमें बैठकर बोलता है, वह अस्मीयमान पदार्थ है और उसका नाम है *अस्मत्*। उसी *अस्मत्*का है यह **मत्त**। वह तो चेतन पर्यवसान है ही। अहं, माम्, *मह्यम्, मत्, मम, मयि*—सबमें चेतनका, स्व-पदार्थका ही बोध होगा। जब स्व-पदार्थका बोध होगा तो चेतन होगा।

इसके विपरीत जब '**नत्वहम् तेषु ते मयि**' बोल दिया तब उसका अर्थ हुआ कि मेरे आधार वे नहीं हैं, मैं शरीरमें बैठकर नहीं बोलता, मैं मिट्टी-पानी, आगमें बैठकर नहीं बोलता और मैं देश-कालमें बैठ कर नहीं बोलता। देश-काल-द्रव्य, पञ्चभूत—सब मुझमें हैं। मेरा आधार कोई नहीं है, मैं सबका आधार हूँ। इसका अर्थ है कि मैं हूँ अधिष्ठान चेतन और मुझमें है सब अध्यस्त दृश्य। सात्त्विक, राजस, तामस—सारे-के-सारे जो बन्ध हैं, वे सब मुझमें हैं।

तो, मैंने यह थोड़ी बात आपको इसलिए सुना दी कि आप कहानीकी तरह गीताको न पढ़ें। यह गीता भगवान्‌का वचन है ओर वे अपने परम मित्र अर्जुनसे कह रहे हैं। इसलिए गीतापर बड़े-बड़े आचार्योंने टीकाएँ लिखी हैं, यहाँ तक कि शंकराचार्यके पूर्व भी गीतापर व्याख्याएँ थीं। उन्होंने लिखा है कि लोगोंने गीताके अर्थको बिगाड़ दिया है, अतः विचार द्वारा उसका निर्णय करनेके लिए मैं यह भाष्य लिख रहा हूँ। इसलिए इसे बच्चोंका खेल समझकर नहीं पढ़ना चाहिए। जब आप इसकी गम्भीरतामें उतरोगे तो देखोगे कि इसमें हीरे-ही-हीरे हैं।

कई लोग ऐसे हैं जो भगवान्‌के वचन **'मय्यासक्त-मदाश्रया:'** का अर्थ अपने ढंगसे करने लगते हैं। एक दिन एक भक्तराजसे भेंट हो गयी। उन्होंने कहा कि जगत्‌का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण तो ईश्वर है—यह तो हम भी मानते हैं। हाँ, मानते तो हो, पर एक बात बताओ कि तुम्हारा ईश्वर चेतन है कि जड़ है ? चेतन है। भला ईश्वरको कौन जड़ कहेगा।

चेतन कहुँ चेतन करे अति चेतन भगवान्।

तब जब वह जगत् रूपसे बनता है तो पूरा-का-पूरा जगत् बन जाता है कि आधा ही बनता है ? यदि पूरा जगत् बन गया तो पूरा ही जड़ हो गया, तब उसमें चेतनता कहाँ रही ? और आधा बना, आधा नहीं बना तो दो हिस्सोंमें बँट गया। चेतनमें परिणाम कैसे हुआ, यह तो बताओ ? वह अपने परिणामका साक्षी रहा तो परिणामसे अलग रहा ! अन्तमें यही मानना पड़ता है कि चेतनमें परिणाम हुआ नहीं, परिणाम भासता है। यही उसका अर्थ होता है। जो चेतनको जगत्‌का कारण मानेगा, उसे अगत्या विवर्त स्वीकार करना पड़ेगा। और कोई मार्ग उसके लिए है नहीं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (१३)
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (१४)

'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः'—त्रिगुण माने भेद-भ्रान्ति। इसी भेद भ्रान्तिसे सारा जगत् मोहित हो गया है और यह नहीं जानता कि ये जो परिवर्तनशील भाव हैं, इनसे परे मैं अव्यय हूँ। गुणोंमें व्यय होता है, उपचयापचय होता है, ये इकट्ठे होते हैं और क्षीण होते हैं। ये लीन होते हैं और उदित होते हैं और मैं ज्यों-का-त्यों अव्यय अविनाशी हूँ। भेद-भ्रान्तिमें पड़कर लो इस बातको नहीं समझते हैं। तब यह क्या है ?

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया'—यह माया भी मेरी ही है। इस मायाका मालिक मैं हूँ, परन्तु इसको पार करना बड़ा मुश्किल है। एक बात तो यह है कि यह दैवी है, चमकती है और इसके चमकनेके चक्करमें लोग आजाते हैं।

एक सज्जन विलायतमें यात्रा कर रहे थे। उन्हें एक स्त्री बहुत पसन्द आगयी। वे गये होटलमें, भोजन करने बैठे तो स्त्री उनके भावको समझ गयी। उन्होंने कहा कि मैडम, तुम्हारे बाल बहुत सुन्दर हैं। वह बोली कि हाँ, सुन्दर तो हैं, यह कहकर उसने कृत्रिम बाल अपने सिरपरसे उतारकर मेजपर उनके सामने रख दिये। फिर उन्होंने कहा कि तुम्हारे दाँत बड़े सुन्दर हैं तो उसने बनावटी दाँतोंका सैट भी निकाल कर मेजपर रख दिया। इसपर वे सज्जन लज्जित हो गये। इसी तरह **'दैवी**

ह्येषा गुणमयी'—यह सृष्टि चमकती है, फँसानेवाली है। लेकिन एक कविने चुनौती देते हुए कहा है—

तुम क्या माया नाचो कूदो हम हैं बड़े नचनियाँ।
यहाँ तुम्हारी दाल न गलि है हम हैं पलटू बनियाँ॥

माया बड़ी गुणवती होकर आती है। जो लोग कहते हैं कि हमारे अन्दर यह गुण है, वह गुण है, उनको यह कहती है कि आओ, तुम्हें सुला दें। निद्रा लेकर आयी हूँ तुम्हारे लिए। अरे, यह काम करनेमें क्या रखा है, छोड़ो इसको ! फिर लालच देती है कि देखो, तुम्हें सिद्ध बना देती हूँ, आकाशमें उड़ा देती हूँ— क्योंकि यह रजोगुणी भी है। कहती है कि अरे, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध करके सात्त्विक बना देती हूँ, बिलकुल देवता बना देती हूँ। इस प्रकार यह गुणमयी माया बड़ा भारी तोहफा लेकर चेतनके सामने उपस्थित होती है। इसीलिए इसका नाम गुणमयी है। यह देखनेमें बड़ी चमकनी है, लोगोंको मोहित कर लेती है। इसके मोहमें पड़कर लोग परमेश्वरकी ओर देखते भी नहीं हैं।

अब बोले कि भाई, जब ऐसी स्थिति है, फिर क्या करना चाहिए? इसपर भगवान्‌ने कहा कि **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'**—अर्थात् जो मेरी शरणमें आते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं। कहते हैं कि जब ये मछली पकड़नेवाले पानीमें जाल फैलाते हैं तब जो मछली मछुयेके पाँवके पास आजाती है—**'प्रपद्यन्ते'**— उसके प्रपदपर आजाती है—प्रपद माने पाँवका पंजा—मछुएके पंजेपर बैठ जाती है, वह उसके जालमें बिल्कुल नहीं फँसती है। इसलिए जहाँसे यह सृष्टि निकलती है, वहीं आकर बैठ जाओ। कहते हैं कि जब चक्की चलती है, तब अन्नमें जो घुन लगे रहते हैं वे यदि बीचवाली कीलसे चिपक जाते हैं तब गेहूँ या चावल या चनाके साथ पीसते नहीं हैं। इसलिए यदि जादूगरके चेले बन जाओगे तो वह अपनी मायामें तुम्हें फँसायेगा नहीं; उसका रहस्य बता देगा।

अब देखो भगवान्‌की भाषा। यहाँ वे अपने ग्वारियापनपर उतर आये हैं। कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञानं आसुरं भावमाश्रिताः॥ (१५)

यहाँ दुष्कृती तो बताया, लेकिन यह नहीं कहा कि दुष्कृती भजनका अधिकारी नहीं है। दुष्कृती भजनका अधिकारी होता है, पापी भी भजनका अधिकारी होता है। पापीको भजन करनेसे कोई रोक नहीं सकता। आगे चलकर नवें अध्यायमें भगवान्‌ने बताया है कि दुराचारी भी भजन करके धर्मात्मा बन सकता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। (९.३०)

विष्णुपुराणमें भी आया है—

अति पापप्रसक्तोऽपि गायन्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तापस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः॥

इसलिए पापी भक्तिका अनधिकारी नहीं है। लेकिन पापीका स्वभाव ऐसा है कि जैसे चोर पुलिससे परहेज करता है कि बाबा, इससे बचकर रहना चाहिए, वैसे ही पापी पुरुष परमेश्वरके सामने जानेमें परहेज करता है, क्योंकि वह मूढ़ है, नराधम है। कहनेके लिए शक्ल-सूरतसे तो वह नर है, लेकिन है वह नराधम। नराधम माने पशु-पक्षी; जो मनुष्ययोनिसे निकृष्ट होकर देखनेमें मनुष्य मालूम पड़ें, वह नराधम है। यह है न भगवान्‌का ग्वारिया भाव।

'**माययापहृतज्ञानाः**'—लोग जादूके खेलमें फँस गये हैं। मायाने उनका ज्ञान अपहृत कर लिया है। वे आसुरभावके आश्रित हो गये हैं—'**आसुरं भावमाश्रिताः।**' फिर भजन करनेवालोंके चार प्रकार बताते हुए कहते हैं कि जिस व्यक्तिकी भजनमें रुचि हो जाये, समझ लो कि वह पुण्यात्मा है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (१६)
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ (१७)

जो लोग सुकृती होते हैं, उनका स्वभाव ऐसा होता है कि वे मेरा भजन करते हैं। वे सुकृती चार तरहके होते हैं—एक तो ऐसे होते हैं कि उन्हें मेरे विरहमें बड़ी भारी पीड़ा होती है; वे कहते हैं कि प्रभु, अब हम तुम्हारे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते। ऐसे लोग आर्त होते हैं। आर्त माने वह जिससे भगवान्‌के बिना रहा न जाये, जैसे गोपियाँ भगवद्वियोगमें आर्त हो जाती थीं।

दूसरा होता है अर्थार्थी। अर्थार्थी कब? अर्थ तो श्रीकृष्ण ही हैं। '*तासामा विरभूच्छौरिः।*' जो केवल श्रीकृष्ण-विरहसे दुःखी हैं, वे तो आर्त हैं, फिर अर्थार्थी कौन हैं? वे हैं जो श्रीकृष्णके दर्शनके लिए रो रही हैं—'*रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः।*' ये अर्थार्थी हो गये। अब जिज्ञासु कौन है? आर्त और अर्थार्थी दोनोंके बीचमें—जो वन-वनमें ढूँढती फिरीं कि हे वृक्ष, बताओ, श्रीकृष्ण कहाँ हैं? हे पृथिवी, बताओ श्रीकृष्ण कहाँ हैं?

तो आर्त वह हुआ जिसे जगत्‌से वैराग्य हो गया। जिज्ञासु वह हुआ जिसने सद्‌गुरुओंके पास जाकर जिज्ञासा की। अर्थार्थी वह हुआ जिसके हृदयमें यह भाव हुआ कि परमात्माका साक्षात्कार होना चाहिए। फिर उसके बाद ज्ञानीसे साक्षात्कार हो गया। पहले प्रियता थी आत्मामें। जब परमात्माके अभेदका ज्ञान हुआ तो जो सारी आत्मनिष्ठ प्रियता थी, वह परमात्मामें व्याप्त हो गयी।

जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख उदय हो गया—'**ज्ञानी च भरतर्षभ।**' अब कोई कह सकते हैं कि मैंने मनोरंजनके लिए ऐसा अर्थ किया है। इसलिए लो भाई, वैसा अर्थ भी कर देते हैं। आर्त लोग दु:खी होकर द्रौपदी और गजेन्द्रकी तरह रोते हैं। अर्थार्थी ध्रुवकी तरह कह जाते हैं कि हे प्रभो, हमको ज्ञान दे दो भगवान्! उद्धवादि ज्ञान माँगते हैं, ध्रुवादि अर्थ माँगते हैं, द्रौपदी-गजेन्द्र आदि आर्तिसे मोक्ष माँगते हैं और सनत्कुमार आदि केवल ज्ञान चाहते हैं। परन्तु '**चतुर्विधा भजन्ते माम्**'—ये चारों-के-चारों भगवान्का भजन करते हैं। अच्छा, इनमें सबसे बढ़िया भजन किसका होगा? बोले कि '**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त:।**' ज्ञानीके वियोग नहीं है क्योंकि जब उसे प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्नेन परमात्माका ज्ञान हुआ तब वियोगकी सम्भावना ही मिट गयी। यह बात और है कि जबतक ज्ञान नहीं होगा तबतक भक्ति कभी-कभी दिशा बदलती रहेगी। इसीसे ज्ञानीकी भक्ति विशिष्ट है।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय:।

मैं ज्ञानीका अर्थ व्यवधानरहित प्रिय हूँ। **अत्यर्थम्** माने *'अर्थं अतिक्रम्य'*। हमारे और ज्ञानीके बीचमें कोई दूसरी चीज नहीं है और '**स च अत्यर्थं मम प्रिय:**' ज्ञानी हमारा प्यारा है परन्तु '**अत्यर्थम्**' माने *'अतिक्रम्य'*। हमारे बीचमें कोई कपड़ा-वपड़ा नहीं है, कोई माला-वाला नहीं है, कोई रोमांच-ओमांच नहीं है तथा हमारे और ज्ञानीके बीचमें कोई चाम नहीं है। हड्डी-मांस भी नहीं है, अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोश भी नहीं है। अर्थ माने अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञामय, आनन्दमय—मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश, सब कुछ हमारे और उसके बीचमें—अर्थ यही सब तो है! पर ज्ञानी और परमात्माकी जो प्रियता है, वह अर्थ व्यवधान रहित है। उसमें न पञ्चकोशका व्यवधान है, न पञ्चभूतका व्यवधान है और न जड़रूप अर्थका व्यवधान है—'**स च मम प्रिय:**'।

उदारा: सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थित: स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

उदार तो सब हैं, लेकिन ज्ञानी तो हमारी आत्मा है। आपने यह कथा सुनी होगी कि एक बार दण्डी और कालिदासमें इस बातको लेकर झगड़ा हो गया कि हम दोनोंमें-से कौन बड़ा है। दोनों सरस्वती माताके पास गये और बोले कि देवी निर्णय दो, दण्डी बड़ा कि कालिदास? सरस्वती माताने निर्णय दिया, *'कविर्दण्डी-कविर्दण्डी-कविर्दण्डी न संशय:'*—दण्डी कवि है, कवि है, कवि है। इसमें कोई संशय नहीं। अब महाराज कालिदासको गुस्सा आया और वे बोले कि ' *'अहं रण्डे? अहं रण्डे? अहं रण्डे?* अरी राँड, यदि दण्डी कवि है तो मैं क्या हूँ? तब सरस्वती बोली—*'त्वं तु मद्रूप एव हि'*—तुम तो मेरे स्वरूप हो। जो मैं हूँ, सो तुम हो। दण्डी कवि है और तुम तो मेरे स्वरूप हो!

इसी तरह भगवान् कहते हैं कि '**उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**'—सब उदार हैं। इस पर अर्जुनने कहा कि महाराज, सब उदार हैं तब फिर मैं क्या हूँ? बोले कि '**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**'—ज्ञानी तो ज्ञानस्वरूप ही है, हमारी आत्मा ही है। उसके और मेरे बीचमें किसी तरहका व्यवधान नहीं।

अब देखो भगवान्के इस कथनका अर्थ क्या है? वे कहते हैं कि ज्ञानी जब मुझसे प्रेम करता है, तब मेरे और ज्ञानीके बीचमें कोई अर्थ नहीं रहता, दूसरी कोई वस्तु नहीं रहती, दूसरा प्रयोजन नहीं रहता और कोई व्यवधान नहीं रहता—'**अत्यर्थम्**' अर्थात् '*अर्थम् अतिक्रम्य*'। अत्यर्थ शब्दमें सामान्यरूपसे अत्यन्त कह देनेसे काम नहीं चलता, नहीं तो '*अत्यन्तं*' भी बोल सकते थे। 'अत्यर्थं' शब्दका अर्थ यह है कि उसमें दूसरी कोई वस्तु या दूसरा कोई प्रयोजन नहीं रहता। भगवान् भी ज्ञानीसे प्रेम करते हैं, परन्तु भगवान् और ज्ञानीके बीचमें भी कोई दूसरा अर्थ नहीं है। ज्ञानी और भगवान्का प्रेम अभेद प्रेम है। अभेद प्रेमका अर्थ आप जानते ही हैं—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति।
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥

ज्ञानी आत्मा है, इसलिए जैसे आत्मा प्रिय है, वैसे ज्ञानी प्रिय है। ज्ञानीकी आत्मा भगवान् है। जैसे अपनी आत्मा प्रिय है वैसे ही भगवान् प्रिय हैं। यदि कहो कि फिर ये बाकी लोग कहाँ हैं—जो आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु हैं वे भगवान्के प्यारे हैं कि नहीं—तो भगवान् कहते हैं कि ये सब-के-सब उदार हैं। उदार शब्दका अर्थ होता है उत्कृष्ट। कुमारसम्भवमें पार्वतीजीके लिए 'उदार-दर्शने' पदका प्रयोग किया गया है—

तथा हि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्। (५.३६)

उदार शब्दका और अर्थ देखो-'*उत् ऊर्ध्वं आसमन्तात् राति ददाति इति उदारः*'—जो अपनी शक्तिसे भी अधिक दान करे, उसका नाम उदार है। फिर भक्त लोग उदार कैसे हैं? उदार ऐसे हैं कि दूसरी चीज नहीं चाहते हैं। वे भक्ति इसलिए नहीं करते कि हमको कोई वस्तु मिले। उनको असलमें कुछ भी नहीं चाहिए—अर्थ नहीं चाहिए, ज्ञान नहीं चाहिए, उन्हें तो केवल भगवान् चाहिए। उनकी विशेषता यह है कि उनके पास कोई दूसरा आये और कहे कि देखो, हम तुम्हारा दुःख दूर करते हैं तो वे उत्तर देते हैं कि माफ करो; हमारे जो भगवान् हैं वही हमारा दुःख दूर कर देंगे! तुम क्या करोगे! उनकी उदारता यह है कि वे दुःख सहनेको तैयार हैं लेकिन अपने शरीरपर केवल भगवान्का ही हाथ फिराना चाहते हैं। वे कहते हैं कि हम दुःख सह लेंगे, पर हमें दूसरेके हाथ द्वारा सुख नहीं चाहिए। इस प्रकार वे —'*एष सर्वस्वत्यागेन*' सर्वस्वका त्याग करते हैं। किसी भक्तके पास एक सेठ आया

और बोला कि चाहे जितना धन ले लो। भक्तने कहा—माफ करो बाबा, जिसने तुम्हें दिया है, वह क्या कहीं चला गया है? लेना होगा तो हम उसीसे लेंगे, तुनसे नहीं लेंगे।

कहते हैं कि एक राजा साहब थे। वे एक फकीरको अपने महलमें ले गये। उससे कहा कि आपको जो चाहिए वह सेवा हम करेंगे। शामको जब राजा साहब बैठे तो भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे कि हे भगवान्, हमारा राज्य और बढ़ा दो, हमारी सम्पदा और बढ़ा दो, सैन्य-शक्ति बढ़ा दो। हमारी उम्र बढ़ा दो, यह सब देख-सुनकर फकीरने अपना दण्ड-कमण्डलु उठाया और जाने लगा। राजा बोला कि महाराज, आप क्यों जाते हैं? फकीरने उत्तर दिया कि अरे, मैं तो समझता था कि तू राजा है, लेकिन तू तो खुद भिखारी है। इसलिये जिससे तू माँगता है, उसीसे हम माँग लेंगे, तुझसे क्यों माँगें?

तो यह उदारता है—दूसरेसे न माँगना। यह उदारता है। सर्वस्व-त्याग करनेके लिए तैयार रहना—'**उदाराः सर्व एवैते**'। फिर बोले कि '**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**'- मैं ज्ञानी हूँ और ज्ञानी मेरी आत्मा है। इसपर अर्जुनने कहा कि भाई, तुम यह बार-बार क्यों कह देते हो कि ज्ञानी मेरी आत्मा है? भगवान् बोले कि—

'**आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।**' बात यह है कि ज्ञानीकी आस्था मेरे सिवाय और किसीपर नहीं है। वह मुझको आर्ति-निवारणके लिए द्रौपदी और गजेन्द्रके समान अथवा अर्थ-प्राप्तिके लिए ध्रुवके समान या ज्ञान-प्राप्तिके लिए तुम्हारे और उद्धवके समान मेरे पास नहीं आता है। वह तो मेरे पास मेरे लिए आता है—'**मामेवानुत्तमां गतिम्**'—क्योंकि वह युक्तात्मा है।

आपने सुना होगा, एक बार अर्जुनको ऐसा ख्याल हुआ कि मैं श्रीकृष्णका बहुत प्रेमी हूँ। उसके बाद एक दिन श्रीकृष्ण अर्जुनको लेकर यमुना-तटपर विचरण करने गये। वहाँ देखते हैं कि पर्णकुटी है, जिसमें एक वृद्धा तपस्विनी बैठकर तपस्या कर रही है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा, अरे भाई, भीतर जाकर इस तपस्विनीका दर्शन कर आओ। अर्जुन भीतर गये तो उन्होंने देखा कि तपस्विनीकी बगलमें तलवार रखी हुई है। अर्जुनने पूछा कि माता, इतनी बड़ी तपस्विनी होकर तुम अपने पास तलवार क्यों रखती हो? तपस्विनी बोली कि अर्जुन-द्रौपदीके सिर काटनेके लिए! क्यों माता, अर्जुन-द्रौपदीने ऐसा क्या अपराध किया है? वृद्धाने कहा कि अपराध पूछते हो? अरे, द्रौपदी नंगी हो जाती भरी सभामें, उसकी इज्जत ही तो जाती न! उसके लिए हमारे प्यारेको द्वारकासे भोजन-ओजन छोड़कर नंगे पाँव दौड़कर इतनी दूर आना तो न पड़ता! बड़ी तकलीफ दी है उसने! अच्छा, अर्जुनपर क्यों गुस्सा है? इसलिए गुस्सा है कि महाभारत युद्धमें रथपर हमारे प्यारेको बिठा

दिया सारथि बनाकर और खुद पीछे बैठ गया! हमारे प्यारेको कहीं किसीका बाण लग जाता तो? अर्जुन हार जाता, उसे राज्य नहीं मिलता, युधिष्ठिर राजा न होते—तो क्या बिगड़ जाता दुनियाका? उसने अपने स्वार्थके लिए हमारे श्रीकृष्णको इतनी तकलीफ दी। यह सब सुनकर अर्जुनके होश उड़ गये!

देखो, ध्रुवने तो गुस्सेमें आकर भगवान्‌से कामना की, लेकिन बादमें जिन्दगी भर रोते रहे! अब रोते हैं कि हमने अपनी कामना-पूर्तिके लिए भगवान्‌की आराधना की। वसुदेवजी महाराज बुढ़ापेमें रोये। वे भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें नारदजीसे कहते हैं कि *'अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया'*! मैंने बेटेके लिए भगवान्‌का भजन किया, भगवान्‌के लिए नहीं। पर ज्ञानी ऐसा है कि वह करोड़-करोड़ आर्तिका वरदान माँगता है। आपने रबियाका नाम सुना है? उसने कहा कि यदि मैं नरकसे बचनेके लिए भगवान्‌की आराधना करती होऊँ तो भगवान् हमेशाके लिए मुझे नरककी आगमें, दोजखकी आगमें डाल दें और यदि मैं स्वर्ग पानेके लिए भगवान्‌का भजन करती होऊँ तो ईश्वर मुझे कभी स्वर्ग न दे।

देखो, जो मोक्षके लिए भजन करता है वह मोक्षका भक्त है, भगवान्‌का भक्त नहीं है। इसलिए **'मामेवानुत्तमां गतिम्'**—भक्त तो वह है जो अपने सहज स्वभावसे भगवान्‌को चाहता है और ऐसा अनुभव करता है कि भगवान् यह देखकर प्रसन्न हो रहे हैं। भगवान् तो हमारी आत्मा है; भगवान्‌के रूपमें हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है, यही भगवत्कृपा है।

एक फकीरसे किसीने पूछा कि हमारे ऊपर ईश्वर प्रसन्न हैं—यह बात कैसे मालूम पड़े? फकीरने कहा कि तुम अपने ऊपर प्रसन्न हो कि नहीं—यह देख लो! अगर तुम अपने ऊपर प्रसन्न हो तो भगवान् तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं। भगवान्‌के पास वेदान्तियोंकी रीतिसे कार्योपाधि नहीं है, इसलिए वे कारणोपाधिमें कहाँ प्रसन्न होंगे? वे तो मनुष्यके हृदयमें बैठकर ही प्रसन्न होते हैं। वेदान्तियोंकी रीतिसे भगवान्‌के साथ कार्योपाधि है ही नहीं और कारणोपाधिमें प्रसाद-अप्रसादका भेद ही नहीं है। अतः वे जिस मनुष्यके ऊपर प्रसन्न होते हैं उसका हृदय प्रसन्न हो जाता है। यही भगवान्‌के प्रसादकी रीति है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (१९)

'बहूनां जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान् भवति। ततो मां प्रपद्यते'—बहुत जन्मोंमें साधन-भजन करनेके बाद जब अन्तिम जन्म होता है तब मनुष्यको ज्ञानकी प्राप्ति होती है। ज्ञानवान् कर्त्ताको पहले नहीं लेना। *'ज्ञानवान् पुरुषः बहूनां जन्मनां अन्ते मां प्रपद्यते'*—

ज्ञानवान् पुरुष बहुत जन्मोंके बाद मेरी शरणमें आता है—नहीं-नहीं, ऐसा अन्वय मत करना। *'केन रूपेण प्रपद्यते? वासुदेवः सर्वम् इति प्रपद्यते।'*

प्रपत्तिका रूप क्या है? विष्णुपुराणमें आया है कि *'सकलमिदमहं तु वासुदेवः।'* इसमें जो 'अहं' और 'इदं' है, यह बात वैष्णवाचार्योंको भी मान्य है। अहं और इदं, सपनेका मैं और सपनेका यह शरीर, दोनों जिसका स्वप्न है, उसीका संकल्प है, उसीका मनोविलास है। इसलिए 'मैं' और 'यह' जो मालूम पड़ता है, यह सब परमात्माका ही स्वरूप है। *'सकलमिदमहं च वासुदेवः'*—यही गीताका '**वासुदेवः सर्वमिति प्रपद्यते**' है। लेकिन यहाँ '**प्रपद्यते**' का अर्थ *श्रीराधाकृष्णचरणौ शरणं प्रपद्यते* 'नहीं है। यहाँ प्रपत्तिकी व्याख्या यह है कि *'वासुदेवः सर्वम् इति प्रपद्यते।'* प्रपत्तिका स्वरूप यह है कि परमात्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, सब कुछ परमात्मा है।

अब बोले कि '**स महात्मा सुदुर्लभः**'—ऐसा महात्मा दुर्लभ नहीं, सुदुर्लभ है; क्योंकि ऐसे महात्मासे बड़ा तो कोई होता ही नहीं; उसकी बराबरीका भी कोई नहीं होता और परमात्मासे एक हो जानेके कारण वह भी अद्वय हो जाता है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ (२०)

अब कहते हैं कि जो भगवान्‌से आर्तिनिवारण चाहते हैं या अर्थ चाहते हैं, वे तो सर्वश्रेष्ठ हैं। क्यों श्रेष्ठ हैं? क्योंकि संसारके जो हृतज्ञान हैं, उनका ज्ञान लुट गया है। कौन लूट ले गया है? बोले कि कोई एक हो तो बतायें, उसको लूटने न दें, रोक लें! यहाँ तो '**कामैस्तैस्तैः**'—जहाँ देखो वहाँ झुण्डके-झुण्ड लुटेरे काम निवास करते हैं। जैसे डाकुओंके गिरोह होते हैं, वैसे ही कामोंके गिरोह भी होते हैं। और ये तरह-तरहके होते हैं। फिलिस्तीनमें जो छापामार हैं, उनका एक गिरोह नहीं है। वहाँ तो एक गिरोह दूसरे गिरोहसे टकरा जाता है। उनमें लड़ाई भी हो जाती है। इसलिए '**तैस्तैः**'का अर्थ है *'पृथग्भूतैः, पृथक्-पृथक् स्थितैः कामैः।'* जैसे लोभ-सम्बन्धी काम अलग हैं, मोह-सम्बन्धी काम अलग हैं, क्रोध, भोग-सम्बन्धी काम अलग हैं। ये काम क्या करते है? ये चीजको नहीं लूटते, ज्ञानको ही लूट लेते हैं, आदमीकी बुद्धिको ही बिगाड़ देते हैं। बुद्धि बिगड़नेका लक्षण क्या है? कि '**प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः**।' दूसरे देवताकी शरणमें जाना क्या है? यही बुद्धिका लुट जाना है भाई! लोग लुट गये हैं बिचारे। अच्छा, लुटे हुए लोग क्या करते हैं? उस देवताको खुश करनेके लिए उसके नियमोंका पालन करते हैं। मैं अपने ही गाँवकी बात बताता हूँ। वहाँ पुराने जमानेमें डीह-देवता ग्राम-देवता हुआ करते थे, अब हैं कि नहीं—मुझे मालूम नहीं। उन्हें खुश करनेके लिए सूअरके बच्चेका

बलिदान होता था; मैंने अपनी आँखोंसे यह देखा है। और, हर गाँवमें कालीमाई होती थीं, वहँ बकरा कटता था। तो जैसा देवता होगा, उसको खुश करनेके लिए वैसा नियम पालन करना पड़ेगा। '**तं तं नियममास्थाय।**' चपरासीको खुश करनेके लिए दस रुपये देने पड़ेंगे, हैडक्लर्कको सौ रुपये देने पड़ेंगे, 'अफसरको इजार रुपये देने पड़ेंगे और मिनिस्टरको खुश करनेके लिए पच्चीस हजार रुपये देने पड़ेंगे। हमें मालूम है कि जब राज्यसभामें वोट पड़नेवाले थे तो हमारे पक्षमें वोट पड़ें—इसके लिए कई लोगोंमें कन्वेसिंग की गयी। सात हजार रुपये देकर उन्हें वोट देनेको कहा गया; उस समय उन्होंने कहा कि हम सात हजारमें अपना ईमान बेचें! तो उन्होंने कहा कि वाह-वाह, आप अपने ईमानकी कीमत बता दो तो हम उतनी रकम देनेके लिए तैयार हैं!

'**प्रकृत्या नियताः स्वया**'—जन्म-जन्मसे अर्जित, पूर्व संस्कारसे अर्जित जो अपनी प्रकृति है, वह क्या है? प्रकृति कोई ईश्वरके घरसे नहीं आती है, आत्मासे नहीं निकलती है, यह तो करते-करते बन जाती है। कभी-कभी तो लोग तीन-तीन दिन कोई काम करते हैं और चौथे दिन कहते हैं कि ऐसा करनेकी हमारी आदत पड़ गयी है! यह आदत क्या है? संस्कृतमें यह *'आदत्त'* है, *'त्वयैव आदत्तं न तु अन्येन'* तुमने ही इसे पकड़ा है किसी और ने तो पकड़ा नहीं है। इसलिए प्रकृति कृत्रिम होती है, निर्मित होती है! अपनी-अपनी प्रकृति है—ऐसा लोग बोलते हैं। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए कुछ और सुना देते हैं।

एक बार हमलोग एक राज्यमें गये, वहाँके राजाके अतिथि हुए। हमारे पास जो लोग रहते थे, उनके अतिरिक्त कुछ और साधु भी साथ हो गये थे। जब राजा हमारे पास आयेंगे तो वे हमारे पास बैठें और बात करें। लेकिन हमारे साथ जो साधु थे, उनमें-से कोई जाकर सेक्रेटरीके पास बैठ जाये, कोई उनकी मोटरमें ड्राइवरके पास जाकर बैठ जाये, कोई साधु उनकी ओरसे जो रसोइया हमारी रसोई बनानेके लिए था—उसके पास जाकर बैठ जाये। जो जिस किस्मके लोग थे, वे उस किस्मके आदमीसे अपनी दोस्ती कर लेते थे। इससे उनका स्तर प्रकट हो जाता था कि ये सज्जन कहाँ उठते-बैठते हैं। इसलिए '**प्रकृत्या नियताः स्वया**'—का अर्थ है कि तमोगुणी लोग तामस देवताकी उपासना करते हैं, राजस लोग राजस देवताकी उपासना करते हैं, सात्त्विक लोग सात्त्विक देवताकी उपासना करते हैं, और जो गुणातीत होना चाहते हैं वे परमेश्वरकी उपासना करते हैं, गुणातीतकी उपासना करते हैं। सबकी अपनी-अपनी प्रकृति होती है न!

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ (२१)

भगवान् कहते हैं कि जो जैसा कामवान् होता है, वह अपनी कामनाके अनुसार वैसे देवताकी शरण लेता है और श्रद्धासे उसकी पूजा करना चाहता है। तो भगवान् कहते हैं कि मैं किसीकी श्रद्धा तोड़ता नहीं हूँ। श्रद्धा बिगाड़ना भलेमानुसका काम नहीं है। बड़े सौभाग्यसे श्रद्धाकी वृत्ति किसीमें उदय होती है, यह सत्संगकी कसौटी है। आप जिसका सत्संग करनेके लिए जाते हैं वह यदि आपके हृदयमें-से श्रद्धाभक्तिको नष्ट करता है और संशय उत्पन्न करता है, तो वह आपको विनाशका मार्ग बता रहा है—**'संशयात्मा विनश्यति।'** किन्तु यदि वह आपकी श्रद्धाको दृढ़ कर रहा है तो वह सत्संग करने योग्य है। अरे, भगवान् किसमें नहीं हैं? इसीलिए भगवान् कहते हैं कि **'तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्'** अर्थात् मैं आज्ञा दे देता हूँ कि हे श्रद्धा, तुम इसके हृदयमें रहो।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ (२२)

'तस्या देवतायाः राधनम् आराधनम् ईहते।' इसमें **'प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः'** है न! **'तस्याः'** स्त्रीलिङ्ग ही है। **'तस्याराधनम् ईहते।** *राधनं साधनम्।'* उसीको सिद्ध करने लगता है कि देवता ऐसा चाहिए। लोग चाहते क्या हैं? कि देवता ऐसा न हो जिसकी आज्ञाके अनुसार हमें चलना पड़े। देवता तो ऐसा हो कि हम उसे सिद्ध कर लें तो वह हमारी आज्ञाके अनुसार चले। लेकिन जब वह मौका पाता है तब चढ़ बैठता है कि तुमने हमें बहुत चलाया है, अब हम तुमसे लेते हैं बदला!

जो श्रद्धावान् होते हैं, उनकी कामनाओंकी पूर्ति भी होती है—**'लभते च ततः कामान्।'** श्रद्धा कामनाको पूर्ण करनेमें समर्थ है, क्योंकि जब श्रद्धापर आत्मा आरूढ़ हो जाती है, तो श्रद्धामें आत्म-शक्ति सन्निहित हो जाती है. श्रद्धा शक्तिशालिनी हो जाती है और वह कामनाको पूर्ण करती है। असलमें हम जिसपर चढ़ बैठते हैं, वही शक्तिशाली हो जाता है। क्रोधपर चढ़ बैठें, कामपर चढ़ बैठें—आत्मा जिस मनोभावमें, वृत्तिमें अनुगत होगा, वही शक्तिशाली हो जायेगा। शक्ति तो सारी-की-सारी आत्माश्रित ही है; वह जिससे तादात्म्यापन्न होगा, वही शक्तिशाली हो जायेगा।

'मयैव विहितान् हि तान्'—भगवान् कहते हैं कि मैं ही उन कामोंको आज्ञा देता हूँ, विधान करता हूँ कि हे काम, तुम उनके पास जाओ। कोई-कोई तो इसका अर्थ करते हैं कि **'हि'** अलग है और **'तान् कामान् मयैव विहितान्।'** कोई-कोई ऐसा बोलते हैं कि **'मयैव विहितान् कर्म—कामांस्तु हितान्लभन्ते।'** अरे, कुछ चाहना कोई हितकारी बात थोड़े ही है। कामको स्वीकार करना माने अपनेको कंगाल स्वीकार करना। कामी तो वही है जो कंगाल है। जिसके पास सत्ता नहीं है, चित्ता नहीं है, आनन्द नहीं है—वही तो कामी है! कामी माने कंगाल। उसके

अपने पास सुख होता तो कामी काहेको होता ? इसलिए काम हित नहीं होता है। भगवान् शंकराचार्यने कहा कि यदि कामका विशेषण हितको बनाना ही हो तो उसको गौण ही करना चाहिए—*'हितत्वं कामानामुपचरितम्।'* कामोंमें केवल गौण रूपसे ही हितकारिता है, मुख्य हितकारी तो निष्कामता द्वारा ही है॥

अब देखो, प्रकृति हुई तमोगुणी और देवता हुआ छोटा। कामना देते हैं भगवान् और मानना पड़ता है कि देवताने दिया। ज्ञान तो पहले ही लुट चुका है। रह गयी बात फलकी! अच्छा, हमें फल तो मिलता है! नहीं भाई, फल भी नहीं मिलता है—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ (२३)

क्योंकि जो फल मिलता है, वह भी अन्तवान् होता है। बहुत पुरानी बात है। एक बार बिहार प्रान्तमें एक नेता मिनिस्टर बने तो एक सेठने उनके जमाईको पाँच हजार एकड़ धरती लिख दी। थोड़े दिनोंके बाद उनपर भ्रष्टाचारका आरोप लगा और मिनिस्टरी छिन गयी। तब सेठने अपनी जमीन पर कब्जा कर लिया। जमाई साहबके पास जमीन नहीं रही। वे न इधरके रहे, न उधरके रहे।

'अल्पमेधस्'—देखो, प्रत्येक प्रकारकी बुद्धिको मेधा नहीं कहते हैं। धारणावती बुद्धिका नाम ही मेधा है। इनकी धारणाशक्ति बहुत क्षुद्र है; ये महान्‌की धारणा नहीं कर सकते हैं। क्षुद्र की धारणा ही कर सकते हैं। उन्हें जो फल मिलता है वह फल ही अन्तवान् होता है, क्योंकि जब उस देवताके अधिकारकी ही निवृत्ति हो जाती है, वही अपने ओहदेसे उतार दिये जाते हैं—तो उनका दिया हुआ फल कहाँतक टिकाऊ रहेगा?

अभिप्राय यह हुआ कि यदि तुम देवताकी आराधना करोगे तो देवताके पास जाओगे और मेरी आराधना करोगे तो मेरे पास आओगे। इसलिए भाई, आराधना करनी हो तो मेरी आराधना करो और मेरे पास आओ।

इस प्रसंगमें आपको एक बात सुनाता हूँ। वृन्दावनमें कोई पच्चीस-तीस वर्ष पहले एक नौजवान था, जो बी. ए. में पढ़ता था। उसने वृन्दावनमें ही एक नौजवान आदमीको अपना गुरु बनाया। थोड़े दिनोंके बाद दोनोंमें चरित्रको लेकर झगड़ा हो गया। बात मेरे पास आयी। मैंने उस लड़केसे पूछा कि आखिर यहाँ उड़िया बाबाजी महाराज मौजूद हैं, हरिबाबाजी महाराज मौजूद हैं और आनन्दमयी माँ हैं। इनको तुमने गुरु नहीं बनाया, फिर इस छोकरेको गुरु क्यों बनाया? अभी तो इसकी मूँछें भी नहीं निकली हैं। वही लड़का आजकल बड़े ऊँचे ओहदेपर है। तो उसने कहा कि मैंने सोचा कि उड़िया बाबाजी, हरि बाबाजी और आनन्दमयी माँ—ये

सब बड़ी उम्रके हैं, सो जल्दी मर जायेंगे। इनको गुरु बनाऊँगा तो बड़े घाटेमें रहूँगा और जवानको गुरु बनाऊँगा तो वह बहुत दिन जीवित रहेगा। यही सोचकर मैंने इसे गुरु बनाया था। अब महाराज, आप जैसी आज्ञा करोगे, वैसा करूँगा। तो भाई, जब श्रद्धा ही समाप्त हो गयी , जब दिल ही टूट गया तब क्या होगा? मतलब यह है कि इस प्रकारकी बातोंसे आपको हँसाते-खेलाते गीताके साथ ले चल रहा हूँ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ (२४)

भगवान् कहते हैं कि मैं तो अव्यक्त हूँ। श्रीशंकरानन्दजी महाराजने अव्यक्त शब्दका अर्थ किया है कि यह प्रमाणके द्वारा अभिव्यज्यमान प्रमेय नहीं है बल्कि प्रमातृत्व-विनिर्मुक्त प्रमाताका परमार्थस्वरूप है; इसलिए अव्यक्त है। उनके अनुसार अव्यक्त माने *'न व्यज्यते।'* टीकाकारोंका अभिप्राय है कि भगवान् चाहे अवतार दशामें रहें, चाहे निराकार दशामें रहें, उनकी अव्यक्ततामें कोई अन्तर नहीं पड़ता। जैसे कर्मवश मनुष्य-पशु-पक्षी आदि व्यक्तिभावको प्राप्त होते हैं, वैसे भगवान् प्राप्त नहीं होते। लेकिन **'अबुद्धयः'**—जिन्होंने सद्‌गुरुसे, सम्प्रदाय-परम्परासे, सत्शास्त्रसे सद्-बुद्धिसे नहीं प्राप्त की है, वे लोग ऐसा मानते हैं कि अव्यक्त परमात्मा भी जीवोंके समान ही कर्मवश व्यक्ति-भावापन्न होता है और यह वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण भी कोई जीव-विशेष ही हैं। ऐसी मान्यता **'अबुद्धयः'**—माने मूर्खोंकी है। जो लोग मूर्ख हैं, बिल्कुल मूर्ख हैं वे बेचारे क्या जानें कि ईश्वर और अवतार क्या है। **'अबुद्धयः'** अर्थात् *'अकृतबुद्धयः असत्कृत-बुद्धयः।'* यही लोग कहते हैं कि ये वासुदेव भगवान् भी जीवकी तरह ही हैं। वे ऐसा क्यों मानते हैं? इसलिए कि वे मेरे अव्यय रूपको नहीं जानते—**'परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।'** मेरा अव्यय रूप क्या है? अव्यय माने जिसमें कभी घिसाई नहीं होती है, जो ज्यों-का-त्यों रहता है, जिसका व्यय नहीं होता। *'न विविधम् एति अव्ययः'*—जो विविध भाव- कभी प्राप्त ही नहीं होता, माने जो अनेक रूप होता ही नहीं। मेरा भाव ऐसा है जो अनेक रूप होता नहीं और उससे उत्तम कोई भाव नहीं है—*'अनुत्तमम्।'* ऐसा जो मेरा भाव है, स्वरूप है, श्रीविग्रह है, उसको तो ये समझते ही नहीं और समझते हैं कि यह कोई कर्माधीन जीव पहले प्रलीन था अव्यक्तमें, अब व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ है। इन्होंने समझनेकी कभी कोशिश ही नहीं की।

अब देखो, और मजेदार बात आपको सुनाते हैं। **'व्यक्तिमापन्नं स माम्'**-मैं बिल्कुल हाजिर, वसुदेवका बेटा बनकर, तुम्हारे रथपर सारथि बनकर तुम्हारे साथ

बैठा हूँ और '**अबुद्धयः अव्यक्तं मन्यन्ते**।' ये मूर्ख लोग अव्यक्तका, निराकारका, ध्यान करते हैं।

और देखो—'*अव्यक्तं निराकारं, व्यक्तिमापन्नं तु साकारम् उभयमपि माम् उभयविधं माम् अबुद्धयः मन्यन्ते।*' मैं निराकार हूँ कि साकार हूँ—यह झगड़ा मूर्खोंका है। मैं न निराकार हूँ, न साकार हूँ, मैं तो दोनोंसे विलक्षण हूँ. इसलिए किसीने कहा कि—

निराकार साकार रूप धरि आयें कई इक बारा।
सपने हैं होइ मिट गये रह्यो सार कौ सारा॥

जो सार-सार है, वह न तो निराकार है, न साकार है। आकारकी अपेक्षासे ही निराकार शब्द होता है। '*आकारात् निष्क्रान्तः निराकारः*'—जो आकारमें आकारसे बाहर रहे। रहे आकारमें, परन्तु आकारसे परे रहे—उसका नाम निराकार होता है। '*निरव्ययः क्रान्ताद्यर्थे सम्पन्नः।*' तो यह '*अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं च उभयविधम् उभयं*'— जो साकारमें फँस गये, निराकारमें फँस गये, उन्होंने प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मको नहीं जाना क्योंकि '**ममान्ययमनुत्तमन्**'—वह तो मेरा अव्यय उत्तम भाव है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ (२५)

भगवान्‌ने कहा कि भाई, मैं सबके सामने आनेवाल नहीं हूँ, थोड़ा पर्दा रखता हूँ—'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य**।' ऐसा क्यों महाराज! आप सबके सामने क्यों नहीं आते हैं? क्या कोई छल है? बोले कि नहीं, नहीं, '**योगमायासमावृतः**' अर्थात् *योगाय या माया तया समावृताः।*' माने यह जीव स्वयं चलकर हमारे पास आवे, दौड़कर हमारे पास आवे, हमारे लिए रोये, इसके मनमें हमारी प्राप्तिकी इच्छा हो—इसके लिए, जीवको चलना सिखानेके लिए हमने अपने आपको छिपा लिया है। हमें याद है, हमारे पितामह या हमारी माताजी हमें आंगनमें बिठाकर कहीं खम्भेकी आड़में छिप जाते। मैं चारों ओर देखता कि मेरी मैया नहीं है, बाबा नहीं है। देखता, फिर पुकारता और पुकारनेपर भी किसीको न पाता, तब? तब बकैयाँ खींचकर घुटनोंके बल चलता, अच्छा घुटनोंके बल नहीं; खड़ा होकर चलता तो पता लगता कि कहाँ हैं वे! दौड़कर उधर जाता उनके पास।

देखो, मोहनी माया दूसरी होती है और प्रकाशनी माया दूसरी होती है। यहाँ तो जीवको चलना आजाये, जिज्ञासा आजाये, उत्कण्ठा आजाये, व्याकुलता आजाये—इसके लिए भगवान्‌ने अपने आपको छिपा रखा है। उद्देश्य यही है कि जीव मुझसे मिले।

बहुत दिन पहलेकी बात है। सन् तीस-इकतीसकी बात होगी, मैं यहीं हरद्वारमें आया था और स्वामी भागवतानन्दजीके भारतीय विद्यालयमें ठहरा था। वहाँ पंजाबके एक पण्डित थे, उनका हरिनारायण या ऐसा ही कुछ नाम था। एक जीवानन्द था, एक व्रजबल्लभ था और एक आत्मारामजी बरनालावाले थे। हम सब लोग आपसमें मिलकर बैठते और कहते कि आओ गीताका ऐसा अर्थ करें जो किसी भी टीकामें न हो!

उसके बाद फिर ढूँढ़ा जायेगा कि किसी टीकामें यह अर्थ है कि नहीं। एकने सुनाया कि भाई देखो, जो '**अहं योगमायासमावृतः**' है, कि मैं योगमायासे समावृत हो जाता हूँ—यह तो परमात्मा पर आवरण मानना हुआ और यह युक्तियुक्त नहीं लगता। भला इतनी बड़ी योगमाया कहाँसे आयेगी जो परमात्माको ढक ले? इसलिए इसको *'अहं'* का विशेषण मत मानो। इसका अर्थ तो ऐसे करो कि *'योगमाया-समावृतः अयं मूढो लोकः'*—यह मूढ़ दुनिया ही योगमाया-समावृत है, इसलिए परमात्माको, अव्ययको पहचानती नहीं है।

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।

जथा गगन घन पटल निहारी। झँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥
निरखहिं लोचन अंगुली लाये। प्रगटि जुगल ससि तिनके भाये॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहि गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी॥
उमा राम विषयक अस मोहा। भ्रम तम भूमि भूरि जिमि सोहा॥

इस प्रकार योगमायाका आवरण भगवान्‌पर नहीं है। यह तो देखनेवालेकी आँखपर है। जादूका खेल देखनेवालेकी आँखको बाँधता है, वस्तुको थोड़े ही ढकता है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ (२६)

भगवान् बोले कि देखो अर्जुन, मैं बीती हुई सब बातोंको जानता हूँ, क्योंकि बीती हुई बात साधारण लोगोंकी नजरसे बीती हुई होती है। पूर्ण दृष्टिमें भूत नामकी वस्तु नहीं होती। लोग '**वर्तमानानि च**' जो वर्तमान है, उसे भी नहीं जानते और '**भविष्याणि च**' जो भविष्य है उसे भी नहीं जानते हैं। मैं सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वातीत, सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश-स्वरूप हूँ। लेकिन '**मां तु वेद न कश्चन**'- *'कश्चन घटपटादिवद् दृश्यरूपेण मां न वेद'*—कोई भी घड़ा, कपड़ा आदि परिच्छिन्न पदार्थके समान मुझे नहीं जानता। *'कश्चित् मां वेत्ति, किन्तु तत्त्वतो न वेत्ति सा तु घटपटादिवत् वेत्ति। कश्चित् मां वेत्ति तत्त्वतः, मृत्तिकादिवत् अभिन्ननिमित्तो-*

पादानकारणरूपेण मां जानाति, वेत्ति। न तु घटपटादिवत् कार्यरूपेण। मां तु वेद न कश्चन, प्रत्यगभेदेन जानाति।'

अब यह अर्थ वेदान्तकी दृष्टिसे तो ठीक बैठ गया; पर शंकराचार्यने ऐसा अर्थ नहीं किया है। वे तो कहते हैं कि *'मां तु वेद न कश्चन, मङ्गलं मच्छरणम् एकं मुक्त्वा, मत्तत्त्ववेदनाभावादेव न मां भजते।'*

इसके अनुसार जो मेरी शरणमें है, मेरे वशमें है, मेरा भक्त है, वह मुझे जानता है। और जो नहीं जानता है, वही मेरा भजन नहीं करता है। वह मेरी शरणागति न होनेके कारण, वह मेरी भक्ति न होने के कारण मुझे नहीं जानता, अतएव वह मेरा भजन नहीं करता। बात यह है कि—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ (२७)
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ (२८)

वल्लभाचार्यजी महाराजने लिखा है कि भारतवर्षमें जो भूमिदोष था, वह खार बनकर समुद्रमें चला गया। इसलिए भारतभूमि शुद्ध है। एक बात उन्होंने और बहुत बढ़िया लिखी है; उसे काव्यकी दृष्टिसे देखना हो, तो उसमें बहुत बढ़िया-बढ़िया उत्प्रेक्षाएँ हैं। वे कहते हैं कि गंगाजी धरतीपर क्यों आयीं? इसलिए आयीं कि जब वामन भगवान्ने त्रिविक्रम होकर अपना पाँव ऊपरको खींचा और वह ब्रह्मलोकमें गया तो ब्रह्माजीने उनके चरणारविन्दको धोया। अब पाँव तो था ऊपर, सिरकी तरफ, इसलिए पाँवका जल गिरा तो कमरपर गिरा। यह पृथिवी भगवान् विराट्के कटिदेशमें थी, इसलिए गंगाजल धरतीपर आया। अब गंगाजल जहाँ आया, भगवच्चरणारविन्द-मकरन्द जिस धरतीपर गिरा, वह पवित्र है। क्यों न हो!

संसारके जो प्राणी हैं, ये सर्ग हैं। इनमें बाप-दादाकी बनायी हुई चीज हो तो उसको लोग कभी-कभी भूल सकते हैं कि यह हमारा भाई है कि नहीं है। अपने बापके बनाये मकानको भी भूल सकते हैं। मन्दिरको भूल सकते हैं। लेकिन खुद अपने हाथसे जिस चीजको बनाते हैं, उसे नहीं भूलते। इस प्रकार लोग '**सर्गे**' माने अपने सर्जनमें आसक्त हैं। सबको अपनी रचना, अपना निर्माण, अपनी कविता अच्छी लगती है।

निज कविता केहि लाग न नीका।
सरस होहु अथवा अति फीका॥

तो *'सर्जनं सर्गः सर्वभूताति सर्गे सम्मोह यान्ति'* अपनी-अपनी सृष्टिमें सबलोग मोहको प्राप्त हो गये हैं। यह मेरी रचना है, यह मैंने मकान बनवाया है, यह मैंने

धर्मशाला बनवायी है, यह मैंने मन्दिर बनवाया है—इस तरह लोग अपने सर्गमें विमूढ़ होते हैं। क्यों विमूढ़ होते हैं महाराज!

'इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत'—यहाँ इच्छा माने राग है, क्योंकि आगे द्वेष हैं। द्वेषका भाई राग ही है। ये दोनों मधु-केटभ दैत्य हैं। रागका नाम मधु है और द्वेषका नाम कैटभ है। और ये सुन-सुनकर उत्पन्न होते हैं—*'विष्णुकर्णमलोद्भूतौ'।* कान तो सबका विष्णु ही है, क्योंकि आकाश व्यापक है और उसकी सात्त्विक तन्मात्रासे बना हुआ कान परिच्छिन्न तो होता ही नहीं, यह झूठ-मूठकी बात सुन लेता है। हम इस कानसे दूसरोंके जो गुण-दोष सुनते हैं, उनके कारण राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है। और ये करते क्या हैं? *'हन्तुं ब्रह्माणमुद्यतौ'*—हमारे अन्तःकरणका ही नाश करनेके लिए उतारू हैं। अन्तःकरण चतुर्मुख ही है। ये राग-द्वेष रूपमें मधु-कैटभ ऐसे हैं कि अकेले विष्णु भगवान् इनसे पाँच हजार बरसतक लड़ाई करते रहे और ये नहीं मरे। तब ये बड़े प्रसन्न हो गये और बोले कि हम दो और तुम एक हो। बड़े बहादुर हो, वर माँगों! विष्णु भगवान्ने कहा कि हमारे हाथसे मर जाओ। मधु कैटभ बोले कि हाँ, मरेंगे तो सही, लेकिन जहाँ रस नहीं होगा, वहाँ मरेंगे—*'आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता'।* दुर्गासप्तशतीका श्लोक है। इसलिए जहाँ विषय-भोगमें रस न हो, वैराग्य हो, वहाँ भगवान् राग-द्वेषको मार सकते हैं। लेकिन जहाँ विषय-सेवनमें रस हो, वहाँ भगवान् भी राग-द्वेषको नहीं मार सकते! राग-द्वेष खुद कहते हैं कि हमें मारो, तब भगवान् मारते हैं।

द्वन्द्वमोहेन-*द्वौ-द्वौ इति द्वन्द्वम्।* द्वन्द्व क्या हैं? पाप-पुण्य, सुख-दुःख और राग-द्वेष ये द्वन्द्व हैं। इनके मोहसे सारे प्राणी मुग्ध हो रहे हैं। रण कौन करता है? यही न! आओ, इनके निवारणके उपायपर विचार करें। पहली बात तो यह है कि **'येषां तु अन्तगतं पापम्'** पाप क्षीण हो जायें और पुण्य-कर्मका अनुष्ठान करें। इसमें प्रारब्ध जोड़नेकी कोई जरूरत नहीं है। असलमें जब पाप और पुण्य दोनों लगभग साम्यावस्थाको प्राप्त होते हैं तब मनुष्य-योनिकी प्राप्ति होती है। किसीमें किंचित् पापका आधिक्य होता है और किसीमें किंचित्-पुण्यका आधिक्य होता है। लेकिन प्रारब्ध मनुष्य-शरीरकी रचना ही तब करता है जब पाप-पुण्य प्रायः साम्यावस्थाको प्राप्त होते है; अन्यथा मनुष्य-शरीरकी रचना नहीं होती।

अब क्या हो? दोनों बराबर आये, तो बढ़े कौन? अगर पाप करने लग जाओगे तो तुम्हारे पाप प्रारब्धसे मिलकर पापको बलवान् बना देंगे और यदि पुण्य करोगे तो तुम्हारे पुण्य-पुण्य प्रारब्धसे मिलकर पुण्यको बलवान बना देंगे। इसलिए प्रारब्धके अधीन नहीं रहकर यदि तुम पाप-प्रारब्धको जगाना चाहते हो कि हमें खूब दुःख मिले—तो पाप करो। और यदि चाहते हो कि पुण्यका फल हमें सुख मिले तो खूब

पुण्य करो। कौन-सा प्रारब्ध हमारे जीवनमें चालू हो, इसमें मनुष्य स्वतन्त्र है।

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

यदि पाप करोगे तो पाप-प्रारब्ध जागकर तुम्हें दुःखी कर देगा और पुण्य करोगे तो पुण्य-प्रारब्ध जागकर तुम्हें सुखी कर देगा।

तो '**जनानां पुण्यकर्मणाम्**'—पाप हो गये क्षीण और पुण्य-कर्मका किया अनुष्ठान; तो इससे क्या हुआ? जब पाप-पुण्यका द्वन्द्व ढीला पड़ा तो राग-द्वेषका द्वन्द्व भी ढीला पड़ गया, सुख-दुःखका द्वन्द्व भी ढीला पड़ गया और अपने-परायेका द्वन्द्व भी ढीला पड़ गया। उन सबसे मिल गयी मुक्ति और मनुष्य दृढ़व्रती होकर भजन करने लगा—'**भजन्ते मां दृढव्रताः**' असलमें दृढ़निश्चयी होकर भगवद्-भजन करना ही पापक्षय और पुण्योत्पादकी पहचान है। जो मनुष्य दृढ़ निश्चय करके भगवद्-भजनमें संलग्न हो जाता है, उसके पाप क्षीण होकर पुण्य बढ़ने लगते हैं। यही भजनकी पहचान है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ (२९)

गीताकी यह विशेषता है कि एक अध्याय पूरा करते-करते उसमें अगले अध्यायके बीज भी डाल देते हैं। अबतक ऐसा ही होता आया है। आप इसपर ध्यान देकर देखेंगे तो आपको पता चल जायेगा। अब भगवान् कहते हैं कि आप प्रयत्न कीजिये, परन्तु प्रयत्न करनेमें आश्रय अपने पौरुषका न लेकर मेरा लीजिये—'**मामाश्रित्य यतन्ति ये।**' आश्रय लीजिये मेरा और प्रयत्न कीजिये आप। आप राजाकी सेनामें भर्ती होकर दुश्मनसे लड़ रहे हैं तो यह आपका राजाश्रय हो गया। उस स्थितिमें आप अकेले नहीं हैं, आपके बड़े-बड़े मददगार हैं। स्वयं राजा ही आपका मददगार है। लेकिन आप राजाश्रय बिना लिये अकेले ही बन्दूक लेकर दुश्मनसे लड़नेके लिए चले जायेंगे तो कमजोर पड़ जायेंगे। इसलिए, आश्रय लीजिये भगवान्‌का और प्रयत्न कीजिये स्वयं।

अब बोले कि भाई, किसके लिए करें। उद्देश्य क्या हो? कि '**जरामरणमोक्षाय**'—जरा माने अनुत्साह; जरा माने बुढ़ापा नहीं।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलिते शिरः।

मनुजीका श्लोक है कि यदि बाल सफेद हो जायँ तो उससे कोई बूढ़ा नहीं हो जाता। संन्यासियोंमें तो उम्रसे बुढ़ापा मानते ही नहीं हैं। धर्मात्माओंमें भी नहीं मानते हैं।

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयात् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥

धर्मात्माओंमें भी उम्रसे बड़प्पन नहीं मानते हैं। यह तो बुजुर्ग लोग कहते हैं कि हमारे बाल धूपमें सफेद नहीं हुए हैं—और यह कहकर अपने बुजुर्ग-पनेका प्रभाव डालते हैं; यह कहकर प्रभावित करते हैं कि हम बूढ़े हैं और तुम बच्चे हो। लेकिन यह बात महात्माओंमें तो नहीं चलती है। वहाँ जो ज्ञानवृद्ध होता है, उसीको वृद्ध मानते हैं। ऐसी लोकमान्यता है कि शूद्रोंमें जो अवस्थाका बड़ा है, उसे बड़ा मानते हैं, वैश्योंमें जो धनसे बड़ा है, उसे बड़ा मानते हैं, क्षत्रियोंमें शक्ति-बलसे बड़ा कहलाता है और ब्राह्मणोंमें जो ज्ञानसे बड़ा है, वह बड़ा माना जाता है। ज्ञानवृद्धोंकी वृद्धता ही ब्राह्मणोंमें स्वीकार की जाती है। शस्त्रीय दृष्टि यही है।

इसलिए जरा माने उम्रका बुढ़ापा नहीं, जरा माने यह धारणा है कि हमारे अन्दर अब कोई उत्साह नहीं है। अरे, उत्साह गया तो वीररसका उदय कैसे होगा? लेकिन यदि बुढ़ापेमें भी उत्साह बना रहे तो सब कुछ कर सकोगे। व्रजमें देखो कि बूढ़े लोग भी घोंटू तकका काजल लगाकर कैसे नाचते हैं और गाते हैं कि *'जो रस बरस रह्यौ बरसाने सो रस तीन लोकमें नाहीं।'* किसी संसारी बूढ़ेको कहो तो क्या वह नाचेगा-गायेगा? व्रजवासी तो बुढ़ापेमें भी जवान रहते हैं।

इसलिए *'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्'*—वे ब्रह्मको जानते हैं, समग्र अध्यात्मको जानते हैं और समग्र कर्मको जानते हैं। ब्रह्मको जानना, कर्मको जानना और अधिभूतको जानना—यही उनका काम है।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥(३०)

अब यहीं एक बात आपको सुना देता हूँ। इस श्लोकमें जो **'मां'-'मां'** आया है, उसका अर्थ क्या है? यदि आप भगवान्‌को जानेंगे और केवल व्यतिरेक दृष्टिसे जो सबसे परे है, सबसे अतीत है, उसी-उसीको जानेंगे तो मरनेके समय उसे भूल भी जायें तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। लेकिन आप परमेश्वरको ऐसे ढंगसे जानेंगे कि ब्रह्म भी वही है, अध्यात्म भी वही है, कर्म भी वही है, अधिभूत भी वही है, अधिदैव भी वही है, अधियज्ञ भी वही है तो इसका अर्थ है कि उसके सिवाय और कुछ नहीं है—**'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।'** ऐसी स्थितिमें आप देखेंगे कि **'प्रयाणकालेऽपि च'** अर्थात् मृत्युके समय भी जो कुछ आपको मालूम पड़ेगा, वह परमात्माका स्वरूप ही होगा। आपको कुछ-न-कुछ तो मालूम पड़ेगा ही—अधिदैव मालूम पड़ेगा, अधिभूत मालूम पड़ेगा, अध्यात्म मालूम पड़ेगा या ब्रह्म मालूम पड़ेगा। जो कुछ भी मालूम पड़ेगा वह परमात्माका स्वरूप होगा। यदि आप कहें कि मुझे तो मौत मालूम पड़ती है तो मृत्युके रूपमें भी भगवान् ही हैं—**'मृत्युः सर्वहरस्त्वाहम्।'** जिसने अधिभूतके रूपमें भगवान्‌को जान लिया उसने

मृत्युके रूपमें भी भगवान्‌को जान लिया। अधिभूतका ही नाम तो मृत्यु है। इसके अतिरिक्त मृत्यु और क्या है? आपने गीतामें पढ़ा होगा—'**अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाऽहमर्जुन।**'

भगवान् कहते हैं कि अमृत भी मैं हूँ, मृत्यु भी मैं ही हूँ, सत् भी मैं ही हूँ और असत् भी मैं ही हूँ। इसलिए केवल व्यतिरेक-विधया नहीं अन्वय-विधया भी, अन्वय-व्यतिरेकातीत विधया भी और अन्वय-व्यतिरेकोभयविधया भी परमात्माको जानिये। वही अन्वित है, वही व्यतिरिक्त है, वही दोनों है और उसमें अन्वय-व्यतिरेक है ही नहीं। इसका अर्थ है ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिए जरा-मरण भी ब्रह्मस्वरूप ही है। बुढ़ापा भी ब्रह्म है और मौत भी ब्रह्म है।

'**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः**'—जिसका ज्ञान युक्त है, युक्तियुक्त है, सच्चा है—वह '**युक्तचेतस्**' है। युक्त शब्दका अर्थ यह भी होता है कि *'युक्तिः अस्यास्ति इति युक्तः।'* यहाँ अच् प्रत्यय हो गया—युक्ति शब्दसे अच् प्रत्यय हो जानेसे *'युक्त'* बन गया। '**युक्तचेतसः**' माने जिनको युक्तियुक्त ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिनको समाधिमें भी ब्रह्म दिखता है ओर विक्षेपमें भी ब्रह्म दिखता है। जिसको समाधिमें तो ब्रह्म दिखता है किन्तु विक्षेपमें नहीं दिखता, उसका ब्रह्म अधूरा है और जिसको विक्षेपमें दिखता है, समाधिमें नहीं, उसका ब्रह्म भी अधूरा है। इसी तरह जिसका समाधि-विक्षेप दोनोंमें तो ब्रह्म दिखता है पर दोनोंके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान है—इसका साक्षात्कार नहीं है, तो उसका ब्रह्म भी अधूरा है। यहाँ तो विक्षेप वही है, समाधि वही है, दोनोंमें वही है, दोनोंके बिना भी वही है और दोनोंके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान भी वही है। इसलिए उसमें समाधि-विक्षेप मिथ्या है। यही ब्रह्मज्ञानकी प्रक्रिया है।

॥ इस प्रकार यह 'ज्ञान-विज्ञानयोग' नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥



आठवाँ अध्याय

अब प्रश्न मिल गया है अर्जुनको—

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ (१)
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ (२)

अर्जुन पूछते हैं कि यह ब्रह्म नामकी चीज क्या है? आप जानते हैं कि यह व्रजभूमि तो बड़ी विचित्र है। महात्मा लोग, देखो, नाराज मत होना। व्रजवासी तो बहुत भोले होते हैं। एक कुएँपर कुछ ग्वालिनें पानी भर रही थीं। वहाँ कई संन्यासी महात्मा लोग जाकर बैठ गये और आपसमें घटाकाश-मठाकाशकी चर्चा करने लगे। बोले कि *'निरतिशयं बृहत् ब्रह्म, परिच्छेदसामान्यात्यन्याभावोपलक्षिततत्वं ब्रह्मत्वम्'*—अर्थात् ब्रह्म परिच्छेद-सामान्यके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित है; परिच्छेद-सामान्य माने किस्म-किस्मके टुकड़े, किस्म-किस्मकी परिच्छिन्नताएँ; तरह-तरहके जो कतरे हैं—मिट्टीके कतरे, पानीके कतरे, आगके कतरे, देशके कतरे, कालके कतरे, वस्तुके कतरे—उन कतरोंको बोलते हैं परिच्छेद-सामान्य। इनका जो अत्यन्ताभाव है और वह अत्यन्ताभाव जिसका लक्षण नहीं, उपलक्षण है माने तटस्थ लक्षण है; लक्ष्यके साथ लगे बिना दूर ही से दिखाता है—वह है ब्रह्म।

जब संन्यासी महात्मा लोग इस प्रकारकी चर्चा करने लगे तब बेचारी गाँवकी गँवार ग्वालिनें पूछ बैठीं कि अरी सहेली, ये साधु लोग जिस ब्रह्मकी बात कर रहे हैं, वह क्या होता है? बोली कि अरी सखी, कोई ब्रह्म हमारे साँवरे-सलोने श्यामसुन्दरका स्वरूप हो या कोई रिश्तेदार-नातेदार हो या कुछ सालावाला लगता हो, तब तो हम बतायें कि वह कौन है? यहाँ बिना श्यामसुन्दरसे सम्बन्ध हुए ब्रह्मका नाम कौन लेगा?

तो अर्जुनने पूछा कि बाबा, वह ब्रह्म कौन है? देखो, पहले अर्जुनने ब्रह्मको परोक्ष देखा था, फिर ब्रह्मको प्रत्यक्ष देखा और फिर ब्रह्म अपरोक्ष हो गया। यह बात हम आपको गीतामें सुनायेंगे। यहाँ परोक्ष ब्रह्म ही है जिसके बारेमें अर्जुनका

प्रश्न है—'**किं तद् ब्रह्म ?**' यदि पूछो कि प्रत्यक्ष कौन-सा है तो गीताके दसवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक देखो—'**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्**'। वह प्रत्यक्ष ब्रह्म है। इसी तरह अपरोक्ष ब्रह्म भी है गीतामें। तो अर्जुनका प्रश्न है कि वह ब्रह्म क्या है ? आध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? यहाँ **पुरुषोत्तम** कहनेका अभिप्राय है कि आपपर मेरी पूरी श्रद्धा है। आप जो बतायेंगे उसे मैं समझनेकी कोशिश करूँगा और बिना श्रद्धाके, बिना प्रेमके मैं किसीसे सुनूँगा तो वह जल्दी दिलमें बैठेगा ही नहीं।

अर्जुन आगे पूछते हैं कि अधिभूत क्या है ? अधिदैव क्या है ? अधियज्ञ क्या है ? और प्रयाणकालमें नियतात्मा होकर आपका ध्यान कैसे प्राप्त करें—'**प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ?**'

अब पूछनेपर जवाब तो देना ही चाहिए। वैसे महात्मा लोग कभी-कभी पूछनेपर भी चुप हो जाते हैं, क्योंकि प्रश्नकर्ता जब ऐसा प्रश्न करता है, तब उसके प्रश्नसे ही मालूम पड़ जाता है कि यह जो चीज पूछ रहा है, उसे यह बिल्कुल जानता ही नहीं है। इसलिए महात्मा लोग कहते हैं कि बाबा अन्धेके आगे रोनेसे तो अपनी आँख भी चली जाती है—'*अन्धोंके आगे रोना, अपना दीदा खोना।*' इसलिए जो बिलकुल नासमझ हैं, उन्हें सुनाकर क्या करना ? लेकिन दूसरा दृष्टिकोण यह है कि यदि प्रश्नकर्ता ठीक ढंगसे प्रश्न करता हो तो उसको उत्तर देना चाहिए। प्रश्नकर्ता कहीं-न-कहीं भ्रममें है तभी तो प्रश्न कर रहा है ! हाँ, यदि परीक्षा लेनेके लिए कोई प्रश्न कर रहा है, तब तो उत्तर देनेकी जरूरत ही नहीं है। उसका तो यही उत्तर है कि जाओ बाबा, अपने किसी विद्यार्थीसे प्रश्न करो और उसकी परीक्षा लो, हम तुम्हारे परीक्षालयमें प्रतिष्ट नहीं हैं।

किन्तु यहाँ अर्जुन तो सच्चे मनसे प्रश्न कर रहा है कि '**किं तद् ब्रह्म ?**' ब्रह्म क्या है ? भगवान् बोले कि '***अक्षरं ब्रह्म परमम्। परमम् अक्षरं ब्रह्म***'। देखो, एक है अक्षर ॐ स्वर भी है, वर्ण भी है, स्वर-वर्णातीत भी है। क्योंकि अकार उकार तो दोनों स्वर हैं और मकार वर्ण है तथा उससे जो उपलक्षित है, वह न स्वर है, न वर्ण है। 'अव्' धातुसे सम्प्रसारण करके बना लो, *अवति इति ॐ*। जो अविद्याके अन्धकारमें अपनी रक्षा करे, उनका नाम है—ॐ।

बोले कि नहीं, यहाँ अक्षरसे मतलब नहीं है। यहाँ तो अक्षरका जो परमार्थ है वह ब्रह्म है—'*अक्षरं ब्रह्म परमम्। परमम् अक्षरं ब्रह्म। यत्र अक्षरस्य पारम्यम् भवति*'—यह ॐकारका तात्पर्य है। माण्डूक्योपनिषद्में एक तो अभिधेयकी प्रधानतासे ओंकारका निरूपण है और एक अभिधानकी प्रधानतासे ओंकारका निरूपण है।

अभिधेयकी प्रधानतासे माने वस्तुकी प्रधानतासे ओंकारका निरूपण। वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय—यह वस्तुका निरूपण है और अकार-उकार-मकार तथा अमात्र—ये चार विभाग करके, अभिधानकी प्रधानतासे निरूपण है। अभिधान माने नाम। ओंकारमें नामकी भी प्रधानता है और अर्थकी भी प्रधानता है। अर्थकी प्रधानतासे जो ओंकार है, उसका नाम ब्रह्म है—'*अक्षरं ब्रह्म परमम्*'। *ॐ इति आत्मानं युञ्जीत*—यह एक निमित्त ॐकार है। आत्मदेवका निमित्त है, आलम्बन है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठम् एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

आलम्बनरूप जो ओंकार है, वह अक्षरात्मा है और जो अक्षरका परम तात्पर्य है, वह ब्रह्म है।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ (३)

अब भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, ब्रह्मको तो तुम जानते ही हो! वह '*बृहत्वाद्*'—देश-काल वस्तुसे अपरिच्छिन्न, स्वजातीय, विजातीय, स्वगतभेदसे शून्य और संकोचाभाव होनेके कारण निरतिशय महान् है। क्योंकि उसको सिकोड़नेवाली कोई शैली है ही नहीं। वह रबड़की तरह नहीं है कि सिमट जाये और फैल जाये या कोई प्रवाही पदार्थ नहीं है कि कालमें इसकी धारा बहती रहे। वह कोई जड़ द्रव्य भी नहीं है कि रूपसे रूपान्तरको प्राप्त होता रहे। वह न तो देशमें फैलता-सिकुड़ता है, न कालमें बढ़ता है और न रूपान्तरको प्राप्त होता है। वह तो निरतिशय वृहत् है, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदसे शून्य है।

आपने एक बातपर जरूर ध्यान दिया होगा कि यदि ब्रह्म 'मैं' से अलग होगा, तो ब्रह्म ही नहीं होगा। एक तो अचेतन होगा, दूसरे परिच्छिन्न होगा। मतलब यह कि हमसे अलग होनेपर ब्रह्म बेहोश होगा, जड़ होगा। हमारी चेतनता जिसको नहीं मिलेगी, वह तो अचेतन ही रहेगा। वह दृश्य होगा, आश्रित होगा, जड़ होगा, परिच्छिन्न होगा। उसी तरह हम ब्रह्मसे अलग हो जायें तो टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे, कटपिट जायेंगे। जब आत्मरूप ब्रह्म होता है, तब चेतन हो जाता है और जब ब्रह्मरूप आत्मा होता है, तब परिपूर्ण हो जाता है। परिपूर्णताके साक्षात्कारका इसके सिवाय दूसरा उपाय नहीं है।

अब अर्जुन पूछते हैं कि '**किमध्यात्मम्**' अध्यात्म क्या है? बोले कि अध्यात्म उसको कहते हैं जो शरीरके भीतर ही हो। '*आत्मनि इति अध्यात्मम्*' इस सप्तमी विभक्ति—अधिकरण विभक्तिका जो '*अधि*' है, वही जब '*आत्मा*' के पहले लग

जाता है तब '*अध्यात्म*' शब्द बन जाता है। यदि किसी पण्डितसे पूछा जाये कि आप कहाँ निवास करते हैं तो पण्डित उत्तर दे सकता है कि '*अधि-अयोध्याम्*'— हम अयोध्यामें निवास करते हैं। वह काशीका रहनेवाला होगा तो बोलेगा कि अधिकाशि। 'में' के अर्थमें ही '*अधि*' शब्द जुड़ता है! यहाँ आत्माका अर्थ है शरीर इस शरीरमें क्या है? बोले कि शरीरमें स्वभाव है—

'*स्वस्य भाव: स्वरूपो भाव: स्वभाव:*'। स्वरूपका जो भाव है इस शरीरमें, यही अध्यात्म है। यह हमारी हड्डी है, यह हमारी मनुष्य जाति है—यह स्वभाव है। माननेका नाम स्वभाव है। हड्डी अध्यात्म नहीं है; हड्डीको मेरा मानना—यह अध्यात्म है। यह मैं मनुष्य हूँ, यह मेरी बुद्धि है, यह मेरा विचार है। अरे, ऐसे-ऐसे विचार आसमानमें न जाने कितने उड़ते रहे हैं! इसलिए तुम अपने विचारका अभिमान मत करो। '**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**।'

फिर स्व माने यह मैं हूँ। आत्मा, आत्मीय, जाति, और धन—ये '*स्व*' शब्दके चार अर्थ होते हैं और इस शरीरके भीतर इन चारों प्रकारके जो भाव हैं, ये इस प्रकार होते हैं—ये हड्डी-मांसादि मेरे हैं, इसकी आकृति ग्रहणा जाति मेरी है, इसमें मति—विचार आदि मेरे हैं और यह मैं हूँ। देहमें '*मैं*' भाव कभी नहीं होता। कौन कहता है कि मैं हड्डी-माँस-चामका पुतला हूँ? वह तो बोलता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, क्या समझते हो! वे अपनेको शरीर भी नहीं समझते हैं, शरीरमें आरोपित ब्राह्मण समझते हैं। इसी तरह संन्यासी भी कहता है कि मैं संन्यासी हूँ। भलेमानुष, जब तुम पैदा हुए थे, तब चोटी-जनेऊ नहीं था और इस दृष्टिसे तुम संन्यासी ही थे और जब मरोगे तब भी चोटी-जनेऊ पहले जल जायेंगे तो संन्यासी होकर ही जलना पड़ेगा। यह सब अध्यारोप तो बीचमें ही आया है। ब्राह्मणत्व, संन्यासित्व आदि--ये सब अध्यारोप ही हैं। ये सब शास्त्रीय अध्यारोप हैं और हिन्दुत्व आदि अशास्त्रीय आरोप हैं। जो हिन्दुत्व इस्लाम धर्मको नीचा दिखानेके लिए हो, इसाई धर्मको काटनेके लिए हो तो वह शास्त्रीय नहीं है, साधन नहीं है। परन्तु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदिमें जो भेद-बुद्धि हो गयी हे, उसके निवारणके लिए जो हिन्दुत्व हो तो वह सर आँखोंपर है। छोटे अध्यारोपके निवारणके लिए बड़े अध्यारोपको हम स्वीकार करते हैं।

तो, कर्म क्या है? करनेका नाम कर्म नहीं, विसर्गका नाम कर्म है—'**भूतभावोद्भवकरो विसर्ग: कर्मसंज्ञित:**।' विसर्ग शब्दका अर्थ होता है विसर्जन, त्याग। संस्कृतमें सृजन या विसृजन शब्द नहीं चलते, सर्जन चलता है—'*सर्जनम् सर्ग:, विसर्जनम् विसर्ग:*' विसर्जनका, विसर्गका अर्थ क्या है? आप अनजानमें जो-जो चीज अपनाते गये हैं, उनसे पिण्ड छुड़ानेकी प्रक्रियाका नाम विसर्ग है,

विसर्जन है। विसर्ग अपवाद प्रधान ही होता है। यदि अपवादार्थको ही अध्यारोप करना पड़े तो उसका नाम भी विसर्ग ही होगा।

अब हम आपको इसका खुलासा सुनाते हैं। ये जो भूत हैं, प्राणी हैं;क्या हैं? भूतभाव माने शुद्ध भाव भी होता है, ब्रह्म भी होता है—यथा भूतब्रह्म। जो स्वतः सिद्ध हो, वह भूत है। भूतार्थ-सम्बन्धी ज्ञानका निरूपण भाष्यादिमें आता है, परन्तु इस बातको एक बार हम छोड़ देते हैं। ऐसे समझो कि प्राणियोंके भीतर बड़े-बड़े उत्तम भाव छिपे हुए हैं परन्तु—**'सर्गे मोहं यान्ति परन्तप।'** सर्गमें मोह हो जानेसे वे सब-के-सब आच्छादित हो गये। जब आप विसर्ग करेंगे, माने सर्ग-मोहका ज्यों-ज्यों परित्याग करेंगे, त्यों-त्यों आपके अन्दर नवीन-नवीन भावोंका, उत्तम-उत्तम भावोंका, उद्भव होगा। इसलिए आप **'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः'**—जितना-जितना छोड़ेंगे, *'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं आत्मात्युक्तं परं पदम्'*। सुरेश्वराचार्य भगवान् कहते हैं कि जितना-जितना त्याग करोगे, उतनी-उतनी ही आत्मा-परमात्माकी उपलब्धि होगी। क्योंकि *'आत्मायुक्तम् परं पदम्'*। यह जो अपवाद करनेवाला है, अशेष-विशेष जो आत्मा है, वही परमात्मा है। इसलिए परमात्माके निकट पहुँचनेवाला, भक्ति देनेवाला, धर्म देनेवाला, योग देनेवाला, तत्त्वज्ञान देनेवाला जो भूत है; भूतभाव, धर्मभाव, भक्तिभाव, योगभाव, ज्ञानभावका उद्भव करनेवाला जो विसर्ग है, उसीका नाम कर्म है।

अब यह बात है भाई कि यदि कोई टीका-टिप्पणी करके आपने अपने मनमें दूसरा अर्थ बैठा लिया हो, तो मैं जो सुना रहा हूँ, यह नहीं बैठेगा, क्योंकि—

भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाय।

अगर तुम्हारे दिलमें पहलेसे कुछ भरा होगा तो यह बात बैठेगी नहीं। लेकिन अगर पहलेसे कोई पूर्वाग्रह नहीं होगा, तब आप देखना कि यह विसर्ग कैसे बैठता है कि इसका नाम कर्म है! कर्म क्या है? जो हमारे हृदयमें वास्तविकताकी ओर ले जानेवाले उत्तम भाव हैं, सिद्ध भाव हैं, उनकी उद्भूति जिससे हो, वे जिससे पैदा हों—वह कर्म है। विसर्गके हाथ होते हैं, क्योंकि कर्म बिना 'कर'के नहीं होता। *'क्रियते इति कर्म'*—जो किया जाये, वह कर्म है और *'क्रियते अनेन'*—जिससे किया जाये, वह 'कर' है। जब विसर्गको कर्म कहते है, तब यह किया जायेगा, बनाया जायेगा; इसका निर्माण किया जायेगा; यह साधन होगा। असलमें साधन वह है, जो तुम्हारे ऊपर बैठी हुई मैलका विसर्जन कर दे और उसके बाद जो तुम्हारी सच्ची चमक है, ज्ञान है, आनन्द है, सत् है—वह प्रकट हो जाये।

'विसर्गः कर्मसंज्ञितः'—असली कर्म क्या है? असलमें मल-प्रक्षालन ही कर्म है। दानरूप हविष्य, देवोद्देश्यक हविष्यान्न कर्म है, विसर्ग है। यह जो जिन्दगी

भरकी कमाईको इकट्ठा करके रखा है और इसमें मेरा-मेरा-मेरा कर रहे हो, इसको जरा छोड़ो भाई; देवभावका उदय होने दो! होमका नाम भी विसर्ग है। यज्ञका नाम भी विसर्ग है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ (४)

अधिभूत क्या है? अधिभूत माने जो प्राणी-जातिको दृष्टिमें रखकर पैदा होता है—'**अधिभूतं क्षरो भावः।**' क्षरभावका अर्थ है *'क्षरतीति क्षरो विनाशी भावः।'* जो भी वस्तु पैदा होती है, वह मरती है—*'फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।' यद् जन्यं तद् अनित्यम्, यत्कृतकं तद् अनित्यम्, यद् दृष्टं तन्नष्टम्।* प्राणियोंके सामने आने-जानेवाली जो भी चीजें हैं, जो भी क्षरभाव हैं, क्षर पदार्थ हैं:उनका नाम अधिभूत है। ये प्राणियोंके सामने पैदा होते और चले जाते हैं; जाते हैं और आते हैं। इन्हींका नाम अधिभूत है।

'**पुरुषश्चाधिदैवतम्**'—देवता बहुत हैं। एक ही मन्त्रमें अनेक देवताओंके नाम हैं—*'अग्निर्देवता, वातो देवता'*। इसलिए देवता तो अगणित हैं। फिर यह पुरुष कौन है? आओ, इसपर विचार करें। हम लोग कभी-कभी ब्रह्मा-विष्णु-महेशको भी देवताओंकी कोटिमें ले आते हैं। तो जब एक-एक ब्रह्माण्डमें अलग-अलग ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं, तब कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिसके संकल्पमें हैं—वह हिरण्यगर्भ ही पुरुष होगा। अतः यहाँ पुरुष शब्दका अर्थ है प्रथम पुरुष, आदि-पुरुष। ईश्वर पुरुष नहीं है, क्योंकि उसमें पुरुषाकृति नहीं है। प्राज्ञ पुरुष नहीं है,क्योंकि उसमें भी पुरुषाकृति नहीं है। इसलिए हिरण्यगर्भ पुरुष है। वह पुरुषाकृति है और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंको अपने आकारमें धारण करके अभिव्यक्त है। सूक्ष्म अभिव्यक्तिका स्थान हिरण्यगर्भ है, अव्यक्तिका स्थान ईश्वर है और स्थूल व्यक्तिका स्थान विराट् है—*'विविधं राजते इति विराट्।'*

तो '**पुरुषश्चाधिदैवतम्**'का अर्थ है सूर्य देवता, चन्द्रमा देवता, वरुण देवता और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें कोटि-कोटि ब्रह्मा, कोटि-कोटि विष्णु, कोटि-कोटि रुद्र। ये सब कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिसके एक-एक रोमकूपमें निवास करते हैं, वह हिरण्यगर्भ पुरुष अधिदैवत है। उसीके बारेमें कहा गया है कि—

विधि हरि संभु नचावनहारे। तेऊ न जानहिं मरम तुम्हारे॥

जिसके रोम-रोममें ब्रह्माण्ड है और एक-एक ब्रह्माण्डमें एक-एक ब्रह्मा, विष्णु और एक-एक रुद्र हैं। इस प्रकार कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिसके एक-एक रोमकूपमें हैं, उसी हिरण्यगर्भको देखो। वही हिरण्यगर्भ पुरुष है।

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, तुम देहधारियोंमें श्रेष्ठ हो। और मैं स्वयं विष्णु-रूप हूँ;लेकिन कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें अलग-अलग रहनेवाला विष्णु नहीं। मैं तो वह विष्णु हूँ जिसका अर्थ है *'वेवेष्टि विश्वम् इति विष्णुः।'* देखो, विष्णु *विश्* धातुसे नहीं बनता है, क्योंकि इसमें तालव्य शकारसे मूर्धन्य षकार बनानेकी कोई प्रक्रिया नहीं निकलती। इसलिए *'विष् लृ व्याप्तौ'* से विष्णु शब्द बनता है। तो मैं अधियज्ञ हूँ—माने बिना किसी स्वार्थके, बिना किसी वासनाके, बिना किसी प्रयोजनके, अपने साथ बिना कुछ चिपकानेकी इच्छाके, मैं इस यज्ञ-सृष्टिका संचालन कर रहा हूँ—सूर्यको प्रकाश दे रहा हूँ, अग्निको तेज दे रहा हूँ।

'वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च' (गीता) **सदसत् तत् परं यत्**। यह तुम्हीं हो।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ (१३.२२)

तो पुरुष हिरण्यगर्भ और अधियज्ञ है। पुरुष और अधियज्ञमें अन्तर क्या है? पुरुष वासनानुरूप सृष्टिका आधार है और अधियज्ञ स्वयं कल्पानुकूल सृष्टिका आधार है तथा निस्संकल्प है। स्वयं निस्संकल्प है और निखिल सृष्टिका आधार है और परब्रह्म परमात्मामें संकल्प सृष्टिकी प्राप्ति नहीं है। वह तो अधिष्ठान है।

'देहभृतां वर'—का अर्थ है कि जितने भी देहधारी हैं, उनमें हे अर्जुन, तुम पुरुर्षभ हो। भगवान् कहीं भरतर्षभ बोलते हैं तो कहीं पुरुषर्षभ बोलते हैं। अपने शिष्यको हर समय डाँटते ही नहीं रहना चाहिए—तुम बेवकूफ हो, तुम बेवकूफ हो! नहीं तो वह सचमुच बेवकूफ हो जायेगा। एक महापुरुष थे जो अपने चेलेको भी पुकारते, कहते ओ पागल! तो वह सचमुच ही पागल हो गया। लेकिन भरतर्षभ बोलो, पुरुषर्षभ बोलो, 'देहभृतां वर' बोलो, चेला तो अपनेको छोटा समझता ही है; अगर तुमने भी उसको छोटा समझा दिया तो वह सचमुच छोटा हो जायेगा। इसलिए तुम उसको बड़ा समझाओ और कहो कि तुम ब्रह्म हो! गुरुका गुरुत्व इसीमें है कि वह छोटेको बढ़ा दे। उसको जिन्दगी भर बेवकूफ बनाकर रखना गुरुत्व नहीं है।

इस विषयमें श्रीकृष्ण भगवान् बड़े चतुर हैं। वे समझते हैं कि चेलेको फँसाये रखना चाहिए। उसकी तारीफ करेंगे कि तुम बहुत अच्छे हो तो हमारी बातको समझनेकी कोशिश करेगा। नहीं तो *'सभामध्ये मानभङ्गात् बुद्धिभ्रंशो भवेद् ध्रुवम्'*। प्रजापतिने विरोचनको बिलकुल नहीं कहा तू अज्ञानी है! उन्होंने कहा कि यदि भरी सभामें कह देंगे कि हे इन्द्र! हे विरोचन! तुमको ज्ञान नहीं हुआ तो इनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी। सभामें चेलेका भी अपमान नहीं करना चाहिए, नहीं तो वह

अकेलेमें कहेगा कि महाराज, आपने जो कहा, सो तो ठीक है, लेकिन आपने भरी सभामें कहा—यह अच्छा नहीं किया।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ (५)

अन्तकाले—पहले जब उर्दूमें लिखा-पढ़ी होती थी तब उसमें 'इन्तकाल' लिखते थे। उसका अर्थ है अन्तिमरूप, अन्तिम लिखा-पढ़ी। यहाँ अन्तकालका अर्थ भी अन्तिम लिखा-पढ़ी है। अन्तकाल ही है यह। मैंने श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे एक दिलचस्प बात सुनी थी। एक आदमी फोटो खिंचवानेके लिए गया तो खूब दाढ़ी-मूँछ मुँड़वाकर, खूब चिकना-चुपड़ा बनकर पहुँचा, जब फोटोग्राफरने कहा कि 'रेडी', तब फोटो खिंचवानेवालेके मुँहपर, ऊपरी होंठ पर एक मक्खी आकर बैठ गयी और उसने अपना जो होंठ बिचकाया, तो उसीका फोटो खिंच गया।

तो, यही अन्तकालका मतलब है! इसीका नाम अन्तकाल है। मूँछ-दाढ़ी बनवायी, स्नान किया, सुन्दर कपड़े पहने—लेकिन जब फोटो खिंचवानेका मौका आया तो मुँह बिचक गया। इसलिए भाई, **'अन्तकाले च मामेव स्मरन्'**—अन्तकाल बिगड़ने न पावे। यह तत्त्वज्ञानकी बात नहीं है, **'मामेव स्मरन्'** स्मरन्‌की बात है। भगवान्‌के स्मरणमें डूब जाओ और कब यह शरीर गिर गया, इसका ख्याल मत करो। भगवान्‌की स्मृतिमें अपनेको डुबो दो और शरीरका परित्याग हो जाने दो!

'स यः प्रयाति, स मद्भावं याति'—जो मेरा स्मरण करता हुआ शरीर-त्याग करके प्रयाण करेगा, वह भगवद्भावको प्राप्त हो जायेगा। भगवान् बोले कि हे अर्जुन, मेरे इस कथनमें तुम्हें कोई संशय है क्या? अगर हो तो उसको निकालकर फेंक दो! **'नास्त्यत्र संशयः'**—इसमें कोई संशय नहीं है। संशय तो सोनेवालेको होता है, जागनेवालेको कभी कोई संशय नहीं होता। यह *शीङ् स्वपने* धातुसे ही संशय शब्द बनता है—*'सम्यक् शयनम्'*। संशय किसको है? उसको है जो परमार्थकी ओरसे बिलकुल शयान है, सो रहा है। उसे मालूम नहीं है कि परमार्थ क्या है? तभी संशय होता है, जब मनमें दुविधा होती है कि यह ठीक है कि वह ठीक है! बाबा जी लोग इस बातको जानते हैं। बोले किधर चलें? चाहे जिधर चलो। अरे, चाहे जिधर क्यों चलें? इसलिए चलें कि जहाँ जायेंगे, वहीं परमात्मा है। जहाँ जायेंगे वहीं रोटी है। जहाँ जायेंगे, वहीं सोनेके लिए धरती है। इसलिए किधर जायँ—यह सवाल ही कहाँ है? संशय तो उनको होगा, जिन्हें डर होगा कि

इधर ईश्वर नहीं मिलेगा, रोटी नहीं मिलेगी। ठंड लगनेपर कम्बल नहीं मिलेगा। जिसको ऐसा डर हो, उसे संशय होगा कि इधर जायें कि उधर जायें। 'उभयकोट्यवगाहिनी वृत्ति' अर्थात् इस किनारे लगें कि उस किनारे लगें! जिस मूर्खको यही पता नहीं है कि उसका गाँव किधर है, उसीको संशय होता है। लेकिन इसमें कोई संशय नहीं है; और यह बात केवल भगवद्-विषयक नहीं है बल्कि सर्वविषयक है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ (६)
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ (७)

म्रियमाणके अन्तकी जो गति है—*'अन्ते या मतिः सा गतिः'*—यह बात करके भगवान् कहते हैं कि बाबा, पता नहीं अन्तकाल कब आजायेगा! जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ मनुष्य अन्तमें शरीरका परित्याग करता है, उसी-उसी भावको प्राप्त हो जाता है। क्योंकि अन्तमें प्रयत्न-साध्य भावका उदय नहीं होता है। अभ्याससिद्ध जो भाव होता है, उसीका उदय अन्तकालमें होता है। प्रयत्न करनेका जो सामर्थ्य है, वह मृत्युकालमें नहीं होता। जीभकी पकड़, हाथकी पकड़, पाँवकी पकड़, मनकी पकड़—ये सब अन्तकालमें छूट जाते हैं। इसलिए यदि कहो कि हम उसी समय जो चाहेंगे वह कर लेंगे, तो यह कोई समझदारीकी बात नहीं होगी। उस समय तो उसीकी याद आयेगी, जिसका आजीवन अभ्यास रखोगे। इसलिए **'सदा तद्भावभावितः'**—सदा तद्भाव-भावित होकर रहो।

एक सेठ था। वह मरने लगा तो गीताका पाठ करवाया गया, भगवान्के नामका कीर्तन हुआ और लाख-दो-लाख रुपये उसके हाथसे छुआये गये। फिर सत्संगी लोग जाकर उसके कानमें पूछें कि भगवान्का दर्शन हो रहा है? सेठने कहा कि हमें तो कपड़ेकी गाँठें-ही-गाँठें दिखायी पड़ रही हैं। ऐसा इसलिए हुआ कि जिन्दगी भर तो उसने कपड़ेकी गाँठोंकी आढ़त जोड़ी, अब मरनेके समय गीता-पाठ हो रहा है! नामका जप हो रहा है। और लोग कह रहे हैं कि भगवान्को याद करो। वह तो कहता है कि अरे, पप्पूकी मैया कहाँ है? वह गीगा कहाँ गया? 'गीगा' माने बच्चा; बंगालियोंमें 'खोका' होता है। यह मारवाड़ियोंका शब्द है। इसी तरह मरनेके समय लोग काँका, मुन्नीकी याद करने लगते हैं, क्योंकि उन्होंने हमेशा तो उनको पुकारा, उनकी याद की। अब मरनेके समय भगवान् कहाँसे याद आयें? हमारे एक ठाकुर साहब थे। मशहूर आदमी थे। योगपर उन्होंने बीस-

पच्चीस ग्रन्थ लिखे हैं। वे पीकर नशेमें लिखते थे और मांसाहारी थे। लेकिन लिखते बहुत बढ़िया थे। मैंने एक दिन उनसे कोई चर्चा की। बात-बातमें मरनेकी चर्चा चल पड़ी। उन्होंने पूछा कि मरनेके समय क्या होता है ? मैंने कहा कि खाने-पीनेकी जो वासना होती है, उसीको पूर्ण करनेके अनुकूल शरीरकी आकृति बन जाती है। बोले कि अच्छा, कहीं मरनेके समय मेरे मनमें मांस खानेकी वासना आगयी तो क्या होगा पण्डितजी! मैंने कहा कि गीध बनोगे, क्योंकि गीध बननेपर मांस खानेकी आपकी वासना पूरी होगी। खूब मजेसे खाना। बोले—अरे राम-राम! अब आजसे माँस खाना छोड़ता हूँ। लेकिन वे प्रतिज्ञा करके भी सात-आठ दिन ही छोड़ते थे। फिर खाने लगते थे क्योंकि उसीमें उनका मन लगा रहता था।

इसलिए भाई मेरे, इस भरासेमें मत रहना कि हम आखिरमें जो चाहेंगे, वह कर सकेंगे! उस समय तो सारे-के-सारे बन्ध शिथिल पड़ जायेंगे। इसलिए '**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर!** *सर्वेषु गच्छत्सु कालेषु*'—जो क्षण-क्षण छीज रहा है, जो क्षण-क्षण क्षीण हो रहा है—उस छीजनें और क्षीण होनेवाले समस्त कालमें '**मामनुस्मर युध्य च**'—मेरा स्मरण करो और स्वकर्तव्य-पालनकी युक्तिसे मेरा आदेश मानकर मेरी प्रसन्नताके लिए युद्ध करो।

यहाँ प्रश्न उठता है कि युद्धमें-से इतनी बातें कहाँसे निकल आयीं ? पहले तो भगवान्‌ने आत्मनेपदीको परस्मैपदी बना दिया, यही उनका उपकार हो गया! नहीं तो पाणिनि भगवान्‌से पूछने जाते कि *'युध्य'* बनानेमें बड़ी कठिनाई पड़ती है, *'युध्यस्व'* बनाना पड़ता है—'**तस्मात् युध्यस्व भारत**'—इसलिए परस्मैपद बनाकर भगवान्‌ने यह कृपा कर दी कि अपने लिए मत लड़ो बाबा, दूसरोंकी रक्षाके लिए लड़ो। मेरी खुशीके लिए लड़ो—यह अर्थ भी इसमें-से निकलता है, क्योंकि भगवान् कहते हैं कि '**मय्यर्पित-मनोबुद्धिः**'—मन मुझमें अर्पित कर दो। अब मनमें तो प्यार-ही-प्यार होता है और जिससे प्रेम होता है, उसकी प्रसन्नताके लिए लोग काम करते हैं।

तो, '**मय्यर्पितमनाः, युध्य, युध्यस्व**'—अपना सारा प्यार मुझे अर्पित कर दो। अर्जुन बोले कि महाराज, सो तो सब ठीक है। लेकिन पहले विचार ठीक हो, तब न प्यार अर्पित हो! भगवान्‌ने कहा कि विचारके विषयमें मुझपर निर्भर हो जाओ। जब तुम्हारी अकल काम नहीं करती है तो मेरी अकलसे काम करो। मेरे विचारके अनुसार काम करो; प्यार मुझसे करो और परोपकारके लिए, अपने कर्तव्यके लिए युद्ध करो। यदि मेरे लिए युद्ध करोगे, तब मेरी स्मृति भी बनी रहेगी।

भगवान्‌को '**मय्यर्पितमनोबुद्धिः**' वाला व्यक्ति बहुत प्यारा है। यह बात हम आपको बारहवें अध्यायमें सुनायेंगे, जब यह प्रसंग आयेगा कि '**मय्यर्पित-मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।**' लेकिन यहाँ भी भगवान् यह कहते हैं कि भाई, संशय मत करो—'**असंशयः।**'

तब क्या करें महाराज! मेरी बुद्धिमें अपनी बुद्धि मिला दो, मेरे मनमें अपना मन मिला दो और संसारमें जो कर्म कर रहा हूँ, उसमें अपना कर्म मिला दो। तुम्हें मन मिलानेसे 'आनन्द' मिलेगा, बुद्धि मिलानेसे 'चित्' मिलेगा और कर्म मिलानेसे 'सत्' मिल जायेगा। कर्माधिकरण सत् है, बुद्धि—अधिकरण चित् है और मनोधिकरण आनन्द है। इस प्रकार तुम अपने सच्चिदानन्दको मुझ सच्चिदानन्दसे मिला दो और कोई संशय मत करो—'**मामेवैष्यस्यसंशयः।**'

इस प्रसंगको आज प्रातःकाल पूरा करके हम आगे बढ़ना चाहते थे, किन्तु एक सज्जनने कहा कि '**अनुस्मर**' पर थोड़ा-सा और प्रकाश डालकर फिर आगे प्रारम्भ करना। इसलिए आओ, थोड़ा और इसपर विचार करें!

असलमें जिसका अनुभव नहीं होता है, उसकी स्मृति भी नहीं होती है। स्मृति अनुभव-पूर्वक ही होती है—यह नियम है, भले वह अनुभव यथार्थ हो या अयथार्थ हो। अयथार्थ अनुभवकी भी स्मृति होती है और यथार्थ अनुभवकी भी स्मृति होती है—पर अनुभव जरूर चाहिए। यदि ईश्वर-विषयक यथार्थ अनुभव हो, तब तो आवरण-भंग होनेपर स्मृतिकी जरूरत रहती ही नहीं है, क्योंकि जो नित्य अपरोक्ष वस्तु सब कालमें विद्यमान हो तो एक ही वस्तुका अनुभव और स्मरण नहीं रह सकता क्योंकि जिस चीजका अनुभव हो रहा है, वह क्या भूतकी है कि स्मरण करें? इसलिए साक्षात् अपरोक्ष परमात्माका अनुभव हो जानेके बाद स्मृतिकी अपेक्षा नहीं रहती है। वह ते सदा अनुभवस्वरूप है। सदा विभात है, सदा स्वप्रकाश है, अपना आत्मा ही है। स्मृति तो बीते हुए-की, मरे हुए-की, बिछुड़े हुए-की, परदेश गये हुए-की, परोक्षकी होती है। अपनी स्मृति क्या है? कभी-कभी तो ऐसा हो जाता है कि जिसका बहुत अभ्यास किया है, उसकी भी विस्मृति हो जाती है। यदि परमेश्वर हुआ तो वह अपनी स्मृति स्वयं दे देता है या हमारी ओरसे कृपा करके स्मृति करा लेता है। '**यं यं वापि स्मरन्भावं**'—में जो '**वा**' लगा है, वह कहता है कि *'यं यं भावं स्मरन् अपि अस्मरन् अपि'*। यहाँ *'वा'* शब्द स्मरणमें विकल्प उपस्थित कर देता है—*'यं यं भावं स्मरन् अपि वा अस्मरन्।'*

'**त्यजत्यन्ते कलेवरम्**'—कलेवरका परित्याग कर देता है और '**तं तमेवैति कौन्तेय**'—उसीको प्राप्त होता है। *'सदा तद्भावभावितः सदा असद्भावभावितो*

वा'। यहाँ एक मजेदार बात आपको सुनाते हैं। '**सदा तद्भावभावित:**' का अर्थ है कि उसीकी भावना करते-करते भावित हो गये हैं। जिसका हम भजन करते हैं, वह हमारे भजनके प्रभावसे इतना भावित हो जाता है कि वही माला लेकर हमारा नाम जपने लगता है, वही हमारा स्मरण करने लगता है, वही हमसे प्रेम करने लगता है। प्रेम करना माने प्रेमी बनाना। जब भक्त लोग जिन्दगी भर खूब प्रेम करते हैं और अन्तमें भगवान् देखता है कि बेचारेका हाथ नहीं उठता है, माला नहीं पकड़ता है, जीभ नहीं हिलती है, तब '**तद्भावभावित:**'—ईश्वर उसकी भावना करता है कि इस भक्तने हमारी भक्ति की है, अब यह हमारे पास आजाये—तो वह ईश्वरके पास पहुँच जाता है, चाहे वह व्यक्ति स्मरण करे, चाहे न करे। अनुभवी पुरुषके लिए तो यह कहा गया है कि—

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्त: कैवल्यं याति हतशोक:॥ (परमार्थसार)

इसका अर्थ है कि तत्त्वज्ञानीको कुछ भी स्मरण-विस्मरण करनेकी जरूरत नहीं रहती है। भले ही वह श्वपचके घरमें शरीर छोड़े या काशीमें—'*तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽपि वा। ज्ञान-सम्प्राप्ति-समये मुक्तोऽसौ विगतज्वर:*'—ज्ञान प्राप्त हुआ तो वह मुक्त हो गया।

यह 'अनुस्मर' क्या है? '**अनुस्मर**'का अर्थ यह है कि हे भावुको, हे भक्तो, हे जीवो, बड़े प्रेमसे भगवान् तुम्हारी याद कर रहा है और वह कहता है कि अपना घर-द्वार छोड़कर, परिजन-परिवार छोड़कर, यह चोला छोड़कर, यह हड्डी-माँसका पुतला-पिंजरा छोड़कर तुम हमारे पास आजाओ। इस प्रकार भगवान् तुम्हारा स्मरण कर रहा है। '*तत् स्मरणम् अनु त्वं स्मर*'—वह तुम्हें याद कर रहा है। तुम भी उसे याद करो। वह तुमसे मिलनेके लिए हाथ फैलाये खड़ा है और कहता है कि आओ मेरे प्यारे, आओ मेरे प्यारे, आओ! हम तुम्हें अपने हृदयसे लगा लें। अनुस्मर! इसमें तुमलोग संशय मत करो—'*सर्वेषु कालेषु असंशय: स माम् अनुस्मर, असंशय: सन् युध्यस्व*' और '*असंशय: माम् एव एष्यसि।*' **असंशय:** अर्जुनका विशेषण है—'*नास्ति संशयो यस्य असौ असंशय:*'। यह क्रिया-विशेषण होता तो '*असंशयम्*' होता, '*असंशय:*' नहीं होता। भगवान् अर्जुनसे ही कहते हैं कि तुम छोड़ दो संशय, मैं करूँगा तुम्हारी याद। तुम तो हमारी आज्ञा मानो और हमको भूलकर लड़ो अथवा हमें याद करके लड़ो अथवा हमें याद करके सीना तान दो, लड़ो। बस, यह ध्यान रखो कि मैं तुम्हारी याद रखूँगा। मैं अपनी गोदमें-से तुम्हें नहीं उतारूँगा।

देखो, सारथि मिले तो ऐसा मिले! हम अपने प्यारेको याद नहीं करते, पर वह हमें याद करता है। हम उसे अपनी गोदमें नहीं बैठाते, पर वह हमें अपनी गोदमें हमेशा रखता है। क्या अधिष्ठान छोड़कर हमारा यह जीवन दूसरेकी गोदमें बैठ सकता है? हमारा यह छोटा-सा जीवन उसीकी गोदमें बैठता है। हम उसे नहीं देखते हैं, पर वह हमारे जीवनको देख रहा है। हम उसीकी साँसमें साँस लेते हैं, उसीकी सत्तामें जीते हैं, उसीके ज्ञानसे प्रकाशित होते हैं और उसीके आनन्दमें आनन्दित होते हैं। अरे बाबा, जरा एक बार उसके प्यारकी ओर तो देखो!

'**अनुस्मर**'का अर्थ है—'स्मरणम् अनुस्मरः।' उसकी याद तुम्हारे ऊपर बरस रही है। जैसे तुम्हें वह अपनी गोदमें रखता है, वैसे ही तुम भी तो जरा एक बार उसे अपनी गोदमें लो! जैसे वह देखता है, वैसे ही तुम भी तो उसको देखो! जैसे वह तुम्हें जीवन देता है, साँस देता है, ज्ञान देता है, आनन्द देता है—वैसे ही तुम भी तो अपना जीवन अपनी साँस, अपना ज्ञान, अपना आनन्द एक बार उसको दे दो।

'**मामनुस्मर युध्य च**'—यह भक्तिरस हो गया। वैष्णव धर्ममें इसे 'अनुस्मृति' कहते हैं। श्रीरामानुज-समप्रदायमें 'अनुस्मृति' नामकी एक छोटी-सी पुस्तिका ही है। वैष्णव लोग उसका पाठ करते हैं। उसका अर्थ यह है कि भगवान् हमारी ओर देख रहे हैं। आओ, इतनी देरसे वे देख रहे हैं तो हम थोड़ी देर भी उनकों न देखें! वे हमारी याद कर रहे हैं कि इस चेतनका उद्धार हो जाये, तो हम जरा देर भी उनकी ओर न देखें। तो 'अनुस्मर'का अर्थ होता है **अनुस्मर और युध्य च**। इसमें '**अनुस्मर**' मुख्य है और '**युध्यस्व**' गौण है। यह आत्मने पद भी अनित्य ही है, नित्य नहीं है; क्योंकि अनुदात्त धातुका जो आत्मनेपद है वह अनित्य होनेसे '**युध्य**' भी होता है। तो यह परस्मैपद '**युध्य**' भी ठीक है और आत्मनेपद '**युध्यस्व**' भी ठीक है। अब आगे बढ़ें।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ (१०)

अब देखो, जो लोग परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए नीचेसे ऊपरकी ओर जाते हैं, उन लोगोंको भी भगवान्ने गीतामें समन्वित कर लिया। '**अभ्यासयोगेन युक्तेन**'का अर्थ है कि मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर आदि योगसाधनोंसे जो लोग युक्त हैं।

कोई-कोई तो मणिपूरसे ही योगाभ्यास शुरू करते हैं। जो तान्त्रिक योगी हैं, हठयोगी हैं, नाथी, गोरखपन्थी हैं—वे मूलाधारसे शुरू करते हैं। कीनारामी मणिपूरसे शुरू करते हैं। कोई-कोई अनाहतसे शुरू करते हैं। ये सब नाम मैं इसलिए सुना रहा हूँ कि मैंने बचपनमें एक पुस्तक पढ़ी थी। उसमें वर्णित एक सौ आठ पन्थोंमें कैसे-कैसे साधना की जाती है, उनका साध्य क्या है और किस प्रक्रियासे उनको अपने लक्ष्यकी प्राप्ति होती है—यह मैंने रट लिया था। जैसे विद्यार्थी लोग लघुकौमुदी रटा करते हैं न, वैसे ही मैंने रटा था। राधास्वामी मतमें, कबीर तो हृदयसे उठाकर ऊपर ले जाते हैं, किन्तु स्वयं राधास्वामीवाले हृदयसे नहीं उठाते, वे आज्ञाचक्रसे ही ऊपर उठाकर ले जाते हैं। कोई सहस्रारतक ही पहुँचाते हैं, कोई चन्द्रलोकतक ही पहुँचाते हैं, कोई भँवरगुफातक पहुँचाते हैं और कोई अगम लोक-अलख लोकतक पहुँचाते हैं। शैवोंमें ऊपर समना, उन्मनाका भेद करके बारह मूल कन्धसे लेकर उन्मनावस्थातक बारह अवस्थाएँ बतायी गयी हैं। इस सबका तात्पर्य यही है कि जैसा अभ्यास करोगे, वैसा हो जायेगा। कोई भी अभ्यास दुहराते-दुहराते, बिलकुल वैसा ही दीखने लगता है, बिलकुल वैसा ही अनुभव होता है। मनमें इतनी शक्ति है कि यह दूसरी दुनिया बना ले! अब '**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना**'— इसके अनुसार चित्त कहीं और जाने न पावे—तब क्या होगा? परम पुरुषकी प्राप्ति होगी। सत्यलोकमें परम पुरुष मिलेगा-ऐसा कबीर कहते हैं। *'धुरधाममें कुल्लये मालिक राधास्वामी दयाल मिलेंगे'*—ऐसा राधास्वामीवाले मानते हैं। इस प्रकार पन्थायियोंकी सब बातें अलग-अलग होती हैं। यहाँ जो परम पुरुष है, उसका अर्थ है कि पुरुषाकार परमात्माकी प्राप्ति होती है। वे कैसे हैं? दिव्य हैं! एक पिण्डदेशमें मिलते हैं, एक ब्रह्माण्डमें मिलते हैं, एक मायादेशमें मिलते हैं और एक विशुद्ध चैतन्य देशमें मिलते हैं। ये चार विभाग वे करते हैं। पिण्ड देश विश्वका है, ब्रह्माण्ड देश तैजसका है। मायादेश प्राज्ञका है और विशुद्ध चैतन्य देश तुरीयका है। उन लोगोंने भी ब्रह्मज्ञानकी दिशामें अपनी-अपनी रुचिसे स्त्रियोंको, बच्चोंको, अज्ञानियोंको, अनपढ़ोंको और जिनका शास्त्र-संस्कार नहीं है उनको अनधिकारी माना है। वे लोग वेदान्तको भले ही गाली दे लें लेकिन *'नदिया एक घाट बहुतेरे'*—अन्तमें वहीं पहुँचते हैं।

'**परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्**'—यहाँ जो अनुचिन्तन है, उसका अर्थ है—गुरुके बताये हुए चिन्तनका अनुचिन्तन। यह बात केवल शास्त्रसे नहीं मिलती है, गुरु, आगमसे ही मिलती है। आपको एक श्लोक सुनाते हैं; ऐसा मत समझना कि वह हमारा है; नहीं, बहुत पुराना श्लोक है। उसकी जिम्मेवारी हमारे ऊपर मत डालना।

वेदशास्त्र-पुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुल-वधूरिव॥

अर्थात् वेद-पुराण-शास्त्र तो सबके लिए खुले हैं, उनमें हजार आते हैं, हजार जाते हैं। सामान्य गणिकाकी तरह उनको तो सब देखते हैं। परन्तु यह जो शाम्भवी मुद्रा है, वह कुलवधूके समान गुप्त है। जबतक बाप अपनी बेटीका कन्यादान नहीं करेगा और सद्गुरु अपने चेलेको जबतक जमाई नहीं बनायेगा, तबतक यह विद्या नहीं मिलेगी।

तो परमात्मा कैसा है? दिव्य पुरुष कैसा है? वह बड़ा भारी **कवि** है; एकान्तमें मिलोगे तो तुम्हें कविता सुनायेगा। वह क्रान्तदर्शी है। **पुराणम्**—कौन पसंद करेगा पुराण? नहीं, नहीं वह सबका जीवनदाता है, अनादि है, **अनुशासिता** है, बड़ा ऐश्वर्यशाली है, **अणोरणीयान्**-बहुत सूक्ष्म है और सबका **धाता** है। उसका रूप **अचिन्त्य** है। बोले कि कहीं वेद-विरुद्ध तो नहीं बोल रहे हो? नहीं बाबा, '**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**'—वेदका मन्त्र ही बोल देते हैं—'*तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय*' इसमें '*आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्*'—श्रुतिवर्ण ही है। वह सूर्यकी तरह चमाचम चमकता है और अन्धकारसे परे है।

'**प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव**'—अचल मनसे, भक्तिसे युक्त होकर, योगबलसे अपने प्राणोंको भौहोंके मध्यमें ले जाओ और मृत्युके समय उसका चिन्तन करो तो '**तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**'—उस दिव्य पुरुषकी उपलब्धि होगी। '*दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः;*'—आप जानते हैं कि यह उपनिषद्में है—वह पुरुष दिव्य है, अमूर्त है। '*अक्षरात् परतः परः*'—वह अक्षर ब्रह्मसे भी परे है। कहते हैं कि वह '*परतः अक्षरात् परः*'—प्रकृतिसे परे जो अक्षर है, उससे भी वह परे है। तुम्हारे ब्रह्मसे भी परे है, लेकिन आगे जो बात कही हुई है, वह देखो '*अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः*'—उसमें क्रियाशक्ति नहीं है और 'शुभ्र'—माने मायाशक्ति भी नहीं है। शुभ्र माने निर्माय है। लेकिन ऐसा दिव्य पुरुष है तो प्रत्यक्चैतन्याभेद हुए बिना निकलेगा कहाँसे? इसलिए वे भी अन्तमें ब्रह्मज्ञानतक ही पहुँचते हैं।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ (११)

'*संग्रहेण ब्रवीमि*'—यह उपनिषद्का है न! हमारे गुरुजी महाराज कहते थे कि यह अशुद्ध नहीं है। ऋषिलोग दिन-रात वेद पढ़ते रहते थे। उनके मनमें वेदोंके प्रयोगका ऐसा अभ्यास बैठ गया था कि लौकिक व्याकरणका तिरस्कार करके भी

वे वैदिक व्याकरणके अनुसार बोलते थे। उसीका प्रभाव है कि हमारे सामने 'प्रवक्ष्ये' लिखा हुआ होनेपर भी हम 'ब्रवीमि' बोल गये हैं। यह उपनिषद्का ही संस्कार है, क्योंकि उपनिषद्में 'ब्रवीमि' है।

तो '**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति**'—वेदवेत्ता महापुरुष उदात्त-अनुदात्त स्वरसे उच्चारण करके जिस अक्षरका वर्णन करते हैं, वे चाहे ब्रह्मचारी हों, गृहस्थ हों, वानप्रस्थ हों—तीनों अवस्थाओंमें बोलते हैं। और '**विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः**'—देखो भाई, वीतराग संन्यासी हो तो वह '**वदन्ति**' नहीं रहता है, वह '**विशन्ति**' हो जाता है। दोनोंका फर्क बिलकुल साफ है। वेदवेत्ता लोग तो केवल वाणीके द्वारा उस अक्षरका वर्णन करते हैं, नक्शा बताते हैं कि वह ऐसा है, वैसा है; पर वीतराग यति नक्शेके आधारपर काम नहीं करता, वह तो बेरोक-टोक घुस जाता है। यह संन्यासीका वर्णन है। आज कोई हमसे कह रहा था कि गीतामें संन्यासीका वर्णन नहीं है। अरे हमें तो सब जगह दिखता है भाई! बल्कि अर्जुन गृहस्थ रहते हुए भी संन्यासी सरीखा बन जाये—यह भगवान्के उपदेशका सार ही है। वहाँ *'न्यासो मूर्धनि संस्थितः'*—यदि संन्यास सिरपर सवार न होता तो बारम्बार '**स संन्यासी च योगी**' '**ज्ञेयः स नित्य संन्यासी**' आदि क्यों कहते?

'**विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः**'—यति माने श्रवण-मननादिके द्वारा प्रयत्नशील। बोले कि भाई, सो तो ठीक है, परन्तु यदि अन्तःकरण शुद्ध न हो तो यति लोगोंको भी कठिनाई पड़ती है। इसलिए पहले वीतराग माने शुद्धान्तःकरण होना आवश्यक है। '**वीतराग**' शब्दका अर्थ यहाँ है अन्तःकरणके समग्र दोषोंका राहित्य। यदि कहो कि कोई-कोई तो जन्मसे ही ब्रह्मचारी रहते हैं—उन्होंने न ब्रह्मचर्याश्रम ग्रहण किया, न गृहस्थाश्रम ग्रहण किया और न वानप्रस्थाश्रम ग्रहण किया, तो उनका क्या होगा—तो बोले कि हाँ-हाँ, उनको भी भगवान् मिलते हैं। '**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**'—जिन्होंने आश्रम-क्रमसे संन्यास ग्रहण नहीं किया, बाल्यावस्थासे ही नैष्ठिक ब्रह्मचर्यको ग्रहण कर लिया है, उन्हें भी परमात्माकी प्राप्ति होती है। '**तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये**'—वही पद, वही परमात्मा, वही परमार्थ उनको भी प्राप्त होता है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ (१२)
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ (१३)

यहाँ योगका संग्रह कर लिया है। भगवान् कहते हैं कि सारे इन्द्रिय-द्वारका संयम करके, मनको हृदयमें निरुद्ध करके, अपने प्राणोंको मूर्धामें चढ़ाकर, योग-

धारणकी आस्था करके—जो एकाक्षर ब्रह्ममें है—ॐ उसका व्याहरण करे और स्मरण करे परमात्माका, ॐकारार्थका। ॐकारका उच्चारण और ॐकारार्थका स्मरण करता हुआ जो शरीरका परित्याग करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है।

अब यहाँ देखो कि ईश्वर-कृपासे भगवान्‌ने जप भी बता दिया, ध्यान भी बता दिया और गति भी बता दी। इसलिए योगी लोगों, आप यह मत समझना कि आपकी कोई प्रक्रिया गीतासे बाहर है। योग-साधनाके सारे ही प्रकार गीताके इस आठवें अध्यायमें आजाते हैं। आप लोग जिस योगके सम्बन्धमें भी कहें, उसका वर्णन गीतामें मिल जायेगा। घेरण्ड आदि संहिताओंमें पूर्ण योग, परिपूर्ण योग, राजयोग, महाराज योग, महाराजाधिराज योग आदि योगोंके भेद बताये गये हैं। आजकल नये-नये योगोंकी चर्चा भी होती है जैसे अनासक्ति योग, निष्कामकर्म योग आदि बहुत सारे योग तो 'योगा' बन गये हैं। बम्बईमें हम जब योगकी बात करते हैं तो उसको 'योगा' ही बोलते हैं, क्योंकि वहाँ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग जो आते हैं, वे 'योग' तो बोलते ही नहीं, 'योगा' बोलते हैं। इसलिए मैं भी 'योगा' ही बोलता हूँ।

अब देखो यह बात, कि क्या योगीको भगवान् बड़े सुलभ हैं? इस सम्बन्धमें भगवान् जो कहते हैं, उसपर ध्यान दो—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (१४)

भगवान् कहते हैं कि मैं तो बड़ा सुलभ हूँ। क्योंकि मैं सर्वदेश, सर्वकाल, सर्ववस्तु, सर्वरूपमें हूँ, इसलिए मेरी सुलभता स्वाभाविक है। तुम अपने घरमें ही मुझसे मिल लो; मेरी राजधानीमें आने और मेरे महलमें घुसनेकी कोई जरूरत नहीं। इससे अधिक सुलभता और क्या हो सकती है?

भगवान् कहते हैं कि **'अनन्यचेताः'**। पहली बात तो यह है कि अपने चेतस्‌को, ज्ञानको, मुझसे अभिन्न कर दो। *चेतस्* शब्द *'चिति संज्ञाने'* धातुसे बनता है। चेतस् माने ज्ञान होता है। यह सृष्टि परमात्माको जैसी दिखती है, वैसे ही तुम देखो; उनके ज्ञानमें अपना ज्ञान मिला दो। परमात्माको यह सृष्टि कैसी दिखती है—यह तो सद्‌गुरु बतायेंगे या श्रवण-मनन करोगे तब मालूम पड़ेगा। परमात्माको अपने स्वरूपसे अतिरिक्त कुछ नहीं दिखता है। उनकी नजर इतनी बड़ी है, उनका ज्ञान इतना बड़ा है कि उसमें जड़ता मटियामेट हो जाती है। इसलिए पहली बात तो यह है कि भगवान्‌के मनसे तुम्हारा मन कभी अलग न हो। यह मत कहना कि आज वर्षा कर दो या आज सर्दी पैदा कर दो या आज गर्मी उत्पन्न कर दो या जिला

दो या मार दो! बल्कि यह कहो कि *'जो थारी राय सो म्हारी राय।'* तुम्हारी राय सो मेरी राय—**'अनन्यचेताः।'**

अब दूसरी बात भगवान् बोलते हैं कि **'सततम्।'** इसका अर्थ है लगातार; छूटने न पाये। गाना-बजाना हो तो उसीके साथ—**'सततम्'** में गाना भी है। *'सतं वीणादिकं वाद्यं'*—कभी वीणा बजाकर गा लो, सितार बजाकर गाओ, बाँसुरी बजाकर गाओ। जैसे मकड़ीके मुँहमें-से सूत निकलता है और लगातार निकलता ही जाता है, वैसे ही मनमें लगातार परमेश्वरकी याद आती रहे।

इसके बाद भगवान् कहते हैं कि **'नित्यशः'**। एक दिन नहीं, प्रतिदिन, निरन्तर मेरा स्मरण करो। जो ऐसा करता है और जो नित्ययुक्त योगी है—**'नित्ययुक्तस्य योगिनः'**—उसके लिए मैं बड़ा सुलभ हूँ—**'तस्याहं सुलभः पार्थ।'** किन्तु **नित्ययुक्तस्य योगिनः सुलभः** का अर्थ यह है कि उसके नेत्रगोचर हो जाता हूँ और उसकी स्थिति यह हो जाती है कि जहाँ देखता हूँ, वहाँ तू-ही-तू है। ऐसी सुलभता है। सुलभताका अर्थ यह नहीं है कि साधन-भजन नहीं करेंगे और वहीं आकर हमारा भजन करने लग जायेगा।

अच्छा महाराज, यह बताओ कि आपके मिलनेसे होगा क्या? कुछ फायदा-वायदा भी होगा कि ऐसे ही फालतू लुभाते हो? भगवान्‌ने फायदा भी ऐसा बताया, जो जल्दी दिखायी न पड़े—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ (१५)

असलमें जब मनुष्य संसारकी निकटताका परित्याग करके मेरे ही निकट पहुँच जाता है—**'माम् उपेत्य'**—*'उप समीपं'* और *'इत्वा'* का *'एत्य'* हो गया है—*'उप+आ+इत्वा इति उपेत्य'*—मतलब यह कि बिलकुल मेरे पास आ जाता है, तब क्या होता है, बोले कि पुनर्जन्मका झगड़ा छूट जाता है। यह शास्त्र-विश्वासियोंके लिए तो बड़ी बढ़िया बात हुई, क्योंकि मरणोत्तर गतिके सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं रहता। मुसलमान लोग मरनेके बाद आत्माको तो मानते हैं, लेकिन कयामतके दिनतक बेचारोंको कब्रमें ही रहना पड़ता है। आखिरी दिन जब मुहम्मद साहब सिफारिश करते हैं कि इसको दोजखमें या बहिश्तमें भेजो, तब न्याय होता है; नहीं तो कयामतके दिनतक—जबतक सृष्टि रहेगी, तबतक कब्रमें ही रहना पड़ता है। लेकिन हमारे यहाँ तो मरनेके बाद पुनर्जन्म हो जाता है। यहाँ भगवान् कहते हैं कि पुनर्जन्म नहीं होगा।

पुनर्जन्म क्या है? मनका भाव बदलना। मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ, मैं नरकमें हूँ, मैं स्वर्गमें हूँ—यह जो बार-बार अहंसे संवलित

मनोभाव है, उसमें परिवर्तन होना पुनर्जन्म है। असलमें यही दु:खका आलय है। आलय माने मकान, भवन, रहनेकी जगह। यही '*राष्ट्रपतिनिलय*' है। यही दु:खालय है। बारम्बार दु:खी होना, बारबार सुखी होना, दिन भरमें पन्द्रह-बीस वेश-भूषा धारण करना पुनर्जन्म है और '**अशाश्वतम्**' माने यह हमेशा रहनेवाला नहीं है।

तो जो भगवान्‌के पास जाता है, वह महात्मा हो जाता है—'**संसिद्धिं परमां गताः**'। यहाँ भी संसिद्धि शब्दका अर्थ अन्त:करणकी शुद्धि है। अन्त:करण शुद्धिकी पराकाष्ठा हो जाती है और फिर वह अशाश्वत दु:खालय पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता है—'**नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः**'।

असलमें यह पुनरावृत्ति ऐसे ही होती है जैसे धोबी घाटपर कपड़ोंको लेकर बार-बार पटकता है। ऐसे बारम्बार स्थूल-सूक्ष्म शरीरके अनुसार इस पत्थर पर कबतक पटके जाते रहोगे।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ (१६)

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने लोक हैं, वे सब पुनरावर्ती हैं। इसका अर्थ क्या है? हमलोग एक पन्थाई, माने फिरका-परस्त आचार्यके पास गये थे। उन्होंने बताया कि यह जो धरती है, इससे पचास करोड़ योजन ऊपर हमारे मालिकका स्थान है और वे वहाँ उड़ाकर पहुँचा देते हैं। हमने कहा कि महाराज, यह पृथिवी घूमती है कि स्थिर रहती है? वे नये ढंगके आचार्य थे, बोले कि पृथिवी तो घूमती है। हमारे साथीने कहा कि यदि घूमती है तो आपका जो लोक पचास करोड़ योजन ऊपर है, उसकी भी परिक्रमा करती है या नहीं? आचार्य बोले कि करती है। मैंने कहा कि कभी उससे पचास करोड़ योजन नीचे पृथिवी रहती होगी तो कभी पचास करोड़ योजन ऊपर पृथिवी जाती होगी। जब उससे ऊपर पचास करोड़ योजन हमारी धरती जाती होगी, तब हम आपके इष्टदेवके लोकके ऊपर रहेंगे। तब फिर उसी समय हम मजा ले लेंगे आपके लोकका। इतनी लम्बी यात्रा करनेकी क्या जरूरत है?

तो देखो, भगवान्‌की प्राप्ति हो जाये तो पुनर्जन्म नहीं होगा, '**पुनर्जन्म न विद्यते**'। अब आगे चलते हैं।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ (१७)

यहाँ भगवान् हेतु प्रतिपादित करते हैं कि ब्रह्मलोक तकका पुनरागमन क्यों होता है। कहते हैं कि भाई, ब्रह्माका एक दिन एक हजार चतुर्युगीका होता है।

इकहत्तर चतुर्युगीका मन्वन्तर होता है, सन्ध्या-सन्ध्यांश होते हैं, और एक चतुर्युगी लगभग चौवालीस लाख बीस हजार बरसकी होती है। चौदह मन्वन्तर ब्रह्माका एक दिन होता है। आप हिसाब लगाओ। ब्रह्माजीके दिनमें बारह घण्टे न मानकर चौदह घण्टे मानें तो एक मन्वन्तर एक घण्टेका होता है और उस मन्वन्तरके एक घण्टेको यदि हम इकहत्तर मिनटका मान लें तो एक मिनटकी चतुर्युगी होती हैं, और उस एक मिनटकी चतुर्युगीमें जब चौवालीस लाख बीस हजार बरस होते है, तो सैकेण्ड-सैकेण्ड तो कुछ बनेगा नहीं। वहाँ तो ब्रह्माजीकी घड़ीमें जो टिक-टिक बोलता है, उसमें तुम्हारी चतुर्युगी समाप्त हो जाती है। इतनी बड़ी उनकी रात्रि होती है। इस हिसाबसे ब्रह्माकी आयु आप समझ लो! इसलिए ब्रह्मा होनेकी कभी इच्छा मत करना, क्योंकि उनके यहाँ भी रातदिन है और उनके भी जब सौ वर्ष पूरे हो जाते हैं, तब वे मर जाते हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ (१८)

'अव्यक्ताद्व्यक्तयः'—व्यक्ति माने साकार अभिव्यक्ति। जाहिरा रूपमें भगवान् कहते हैं कि तुम व्यक्ति होनेकी इच्छा मत करना, क्योंकि सम्पूर्ण व्यक्तियोंकी उत्पत्ति अव्यक्तसे होती है। कब? जब ब्रह्माके दिनका प्रारम्भ होता है फिर जब उनकी रात आती है तो ब्रह्माजी अपनी सारी अभिव्यक्तिको लेकर अव्यक्तमें डूब जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ (१९)

यह जो भूतोंका गाँव है, यह जो महाशिवका श्मशान है, वही वहाँ चेत रहा है। इसमें भूतोंका भूतोंमें ब्याह होता है, भूतोंमें भूतोंके बेटे होते हैं, भूतोंमें भूतोंके नगाड़े बजते हैं, भूतोंमें भूतोंकी शहनाई बजती है। यह महाश्मशान है। इस भूत-ग्रामकी विशेषता यह है कि कभी दीखता है, कभी नहीं दीखता। कभी दीख जाता है कि बड़ा भारी गाँव है, कभी मालूम पड़ता है कि अरे, कुछ नहीं है—यहाँ तो कोई बस्ती नहीं है। दिन आये तो यह प्रकट हो जाये और रात आये तो लुप्त हो जाये। यही इसकी स्थिति है—**'भूत्वा भूत्वा प्रलीयते'**।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि हम जिस परमात्माका वर्णन करते हैं, वह इस भूत-ग्रामसे बिलकुल निराला है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ (२०)

अव्यक्त दो हैं—एक अव्यक्त वह है, जिसमें व्यक्तियाँ तीन होती हैं और उदय होती हैं—उदय होती हैं और लीन होती हैं;और एक अव्यक्त वह है, जिसमें उदय और विलय नहीं है।

यह जो *'जन्माद्यस्य यतः'* (ब्रह्मसूत्र १.१.२) आदि लक्षण हैं, या *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'* है—यह असली परमात्माका लक्षण नहीं है। वह जो ऊपर अव्यक्त है, उसके तादात्म्यापन्न अवर अव्यक्तका लक्षण है। बिलकुल स्पष्ट बात है—एक अव्यक्त वह है जिससे भूतग्रामका उदय और विलय होता है, और एक अव्यक्त वह है जिसका भूतग्रामके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वही जो सम्बन्ध-रहित अव्यक्त है, वह अव्यक्तसे तादात्म्यापन्न मालूम पड़ता है। अतएव *'जन्माद्यस्य यतः'* या *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'* है, वह इसी अवर अव्यक्तको पर अव्यक्तके साथ एक मानकर उससे सृष्टि-स्थिति-प्रलयकी कल्पना करते हैं।

अब देखो, यह कथन वेदान्तपर बिलकुल आरूढ़ हो गया है। *'तस्मात् अव्यक्तात्, यस्मिन् भूतग्रामः भूत्वा भूत्वा प्रलीयते तस्माद् अव्यक्तात् अन्यः सनातनः अव्यक्तः'*— उससे अन्य है सनातन अव्यक्त। वही भाव है। वही वास्तवमें सत्ता है। *'जन्माद्यस्य यतः।'* देखो, *'अस्य अवरस्य अव्यक्तस्य जन्मादि भवति तस्य अव्यक्तस्य जन्मादि न भवति। अस्माद् अव्यक्तात् जन्मादि भवति, तस्माद् अव्यक्तात् जन्मादि न भवति।'* तो *'यद् जन्मवद् भवति तत् इदम्।' 'यत् स्थितिमद् भवति तत् इदम् यत् लयवत् भवति तद् इदम्।'* और *'यत् जन्मवत् न भवति स्थितिमन्न भवति, लयवद् न भवति तत् तत्। जन्माद्यस्य यतः। तर्हि यत् इति किमुच्यते? अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। तद् ब्रह्म, तद् विजिज्ञासस्व तदेव ब्रह्म इत्युच्यते यद् जन्मादिकारणं वस्तुतो न भवति। यद् जन्मवन्न भवति, स्थितिमन्न भवति, लयवन्न भवति इदं न भवति। इदन्ताक्रान्तं न भवति तद् ब्रह्म।'*

यह वेदान्तका, ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है, उसको घटित करनेके लिए ये दो तटस्थ लक्षण पहले मान लो। *'यः स सर्वेषु भावेषु जायमानेषु न जायते। विनश्यत्सु न विनश्यति। जायमानत्वं विनश्वरत्वं च उभयं यत्र कल्पितं तत्।'* जहाँ जायमानता और विनाशिता दोनों हैं, ऐसा ब्रह्म है। *'यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु, क्वचित् प्रतीयमानेषु क्वचित् अप्रतीयमानेषु नश्यत्सु।'*

'न विनश्यति'—जिसका लोप नहीं होता। प्रत्यक् चैतन्याभेदेन नित्य प्रज्वलित रहता है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (२१)

योगियोंकी सारी साधना और सारी गतिको अद्वैत वेदान्तमें समन्वित करनेके लिए यह आठवाँ अध्याय है। और कल सुनाया ही था कि सांख्यवादियोंके पूरे सांख्यको अद्वैत वेदान्तमें समन्वित करनेके लिए सातवाँ अध्याय है तथा समाधि-विक्षेपको समान बतानेके लिए छठा अध्याय है।

'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'—भगवान्‌का परमधाम क्या है? हमको एक महात्मा बताते थे कि असलमें भगवान्‌का जो धाम है, वह ठनठनपाल ही है। लालच तो बहुत देते हैं कि वहाँ यह है, वह है, लेकिन एकबार कोई उसमें घुस जाये तो फिर बाहर नहीं निकलने देते हैं। यदि वह बाहर निकलेगा तो उसके बारेमें पता नहीं क्या बतायेगा, क्योंकि उससे बिलकुल पोल-पट्टी खुल जायेगी। वहाँ न सुख है, न दुःख है; न जीवन है, न मरण है; न राजा है, न रानी है; न बेटा है, न बेटी है; न धन है न दौलत है। धाम तो उसका नाम है, पर है कुछ नहीं वहाँ। इसलिए भगवान्‌ने ऐसी व्यवस्था की है कि एकबार जो उस धाममें पहुँच जाये, उसे कभी बाहर न निकलने दें। नहीं तो वह जायेगा तो बता देगा कि वहाँ कुछ नहीं है।

देखो भाई; आपलोग इतना परिश्रम करके, इतनी देर धरतीमें पत्थरपर बैठकर सुनते हो तो आपको एकाध बार हँसी तो आनी चाहिए। नहीं तो आपकी यह तकलीफ, यह तापकला कैसे दूर होगी? हम सोचते तो यह हैं कि आपलोग इतना मजा लेते होंगे, कि कहाँ बैठे हैं—इसकी याद ही नहीं आती होगी। लेकिन फिर भी आइये, एकाध मजेकी बात सुना दें!

भगवान्‌का लोक ऐसा कालातीत है, देशातीत है, द्रव्यातीत है, दृश्यातीत है और प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न है कि वहाँसे पुनरावृत्ति नहीं होती है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ (२२)

अब बोले, कि जब ऐसी बात है, तब उसकी भक्ति करें या न करें? अरे भाई, भक्ति जरूर करो। हमें भक्ति शब्दके प्रयोगमें कभी कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु पहले भक्तिका लक्षण तो बना लो। लोगोंने तो तरह-तहके लक्षण बनाये हैं—

१. आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम् भक्तिः।
२. ईश्वरे परमानुरक्तिः भक्तिः।
३. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च।
४. मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। आदि।

किसीने श्रीकृष्णसे पूछा कि तुम स्वयं बताओ कि कैसी भक्ति पसन्द करते हो? उन्होंने कहा—**'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया'**—हम अनन्या भक्ति पसन्द करते

है। *'यस्यां भक्तो अन्यत् किञ्चित् न भवति, द्वैतं न भवति सा अनन्या, तया अनन्यया भक्त्या। यत्र अहं च भक्तश्च परस्परं भिन्नौ न भवतः'*—जिस भक्तिमें हम और भक्त दोनों अलग-अलग नहीं रह जाते, वह अनन्या भक्ति हमें पसन्द है। भक्तसे अन्य भगवान् नहीं, भगवान्से अलग भक्त नहीं, उस भक्तिको भगवान् कहते हैं—अनन्या भक्ति। भक्ति कैसी चाहिए? अनन्या। इसीसे वह **'परपुरुष'** मिलता है। वह कैसा है? **'यस्यान्तःस्थानि भूतानि'**—यह वेदान्तका अधिष्ठान है और **'येन सर्वमिदं ततम्'**—यह क्या है? यह वेदान्तका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।**'यस्यान्तःस्थानि भूतानि'**—जिसके भीतर सब भूत हैं, माने सब भूतोंका जो अधिकरण है और **'येन सर्वमिदं ततम्'**—जो उपादान रूपसे सबमें व्याप्त है, परन्तु पर पुरुष है, चेतन है अतएव विवर्ती है। चेतन होनेसे विवर्ती है। और अपने अन्दर सब भूतोंके होनेसे अधिष्ठान है तथा **'येन सर्वमिदं ततम्'** होनेसे उपादान है। वह सर्वोपादान है, सर्वाधिष्ठान है और स्वयं चेतन होनेसे अपरिणामी है। और **'पुरुषः परः'** किससे परे है?

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः।
महतः परममव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः॥

'अव्यक्तात् पुरुषः परः।' और बोले कि **'पुरुषान् न परं किञ्चिन् सा काष्ठा सा परागतिः'**—इन्द्रियोंसे परे अर्थ तन्मात्रा, भूतसूक्ष्म—**'अर्थेभ्यश्च परं मनः'** ज्ञान-संवलित तन्मात्र, उससे परे बुद्धि, उससे परे महतत्त्व समष्टि। जो लोग क्षेत्रज्ञको प्रति शरीर भिन्न-भिन्न समझते हैं, वे क्षेत्रको कहाँ समझते हैं? कल किसीने कहा कि हम तो क्षेत्रज्ञको प्रति शरीर भिन्न-भिन्न समझते हैं। लेकिन भाई, तब तुम **'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च'**—इस क्षेत्रको भी प्रति शरीर भिन्न-ही-भिन्न समझते होओगे। अरे, जब **'महा-भूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च'**—यह सारा-का-सारा एक क्षेत्र है, तब क्षेत्रज्ञ प्रति शरीर भिन्न कैसे होगा? **'जीवभूतां महीबाहो ययेदं धार्यते जगत्।'** जब परा प्रकृति समग्र जगत्को धारण करती है तब वह परा प्रकृति-रूप जीव प्रतिशरीर भिन्न कैसे होगा? और भी सुना—

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

सर्वभूत रूप क्षरमें जो अक्षर पुरुष है, वह प्रति शरीर भिन्न कैसे होगा? जब नाम लोगे तब मालूम पड़ेगा कि गीताका यह क्षेत्रज्ञ प्रति शरीर भिन्न नहीं है।

पुरुषः स परः पार्थ। परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः। अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः।

अर्थात् वही परपुरुष है, अनन्य भक्तिसे मिलता है और उसीके भीतर ये सारे भूत हैं। सारे भूतोंमें वह नहीं है; उसमें सारे भूत हैं। और '**येन सर्वमिदं ततम्**' माने जैसे सूतके सिवाय कपड़ा कुछ नहीं होता है, उसी तरह उसके सिवाय और कुछ नहीं है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ (२४)

भाई देखो, आप लोगोंने गीतापर बहुत टीका-टिप्पणी पढ़ी होगी। लेकिन जो बात आदमीकी समझमें जल्दी नहीं आती है, उसके लिए वह खोज भी बहुत करता है। हमने भी इसके बारेमें बहुत टीका-टिप्पणी पढ़ी है। यह मत समझना कि मैंने केवल गीता तत्त्व-विवेचनी ही पढ़ी है। हमारी उपस्थितिमें ही लिखी गयी है। इसलिए उसमें जैसा अर्थ आपलोगोंने पढ़ा है, वह बहुत बढ़िया है। लेकिन हम एक ऐसा अर्थ आपको सुना देते हैं, जिसपर आपका ध्यान शायद ही गया हो। कई लोग कहते हैं कि मैंने यह अर्थ अपने विनोदके लिए किया होगा। तो आप भी यही समझ लो कि मैं अपने विनोदके लिए ही यह अर्थ आपको सुना रहा हूँ। असली अर्थ तो आपने पढ़ लिया होगा, सुन लिया होगा। विनोदी अर्थ क्या है—यह मैं आपको सुनाता हूँ।

असलमें काशीमें मरनेसे मुक्ति होती है—इसको प्रत्येक आस्तिक मानता है। काशीके बड़े-बड़े विद्वानोंने इस बातपर शास्त्रार्थ करके निश्चय किया है कि '*काश्यां मरणान्मुक्तिः।*' फिर भी प्रश्न उठता है कि काशी तो एक स्थान-विशेष है; उसमें मरनेसे मुक्ति कैसे होगी? असलमें काशी-उपहित जो चैतन्य है, उसमें स्थित हो जानेसे चैतन्यकी अखण्डतामें ही स्थिति हो जाती है। ऐसे भी कह सकते हैं कि वाराणसी-अवच्छिन्न चैतन्यसे ऐक्य होनेपर, वाराणसीपर प्रेम होनेपर शंकरजी महाराज अखण्ड चैतन्यका बोध करा देते हैं। यह मुक्ति देशोपाधिक हुई न! कोई-कोई कहते है कि '*सरयूस्नानात् मुक्तिः।*' सरयू-स्नान रूप क्रियावच्छिन्न जो चैतन्य है, वह चैतन्य और अन्तःकरणावचिछन्न चैतन्य दोनों एक है—इसलिए सरयू-स्नानसे मुक्ति हो जायेगी। इन दोनों बातोंमें-से किसीका हम निषेध नहीं करते। जैसे क्रियावच्छिन्न, स्थानावच्छिन्न, वैसे कालावच्छिन्न चैतन्यके साथ तादात्म्य होनेपर मुक्ति क्यों नहीं होगी? असलमें यह उपासनाका विषय है। इसलिए इसको यहीं छोड़ते हैं। हम तो उस कालका निरूपण करते हैं जिसमें मरनेपर योगीलोग अनावृत्ति, मुक्ति और आवृत्तिको प्राप्त करते हैं। अच्छा, कालकी बात भी जाने दो।

'**अग्निः**'—पहली बात यह है कि भगवान्‌के नामका जप करो। अग्नि माने जप। कैसे? वाक्‌की अधिष्ठात्री देवता अग्नि है, उससे ॐॐॐ का उच्चारण करो—'**ओमिति एकाक्षरम्** ।' उसके बाद आता है '**ज्योतिः**'।

'**ज्योतिः**' माने निद्राधिष्ठात्री देवता। भगवान्‌के रूपका दर्शन करो। उसके बाद रूप छोड़कर '**अहः**' माने प्रकाशात्मामें स्थित हो जाओ। उसके बाद '**शुक्लः**' माने सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित हो जाओ। यह क्या हुआ? उत्तरायण हो गया। उत्तरायण माने बिलकुल ऊपर चले गये आप। इसीका नाम ऊपर जाना है। '**षण्मासा उत्तरायणम्**'—आपका आधा जीवन खराब गया, सो तो गया। अब आधा तो ठीक रखो!

अब '**तत्र प्रयाता गच्छन्ति**'—अर्थात् जप करते हुए, भगवान्‌का दर्शन करते हुए, प्रकाशमें भगवान्‌के रूपको लीन करते हुए जो शुद्धान्तःकरण हो जाते हैं, वे उत्तरायण गतिको प्राप्त हो जाते हैं, उनका परम कल्याण हो जाता है। वहाँ चले आओगे तो देखोगे कि तुम ब्रह्मविद् हो गये; तुमको ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। तुम शुद्धान्तःकरण होनेपर ब्रह्मविद् और ब्रह्मसे एक हो जाओगे जिससे तुम एक नहीं हो, वह ब्रह्म नहीं है और वह ब्रह्मज्ञान भी नहीं है। ऐक्यमें बिना ब्रह्म ब्रह्म होता ही नहीं है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ (२)

'**धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः**'—लोग राग-द्वेषसे जल रहे हैं, और जल रहे हैं तो धुआँ उठ रहा है। रात्रि माने बिलकुल अन्धकार है, और दिल काला हो गया है, धुँअरठ गया है—'**कृष्णः**' और तुम्हारा जीवन संसारसे उत्तरायण नहीं, दक्षिणायन हो गया है। तुम संसारानुकूल जीवन व्यतीत कर रहे हो। देखो, यहाँ आपका वर्णन नहीं है। पापीकी तो न दक्षिणायन गति होती है, न उत्तरायण गति होती है। पुण्यात्माकी ही दक्षिणायन गति होती है और पुण्यात्माकी ही उत्तरायण गति होती है, उसमें सकाम-निष्कामका भेद होता है।

तो जैसा कि पहले कहा, धुआँ उठ रहा है, कलेजा जल रहा है, चारों ओर अन्धकार छाया हुआ हैं, अन्तरंग काला-काला हो गया—**कृष्णः** और संसारके अनुकूल रह रहे हो, माने हमें यह मिले, हमें यह मिले—यह स्थिति है तुम्हारी!

आपका सारा कौशल संसारके सम्पादनमें संलग्न है, इसलिए आप दक्षिणायन हैं। इससे क्या होगा?

चान्द्रमसम्—मनका अधिष्ठात्री देवता है चन्द्रमा। आप मनसे ऊपर बिल्कुल नहीं उठ सकेंगे। इसलिए आप मनमें जो शकल बनायेंगे—'**चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी**

प्राप्य' आपके मनमें जो पानेकी वासना होगी, उससे आप चान्द्रमस शक्ति, मानस शक्ति प्राप्त करके, तदाकार होकर, फिर संसारमें लौट आयेंगे; ऊपर नहीं जायेंगे।

अब यदि आप कहो कि स्वामीजी, आपने तो सचमुच विनोद ही किया है, तो भाई, कभी-कभी विनोदपर भी ध्यान देना चाहिए। आपने सुना है न, कि '*परिचरितव्या सन्तः*'—सन्तोंकी सेवा किया करो! '*यद्यपि कथयन्ति नो बहूनुपदेयान्*' यदि वे बहुत उपदेश न भी करें, तब भी सन्तोंकी सेवा करो। क्योंकि '*या चैषां स्वैरकथाः ता एव भवन्ति शास्त्राणि*'—वे मनमौजी भावसे जो बात बोलते हैं, उसीको बादमें चेले लोग लिख लेते हैं और उसका नाम शास्त्र हो जाता है। सन्तोंकी मनमौजी बातोंका नाम ही शास्त्र है। इसलिए सन्तकी महिमाको घटाओ नहीं। अरे महाराज, वेदोंमें तो ऋषियोंने ऐसे-ऐसे मन्त्र बोले हैं कि उन मन्त्रोंके अर्थपर विचार करनेपर यही मानना पड़ता है कि वह ऋषि-वचन अपौरुषेय वेदवाणी है। उसमें-से-कुछ-न-कुछ अर्थ निकालना पड़ता है। नहीं तो उसमें हिंसाके मन्त्र हैं, गर्भाधानके मन्त्र हैं। राग-द्वेषके मन्त्र हैं, शत्रुको मारनेके लिए अनुष्ठान हैं, वशीकरणके अनुष्ठान हैं, उच्चाटनके अनुष्ठान हैं। अरे, वेदोंमें क्या नहीं है? वशीकरण, उच्चाटन, मारण—सब अथर्ववेदमें है।

तो, '**तत्र चान्द्रमसं ज्योतिः**'—अगर तुम मनके क्षेत्रमें ही रहोगे तो क्या होगा? मनके क्षेत्रमें रहना चान्द्रमस ज्योति है, क्योंकि मनका अधिष्ठात्री देवता चन्द्रमा है।

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चान्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धिमात्रकम्॥
न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

यहाँ चन्द्रमा माने मन है,सूर्य माने आँख है तथा अग्नि माने जीभ है। एक निवेदन और है; जितने भी टीकाकारोंने इस प्रसंगके इस श्लोकका अर्थ किया है, उन्होने '**धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः**' और '**षण्मासाः**' का तत्-तत् अभिमानी देवता परक ही अर्थ किया है। इससे पहले जो '**अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः**' है, उसका भी अर्थ अग्नि-अभिमानी देवता, ज्योति-अभिमानी देवता, शुक्लपक्षाभिमानी देवता, षण्मासाभिमानी देवता किया हुआ है तथा ऐसा भी अर्थ किया हुआ है कुछ आचार्योंके द्वारा, कि एक देवता दूसरे देवताको समर्पित करते हैं और एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें जाते हैं। उपनिषद्में भी वैसा ही वर्णन है। इसलिए जब देवता-अधिदैवपरक अर्थ है, तब उसका अध्यात्मपरक अर्थ स्वीकार करनेमें क्या आपत्ति है? प्रत्येक श्लोकका अर्थ आधिभौतिक ही नहीं होता है। उत्तरायणमें मरो या

दक्षिणायनमें मरो—यह आधिभौतिक अर्थ हुआ और अभिमानी देवता, छोटा देवता बड़े देवताको अर्पण करता है—यह आधिदैविक अर्थ हुआ और मैं आपको जो सुना रहा हूँ, वह आध्यात्मिक अर्थ है। इसलिए शास्त्रपुराणोंको पढ़नेकी एक विद्या होती है। अब आपको एक बात और सुनाता हूँ, जो बहुत विलक्षण है—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ (२६)

यह जगत्‌की शाश्वत गति है कि यहाँ बुराई करोगे तो आने-जानेमें पड़े रहोगे और अच्छाई करोगे तो मुक्तिका द्वार मिल जायेगा। निष्काम पुण्याचरण मुक्तिका द्वार है, सकाम पुण्याचरण गमनागमनका द्वार है और पापाचरण अधोगतिका द्वार है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

अब यह देखो कि दुराचरण नरकका द्वार है, सकाम पुण्याचरण गमनागमनका द्वार है और निष्काम पुण्याचरण मुक्तिका द्वार है। इसका क्या अर्थ है? यही अर्थ है कि ये द्वार हैं। मुक्ति तो बिना ब्रह्मज्ञानके होती नहीं—यह बात बिल्कुल पक्की है। कई लोग मुक्ति-द्वारका फाटक देखकर ही तृप्त हो जाते हैं; जैसे कुछ लोग कपड़ेवालेको नहीं देखते हैं, कहते हैं—आहा, क्या चमाचम कपड़ा पहने हुए हैं। इसलिए जो लोग कपड़ा ही देखकर खुश होते हैं, उन्हींकी तरह मुक्ति-द्वारका फाटक देखकर खुश होनेवाले हैं। उन्हें भीतरकी चीज मालूम नहीं है।

'**शुक्लकृष्णे गती ह्येते**'—एक शुक्ल मार्ग है और एक कृष्ण मार्ग है। ये दोनों मार्ग जगत्‌के शाश्वत मार्ग हैं। एकसे अनावृत्ति होती है और दूसरेसे आवृत्ति होती है। यदि इन दोनों मार्गोंको जान लिया जाये तो क्या होता है?

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ (२७)

भगवान् कहते हैं कि हे पार्थ, यदि इन बातोंको ठीक-ठीक समझ लो तो फिर मोह कभी नहीं होगा। '**तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन**'—इसलिए अर्जुन, तुम *'सर्वेषु कालेषु, युद्धादिषु'* अर्थात् सब कालमें यहाँ तक कि लड़ाई करते समये भी, समाधि लगाते समय भी—योगयुक्त हो जाओ।

इस अध्यायमें एक बात ऐसी विलक्षण है, जो सारे अध्यायको गीताके साथ समन्वित कर देती है। यदि आप इस अध्यायके आखिरी श्लोकपर ध्यान नहीं देंगे तो यही मालूम पड़ेगा कि भगवान् कह रहे हैं कि एकान्तमें बैठ जाओ और आँखें बन्द करके योगाभ्यास करो। योगाभ्यास तो ऐसा होना चाहिए, जो खुली आँखसे भी हो और बन्द आँखसे भी हो, बैठे हुए भी हो और चलते हुए भी हो। इस अध्यायका अन्तिम श्लोक देखिये—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ (२८)

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, वेदमें, यज्ञमें, तपस्यामें, दानमें जिस पुण्यफलका निर्देश है, आदेश है, उसके रहस्यको समझ जाओ और यह भी समझ जाओ कि इसमें जिस अव्यक्तका उपदेश है, वह क्या है। '**अत्येति तत्सर्वम्**'का अर्थ है कि जो वेदका फल है—इन सबका अतिक्रमण तुम कर गये हो। इनके जो फल मिलते हैं, उनसे ऊपर उठ गये हो।

यहाँ मानो अर्जुनने पूछा कि कैसे महाराज, क्या करके ऊपर उठें? भगवान् बोले कि **इदं विदित्वा** केवल इसको जान लो और उससे ऊपर उठ जाओ। जब यह जानोगे कि इन फलोंमें-से कोई क्रियामें है, कोई शरीरमें है, कोई अन्तःकरणमें है, कोई कर्त्तामें है, कोई भोक्तामें है और हमारा आत्मा तो जैसा है, वैसा ही है—तब क्या होगा? यह बात उजागर हो जायेगी कि '**इदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्**'—योगी इसका ज्ञान प्राप्त करने मात्रसे ही सबका अतिक्रमण कर जाता है और परम आद्य स्थानको प्राप्त करता है।

॥ इस प्रकार यह 'अक्षर ब्रह्मयोग' नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥



नववाँ अध्याय

अब आओ नववें अध्यायमें प्रवेश करें। इसमें भी बहुत मजेदार बात है। सांख्य और योगके ये छह अध्याय जो हैं, इन्हें मधुसूदन सरस्वती, केशव कश्मीरी, रामानुजाचार्यने द्वितीय षट्क कहा है। इनमें-से-पहले दो अध्यायोंमें तो पहले सांख्य-साधन, और योगसाधन दोनोंको गीतोक्त तत्त्वज्ञानसे समन्वित किया ? अब जरा भक्तियोगपर भी एक नजर डालें और उसे गीतोक्त योगके साथ समन्वित करें। इसमें भगवान् श्रीकृष्णने अपनी महिमाका बड़ा भारी वर्णन किया है।

एक महात्मा थे, जो अपनी महिमाका वर्णन कर रहे थे। कहते थे कि मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हूँ, अद्वितीय हूँ, ब्रह्म हूँ। मैंने कहा कि महाराज, आप अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू क्यों बनते हैं ? अपनी इतनी तारीफ क्यों करते हैं ? वे बोले कि देखो, मैं अपनेको जितना जानता हूँ उतना दूसरे तो जानते ही नहीं हैं; इसलिए मैं अपनी महिमा नहीं बताऊँगा तो दूसरे लोग क्या बतायेंगे ? दूसरे लोग जानेंगे कैसे, कि हमारा क्या स्वरूप है, हमारी क्या महिमा है ? डरना तो उन लोगोंको चाहिए, जो देह-बुद्धिसे हड्डी-मांस-चामके एक परिच्छिन्न पुतलेको ईश्वरके सिंहासनपर बैठाते हैं। जो परिच्छिन्नताको काटकर अपने स्वरूपका ब्रह्मरूपसे वर्णन करते हैं, वे तो पहले अपने व्यक्तित्वकी बलि चढ़ा लेते हैं, फिर परमात्माका वर्णन करते हैं। जो व्यक्तित्वकी बलि चढ़ाये बिना अपनी महिमाका वर्णन करता है, वह तो हड्डी-मांस-चामकी महिमाका ही वर्णन करता है। यहाँ तो अपना व्यक्तित्व है ही नहीं।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ (१)

'इदं तु ते गुह्यतमम्'—भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि अर्जुन, मैं अब तुम्हें गुह्यतम बात बताता हूँ। अबतक क्या बता रहे थे महाराज! बोले कि अब तक गुह्य बात बता रहा था, अब गुह्यतम बात बताता हूँ। जैसे गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम होता है, वैसे ही मैंने एक फाटक पार किया तो उसका माल-मसाला दिखाया, फिर दूसरा फाटक पार किया तो उसका माल-मसाला दिखाया और अब तीसरे फाटकके भीतर तुम आगये हो, अब देखो कि इसमें क्या है!

'प्रवक्ष्याम्यनसूसवे'— यहाँ मानों अर्जुन बोले कि भाई, हमारे अन्दर कोई विशेषता होगी, तब तो तुम इतनी गुह्यतम बात बताते हो! भगवान् बोले कि हाँ, **'अनसूयवे'**। अबतक मैंने जो बात बतायी है, उसमें तुमने मेरे गुणमें कोई दोष नहीं निकाला है।

देखो, अगर हम किसीसे कोई बात बताने लगें और वह काट-कूट शुरू कर दे, तो यही कहेंगे कि जा, अब तुम्हारे साथ कौन मगज-पच्ची करे? काट-कूट करनेवाले जो कुतर्की हैं, उनसे महात्मा लोग बात करना पसन्द नहीं करते हैं। काट-कूट तो जहाँ कहीं करना हो, वहाँ करो और फिर आओ हमारे पास। हम तुम्हें **'रामः रामौ रामाः'** थोड़े ही पढ़ायेंगे। हम तो तुम्हें *'तत्त्वमस्यादि महावाक्य'* का वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और ऐक्य बतायेंगे। *'रामः रामौ रामाः'* के लिए तो जाओ, लघुकौमुदी पढ़ो!

तो भगवान् कहते हैं कि **'अनसूयवे'**—जो असूयु न हो, अर्थात् गुणमें दोष न निकाले। हम तो उसकी भलाईके लिए बात करें कि इस रास्तेसे चले आओ, और वह कहे कि महाराज, इधर गड्ढा तो नहीं है? भलेमानुस, मैंने जान-बूझकर तुम्हें बताया है तो क्या तुम्हें गड्ढेमें गिरनेके लिए बताया है!

भगवान् बोले कि मैं तुम्हें गुह्यतम ज्ञान बताता हूँ—**'ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।'** गुह्यतम ज्ञान क्या है? यह गुह्यतम ज्ञान ब्रह्मज्ञान ही है, परन्तु यहाँ जो **'इदं'** के साथ **'तु'** शब्द है, यह पहले बताये हुएसे विलक्षण बतानेके लिए है। ये जितने धारणा-योग हैं, सब सत्त्वगुण हैं। अब भगवान् जरा आगे, ऊपरकी ओर खींचते हैं।

साक्षात् मोक्ष-साधनका जो ज्ञान है, वह क्या है? वह है— *'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति'*—जहाँ अन्यका दर्शन नहीं है, अन्यका श्रवण नहीं है। *'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'*—वहाँ जो जिज्ञासा है, उसीका नाम विज्ञान है। तो आओ, अनुभव सहित ज्ञान अब तुम्हें सुनाते हैं।

एक ज्ञान ऐसा होता है, जिसको पहले जानो, फिर करो, तो वह लाभप्रद होता है—जैसे यज्ञका ज्ञान है। उसे केवल जान लेनेसे काम नहीं चलता। पहले यज्ञको जानो, फिर उसमें वेदी बनाओ, शाकल इकट्ठा करो, कुशकण्डिका करो और विधिपूर्वक श्रद्धाके साथ उसको सम्पन्न करो। तब यज्ञ फल देता है। किन्तु यहाँ जो प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म है, यह जाननेमात्रसे ही ज्ञानका फल प्राप्त हो जाता है। इसमें कर्म **'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसे'** है। **'अशुभात् संसारात्'**—अशुभ माने संसार और उसका कारण अज्ञान। भगवान् ऐसा विज्ञान सहित ज्ञान बताते हैं कि सब काल तो हो जाये उसका अनुभव और संसारके कारण अविद्यासे हो जाये मुक्ति। यह

अर्जुनको जरा स्वाभिमुख करनेके लिए है। क्योंकि अभी तो उसको मरने-मारनेकी ही बड़ी भारी फिक्र लगी हुई है। इसलिए भगवान् बोले कि तू मेरी ओर देख, अब उधर मत देख!

देखो, किसीने किसीको एक मन्त्र बताया। मन्त्र लेनेवालेने पूछा कि महाराज, इसमें स्वाहा बोलें कि नमः बोलें? कि ॐबोलें कि न बोलें? यह हमारे फिट बैठेगा कि नहीं बैठेगा? मन्त्र बतानेवालेने कहा कि नहीं भैया, मुझसे गलती हो गयी। सबसे बढ़िया मन्त्र राम-राम है। तुम उसीका जप किया करो। इसमें स्वाहा, नमः और ओंकारकी कोई जरूरत नहीं है; न संस्कारकी आवश्यकता है, न दीक्षाकी। तुम तो राम-ही-राम रटो!

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ (२)

यहाँ विद्याकी जो स्तुति है, वह अधिकारीकी स्तुति है और गुह्यतम ज्ञान विषयकी स्तुति है। मतलब यह कि तुम बड़े ऊँचे अधिकारी हो और तुम्हे जो मैं बता रहा हूँ, वह बड़ा ऊँचा ज्ञान है तथा उसका फल यह है कि ज्ञानमात्रसे ही परम कल्याण हो जायेगा।

अब बताते हैं कि *'विद्यानाम् राजविद्या'*—यह राजाओंकी विद्या है, विद्याओंकी राजा है। जैसे *राजदन्तादिवत् समास* बोलते हैं वैयाकरण लोग, और कहते हैं कि *'दन्तानाम् राजा राजदन्त'*—यह राजदन्त है; इसी तरह भगवान् कहते हैं कि यह विद्याओंका राजा है, गुह्योंका राजा है और पवित्र है। तुम्हारे साथ जन्म-मरणका जो वज्र लगा हुआ है और जैसा कि श्रुतिमें आया है कि *'महद्भयं वज्रमुद्यतम्'*—तुम्हारे सिरपर वज्र खड़ा है, उससे रक्षा करनेवाला है यह पवित्र ज्ञान। *'पवेः वज्रात् त्रायते इति पवित्रम्; पवित्रं पावनम्'*—यह तुम्हारे अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाला है और उत्तम है। उत्तमता कहाँसे आती है? बोले कि **'प्रत्यक्षावगमम्'**—बस, यही वेदान्त विद्याकी उपयोगिता है। परोक्ष पदार्थका वर्णन करते जाओ। तर्क-वितर्कसे खण्डन होगा, मण्डन होगा। ज्यादा बुद्धिमान होगा तो खण्डन कर देगा; उससे भी ज्यादा बुद्धिमान होगा तो मण्डन कर देगा। देखा तो किसीने कुछ है नहीं, सब अन्दाज ही लगाते हैं। किन्तु यह ज्ञान? बोले कि **'प्रत्यक्षावगमम्'**—बिलकुल जैसे आँखसे किताब दिख रही है, जैसे आपलोग दिखते हैं, वैसे ही यह वस्तु दिखती है। महाराज, फिर कहीं धर्म तो नहीं छूट जायेगा? बोले कि नहीं, **'धर्म्यम्'** इस सर्वात्मभावके बोधसे धर्म नहीं छूटता। क्यों नहीं छूटता? कि राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है। धर्मको छुड़ानेवाला तो राग-द्वेष ही होता है। किन्तु *'धर्माद् अनपेतम्'*—इस सर्वात्मभावके बोधसे धर्म नहीं छूटता। बोले कि तब तो बड़ा

कठिन होगा? भगवान्‌ने कहा कि नहीं, 'सुसुखं, *कर्तुम्-सुसुखम्*'—सम्पादन करनेमें बड़ा सुखप्रद है, आसान है। यह ब्रह्मविद्या कठिन नहीं है। यह तो ऐसा है कि घोड़ेके रकाबमें पाँव रखा और ब्रह्मज्ञान हुआ। फूल मसलना कठिन है लेकिन ब्रह्मविद्या सुगम है। एक क्षणमें इसकी प्राप्ति हो जाती है।

मैं एक महात्माके पास जाता था। एक दिन वे बड़े ही प्रसन्न हुए, क्योंकि मैंने उन्हें पहले भागवतका ग्यारहवाँ स्कन्ध सुनाया, फिर सातवाँ सुनाया। धीरे-धीरे उन्हें तैयार करके रास-पञ्चाध्यायी भी सुनायी। धीरे-धीरे तैयार किया, क्योंकि रास-पञ्चाध्यायीका तो नाम सुनकर भी वे नाराज होते थे और कहते थे कि भक्ति-उपासनाकी जितनी बातें हैं, वे सब फँसानेके लिए हैं। पर मैंने पहले उन्हें ग्यारहवाँ स्कन्ध, फिर सातवाँ स्कन्ध, और फिर रास-पञ्चाध्यायी सुना दी। जब वे बहुत प्रसन्न हो गये, तो बोले कि अच्छा, हमारे पास और कुछ तो है नहीं, लेकिन तुम्हें मैं एक दक्षिणा देना चाहता हूँ। वे टाट पहनते थे, माँगकर खाते थे, मिट्टीके बर्तनमें पानी पीते थे—कुछ था ही नहीं उनके पास। फिर भी एकान्तमें बोले कि मैं तुम्हें दक्षिणा देता हूँ। वह दक्षिणा उन्होंने एकान्तमें हमें दी थी और मैं भरी सभामें आपको बताता हूँ, क्योंकि वह चालीस-बयालीस वर्ष पहलेकी बात है और अब उसके खो जानेका डर भी नहीं है। उन्होंने पहले पूछा कि तुम क्या चाहते हो? मैंने कहा कि मैं अपना कल्याण चाहता हूँ। वे बोले कि देखो, आजसे, अभीसे अपनेको कभी जीव मत मानना। कर्ता, भोक्ता, संसारी, परिच्छिन्न जीवात्मा तुम नहीं हो। तुम तो अद्वितीय ब्रह्म हो। यही दक्षिणा मैं तुम्हें देता हूँ। यही है दक्षिणा '*दक्षिणा ज्ञान-सन्देशः*' और यह मैंने तुम्हें दिया। अब तुम बोलो कि मैंने लिया महाराज! मैंने कहा कि हाँ, लिया महाराज!

इसी तरह नैमिषारण्यमें श्रीआनन्दमयी माँको मैंने पन्द्रह दिनमें श्रीमद्भागवत सुनाया, तो अन्तमें उन्होंने भी मुझे दक्षिणा दी। माँने चाँदीके सिंहासनमें शालग्राम रखा और उसको अपने सिरपर रखकर ले आयीं। माँ तो यहीं (हरिद्वारमें) ही हैं। सिरपर रखकर आयीं और फिर सिंहासन उतारकर बोलीं कि बाबा, देखो यह दक्षिणा मैं देती हूँ। मैने उसे ले लिया। फिर बोलीं कि इस दक्षिणाके साथ-साथ इसे देनेवाली मैं अपनेको भी देती हूँ। मैंने कहा, बस-बस माँ, मैंने ले लिया। माँ, ऐसी दक्षिणा तो मुझे कभी नहीं मिली थी!

तो भगवान्‌ने कहा कि अर्जुन, ब्रह्मज्ञान एक क्षणमें हो सकता है। और वह ब्रह्मज्ञान ऐसा हैं कि फिर कभी मिटेगा नहीं—'**अव्ययम्**'। यह राजविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या उत्तम पवित्र '**प्रत्यक्षावगमं कर्तुं सुसुखं**' अव्यय एवं अविनाशी है।

वेदान्तियोंका तो कहना है कि इस विद्याके साथ धर्म, उपासना, योग— किसीको न जोड़ो; न पहले, न पीछे। यदि पीछे जोड़ोगे तो ज्ञान कम होगा और पहले जोड़ोंगे तो अन्त:करण-शुद्धि-पर्यन्त उसका फल होगा। तत्त्वज्ञान तो अविद्या-निवर्तकत्वेन ही प्रामाण्य है। अविद्या-निवृत्तिके सिवाय और कुछ उसका न तो प्रयोजन है और न प्रमाण है। राजविद्या विद्याओंकी सिरमौर है। तान्त्रिक लोग गुह्यको बहुत बड़ा मानते हैं। वे कहते हैं कि बस, *गोपनीयम्, गोपनीयम्*—अपनी विद्याको गुप्त रखो, गुप्त रखो। भगवान्‌ने भी कहा कि विद्या चाहिए तो राजविद्या लो। इससे बढ़कर गोपनीय तन्त्र और कोई नहीं हैं। यदि बोलो कि हमें तो पवित्र चाहिए, तो '**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।**' यह '**उत्तमम् पवित्रम्**' है इससे बड़ा पवित्र और कुछ है ही नहीं। यदि बोलो कि बाबा, हमलोग तो विज्ञानके प्रेमी हैं जिसमें वस्तुका प्रत्यक्ष हो जाता है, तो लो, यह '**प्रत्यक्षावगमम्**' है। अरे आओ, हाथ कंगनको आरसी क्या! प्रत्यक्ष देख लो। यदि कहो कि धर्म न छूट जाये, तो यह '**धर्म्यम्**' है। करनेमें कठिन न हो, इसलिए '**कर्तुम् सुसुखम्**' है। कहीं थोड़े दिनोंके लिए न हो, इसलिए '**अव्यय**' है। आ गये न सब-के-सब गुण, जिनकी चर्चा मैं कल कर चुका हूँ। ऐसी बातोंको बार-बार दोहरानेमें भी लाभ ही है।

अब भगवान् एक बात ऐसी बोलते हैं, कि आप किसी भी मार्गसे चलें और किसी भी गन्तव्यको प्राप्त करना चाहें, यदि उसमें श्रद्धा नहीं होगी तो आप ठीक मार्गसे नहीं चल सकेंगे। क्योंकि बालक भी होते हैं, मूर्ख भी होते हैं, अनजान-अनपढ़ लोग भी होते हैं। अरे, मार्ग तो वह चाहिए, धर्म तो वह चाहिए जो सबका भला करे।

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥

गंगाजी ऐसी हैं कि उनमें-से चाहे जो पानी पी ले—कौआ भी पीता है, गीध भी पीता है और हंस भी पीता है। इसी तरह श्रद्धा धर्ममें सबको योग्यता प्रदान करती है। यदि कोई धर्मका निरूपण करे और उसमें श्रद्धा न हो, तो उससे मूर्ख निकल जायेंगे, बालक निकल जायेंगे, और लुगायाँ-पतायाँ तथा गाँवके लोग— सब-के-सब बहिर्भूत हो जायेंगे। वह कुछ मुट्ठीभर लोगोंके लिए रहेगा। उसमें भी यह बात है कि तर्कसे धर्मकी सिद्धि कभी होती नहीं। वहाँ भी गुरुपर, शास्त्रपर, सम्प्रदायपर श्रद्धा तो करनी पड़ती है। इसलिए भगवान्‌ने कह दिया—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ (३)

हे अधर्मको सन्तप्त करके, परिपक्क करके उसका भी सदुपयोग करनेवाले अर्जुन, जो लोग इस धर्मपर श्रद्धा नहीं करते हैं, वे '**अप्राप्य मां निवर्तन्ते**-*हस्त-ग्राह्यं मामपि अप्राप्य*' अर्थात् हमारे निकट तो आजाते हैं, इतने निकअ आजाते हैं कि हाथसे पकड़ लें, परन्तु मैं उनकी पकड़में नहीं आता। तब उनकी गति क्या होती है ? यह होती है कि '**मृत्युसंसारवर्त्मनि निवर्तन्ते।**' फिर उपनिषद्में जिसको बोलते हैं न, कि *'जायस्व म्रियस्व, म्रियस्व जायस्व'* अर्थात् पैदा होते जाओ और मरते जाओ, मरते जाओ और पैदा होते जाओ—उसी रास्तेमें वे पड़ जाते हैं।

देखो, यहाँ भगवान्ने व्यतिरेक मुखसे श्रद्धा न करनेवालोंकी निन्दा भी की और विधि-मुखसे प्रशंसा भी की कि '**राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।**'

अब अर्जुन बोले कि भाई, आओ इस ज्ञान-विज्ञानका निरूपण ही करके बताअ। न! प्रशंसा और निन्दामें ज्यादा लगनेकी क्या जरूरत है। अरे अपना माल दिखाओ। तुमने माल दिखाये बिना ही तारीफ कर दी। भगवान् बोले कि लो, हम अपना माल दिखाते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ (४)

'**ततम्**'—यह सम्पूर्ण जगत् क्या है ? जो गमनागमन-शील पदार्थ दिखायी पड़ते हैं, उनको जगत् कहते हैं—*'गच्छति, इति जगत्। गच्छति, परिवर्तते'*—जो कुछ भी परिवर्तनशील है, वह सब-का-सब—चाहे देवलोक हो, चाहे ब्रह्मलोक हो, चाहे नित्य-नूतन होनेवाला हो और चिर-सनातन हो। परन्तु यह नित्य-नूतन भी नहीं है। रोज-रोज नया होगा तो कभी-न-कभी पुराना पड़ जायेगा, खतम हो जायेगा, बदल जायेगा। यह एक-रस सत्य है। यह नित्य-नूतन नहीं है—'**इदं सर्वम्**' है। *'मया सूत्ररूपेण ततम्।'* नित्य-नवनवोन्मेषशालिनी तो प्रतिभा होती है, चिन्मात्र थोड़े ही होता है। जो चिन्मात्र है, वह नित्य-नवनवोन्मेषशाली नहीं है। प्रतिभा तो विद्याका ही उत्कृष्ट रूप है, इसलिए वह तो एक रस ही है। '**मया ततमिदम्**' '**मया**'—मुझ प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मसे यह सब-का-सब तत है। *'अस्मद्'*-शब्दके प्रयोगका यही अर्थ है।

अच्छा, 'मैं' के बिना क्या किसीको जगत् मालूम पड़ेगा ? नरक कभी मालूम पड़ेगा ? स्वर्ग कभी मालूम पड़ेगा ? बैकुण्ठ कभी मालूम पड़ेगा ? ईश्वर भी अगर किसीको मालूम पड़े तो 'मैं' के हुए बिना कैसे मालूम पड़ेगा ? अरे भाई, पहले 'मैं' होकर तब 'इदं' को सिद्ध करता है। तब ईश्वरको कहाँ ढूँढें ? '**अहं**' में कि '**इदं**' में ? 'इदं' की उम्र कम है और 'अहं' की उम्र ज्यादा है। इसलिए जिसकी उम्र ज्यादा है, उसमें परमेश्वरको ढूँढ़ना और जिसकी उम्र कम है, उसमें परमेश्वरको मत ढूँढ़ना।

क्योंकि कोई नित्य होगा, शाश्वत होगा, अविनाशी होगा, तो बड़ी उम्रवालेमें जल्दी मिलेगा और छोटी उम्रवाला तो हमारे सामने पैदा हुआ और मर गया। इसलिए '**इदं**'में क्या परमात्माको ढूँढ़ते हो? ढूँढ़ना हो तो '**अहं**'में परमात्माको ढूँढ़ो! दो विभाग कर लो। यह स्फुरण है! क्या, कि अहं और इदं—यह व्यवहार सबको स्फुरित होता है। चार्वाक कहते हैं कि इदं है, अहं नहीं। जैन कहते हैं कि अहं, इदं दोनों वाच्यार्थ हैं, मिथ्या हैं ओर अपने परमार्थ स्वरूपमें सत्य हैं। बाध-सामान्याधिकरणसे इदं और मुख्य सामान्याधिकरण्यसे अहं परमार्थरूपमें सब परमार्थ-ही परमार्थ हैं। **अहं इदंका** भेद मिथ्या है, **अहं-इदंका** परमार्थ मिथ्या नहीं है।

तो '**अव्यक्ताद् व्यक्तयः प्रवहन्त्यहरागमे**'—अव्यक्तमें व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतिसे जगत् उत्पन्न होता है। '*कथं भूतेन मया? अव्यक्तं मूर्तिर्यस्य तेन मया*'—अभिव्यक्त तो हमारी एक मूर्च्छनासे है। मूर्च्छना क्या? जैसे वीणा बजाते हैं, सितार बजाते हैं तो उसमें स्वरताल होता है या नहीं? उसमें मूर्च्छना होती है कि नहीं? स्वर, मूर्च्छना, ताल—यह तो संगीतका भेद है। '*अव्यक्तं मूर्तिर्यस्य* से लेकर दृश्यपर्यन्त और हिरण्यगर्भसे लेकर कीटपर्यन्त—यह समग्र जगत् मुझसे सत् है।

अब एक और व्युत्पत्ति बताते हैं। कहते हैं कि भेद मूर्त होता है। जिसे हमलोग अव्यक्त कहते हैं, वह भी एक मूर्ति है। अव्यक्तको भी मूर्ति बतानेवाला भगवान् कितना अमूर्त होगा, इसपर ध्यान तो दो! क्योंकि अव्यक्तके साथ कार्य-कारण रूपसे प्रपञ्चका सम्बन्ध होता है। इसलिए कार्यत्वेन अव्यक्त भी व्यक्त ही है। अधिष्ठानमें ही, स्वयं प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है, क्योंकि कार्य-कारणाकार परिणामको प्राप्त होता है? सृष्टिमें कारण कार्य हो जाता है और प्रलयमें कार्य कारण हो जाता है। इसलिए परिवर्तनशीलत्वेन स्वयं प्रकाशमें व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकाशित हैं। अधिष्ठानमें दोनों अध्यस्त हैं। अव्यक्त और तन्मूलक प्रपञ्च आधेय है और मैं आधार हूँ—'**मत्स्थानि सर्वभूतानि।**' इसलिए उनकी सत्ता अल्प है और हमारी सत्ता महान् है। वे विषय हैं, हम विषयी हैं, वे अनित्य हैं, हम नित्य हैं, वे प्रकाश्य हैं, हम प्रकाशक हैं, वे अध्यस्त हैं, हम अधिष्ठान हैं। हम अद्वितीय हैं और वे परिवर्तनशील द्वैत-रूप हैं।

अब बोले कि बाबा, ऐसे कहो कि उनके भीतर तुम हो। अमूर्त पदार्थ किसीका आधेय नहीं होता। थालीमें आकाशको रख लो। थालीका आदि-अन्त भीतर-बाहर और जिस बोतल या स्टीलमें वह थाली बनी है उस पीतल या स्टीलकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, सब-का-सब आकाशमें है। इसलिए आकाश अमूर्त है, थाली मूर्त है। मूर्त पदार्थ अमूर्त पदार्थका आधार कभी नहीं होता और अमूर्त पदार्थ कभी मूर्तका आधेय नहीं होता। थालीमें आकाश नहीं रखा जायेगा।

हम घड़ेमें आकाश भरकर ले आयें, तो घड़ेकी दीवार और उसकी उत्पत्तिके पूर्व कौन था? उसके नाशके पश्चात् कौन रहेगा? उसके कण-कणमें जो छिद्र है वह कहाँसे निकलेगा, उसमें छेद करनेसे वह छेद कहाँसे निकलेगा, यदि पहलेसे आकाश नहीं होगा? इसलिए आकाशमें घड़ा होता है, घड़ेमें आकाश नहीं होता है। *'मत्स्थानि सर्वभूतानि। न त्वहं तेषु, ते मयि। अहं तेषु न भवामि। ते मयि भवन्ति। ते मयि सन्ति। न चाहं तेष्ववस्थितः'*—अव्यक्त प्राणी हमारे आधार नहीं हैं, क्योंकि मैं उनका आधेय नहीं हो सकता। यह सब व्यक्ताव्यक्त जगत् मुझ अधिष्ठानमें है और मैं अध्यस्तमें नहीं हूँ। अध्यस्तके जन्म-मरणके साथ, अध्यस्तके गुण-धर्मके साथ अधिष्ठानका किंचित् भी सम्बन्ध नहीं होता। यह हमारा निश्चित सिद्धान्त है। *'यद् अस्मिन् अध्यस्तं तत् तेन न किंचित् अधिसम्बद्ध्यते'* जिसका जिसमें अध्यास होता है, वह अपने अधिष्ठानसे किंचित् भी सम्बद्ध नहीं होता।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ (५)

लो! पहले तो भगवान्‌ने यह कहा कि मैं अधिष्ठान हूँ और सब मुझमें अध्यस्त हैं। परन्तु महाराज ये महाराज तो यह भी माननेको तैयार नहीं हैं। अब कहते हैं कि **'न च मत्स्थानि भूतानि'** वह तो तुम्हारी जगहपर, तुम्हारे 'मैं' में बैठकर, प्रमातामें बैठकर मैंने दुनियाँ देखी और कहा कि सारी दुनियाँका अधिष्ठान आत्मामें है, परमात्मामें है। वह तो मैंने तुम्हारे साथ एक होकर बात कह दी।

अच्छा बाबा! अब अपनी स्वानुभूत बात बताओ! बोले कि तुम्हारी दृष्टिसे जो कुछ सब है, वह मुझमें है पर मेरी दृष्टिसे तो कुछ है ही नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि अज्ञानीकी दृष्टिसे सारे प्रपंचका आधार परमात्मा है और तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे परमात्मामें दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। यह हिसाब हुआ। **'मत्स्थानि सर्वभूतानि'** यह जिज्ञासुकी दृष्टिका अनुवाद है। जिज्ञासुको कभी अज्ञानी मत कहना, क्योंकि जब अधिष्ठानकी ओर उसकी नजर पहुँचती है तो उसको बिल्कुल अज्ञानी कैसे कहेंगे? इसलिए जिज्ञासुकी दृष्टिसे सम्पूर्ण प्रपंच परमात्मामें है, परन्तु तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे **'न च मत्स्थानि भूतानि'** है।

अब यह पूछो कि सच कौन है? यह मजबूर होकर मानना पड़ेगा कि तत्त्वज्ञकी दृष्टि सच्ची है और अज्ञ एवं जिज्ञासुकी दृष्टि कच्ची है। तो सच्चाई यही हुई न, कि **'न च मत्स्थानि भूतानि'**।

'एकमेवाद्वितीयम्'—परमात्मामें आधार-आधेय भावसे कोई प्रपंच स्थित नहीं है। द्रष्टा-दृश्यका भाव भी नहीं है; भोक्ता-भोग्यका भी भाव नहीं है और कर्ता-कर्मका भी भाव नहीं है।

'**पश्य मे योगमैश्वरम्**'—फिर देखो कि हमारा यह ईश्वर है। यही ईश्वरीय दृष्टि है। यही अनिर्वचनीय मायाका खेल है। योगमें अयोग और अयोगमें योग—'**मत्स्थानि सर्वभूतानि, न च मत्स्थानि भूतानि।**' बोले कि बस, यही तो ऐश्वर्य-योग है। यह जीवयोग नहीं है। जबतक अपनेको जीवत्वमें आबद्ध रखोगे, तबतक इस हाँ-में ना और ना-में हाँ—यह बात समझमें नहीं आयेगी।

इसलिए **पश्य**—देखो-देखो! यह '**पश्य**' शब्द व्याकरणकी दृष्टिसे भी विवर्त ही है। क्यों विवर्त है? इसलिए कि आदेश है—*दृश्‌का पश्* आदेश हो गया है। असलमें तो था दृश् पर हो गया पश्, पश्य। कहाँ दृक् और कहाँ पश्य! यह कोई शब्द बनानेका कायदा है भला! फिर भी यह दृक्‌का विवर्त है पश्। इस द्रष्टा-दृश्यका भाव तुम देखो! यह वैयाकरण-विवर्त है। व्याकरण-दर्शनमें भी जगत्‌को विवर्त मानते हैं। वे कहते हैं कि '*अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्। विवर्तते अर्थभावेन*'—अर्थके रूपमें यह घट है, यह पट है, यह मठ है, यह विवर्त है । भर्तृहरिने, शतक लिखनेवाले भर्तृहरिने नहीं—महावैयाकरण भर्तृहरिने—महाभाष्यका आश्रय करके कारिका लिखी है, जिसे वाक्यपदीय कहते हैं। उनसे किसीने पूछा कि महाराज, वेदान्तका सिद्धान्त क्या है—यह बतानेकी कृपा करें! आजकल तो परीक्षामें केवल एक ही काण्ड पढ़ाया जाता है, किन्तु इसके तीन काण्ड हैं। उसपर पुण्यराजकी, हेलराजकी टीका है। नये-नये पण्डितोंने तो सोलह टीकाएँ लिखी हैं। वेदान्त-सिद्धान्तकी बात पूछनेपर भर्तृहरिजी बोले—

यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं वा विकल्पितम्।
तस्यैवार्थस्य सत्यत्वं श्रिताः त्रय्यन्तवेदिनः॥ (३.३.७२)

वेदान्ती लोग उस वस्तुको सत्य बताते हैं, जिसमें द्रष्टा, दृश्य, दर्शन—ये कल्पित हैं। किन्तु वेदान्तका सिद्धान्त यह है—'*तस्यैवार्थस्य सत्यत्वं श्रिताः त्रय्यन्तवेदिनः।*' यह तृतीय काण्डका श्लोक है। यह काण्ड बहुत ही विलक्षण है। इसमें तो देश क्या है, काल क्या है, इसका निरूपण है और लट्-लुट्-लिट् क्या होता है—इसका विवेचन है। तो '**भूतभृन्न च भूतस्थः**'—यह ऐश्वरयोग है। माने यही अनिर्वचनीय माया है कि उसमें सब है और उसमें कुछ नहीं है। '*सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीयत्वम्*'ही ऐश्वरयोग है और यही मायाका लक्षण है।

'**भूतभृत् न च भूतस्थः**। *भूतानि बिभर्ति धारयति पुष्णाति च। डु भृञ् धारणपोषणयोः।*'—इसका अर्थ है कि वह सबको अपने भीतर रखता भी है और सबको परिपुष्ट भी करता है। '*भूतानि बिभर्ति इति भूतभृत्*'तब तो ठीक है, फिर वह भी इसमें होगा। '**न च भूतस्थः**'—वह इसमें नहीं है। नहीं तो साँप कट गया तो माला आगयी, माला कट गयी तो भूच्छिद्र आगया, भूच्छिद्र कट गया तो दण्ड

आगया, दण्ड कट गया तो धारा आगयी—उसके कटनेके साथ वह भी कट जायेगा न ! क्योंकि जबतक अधिष्ठानका ज्ञान न हो तबतक अध्यस्तमें परिवर्तन होता रहता है। जहाँतक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हुई, वहाँतक भ्रममें परिवर्तन होता है। भ्रम माने अध्यास। जबतक रज्जु-ज्ञान नहीं होगा, तबतक सर्पका परिवर्तन होकर धारा होता रहेगा। इसीलिए भ्रमनिवृत्तिका नाम ही अज्ञान-निवृत्ति नहीं है। भ्रम-निवृत्ति तो बौद्धोंमें भी है, परन्तु वह निःस्वभाव होनेके कारण अज्ञानकी निवृत्ति नहीं है। सर्प निःस्वभाव है, दण्ड निःस्वभाव है, भूच्छिद्र निःस्वभाव है, माला निःस्वभाव है। निःस्वभाव होनेसे मिथ्या है। वेदान्तमें मिथ्या तो है, परन्तु अधिष्ठान-ज्ञानसे मिथ्या है इसलिए '**भूतभृन्न च भूतस्थः**'—अधिष्ठान सबको सत्तास्फूर्ति दे रहा है। परन्तु स्वयं अध्यस्तके साथ वह कभी तादात्म्यापन्न नहीं होता। अध्यस्तकी मृत्युसे अधिष्ठानकी मृत्यु नहीं होती।

'**ममात्मा भूतभावनः**'—अर्जुनने कहा कि महाराज! बात तुम बड़ी बढ़-बढ़कर बताते हो। बैठे तो हमारे रथके कोनेमें सारथि बनकर हो और बात बढ़-बढ़कर बोलते हो कि मैं सम्पूर्ण जगत्का अधिष्ठान हूँ, मेरे अन्दर कुछ नहीं है। इसपर भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि यह जो तुम नाम-रूपवाला मैं देख रहे हो, ठीक नहीं है क्योंकि नाम-रूप तो 'मम् वास्तविक आत्मा न भवति'। रथपर तो तुम भी बैठे हो और मैं भी बैठा हूँ। किन्तु मैं जो तुम्हारी तरह बैठा हूँ, इसका क्या अर्थ है ? अरे मैं तो तुम्हारी आत्माको भी वैसा ही बताता हूँ और अपनी आत्माको भी वैसा ही बताता हूँ। यह नहीं कि गुरुकी आत्मा ब्रह्म हो और शिष्यकी आत्मा जीव हो। इसलिए मुझ कृष्णकी जो आत्मा है, वह '**भूतभावनः**' है अर्थात् '*भूतानि भावयति-उत्पादयति-जीवयति।*' यह जो मैं 'भूतभृत्' रूपसे वर्णन कर रहा हूँ और '*मत्स्थानि सर्वभूतानि, न च मत्स्थानि भूतानि*' बोल रहा हूँ, वह तो मेरा आत्मा ही है। वही सम्पूर्ण भूतोंको सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता, चित्तास्फूर्ति प्रदान करता है। उसीसे सब सत् और चित् मालूम पड़ते हैं।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ (७)

यहाँ भगवान् दृष्टान्त देते हैं। कहते तो यह हैं कि यह दृष्टान्त असंगताका, स्वभावका है और दृश्यमान जगत् जादूके खेलमें दीखनेवाले पदार्थसे बना है। आपने कभी-न-कभी जादूका खेल जरूर देखा होगा, और हम बनारसी लोग तो, जिस रास्तेमें

निकल जायें, वहीं जादूका खेल खेल दें। कई जादूगर लोग राख निकाल देते हैं, जेवर निकाल देते हैं, रबड़ी-मलाई निकाल देते हैं, वह सब इसी धरतीकी बनी हुई राख है, इसी धरतीका बना हुआ सोना है, इसी धरतीकी बनी हुई रबड़ी-मलाई है और वह जिस भुलवेमें आती है, वह भी इसी धरतीका होता है। गोलोकका कुम्हार उस भुलवेको नहीं बनाता। बाबा तुमने प्रसाद-व्रसाद पाया है? अरे कई बड़े-बड़े महात्मा लोग उस भुलवेका चूरा चबा जाते थे कि यह गोलोकसे आया है। अब जहाँ आँवामें भुलवा पकाया जाता है और कढ़ाहीमें रबड़ी बनायी जाती है, उस गोलोककी चर्चा हम नहीं करते हैं। मैंने तो जादूके ऐसे-ऐसे खेल देखे हैं कि कुछ मत पूछिये! एक मुसलमान फकीर बिलकुल नंगा होकर बैठा हुआ था। उसने मुझसे पूछा कि क्या चाहिए तुम्हें? उन दिनों हमारे गाँवके पाँच-दस मीलके अन्दर तो अनारका कोई पेड़ ही नहीं था! हमने कहा कि हमें अनार चाहिए। वह बोला कि चल! हाथको हिलाया और पट्टसे गिरा अनार! अच्छा लो, यह इत्रकी शीशी! और वह भी गिर गयी। यह सब हमने अपनी आँखोंसे देखा। और लो! उसने पूछा कि तुम्हारे हाथमें रुपया है? देख लो नम्बर कि किस सन्‌का बना हुआ है। अच्छा बन्द करो मुट्ठी। मुट्ठी बन्द की और रुपया गायब हो गया फिर उसने कहा कि हमारा रुपया तुमने ले लिया। तुम्हें नंगाझोरी देनी पड़ेगी, सो देनी पड़ी। अब वह कहाँ निकला? जूतेमें। हमारे एक साथीने एक जादूगरसे कलकत्तेमें कहा कि हमको रामफल चाहिए, निकालकर दो! अब जादूगर एक मिनट, दो मिनट, चार मिनट सोचता रहा; उसे मालूम ही नहीं था कि रामफल क्या होता है! बोला कि बताओ होता कहाँ है? बोले कि नागपुरमें होता है। उसने तुरन्त कपड़ेके अन्दर हाथ डाला और रामफल निकालकर दे दिया। तो इसका नाम होता है जादूका खेल! इसलिए आप चीजोंको देखकर क्यों मोहमें पड़ जाते हैं कि ये सच्ची हैं? अरे बाबा, आपको सिद्धि चाहिए तो किसी जादूगरकी शरणमें जाकर सिद्धि प्राप्त करो। हम केवल सच्चाईका आदर करते हैं। ये आने-जानेवाली जो चीजें हैं, वे तो आदरकी पात्र नहीं!

'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्'—यह वायु नित्य आकाशमें ही रहती है और सब जगह इसकी अप्रतिहत गति है। यह महान् है माने बड़ा भारी है, महान् शक्तिशाली है। बड़े-बड़े पेड़-पौधोंको तोड़कर गिरा देता है।

अब आओ, इस वायुका पोस्ट-मार्टम करें। आकाशमें वायु क्या है? आकाशमें जो शब्दकी ध्वनि है, यह क्या है? पञ्चदशीमें दो बातें लिखी हैं। एक जगह लिखा है कि आकाशका गुण शब्द है और दूसरी जगह लिखा है कि आकाशका गुण

अवकाश है। आप देखें,दो जगह दो बातें लिखी हैं, और फिर शंका उठाकर इसका समाधान भी किया गया है कि शब्द और अवकाशको दो क्यों बोलते हैं। पर हम जो पोस्ट-मार्टम करते हैं, वह दूसरा है। वह पञ्चदशीवाला नहीं है। प्रक्रियाकी पोथी जब कोई लाकर हमारे सामने रख देता है कि इसमें यह लिखा है, तो हम कहते हैं कि अच्छा भाई ऐसा ही सही! इसी तरह कोई दूसरी प्रक्रिया ले आता है तो उसको भी कह देते हैं कि ऐसा ही सही। यदि कोई अद्वैत सिद्धान्तको स्वीकार कर लेता है तो उसकी प्रक्रियामें हम कुछ दखल-अन्दाजी नहीं करते। हमारा ऐसा ही स्वभाव बना हुआ है। अब आओ पोस्टमार्टम देखो!

आकाशमें द्रव्य होनेके कारण जो परिणाम है, वह तो वायु है और उसमें कालका सम्बन्ध होनेसे दो परिणाम है, वह क ख ग की तरह घट, पट, आदि शब्दोंका क्रमशः उच्चारण है। आकाशमें कालका सम्बन्ध होनेसे शब्दोच्चारणका सम्बन्ध है और आकाशमें देशका सम्बन्ध होनेसे अवकाश है, पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण है। आकाश द्रव्य होनेसे उसका परिणाम वायु है और स्थितिशील होनेसे गति है। तन्मात्रमें द्रव्यत्व, कालत्व और दिक्त्व—ये तीनों अन्य सम्बन्धसे हैं, इसलिए आरोपित हैं। जब आकाशका हम द्रव्यत्वसे, दिक्त्वसे, कालसे पृथक् करेंगे तब आकाश होगा तन्मात्र। तन्मात्र माने निर्विशेष। और जब तन्मात्र ही होगा, तब चिन्मात्रसे भी विशेष नहीं होगा तथा तन्मात्र आकाशसे चिन्मात्र आत्मा भी विशेष नहीं होगा। निर्विशेषसे निर्विशेष पृथक् नहीं होता, सविशेषसे सविशेष पृथक् होता है। दर्शनशास्त्रमें विशेष माने भेद होता है।

तो देखो, आकाशमें जो यह वायु देवता हैं, ये यहाँसे वहाँ जाते हैं और एकके बाद दूसरा झोंका आता है। एकके बाद दूसरा झोंका आना—यह काल सम्बन्धसे है और यहाँसे वहाँ जाना—यह देश सम्बन्धसे है। स्थितिमें जो गति मालूम पड़ती है, वह अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठान सन्मात्रमें ही प्रतीत होती है। इसलिए आकाशका द्रव्यत्व-अवकाशत्व और क्रमित्व, उत्पादकत्व—ये तीनों सच्चिद् अभिन्न ब्रह्मतत्त्वमें कल्पनामात्र हैं।

'सर्वत्रगः'—चित्तका विवर्त है; **'महान्'**—द्रव्यका विवर्त है तथा **'नित्यम्'**—कालका विवर्त है। यही आकाशके भीतर वायुका पोस्टमार्टम है। बखिया उधेड़कर रख दो वायुकी। आकाशमें क्या है? जब वायुमें सत्यत्व नहीं रहेगा तो आकाशमें रहेगा और आकाश निर्गुण होनेपर प्रत्यक्-चैतन्यसे अपनी भिन्नता कहाँसे दिखायेगा? आकाश माने किञ्चित् प्रकाश। *आ* माने *ईषत्* और *काश* माने प्रकाश माने परमात्मा। प्रकाश माने यदि सूर्यादि ज्योति लें, तब तो बात दूसरी है क्योंकि *काश्* धातु दीप्त्यर्थक है।

जैसे आकाशमें वायु है, ठीक उसी तरह मुझ निर्द्रव्य, निर्देश और निःकाल आकाश-स्वरूपमें ये सारे-के-सारे देश स्थित हैं, माने अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठान और प्रकाशकमें ही ये मालूम पड़ते हैं।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ (७)

अहं तो रहता है ज्यों-का त्यों, और हे अर्जुन! ये सारे भूत जो हैं वे मेरी प्रकृति हैं आदत हैं, स्वभाव हैं। जहाँ कुछ हो उसको 'न' कर दे और जहाँ न हो, उसको 'हाँ' कर दे—यही तो परमात्माकी आदत है। हाँ-ना बननेवाले जो पदार्थ हैं, वे कुछ होते ही नहीं हैं। **मामिकां प्रकृतिम्**—इसका अर्थ आप सातवें अध्यायमें सुन ही चुके हैं कि अपरा प्रकृति भी मैं ही हूँ—

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्॥

इसमें '**मे**' है और यहाँ प्रस्तुत प्रसंगमें '**मामिका**' है और जीवभूता जो परा प्रकृति है, वह भी '**मे**' ही है। तो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञरूपा जो प्रकृति है, वह परमात्माकी है। ठीक है, बहुत बढ़िया, परमात्माकी है। पर क्षेत्रज्ञ छोटा होता है कि बड़ा? यदि क्षेत्रज्ञ है तो क्षेत्रज्ञ छोटा कैसे होगा?

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।

जब अव्यक्त-पर्यन्त क्षेत्र है, तब '**एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः**'—वहाँ क्षेत्रेज्ञ माने ईश्वर होगा न! और जब '**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**'—जगत्-धारणकर्ता जीव यहाँ परा प्रकृति होगा, वहाँ वह छोटा कैसे होगा? वहाँ तो बिलकुल बड़ा हो जायेगा और जहाँ '**तथा सर्वाणि भूतानि**' हो गया, वहाँ अक्षर छोटा कैसे हो गया! यह तो बिलकुल अकलकी बात है कि क्षेत्रज्ञका वर्णन ईश्वरसे अभेद करके किया जाता है और क्षेत्रज्ञका वर्णन प्रकृतिसे अभेद करके किया जाता है और जब शुद्ध तत्त्वका ज्ञान होता है, तब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका भेद नहीं रहता है। इसलिए '**मामिका**' शब्दका अर्थ यहाँ क्या है? यही है कि जबतक अज्ञान है, तबतक आपकी दृष्टिसे वह मामिका है और नहीं तो वह विकल्प-मात्र है।

एक बार मैंने भगवान्से पूछा कि हे भगवान्! आपका स्वरूप तो ब्रह्म है, लेकिन आपका स्वभाव क्या है? यह बताओ! भगवान् बोले कि दृक्-मात्र तो मेरा स्वरूप है और द्रष्टापना मेरा स्वभाव है। लेकिन मजबूरी यह है कि जब मैं अपने स्वभावमें आकर तमाशा देखना चाहता हूँ, तब कुछ दूसरा रहता ही नहीं हैं। फिर

द्रष्टा बनकर क्या तमाशा देखूँ? इसलिए जब दूसरा नहीं मिलता है तब अपने आपको ही दृश्य बनाकर देखता हूँ। यह मेरे स्वभावकी लाचारी है कि जब मैं द्रष्टा बनता हूँ, तब अपनेको ही दृश्य बनाकर देखता हूँ और जब स्वरूपमें स्थित होता हूँ, तब द्रष्टापनका स्वभाव भी नहीं और दृश्य बनानेकी जरूरत भी नहीं। परमात्माका स्वरूप है दृक्-मात्र, स्वभाव है द्रष्टा और क्योंकि दृश्य कोई दूसरा है नहीं—इसलिए स्वयं मैं ही द्रष्टा-दृश्यका विभाग, आभासमात्र-विभाग बना लेता हूँ। इसीका नाम प्रतिभास है। आभास-मात्रसृष्टि है। मेरी प्रकृतिमें सबको बाहर फेंक देता हूँ कि जाओ बेटा, जरा घूमकर जाओ—'विसृजाम्यहम्'।

एक बार श्री उड़िया बाबाजी महाराजके यहाँ दो भक्त आपसमें लड़ रहे थे। एकका कहना था कि महाराज बड़े निष्ठुर हैं और दूसरेका कहना था कि वे बड़े दयालु हैं! विवाद इतना बढ़ गया कि वे बोले चलो महराजजीसे पूछें कि आप निष्ठुर हैं कि दयालु हैं? महाराजजीने सुना तो वे बोले कि देखो भाई निष्ठुरता माने असंगता। वह तो हमारा स्वरूप है और दयालुता हमारा स्वभाव है। स्वभावमें दयालुता है और स्वरूपमें निष्ठुरता है। कोई मरे कोई जीये, हम ज्यों-के त्यों!

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ (८)

लेकिन, भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी प्रकृतिको अपने वशमें रखकर ही ऐसा करता हूँ। ईश्वरकी आदत ऐसी नहीं हो सकती, जिससे वह मजबूर हो जाये; नहीं तो उसमें पारतन्त्र्य आजायेगा। इसलिए वह अपनी प्रकृतिको वशमें रखकर सम्पूर्ण भूतग्रामको बाहर फेंकता है, अनेक बार भासित कराता है और फिर सबको समेट लेता है। यह भूतग्राम अवश है और प्रकृतिके अधीन पैदा होकर दीखता भी है और नहीं भी दीखता है।

देखो, जहाँ कार्य-कारणका विवेक होता है, वहाँ कहा जाता है कि वस्तु दीखती है और नहीं दीखती है, तथा जहाँ भोक्ता-भोग्यका विवेक होता है, वहाँ कहते हैं कि कभी भोग्यके रूपमें वस्तु होती है एवं कभी नहीं होती है। आनन्दोल्लास भोक्ता-भोग्य है, दृश्योल्लास द्रष्टा-दृश्य है और कार्य-कारणका जो उल्लास है, वह कार्य-कारण है। परमात्मामें कारणत्व, दृक्त्व, भोक्तृत्व—ये तीनों व्यावहारिक दृष्टिसे हैं। परमार्थ दृष्टिसे न कारणत्व है, न द्रष्टृत्व है और न भोक्तृत्व है। क्योंकि न कार्य है, न दृश्य है, और न भोग्य है। यह परमात्माका स्वरूप है।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ (९)

भगवान् कहते हैं कि अरे ओ धनंजय! तू प्रदीप्त ज्ञानाग्नि है। संस्कृत भाषामें धनंजय माने अग्नि होता है। भगवान्का आशय है कि जब तुझे कभी कोई कर्म नहीं बाँधते, फिर मुझको कहाँसे बाँधेंगे! भला कहीं ज्ञानाग्निको कर्म बाँधते है?

मैं तो उदासीनके समान आसीन हूँ—'**उदासीनवदासीनम्**'। उदासीनका अर्थ होता है प्रज्ञाकी छतपर चढ़ जानेवाला।

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचते जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

अर्थात् जैसे पहाड़पर बैठा हुआ आदमी नालेमें घूमते हुए हाथीको सूअरकी तरह देखे—वह न उससे डरे, न उसका उसपर चढ़नेका मन करे। क्योंकि वह तो इतने ऊँचे पहाड़पर बैठा है, कि हाथीपर चढ़नेसे क्या होगा? इसी प्रकार उदासीनवत्—माने सबसे ऊर्ध्व ब्रह्ममें आसीन होकर बैठा हुआ है, ऊर्ध्वासीनके समान बैठा हुआ है और किसी कर्ममें उसकी आसक्ति नहीं है, कि यह कर्म ही हो—'**असक्तं तेषु कर्मसु**।'

जैसे कोई यज्ञ प्रारम्भ कर दिया, तो उसको पूरा करना कर्त्तव्य हो जाता है। इसलिए कि समूहापूर्वकी उत्पत्ति ही नहीं होगी, जबतक ब्राह्मणको दक्षिणा देकर '*सम्पन्नं सम्पन्नं*' नहीं कहला लेंगे। ब्राह्मणको दिये बिना यज्ञ पूरा नहीं होता। अवभृथ-स्नान-पर्यन्त याग और ब्राह्मणकी दक्षिणा-पर्यन्त यज्ञ। मान लो कि आज यज्ञ पूरा हुआ और एक रातके बाद दक्षिणा दी गयी; तो दूसरे दिन एक रातका ब्याज देना चाहिए—ऐसा लिखा है धर्मशास्त्रमें। एक दिन तुमने दक्षिणा रोकी क्यों? इसलिए ऐसी स्थितिमें पण्डित लोग तो दक्षिणा तो ले लेते हैं और संकोचके मारे ब्याज छोड़ देते हैं यजमान पर। इसलिए उससे भी समूहापूर्व उत्पन्न होनेमें बाधा पड़ती है। अवयवापूर्व अलग होता है और समूहापूर्व अलग होता है! यज्ञ तो तभी पूरा होता है। काम चाहे पूरा हो चाहे न हो, फल चाहे पैदा न हो; जो कर्म हो रहा है—हो रहा है; जहाँ छूट गया, वहाँ छूट गया। हमें एक महात्माने बचपनमें बताया था कि यदि परमेश्वरके यहाँसे आज्ञा आ जाये कि आओ, तो परमात्मासे यह मत कहना कि एक सेकेण्ड ठहरो, जरा यह काम कर लें, जरा बेटेसे मिल लें, जरा वसीयत लिख लें जरा पैसा सम्भाल लें। '**असक्तं तेषु कर्मसु**'—अरे, परमात्माका बुलावा आया, और फेंक दिया काम जहाँका-तहाँ। हम कोई कर्मके दास हैं कि उसको पूरा किये बिना नहीं रह सकते!

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ (१०)

अब भगवान् बोले कि मैं तो हूँ अध्यक्ष। अध्यक्षका अर्थ यह है—अक्ष तो हैं अनेक—आँख भी अक्ष है, नासिका भी अक्ष है, कान भी अक्ष है, त्वचा भी अक्ष है, जीभ भी अक्ष है। जो विषयमें व्याप्त हो उसको अक्ष बोलते हैं—*'अश्नुते इति।* जो विषयावच्छिन्न चैतन्यसे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यके ऐक्यमें मददगार हो, उसको बोलते हैं अक्ष। इसीसे धुरेपर चढ़कर पहिया भी चलता है और रथ भी। धुरा ही अक्ष है।

तो महाराज, अक्ष तो अनेक हैं, परन्तु अध्यक्ष तो एक है। यहाँ एक विनोदकी बात सुना देते हैं। यह 'अधि' चाहे ह्रस्व हो, चाहे दीर्घ हो, अध्यक्ष बननेमें कोई बाधा नहीं पड़ती—*'अधीषु धीरहितेषु मूर्खेषु अक्षाणि यस्य असौ अध्यक्षः।'* इसका अर्थ है कि जो मूर्खोंकी देख-भाल करे, उसका नाम अध्यक्ष है। अध्यक्ष वह गड़ेरिया है जो बहुत भेड़ोंकी देख-भाल करता है और वह ज्ञानी है, जो बहुत-से बेवकूफ चेलोंका सञ्चालन करता है। यह बात है तो विनोदके लिए, लेकिन अगर कोई व्याकरणसे दोष निकाल दे तो हम शास्त्रार्थ करनेको तैयार हैं।

तो, **'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः'**—ये सारे जीव मूर्ख हैं और प्रकृति बिलकुल अन्धी है। इनको अध्यक्षकी जरूरत होती है, जो प्रकृतिको भी ठीक रास्तेसे चलाये और जीवको भी ठीक रास्तेसे चलाये इसलिए मैं अध्यक्ष बनकर बैठा हूँ। **'सूयते सचराचरम्'**—यह कापिल सांख्यका सिद्धान्त है और खूब असंगत है। असंगत क्या, दुराचारपूर्ण है। कैसे? आप नाराज मत होना हम कोई आक्षेप थोड़े ही करते हैं। यह तो सिद्धान्तकी बात करते हैं? पुरुष तो है असंग और प्रकृति बच्चे पैदा करती जाती है। इसलिए भगवान्‌ने कहा कि भाई नहीं, असंग पुरुषसे प्रकृतिमें बच्चे नहीं होते हैं। तब क्या होता है महाराज! मुझ ईश्वरके संयोग द्वारा प्रकृतिसे बच्चे होते हैं।

देखो, महात्मा लोग ऐसा बोलते हैं कि माया इतनी चालाक है कि अपने पति ब्रह्मसे तो उसका कभी संयोग नहीं हुआ और इसने बच्चे-पर-बच्चे पैदा करके दिखा दिये। इसीलिए तो इसे माया बोलते हैं। पर भगवान्‌ने कहा कि नहीं भाई, प्रकृतिको ऐसे मत बोलो। उसे गाली मत दो। उसका पति मैं हूँ। वह जो बच्चे-पर-बच्चे पैदा करती है, उसमें मेरा हाथ है। जब पति स्वीकार कर ले कि मेरा बच्चा है, तब दुनियामें किसीको अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं रहा।

'हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते'—बात यह है कि चूँकि प्रकृतिका उसमें संयोग हो गया, इसलिए यही कारण है। अगर मैं ही रहता और मेरे ही बच्चे रहते, तो जैसे मैं एकरस, वैसे प्रपंच भी एकरस हो जाता। लेकिन प्रकृति इसमें जुड़ गयी, इसलिए **'विपरिवर्तते।'** यहाँ यदि केवल *परिवर्तते* कहना होता, तो *'परिणमते'*

हो जाता। लेकिन श्रीकृष्णके दिमागमें ऐसा वेदान्त भरा हुआ है कि जहाँ नहीं बोलना चाहिए वहाँ भी बोल देते हैं। भला *'परिवर्तते'* के साथ *'वि'* लगानेकी क्या जरूरत थी? इसका अर्थ *'विपरीतं परिवर्तते'* हो गया न? *'यथाधिष्ठानं तथा न परिवर्तते। विपरीतं यथा स्यात् तथा परिवर्तते।'* हमारी अधिष्ठानता, एकरसता, अद्वितीयताके विपरीत यह परिवर्तन होता है। यह *'परीत'* नहीं है, *'वि-परीत'* है। *'परीत'* माने अनुगत होता है, अन्वित होता है। अधिष्ठानसत्ता अनुगत हो तो *'परीत'* होगा और *'विपरीत'* माने अधिष्ठान तो अनुगत ही नहीं होता है और अध्यस्त सारा-का-सारा दिखता है। अतः यह जो विपरीत शब्द है, इसमें *'ईत'* है *'इण्'* धातुका और *'परि'* है उपसर्ग। *'परीत'* माने पर्यनुगत और *'विपरीत'* माने अननुगत, जैसे बापके अनुरूप बेटा नहीं हुआ।

तो **'जगद् विपरिवर्तते'**—कहाँ तो परमात्मा इसके अध्यस्त—**'मया ततमिदं सर्वम्, मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'**—और कहाँ यह प्रकृति! इसलिए अध्यक्षके अनुरूप जगत् नहीं होता, प्रकृतिके अनुरूप जगत् होता है। प्रकृति माने परमेश्वरका मूड। जैसे मूड बदलता रहता है, वैसे ही यह सृष्टि भी बदलती रहती है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ (११)

'अवजानन्ति मां मूढाः'—वही ब्रह्म मैं हूँ, वही अध्यक्ष मैं हूँ, वही अद्वितीय तत्त्व मैं हूँ, परन्तु मैं अद्वितीय तत्त्व-स्वरूप होनेपर भी जब मनुष्य शरीरके रूपमें दीख रहा हूँ तब लोग मेरा अपमान करते हैं। अरे, मैं मनुष्य नहीं हूँ, मनुष्य शरीराभिमानी नहीं हूँ, मेरे भीतर देह-देहीका विभाग नहीं है। भागवतमें आया है—

देहदेहीविभागोऽयम् अविवेककृतः पुरा।
जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथावस्तूनि कल्पितः॥

यह देह है और इसके भीतर देही बैठा है। देहकी गोदमें देही है—यह अविवेक है। पुरा माने अनादि अविवेककृत है। जैसे मिट्टीका एक घड़ा या हजारों घड़े—सब-के-सब मिट्टीमें कल्पित हैं, सब मिट्टी हैं, इसी प्रकार मेरे स्वरूपमें ये कल्पित हैं। लेकिन लोग मुझे मनुष्य समझकर कर्ता-भोक्ता, पापी-पुण्यात्मा मानते हैं।

देखो, कई तो गाली भी देते हैं। जैसे महाभारतके अनुसार श्रीकृष्णको रुक्मीने गाली दी, शिशुपालने गाली दी, जरासंधने गाली दी और कर्णने भी गाली दी। महाभारतमें बहुत गालियाँ दी हैं-यह ग्वारिया, राजाओंसे डरके भग गया, समुद्रमें बसा, ऐसा किया, वैसा किया; बीसों कलंक लगाये कृष्णके ऊपर। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये लोग मुझको पापी समझते हैं, पुण्यात्मा समझते हैं, कर्ता समझते हैं, भोक्ता समझते हैं, सुखी-दुःखी समझते हैं, यहाँतक कि नरक-स्वर्गमें गमनागमन

करनेवाला और परिच्छिन्न समझते हैं। ये लोग मेरा मानव शरीर देखकर, चाम देखकर मेरी ब्रह्मताको नहीं समझते हैं।

'परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्'—मेरा जो परम भाव है, भूत-महेश्वर भाव है, परमैश्वर्य है—उसे लोग जानते नहीं हैं। अरे, मैं भूत-महेश्वररूपमें भूतोंको नचाता हूँ।

एक महात्मा थे। उनके पास कभी चोर भी आकर रह जाते थे, कभी डाकू भी आकर टिक जाते थे, कभी सदाचारिणी-दुराचारिणी स्त्रियाँ आजातीं और कभी सदाचारी-दुराचारी पुरुष भी आ जाते थे। लोग कहते थे कि महाराज, ऐसे आदमी आपके पास कैसे आजाते हैं? महात्मा कहते कि भाई शंकरजीका ऐसा स्वभाव ही है कि उनके पास भूत-प्रेत जाते हैं। यह कृष्ण भगवान्‌का स्वभाव ही है कि उनके पास ग्वाल-बाल रहते हैं। जो बड़े-बड़े सदाचारी वैदिक ब्राह्मण होते हैं, वे सोचते हैं कि हम अपने कर्मसे ही पार उतर जायेंगे, हमें किसी महात्माके पास जानेकी क्या जरूरत है! अभिमानमें डूबे हुए लोग महात्माओंके पास नहीं आते। लेकिन जिनके भीतर आत्म-निरीक्षणकी भावना होती है, जिनको अपने अन्दर त्रुटियाँ मालूम पड़ती हैं, उनका कल्याण महात्माओंके द्वारा खास तौरपरसे होता है। महात्माओंके द्वारपर ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है कि पुण्यात्मा लोग तो महात्माओंके पास जायें और पापी न जायें।

ऐसे ही भगवान् भी भूत-महेश्वर हैं, भूतोंको नचानेवाले हैं। इनको साधारण मनुष्य समझकर इनके ऊपर टीका-टिप्पणी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ये तो साक्षात् भगवान् हैं। भगवान् कहते हैं कि मेरी अवमानना करनेवालोंको मेरा अपमान करनेसे कुछ फल मिलता हो, कुछ फायदा होता हो ऐसा भी नहीं है।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ (१२)

'मोघाशाः' उनकी आशा विफल हो जाती है। जिस फलकी आशा लेकर काम करते हैं, वह आशा भगवान्‌के अवमानसे पूरी नहीं होती। विफल हो जाती है उनकी आशा। **'मोघकर्माणः'** उनका कर्म भी सांगोपांग नहीं होता। उनके कर्ममें वैफल्य आ जाता है; और ज्ञान भी उनका यथार्थ नहीं होता, इसलिए अज्ञान आजाता है। उनके ज्ञानमें वैगुण्य आजाता है, माने ज्ञानमें अविद्या-निवर्तकत्व जो गुण है, वह गुण नहीं आता है। उस प्रकार उनकी आशामें वैफल्य आया, कर्ममें वैफल्य आया और ज्ञानमें वैगुण्य आया। इतना ही नहीं, **'विचेतसः'** जैसे कोई सन्निपातका रोगी इधर-उधर भटकता हो, वैसे ही वे भटकते है।

'**राक्षसीमासुरीम्**' रजोगुणके दो भेद हैं: एक आसुर—स्वार्थ प्रधान और दूसरा राक्षस—दूसरेको हानि पहुँचाना। एक तीसरी मोहिनी है। यह मोहिनी माया ऐसी है कि उसमें कुछ सूझता ही नहीं है कि कर्तव्याकर्तव्य क्या है। यह अत्यन्त घोर तमोगुण है। आसुरी माया रजोगुण है, राक्षसी माया तमोभिमुख है, रजोगुण है ओर मोहिनी माया नितान्त तमोगुण है। इन तीनोंमें सत्त्वका लेश भी नहीं है। लेकिन लोग इन्हींका आश्रय लेते हैं, परमेश्वरका नहीं लेते। अच्छा बाबा, सत्त्वगुणी लोग क्या करते हैं, यह तो बताओ।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ (१३)

देखो भाई, '**महात्मानस्तु**' महात्मा लोग उनसे विलक्षण हैं। उनमें आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृति नहीं है। ये आलस्य, प्रमाद भी नहीं करते हैं, दूसरेको हानि भी नहीं पहुँचाते हैं और स्वार्थ-परायण भी नहीं होते हैं। यहाँ जो '**तु**' पद है, वह पूर्वोक्त मनुष्योंसे महात्माओंको विलक्षण कर देता है।

वेदान्तमें भिन्न शब्द ज्यादा नहीं चलता है, विलक्षण ही चलता है क्योंकि लक्षणमें ही भेद होता है, वस्तुमें तो होता ही नहीं। लक्षण माने किस कोणसे फोटो लिया गया है—बस इतना ही।

महात्मा लोग दैवी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं। दैवी प्रकृति माने देदीप्यमान प्रकृति—जिसमें सारी दुनियाँ खेल मालूम पड़ती है। महात्माओंमें सारी प्रकृतिपर बुरी आदतोंपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा है। ये दैवी प्रकृतिका आश्रय लेकर '**भूतादिमव्ययम् मां ज्ञात्वा**' माने मैं ही सम्पूर्ण भूतोंका आदि हूँ—ऐसा ज्ञान रखते हैं।

एक बात इसमें भी कह देनेकी है। '**आदि**' माने 'पहले' नहीं है। अरे यह कहना, कि जहाँसे पश्चिम-पूर्व-उत्तर-दक्षिण शुरू होते हैं—सिवाय विकल्पके और कुछ हो सकता है? आप देखो, पश्चिम-पूर्व-उत्तर-दक्षिण आदि दिशाएँ तो कहींसे शुरू होती ही नहीं हैं। उससे पहले, उससे पहले, उससे पहले! इस प्रकार किसी दिशाका आदि है कहीं? नहीं है न! इसलिए भूतादिका अर्थ क्या हो गया? दिशाओंका आदि? नहीं-नहीं। कालका आदि? अमुक संवत्में, अमुक महीनेमें इतने बजकर इतने मिनटपर जब हमारा जन्म हुआ—तब क्या हमारे जन्मका आदि क्षण वह है? भूतोंके जन्मका आदि क्षण क्या परमात्मा हैं? नहीं, बिलकुल गलत है, विकल्प है यह। भूतोंके जन्मका आदि क्षण होता ही नहीं है। वह तो कल्पित लकीर खींचनी पड़ती है। तब भूतादिका अर्थ क्या होता है? यह भूतोंका मान

जहाँसे होता है, वह सर्वावभासक, भूतावभासक स्वयं-प्रकाश वस्तु ही असलमें भूतादि है। किताब पढ़कर यह मत समझना कि हम सब समझ लेंगे। इसके लिए महात्माओंके यहाँ जाना ही पड़ेगा।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।

सर्व माने क्या? आँख बन्द करके सोचते हो कि जिस दिन यह धरती-पानी आदि पैदा नहीं हुए होंगे, उस दिन जो था, वह परमात्मा? नहीं-नहीं, यह मिट्टी जहाँ नहीं होगी, वहाँ आदि होगा भूतका। देशमें आदि नहीं होता, कालमें आदि नहीं होता और प्रकृतिमें भी आदि नहीं होता, क्योंकि वहाँ सृष्टि और प्रलयका क्रम अनादिका है। तब? यह जो भानात्मा परमात्मा है—'*भानमात्रं परं ब्रह्म प्रत्यक् चैतन्यम्*'—यही भूतादि और यही *अव्यय* है, अविनाशी है। इसको समझकर यह जान लो कि '**अनन्य-मनसः**'—उससे भिन्न और कुछ है ही नहीं। इसमें भजनका स्वरूप भी आ गया—**भजन्ते**। '*परमात्मातिरिक्तं किंचिन्नास्ति*'—परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—यही भजनका स्वरूप है।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ (१४)

'**सततं कीर्तयन्तो माम्**'—भगवान् कहते हैं कि जहाँ भी दृष्टि जाये, वहाँ निरन्तर मेरा कीर्तन करो। कीर्तनमें संशब्दन है। यह *कीर्त धातु संशब्दने*—सम्यक् शब्दन अर्थमें है। अपनी वाणीसे एक बार बोलो कि परमात्मा ऐसा है, और फिर सोचो कि उस बोलनेमें कुछ गलती तो नहीं रह गयी! कहीं उसमें माया-छायाका समावेश तो नहीं हो गया! उसमें एक परिष्कार करो कि नहीं, यह बात उसमें-से हटा दो और यह रखो। किन्तु जो लक्षण बनाओ, उसमें कोई व्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोष न रह जाये। ब्रह्मके लक्षणका संशब्दन करो, आत्माके लक्षणका संशब्दन करो। अब भक्त लोग एक बात सुन लें! भगवान्‌के स्वरूपका संकीर्तन वेदान्ती लोग करते हैं, स्वभावका संकीर्तन शरणागत लोग करते हैं, गुणका संकीर्तन ध्यानी लोग करते हैं और रूप एवं लीलाका संकीर्तन प्रेमी लोग करते हैं—'*संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्राम्।*' संसारके जो आदर्श प्रेमी या समाज-सेवी होते हैं, वे कहते हैं कि देखो, भगवान् किस प्रकार अपने पिताकी आज्ञा मानते थे, माताका आदर करते हैं। संकीर्तन सबका होता है।

'**यतन्तश्च**'—भगवान् बोले कि जबानी जमाखर्च नहीं; प्रयत्न भी करो साधन भी करो। यह नहीं कि एक दिन किया, दूसरे दिन नहीं किया।

'**दृढव्रताः**'—अपने व्रतका पक्का होना चाहिए। हारे हुए लोग कह देते हैं कि अरे, कहाँ है परमात्मा? आओ, ऐसे ही कथा-वार्ता करके जिन्दगीका निर्वाह कर

लेना है। वे कथा-वार्ता करके हार गये हैं। परमात्माको ढूँढ़नेके लिए कोई तकलीफ उठानी गवारा नहीं की। लेकिन उसमें तकलीफ क्या उठानी पड़ती है? कि अपनेको छोटा बनाना पड़ता है।

'नमस्यन्तश्च मां भक्त्या'—मनुष्यको बड़ा होनेकी ऐसी हविश होती है कि वह किसीके सामने झुकना नहीं चाहता। वह कहता है कि *'क्या हम तुम तें कछु घाट?'* लेकिन भगवान् कहते हैं कि प्रेमपूर्वक *नमस्* बन जाओ। *नम: नम: नम:—नमांसि*। अरे दिन भरमें पाँच बार नहीं चौबीस घण्टेकी नमाज पढ़ो। स्वयं नमाजरूप बन जाओ।

देखो, पहले हम *नम:* शब्दका प्रयोग केवल अव्ययमें ही किया करते थे। परन्तु महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री बड़े भारी विद्वान् हुए हैं वेदान्त शास्त्रके, धर्मशास्त्रके। वे मुझे चिट्ठी लिखते थे तो ऐसे लिखते थे कि *'भूयांसि, नमांसि सन्तु'*—आपको मेरा बार-बार नमस्कार। तब हमारा ध्यान गया कि ठीक है भाई, यह 'नम:, नमसि, नमांसि' भी ठीक ही है।

तो *'स्वयं नमस्यति, नम इवाचरति'* नमस्कार बन जाओ। वैष्णव शास्त्रमें नमस्कार माने यह लिखा है कि *'न मे इति नम:'*—मेरा कुछ नहीं है, जो कुछ भी है सो तेरा है। 'मेरा कुछ नहीं है'—यह विरक्त नमस्कार हुआ और 'जो कुछ है सो तेरा'—यह वैष्णव नमस्कार हुआ। केवल स्व-स्वत्व-निवृत्ति ही विरक्तोंका नमस्कार है और स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक भगवत्स्वत्वापादान—यह भक्तोंका नमस्कार है। भक्त-नमस्कार और विरक्त-नमस्कारमें फर्क होता है। साँड़को छोड़ देना—वह स्वस्वत्वका परित्याग है। इसलिए उसे उत्सर्ग बोलते हैं, वृषोत्सर्ग बोलते हैं—उसको वृषदान नहीं बोलते हैं। क्योंकि स्वस्वत्वनिवृत्ति मात्र ही वहाँ अभीष्ट है। परन्तु जब ब्राह्मणको गाय देते हैं तब स्वस्वत्वनिवृत्ति-पूर्वक ब्राह्मण-स्वत्वोपादान रूप दान होता है। दान और त्यागमें अन्तर है। इसी तरह विरक्त और भक्तके नमस्कारमें भी अन्तर है।

'नित्ययुक्ता उपासते'—यहाँ जो नित्ययुक्त है, वह क्या है? यदि परमात्मा एक होगा तो वह सुषुप्तिमें छूट जायेगा कि नहीं? *'तत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता भवति'* सुषुप्तिमें ऐसा हो जायेगा कि नहीं? किन्तु यदि परमात्मा सुषुप्तिके प्रकाशक और अधिष्ठानसे एक होगा तो सुषुप्तिमें भी नहीं छूटेगा। इसलिए **'नित्ययुक्ता:'**का अर्थ है *'ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।'* यहाँ **'नित्ययुक्त:'** क्यों नहीं बोलते? देखो, हम जगत्को भी नित्य मानते हैं, गुरुको भी नित्य मानते हैं और प्रकृतिको भी नित्य मानते हैं, परन्तु सत्य नहीं मानते। नित्यत्व प्रवाही भी होता है, परन्तु सत्य केवल अबाधित ही होता है। हम जगत्को अनादि मानते हैं, प्रकृतिको

अनादि मानते हैं, जीवको अनादि मानते हैं और नित्यको भी मानते हैं, परन्तु सत्य नहीं मानते हैं। क्यों ? बोले कि हमारे सत्यका लक्षण अबाधितत्त्व सत्यका लक्षण है। यदि परमात्मा अपनी आत्माका स्वरूप नहीं होगा तो नित्ययुक्तता नहीं बनेगी। इसलिए उसको अज्ञानके कारण ही 'उपासते' हैं।

ज्ञानयज्ञेय चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ (१५)

अब भगवान् परमात्माकी उपासनाके प्रकार बताते हुए कहते हैं कि वे भिन्न-भिन्न हैं। कोई कहते हैं कि ज्ञानयज्ञ ही परमात्माकी उपासना है, कर्मकाण्ड नहीं। कर्मकाण्डको तो कर्मकाण्डियोंने ऐसा बिगाड़ा है कि कुछ मत पूछिये! हम श्रौत कर्मके बारेमें, स्मार्त कर्मके बारेमें और इसकी जो मीमांसा है—उसके बारेमें भी जानते हैं। यदि ईश्वरका एकत्व स्वीकार नहीं करेंगे, ईश्वरका फलदातृत्व स्वीकार नहीं करेंगे और यह मानेंगे कि प्रत्येक देवता मन्त्रोच्चारणके समय तद्-तद् यज्ञमें हविष्यादान कर्मके रूपमें प्रकट होकर हविष्य ग्रहण कर लेता है तथा फिर भिन्न-भिन्न यज्ञमें भिन्न-भिन्न होता है एवं फलदाता अचेतन अपूर्व होता है तो वह यज्ञ परमेश्वरकी आराधना कैसे बनेगा? यहाँ तो पौराणिक यज्ञ ही परमेश्वरकी आराधना बनते हैं। श्रौत स्मार्त यज्ञ कैसे परमेश्वरकी आराधना बनेंगे? इसीलिए उनमें संन्यासका विधान है। पौराणिक यज्ञमें संन्यासका विधान नहीं है। क्योंकि वे तो ईश्वरोपासनाके अंग हैं।

इसीलिए '**ज्ञानयज्ञेन**'—कहते हैं कि हमको कर्मयज्ञ नहीं चाहिए; हमें तो ज्ञानयज्ञ चाहिए। हम ज्ञानयज्ञसे भगवान्का यजन करेंगे। ज्ञानयज्ञ क्या है, इसपर भागवतमें बड़ा विचार किया गया है। वहाँ कहा गया है कि और सब कर्म तो यज्ञ हैं किन्तु भागवत ज्ञान-यज्ञ है। क्यों ज्ञान-यज्ञ है? बोले, कि वाणीसे बोला जाता है—इसलिए तो कर्म है और परमेश्वर-विषयक ज्ञान देता है—इसलिए ज्ञान है। तो ज्ञान और यज्ञ दोनोंका मिश्रण हो गया। वाक्से उच्चारण कर्म है, हाथसे स्रुवा लेकर आहुति देना कर्म है, वाणीसे मन्त्रोच्चारण भी कर्म है, परन्तु वहाँ ईश्वरके एकत्वका ज्ञान नहीं है और श्रीमद्भागवतमें ईश्वरके एकत्वका ज्ञान है तथा वाक्रूप स्रुवासे शब्दरूप हविष्यकी आहुति है। इसलिए वह ज्ञान-यज्ञ है, यह यजन है।

'**एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्**'—एकत्वेन माने ईश्वरत्वेन। एक ईश्वर है जगत्का कारण, उसका यजन करो और पृथक्त्वेन माने ईश्वर अलग है, जीव अलग है—ऐसे आराधना करो तथा '**बहुधा विश्वतोमुखम्**' माने विराट् रूपसे वही प्रकट है। '*अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे*'—इस प्रकार उसकी उपासना करो। भगवान् ऐसे क्यों बोलते हैं कि वे सर्वात्मा हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ (१६)

'**अहं क्रतुः**' माने जो यज्ञ संकल्पपूर्वक किया जाता है। एक प्रकारसे क्रतु जो है, वह मुख्य यज्ञकी विकृति ही है। यज्ञ दो प्रकारके होते हैं—एक प्रकृति, दूसरा विकृति। जो विकृतिरूप यज्ञ आदि हैं, उनको क्रतु कहते हैं। '**अहं यज्ञः**'—मैं यज्ञ हूँ। इसका अर्थ है कि विकृतिरूप यज्ञ भी मैं ही हूँ और प्रकृतिरूप यज्ञ भी मैं ही हूँ। अच्छा महाराज, यह तो बोल दिया कि क्रतु और यज्ञ दोनों देवता-विषयक हैं। अब पितरोंके लिए भी कुछ बोलते हो? बोले कि '**स्वधाहम्**'—पितरोंके लिए जो किया जाता है, वह भी मैं ही हूँ। और लो, '**अहम् औषधम्**'—यह जो यज्ञमें जौ-तिल-तन्दुल आदिकी आहुति दी जाती है, वह सब औषध है। *'ओषति दोषान्' धत्ते गुणान्'*—जो हमारे दोषोंका अपनयन करे और गुणोंका आधान करे, उसका नाम औषध है। वह औषध मैं ही हूँ। '**मन्त्रोऽहम्**'—यज्ञमें जो मन्त्र बोले जाते हैं, वह सब भी मैं ही हूँ। मन्त्रमें प्रकृति है, विकृति है, स्वधा है—पहले नान्दी श्राद्ध करके यज्ञका आरम्भ करते हैं जिसमें बीचमें विघ्न न पड़े, सूतक-पातक न लगे।

तो भगवान् ही साकल्य हैं—आहुतिकी सामग्री हैं, घृतादि हैं—और मन्त्र भी वही हैं—'**अहमेवाज्यम्**'। जिस अग्निमें हवन किया जाता है, वह भी भगवान् ही है और '**अहं हुतम्**'—जो हवन-क्रिया है, वह भी भगवान् ही है। इसका अर्थ क्या हुआ? कि भगवान् सर्वात्मक हैं और '**बहुधा विश्वतोमुखम्**'—यजन जो होता है, वह भी उन्हींका होता है, इसका अर्थ होता है कि हम चीटींको जो शक्कर देते हैं और बलिवैश्वदेवके समय कौए और कुत्तेको भी जो कुछ देते हैं, उन सबको भगवान् ग्रहण करते हैं। हे भगवान्! सृष्टिमें ऐसा कोई धर्म तो नहीं मालूम पड़ता! लोग भले ही कहें कि यह भी एक मजहब है, यह भी एक मजहब है—लेकिन और किस मजहबमें कौओं और कुत्तोंको भी भोजन देनेकी व्यवस्था है। इतना नहीं, जब हम तर्पण करते हैं तब थालीमें जो जूठा लगा रह जाता है और उसको धोनेपर धरतीपर गिरता है, वह भी भगवान्का होता है।

ईश्वरवादी लोग ईश्वरमें छह ऐश्वर्य मानते हैं। लेकिन श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा कि भाई, मैं अकेले ईश्वर नहीं हूँ। तो और क्या हैं कि मैं भगवान् भी हूँ। ईश्वर तो कारणोपाधिक होता है। वहाँ माया तो बेचारी अकेली होती है और ईश्वर भी अकेला और माया भी अकेली! कार्यकी कोई उपाधि ही नहीं। परन्तु यहाँ श्रीकृष्णका जो भगवत्व है, इसको देखो!

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ (१७)

यहाँ जो बात कही गयी है, वह सारी-की-सारी कर्मोपाधिकको स्वीकार करके ही कही गयी है। किन्तु भगवान् कहते हैं कि मैं केवल कारणोपाधिक ही नहीं हूँ, कार्योपाधिक भी मैं ही हूँ। क्योंकि, कार्य-कारणकी उपाधिमें भेद भले ही हो, उपहितमें भेद नहीं है।'*पिताहमस्य जगतः*'—सारे जगत्का बाप मैं ही हूँ। जो बाप होता है, वह माँ नहीं होता और जो माँ है वह बाप नहीं है—यह तो आप जानते ही हैं। इसका अर्थ क्या हुआ? कि पितृत्वावच्छिन्न चैतन्य, मातृत्वावच्छिन्न चैतन्य मैं ही हूँ। इसकी संगति चैतन्यमें ही लगेगी।

'माता-धाता'—धाता मैं ही हूँ, विधाता भी मैं ही हूँ और पितामह भी मैं ही हूँ। जो पिता होता है वह पितामह नहीं होता; एकका पिता होगा तो दूसरेका पितामह होगा। भगवान् बोलते हैं कि मैं जगत्का बाप भी हूँ, माँ भी हूँ, धाता भी हूँ, पितामह भी हूँ और '**वेद्यं पवित्रमोंकारः**'—ओंकार अभिधेय भी मैं ही हूँ और ओंकार अभिधान भी मैं ही हूँ। ओंकारका जो विस्तार है—**ऋक्साम-यजुः**—यह सब भी मैं ही हूँ।

ऋक् चित्प्रधान है, साम आनन्द-प्रधान है और यजुः कर्मप्रधान है। सत्-प्रधान यजुः और चित्-प्रधान ऋक्के बीचमें आनन्द-प्रधान साम है। *'गीतिषु सामाख्या'*—साममें संगीतका आनन्द है। *'भूमा वै सुखम्, यदल्पं तन्मर्त्यम् नाल्पे सुखमस्ति। यो वै भूमा तत्सुखम्'*—यह विद्या सामकी ही है '**ऋक् साम यजुरेव च**'—ऋग्वेद-सामवेद-यजुर्वेद मैं ही हूँ। परन्तु ये जो वेद हैं, उनमें भगवान् कहाँ होते हैं? वे होते हैं मनोमय कोशमें। यजुर्वेदमें तो लिखा है कि विराट्से वेदोंकी उत्पत्ति हुई।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि यज्ञिरे।
छन्दांसि यज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत॥

ये वेद भी 'प्रवाही नित्य' हैं, 'कूटस्थ नित्य' नहीं हैं। मीमांसकोंके मतमें तो *'न कदापि अनीदृशं जगत्'* जगत् भी अपौरुषेय ही है; किसी ईश्वरने जगत्को नहीं बनाया है। इसलिए उनके मतमें वेदका अपौरुषेय होना कोई अश्चर्य नहीं है, परन्तु जहाँ ईश्वरकी दृष्टि है वहाँ पूर्वकल्पानुपूर्वीका स्मरण करके सृष्टिके प्रारम्भमें ईश्वर वेदका दान करता है, और उनके यहाँ सृष्टि-प्रलय है ही नहीं। इसलिए वेद नित्य हैं, अपने-अपने दर्शनके अनुसार। अब आओ, मजेदार बात देखो कि भगवान् अपने भीतर क्या-क्या बताते हैं!

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ (१८)

देख लो गिनती करके! बारह बातें हैं। ये ऐश्वर्यमें जो बातें होती हैं, उनसे दुगुना हैं। पहली बात है '**गतिः**'—इसका अर्थ है कि तुम कर्म करके जिस फलको प्राप्त करना चाहते हो, वह मैं ही हूँ। पुत्र प्राप्त करके क्या करोगे? पुत्र तो कर्मफल है। स्वर्ग प्राप्त करके क्या करोगे? वह यज्ञका फल है और यज्ञ मैं हूँ। मैं ही तुम्हारा बेटा हूँ। ब्याह करके क्या फल मिलेगा? पति मिलेगा न! वह मैं ही हूँ। गति माने फल और मैं फलात्मा हूँ। दूसरी बात है '**भर्ता**'। मैं भर्ता हूँ माने पोषक मैं ही हूँ। सिंचाई करनेके लिए मालीकी शरण मत लो और फल पानेके लिए दूसरेके पास मत जाओ। तीसरी बात है '**प्रभुः**'। प्रभु माने मैं स्वामी हूँ, समर्थ हूँ। चौथी बात है '**साक्षी**'। इसका अर्थ है कि तुम हमसे छिपाकर कुछ नहीं कर सकते, हम सब देखते रहते हैं। अच्छा महाराज, आपकी आँख कितनी दूरतक देखती है? कान कितने लम्बेतक सुनते हैं? बोले कि 'साक्षी' अर्थात् '*साक्षात् पश्यति। करणं विनैव पश्यति। कार्योपाधिम्-विनैव पश्यति इति साक्षी:*'—मैं आँखसे नहीं देखता, कानसे नहीं सुनता, मनसे संकल्प नहीं करता और बुद्धिसे विचार नहीं करता। '*पश्यत्यचक्षु: स श्रृणोत्यकर्ण:। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता।*

पग बिनु चले सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करइ बिधि नाना॥
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
त्वक् बिनु परस नयन बिनु देखा। गहहि घ्रान बिधि बास अशेषा॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी।

साक्षी माने—*साक्षात्, करण-निरपेक्षं*। जीव करण-सापेक्ष देखता है और ईश्वर करण-निरपेक्ष देखता है। पाँचवीं बात है '**निवासः**' अर्थात् मैं दूरसे देखनेवाला नहीं हूँ। अधिष्ठान मैं ही हूँ। छठी बात है '**शरणम्**'—माने सबके उपसंहारका स्थान मैं ही हूँ। '*शरणम् प्रपन्नानाम् आर्तिहर:*'—जब तुम कार्यमें बर्तते हो, तब बड़ी-बड़ी विपत्ति तुम्हारे जीवनमें आती है। अरे सिमट जाओ न!

एक बार हमलोग जेठकी दुपहरीमें एक महात्माका दर्शन करने गये। हमारे बनारसकी ओर जितना लू चलती है, वह हरद्वारवालोंको मालूम नहीं। हमलोग बारह बजे दिनमें निकले और पाँच मील चलकर उन महात्माके पास पहुँचे। ऊपर धूप, नीचे गंगाजीकी तपती बालू। पैरमें जूते नहीं, सिरपर टोपी नहीं, छाता नहीं। जैसे-तैसे हमलोग महात्माजीकी कुटियातक पहुँच गये। महात्माजी कुटियाके भीतर थे। उन्होंने खटपट सुनी तो बाहरका दरवाजा खोल दिया और बोले कि भीतर आजाओ! हमलोगोंकी हिम्मत कुटियाके भीतर जानेकी नहीं थी, हम तो बरामदेमें बैठ गये। महात्मा बोले कि भीतर आ जाओ। बाहर तकलीफ हो तो भीतर आ जाना चाहिए। यही 'शरणम्' है। संस्कृत भाषामें शरण माने रक्षक भी होता है और

कुटिया भी होता है—*'शरणमुटजम्'*। *'शरणं गृहरक्षित्रोः इत्यमरः'*। तात्पर्य यह है कि बाहर तकलीफ मालूम पड़ती हो तो ईश्वरकी कुटियामें प्रवेश कर जाओ। इसमें निवासकी काफी जगह है और वह देख-भाल भी करता है। वही अपना मालिक भी है। वह खिलायेगा और वह 'भर्ता' है, 'गति' है। वहींतक तो पहुँचना है। सातवीं बात **'सुहृत्'** है; वह उपकारकी अपेक्षा न करके हमारी भलाई करता है। अठवीं बात है **'प्रभवः'**। सबकी उत्पत्ति वहींसे होती है। *'प्रभवति अस्मात्'*— सारी सृष्टिका उत्पत्तिकारण वही है। नवीं बात है **'प्रलयः'**। दसवीं बात है **'स्थानम्'**— इसीमें रहते हैं। ग्यारहवीं बात है उसीमें सब लीन होते हैं और बारहवीं बात है **निधानं 'अव्ययम् बीजम्'**—वही अव्यय बीज है।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ (१९)

देखो, आप लोगोंको अपनी एक धृष्टता बताता हूँ। पहले जब कभी मैं गीता पढ़ता तो यह सोचता था कि मैं अर्जुन हूँ, और श्रीकृष्ण साक्षात् रूपमें मुझे उपदेश दे रहे हैं। यह सोचकर भी गीता पढ़ता था कि भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश कर रहे हैं और मैं घोड़ा हूँ तथा सुन रहा हूँ। मेरे लिए कहा जा रहा है कि रथको खींचा करो बेटा, कभी खींचना बन्द मत करना। कभी-कभी ऐसी ढिठाई भी कर बैठता कि मैं ही श्रीकृष्ण हूँ और गीताका उपदेश कर रहा हूँ। ऐसा सोचनेमें मुझे डर नहीं लगता था, क्योंकि ईश्वर डरनेके लिए नहीं होता। अगर ईश्वर दूसरा है तो प्रेम करनेके लिए है और अपना आपा है तो अनुभव-स्वरूप है। डरना तो परायेसे होता है। ईश्वर हमें निर्भय करनेके लिए है, हमें भयभीत करनेके लिए नहीं है। इसलिए जब कभी ऐसा सोच लेता कि मैं ही श्रीकृष्ण हूँ, मेरा मन ही अर्जुन है और मैं उसको उपदेश कर रहा हूँ, तब इस नववें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकका उच्चारण करके उसके अर्थका इस प्रकार चिन्तन करता, कि ऐ रे मेरे प्यारे मन, **'तपाम्यहम्'**—मैं ही वर्षा करता हूँ, मैं ही रोकता हूँ और मैं ही खोलता हूँ, बन्धन-मुक्तिका हेतु भी मैं ही हूँ। **'अमृतं चैव मृत्युश्च'**—मैं ही अमृत हूँ, मैं ही मृत्यु हूँ और जन्म-मृत्यु मेरा ही स्वरूप है, मुझमें ही अध्यस्त है। मैं ऐसा हूँ कि जिसको अमृत और मृत्यु दोनों ही स्पर्श नहीं करते हैं। मुझमें कई बार अमृत आता है और कई बार मृत्यु आती है। **'सदसच्चाहमर्जुन'**— मैं ही सत् हूँ और मैं ही असत् हूँ। अस्ति-नास्ति प्रत्ययका जो अधिष्ठान है, वह मैं ही हूँ। 'इदम् अस्ति, इदं नास्ति'में जो 'इदम् अस्ति' है, यह **सत्** है और जो 'इदं नास्ति' है, यह **असत्** है। ये दोनों प्रत्यय मुझमें ही उठते हैं। अरे भाई, यह मैं नहीं बोल रहा हूँ, श्रीकृष्ण ही बोल रहे हैं अर्जुनसे। उन्हींको बोलने दो। मैंने तो ऊँट बनकर भी गीता पढ़ी है और कहा है कि चला चल बेटा, दस-दस मतीरे और तरबूज तेरे ऊपर रखे हैं, लेकिन उनमें-से कोई अलग नहीं है। उनको अपने ऊपर लदा रहने दो!

एक बार ऊँटपर दो स्त्रियाँ बैठी थीं—एक सास थी, दूसरी बहू। सास आगे बैठी और बहू पीछे। सासने कहा कि देखो बहू, मेरी कमर पीछेसे पकड़े रहना, नहीं तो ऊँट बैठेगा तो गिर जाओगी। वह ऊँट जब पीछेकी ओर बैठा तो बहूने सासकी कमर पकड़ रखी थी सो गिरी नहीं, बच गयी। लेकिन जब ऊँट दुबारा आगेकी ओर बैठा तो सासुजी ही गिर पड़ीं। बहुने कहा कि अरी मैया, यह क्या हुआ? सास बोलीं कि मैं क्या जानूँ कि यह दो बार बैठता है।

तो जब '**अमृतं चैव मृत्युश्च**' अमृत भी परमात्मा और मृत्यु भी परमात्मा—तब मरनेसे क्यों डरते हो? जब मृत्युमें अपनी मृत्यु ही नहीं है और मृत्यु आकार विवर्त परब्रह्म परमात्माका ही स्वरूप है तब देहाभिमानके सिवाय अपनेको हस्तपादादि आकार-विशिष्ट सबझे बिना मृत्युका डर क्या? वैश्य मरता है, शूद्र मरता है, चाण्डाल मरता है, हिन्दू मरता है, मुसलमान मरता है—तो ठीक है, मरने दो। हम तो पल्टूके शब्दोंमें कहते हैं—

पल्टू हम मरते नहीं साधो करो विचार। हमहिं कर्ताके कर्ता।

मृत्यु हमारा स्पर्श नहीं कर सकती। आप गीता तो नित्यप्रति पढ़ते ही हैं। भगवान्ने यहाँ तो कह दिया कि सत्-असत् दोनोंमें ही हूँ, किन्तु जब ब्रह्मका निरूपण करना हुआ, तब दोनोंका निषेध कर दिया। '**न सत् तन्नासदुच्यते**' ब्रह्म न सत् है, न असत् है। फिर जब अर्जुन बोलने लगा तब क्या बोलता है—यह देखिये—'**सदसत् तत् परं यत्**' अर्थात् सत् भी आप ही, असत् भी आप ही और उन दोनोंसे परे भी आप ही। सब आप ही हैं। असलमें यही परमात्माका स्वरूप है। अब मानो अर्जुनने कहा कि महाराज, आओ! यज्ञके द्वारा आपकी आराधना करें। यज्ञका अर्थ क्या है? हम तो कर्म शब्दका अर्थ यज्ञके अतिरिक्त और कुछ जानते ही नहीं हैं। भगवान् बोले कि ठीक है, वैदिक लोग ऐसा ही करते हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ (२०)

ऐसा करके बैदिक लोग कोई गलतीपर थोड़े ही हैं! वे **त्रिविद्य** हैं, तीन-तीन विद्याएँ उनको मिली हुई हैं। किसीको एक विद्या मिल जाये तो वही बहुत है। वे तो ऋग्वेदी बनकर अध्वर्युका काम करते हैं, अथर्ववेदी बनकर, सामवेदी बनकर उद्गान करते हैं, यजुर्वेदी बनकर सारा यज्ञकर्म कराते हैं। तो उनकी विद्यामें तो कोई दोष नहीं होता।

अच्छा महाराज, अब बताओ कि वे **सोमपान** करते हैं कि नहीं? बोले कि हाँ-हाँ, सोमपान भी उनको मिलता है। वे सोमपा हैं। अच्छा महाराज, यज्ञ करनेसे उनका पाप मिटता है कि नहीं? कि जरूर मिटता है। वे अनाचार-व्यभिचारसे

बिलकुल बच जाते हैं और बड़े नियमनिष्ठ होकर स्त्री-पुरुष दोनों रहते हैं। लेकिन जब नियम लेकर रहते हैं, तो शास्त्रविरुद्ध पति-पत्नीका समागम भी नहीं हो सकता। आहिताग्निके लिए तो पति-पत्नीका समागम भी बड़ा मुश्किल है। उनके पाप तो सब छूट जाते हैं। वे यज्ञसे आराधना भी करते हैं और '**स्वर्गति**'की प्रार्थना करते हैं। महाराज, वह मिलती है कि नहीं? मिलती है।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्—उनको पवित्र सुरेन्द्रलोक मिलता है। अच्छा, वहाँ जाकर कुछ खाने-पीनेको भी मिलता है? जरूर मिलता है। '**अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्**'—वहाँ जाकर देवताओंके जो दिव्य भोग हैं, उनको खूब खाते-पीते हैं। महाराज, फिर तो बहुत बढ़िया है। आओ यज्ञ करें और वहां जायें। भगवान् बोले कि बस, एक ही बात ध्यानमें रखो। जब आदमी होटलमें जाता है तो वहाँ जितना पैसा जमा करता है, उसीके अनुसार कमरा और खाने-पीनेको मिलता है। यहाँ तक कि सुरा-सुन्दरी भी मिलती है। परन्तु पैसा खतम होते ही क्या होता है?

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ (२१)

पूँजी खतम हो गयी, और महाराज, कहनेपर भी न निकले, तो जबरदस्ती चपरासी पकड़कर निकाल देते हैं—'**मर्त्यलोकं विशन्ति**'।

तो, त्रैगुण्याधिकार-विषयक जो त्रयीधर्म है, उसका अनुष्ठान करनेवाले '**गतागतं लभन्ते**'—आवागमन प्राप्त करते हैं। उनपर यह अनुशासन लागू होता है कि जाओ, फिरसे पूँजी जमाकर ले आओ और फिर रहो। फिर पूँजी खतम हो जाये तो निकलो! फिर मजदूरी करो और ले आओ। क्यों? कि वे '**कामकामः**' हैं, काम-काम हैं। भोगकी कामना जो उनके अन्दर है, वह उनकी कंगालीकी सूचक है। भगवद्भक्ति और तत्त्वज्ञानका जो मार्ग है, वह अपनी पूर्णताका मार्ग है और अन्यसे भोग प्राप्त करनेका जो मार्ग है, वह कंगालीका मार्ग है। भगवान् खुश हों तो दे दें, न खुश हों तो न दें! कभी हमारी कोई चीज उनको पसन्द आयी और कभी नहीं पसन्द आयी।

एकबार मैं किसी सेठके घरमें ठहरा हुआ था। वहाँ उत्तर प्रदेशके एक बहुत बड़े अधिकारी मुझसे मिलने टैक्सीमें आये तो महाराज, द्वारपालने उन्हें बाहर ही रोक दिया कि बैठ जाओ। उसने फोन किया तो फोनपर संयोगवश मैं नहीं मिला। घरवालोंने कह दिया कि स्वामीजी अभी भजन कर रहे हैं। अरे वहाँ तो हम भोजन भी कर रहे हों तो कह देते थे कि भजन कर रहे हैं स्वामीजी। अधिकारी महोदय दो घण्टे बैठ कर चले गये। तब जाकर फिर अपनी मोटरपर आये। चपरासी उनके

साथ था, उसके सिर पर पगड़ी बँधी हुई थी। ओहो, दरवानने देखकर तुरन्त सलाम बजाया और फाटक खोल दिया कि चले जाओ!

तो जब कंगाल लोगोंके लिए सेठोंके घरमें भी जल्दी प्रवेश नहीं मिलता है, तब स्वर्गमें कहाँसे मिलता? अपनी कुछ पूँजी होनी चाहिए न! वह पूँजी क्या है? कि स्वयं परमानन्दमें मग्न रहो। कहा जाता है कि ठाकुर रवीन्द्रनाथने जंगलमें जाकर एक महात्माका दर्शन किया। जब तत्त्वज्ञानकी चर्चा हुई तो उन महात्माका ज्ञान देखकर ठाकुर दंग रह गये, आश्चर्य-चकित हो गये। बोले कि महाराज, कलकत्ता चलो। वहाँ बहुत विद्यार्थी हैं, आपके ज्ञानसे उनको बहुत लाभ होगा। महात्मा बोले कि देखो भाई, प्यासा कुएँके पास आता है, कुआँ प्यासेके पास नहीं जाता। जिसको ज्ञानकी प्यास है, वह यहीं आकर ज्ञान ले जायेगा। अनप्यासेको देकर अपना पानी क्यों खराब करें? वह तो आधा पीयेगा, आधा जूठा करके गिरा देगा।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (२२)

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, तुम फिक्र क्यों करते हो? '**अहं वहामि**' का अर्थ यही होता है कि मैं मजदूर हूँ, तुम मालिक हो। अरे, मैं तो तुम्हारा सेवक हूँ। जो रामभक्त होते हैं, वे दूसरे रामभक्तोंसे कह देते हैं कि देखो, तुम्हें किसी चीजकी जरूरत हो तो भी सीताराम भगवान्‌के सुखमें बाधा मत डालना, उनसे मत कहना। फिर क्या करना? यह करना कि हनुमानजीसे कह देना, वे तुम्हारी जरूरत पूरी कर देंगे। श्रीसीताराम भगवान्‌के आनन्दमें बाधा डालनेकी जरूरत नहीं है।

हमारे एक महात्मा थे। उनसे कोई कहता कि महाराज, मुझे यह चीज चाहिए, तो वे कहते कि मैनेजरसे कहो। महाराज, आपका मैनेजर कौन है? यह तो बताओ। इसपर महात्मा बोलते कि भाई, मेरा मैनेजर वह है, जिसे तुम लोग ईश्वर बोलते हो। यह फक्कड़ोंकी बात है। वे ऐसे ही बोलते हैं।

तो, '**योगक्षेमं वहाम्यहम्**'—भगवान् बोले कि योग और क्षेमका तो मैं वहन करता हूँ। वहन करता हूँ माने उसकी टोकरी लेकर सिरपर ढो-ढोकर पहुँचाता हूँ। इसलिए '**अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्**'—मेरा चिन्तन करो। ऐसा चिन्तन करो कि उसमें दूसरा न रहे। '**अनन्याः**'—इसका भक्तिपरक अर्थ यह है कि किसी दूसरेको अपना मत मानना; और ज्ञानपरक अर्थ यह है कि दूसरा जिसमें है ही नहीं। '**पर्युपासते**'—इसका अर्थ है कि *परितः उपासते*—माने सब जगह, सब रूपमें परमात्माके सिवाय कोई दूसरा नहीं है। '*सर्व सर्वगत सर्व उरालय।*' सब जगह वही है और '**नित्याभियुक्तानाम्**'-माने सब, सब समय, सब वस्तु। '**ये जनाः**'

माने ऐसे जो लोग हैं, वे हमारे जन हैं, हमारा ही भजन कर रहे हैं और ऐसे भजनमें लगे हमारे जनोंको कुछ करना -धरना नहीं पड़ता।

एक महात्मा थे। मैं कुछ मित्रोंके साथ उनके पास जाया करता था। वे बताते थे कि उनको एक ऐसे गुरु मिले, जो कटनीसे लगभग तीन कोसकी दूरीपर स्थित भिलारी नामक स्थानकी गुफामें रहते थे। उन्होंने हमारे इन परिचित महात्मा— मधईपुरके बाबाको उस गुफामें बन्द कर दिया और कहा कि तुम इस गुफामें रहो। इसीमें शौच जाओ, इसीमें लघुशंका करो और इसीमें नहाओ-धोओ। मैं पानी भर कर पहुँचाऊँगा, तुम्हारा टट्टी-पेशाब साफ करूँगा और भोजनके समय भिक्षा माँगकर ले आऊँगा तथा तुम्हें खिलाऊँगा। लेकिन बेटा, ग्यारह बरस तक तुम्हें इस गुफासे बाहर नहीं निकलना होगा। ये महात्मा मान गये और ग्यारह बरस तक उनके गुरु उनकी विष्ठा-पेशाब साफ करते रहे और उनको स्नान तथा भोजन कराते रहे। **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** वे अप्राप्तको लाकर प्राप्त करा देते थे और प्राप्तका संरक्षण करते थे। कभी बुखार नहीं आने दिया, जुकाम नहीं होने दिया।

तो गुरु ऐसे कृपालु होते हैं। फिर जो परमेश्वर कोटि-कोटि गुरुओंके विग्रह हैं, कोटि-कोटि गुरु जिसकी मूर्ति हैं—वे परमेश्वर, उनके बारेमें आपको क्या सुनावें! महाभारतपर लक्षाभरण या लक्षालंकार नामकी एक टीका है। अर्जुन मिश्र उस टीकाके लेखक हैं। जब वे महाभारतपर टीका लिखते थे और लिखते-लिखते गीताके इस प्रसंगपर पहुँचे, तब उन्होंने कहा कि **'वहामि'** ईश्वरके साथ नहीं जुड़ता है। उन्होंने उसपर हरताल लगा दिया और *'ददामि'* कर दिया। उनके घरमें चावल, दाल, आटा, घी, गुड़—कुछ नहीं था। वे स्नान करने गये तो इतनेमें एक बालक टोकरीमें चावल-दाल-आटा-घी-गुड़-दूध आदि भरकर लेकर आया। उसके शरीरपर जगह-जगह चोट लगी थी और वही पीला हरताल लगा हुआ था। अर्जुन मिश्रकी पण्डितानीने उससे पूछा कि बेटा, तू तो इतना साँवरा-साँवरा, सुन्दर सलोना है; तेरे शरीरमें यह चोट कैसे लगी? बालक बोला मैया, पण्डितजीने मारा है हमें! पण्डितानीने पूछा कि फिर यह दवा किसने लगायी है? हल्दी किसने लगायी है? बालक बोला कि हल्दी भी उन्होंने ही लगायी है। वस्तुएँ देकर बालक चला गया।

अर्जुन मिश्र स्नान करके लौटे तो पण्डितानी तो उनपर बरस पड़ी महाराज। बोली, तुम कितने निर्दयी हो। ऐसे सुकुमार बालकको—जो हमारे लिए खाना-पीना लेकरके आया, तुमने मार-मारकर घायल कर दिया!

अर्जुन मिश्र बोले कि बाबा, हम तो कुछ जानते ही नहीं हैं कि तुम किसकी बात कर रही हो! अब उन्हें ध्यान आया कि मैंने गीताका एक शब्द काटकर

'**वहामि**'के स्थानपर *'ददामि'* कर दिया था। और गीता भगवान्‌का हृदय है, स्वरूप है,*'गीता मे हृदयं पार्थ'*—सो उन्होंने वह चोट अपने ऊपर ले ली! मैंने जो हरताल लगायी थी, वह पीली-पीली थी। इसके बाद उन्होंने उस पंक्तिको फिरसे ठीक कर दिया—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्**'।

तो भगवान् खाना-पीना भी देते हैं और साधनमें जो कमी है, उसको भी पूर्ण करते हैं। वह हमारा योग है और जहाँ पहलेसे हमारी स्थिति है, उससे गिरने नहीं देते—यह हमारा क्षेम है। इसे फिरसे सुन लीजिये। भगवान् हमारे लिए अप्राप्त स्थितिको प्राप्त कराते हैं, समाधि-क्रमसे, सम्प्रज्ञात समाधिसे असम्प्रज्ञात समाधिमें ले जाते हैं और दूरसे निकट करते हैं—यह हमारा योग है, और जिस स्थिति तक हम पहुँचते हैं उससे भ्रष्ट नहीं होने देते—यह हमारा क्षेम है। उनकी प्रक्रिया है—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्**।'

भगवान् इस प्रसंगमें ज्ञानकी अपूर्व महिमा प्रकट कर रहे हैं '**ये जनाः पर्युपासते**'—का अर्थ है कि जो जन्ममात्रसे मनुष्य हैं—चाहे भारतीय हैं, अभारतीय हैं, वर्णाश्रमी हैं, अवर्णाश्रमी हैं—वे सब भगवान्‌की गोदमें बैठनेके अधिकारी हैं। भगवान्‌के सभी बच्चे हैं। भगवान्‌के सभी बच्चे हैं, इसलिए वे अपने अमुक बच्चेको अपनी गोदमें बैठाते हैं और अमुक बच्चेको नहीं बैठाते हैं—इस प्रकारका विभाग करना भगवान्‌की दृष्टिसे, उनकी बहुत इन्सल्ट करना है।

मैं आपको एक कथा सुनाता हूँ। जब भगवान् रामकी सेनाके लिए सेतुबन्धन हो रहा था, तब एक गिलहरी समुद्रमें जाकर गोता लगाये, फिर बालूमें लोटे और जो बालू उसके शरीरमें लग जाये। वह उसको सेतुबन्धन वाले स्थानपर लाकर झाड़ दे। फिर समुद्रमें आजाये, फिर बालू ले। हनुमानजीने उससे कहा कि अरी, क्या करती है? दबकर मर जायेगी। गिलहरी बोली कि देखो, तुम लोग अपनी शक्तिके अनुसार सेवा करते हो और मैं अपनी शक्तिके अनुसार सेवा करती हूँ। हनुमानजीने विनोदके लिए उसकी पूँछको जरा अपने पाँवसे दबाया। गिलहरीने खींचा, तो पूँछ लम्बी हो गयी। उसे बड़ा दर्द हुआ, तो वह रामचन्द्रके पास पहुँच गयी और बोली कि यह वानर हमारी सेवामें बाधा डालता है। रामचन्द्रने उसको गोदमें लेकर उसके ऊपर अपना हाथ फेरा तो उनकी पाँचों अँगुलियोंके निशान उसके शरीरपर बन गये। अबतक गिलहरीके शरीरपर पाँचों अँगुलियोंके निशान हैं।

रामचन्द्रने उससे पूछा कि अच्छा बोल, हनुमानजीको क्या दण्ड दें? गिलहरी बोली कि इन्होंने मुझे अपने पाँवसे दबाया है तो आप भी अपने पाँवसे इन्हें दबाइये! इसपर हनुमानजी हँसने लगे और बोले कि वाह बेटी, मैं तो रोज तुम्हें

दबाऊँगा और तुम रोज यही सजा मुझे दिलवाना! तो जब भगवान् गिलहरीको भी अपनी गोदमें उठाकर प्यार करते हैं तब उनके जो जन हैं, उन्हें प्यार नहीं मिलेगा तो किसे मिलेगा! कोई भी हो, उनका जन होना चाहिए—**'ये जनाः पर्युपासते।'**

अब प्रश्न यह उठा कि कुछ लोग ऐसे, हैं जो भगवान्की उपासना नहीं करते, अन्य देवताकी उपासना करते हैं, उनके विषयमें क्या कहना है?

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ (२३)

इन लोगोंके हृदयमें श्रद्धा है—**'श्रद्धयान्विताः'**। वे पूजा भी करते हैं; परन्तु दूसरे देवताकी करते हैं। भगवान् कहते हैं कि वे भी मेरी ही पूजा करते हैं, क्योंकि आत्मसंविद्-विलासके अतिरिक्त तो देवता नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। कोई हमारा हाथ दबाता है तो क्या किसी दूसरेको दबाता है? हमारा पाँव दबाता है तो क्या किसी दूसरेको दबाता है? हाथमें इन्द्र देवताकी सेवा है, पाँवमें विष्णु भगवान्की सेवा है, आँखमें सूर्य देवताकी सेवा है। कोई हमारी जीभको मीठा-मीठा खिलाता है तो वरुण देवताकी सेवा करता है और नाकको सुगन्ध देता है तो अश्विनीकुमारकी सेवा करता है। जब वह सेवा सम्पूर्ण देव-शरीरी भगवान्की ही है, तब सेवा करनेवालेका अपराध क्या है? भगवान्का तो कहना है कि **'तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्ति'**—वे भी मेरी ही आराधना करते हैं। यदि यह कहो कि सेवा करते तो हैं पर अविधि-पूर्वक करते हैं, तो यहाँ **'अविधि'** शब्दका अर्थ **'निषेध'** नहीं है, विधिका अभाव भी नहीं है; *'अन्य-विधिपूर्वकम्'*—दूसरे देवताकी उपासनाका विधान भी शास्त्रमें है। इसलिए यहाँ **अविधि** शब्दका अर्थ है—अन्य विधिके अनुसार करते हैं, भगवदुपासना विधिके अनुसार नहीं करते। चलो यह भी मान लिया। परन्तु भगवान् यहाँ ज्ञानकी जो अपूर्व महिमा प्रकट करते हैं, उसको देखो!

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ (२४)

भगवान् कहते हैं कि चाहे इन्द्रोद्देश्यक योग हो, चाहे विष्णु-उद्देश्यक योग हो, योगका भोक्ता तो मैं ही हूँ और प्रभु फलदाता भी मैं ही हूँ—**'अहमेव'**। यज्ञ करनेवाले बोलते है—*'इन्द्राय स्वाहा'* परन्तु गप्प भगवान् कर जाते हैं। खा जाते हैं। **'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च'**—किसीके नामसे अर्पित करो, खा जाते हैं भगवान् और **'प्रभुरेव च'**—फल भी वही देते हैं। अच्छा महाराज, आप जानते हैं कि आपकी ही आराधना है और उनका दिया हुआ आप ही खाते हैं तथा उनके दिये हुएका फल भी आप ही देते हैं, तब उन बेचारोंकी गलती क्या है? उनका दोष क्या

है ? बोले कि उनका दोष यही है कि उनको '**तत्त्वेन**' मेरा अभिज्ञान नहीं है। वे यह नहीं जानते कि सर्वदेवताके रूपमें मैं स्वयं ही हूँ और न पहचाननेके कारण वे च्युत हो जाते हैं।

अब यहाँ देखो, पहचानना सबसे बड़ी चीज है—और यह कहकर ज्ञानकी अपूर्व महिमाका उद्घोष यहाँ किया गया है। ऊपरसे मालूम तो यह पड़ता है कि देवतान्तरकी उपासनाका निषेध है, परन्तु निषेध देवतान्तरकी उपासनाका नहीं है, अज्ञानका है। आप ध्यान दें इसपर—'**न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते**'। अर्थात् वे नहीं पहचानते कि इन्द्र-चन्द्र-वरुण आदिके रूपमें एक भगवान् ही हैं। वे नहीं जानते कि एक ही परमेश्वरकी आराधना है। वे यह नहीं जानते कि आत्मसंविद् ही आँखमें बैठकर सौन्दर्योल्लास करती है, कानमें बैठकर संगीतोल्लास करती है, त्वचामें बैठकर स्पर्शोल्लास करती है। उनको यह बात मालूम नहीं है और उनका यह अज्ञान ही उन्हें च्युत कर देता है।

अच्छा, एक और छोटी-सी बात सुनाता हूँ। एक थी राजकुमारी। तलवारकी नोकपर सिन्दूर रखकर उसका विवाह हुआ था, क्योंकि राजकुमार युद्धमें चला गया था। वह पहचानती नहीं थी कि मेरा पति कौन है। जब राजकुमार लौटकर आया तो मशहूर हो गया कि बड़ा सुन्दर राजकुमार आया है; बड़ा स्वस्थ है, बड़ा सद्गुणी है। यह सुनकर राजकुमारीके मनमें आकर्षण हो गया और वह उससे मिली। मिली तो अपने उसी पतिसे, जिससे उसका विवाह हुआ था। परन्तु मिलते समय जब राजकुमारने अपना नाम बताया कि मेरा अमुक नाम है और अमुक जगह युद्धपर गया था और वहाँसे लौटकर आया हूँ, तब उस राजकुमारीने छाती पीट ली। वह बोली कि हाय, मैंने तो तुमको कोई दूसरा समझ लिया था; तुम्हें अपना पति समझकर तुमसे नहीं मिली थी। अब मैं तुम्हारे सामने मुँह दिखाने लायक भी नहीं हूँ। देखो, था तो वह उसका पति। अगर उसे वह पहचानकर मिलती तब उसको मिलनेका धर्म होता, किन्तु बिना पहचाने अन्य बुद्धिसे मिली, तो उसके लिए अधर्म हो गया। उसने दु:खी होकर प्राण-त्याग कर दिया।

यही है ज्ञानकी महिमा। यह जानकारी चाहिए कि सम्पूर्ण इन्द्रियोंके रूपमें, उनके देवताओंके रूपमें, उनके विषयोंके रूपमें अखण्ड आत्मदेव ही समुल्लसित हो रहे हैं। यह शैवोंकी भाषा है। वेदान्तियोंकी भाषामें वही प्रतीयमान है, वही भासमान है। ज्ञान प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। भागवतमें भगवान्‌को इससे थोड़ा उदार बताया गया है। उसमें भक्तकी दृष्टि इस प्रकार है—

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्।
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो॥

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो।

विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः॥ (१०.४०.९-१०)

हे प्रभो, आप सर्वदेवमय परमेश्वर हैं और जो कोई जिस किसीकी भी आराधना करता है, आपकी ही आराधना करता है—वह भले ही अन्य देवताओंका नाम लेता है, भले ही उसको आपसे अन्य समझता हो। हे स्वामिन्, जैसे पहाड़से नदी निकली, बादलने, वर्षाने उसको भर दिया और वह चारों ओरसे बहकर समुद्रमें पहुँच गयी, इसी तरहसे कोई किसी मार्गसे चले आपके पास ही पहुँचता है।

देखो, भक्त यह देखता है कि वह भले ही रास्तेमें भटक रहा है, लेकिन जाना चाहता है भगवान्‌के पास। भक्त किसीको बुरा नहीं समझता, भक्त किसीसे द्वेष नहीं करता; लेकिन भगवान् कहते हैं कि तुम समझते क्यों नहीं हो! वे तो डाँटकर बोलते हैं कि तुम पहचानो हमको; बिना पहचाने क्यों ऐसा करते हो! भगवान् यहाँ ज्ञानकी अपूर्व महिमा प्रख्यापित करते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ (२५)

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, यदि तुम देवताका व्रत करोगे तो देवताके पास जाओगे; पितरोंकी आराधना करोगे तो पितरोंके पास जाओगे और भूतोंकी उपासना करोगे तो भूतोंके पास जाओगे। किन्तु मेरी भक्ति करोगे तो मेरे पास आओगे—'**यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।**' इसलिए यजन करो। 'यजन करो' का अर्थ है—उत्सर्ग करो, जीवनमें नियम लो। दान करो, आदान करो। अग्निसे तपस्या प्रभाव आदि ग्रहण करो। ईश्वरत्वको अपने अन्दर लो, जीवत्वका परित्याग करो और जीवनको परिपूर्ण बनाओ। भगवान्‌का भजन करोगे, भगवान् मिलेंगे।

अब बात यह हुई कि भगवान्‌की आराधना करें तो कैसे करें? यदि कहो कि किसी बड़े आदमीके पास जाना हो तो छोटी-मोटी चीज लेकर क्या जाना, तो ऐसा नहीं सोचना चाहिए। यह प्रेमकी प्रक्रिया नहीं है। कोई सज्जन किसी मन्दिरमें चढ़ानेके लिए पाँच रुपये ले गये थे। उन्होंने वहाँ देखा कि एक आदमी दस हजार रुपये चढ़ा रहा है। सोचने लगे कि हाय-हाय, एक आदमी दस हजार रुपये चढ़ा रहा है तो मेरे पाँच रुपयोंकी क्या कीमत है! वह उन पाँच रुपयोंको जेबमें ही रखकर लौट आया। लेकिन उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था। जिसके अन्दर जो शक्ति है, उसको भगवान्‌की ओर उन्मुख करना चाहिए। वह वस्तुकी शक्ति हो, कर्मकी शक्ति हो, भावकी शक्ति हो या स्थितिकी शक्ति हो। कई लोग कथामें जाते हैं और वक्ताकी ओर पीठ करके, मुँह फेरकर बैठ जाते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए।

मैं आपको एक बात सुनाता हूँ। जिसको कथामें नींद आती हो वह क्या करे? वैसे हमारा ख्याल है कि यहाँ बैठे हुए आप लोगोंमें-से किसीको नींद नहीं आती है। अगर हम इस नींदसे ही आपको नहीं जगा सकेंगे तो अज्ञानकी जो गाढ़ी निद्रा है, उससे कैसे जगायेंगे? लेकिन जिसको नींद आती हो, वह वक्ताकी ओर देखे, मुँह नीचे न करे और आँख बन्द न करे। आप निश्चिन्त रहो, मैं इतने लोगोंमें-से आपके साथ आँख नहीं मिला सकता और न आपकी ओर देखूँगा। अगर आपको संकोच हो कि मैं आपसे आँख मिलाकर आपको सोते हुए देखूँगा, तो आप इस संकोचको दूर कर दीजिये। आप लोग अपनी आँख वक्तापर रखेंगे तो आपको नींद नहीं आयेगी।

अच्छा, यदि आपके मनमें यह विचार हो कि भगवान्‌की भेंटके लिए क्या ले जायें, तो स्वयं भगवान्‌की बात सुनिये—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहमश्नामि प्रयतात्मनः॥ (२६)

बड़े मजेदार हैं भगवान्। कहते हैं कि अरे भाई, एक पत्ता ही सही। पत्ता भी बेलका हो या तुलसीका हो-यह बात नहीं है; और वह भगवान्‌के खानेके काम आवे—यह भी जरूरी नहीं है। तुम अपनी ओरसे एक पत्ता ले आओ—'**पत्रम्**'। पुष्प ले जाओ—'**पुष्पम्**'। फल ले जाओ—'**फलम्**'। '**तोयम्**'—अरे, चुल्लू भर पानी ही ले जाओ। वह भी क्या तुम्हें नहीं मिल रहा है? क्या भगवान् इतने प्यासे हैं कि हमारा चुल्लू भर पानी पीयेंगे? अरे, भगवान्‌के पीनेकी महिमा नहीं है, तुम्हारे ले जानेकी महिमा है। जो कुछ भी दो, प्रेमसे दो—'**भक्त्या**'।

कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि पहले-पहल एक चिट्ठी लिखनी चाहिए—'**पत्रम्**'। उसके बाद एक कमलका या गुलाब का फूल भेज देना चाहिए। उसके बाद सेब, सन्तरा या कोई फल भेजना चाहिए। '**तोयम्**' वाला अर्थ जरा साधुओंमें बताने लायक नहीं है। भगवान्‌को जलपानपर आमन्त्रित कर लेना चाहिए कि आज आप हमारे यहाँ जलपान कीजिये—'**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति**'।

हमारे एक महात्मा थे। वे कहते थे कि भगवान्‌को अपनी गोदमें लिटा लो और उसपर बेल-बूटे बनाओ। यह है '**पत्रम्**'। '**पुष्पम्**' माने गुलाबकी तरह जो अपनी आँखें हैं नम, उन्हें भगवान्‌को अर्पित कर दो; उनको देखो। '**फलम्**' का अर्थ है कि अपनी छातीसे भगवान्‌को लगा लो। और '**तोयम्**' का अर्थ है कि अधरामृतका पान करो और कराओ। यह वृन्दावनी अर्थ है; हरिद्वारी अर्थ नहीं है। भाई, थोड़ा हँसोगे, खेलोगे नहीं? सर्वस्व भगवान्‌के लिए है न!

'तदहं भक्त्युहृतम्'—इसमें सब चीज ऐसी होनी चाहिए, जो भगवान्‌के खानेके काम आये। **'प्रयतात्मा'** का यही अर्थ है कि एक दिन ऐसा करनेसे न खायें तो रोज-रोज ऐसा करो और भक्तिसे, प्रेमसे दो। भगवान् कहते हैं कि **'अहम् अश्नामि**। *'अभोक्तृत्वं परित्यज्य'* अर्थात् मैं उसके लिए अपने अभोक्तृत्वका परित्याग कर दूँगा। और उसका भोग करूँगा। उनपर अपने अभोक्तृत्वको न्यौछावर करके हिमाचलवासी जो महात्मा लोग हैं—मैं उनकी ओर फेंक दूँगा और स्वयं वृन्दावनमें भोक्ता बनकर रहूँगा। **'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः'**—बोले कि आपने गिनती तो बहुत कम गिनायी महाराज! हम आपको कैसे खुश कर सकते हैं? भागवतमें आया है कि हे महात्माजी, आप तो परम त्यागी हैं, हम आपको कैसे खुश कर सकते हैं? *'तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम्'*—जो आपके उपकारका प्रति-उपकार करना चाहेगा, वह तो उपहासास्पद हो जायेगा। श्रीधर स्वामीने कहा है कि *'उदपात्रं विना सह प्रतिकरोति'*—हम आपको एक कमण्डलु गंगाजीसे जल लाकर दे देंगे। बस, हम इतना ही प्रत्युपकार आपका कर सकते हैं। *'विनोदपात्रं उदपात्रं विना तत् सह प्रतिकरोति'*। उदपात्र माने एक कमण्डलु पानी लेकिन वह नारियलवाला कमण्डलु तो अब मिलनेका नहीं है। तुम्बीवाला भी जल्दी नहीं मिलता। अच्छा, तुम्बीवाला नहीं तो माटीवाला ही सही। मिट्टीके भुलवेमें ही पानी लायेंगे और प्रार्थना करेंगे कि पी लो महाराज! बस, यही सेवा हो गयी। भगवान्‌ने कहा कि बस-बस महात्माजी, सेवाका बँटवारा मत करो!

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (२७)
शुभाशुभ-फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ (२८)

'यत्करोषि'—वैष्णव महात्माओंका आग्रह यह है कि अच्छे-अच्छे कर्म तो भगवान्‌को अर्पित कर देने चाहिए। क्योंकि अच्छे कर्मोंका फल सुख होता है, तो हम अपने प्यारेको दुःख कैसे अर्पित करेंगे? लेकिन कृपालु भगवान् कहते हैं कि भई, इसने अच्छाई तो हमको दे दी, तो अब बुराई इसके पास रहे तो अच्छाई देनेका फल ही क्या हुआ? इसलिए अपने आप ही बुराईको खींच लेते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि हमें भगवान्‌के चरणोंमें बुराईका निवेदन करना चाहिए और अच्छाईका समर्पण करना चाहिए। यह तो बात ही अलग है। देखो, जीवके द्वारा जितने कर्म होते हैं, भूले-भटके भी जो कर्म होते हैं, उन सबके भीतर तो वही बैठा हुआ है। वही प्रेरक है, वही निर्वाहक है और वही फलदाता है। जरा उसकी ओर देखो और पहचानो उसको। आप इस श्लोकको ऐसे भी कह सकते हैं—

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।
यत्तपस्यामि भगवन् यत्करोमि त्वदर्पणम्॥

प्रभो, तुमने करवाया, तुमने निभाया और तुम्हीं फलदाता हो। बाबा, तुम अपना ले लो; सम्भालो, हम कुछ नहीं जानते। सांख्यवादी लोग अपने कर्तृत्वको प्रकृतिपर अर्पित करते हैं या गुणोंपर अर्पित करते हैं—कि भाई, हम क्या करें! इन पञ्चोंने जैसा हुकुम दिया, वैसा हमने किया। पञ्च कौन है?

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ (१८.१४-१५)

बाबा, हमने अच्छा किया तो इनके हुकुमसे और बुरा किया तो इनके हुकुमसे। हम कर्त्ता नहीं हैं। ये पञ्च कर्त्ता हैं; ये जो तीन गुण हैं—ये कर्त्ता हैं, यह प्रकृति कर्त्ता है, यह स्वभाव कर्त्ता है, यह ईश्वर कर्त्ता है। बोले कि ठीक है, जो कुछ किया सो किया, वह सब मुझे अर्पण कर दो— '**तत्कुरुष्व मदर्पणम्**'। असलमें, ऐसे रूखे-सूखे लोगोंको क्या अर्पित करना! अपने प्यारे अन्तर्यामीको—जो बिलकुल प्रेमास्पद आत्मा है—उसको ही अर्पित कर देना! अच्छा भाई, देखो, इसमें 'तू भक्त' का झगड़ा नहीं लगाना चाहिए। क्यों नहीं लगाना चाहिए। धर्मात्माओंकी बात दूसरी है, वह तो हर जगह कुछ-न-कुछ सीलिंग लगा देते हैं। यहाँ तो भक्तोंकी बात है। धर्मात्माओंकी बात नहीं है। भगवान्ने कहा—'**शुभाशुभफलैरेव मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः**'।

भगवान् कहते हैं कि कर्म बन्धन कैसे है? कि शुभ-अशुभ फल देनेवाले हैं। इसलिए फलके दो विभाग कर दिये—एक शुभ फल और दूसरा अशुभ फल। अब आप ही बताओ कि आपने भगवान्को केवल शुभ फल अर्पित किया तो अशुभ फलके बन्धनसे कैसे छूटोगे? फल-श्रुति यह है कि कर्मार्पणका अर्थ क्या होगा? कर्मार्पणका अर्थ यह नहीं कि हाथमें जल लेकर, अक्षत लेकर, पुष्प लेकर, पैसा लेकर और गायकी पूँछ हाथमें पकड़कर यह कहो कि *'अमुक-गोत्राय, अमुकशर्मणे ब्राह्मणाय इमां गां तुभ्यमहम् सम्प्रददे।'* इस प्रकार गोदानकी तरह कर्मदान नहीं होता।

कर्मदान करनेकी अन्तरंग प्रक्रिया है। आत्मचैतन्यके बिना, अन्तर्यामीकी प्रेरणाके बिना तो कोई कर्म होता ही नहीं है। मशीन खराब हो तो खटखट करने लगती है और अच्छी हो तो बड़े प्रेमसे चलती है। लेकिन मशीन चाहे अच्छी हो, चाहे खराब, चल रही है बिजलीसे। इसलिए बिजलीका करेण्ट चाहे बन्द करो,

चाहे ठीक करो; यन्त्र जो चल रहा है, वह संविद् विद्युतसे ही चल रहा है— '**यन्त्रारूढानि मायया।**' अगर शेरके प्रति समता न होती तो देवी शेरको वाहन न बनाती। साँपके प्रति न होती तो शंकरजी उसे अपने शरीरपर धारण न करते। साँप खानेवाले मोरके प्रति समता न होती तो स्वामी कार्तिक उसपर चढ़ते कैसे? और कुत्तेके प्रति समता न होती तो भैरवजी उसे अपना वाहन न बनाते!

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ (२९)

भगवान् कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण भूतोंके प्रति सम हूँ। हमारे लिए न तो कोई द्वेषास्पद है और न कोई प्रेमास्पद है।

यहाँ देखो, भगवान्ने अन्यत्र कहा है कि सब मुझमें है, और मैं सबमें नहीं हूँ। इस तरहकी बात अनेक स्थानोंमें गीतामें आयी है—

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।

अधिष्ठान अध्यस्तमें अनुस्यूत है, परन्तु अध्यस्त अधिष्ठानमें अनुस्यूत नहीं है। एक भक्त ही ऐसा है, जिसके बारेमें भगवान् बोलते हैं कि भक्त मुझमें है और मैं भक्तमें हूँ। यदि भगवान् अधिष्ठान रूपसे, प्रकाशक रूपसे, अन्तर्यामी रूपसे भक्तको अपने हृदयमें धारण करते हैं तो भक्त लोग भी पितारूपसे, मातारूपसे, सखारूपसे, पुत्ररूपसे और नहीं तो अपनी आत्माके रूपसे ही सही—भगवान्को अपने हृदयमें धारण करते हैं। भक्त ही ऐसा है जो सारे जगत्को अपने हृदयमें धारण करनेवाले भगवान्को अपने हृदयमें धारण कर लेता है। इसलिए भगवान्ने यहाँ अपनी बोली बदल दी है। वैसे तो कहते थे कि '**न त्वहं तेषु ते मयि**'—मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं। परन्तु यहाँ वे क्या बोलते हैं? कि '**मयि ते तेषु चाप्यहम्**'— मुझमें वे हैं और उनमें मैं हूँ।

हम भगतन के भगत हमारे।
सुन अर्जुन प्रतिज्ञा मेरी यह व्रत टरत न टारे॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (३०)

अब प्रश्न यह आया कि यदि कोई दुराचारी हो तो भगवान् क्या करेंगे? दुराचारीको छोड़ देंगे कि पकड़े रहेंगे? क्योंकि कोई-कोई प्रेमी ऐसा होता है कि आचरणमें कभी च्युत हो जाता है। ज्ञानमें भी कभी पूर्णता नहीं होती है। तो प्रेमी तो हो, परन्तु उसका ज्ञान अधूरा हो और आचरण भी त्रुटिपूर्ण हो तो भगवान् क्या देखेंगे वहाँ? बोले कि भगवान् न तो उसके ज्ञानकी ओर देखेंगे और न आचारकी ओर। भगवान् तो प्रेमको ही देखते हैं। प्रेमको छोड़कर और कुछ देखना

उन्हें नहीं आता है। पहले भगवान्‌की आँख सब कुछ देखा करती थी, परन्तु उन्होंने भक्तके प्रति प्रेमका एक ऐसा लेंस लगा लिया है कि उनको न तो अपने भक्तके ज्ञानकी कमी दीखती है और न उसके आचारकी त्रुटि दीखती है। वे देखते हैं केवल उसका प्रेम!

रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥
जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली॥
सोइ करतूति विभीषण केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी॥

भगवान्‌को भक्तका दोष दिखता ही नहीं है। भक्तका दोष देखनेमें भगवान् अन्धे हैं। वे सोचते हैं कि हर समय दोष देखते रहना और उसके लिए आँखोंको खुला रखना क्या अच्छा लगेगा? इसलिए उन्हें कभी बन्द करना चाहिए और कभी खोलना चाहिए। जब भक्तोंका गुण देखना होता है—तब भगवान् आँखें खोल लेते हैं, और जब भक्तका दोष देखना होता है—आँखें बन्द कर लेते हैं।

'**अपि चेत्सुदुराचारः**'—जैसे '**स महात्मा सुदुर्लभः**' के साथ 'सु' था, वैसे ही यहाँ '**दुराचारः**' को '**सुदुराचारः**' कर दिया है। इसका अर्थ है कि कच्चा दुराचारी नहीं, पक्का दुराचारी। '**भजते मामनन्यभाक्**'—भक्तने यह प्रतिज्ञा कर ली कि अब मैं भगवान्‌को छोड़कर और किसीकी सेवा नहीं करूँगा। उन्हींका शौचालय साफ करूँगा, उन्हींके घरमें-रास्तेमें झाड़ू लगाऊँगा और वे बेचेंगे, तो बिक जाऊँगा—लेकिन उनको नहीं छोड़ूँगा। भगवान्‌ने कहा कि महात्मा लोगों, देखो; अब तुम उसको दुराचारी मत कहना। जीभसे भी उसको दुराचारी मत कहना और मनसे भी दुराचारी नहीं मानना, पूरा साधु मानना—'**एव**' का यही तात्पर्य है। तब क्या कहें महाराज? बोले कि देखो, मनुष्यका जो जीवन है, वह कर्मरूप नहीं है; निश्चय रूप है। पंचदशीमें आया है कि—

यश्चित्तस्तन्मयो मर्त्यः गुह्यमेतत् सनातनम्।

अर्थात् जिसका चित्त जहाँ है, वही मनुष्यका रूप है। माँका कोई भक्त आजाये तो उठकर खड़े हो जाओ। क्यों? कि माँ आगयी, उनका आदर करो। अरे यह माँ नहीं है भाई, यह तो माँका भक्त है। बोले कि नहीं, '**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**'—जो माँपर श्रद्धा करता है, वह माँका ही रूप है। जो भगवान्‌पर श्रद्धा करता है, वह भगवान्‌का ही रूप है।

'**सम्यग्व्यवसितो हि सः**'—ये जो कर्मठ लोग होते हैं, वे बहिरंग-कर्मको बहुत मूल्य दे देते हैं और खुद जो छिप-छिपकर चुपके-चुपके करते हैं—उसका मूल्यांकन नहीं करते हैं। कर्मको इतना मूल्य मत दो। मनुष्यके निश्चयको मूल्य दो कि वह क्या निश्चय किये हुए है। अरे उसने बहुत बढ़िया निश्चय किया है। क्या किया है महाराज! हम अब भगवान्‌का भजन करेंगे।

देखो, रास्तेमें जब आदमी चलने लगता है, तब ठोकर लगनेपर कहीं गिर भी पड़ता है। हमलोग एकबार बद्रीनाथ जा रहे थे, तो देवप्रयागतक जाते-जाते ऐसा हो गया कि चल ही न सकें। पाँच-छह दिन वहीं ठहर गये। वहाँ डाक्टरकी दवा की, अच्छे हुए और फिर आगे बढ़े। ऐसा नहीं कि गिर पड़नेसे, पाँव लड़खड़ा जानेसे अपनी यात्रा बन्द कर दें। यदि यह निश्चय है कि हमको वहीं पहुँचना है, तो पाँव लड़खड़ाते हैं तो लड़खड़ाने दो। गिरना हो तो गिरने दो। फिर उठो, फिर चलो; फिर गिरो, फिर उठो, फिर चलो। गिरना अपराध नहीं है। अपराध अपनी यात्रा बन्द कर देना है। तुम्हारा विश्वास नहीं टूटना चाहिए। निश्चय बिलकुल पक्का रखो कि हमें तो गन्तव्य स्थानतक पहुँचना ही है—'**सम्यग्व्यवसितो हि सः**'

छह बरसका सपना देखा और अब एक मिनटके लिए जग गये—तो आप किसकी ज्यादा कीमत समझते हैं? छह बरसका सपना कीमती है कि एक मिनटका जागना कीमती है? एक मिनट जागना कीमती है। छह बरस ही नहीं, छह जन्मके भयंकर स्वप्नको भी बाधित कर देनेमें समर्थ है एक मिनटका जागना।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ (३१)

यह नहीं समझना कि दुराचारी धर्मात्मा नहीं हो सकता। धर्मात्मा नहीं होनेवाला होता तो भगवान्‌की ओर चलता ही कैसे? उसको मिलनेवाले फलमें भी दोष नहीं होगा; उसे शाश्वती शान्ति मिलेगी—'**शश्वच्छान्तिं निगच्छति।**'

भगवान्‌ने कहा कि हे अर्जुन! '**प्रतिजानीहि**'। प्रतिजानीहि—यह मध्यम पुरुष है। 'त्वं प्रतिजानीहि'—यह न प्रथम पुरुष है, न उत्तम पुरुष है। भगवान्‌ने कहा कि हे अर्जुन, तुम प्रतिज्ञा करो। क्या करें महाराज? कि तुम प्रतिज्ञा करो; प्रतिज्ञाका स्वरूप यह रखो कि '**न मे भक्तः प्रणश्यति।**' तुम दुनियामें घोषणा कर दो कि जो भगवान्‌की भक्ति करता है, उसका नाश नहीं होता। अर्जुनने कहा जब तुम खुद ही मौजूद हो, तो तुम्हीं प्रतिज्ञा कर दो, मुझसे क्यों प्रतिज्ञा करवाते हो? भगवान्‌ने कहा कि भाई देखो, मुझे इस महाभारत युद्धमें दो बार प्रतिज्ञा भंग करनी पड़ी है। तो लोग हमारी प्रतिज्ञापर उतना विश्वास नहीं करेंगे; कहेंगे कि कोई भक्त मिल जायेगा और हाथ-पाँव पकड़ लेगा तो ये फिसल जायेंगे बाबा!

असलमें भक्तका अन्तःकरण ही भगवान्‌का अन्तःकरण है। वेदान्ती लोग इस बातको जानते हैं कि भगवान् कार्योपाधिक नहीं हैं, कारणोपाधिक हैं। भगवान्‌का अपना निजका कोई अन्तःकरण नहीं है। अन्तःकरण तो कार्य है। भगवान् अपना सारा काम भक्तके अन्तःकरणमें बैठकर उसीके अनुसार करते हैं। अब कोई बड़ा भक्त मिल गया महाराज और भगवान्‌को फँसाके ले गया। राधारानी कभी-कभी

रातभर प्रतीक्षा ही करती रह जाती हैं। तो भगवान्‌ने कहा कि अर्जुन, मैं प्रतिज्ञा करूँगा तो उसकी झूठी होनेकी सम्भावना बनी रहेगी। लेकिन तुम्हारे जैसे मेरे भक्तके मुँहसे जो बात निकलेगी, वह कभी झूठी नहीं होगी। मैं अपने भक्तके मुँहसे निकली हुई बात झूठी नहीं होने दे सकता। इसलिए तुम प्रतिज्ञा करो कि '**न मे भक्तः प्रणश्यति।**'

देखो, प्रणाश किसका होता है—उससे तो आपकी जान-पहचान है ही। जिसकी बुद्धिका नाश हो गया, उस आदमीका विनाश हो गया—'**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। नो श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि**'—भगवान्‌ने एक जगह यह भी कहा कि मेरी बात नहीं सुनेगा तो विनष्ट हो जायेगा।

अब देखो, यह बात तो हुई इस जन्मके पापकी। '**अपि चेत्सुदुराचारः**'—यह इस जन्मके पापकी सूचक है। जो इस जन्मका पापी हो और भगवान्‌की ओर चलनेका निश्चय कर चुका हो तो वह शीघ्र ही महात्मा हो जाता है—'**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।**' एक महात्मा जब '**क्षिप्रं**' बोलते थे तो चुटकी बजाते थे कि 'क्षिप्रं' माने तत्काल धर्मात्मा हो जाता है। एक क्षणकी भी देरी नहीं लगती। किन्तु कोई जन्म-जन्मान्तरका पापी हो, तब क्या होगा? बोले, कि वह भले ही पाप-परायण जातिका पापी हो, पूर्व-जन्मका पापी हो, जन्म-जन्मका पापी हो, तब भी महात्मा हो जाता है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ (३२)

इस जन्मके पापीका उल्लेख है—'**अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**' और जन्म-जन्मके पापीका उल्लेख है—'**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य**'। जात-पापी, पूर्वजन्मका पापी है।

'**पापयोनयः**'—मधुसूदन सरस्वतीने इसकी टीका लिखी है कि 'पापयोनयः' माने '*गृध्रादयः*'। गोस्वामी तुलसीदासजी भी यही कहते हैं—

गीध अधम खल आमिष भोगी। गति सो पाव जेहि जाचत जोगी॥

शंकराचार्यने '**पापयोनयः**'को '**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः**'का विशेषण माना है। मधुसूदनजी शंकराचार्यके अनुयायी हैं। फिर उन्होंने शांकरभाष्यमें ऐसा रहते बदला क्यों? इसपर थोड़ा विचार करें। शंकराचार्यका यह कहना है कि जहाँ व्यासकृत ब्रह्मसूत्र भी श्रुतिके विरुद्ध जाता हो, वहाँ बलात् श्रुतिके अनुकूल ब्रह्मसूत्रका अर्थ करना चाहिए। उन्होंने यहाँतक कहा है कि बलपूर्वक ब्रह्मसूत्रको श्रुत्यारूढ़ करो। श्रुति परम प्रमाण है। यह नियम शंकराचार्यने ही बनाया है और अपने भाष्यमें अनेक स्थानोंपर इसका पालन किया है।

अब मधुसूदन सरस्वतीने देखा कि शंकराचार्य बोलते तो हैं, परन्तु एक श्रुति ऐसी है, जिसके विरुद्ध उनका भाष्य जाता है। वह श्रुति कौन-सी है?

तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनि मापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा॥

(छा. ५.१०.७)

तो यहाँ वैश्य-योनिका रमणीयाचरणमूलक योनियोंमें उल्लेख है और शांकरभाष्य जाता है उस श्रुतिके विरुद्ध। तब क्या करना चाहिए? बोले कि भई, यहाँ श्रुतिका पक्षपात करना ही ठीक है, जिससे कि श्रुति लग जाये। इसलिए उन्होंने **पापयोनयः**का अर्थ *गृध्रादयः* कर दिया। लेकिन इससे क्या शांकरभाष्यमें कोई अन्तर पड़ गया? नहीं, अन्तर तो नहीं पड़ा। फिर क्या हुआ? वही आपको सुनाता हूँ।

देखो, चाहे गृध्रादि हों, स्त्रियाँ हों, वैश्य हों, शूद्र हों—इस श्लोकमें एक बात तो लगी हुई है—**'तेऽपि यान्ति परां गतिम्'**। इसलिए निकृष्टता तो कहीं-न-कहींसे आती ही है। बोले कि हाँ निकृष्टता आती तो है और इसलिए हमको शांकर-सिद्धान्त मान्य है। परन्तु निकृष्टता किसकी अपेक्षासे आती है॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ (३३)

ब्राह्मण पुण्य है। राजर्षि भक्त है। सैनिकको सेनापति और राजाका भक्त होना चाहिए। किन्तु ब्राह्मणको किसीका भक्त होनेकी जरूरत नहीं है, उसे तो पवित्रान्तःकरण, शुद्धान्तःकरण होना चाहिए। वह कहीं भी अन्यायका पक्ष न ले, सर्वत्र शास्त्रोक्त निर्णय ही दे। एक कदम सत्यसे विचलित न हो। इसी तरह क्षत्रियका काम है कि सेनापतिकी जो आज्ञा हो, उसका पालन करे। इस प्रकार राजर्षिमें भक्तिकी प्रधानता और ब्राह्मणमें शुद्धान्तःकरणकी प्रधानता होनी चाहिए। इनकी अपेक्षा स्त्री, वैश्य, शूद्रको दो नम्बर देना पड़ेगा। यदि **'पापयोनयः'** को कर दो स्वतन्त्र तो श्रुतिका विरोध बिल्कुल नहीं होगा। मतलब यह निकला कि यह दुनियाँ अनित्य है, नाशवान् है और दुःख है इसमें। इस सृष्टिमें जितना भी दृश्यमात्र है—**'अनित्यम् असुखं लोकम्'**—*'लोक्यन्ते इति लोकाः दृश्यन्ते इति'*। यह जो दृश्य वर्ग है, वह कैसा है? अनित्य है—*'यद् दृष्टं तन् नष्टम्'*। और *'असुखं दुःखालयम्'*—इसमें सुख नहीं है, दुःख है। यहाँ आँधी-तूफान चलता ही रहता है। कभी आग लग गयी, कभी वज्र पड़ गया, कभी तूफान आगया, कभी बाढ़ आ गयी। संन्यासीका यह विभाग भी नहीं है। यदि बाढ़ आजाने पर बाढ़-सहायता

करने जाओ, सूखा पड़नेपर महामारी सहायता करने जाओ, तो लोग कहेंगे कि यह क्या त्याग करके आत्म-चिन्तन करेगा? संन्यास 'ब्रह्मात्मैक्यचिन्तन' के लिए है। मैं आपके सामने दो टूक बात कर देता हूँ। समाज-सेवाका विभाग दूसरा है और यह दृश्यमात्र जो अनित्य है, दु:खरूप है, इसमें आकर भगवद्भजन करना दूसरी बात है। इसलिए परमात्माका चिन्तन करो—'**भजस्व माम्।**'

कोटि विप्र बध लागहि जाहू। आयें सरन तजऊँ, नहि ताहू॥
श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव-भीर।
त्राहि-त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ (३४)

गीताके अठारवें अध्यायमें भी यह श्लोक आया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ (३५)

पर यहाँ गीताके बीचमें है। गिनती करके देखने पर यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि यह गीताका मध्यवर्ती श्लोक है। इसमें भगवान् कहते हैं कि '**मन्मना भव**'—मेरा ज्ञान प्राप्त करो। फिर कहते हैं कि '**मद्भक्तो भव**'—मुझको जानकर मेरी भक्ति करो और '**मद्याजी**' माने अपने अहंकारका बलिदान कर दो। '**मां नमस्कुरु**'—मेरे प्रति नमस् करो। '**नमस्कुरु**' तो शरणागति है। '**मद्याजी**' माने यज्ञ-यागादि धर्मानुष्ठान है। '**मद्भक्तः**'—यह उपासना है और '**मन्मना**' तत्त्वज्ञान है। मतलब यह कि भगवान्‌का ही ज्ञान हो, भगवान्‌की ही भक्ति हो, भगवान्‌के लिए ही धर्म हो और भगवान्‌के प्रति ही शरणागति हो। इस तरह चारोंको मिलानेपर क्या होगा? वह '**मत्परायणः**' हो जायेगा।

'**एवम् आत्मानं युक्त्वा माम् एव ऐष्यसि**'—इस प्रकार अपने-आपको योगयुक्त करके तुम मुझे प्राप्त हो जाओगे। इसके लिए एक तो ज्ञानमार्ग है। कि नहीं बनता है महाराज! क्योंकि '*ज्ञान को पंथ कृपान की धारा।*' अच्छा, भक्तिके मार्गसे चलो। लेकिन महाराज, वह भी भावात्मिका है। आवे तो आवे, न आवे तो वह चाण्डालके घरमें भी चली जाये और मूड न आये तो बड़े-बड़े ब्राह्मणोंका तिरस्कार कर दे। वह अपनी मौजसे ही आती है। शाण्डिल्य-दर्शनमें लिखा है कि '*कृतिसाध्यताभावात्*' अर्थात् भक्ति कृतिसाध्य नहीं है। नारद भक्ति-दर्शनमें '*स्वयं-प्रकाशरूपत्वात् इति सनत्कुमारः*' है। वह जो स्वयं प्रकाश है; किसीके सामने चमक जाये तो चमक जाये और किसीको बिलकुल अपने पाँवकी रुनझुन भी न सुनने दे! इसलिए भक्ति महारानी ऐसी हैं कि कृपा करके ही किसीके हृदयमें आती हैं।

भक्ति ज्ञानियोंमें तो स्वभाव बनकर आती है। जैसे ज्ञानीमें अद्वेष्टापना स्वाभाविक होता है, वैसे ही उनके हृदयमें भक्ति भी स्वाभाविक होती है। शाण्डिल्यके अनुसार वह कृति-साध्य नहीं है। परन्तु यदि किसीपर भगवान् अनुग्रह करें या उसका अन्तःकरण इतना शुद्ध हो कि भगवान्को पसन्द आजाये—तो भक्ति आजाती है। अब यहाँ '**आत्मानम्**' और '**मां**' का सामानाधिकरण्य है, उसपर वेदान्तियोंका ध्यान खींचना आवश्यक है। '**आत्मानं युक्त्वा मां एवं एष्यसि**'—इसपर यह प्रश्न उठता है कि आप अपने-आपको तो जोड़ोगे और प्राप्त होओगे भगवान्को। जुड़ोगे अपनेसे और मिलोगे भगवान्से—यह क्या बात हुई? इसका अर्थ यह है कि दोनों दो नहीं हैं, बिलकुल एक ही है। जिससे जुड़ोगे उससे मिलोगे; जिससे मिलोगे उससे जुड़ोगे। यहाँ भगवान् भी प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही है।

गीताके अठारहवें अध्यायके पैंसठवें श्लोकमें भगवान्ने यह कहा कि '**सत्यं प्रतिजाने**'—मैं सच-सच प्रतिज्ञा करता हूँ, तब मानों अर्जुन बोले कि मैं देख चुका हूँ, तुम दिलके कितने सच्चे हो! सुन चुका हूँ कि तुमने माटी खायी और मैयासे झूठ बोल गये कि नहीं खायी। और की तो बात ही क्या, खास अपनी माँसे तुम झूठ बोल गये! फिर गोपियोंसे बोल दिया कि मैंने तो कभी झूठ कहा नहीं है—

न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः। (श्रीमद्भा० १०.२२.११)

एकबार किसी बापने अपने बच्चोंको इकट्ठा करके कहा कि तुम लोगोंमें जो सबसे बड़ा झूठ बोलेगा, उसे मैं इनाम दूँगा। मुझे देखना है कि तुमलोगोंकी अक्ल कैसी है! अब जब बच्चे झूठ बोलने लगे तो बापने कहा कि अरे, तुमलोग इतनी उम्रमें ऐसा-ऐसा झूठ बोलते हो। मैंने तो जिन्दगीमें कभी झूठ बोला ही नहीं है। बच्चोंने कहा कि पिताजी, तब इनाम आप ही ले लीजिये, क्योंकि इतना बड़ा झूठ तो हमें बोलना नहीं आता है।

तो भगवान् कहते हैं कि '**ते प्रतिजाने**'—मैं तुमसे जो बोलता हूँ, वह सत्य है। अर्जुन बोले कि बाबा, तुम जो व्रजवासी हो, गाँवके ग्वारे हो; तुम तो अपनोंसे भी झूठ बोलते हो। भगवान् बोले कि नहीं-नहीं '**प्रियोऽसि मे**'—तू तो मेरा बड़ा प्यारा है। तुमसे कैसे झूठ बोल सकता हूँ? किसी ऐरे-गैरेसे झूठ बोल दूँ तो बोल दूँ, अपने प्यारेसे झूठ कैसे बोलूँगा? यही अर्थ विश्वनाथ चक्रवर्तीने अपनी टीकामें लिखा है।

॥ इस प्रकार यह 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नववाँ अध्याय पूरा हुआ॥

दसवाँ अध्याय

अब आओ, दसवें अध्यायमें प्रवेश करें। विभूति योग इसका नाम है। अध्यायोंके नाम महाभारतमें नहीं हैं। उसमें तो '*भगवद्गीता-पर्वणि प्रथमोऽध्याय:, द्वितीयेऽध्याय:*' आदि ऐसे ही हैं। आचार्य लोगोंने अध्यायोंके नामोंकी कुछ व्याख्या-आख्या भी नहीं की है। लेकिन अब तो भाई, यह बात चल गयी है। '*स्थितस्य गति: चिन्तनीया*' आचार्य लोग कहते हैं कि जो बात चल जाये, उसकी कोई संगति लगा लेनी चाहिए; उसके साथ ज्यादा खटपट करनेकी जरूरत नहीं है। नहीं तो खण्डन-मण्डनमें दिमाग खराब होता है।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वच:।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ (१)

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन सुनो! '**महाबाहो**' का अर्थ है योद्धा। 'महाबाहो' सम्बोधनके द्वारा भगवान् यह संकेत कर रहे हैं कि यदि तुम युद्ध नहीं करोगे तो तुम्हारी ये बड़ी-बड़ी बाहें निष्फल चली जायेंगी और बाहुओंकी सफलता तब है, जब वे कोई बड़ा भार वहन करें। तुम्हारी बाहोंपर धर्मका बड़ा भार पड़ा है और तुम उसको उतारकर फेंक देना चाहते हो? धर्मरक्षा और धर्म-संवर्द्धनका भार तुम्हारी बाहोंपर है। अरे, तुम तो दूरकी कौड़ी ला सकते हो, दूरकी वस्तुको भी उठा सकते हो! मैं तो तुमको बहुत नजदीककी बात बताता हूँ—'**शृणु मे परमं वच:।**' परम वचन सुनाता हूँ। यह भी देखो कि वचन तो परम है ही, श्रेष्ठ है ही, यह '**प्रीयमाणाय**' भी है—अर्थात् तुम मेरी बात सुनकर खुश होते हो, उससे तो वह कहनी ही चाहिए।

'**हितकाम्यया**'—भगवान् कहते हैं कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ हितकी कामनासे ही कह रहा हूँ। मेरे हृदयमें हित-ही-हित भरा है। इस तरह वक्ताके हृदयमें प्रीति-तृप्ति है और वचन सर्वोत्कृष्ट है—इसलिए आओ, सुनो।

देखो, इस दसवें अध्यायमें दो विषय हैं। उनपर आप लोग अलग-अलग विवेकपूर्वक ध्यान देना। एक है योग और एक है विभूति। जब ठंडे पानीमें बर्फ

मिला हुआ रहता है, तो उसका नाम होता है योग; और जब जमकर सिल्लीके रूपमें आजाता है, तब उसका नाम होता है विभूति। जलके वैभवका नाम बर्फ है। आग जबतक लकड़ीमें छिपी है तबतक योग है और जब ठण्ड दूर करनेके लिए अथवा रसोई बनानेके लिए प्रकट हो जाती है, तब वह अग्निका वैभव कहलाती है। इसी प्रकार परमेश्वर योग रूपसे भी रहते हैं और विभूति रूपसे भी रहते हैं। इस ओर मैं आपका ध्यान इसलिए खींच रहा हूँ कि कई लोग योगके पक्षमें बहुत ज्यादा हो जाते हैं—कि बस, हम मिले रहें ईश्वरसे। और कई लोग विभूतिके पक्षमें बहुत ज्यादा हो जाते हैं—कि यह देखो भगवान्‌का वैभव। भगवान्‌का वैभव है सूर्य, भगवान्‌का वैभव है चन्द्रमा, भगवान्‌का वैभव है हिमालय (इन सब वैभवोंका वर्णन आयेगा इस अध्यायमें)। तो योग और विभूति इन दोनोंके माध्यमसे भगवान्‌का वर्णन करनेका लाभ क्या है? प्रयोजन क्या है? लाभ न पूछो तो प्रयोजन तो पूछ ही लो। क्योंकि, बिना प्रयोजनके मन्दबुद्धि पुरुष भी प्रवृत्त नहीं होता—*'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।*

यहाँ प्रयोजन यह है कि जब समाधिमें रहें तो वहाँ भी भगवान्‌से मिले रहें और जब सूर्य-चन्द्रमा वृक्ष-पृथिवी-पर्वत-नदी देख रहे हों, तब भी परमात्मका दर्शन हो रहा है। तो समाधिमें भी परमात्माका अनुभव हो—इसके लिए दसवें अध्यायमें योग और विभूति दोनोंका वर्णन है। आप सातवें श्लोकको देखना, उसमें बिल्कुल विभाग कर दिया गया है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ (७)

यहाँ अविकम्प योग एक और आगया। एक विभूति है, एक योग है और एक अविकम्प योग है। पातञ्जलयोगके अष्टांग-योगमें यह अविकम्प योग नहीं है। घरेण्डसंहितामें नहीं है, दृढ़योग-प्रदीपिकामें नहीं है, योग-संहितामें नहीं है, मन्त्र-योग संहितामें नहीं है और राजयोग-संहितामें भी नहीं है। यह अविकम्प योग गीतामें है—माने जो समाधिमें है, वही व्यवहारमें है। योग विकम्पित नहीं हुआ, डाँवाडोल नहीं हुआ—चाहे व्यवहारमें रहो, चाहे समाधिमें रहो—**'सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः'**।

जो विभूतिको भी भगवान् देखता है और शान्तिको भी भगवान् देखता है, वह भगवान्‌से कभी बिछुड़ता नहीं—यह बात इन श्लोकोंमें अपको दिखायी देगी।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ (२)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ (३)

भगवान् कहते हैं कि ये जो देवता लोग हैं, इन्द्रियोंके आधिदैविक अधिष्ठाता हैं—हाथमें इन्द्र हैं, पाँवमें विष्णु हैं—ये मेरी उत्पत्तिको नहीं जानते। इनपर यह कहावत चरितार्थ होती है कि *'बापके जन्म कि जाने पूत'*? ये तो बादमें पैदा हुए है; बच्चे हैं; ये क्या जानेंगे? बोले कि अच्छा, ऋषिलोग जानेंगे? बोले कि नहीं। इन्द्रियोंके आध्यात्मिक दृष्टिसे एक-एक ऋषि हैं और जैसे ऋषिलोग द्रष्टा होते हैं *'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'*—वैसे ही शब्द-द्रष्टा-श्रोता ऋषि हैं, रूप-द्रष्टा नेत्र ऋषि हैं, गंध-द्रष्टा घ्राण ऋषि हैं और रस-द्रष्टा रसना ऋषि हैं। लेकिन ये ऋषिलोग भी भगवान्‌की उत्पत्तिको नहीं जानते हैं। ये लोग भी नहीं जानते हैं कि हमको अपनी ज्ञान-रश्मिसे उज्जीवित करनेवाला परमात्मा कहाँसे पैदा होता है।

'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः'—ये कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरणके जितने आधिदैविक देवता हैं तथा विश्व-सृष्टिमें और भी जितने देवता हैं—जैसे वास्तु देवता, अग्निदेवता, वायु देवता आदि जितने भी देवता हैं—वे सब व्यष्टि-समष्टिरूपसे ज्ञान-रश्मि देनेवाले परमात्माको नहीं जानते हैं। अच्छा, ऋषि नहीं तो महर्षि तो जानते होंगे! कि महर्षि भी नहीं जानते हैं! तब कौन जानता है?

देखो अर्जुन, तुम दो बातोंको जान लो। इन्द्रियाँ जायमान हैं, ऋषि जायमान हैं और मैं अज हूँ। इन्द्रियों, ऋषियों और देवताओंका आदि है, परन्तु मेरा आदि नहीं है—*'अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्'* (ब्रह्मसंहिता ५.१)।

इसलिए तुम परमात्माको इस तरहसे जानो कि वह जन्य नहीं है और अनादिको ढूँढनेके लिए कालके आदिमें जानेकी जरूरत नहीं है। यह जाननेकी चेष्टा मत करो कि यह भूत कहाँसे प्रारम्भ होता है। यदि तुम इस चक्करमें पड़े तो समझ लो कि फिर ईश्वर तुमको नहीं मिलेगा। अगर कालके आदिमें पहुँचना चाहोगे—तो काल विकल्पमात्र है, उसका आदि कहीं होता नहीं। देश भी विकल्प मात्र है, उसका भी कहीं आदि नहीं है। दिशाएँ भी विकल्पमात्र हैं, उनका भी आदि नहीं है। इसलिए पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण ढूँढनेके लिए कहीं मत जाना। परमात्मा तो—जहाँ वृत्तियोंका उत्थान होता है— वहाँ रहता है, और उसका है नित्य योग। उस लोक-महेश्वरको पहचान लोगे तो असंमूढ हो जाओगे। फिर कोई पाप-ताप नहीं लगेगा।**'सर्वपापैः प्रमुच्यते।'** **'सर्वपापैः'** माने *अविद्या-तत्कार्यैः'*। केवल 'पाप' रहे, तब 'समूल पाप' को लेना चाहिए। समूल पाप माने फल-सहित, करण-सहित, कर्तासहित, और अपने मूलभूत अज्ञानके सहित। ये सब पापकी जातियाँ हैं।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

. जो है तो कुछ, और जानता है अपनेको कुछ, वह भी पापी है। भ्रम भी पाप है। भ्रमका बाप अज्ञान भी पाप है। तो '**सर्वपापैः प्रमुच्यते**' माने इन सबसे छुटकारा मिल जाता है, परमात्माको जान लेनेपर।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ (४)
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (५)

'**बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः**'—अब भगवान्‌ने कहा कि अर्जुन, इस बातपर ध्यान दो, बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख-दुःख, भाव-अभाव, भय-अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश-अयश—ये जो प्राणियोंके मनमें भिन्न-भिन्न होते हैं, इनके अलग-अलग देवता भी होते हैं, अलग-अलग ऋषि भी होते हैं, और इनकी अलग-अलग रूप-रेखा भी होती है। लेकिन इन सबका जो मूल कारण है, वह एक है। '**मत्त एव भवन्ति**'—मत्तः माने स्वप्रकाश संवित् रूप जो परमात्मा है, प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म है—उसीसे इन सब भावोंका उन्मेष होता है, भान होता है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ (६)

सात महर्षि और '**पूर्वे चत्वारः सनकादयः**'—ये चार पहलेके ऋषि और '*मनवः चतुर्दश*'। ये भगवान्‌के मानस भाव हैं और यही महर्षियोंके रूपमें, सनकादिकोंके रूपमें हैं। '**महर्षयः सप्त**' माने ज्ञानेन्द्रियाँ, ज्ञानछिद्र जो सात हैं ऊपरके-वे। और '**पूर्वे चत्वारः**' माने अन्तःकरणके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकाररूप जो चार भेद हैं, इन चारोंसे युक्त जो चेतन अन्तःकरणमें बैठा है तथा '**मनवः**' माने दस इन्द्रियाँ और एक मन—ये सब मिलकर अपने आप ही चौदह हो जायेंगे। ये सब-के-सब परमेश्वरसे पैदा हुए हैं और उन्हींसे लोककी सारी प्रजा बनती है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ (७)

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, तत्त्वसे समझो कि योग क्या है और विभूति क्या है। पानीमें जो शुद्ध माधुर्य है, वह योग है और जब उसको खट्टा-मीठा बनाकर पीते हैं, तब उसका वैभव हो जाता है। पानीका-पानी रहना योग है और दूधमें मिला देनेपर

एक किलोका दो किलो हो जाना—यह पानीका वैभव है। तुम यह देखो कि वह भी वही और वह भी वही। अनभिव्यक्त भी वही और व्यक्त भी वही! वही! वही! अब यह तुम्हारा अविकम्प योग होगा। जहाँ देखोगे वहाँ परमात्मा ही परमात्मा दिखाई देगा।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥(८)

मैं ही सबका आदि कारण हूँ। '**प्रभव**' माने पिता हूँ। 'भव' कहनेसे उपादान कारणका ही, अभिन्न निमित्तोपादान कारणका ही ग्रहण होता है। '*प्रभवति अस्मादिति प्रभवः*'—जिससे जन्म हो, उसका नाम प्रभव और '*भवः शिवः प्रलयंकरः। प्रकृत्या भवः प्रभवः। अहं सर्वस्य प्रभवः।*' जो शंकरजी सारी सृष्टिका महाप्रलय करते हैं, उनसे भी मैं पीछे बैठा रहता हूँ; उनसे भी नीचे बैठकर देखता हूँ। '**अहं सर्वस्य प्रभवः।**'

'*न हन्यते इति अहम्*'—जिसका कभी विनाश न हो, वह **अहम्**। *न हीयते इति अहम्*। और अकारादि-हकारान्त-पर्यन्त वर्णमालासे निष्पन्न जो है—उसका प्रतिपाद्य मैं हूँ। *न जहाति इति अहम् न, हिनस्ति इति अहम्।*

अब दूसरी बात यह, कि दुनिया चल कैसे रही है? बोले—'**मत्तः सर्वं प्रवर्तते**'—सबका अन्तर्यामी प्रेरक भी मैं ही हूँ, सबका उपादान भी मैं ही हूँ और सबका संचालक भी मैं ही हूँ। बुध लोग, जानकार लोग, पहले इस बातकाा मनन कर लेते हैं और फिर भावयुक्त होकर मेरा भजन करते हैं। भजनके प्रसंगमें—एक बहुत बढ़िया बात है, उसका ध्यान रखें।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ (९)

मुझे मनसे प्यार करो और बुद्धिसे मेरा विचार करो। 'चित्त' शब्दमें दोनोंका समावेश होता है। कैसे? यह बात बारहवें, आठवें और नवें श्लोकमें आयी है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

भगवान्‌ने कहा कि मुझमें अपना मन रख दो और बुद्धिको निविष्ट कर दो। भगवान्‌ने दो चीजें माँगी न! यह अर्जुनको कुछ कठिन लगा, तो भागवान् बोले—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।

यहाँ 'चित्त' पदका अर्थ मन और बुद्धि—दोनों हो गया। फिर इसका अर्थ हुआ कि मनसे तो प्रेम करो और बुद्धिसे विचार करो। संसारी लोग अपनी पत्नीसे, पुत्रसे

और धनसे तो प्यार करते हैं और बुद्धि लगाते हैं उनसे तृप्तिके उपायमें तथा धन आदिके उत्पादनमें। ज्ञानी लोग भी विचार तो करते हैं भगवान्‌का और प्रेम करते हैं चेलोंसे। भगवान् कहते हैं कि यह बात नहीं बनेगी। प्रेम भी मुझसे ही करो और विचार भी मेरा ही करो— '**मच्चित्ताः**।'

'**मद्‌गत प्राणाः**'—अर्थात् *'मद्‌गतैकजीवनाः।'* भगवान् कहते हैं कि जैसे साँसके बिना आदमी जिन्दा नहीं रह सकता, ऐसे ही मेरे भजनके बिना जिन्दा रहनेकी कल्पना छोड़ दो। अपने प्राणको मेरे अन्दर रखो, अपने शरीरमें मत रखो। यह मत सोचो कि इसको खिला-पिलाकर जिन्दा रखेंगे। अपने प्राणोंको मुझे अर्पित कर दो।

'**बोधयन्तः परस्परम्**'—जब दो दीवाने मिलकर बैठते हैं, तब—इधर मौसम कैसा है, गर्मी कैसी है, समाजमें क्या हो रहा है और राजनीति किस प्रकार चल रही है—यही चर्चा करते रहते हैं। वे न तो अमेरिका जाते हैं, न रूस जाते हैं; लेकिन दोनोंके झगड़ोंकी चर्चामें अपना दिमाग खराब करते रहते हैं। भगवान् कहते हैं कि व्यर्थकी बातें न करके परस्पर परमेश्वरकी ही चर्चा करो, उसीका उद्‌बोधन करो।

'**कथयन्तश्च मां नित्यम्**'—भगवान्‌की लीलाका तो नित्य निरन्तर कथन करो और इस तरहसे '**तुष्यन्ति च रमन्ति च**'—स्वयं आनन्दमें मग्न रहो। मग्न ही नहीं रहो, उसमें रम ही जाओ। जहाँ सन्तोष होता है, वहाँ हम कहते हैं कि भाई, इतनेमें हम सन्तुष्ट हैं और जहाँ '**रमन्ति**' होता है, वहाँ दूसरेकी इच्छा नहीं रही। इतना ही नहीं, जिसमें रम गये उसमें रम गये। दूसरेकी याद ही नहीं आती।

यहाँ देखो, भगवान् '**चकार**' के कितने प्रेमी हैं। गाय चराते थे, इसलिए चरानेमें च-च उनके साथ बहुत लग गया। एक महात्माने तो '**च रमन्ति**' को *'चरमन्ति'* ही बना दिया। *'चरमन्ति'* अर्थात् *'चरमाम् अवस्थाम् अनुभवन्ति।'* चरम माने अन्तिम अवस्थाका अनुभव करते हैं। यही उनका काम है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ (१०)

'**तेषां सततयुक्तानाम्**'—जो हमेशा युक्त हैं, प्रीतिपूर्वक भजन कर रहे हैं—उनके बारेमें भगवान्‌ने कहा कि उनकी बात बहुत बढ़िया है। पर यह भी अवधि नहीं है। जब मैं देखता हूँ कि यह मनुष्य ऐसा कर रहा है तो ऐसे आदमीको मैं कुछ देता हूँ—'**ददामि बुद्धियोगं तम्**।' क्या देते हो महाराज ? कि बुद्धियोग देता हूँ। क्योंकि बुद्धियोग पाप-पुण्यसे छुड़ा देता है। कर्मजन्य फलसे वह मुक्त कर देता हैं और उससे परमात्मामें निरन्तर चित्त लग जाता है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

एवं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

जब भगवान्‌ने कहा कि मैं उसको बुद्धियोग देता हूँ, तब मानो अर्जुनने कहा कि बुद्धियोग देनेसे क्या होता है? बोले कि देखो, सारे बुद्धियोगका सार यह है कि तुम किसकी ओर जा रहे हो? धनकी ओर जा रहे हो कि कुर्सीकी ओर जा रहे हो? यह जो कुरसी है, वह कुरसिका है महाराज! पता नहीं कब उलट जाये।

किसी डाक-बंगलेका एक चपरासी कह रहा था कि महाराज, मेरे सामने इस विभागके बारह मिनिस्टर हो चुके, किन्तु सब बदल गये। और मैं वही-का-वहीं हूँ। इन लोगोंका क्या ठिकाना है? आज रोब गाँठ रहे हैं, कल रहेंगे कि नहीं रहेंगे—ये स्वयं नहीं जानते हैं। तो, कुरसिकाका प्रेम मत करो।

राज्यपाल भवनका एक सेक्रेटरी है, उसका नाम भी मुझे याद है। वह बोलता है कि महाराज, मैं अंग्रेजोंके जमानेसे सेक्रेटरी हूँ। मैंने बड़े-से-बड़े बदमाश गवर्नर देखे हैं और बड़े-से-बड़े ईमानदार भी देखे हैं। कितने ही आये और गये। मैं तो यहाँके रोम-रोमसे परिचित हूँ।

तो भगवान् कहते हैं कि किसीका मन जाता है धनमें, किसीका मन जाता है कर्ममें, किसीका कुर्सीमें, किसीका ओहदेमें और किसीका पदमें; लेकिन अगर आपको असली बुद्धियोग मिल जाये तो आपका मन परमात्माके सिवाय और कहीं नहीं जायेगा। आप बुद्धिमान् मत बनिये, बुद्धिवादी मत बनिये, बुद्धिवाद तो वादी-रोग है। आप बुद्धिजीवी भी मत बनिये, क्योंकि बुद्धिजीवी तो अपनी बुद्धिको बेच-बेचकर खाता है। बुद्धिजीवी माने जो बुद्धिको बेचकर खाये। हम लोग बुद्धिजीवी नहीं हैं। हमको तो भगवान्‌ने बुद्धियोग दिया है। हम उनका तोहफा लिये-लिये फिरते हैं और बाँटते रहते हैं।

अच्छा, बुद्धियोगकी पहचान क्या है? भगवान् कहते हैं कि '**येन मामुपयान्ति**'—बुद्धियोग वह है, जिससे भजन करनेवाले हमारे नजदीक पहुँच जायें। अब देखो, भगवान् भजन करनेवालोंको केवल बुद्धियोग देते हैं। वे न तो वृत्ति-निरोध देते हैं, न स्वाकार-वृत्ति देते है और न धर्मजन्य अपूर्व देते हैं। धर्मजन्य अपूर्व भी नहीं और शुभ प्रवृत्ति-जन्य अदृष्टरूप धर्म भी नहीं।

न्यायमतमें धर्मका स्वरूप है शुभ प्रवृत्ति-जन्य अदृष्ट और पूर्वमीमांसाके मतमें विहित कर्मको ही धर्म कहते हैं। परन्तु उससे एक अपूर्वकी उत्पत्ति होती है और

कालान्तरमें, देशान्तरमें या जन्मान्तरमें जो फल मिलता है, वह वेदान्तको अभीष्ट नहीं है। वेदान्तका परम तात्पर्य है दृष्ट अन्तःकरणकी शुद्धि। इसमें सब साधनोंका तात्पर्य है। दृष्ट अन्तःकरणकी शुद्धि माने इसी समय, इसी जीवनमें हमारा अन्तःकरण पवित्र हो जाये और परमात्माका अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाये। जन्मान्तर, देशान्तर, कालान्तरकी कल्पना करनेवाले वेदान्तसे थोड़ा दूर रहते हैं,डरते हैं।

तो, भगवान्‌ने कहा कि भजन करनेवालोंको मैं बुद्धियोग देता हूँ। वे भजन करनेवाले कैसे होते हैं? जो अपने आत्मानन्दमें तुष्ट हो जाते हैं और अपने स्वरूपमें रम जाते हैं—'**तुष्यन्ति च रमन्ति च।**' उन्हें भजन किस प्रकार करना चाहिए? कि '**प्रीतिपूर्वकम् भजताम्**'—प्रेमसे मेरा भजन करें, कुछ पानेके लिए नहीं करें। अन्य प्रयोजनसे भजन न करें, प्रीतिसे भजन करें।

एक बात और है इसमें। भगवान् कहते हैं कि जो प्रेमसे मेरा भजन करते हैं, उनको मैं भी प्रेमसे ही देता हूँ—'**प्रीतिपूर्वकं ददामि।**' 'ददामि' क्रियाका विशेषण करो दो 'प्रीतिपूर्वक' को, जिसका अर्थ है कि बड़े प्रेमसे देता हूँ। क्या देते हो, महाराज? उनको अक्ल देता हूँ। अक्ल माने बुद्धियोग।

असलमें बेअक्लीसे ही भगवान् अप्राप्त हैं और अक्लमन्दीसे ही भगवान् मिलते हैं। इसके लिए बुद्धि चाहिए और उस बुद्धिका योग होना चाहिए भगवान्‌में। '**येन बुद्धियोगेन मामुपयान्ति**'—उसी बुद्धियोगसे मेरी प्राप्ति होती है।

अब प्रश्न उठा कि बुद्धियोगसे भगवान् मिलेंगे—यह ठीक है। किन्तु उसकी भी तो कोई प्रक्रिया होनी चाहिए, कोई प्रकार होना चाहिए। यह तो केवल प्रतिज्ञामात्र हुई कि बुद्धियोगसे मेरी प्राप्ति हो जाती है। उसकी प्रक्रिया बतानी चाहिए कि भाई, बुद्धियोगमें ऐसी कौन-सी-युक्ति है, कौन-सी-शक्ति है, कौन-सा सामर्थ्य है कि उससे भगवान् मिल जाते हैं?

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (११)

'**तेषामेवानुकम्पार्थम्**'—भगवान् कहते हैं कि मेरा दिल इस बातसे थर-थर काँपने लगता है कि इसने मेरा इतना भजन किया और इसको मैंने कुछ नहीं दिया। अनुकम्पा माने हृदयका कम्पन, स्पन्दन, उसका विचलित हो जाना। अब वह अनुकम्पा किस प्रक्रियासे आपके पास बुद्धियोग पहुँचाती है—यह देखिये। भगवान् बोले कि '**आत्मभावस्थः**'—मैं भजन करनेवालेके आत्मभावमें स्थित हो जाता हूँ। और उसमें स्थित होकर क्या करता हूँ? कि '*भास्वता ज्ञानदीपेन अज्ञानजं तमः*

नाशयामि'—मैं भासवान् ज्ञान-दीपकके द्वारा उनके अज्ञानजन्य तमका, अध्यासका, भ्रान्तिका नाश करता हूँ। अज्ञानजन्य तम—यह मूलाविद्याकी स्वीकृति है। कुछ वैयाकरण लोग कहते हैं कि केवल अध्यास ही है, तम ही है; मूलाविद्या नहीं है। लेकिन यहाँ तो तमस्‌का मूल अज्ञान है। माने एक मूलाविद्या है, एक मूलविद्या है। एक अध्यास है, भ्रान्ति है, सर्पाकार-बुद्धि है। जो रज्जुका अज्ञान है, वह मूलाविद्या है। रज्जुके ज्ञानसे सर्पादि भ्रान्तिका निवारण होता है।

'**ज्ञानदीपेन भास्वता**'—शंकराचार्यजीने '**ज्ञानदीपेन भास्वता**' की व्याख्या करते हुए कहा है—'*ज्ञानदीपेन विवेकप्रत्ययरूपेण भक्तिप्रसादस्नेहाभिषिक्तेन मद्भावनाविनिवेशवातेरितेन ब्रह्मचर्यादिसाधनसंस्कारवत् प्रज्ञावर्तिना विरक्तान्तःकरणाधारेण विषयव्यावृत्तचित्तरागद्वेषकलुषितनिवातापवरकस्थेन नित्यप्रवृत्तैकाग्र्यध्यानजनित-सम्यग्दर्शनभास्वता ज्ञानदीपेनेत्यर्थः।*'

ज्ञानका दीपक कैसा है? बोले कि विवेक प्रत्यय ही उसका स्वरूप है; दुःख और आनन्दका विवेक। जो दुःख है वह असुख है और जो आनन्द है वह सुख है। उसके बाद जो दुःख है, अचित् है—वह असत् है और जो आनन्द है, चित् है—वह सत् है। तब क्या हुआ? कि अचित् और दुःख दोनों मिथ्या हो गये। वह विवेक प्रत्यय ही इस ज्ञानदीपका स्वरूप है। लेकिन दीया तो तेलसे जलता है—यह तेल क्या है? कि भक्ति-प्रसाद ही इसमें तेल है। उसे थोड़ी-सी हवा भी चाहिए; हवा न हो तो दीया बुझ जायेगा। तो भावनाकी वायु है। थोड़ा संस्कार भी उसको चाहिए तो ब्रह्मचर्यादि साधनकी संस्कारवती जो प्रज्ञा है—वही उसकी वर्ति है, बत्ती है। दीया भी चाहिए, तो विरक्तोंका विरक्त अन्तःकरण ही उसका दीया है—माने विषयोंसे व्यावृत्त, रागद्वेषसे अकलुषित जो चित्त है-वही उसका आवक है। जैसे किसी निर्वात स्थानमें किसी शीशेके भीतर या लालटेनके भीतर, अपवारकमें कोई दीपक स्थित हो, वैसे ही वह स्थित है। और उसमें ज्योति किसकी है? जो नित्यप्रवृत्त एकाग्रताका ध्यान है, वही उसमें ज्योति है। यह शंकराचार्यका भाष्य है—जहाँ बोलनेका मौका होता है, वहाँ आचार्यजी संक्षेप नहीं करते हैं। संक्षिप्त करनेकी इच्छा तो वहीं होती है, जहाँ विस्तार करना अनावश्यक हो।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ (१२)
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ (१३)

अब अर्जुनके मनमें जिज्ञासाका उदय हुआ। बोला कि महाराज, आप '**परं ब्रह्म**' हैं, '**परं धाम**' हैं। मैं-ही-मैं करके आप सब बात बोल रहे हैं—जैसे, मेरा भजन करो, मैं भक्ति देता हूँ—'**मामुपयान्ति ते, अहं नाशयामि**' आदि-आदि। इसका अर्थ यही तो हुआ कि आप ब्रह्म हैं और आप अधिष्ठान है, आप परम पवित्र हैं, मायादिसे रहित हैं, शाश्वत पुरुष हैं, आदिदेव है, दिव्य हैं, अज हैं, विभु हैं—यह बात आप ही अपने मुँहसे कहते हो, सो बात नहीं—'**आहुस्त्वामृषयः सर्वे**' जितने भी ऋषि हैं, वे सभी यह बात कहते हैं। ऋषि क्या है? *'ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः'* ऋषि वेदमन्त्रोंके द्रष्टा हैं। आपके ब्रह्म होनेका प्रतिपादन ऋषि करें या वेदमन्त्र करें—एक ही बात है। देवर्षि नारदजी भी ऐसा ही कहते हैं। नारदजी देवता भी हैं और ऋषि भी हैं, अतः उन्हें 'देवर्षि' कहते हैं—वे देवताओंके ऋषि हैं। उनके अतिरिक्त, असित, देवल, व्यास और स्वयं आप जो बोलते हैं—वह सब बात सच्ची है।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ (१४)

हे केशव, मैं जानता हूँ कि देवता और दानव आपकी व्यक्ति (स्थूलरूपमें अभिव्यक्ति) को नहीं जानते हैं, फिर वे आपके अव्यक्तको कहाँसे जानेंगे? *'व्यक्तिमपि न विदुः किं पुनः अव्यक्तं'*—अर्थात् वे आपकी व्यक्तिको भी नहीं जानते हैं, फिर अव्यक्तकी तो चर्चा ही क्या? तब आपको कौन जानता है महाराज!

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ (१५)

देखो, यहाँ जो पुरुषोत्तम सम्बोधन है, उसका अर्थ है—*'पुरुषानपि अधिकारभेदेन उत्तमयति अहं-भावम् आपादयति इति पुरुषोत्तमः'*—पुरुष तो जीव हैं, उनको भी अभेदेन *'उत्तमयति'* माने साधारण-से-साधारण जीवोंको भी जो आत्मभाव प्राप्त करा देते हैं, उनका नाम पुरुषोत्तम है। इसी तरह '**भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते**'—ये सब श्रीकृष्णके सम्बोधन हैं।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ (१६)

अब अर्जुन कहते हैं कि हे महाराज, आप कृपा करके अपनी सारी दिव्य विभूतियोंका वर्णन कीजिये।

देखो, एक तो है 'भूति'। भूति माने सत्ता। जब भूतिके साथ 'वि' जुड़ेगा तो विभूति हो जायेगा? जैसे *'वर्तनं वर्तः'* के साथ *'वि'* जुड़नेपर विवर्त हो जाता है,

वैसे संज्ञात्मक '*भूति*' के साथ '*वि*' जुड़नेपर क्या हो जायेगा? '*विभूतिः विभवनं विविधभवनं, विपरीतभवनं वा विभूतिः।*' एकका अनेक हो जाना, अद्वितीयमें द्वितीयका रूप दिखाना—इसका नाम विभूति है। '*वि*' लगते ही उसका विशिष्ट अर्थ हो जाता है। श्रुतिमें आया है कि '*एकं वै सद् विबभूव सर्वम्।*' (ऋग्वेद ८.५८.२) सत् तो एक था, परन्तु '**सर्वं विबभूव**'। '*वि*' उपसर्ग जो काम '*विवर्त*' में करता है, वही '**बभूव**' में भी करता है। '**विभूति**' में भी वही काम करता है।

'**याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि**'—सबमें आप व्याप्त होकर बैठे हैं। यह व्यापकता क्या है? एक तो नैयायिक लोग मानते हैं कि जैसे लोहेके गोलेको आगमें डाल दिया, तो आग क्या है गयी कि गोलेमें व्याप्त हो गयी। वैसे ही आप सबमें व्याप्त हैं। मूर्त-संयोगित्व स्वरूप विभुत्व आकाशका विभुत्व नहीं है, परन्तु सम्पूर्ण अणुओंके साथ जो संयोगित्व है, वही आकाशका विभुत्व है। वेदान्तको तो ऐसा विभुत्व स्वीकार नहीं है। वहाँ तो उपादनत्वरूप विभुत्व है। सम्पूर्ण उपादेय कार्यमें जो उपादानकी उपस्थिति है—घटमें मृत्तिका व्याप्त है, वस्त्रमें सूत्र व्याप्त है और अलंकरणमें स्वर्ण व्याप्त है—इसको व्याप्ति बोलते हैं—'**व्याप्य तिष्ठसि।**'

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ (१७)

प्रभो, आपका चिन्तन करते हुए मैं कैसे समझूँ कि यह आप हैं? आप तो बड़े योगी हैं महाराज! नाना रूप धारण करके आते हैं—एक महात्माके पास आप भूत बनकर आगये महाराज! तो महात्माने कहा कि मैं तुम्हें पहचानता हूँ। आप बनी-बनायी रोटी उठाकर ले गये। भक्तने पहचान लिया और कहा कि तुम्हीं हो। लेकिन भाई, रोटीमें घी तो लगा लेने दो। इतनी जल्दी क्या करते हो? जब मैं रोटीको घी लगा लूँ, तब ले जाना। इस प्रकार मैं कहाँ-कहाँ तुम्हारा चिन्तन करता फिरूँ? यह तो बताओ!

'**केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि**'—अर्थात् मैं जो चिन्तन करूँ, वह प्रमाणसे रहित न हो। '**मया सह चिन्त्योऽसि**'—जहाँ-जहाँ आप लक्ष्मीको दीख जाते है, वहाँ-वहाँ हमको भी दीख जाओ भगवन्!

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ (१८)

यहाँ भगवान्‌के लिए अर्जुनका जो '**जनार्दन**' सम्बोधन है, इसपर शंकराचार्यजी भी बोल पड़े हैं—'*देवप्रतिपक्ष-भूतानां जानानाम् असुराणां नरकादिगमयितृत्वाज्*

जनार्दनः'—अर्थात् दुष्टोंको जो नरकमें पहुँचा दे, उसका नाम जनार्दन है। *'अभ्युदयनिःश्रेयस-पुरुषार्थ-प्रयोजनं सर्वं जनैः याच्यते इति वा जनार्दनः'*—बोले कि यह फिरसे बोलो, दुबारा बोलो—जैसे मुशायरेमें शेर (कविता) सुननेपर लोग बोलते हैं कि क्या खूब, मुकर्रर, इरशाद, कलम तोड़ दी आपने। इसी तरह अर्जुन कहता है कि '**भूयः कथय**' अर्थात् फिरसे कहिये महाराज! '**भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्**'। क्यों ? कि कानोंके प्यालेसे अमृत पीते-पीते मुझे तृप्ति नहीं हो रही है। थोड़ा-सा और पिलाओ। श्रीकृष्णने भी कहा है कि मैं यह बात नयी नहीं कह रहा हूँ, पुरानी है, कही जा चुकी है यह, कि '**भूयस्व महाबाहोशृणु मे परमं वचः।**' सातवें अध्यायमें यह बात कह चुका हूँ कि —'**रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।**' एक बार कह चुका हूँ, फिरसे सुन लो!

इसलिए यहाँपर अर्जुन कहता है कि हाँ-हाँ, फिरसे कहो। देखो, सुननेवाला तो कह दे कि तुम एक बार तो कह ही चुके हो और मैं तुम्हारी वह बात सुन चुका हूँ, सो फिरसे क्यों दुहराते हो—तो वक्ताको अरुचि हो जायेगी। अतः अर्जुनने कहा कि नहीं; फिरसे कहो!

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ (१९)

भगवान्‌ने कहा कि आहा, बड़े आनन्दकी बात है अर्जुन, कि तुम मेरी बात फिरसे सुनना चाहते हो। यहाँ '**हन्त**' शब्दका प्रयोग हर्षके अर्थमें हुआ है। *'हर्षे विषादे आश्चर्ये हन्त इति प्रयुज्यते।'* तो '**हन्त**' माने हाय-हाय भी होता है।

तो भगवान् कहते हैं कि अच्छा अर्जुन, मैं तुम्हें अपनी दिव्य विभूतियाँ, प्रधानतासे कहूँगा। उनमें जो मुख्य-मुख्य हैं, उन्हींका नाम लूँगा। हर गाँवके हर सदस्यका नाम लेना मुश्किल है न! इस गाँवमें यह सरपंच हैं—ऐसे नाम लूँगा—'**प्रधान्यतः कुरुश्रेष्ठ।**' क्योंकि जहाँ वाक्यका विस्तार होता है, वहीं 'विस्तर' शब्दका प्रयोग होता है, अन्यत्र 'विस्तार' का प्रयोग होता है। 'वस्तु-विस्तार' होता है और 'वाग्विस्तर' होता है। 'शब्द' के साथ 'विस्तर' जुड़ता है। कहनेमें कभी समाप्ति नहीं होती है।

अब जब भगवान् विभूतियोंका वर्णन प्रारम्भ करेंगे, तब आगे चलकर यह भी कहेंगे कि '**स्थावराणां हिमालयः**'—स्थावरोंमें मैं हिमालय हूँ। लेकिन यहाँ कोई *'सर्वं वाक्यं सावधारणम्'* के नियमसे *'अहं हिमालय एव स्थावराणां मध्ये अन्यः कश्चन अहं नास्मि हिमालय एवास्मि'*—स्थावर पदार्थोंमें मैं दूसरा कुछ नहीं हूँ,

सिर्फ हिमालय हूँ—ऐसा अर्थ विभूतिका समझेगा तो गलत समझेगा। इसलिए इस शंकाको, इस भूलको मिटा देनेके लिए भगवान् पहले ही बोलते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ (२०)

अर्जुन, मैं सम्पूर्ण भूतोंका आशय हूँ। आशयका अर्थ है *'यत्र सर्वे सुषुप्तो आशेरते आशयः'*—जिसमें सबलोग सो जाते हैं (और जागते हैं)—उसका नाम है आशय। उस आशयमें सब लोगोंके सो जाने (और जागने) के समय भी मैं ही रहता हूँ। अतएव जो सुषुप्तिमें, स्वप्नमें, जाग्रतमें व्याप्त रहता है और इनसे व्यातिरिक्त भी रहता है, वह आत्मा मैं ही हूँ। इसलिए जब भगवान्‌ने '**सर्वभूताशय-स्थितः**' कह दिया, तब फिर केवल हिमालय कहनेसे या एक विभूतिका नाम लेनेसे परिच्छिन्नता प्राप्त नहीं होती।

अब दूसरी बात यह है कि भगवान् आशयमें तो हैं, परन्तु यह आशय क्या है? क्या यह उनसे कोई भिन्न पदार्थ है? भगवान्‌ने उसको भी काट दिया और कहा कि '**अहम् आदिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च**'। जिन भूतोंके आशयमें मैं रहता हूँ, उन भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।

भूत पहले नहीं थे, भूत बादमें नहीं रहेंगे—इसलिए भूत बीचमें भी नहीं है। जब भूत नहीं हैं तो भूतोंका आशय भी नहीं है और जब भूतोंका आशय नहीं है, तो मैं-ही-मैं हूँ। इसका अर्थ हुआ कि मैं अद्वितीय हूँ। पहली विभूति यही है।

अब इसके बाद भगवान्‌ने इक्कीसवें श्लोकसे लेकर चालीसवें श्लोकतक इकहत्तर विभूतियोंका वर्णन उदाहरणार्थ और किया है तथा एक-एक विभूतिमें बहुत-बहुत बातें हैं। विभूति तो वही होती है न, जो बढ़ती जाये। विभवनशील होनेसे ही इसको विभूति कहते हैं। भगवान्‌ने कौन-सी विभूतिमें अपनेको किसलिए बताया है—अगर इसकी व्याख्या करने लग जायँ, तो इकहत्तर विभूतियोंके लिए इकहत्तर युग तो चाहिए। यह दसवाँ अध्याय कोई मामूली अध्याय नहीं है। इसमें भगवान्‌के वैभवका वर्णन है; और वैभव तो भगवान्‌का कभी समाप्त ही नहीं होता। इसलिए बहुत संक्षेपमें, विहंगम दृष्टिसे ही, उनकी चर्चा की जा सकती है।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ (२१)

आदित्योंमें '**विष्णुः**'—अदितिके जो बारह पुत्र हैं, उनमें अन्तिम पुत्र वामन—विष्णु, मैं हूँ। नाम है वामन और हैं विष्णु। यह परस्पर-विरोध है।

ज्योतियोंमें सूर्य हूँ। मरुद्गणोंमें मरीचि और नक्षत्रोंमें नक्षत्रोंका राजा शशी हूँ। यद्यपि चन्द्रमाकी गणना नक्षत्रोंमें नहीं है, फिर भी नक्षत्रोंके अधिपति होनेके कारण—जो नक्षत्रोंमें श्रेष्ठ है—उसका नाम कह दिया। चन्द्रमा क्षत्रिय नहीं है, इसलिए '**नक्षत्राणां**=*ब्राह्मणनां*' यह अर्थ भी सम्भव है।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ (२२)

वेदोंमें भगवान् अपनेको सामवेद इसलिए बताते हैं कि वे गाते हैं। यदि गवैया होकर अपनेको सामवेद नहीं मानेंगे, यजुर्वेदी मानेंगे—तो उन्हें कर्मकाण्ड कराना पड़ेगा और ऋग्वेदी मानेंगे तो मन्त्र बोलना पड़ेगा। इसलिए बोले कि हम तो गवैये हैं—सामवेद हैं। देवताओंमें इन्द्र हैं। उधर अप्सराएँ हैं, इधर गोपियाँ हैं—'**देवानामस्मि वासवः। इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**'—इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ। ईश्वर कृपासे जैन लोग मनको इन्द्रिय नहीं मानते हैं—'*अनिन्द्रियं मनः*'। क्यों नहीं मानते हैं ? कि एक-एक विषयको प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियाँ होती हैं ! असाधारण विषयको प्रकाशित करनेवाली, असाधारण करणके रूपमें इन्द्रियाँ होती हैं और मन साधारण है। साधारण करण है यह। विषयोंके प्रकाशमें असाधारण करण इन्द्रियाँ हैं और साधारण करण मन है। परन्तु उसके बिना इन्द्रियाँ कोई काम नहीं कर सकती हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतोंमें चेतना हूँ। चेतना माने वह, जिसको हमलोग भोग बोलते हैं। संघात उसको कहते हैं जो पाँवसे लेकर सिर तक संघटन है, सैकड़ों वस्तुओंको मिलाकर एक है, कई पुर्जोंसे बनी हुई एक चीज है। जबतक उस चीजके पुर्जे ठीक-ठीक जुड़े रहते हैं, तबतक उसमें बिजली सब जगह दौड़ती रहती है। जब पुर्जे टूट-फूट जाते हैं तो बिजलीका कनैक्शन भी कट जाता है। तो संघातमें चेतनाका जो कनैक्शन है, वह बुद्धि वृत्ति है। परन्तु जबतक संघात व्यवस्थित रहता है, तभी तक बुद्धि वृत्ति रहती है—'*संघातः चेतना धृतिः*'।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ (२३)
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरमामस्मि सागरः॥ (२४)
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ (२५)

भगवान् कहते हैं कि रुद्रोंमें मैं शंकर हूँ। रुद्र रुलानेवाले हैं, लेकिन शंकर हाथमें कल्याण लिये रहते हैं। कल्याणको कोई हृदयमें रखकर सोचता है कि हम

इस जीवका कल्याण करेंगे और शंकर तो मुट्ठीमें कल्याणको रखते हैं कि महाराज, हृदयसे निकालकर देनेमें कहीं देर न लग जाये। अरे, वह उसे फेंकते चलते हैं—अधिकारी-अनधिकारीका विचार किये बिना। जैसे कोई पैसा हाथमें लेकर लुटा रहा हो और कौन लेगा—इसका कुछ विचार नहीं रखता हो; उसको बोलते हैं शंकर!

यक्ष राक्षसोंमें मैं कुबेर हूँ। वसुओंमें पावक हूँ और शिखरवानोंमें मेरु हूँ। मेरु ब्रह्माकी पुरी है। पुरोहितोंमें बृहस्पति हूँ। सेनानियोंमें स्वामी कार्तिक हूँ। सरोवरोंमें सागर हूँ और महर्षियोंमें भृगु हूँ। भृगु बड़े प्रबल हैं—जो भून डाले, सो भृगु! '*भर्जनात् भृगुः*'। ये साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण किसीको भी छोड़नेवाले नहीं हैं। गायत्रीमें जो *भर्गः* है, उसीके मूलमें भृगु। महर्षियोंमें सबसे बड़े भृगु हैं। वे विष्णु भगवान्‌की छातीपर पाँव रख देते हैं। जैसे उन्होंने विष्णु भगवान्‌की छातीपर पाँव मारा था; आपलोग नाराज मत होना। उन्होंने कहा कि अरी लक्ष्मी, जब तू इनकी छातीपर आकर बैठी है, तब दुनियामें कोई तेरा त्याग कैसे करेगा? यह कहकर मार दी लात। उन्होंने जब लात मार दी, तो लक्ष्मी तो तिरस्कारसे मर गयीं। फिर विष्णु भगवान् तो कहें कि हाय-हाय, मैं लक्ष्मीके बिना कैसे रहूँगा? मुझको तो सारी प्रजाको खाना देना है, पानी देना है।

बहुत दिन हुए, हम लोग एक शंकराचार्यके पास गये थे। गुजरातकी स्त्रियाँ खाली हाथ प्रणाम नहीं करतीं हैं। उन दिनों पाई चलती थी। उन्होंने एक-एक पाई करके कई पाइयाँ चढ़ायी, तो पाइयाँ इकट्ठी हो गयीं। शंकराचार्यने उन पाइयोंको हाथसे उठाया और गिना, तो कुल चौबीस पाइयाँ निकलीं। हमारे साथ एक दण्डी स्वामी थे। उन्होंने पूछा कि आप शंकराचार्य होकर पाई गिनते हैं? वे बोले कि पाई-पैसा छूनेका जो निषेध है न, वह पीठाधीश्वरातिरिक्त संन्यासीके लिए है। हमें तो पीठका संचालन करना है। यह तबकी बात है, जब राजराजेश्वराश्रमजी महाराज द्वारका पीठके शंकराचार्य थे। वे बोले कि जिसको पीठ चलाना है, उसे तुम कहो कि पैसा मत छूओ—तो ऐसा कैसे चलेगा?

इसी तरह भगवान्‌ने कहा कि लक्ष्मीके बिना तो मेरा काम चलेगा नहीं। इसलिए भृगुजी, मैं तुम्हारे पाँव दबाता हूँ; यह कृपा करो कि एक दूधका समुद्र मेरे पास बना रहे और लक्ष्मीजी भी बनी रहें। तभी तो मैं विश्वके लिए खाने-पीनेकी चीजें मुहैया कर सकूँगा। विष्णु भगवान्‌की बात सुनकर भृगुने लक्ष्मीजीको अपनी बेटी बना लिया। जब लक्ष्मीजी भृगुकी पुत्रीके रूपमें पैदा हुईं, तब उन्होंने फिर विष्णुसे उनका ब्याह कर दिया और कहा कि ले जाओ।

'गिरामस्म्येकमक्षरम्'—वाणीमें एक अक्षर प्रणव है, ॐकार है। यह न-क्षर है; इसका कभी नाश नहीं होता। किसी भी शब्दका उच्चारण करो, उसमें इसका क्षरण नहीं होगा। इसलिए इसको अक्षर बोलते हैं। महाभाष्यकारने तो 'अक्षर' शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए *'अश्नुते'* कहा है, अर्थात् अक्षर उसे बताया है, जो सब वर्णोंमें और सब स्वरोंमें व्याप्त है।

अच्छा महाराज, यज्ञोंमें आप क्या हैं? बोले कि सबसे सुगम जप है। यज्ञ क्रियात्मक होता है और क्रिया केवल पाँवसे होगी तो परिक्रमा होगी, केवल हाथसे होगी तो होम होगी और वाणीसे होगी तो क्या वह क्रिया नहीं है? वह भी क्रिया है। इसलिए केवल वाणीके द्वारा भी यज्ञ सम्पन्न होता है और वह भी कर्मात्मक ही है—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।'** **'स्थावराणां हिमालयः'**—वह हिमालय, जिसकी बेटी शंकरजीसे ब्याही जाती है। जड़में-से ही तो यह बुद्धि निकलती है न!

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ (२६)

सारे वृक्षोंमें भगवान् अश्वत्थ हैं। यह जो अश्वमेध यज्ञ होता है, वह क्या है? यह सम्पूर्ण विश्व अश्व है। देखो, बृहदारण्यक उपनिषद्में विश्वको ही अश्व कहा गया है। यह सर्वमेध है, विश्वमेध है। शुक्ल यजुर्वेदमें तैतीसवें अध्यायसे लेकर सर्वमेधका जो वर्णन है, उसमें यह विश्वमेध है। यह अश्वमेध माने अश्वत्थ-भगवान्का ही स्वरूप है। जितने भी वृक्ष हैं, उनमें अश्वत्थ भगवान्की विभूति है। *अश्ववत् तिष्ठति, अश्वत्थमपि अव्ययं प्राहुः। 'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।'* यह *'न श्वः तिष्ठति'*—कलतक तो रहेगा नहीं, लेकिन लोगोंने इसका नाम अव्यय रख छोड़ा है।

'देवर्षीणां च नारदः'—भगवान् कहते हैं कि देवर्षियोंमें नारद हूँ। नारद माने नर-नारायणके ज्ञानका संचार करनेवाला। *'नरस्य इदं नारम्, नर-नारायण-प्रोक्तं ज्ञानम्। तद् ददातीति नारदः'*—जो नर-नारायण-प्रोक्त ज्ञानका सम्प्रदाय चलाये—वह नारद। गन्धर्वोंमें चित्ररथ हूँ और सिद्धोंमें कपिल हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ (२७)
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ (२८)
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ (२९)

भगवान् बोले कि घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा हूँ। क्यों? बोले—भाई, जहाँसे अमृत निकला है, वहींसे यह भी निकला है। और गजेन्द्रोंमें ऐरावत हूँ। यह भी अमृत निमित्तक हुआ, समुद्र-मन्थनमें-से निकला है, तो यह रत्न है। नरोंमें नराधिप हूँ, आयुधोंमें वज्र हूँ, धेनुओंमें कामधेनु हूँ और उत्पन्न करनेवाले, प्रजनन शक्तिवाले जितने पदार्थ हैं—उनमें मैं कन्दर्प हूँ, सर्पोंमें वासुकि हूँ। नागोंमें अनन्त हूँ। इन सर्पों और नागोंके भेद होते हैं, इनके अनेक प्रकारके भेद पुराणोंमें मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि सर्प कौन होता है और नाग कौन होता है। इनमें एक सिरका भी भेद है, अनेक सिरोंका भी भेद है। जो पानीमें रहनेवाले हैं, उनमें वरुण हूँ और पितरोंमें अर्यमा हूँ। संयमशीलोंमें यम हूँ। जो संयमन करे, लोगोंको काबूमें रखे, वह यम मैं ही हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ (३१)

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद हूँ और जो सबको भेड़की तरह हाँक रहा है, '**कलयताम्**'—वह काल हूँ। मृगोंमें मृगेन्द्र हूँ, पक्षियोंमें गरुड़ हूँ और पवित्र करनेवालोंमें वायु हूँ। '**रामः शस्त्रभृतामहम्**'—भगवान् कहते हैं कि जो अपने साथ शस्त्र रखते हैं, उनमें राम हूँ। शसनशीलको शस्त्र कहते हैं। जो काटे, उसका नाम शस्त्र होता है और जो फेंका जाये, उसको अस्त्र बोलते हैं। *अस् धातु क्षेपके* अर्थमें है और *शस् धातु शसनके* अर्थमें है। इसलिए भाला, तलवार, फरसा—ये सब शस्त्र होते हैं और जो बाण हैं, ब्रह्मास्त्र आदि हैं—वे अस्त्र होते हैं। ब्रह्मास्त्र, वाय्वास्त्र, मेघास्त्र, पर्वतास्त्र—ये सब अस्त्र हैं। पानीमें बहनेवाली नदियोंमें जाह्नवी हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ (३२)

यह जो सारी सृष्टि है, उसका आदि भी मैं हूँ, अन्त भी मैं हूँ और मध्य भी मैं ही हूँ-अर्थात् मैं+मैं+मैं, बराबर=मैं। और आदि-मध्य-अन्तका भेद झूठा, क्योंकि मैं तो आदि-मध्य-अन्त सबमें हूँ। आदिमें मध्य नहीं है, मध्यमें आदि नहीं है, अन्तमें आदि और मध्य नहीं है और आदि-मध्यमें अन्त नहीं है। तो परस्पर व्यावृत्त हैं और अहं अनुवृत्त है। इसलिए अहंकी सत्ता अबाधित है और आदि-मध्य-अन्त कल्पित है।

भगवान् बोले कि विद्या तो बहुत है महाराज! लेकिन उसमें जो आध्यात्मविद्या है, वह मैं हूँ। अध्यात्म-विद्या क्या है ? कि आत्मानात्मविवेक है। वही सबसे बड़ी विद्या है।

'वादः प्रवदतामहम्'—शास्त्रोंमें जो जल्प-वितण्डादि भेद कहे गये हैं, उनमें वाद मैं हूँ। वाद माने क्या ? कि तत्त्व-निर्णयके लिए जो चर्चा है, उसका नाम वाद है। वह अपने विवेकके लिए है। जो दूसरेको हरानेके लिए है, बात काटनेके लिए है—वह भगवान्‌को पसन्द नहीं है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ (३३)

भगवान् कहते हैं कि मैं अक्षरोंमें अकार हूँ और समासमें द्वन्द्व हूँ, क्योंकि दोनोंके अर्थ उसमें प्रधान होते हैं। मैं ही अक्षय काल हूँ। मैं ही विश्वतोमुख धाता हूँ। महाराज, यह ऐसा भगवान् है, जो किसी चीजको छोड़ता ही नहीं और ऐसा बोलनेमें कि यह मैं हूँ, यह मैं हूँ—कोई संकोच नहीं करता है।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ (३४)

मैं सर्वसंहारक **मृत्यु** हूँ! अरे पाप-ताप नहीं लगता है उसे, जो सारी सृष्टिको मिथ्या ही देख रहा है।

हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।

क्या कहोगे ? भगवान्‌ने क्या नहीं कह दिया है। लोग नाराज हो जाते हैं साफ-साफ बोलनेपर महाराज! लेकिन भगवान् क्या कहते हैं। ध्यान दीजिये—

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।
नायं हन्ति न हन्यते। कं घातयति हन्ति कम्।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।

ऐसा बोलनेवाला है भगवान्! बोला, मैं सबको हर लेता हूँ। एक गोपीने उलाहना देते हुए कहा कि तुम माखनकी चोरी क्यों करते हो ? भगवान् बोले कि अभी तो केवल तुम्हारा माखन ही चुराया है। आगे देखना कि एक दिन तुम्हारी सारी चीजें चुरा ले जाऊँगा। तब पूछना फिर हमारा नाम! एक दिन तुम्हें भी चुरा ले जाऊँगा, तुम्हारे दिलको भी चुरा ले जाऊँगा क्योंकि मैं सर्वापहारी हूँ।

भगवान् बोले कि मैं ही मृत्यु हूँ और मैं ही सबको जन्म देता हूँ। यहाँ मानो किसीने कहा कि महाराज, आप तो कई बार किसी साँवरी गोपीका रूप धारण कर लेते हैं, गोंदनवारीका, चूड़िनहारीका रूप धारण कर लेते हैं। यह सब क्या है? भगवान्ने कहा कि मेरी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद तो है ही नहीं। मैं सब महिलाओंमें रहता हूँ। किस रूपमें रहते हैं? कि उनकी **कीर्ति**के रूपमें, यशके रूपमें—जिससे कि लोग उनके यशका, कीर्तिका, बहुत दिनोंतक गान करें। यश होता है फैलनेवाला, दिगन्तव्यापी और कीर्ति भविष्यव्यापिनी होती है। जिस स्त्रीकी खूब कीर्ति हो—कि यह बहुत अच्छी है, पतिव्रता है, सद्गुणवती है—उसका क्या पूछना! उसमें '**श्री**' हो—सौन्दर्य हो, '**वाक्**' माने मधुरवाणी हो, समयपर उसको अपने कर्तव्यकी '**स्मृति**' आ जाये, और धारणा-शक्ति हो. उसमें **मेधा** हो, एकबार कोई बात बता देनेपर वह उसको पकड़ ले, उसको ठीक-ठीक समझ ले। '**धृतिः**'—माने कोई कष्टका समय आये तो उसमें धैर्य धारण कर ले, और कोई अपराध करे तो उसको **क्षमा** कर दे। इस प्रकार मैं एक-एक स्त्रीमें सात-सात गुणोंका रूप धारण करके रहता हूँ। माने, जिस स्त्रीमें कीर्ति हो, श्री हो, मधुरवाणी हो, स्मृति हो, मेघा हो, धृति हो और क्षमा हो—उसमें साक्षात् भगवान् विद्यमान रहते हैं। इसलिए लिंग-भेद मत करना। भगवान्में लिंगभेद नहीं है।

वृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ (३५)

मैं सामोंमें वृहत्साम हूँ, छन्दोंमें गायत्री हूँ और मासोंमें मार्गशीर्ष हूँ। भगवान् रामका ब्याह मार्गशीर्षमें ही हुआ था और पहले वर्षारम्भ भी मार्गशीर्षसे ही हुआ करता था, इसलिए मार्गशीर्षका महत्त्व है। बोले कि ऋतुओंमें वसन्त हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ (३६)

भगवान् बोले, अरे अर्जुन! और तो और, '**द्यूतं छलयतास्मि**'—तुम लोगोंको तो अनुभव ही है। तुम लोग जो जुयेमें हार गये थे न, उसके रूपमें मैं ही जान-बूझकर आया था और तुम लोगोंको हराया था।

हे भगवान्! तुमा ऐसा काम भी किया करते हो? हाँ, अगर ऐसा काम नहीं करता तो अधार्मिकोंका नाश कैसे होता? और धार्मिकोंकी रक्षा किस प्रकार होती? मैं धर्मके पक्षमें हूँ—यह बात लोगोंको कैसे मालूम पड़ती? इसलिए मैं ही आया था जुएका रूप धारण करके! मैं तेजस्वियोंमें तेज हूँ, व्यवसाय हूँ। जय हूँ, सत्त्ववानोंमें सत्त्व हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ (३७)
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ (३८)

'**वृष्णीनां वासुदेवः**' हूँ। शाण्डिल्यने 'वासुदेव' शब्दकी व्याख्या करते हुए कहा है कि विभूतिको अपना इष्टदेव नहीं बनाना चाहिए। लेकिन वासुदेव विभूति भी हैं और विभूतिमान् भी हैं। इसलिए वे इष्टदेव हो सकते हैं। शाण्डिल्य-दर्शनमें यह सूत्र ही है—

प्राणत्वात् न विभूतिषु; वासुदेवेऽप्रीति चेन्नाकारमात्रत्वात्। (२.१.२४.२६)

महाराज, तुम यदुवंशियोंमें तो वासुदेव बन गये, किन्तु क्या पाण्डवोंमें कोई नहीं हो? बोले कि वाह अर्जुन! नाराज मत होओ। पाण्डवोंमें तो जो तुम—वह मैं। '**पाण्डवानां धनंजयः।**' और मुनियोंमें? अरे भाई, हमारी कीर्तिका गान करनेवाला और अपने वंशकी कथा लिखनेवाला व्यास कौन है? मैं ही तो हूँ। व्यासजीने एक महाभारत लिखा तो क्या किया? जितने भी पाण्डु, धृतराष्ट्र और विदुर थे, ये सब व्यासजीके ही तो थे। उन्होंने अपने बेटोंकी ही कीर्ति लिखी। परन्तु उन्होंने अपने वंशकी कथा नहीं लिखी, बल्कि महाभारतके व्याजसे आम्नायका प्रदर्शन किया—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।

उनको सम्पूर्ण वेदार्थ अपने वंशमें दिखायी पड़ता था, इसलिए उन्होंने उसका निरूपण किया। अच्छा, कवियोंमें क्या हैं आप? बोले कि उशना—माने शुक्राचार्य हूँ। दमन करनेवालोंमें दण्ड हूँ। जीत चाहनेवालोंमें नीति हूँ—'**नीतिरस्मि जिगीषताम्**'। संस्कृतिसे जीत नहीं होती है, नीतिसे जीत होती है. संस्कृतिकी आँख पीछेकी ओर होती है—जैसे हमारे बाप, दादा, परदादा पुराने लोग कैसे-कैसे करते थे—उधर तो देखो! यह संस्कृति है। किन्तु नीति नयन है। यह भविष्यको देखती है—'**नीतिर्नयनं।**' वही धातु है। यह भविष्यमें शुभ फल देती है, इसलिए इसको नीति कहते हैं। आगे देखकर चलना, भविष्यको सोच-सोचकर चलना नीति है। यदि आप विजय प्राप्त करना चाहते हैं तो आपके जीवनमें नीति चाहिए।

और भगवन्, गुप्त रखनेकी सबसे बड़ी विद्या क्या है? बोले कि मौन! मौन ही सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकारका होता है। यदि श्रद्धा न हो तो यह सात्त्विक नहीं रहेगा; फलाकांक्षा हो तो राजस हो जायेगा और मौनी बाबा तो हों, लेकिन दुराचारी हों—तो तामस हो जायेंगे। मौन भी तामस हो जायेगा। यह भेद गीतामें ही

है। वहीं आगे यह बात लिखी है कि श्रद्धालुका मौन सात्त्विक है, निष्काम मौन सात्त्विक है और सदाचारीका मौन भी सात्त्विक है।

अब भगवान् बोले कि ज्ञानवानोंमें जो ज्ञान है, वह सब ज्ञान मैं ही हूँ। विषय तो ज्ञानका विवर्त है। ज्ञान कभी परोक्ष नहीं होता, वह नित्य अपरोक्ष है। ज्ञान अपने पास होता है, दूसरे पदार्थमें नहीं होता। नैयायिकोंने भी ज्ञानको आत्माका गुण ही माना है—'**ज्ञानाधिकरणम् आत्मा:**'। उनका ज्ञान भी कभी परोक्ष नहीं होता। बौद्धोंका ज्ञान भी कभी परोक्ष नहीं होता। ज्ञान तो परोक्ष होता ही नहीं! यदि कहो कि मुझे अभी परोक्ष ज्ञान हुआ है महाराज, अपरोक्ष ज्ञान नहीं—तो जैसे घट दीवारके उस पार होता है, वैसे ज्ञान उस पार थोड़े ही होता है! ज्ञान तो अपरोक्ष ही होता है। विषयकी जो परोक्षता है, उसको ज्ञानमें आरोपित करके ज्ञानको परोक्ष कहते हैं। नहीं तो ज्ञान कभी परोक्ष नहीं होता।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ (३९)
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतिनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ (४०)

भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज मैं हूँ। फिर कहते हैं कि यह जो चराचर सृष्टि दिख रही है, वह मेरे सिवाय और कुछ नहीं है। जब मैं हूँ तब सारी सृष्टि है। और मैं नहीं हूँ तो कुछ नहीं है। मेरे बिना रहेगा कुछ नहीं। सत्ता कहाँ रहेगी? मेरे बिना प्रकाशेगा कैसे? ज्ञान कहाँसे हो ; ? मेरे बिना प्रियता कहाँसे आयेगी? मैं अद्वय हूँ और यह द्वैत जो दिखायी पड़नेवाला है, वह कुछ है ही नहीं। यही नहीं, भगवान् आगे जाकर बोलते हैं—कि चर-अचर दोनों ब्रह्म ही हैं।

सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।
बहिरन्तश्च भूतानाम् अचरं चरमेव च॥

अब जो लोग द्वैतवादी हैं, उनसे पूछो कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक कहाँ गया? अपरा-परा प्रकृतिका भेद कहाँ गया? क्षर-अक्षर पुरुषका भेद कहाँ गया? '**अचरं चरमेव च**' वही अचर है और वही चर है। इसलिए परमात्माकी सत्तासे अतिरिक्त चराचरकी सत्ता नहीं है। इसका यही अर्थ होता है कि भगवान्‌की दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। यहाँ भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंका केवल नाम-मात्र गिना दिया है; विभूतियोंका विस्तार तो अनन्त है। असलमें जहाँ-जहाँ जिस-जिस पदार्थमें विभूति है—विशिष्ट भवन सामर्थ्य, जो-जो वस्तु श्रीमद् है और जिस-जिस वस्तुमें ऊर्जा है, आणवी शक्ति है, एनर्जी है-वहाँ-वहाँ भगवान् हैं। इसीलिए कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ (४१)

मेरे तेज और अंशसे सब विभूतियोंकी उत्पत्ति हुई। अरे अर्जुन, कहाँतक सुनावें तुमको!

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (४२)

तुम इन सब विस्तारोंको जानकर, एकके विज्ञानसे सर्वका ज्ञान प्राप्त करो। *'यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति। बहुना एतेन विज्ञातेन किम्?'* यदि तुम बहुत जान जाओगे तो क्या होगा?

मैंने तो अपने एक अंशसे ही सबको स्तब्ध करके सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रखा है।

॥ इस प्रकार यह 'विभूतियोग' नामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥



ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुनने कहा कि श्रीकृष्ण, आपने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया। ठीक है, मैं मानता हूँ कि आपने मुझे लड़ानेके प्रयोजनसे, युद्धरत करनेके प्रयोजनसे, अपनी बात मनवानेके प्रयोजनसे या किसी अन्य प्रयोजनसे यह बात नहीं कही है, बल्कि मुझपर कृपा करके कही है। मैं यह भी समझता हूँ कि यह परम गुह्य है और अध्यात्म-संज्ञित है। इसका नाम अध्यात्म है। आपने जो वाणी कही, उससे मेरा मोह चला गया।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ (१)

एक टीकाकारने इस श्लोकका अद्भुत अर्थ किया है। उनके अनुसार मानो अर्जुनने कहा कि श्रीकृष्ण, मेरी तो चोरी हो गयी। भगवान्‌ने पूछा कि क्या चोरी हो गयी भाई? अर्जुनने कहा कि '**मोहोऽयं विगतो मम**'—मेरे मोहकी चोरी हो गयी। चुरा लिया भाई, तूने मेरा मोह चुरा लिया। '**वचस्तेन**'—तू वाणीका भी चोर है और '**यत्त्वयोक्तं वचः**—*हे स्तेन यत् त्वया वचः उक्तं*'—यह जो तुमने बात कही, इससे तुमने '**मोहोऽयं**'—मेरा मोह चुरा लिया। कहीं-कहीं जब किसी नवविवाहिता स्त्रीको, नवोढाको गर्भ रह जाता है तो वह उसको छिपाती है। यदि उसको कै होने लगे या मिचली आने लगे, तो सहेलियाँ पकड़ लेती हैं और कहती हैं कि अरी सहेली, तूने कुछ चुरा रखा है। इसी तरह यह चोर है, छिपाकर रखता है। क्या चोरी करता है? कि मोहकी चोरी करता है। इस प्रकारकी टीका करनेवाले सज्जनका मैं नाम नहीं बताऊँगा। आप इतना ही मान लें कि यह मेरी उत्प्रेक्षा नहीं है।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ (२)

अर्जुन कहते हैं कि श्रीकृष्ण, प्राणियोंकी उत्पत्ति और उनका विनाश कैसे होता है--यह मैंने विस्तारसे सुना। आपने जो कुछ कहा, वह सब ठीक है। क्यों? कि '*श्रुतौ-वेदे इत्थमेव वर्णितौ*'—श्रुतिमें, वेदमें इसी तरहसे इनका वर्णन आता है। इनसे भी मैंने ऐसा ही सुना है। हे कमलनयन, मैंने आपका अव्यय माहात्म्य भी

आपसे सुना। परन्तु हे परमेश्वर, जैसे आपने अपनी आत्माका स्वरूप बताया है, वैसे ही मैं आपका माहेश्वररूप, परमेश्वररूप देखना चाहता हूँ।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ (३)

अर्जुनने कहा--यह तो तुमने बता दिया कि आत्मा और ब्रह्म एक है और यह भी कह दिया कि ये सब आत्मरूप ब्रह्मकी ही एक विभूति हैं, परन्तु जो स्थूल सृष्टि दिख रही है, इसका जबतक आत्माभेदेन, ब्रह्माभेदेन, भगवद्-अभेदेन प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं होगा, तबतक मुझे संतोष नहीं होगा, यदि मैं तद्भेदेन बोलूँ तो परोक्ष रह जाता है और मदभेदेन कहूँ तो अपरोक्ष हो जाता है। परन्तु यहाँ तो मैं त्वद्भेदेन देखना चाहता हूँ। मुझे तो प्रत्यक्ष साक्षात्कार चाहिए। यह दिखा दो कि यह विराट् सृष्टि और कुछ नहीं है, तुम ही हो। *'विश्वं दर्पण-दृश्यमाननगरी-तुल्यम्'* दिखा दो, क्योंकि मुझे तो ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं, समाधिसाक्षात्कार नहीं, कल्पित साक्षात्कार नहीं, प्रत्यक्ष साक्षात्कार चाहिए। हमारी आँखें काम करें, कान काम करें, हाथ काम करें, पाँव काम करें--और तुम परमेश्वर दिखायी पड़ो! तब तो मैं जानूँगा कि तुम साक्षात् परमेश्वर हो, अन्यथा सिर्फ ख्याली-ख्याली मामला रह गया तो मेरे किस काम आयेगा? इसलिए **'ऐश्वरं पुरुषोत्तम'** हे पुरुषोत्तम, अपना ऐश्वर्य दिखाओ!

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥

हे प्रभो! यदि आपका वह रूप मेरे दर्शनके योग्य है और आप मानते हैं कि ठीक है, तो दिखाइये महाराज! मैं आपसे प्रश्न तो करता हूँ, परन्तु यदि इसका उत्तर मेरी समझमें आने लायक हो, तब आप उत्तर दीजिये। इस तरहका अर्जुनका कथन प्रश्नकर्ताके अन्दर विनय है—यह प्रकट करता है। ऐसा नहीं, कि तुम्हें तो मेरे प्रश्नका उत्तर देना ही पड़ेगा। यदि नहीं बताओगे तो तुम्हारी टाँगें तोड़ दूँगा! नहीं, ऐसे धमकाकर प्रश्नोंका उत्तर नहीं लिया जाता; बल्कि ऐसा कहा जाता है कि *'भवतो यदि रोचते'*—यदि आपको इस प्रश्नका उत्तर देना रुचिकर हो तो मेरे प्रश्नका उत्तर दीजिये! भागवतमें इस तरहके प्रश्न कई जगह आये हैं। इसलिए अर्जुन कहते हैं कि यदि आप यह बात मानते हैं कि आपका यह रूप मेरे दर्शनके योग्य है तो हे योगेश्वर! आप अपनी अव्यय आत्माका दर्शन मुझे कराइये। यहाँ 'योगेश्वर' शब्दका अर्थ है 'योगीश्वर'। इसका अर्थ ऐसे कर लो कि *'योगः एषाम् अस्ति इति योगः'*—योगियोंके तुम स्वामी हो। इसलिए मुझे अपनी अव्यय आत्माका दर्शन कराओ।

भगवान् बोले कि अर्जुन, यदि तुम्हारी यही मर्जी है कि मैं सम्पूर्ण विश्वको भगवान्‌रूपमें देखूँ, तो लो, देखो! लेकिन यह विश्व तो बहुत छोटी चीज है। आत्मज्ञानमें इसकी कोई बहुत कीमत नहीं है। विश्वसे बड़ा तो बैकुण्ठ है और वह ब्रह्मलोकका एक हिस्सा है। ब्रह्मलोकका एक ओरसे फोटो लें तो कैलास दिखेगा और दूसरी ओरसे फोटो लें तो बैकुण्ठ दिखेगा, तीसरी ओरसे फोटो लें तो साकेत दिखेगा और चौथी ओरसे फोटो लें तो गोलोक दिखेगा। ब्रह्मलोक माने यह मत समझना कि एक-एक ब्रह्माण्डमें जो ब्रह्मलोक होता है, वही ब्रह्मलोक है। **'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'**—अनन्त -कोटि ब्रह्माण्डकी समुदायस्वरूप जो समष्टि है, उस समष्टिमें जो हिरण्यगर्भ है वह हिरण्यगर्भ ही ब्रह्माकार, रुद्राकार, विश्वाकार होकर तत्-तत् ब्रह्माण्डोंमें भासता है। इसलिए उसकी जो फोटो लें, उनको लेने दो, क्योंकि वह तो बहुत बड़ा है। विराट्से बड़ा तो हिरण्यगर्भ है और हिरण्यगर्भसे बड़ा ईश्वर है, क्योंकि वहाँ दूसरेका दर्शन ही नहीं है, सब विलीन है उसमें और यहाँ तो उदय-विलयका कोई प्रश्न ही नहीं है। वह प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म शुद्ध चिति है।

अच्छा भाई, विराट् ही देख लो!

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ (५)

भगवान् कहते हैं कि यह लो, मेरा विश्वरूप देखो! सैकड़ों देखो, हजारों देखो, रंग-बिरंगे देखो, छोटे-बड़े-नाटे सब देखो और नाना वर्णाकृति देखो। वर्ण माने रंग-बिरंगे और आकृति माने लम्बाई-चौड़ाई अव्यय-संस्थान। आकार दूसरी चीज है और रूप दूसरी चीज है। गेरुआ रूप तो कटिवस्त्रका भी है, गंजीका भी है। रूप तो दोनोंका एक है, पर गंजीका आकार न्यारा है और कटिवस्त्रका आकार न्यारा है। रूप और आकारमें फर्क होता है। फर्क माने पारक्य, परस्पर-भिन्नता। (पारक्य) पार्थक्यको ही उर्दूवाले फर्क बोलते हैं।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ (६)

'पशयादित्यान्'—अरे देख लो अर्जुन, पलकमें खलक। पलकमें झलक। झलकमें खलक। देख लो, देख लो! जैसे जादूगर बोलते हैं, वैसे ही भगवान् बोलते हैं कि **पश्य, पश्य**! यह देखो तमाशा! सूर्य देखो, वसु देखो, रुद्र देखो, अश्विनीकुमार देखो, मरुद्गण देखो! जो तुमने कभी नहीं देखा है, वह आश्चर्य देखो। ऐसा देखो, जिसको देखकर तुम्हारे मुँहसे निकले—आह-आह, आह! जब

मुँहसे आह-आहकी चर्या होने लगे, उसका नाम आश्चर्य है—यह अनुकृति शब्द है—

धगद् धगद् धगज्ज्वलल्- ललाटपट्टपावक।

यह धगद्-धगद् क्या है ? यह अग्निध्वनिका अनुकरण है ! देख लो, मेरे इस एक शरीरमें चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् है।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥ (७)

'यच्चान्दद्रष्टुमिच्छसि'—क्या कुछ और भी देखनेका मन है ? क्या महाभारत-युद्धका भविष्य देखना चाहते हो ? यह जानना चाहते हो कि तुम्हारी जीत होगी कि कौरवोंकी जीत होगी ? यदि यह भी देखना चाहते हो ना, तो देख लो ! कुछ और देखना चाहते हो तो उसको भी देख लो !

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

लेकिन मेरे प्यारे भाई अर्जुन, तुम अपनी इन्हीं आँखोंसे उसको नहीं देख सकते ! इसलिए लो, देखनेकी आँख भी देता हूँ। दूरबीन लो, खुर्दबीन लो, चश्मा लो ! हीरा पहचानमें नहीं आता है तो लो, उसको देखनेके लिए तुम्हें खुर्दबीन भी देते हैं—

'दिव्यं ददामि ते चक्षुः। येन तु शक्यसे, द्रष्टुम् दिव्येन तद् दिव्यं ददामि ते तुभ्यम् चक्षुः।'

जब मैं कोई सत्रह, अट्ठारह बरसका था, तब मेरे मनमें यह लालच थी कि मैं भी भगवान्‌को देखूँ इसलिए मैंने स्वामी योगानन्दजी महाराजसे पूछा कि यह दिव्य चक्षु क्या है महाराज ? मुझे मिल जाये तो मैं भी विराट्‌को देखूँगा। स्वामीजी बोले कि बेटा, *'एकाग्रं मन एव दिव्यं चक्षुः'*—एकाग्र मनमें ही दिव्य चक्षु है; एकाग्र मन ही दिव्य चक्षु है।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ (९)
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ (१०)
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ (११)

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ (१२)
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ (१३)
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ (१४)

अब संजय कहते हैं कि '**एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः**'— यह कहकर महायोगेश्वरेश्वर श्रीहरिने अर्जुनको अपना ऐश्वर्यरूप दिखाया। यहाँ योगेश्वरेश्वर, महायोगेश्वर कहनेसे तो भगवान्‌की जादूगरी प्रकट होती है, ईश्वर कहनेसे उनका प्रभुत्व प्रकट होता है और हरि कहनेसे उनके प्रति हृदयमें आकर्षण होता है। जब हरिहरात्मक यज्ञ होता है, तब कहते हैं कि हरि-आकार दूसरा है और हर आकार दूसरा है— '*हरिहरोभयाकारावच्छिन्न।*' जो चैतन्य है, वह हरिहरात्मा है। तद्विषयक यज्ञको हरिहरात्मक यज्ञ कहते हैं। उसमें हरिका आकार अलग है, हरका आकार अलग है और दोनोंमें तत्-तद् आकारावच्छिन्न जो चैतन्य है—वह एक हरि है।

अब जब भगवान्‌ने ऐश्वर्यरूप दिखाया तब अर्जुनने देखा —अनेक मुँह, अनेक आँखें, अनेक अद्भुत पदार्थ, अनेक दिव्याभरण, अनेक आयुध—जो मारनेके लिए बिलकुल तैयार हैं, दिव्यमाल्याम्बरधारी, दिव्यगन्धानुलेपन, सर्वाश्चर्यमय, अनन्त दिव्य विश्वतोमुख—'**दिवि सूर्य-सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता**'—यदि आकाशमें एक साथ अनन्त सूर्योंका उदय हो जाये तब उसकी जो प्रभा होगी, वह भी उस विराट्‌की तुलनामें कुछ नहीं होगी। सदृश्य ही होगी, एक नहीं होगी।

अब जब पाण्डव अर्जुनने देखा कि श्रीकृष्णके शरीरमें सम्पूर्ण जगत् अनेकधा विभक्त होकर दीख रहा है, तब उसे विस्मय हो गया। उसका स्मय छूट गया। इसके पहले अर्जुनको ख्याल था कि मैं भी कुछ ज्ञानवान् हूँ, कुछ वैराग्यवान् हूँ, कुछ समझदार हूँ! विस्मयका अर्थ होता है कि उसका अभिमान छूट गया। उसके रोंगटे खड़े हो गये— '**हृष्टरोमा धनंजयः।**' उसने सिर झुका दिया, प्रणाम किया और '**कृताञ्जलिः**'—हाथ जोड़कर बोला कि हाँ महाराज, जो कहोगे वही करूँगा।

अर्जुनने कहा कि महाराज, मैं सब प्रणियोंको आपके शरीरमें देख रहा हूँ। देखो, असलमें मैं चाहता हूँ कि हमलोग बारहवें-तेरहवें अध्यायमें पहुँच जायें तो उनमें जो भक्ति और ज्ञान-सम्बन्धी विवेचन है, उसमें अवगाहन किया जाये। इसलिए अर्जुनकी स्तुतिके इस प्रसंगको संक्षेपमें ही समाप्त करूँगा।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेष-संघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ (१५)

तो अर्जुनने कहा कि महाराज, आपके शरीरमें तो तरह-तरहके भूत दीख रहे हैं। भूत माने जो कभी दीखें और कभी न दीखें और झुण्डके-झुण्ड दीखें— **'भूतविशेषसंघान्'। 'ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्'**—ब्रह्मा, शंकर और विष्णु भगवान्‌का भी दर्शन हो रहा है। **'ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्'**—सब ऋषि, सब साँप, सब दिव्य, अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्र, अनन्तरूप—जिनका न अन्त है, न मध्य है और न आदि है। हे विश्वरूप, ऐसा तुम्हारा दर्शन हो रहा है।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ (१६)
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं-समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ (१७)
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ (१८)
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ (१९)
द्यावा-पृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ (२०)

हे किरीटी, गदी, चक्री, तेजोराशि, सर्वतो दीप्तिमन्त, मैं तुम्हें देखता हूँ तो देखा नहीं जाता है। मालूम पड़ता है कि अग्नि, सूर्य—सब दिव्य अप्रमेय होकर आप प्रकट हो रहे हैं। मै जानता हूँ कि तुम ही परम अक्षर हो, तुम्हीं विश्वके मूल कारण हो, अव्यय हो, शाश्वत धर्म-गोप्ता हो; तुम सनातन पुरुण हो। न तुम्हारा आदि है, न मध्य है, न अन्त है। तुम्हारा वीर्य अनन्त है। हाथ भी अनेक हैं, अनन्तबाहु! माने सब जगह, जहाँ चाहे तहाँ और जो चाहे सो, करनेकी शक्ति विद्यमान है, तुममें।

'बाहु' शब्दका अर्थ पाँच अंगुलियोंवाला एक हाथ नहीं होता, बाहु माने कर्मशक्ति, क्रियाशक्ति। *'कर बिनु करम करै विधि नाना।'* सब जगह उसके हाथ हैं। शशि-सूर्य उसके नेत्र हैं, अग्नि उसका मुख है, अपने तेजसे विश्वको परिपक्व, तप्त कर रहा है। आकाश, स्वर्गलोक और पृथिवीके बीचमें जो अन्तरिक्ष है और दिशाएँ हैं, वे सब उससे व्याप्त हैं। आपके इस अद्‌भुत रूपको देखकर तीनों लोक

व्यथित होते दीख रहे हैं। व्यथित नहीं हो रहे हैं, व्यथित हो रहे हैं—ऐसा अर्जुनको दीख रहा है।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ (२१)
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा: वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥(२२)

अरे, ये सब देवता आपके भीतर घुसे जा रहे हैं। ये तो हाथ जोड़कर आपकी स्तुति कर रहे हैं। महात्मा, महर्षि, सिद्ध आपको स्वस्ति बोलते हैं और बड़ी-बड़ी स्तुतियाँ करते हैं।

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनी कुमार, मरुद्गण और जो पितरों के भेद होते हैं—ये कुष्माण्डादि—यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, असुर—सब आश्चर्यचकित होकर तुमको देख रहे हैं। देख नहीं रहे हैं, देखते हुए दीख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ (२३)

और '**अहं च प्रव्यथिता:**'—मैं भी प्रव्यथित हो गया हूँ। यह आकाश-स्पर्शी आपका स्वरूप, बड़े-बड़े दीप्त नेत्र! अरे, आपको देखकर मेरा तो धैर्य ही टूट गया। शक्ति ही मेरी खो गयी। आपके बड़े-बड़े मुख हैं और आपकी दंष्ट्रा तो ऐसी लगती हैं, जैसे प्रलयानल हो। यहाँ पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिणका कुछ पता नहीं चलता है। इसलिए अब तो जरा प्रसन्न हो जाइये, महाराज!

यहाँ एक बातपर ध्यान दो! भगवान्ने आगे कहा है कि अर्जुन, तुमने मेरा जो विराट् रूप देखा, वह '**यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्**'—तुम्हारे सिवाय और किसीने इसका दर्शन नहीं किया। विराट्का दर्शन तो बहुतोंको हुआ—उत्तंकको हुआ, धृतराष्ट्रको हुआ! कौसल्या मैय्याको हुआ—यशोदाको भी तो हुआ! लेकिन यशोदाको जरा छोटा-मोटा हुआ। भगवान्ने सोचा कि यह गाँवकी गँवार ग्वालिन, डर जायेगी! इसलिए यशोदा मैय्याको थोड़ी देरके लिए विराट् रूपका दर्शन ऐसे हुआ, जैसे सपना-सा आ गया हो! उससे यशोदा मैय्या डरी नहीं, बल्कि उसे विस्मय हुआ कि मेरे लालाके मुँहमें क्या गड़बड़झाला दीख रहा है! उसको देखकर अचरज हुआ—

सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता।

किन्तु यहाँ अर्जुन तो बिलकुल थर-थर काँप रहा है और ऐसा भयंकर विराट्रूप देख रहा है, जैसा और किसीने नहीं देखा। भगवान्ने कहा देख ले बेटा

कि जीत किसकी होगी। ये जो धृतराष्ट्रके बेटे, भीष्म, द्रोण, कर्ण, आदि अन्य योद्धाओंके साथ भगवान्‌के मुँहमें, दाढ़ोंमें जा रहे हैं—ऐसा किसीने भी विराट्‌के दर्शनमें नहीं देखा था। यह तो अर्जुनके लिए खास ही है।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ (२४)
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ (२५)
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ (२६)
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ (२७)
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ (२८)
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ (२९)
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ (३०)
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ (३१)

अर्जुन कहते हैं कि जैसे नदीका वेग समुद्रकी ओर दौड़ता है, वैसे ही ये राजा लोग तुम्हारे '**अभिविज्वलन्ति वक्त्राणि**'—यह वक्त्राणिका विशेषण है अभिविज्वलन्ति, यह शत्र्यन्त प्रयोग है—जलते हुए मुँहमें गिर रहे हैं। जैसे पतिंगे अग्निमें गिरते हैं वैसे ही ये गिर रहे हैं। '**यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा**'—गिर रहे हैं और तुम चारों ओर जीभ लपलपा रहे हो; तुम्हारे मुखसे ज्वाला निकल रही है और तुम्हारा तेज चारों ओर भरपूर हो रहा है। बताओ न, तुम कौन हो?

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ (३२)

अब मानों भगवान्‌ने कहा कि अच्छा अर्जुन, यह भी भूल गये कि मैं कौन हूँ? पहले तो कहा था कि यह विराट् स्वरूप दिखाओ, अब बोलते हो कि आप कौन हो? यह भी कहते हो कि हे देववर, मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ। मैं जानता हूँ कि आप क्या करना चाहते हैं?

देखो, जैसा काम करना होता है, वैसा रूप भगवान् प्रकट कर देते हैं और वैसा नाम प्रकट कर देते हैं। किन्तु नाम या रूपकी अभिव्यक्ति होनेसे भगवान्‌में कोई फर्क नहीं पड़ता है।

भगवान्‌ने कहा—अर्जुन, मैं बताऊँ कि कौन हूँ? अरे, तुमने कई बार मुझे काला कहा है। वैसे तो रंगमें अर्जुन भी काला था। द्रौपदी भी काली ही थी। भगवान् कहते हैं कि यह मत समझना कि चमड़ीके रंगसे कोई सुन्दर हो जाता है। तुम यह मत सोचो कि मैं गोरा हूँ तो बड़ा सुन्दर हूँ। अरे अर्जुन! तुमने बड़े प्रेमसे मुझे कई बार काला-काला कहकर पुकारा है। व्रजमें भी लोग मुझे काला कहकर पुकारा करते थे। इसलिए '**कालोऽस्मि**'—मैं सचमुच काला हूँ। इतने काले महाराज! काला पहाड़ बनकर क्यों आये? भगवान् बोले कि '**लोकक्षय कृत्प्रवृद्धो**'—मैं दुष्ट लोगोंका क्षय करनेके लिए बढ़ा हूँ और सबको अपने अन्दर समेटना चाहता हूँ। अर्जुन तू समझता है कि तू युद्ध नहीं करेगा तो ये सब जिन्दा रहेंगे? बेवकूफ, तू युद्ध नहीं करेगा तब भी ये सब जिन्दा नहीं रहेंगे। ये जो इस ओर और उस ओर सन्नद्ध योद्धा लोग हैं, तुम्हारे नहीं लड़ने पर भी ये जिन्दा रहेंगे। अरे तेरे लड़े बिना भी इनमें-से एक भी बचनेवाला नहीं है। मैं एक-एकको चुनकर चबा जाऊँगा। देखता नहीं है मेरे इन दाँतोंको! इनके बीचमें कई अटके हुए हैं।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भूङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहता पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव् सव्यसाचिन्॥ (३३)

'**तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व**'—इसलिए खड़ा हो जा। अरे तू बहती गंगामें हाथ धो ले, यश प्राप्त कर ले। लोग कहेंगे कि अर्जुनने शत्रुओंको जीता और राज्य प्राप्त किया। यहाँ तो तुम मुर्देको मारकर बहादुर बननेवाले हो—'**मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**'। नहीं तो तुम क्या मारते! दाहिने हाथसे तो तुम्हें बाण चलाना नहीं आता, बायें हाथसे चलाते हो! तुम क्या मारोगे किसीको?

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ (३४)

देख, तू कहता है कि द्रोणको बाणसे कैसे मारें? भीष्मको कैसे मारें? यहाँ तो द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और दूसरे वीर '**मया हतान्**'—मेरे द्वारा पहले ही मार दिये गये हैं। ये तो कालके मारे हुए हैं, '**त्वं जहि**'—तुम मार डालो! अरे, ये तो अज्ञानके कार्यरूप मुर्दे हैं—इनको तो बोध महाराजने पहले ही मार दिया है। ये बने रहे हैं तो मुर्दे ही बन रहे हैं। इनसे बोध सम्राट्‌को कोई डर नहीं है। इनसे तो बोध महाराजकी कीर्ति ही होती है कि उसके द्वारा मिथ्यात्वेन निश्चित होनेपर भी ये

प्रतीत हो रहे थे। अरे, यह चूहेका मुर्दा है। जब चूहा जिन्दा था, तब तो बिल्लीको मार ही नहीं सकता था, अब यह मरा हुआ चूहा बिल्लीको क्या मारेगा? यहाँ तो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मके ज्ञानसे सम्पूर्ण प्रपंच पहलेसे ही मरा हुआ है। इसलिए **'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्'**—युद्ध करके विजय प्राप्त करो! लो, दिखा न! कि जीत तेरी होगी।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ (३५)

अब तो अर्जुन थर-थर काँपने लगे। उनके किरीटकी, मुकुटकी जो ऊपरवाली नोक है, वह भी काँपने लगी। उन्होंने हाथ जोड़ लिये और **'नमस्कृवा'**—फिरसे नमस्कार किया और गद्गद वाणीसे बड़े ही डरते हुए बोले—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ (३६)

हे हृषीकेश, यदि आपका कीर्तन करनेसे जगत् आनन्दित होता और आपमें अनुरक्त होता है, तो ऐसा होना बिलकुल युक्तियुक्त है; उचित है। यहाँ युक्त अर्थमें **'स्थाने'** शब्दका प्रयोग है—*'स्थान उचितमेव तत्, साम्प्रतमेव तत्।'* जो लोग आपका नाम लेकर खुश होते हैं और आपमें प्रेम करते हैं, वे बिलकुल ठीक करते हैं। राक्षस लोग जो आपसे डरडर कर भागते हैं, वह भी स्वाभाविक है और सिद्ध लोग जो आपको नमस्कार करते हैं—वह भी उचित ही है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ (३७)

'महात्मन्'—अब अर्जुन श्रीकृष्णको महात्मा कहकर सम्बोधित करते हैं। महात्माका एक लक्षण यह भी है कि उसका पेट थोड़ा बड़ा होना चाहिए। *'महान् आत्मा उदरं यस्य असौ महात्मा' 'आत्मा आशयः। आत्मा उदरम्'*—महाराज, आपका पेट बड़ा भारी है। आपके पेटमें सारी दुनिया समायी हुई है। जब एक गर्भवतीके पेटमें एक बच्चा होनेपर भी उसका पेट फूल जाता है, तब जो इतनी बड़ी दुनियाको अपने पेटमें लेकर बैठा हो, उसका पेट भारी नहीं होगा तो किसका होगा? फिर भी तुम्हारा पेट तो त्रिबली-युक्त ही है। इतनी बड़ी दुनिया तुम्हारे पेटमें, और फिर भी तुम्हारे पेटकी त्रिबली मिटी नहीं, तो कितना बड़ा तुम्हारा पेट होगा!

'नमेरन्'—अरे वे खुद ही क्यों न नमें? आप तो सबसे बड़े हैं। ब्रह्माके आदि कर्ता हैं, अनन्त हैं, देवेश हैं, जगन्निवास हैं, अक्षर हैं, सत् भी आप ही हैं असत् भी आप ही हैं! क्योंकि असत्का सत्से भिन्न कोई स्वरूप नहीं होता, इसलिए सत्-

असत्‌का प्रतियोगी नहीं होता। यह विचित्र बात है। घट घटाभावका प्रतियोगी होता है न, परन्तु सत् असत्‌का प्रतियोगी नहीं होता। यह विलक्षण है, क्योंकि जब असत् कोई पदार्थ होगा, तब न सत् उसका प्रतियोगी होगा! असत् तो सत्‌में अध्यस्त है, प्रतीयमान है, मिथ्या है। इसलिए सत् भी वही और असत्वेन प्रतीयमान भी वही और तत्परत्वे प्रतीयमान भी वही।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ (३८)

हे आदिदेव, पुराणपुरुष, विश्वके परम निधान वेत्ता-वेद्य परम धाम, '**त्वया ततं विश्वमनन्तरूप**'—तुम्हींसे तो भरपूर है यह विश्व। वायु, यम, अग्नि, वरुण, शशांक, प्रजापति, प्रपितामह—सब कुछ तुम्हीं हो। '**नमो नमस्तेऽस्तु**'—तुम्हें हजार बार नमस्कार, बार-बार नमस्कार, फिर-फिर नमस्कार!

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ (३९)

अब अर्जुन ऐसे घबराये, कि उनको चारों ओर वही-वही दीखें। तो बोले कि महाराज, नमस्कार किधरसे करूँ?

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ (४०)

देखो, पीछेसे नमस्कार करना शास्त्रमें वर्जित है। कोई प्रणम्य आगे चल रहे हों और पीछेसे आकर कोई उनके पाँव छू ले—तो वह वर्जित है। और असलमें चलते समय सामनेसे भी नमस्कार वर्जित है। चलते हुएको नमस्कार नहीं करना चाहिए। दातुन करते हुएको नमस्कार नहीं करना चाहिए, भोजन करते हुएको नमस्कार नहीं करना चाहिए और कोई लघुशंकाके लिए बैठा हो तो उसको भी नमस्कार नहीं करना चाहिए। कोई दूसरे ध्यानमें लगा हो तो नमस्कार करके उसका ध्यान भंग नहीं करना चाहिए। जब वह आँख उठाकर देखे, तब उसे नमस्कार करना चाहिए। आजकल तो लोग उपनिषद् पढ़ लेते हैं, व्याकरणाचार्य-दर्शनाचार्य हो जाते हैं, पर मनुस्मृति नहीं पढ़ते हैं। आचारशास्त्रका ज्ञान उन्हें होता नहीं है। प्रमाशास्त्रका ज्ञान उन्हें हो जाता है। न्याय आदिके पढ़नेसे अधिकार ज्ञान होता है। प्रमेयशास्त्रका ज्ञान हो जाता है, वैशेषिक आदिके पढ़नेसे, परन्तु आचारशास्त्रका ज्ञान तो होता ही नहीं है कि आचार क्या है! कैसे नमस्कार करना चाहिए! दाहिने हाथसे बायाँ पाँव नहीं छूना चाहिए और बायें हाथसे दाहिना पाँव नहीं छूना

चाहिए। हाथ पट करके नमस्कार नहीं किया जाता, हाथ चित्त करके नमस्कार किया जाता है। नमस्कार आशीर्वाद लेनेके लिए किया जाता है। काशीमें अन्य शास्त्रोंके बड़े-बड़े विद्वान् थे, लेकिन धर्मव्यवस्था देनी हो तो बस, शून्य हो जाते थे। आचारशास्त्रका दिनोंदिन लोप होता जा रहा है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे कि इस युगमें तपस्या का जैसा ह्रास हुआ है, वैसा ह्रास कभी किसी युग में नहीं था। कोई थोड़ी-सी भी तकलीफ उठाकर धर्मका पालन नहीं करना चाहता है।

तो अर्जुन कहते हैं कि '**नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते**' महाराज, आपको आगेसे नमस्कार, पीछेसे नमस्कार और चारों ओरसे नमस्कार! '**सर्वत एव सर्व**' जब सब आप ही हो तो क्या करूँ मैं? '**सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः**' आप अनन्तवीर्य, अमित-विक्रम हैं *'अभिन्न-निमित्तोपादानतया सर्वं समाप्नोषि, ततः सर्वोऽसि'* जब सर्व होनेकी प्रतिज्ञा की, तो अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हुए बिना 'समाप्नोषि' का अर्थ ही नहीं लगेगा।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ (४१)
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ (४२)

महाराज, मैंने आपको सखा मानकर बड़ी ढिठाईकी बातें कीं और आपको हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा! कहकर आपकी महिमाको समझा नहीं। प्रमादसे ऐसा किया? हाँ, कभी प्रमादसे किया और कभी प्रेमसे भी किया—'**मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।**' कभी-कभी तो मैंने आपसे बड़ी हँसी की। विहारमें, शय्यामें, आसनमें, भोजनमें, अकेलेमें अथवा लोगोंके सामने भी! हे प्रभो! आप अप्रमेय हैं, आपपर तो कभी उन बातोंका असर भी नहीं है, क्योंकि यदि आप प्रमेय होते, दृश्य होते तो हमारी बातें जाकर आपको लग गयी होतीं। यद्यपि आपकी अप्रमेयताके कारण हमारी बात आपको कभी लगी नहीं, फिर भी उनके लिए मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। आप चराचर लोकके पिता हैं, सबके पूज्य हैं और गरीयान् गुरु हैं। जब आपके बराबर ही कोई नहीं है तो कोई आपसे बड़ा तो होगा ही क्या! आपका प्रभाव अप्रितम है इसलिए मैं प्रणाम करके अपना शरीर सामने रखकर आपको प्रसन्न करता हूँ।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ (४३)

तस्मा ।णम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ (४४)

जैसे बाप अपने बेटेका अपराध क्षमा कर देता है, मित्र मित्रका अपराध क्षमा कर देता है और '**प्रिय प्रियायः**' प्यारा अपने प्यारे का अपराध क्षमा कर देता है, वैंसे ही आप मेरा अपराध क्षमा करो। देखो, यहाँ '**प्रियाय**' कहनेकी क्या जरूरत है? '**प्रियस्य**' ही रहने दो। छन्दमें तो कोई दोष नहीं होता । फिर यह गीता तो स्वयं भगवान् बोल रहे हैं!

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मानो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ (४५)

अर्जुन कहते हैं कि मैंने जो कभी नहीं देखा था, उसको देखकर मैं खुश हुआ हूँ। लेकिन भयसे मन व्यथित भी हुआ है। इसलिए हे देव, हे देवेश, हे जगन्निवास, मुझे पहलेवाला रूप ही दिखाओ।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ (४६)

मैं तो आपका किरीट, गदी,चक्री रूप ही देखना चाहता हूँ। '**तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन**' मुझको तो आपका वह चतुर्भुज रूप ही अच्छा लगता है। यह विश्वरूप सहस्त्रबाहुरूप मुझे अच्छा नहीं लगता।

असलमें ऐसा लगता है कि पहले भगवान् मनुष्य रूपमें ही सबके बीच रहते थे, कभी-कभी प्रसन्न होकर चतुर्भुज रूप दिखाया करते थे। भागवत में भिन्न-भिन्न स्थलोंपर चतुर्भुज रूपका वर्णन आता है। जब भीमसेन ओर द्रौपदी आपसमें लड़ने लगे तो भगवान्ने अपने दो हाथोंसे तो द्रौपदीको पकड़ लिया और दो हाथोंसे भीमसेनको पकड़ लिया। जब रुक्मिणीजी बेहोश हो गयीं तो भगवान्ने अपने दो हाथोंसे उनको गोदमें उठा लिया, तीसरे हाथसे उनके बाल सँभाले और चौथे हाथसे आँसू पोंछे। पौण्ड्रक नामके एक राजाने कृष्णके चतुर्भज रूपकी ही नकल की और अपना चतुर्भुज वेष बना लिया। वह काशी नरेशका मित्र था और इतना अधिक मित्र था कि काशी-नरेश उसकी ओरसे लड़ा और मारा गया। फिर उसने काशीके पण्डितोंसे अभिचार करवाया और मारण प्रयोग करवाया। उसकी ओरसे कृत्या द्वारका गयी, उसको वहाँ चक्रने मार डाला और काशीमें फेंक दिया। ऐसा वर्णन आता है।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ (४७)

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ (४८)
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ (४९)

अब भगवान् बोले कि अर्जुन, मैंने तो तुमपर बहुत खुश होकर, बहुत प्रसन्न होकर अपना यह रूप तुम्हें दिखाया है और '**आत्मयोगात्**'—हमारा जो सम्यक् अनन्त ब्रह्मस्वरूप आत्मा है, इसके संवित्‌का सार है यह विराट्।

यहाँ देखो, श्रीकृष्णमें देहाभिमान नहीं है और कोई कर्म-निर्मित जड़ अन्तःकरणरूप उपाधि भी नहीं है। इसलिए उनके संवित्‌के स्थानमें व्यवधान उत्पन्न करनेवाला, अन्तराय उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं है। वे जब चाहें अपनेको संसारके रूपमें प्रकट करके दिखा दें, जब चाहें व्यक्ति रूपमें प्रकट करके दिखा दें और जब चाहें अदृष्ट हो जायें। अन्तर्धान हो जायें! क्योंकि उनका जो संवित् है, वह देहावरणसे, अन्तःकरणावरणसे, अनावरणसे विनिर्मुक्त है। फिर अज्ञान अन्तःकरण स्थूल देहके आवरणसे विनिर्मुक्त निष्प्रतिपन्न निरवद्य चिन्मात्र ही उनका स्वरूप है। इसलिए वे चाहें तो अपने को छिपा लें,चाहें तो व्यक्तिरूपमें प्रकट कर दें और चाहें तो समष्टिरूपमें प्रकट हो जायें। यह सब संवित्‌का ही प्रकाश है, आत्मदेवका ही विलास है। 'विराट्' में 'राट्' से पहले जो 'वि' है, वह 'विवर्त' वाला ही 'वि' है— *'विपरीतं राजते इति विराट्। विविधं राजते इति विराट्'।* एक है राट्, स्वयं प्रदीप्त प्रकाश और जब वह विविध रूपोंमें दिखाई पड़ने लगे तब विराट्। जैसे आगमें उठे लपट और मालूम पड़े कि यह अप्सरा, यह अप्सरा, यह देवता, यह देवता, वैसे ही यह विराट् याज्ञिकोंके सामने उनकी दी हुई आहुतियाँ बड़ी सुन्दरियाँ बन-बनकर. अप्सराओंका रूप धारण कर-करके आती हैं।

तो भगवान्‌ने कहा कि अर्जुन, यह आत्मयोगसे दिखाया हुआ, तेजोमय अनन्त आद्य विश्व तुम्हारे सिवाय किसी दूसरेने नहीं देखा था।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ (५०)

अब तो '**स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः**'—फिर चतुर्भुज हो गये और डरे हुए अर्जुनको थोड़ा समझाने-बुझाने लगे। उसके बाद '**सौम्यवपुर्महात्मा**'—सौम्यवपु हो गये। क्योंकि चतुर्भुजमें भी थोड़ी उग्रता है न, ऐश्वर्य है! विराट् रूप तो महान् उग्र है। उसकी दाड़ोंमें सब दिख रहे हैं और चतुर्भुजरूप उसकी अपेक्षा किंचित्

सौम्य है। भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि नहीं-नहीं भैय्या, तूने जो देखा सो देखा। अब तो जैसा तू है, वैसा ही मैं हूँ। इसके पश्चात् भगवान्ने मनुष्यरूप दिखा दिया—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ (५१)

अब अर्जुन होशमें आगया और बोला कि महाराज, आपका यह सौम्यरूप तो सचमुच यहाँ चन्द्रवंशमें ही पैदा हुआ है। सौम्य माने सोमवंशमें पैदा होनेवाला। ठीक है, ठीक है, मेरे भैया तो तुम्हीं हो। अब मेरा होश-हवाश ठीक हो गया है और मैं स्वस्थ हो गया हूँ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः॥ (५२)

भगवान्ने कहा कि देखो, तुमने जो रूप देखा है, इसको कोई मामूली मत समझना। बड़े-बड़े देवता लोग इस रूपके लिए व्याकुल रहते हैं। इसके बाद भगवान्ने एक और बात कह दी-

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ (५३)

अर्जुन, तुमने जो मेरा विराट् रूप देखा है, उसका दर्शन वेद, तपस्या, दान, इज्या--इनके द्वारा नहीं होता, क्योंकि वेद तो तत्-तत् देवताका ही निरूपण करते हैं, तपस्या अपनी-अपनी शुद्धिके लिए होती है, दान पुण्यार्जनके लिए होता है और इज्या अर्थात् यज्ञ तो *'इन्द्राय स्वाहा'* होता है। इसलिए इनसे विराट्रूपका दर्शन नहीं होता है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ (५४)

भगवान् कहते हैं कि जब मनुष्यके हृदयमें इस प्रकारकी अनन्त भक्ति हो कि सब कुछ परमात्माका ही है, तब मेरा ऐसा दर्शन उसे प्राप्त होता है। **'ज्ञातुं द्रष्टुम्, तत्त्वेन प्रवेष्टुम्'**--इसको समझना, देखना और इसमें प्रवेश कर जाना माने वही हो जाना, जानकारी प्राप्त कर लेना और फिर वही हो जाना--यह सब तब होता है, जब अनन्य भक्ति जीवनमें हो।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ (५५)

यहाँ भगवान् अर्जुनको पाण्डव कहकर सम्बोधित करते हैं। इसका अर्थ है कि तुम मेरे फुफेरे भाई हो। कुन्ती कृष्णकी बुआजी हैं और उनके पति हैं पाण्डु।

हमारी बुआके तुम पाँच बेटे हो और मैं तुम्हारे मामाका बेटा हूँ। इसलिए हम दोनों आपसमें ममेरे-फुफेरे भाई हैं। तुम हमें बड़े प्यारे हो। पाण्डु माने धवल, धवलान्तःकरण। बड़ा शुद्ध स्वरूप है तुम्हारा। पाण्डव सम्बोधनके साथ भगवान्‌ने पाँच सार-सार बातें इस श्लोकमें अर्जुनको बतायी हैं। आपलोग इनपर ध्यान दें। पहली बात है **'यत्कर्मकृत्'**—आप कर्म किसका करते हैं? हमारे गाँवके पास एक बूढ़े सज्जन थे। उनके बेटे साहब इलाहाबादमें एल-एल. बी. में पढ़ते थे। हर पन्द्रहवें दिन या एक महीनेके बाद बूढ़े सज्जन चावल, दाल, आटा, घीकी गठरी अपने कन्धेपर रखकर अपने बेटेके पास पहुँचा आते थे। एक दिन जब पहुँचानेके लिए गये तो बेटे साहबके कई दोस्त वहाँ मौजूद थे और वे सब कुर्सियोंपर बैठकर ब्रेड और चायका नाश्ता-पानी कर रहे थे। जब वे सज्जन राशनकी गठरी-मुठरी लिये वहाँ पहुँचे तो उनके बेटेके साथियोंने पूछा कि यह आदमी कौन है? अपने बापकी बेश-भूषा देखकर बेटे साहब शरमा गये। उन्होंने सोचा कि इन सबके बीचमें हम अपने बापका परिचय देंगे तो इनकी धोती, इनका चमरौधा जूता, इनके हाथमें डण्डा और सिरपर गठरी देखकर हमारे साथी क्या कहेंगे! उनसे कह दिया कि यह मेरा नौकर है, जो गाँवसे राशन लाया है। अब महाराज, बापने सुनलिया यह कथन, तो चला गया भीतर और जाकर गठरी-मुठरी रखकर, डण्डा रखकर बाहर आया और बोला कि भाइयो, मैं नौकर तो हूँ, परन्तु इनका नहीं, इनकी माँका नौकर हूँ।

तात्पर्य यह है कि, किसके लिए काम करते हो? *'कस्मै देवाय हविषा विधेम'?* उससे आपको संकोच लगता है? शर्म आती है? अरे मत करो संकोच, मत करो शर्म! काम करना हो तो भगवान्‌का काम करो। नौकरी करनी है, चाकरी करनी है तो भगवान्‌की करो। *'चाकर राखो जी गिरधारी'*। भगवान्‌के लिए काम करो। भगवान्‌का काम समझकर करो। दुनियादारीका काम मत करो। **'तत्कर्मकृत्'**—इसका यही अर्थ है कि कर्म करो, परन्तु भगवान्‌के लिए करो।

दूसरा सार वचन है **'मत्परमः'**। मत्परमः माने भरोसा किसका है? बोले कि काम करेंगे भगवान्‌का और फल देगा दूसरा कोई? जैसे पुजारी पूजा तो करते हैं भगवान्‌की और उन्हें तनख्वाह देते हैं मन्दिरके मालिक। बोले कि नहीं, मन्दिरके मालिकका भरोसा मत करो। जिसकी पूजा करते हो, वही तुम्हें तनख्वाह देगा। दूसरेका भरोसा मत रखो। अरे, वह तनख्वाह दे, चाहे न दे, दो दिनतक भूखा ही रख लेगा तो क्या होगा? यह विश्वास रखो कि हमको भगवान् देते हैं, भगवान् खिलाते हैं। यह तो अविश्वासी लोग हैं, अश्रद्धालु लोग हैं जो दूसरोंका भरोसा

रखते हैं। एक बार आपके जीवनमें इस बातका विश्वास जम जाये कि भगवान् आपको अपने हाथसे खिलायेंगे तो वह विश्वास अवश्य सफल होगा। इसलिए भगवान् कहते हैं कि '**मत्परमः**'। भरोसा रखो तो पूरी तरहसे भगवान्‌का।

एक पण्डितजी महाराज थे। वे एक हनुमानजीके मन्दिरमें जाकर कथा करते थे। वह मन्दिर जंगलमें स्थित था, जहाँ कोई आदमी आता-जाता नहीं था, तो हनुमानजीने सोचा कि यह पण्डित महीने भरसे यहाँ आकर कथा सुनाता है। कोई सुननेवाला तो आता नहीं, इसको मिलेगा कुछ भी नहीं, सो इसको कुछ देना चाहिए। तभी एक वैश्य सज्जन वहाँ आगये, दर्शन करने। इधर हनुमानजीने किसी दूसरे आदमीसे कहा—ऐ हो! यह पण्डितजी एक महीनेसे यहाँ कथा सुना रहे हैं, तो इनको कुछ देना चाहिए न! दूसरा बोला कि कितना देना चाहिए महाराज? हनुमानजीने कहा कि कम-से-कम एक हजार रुपये तो इसको देने ही चाहिए। उस समय पण्डितजी वहाँ नहीं थे। उस बनियेने वह वार्तालाप सुना और पण्डितजीके पास जाकर बोला कि महाराज, कल आपकी कथाकी पूर्णाहुति होनेवाली है। कितनी दक्षिणा चढ़ेगी? पण्डितजी बोले कि बाबा, कोई सुनने ही नहीं आता, दक्षिणा कहाँसे मिलेगी? बनिया बोला कि हमको ठेका दे दो! क्या ठेका दें? कि जितनी दक्षिणा आये, उसमें-से पाँच सौ रुपये तुम ले लेना और बाकी मुझे दे देना। तय हो गया महाराज! पण्डितजीने कहा कि मुझे तो एक पैसा भी मिलनेवाला नहीं था, यह पाँच सौ तो मिले! बनियेने पाँच सौ रुपये दे दिये। अब महाराज दूसरे दिन कथा हुई लेकिन न कोई आया, न कुछ चढ़ावा चढ़ा। पण्डितजी अपना पोथी-पत्रा समेटकर जाने लगे। बनियेको आया गुस्सा; उसने कहा कि कल तुमने हजार रुपये दक्षिणा चढ़ानेकी बात कही थी। पाँच सौ तो मैंने दे दिया, अब पाँच सौ और क्यों नहीं दिये? वह तो हमें मिलते! उसने गुस्सेमें आकर हनुमानजीको लात मारी, तो लात उसकी हनुमानजीसे सट गयी। हनुमानजी बोले कि बेटा, पाँच सौकी व्यवस्था तो तुमने कर दी है, बाकी पाँच सौकी अब करो। पाँच सौ और तुम अब इनको दो, तब तो पाँव तुम्हारा छूटेगा, नहीं तो बँधे रहोगे।

तो मतलब यह है कि तुम भगवान्‌की सेवा करोगे तो भगवान् तुम्हारे योग-क्षेमकी व्यवस्था करेंगे।

तीसरी बात है '**मद्भक्तः**'—भक्ति भगवान्‌की करो। भक्ति माने प्रेम। इसकी विशेष चर्चा अगले अध्यायमें आयेगी। ये तीन बातें ऐसी हैं, जो करनेकी हैं : कर्म जितना भी करो, भगवान्‌के लिए करो; आश्रय भगवान्‌का रखो और प्रेम भगवान्‌से करो। जिससे प्रेम, उसका आश्रय, और उसकी सेवा! प्रेम, आश्रय और सेवा तीनों

हों एकसे। दो चीजें छोड़नेकी हैं—'**सङ्गवर्जितः निर्वैरः।**' दुनियामें किसीसे आसक्ति मत करो और किसीसे बैर मत करो। ये दोनों बातें छोड़नेकी हैं, और तीन पकड़नेकी हैं।

भगवान् फिर बोले कि '**यः स मामेति पाण्डव!**'—'**माम् एति**'—मुझे प्राप्त होता है, मेरे पास आजाता है और मुझे जान लेता है। 'एति' क्रियापद है और इसका अर्थ होता है कि मेरे पास आता है। '**एति**' का अर्थ यह भी होता है कि मुझे जानता है, इसका अर्थ यह भी होता है कि वह संसारसे मुक्त हो जाता है और इसका अर्थ यह भी होता है कि वह मुझको प्राप्त हो जाता है। '**एति**' में जो '**इन्**' धातु है, वह गत्यर्थक है।

तो भगवान्‌की इन पाँच बातोंमें-से जो तीनको धारण करता है और दो-को छोड़ देता है, वह भगवान्‌को प्राप्त होता है। इसलिए भाई मेरे, आसक्ति और वैर, राग और द्वेष दुनियामें किसीसे मत करो और प्रेम भगवान्‌से, भरोसा भगवान्‌का और सेवा भगवान्‌की— इन तीनों बातोंको भगवान्‌के साथ जोड़ लो! फिर भगवान् मिले-मिलाये ही हैं।

॥ इस प्रकार यह 'विश्वरूप दर्शनयोग' नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥



बारहवाँ अध्याय

बारहवें अध्यायमें जो मूल प्रश्न है, वह क्या है? इसमें जो भक्तिका वर्णन है, द्विभुजकी भक्तिका वर्णन है या चतुर्भुजकी भक्तिका वर्णन है या विराट् स्वरूपकी भक्तिका वर्णन है? इस बातको लेकर बारहवें अध्यायके व्याख्याता आचार्योंमें बड़ा मतभेद है। वृन्दावनी लोग तो कहते हैं कि '**दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन**'के अनुसार अर्जुन जिस रूपको देखकर प्रसन्न हुआ, उस द्विभुज श्रीकृष्णकी भक्तिका ही बारहवें अध्यायमें वर्णन हैं। लेकिन '**तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्र-बाहो भवविश्वमूर्ते**'के अनुसार अर्जुनको तो चतुर्भुज भी पसन्द है। इसलिए श्रीरामानुज सम्प्रदायके लोगोंका कहना है कि बारहवें अध्यायमें चतुर्भुज भगवान्‌की ही भक्तिका वर्णन है।'

गीता प्रेसवाले सेठ जयदयालजी गोयन्दका कहा करते थे कि द्विभुज होनेपर भगवान् कभी-कभी मनुष्य मालूम पड़ने लगते हैं और चार भुजाएँ होंगी तो देवता मालूम पड़ेंगे इसलिए चार भुजाएँ ठीक हैं। शांकर सम्प्रदायमें बारहवें अध्यायकी भक्तिको विराट् रूपकी भक्ति मानते हैं, क्योंकि उसमें सारे कर्म विराट्‌के लिए होंगे, आश्रय भी विराट्‌का रहेगा, प्रेम भी विराट्‌से होगा और राग-द्वेषका सम्पूर्ण परित्याग भी हो जायेगा।

तो अब बारहवें अध्यायमें जिस भक्तिका वर्णन है, वह विश्वरूप विराट्‌की भक्ति है कि चतुर्भुजकी भक्ति है कि द्विभुजकी भक्ति है—इसका निर्णय अर्जुनके प्रस्तुत प्रश्नके आधारपर ही किया जाना चाहिए—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पुर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ (१)

असलमें यहाँ निर्गुण-निराकारका तो कोई प्रसंग ही नहीं है। यहाँ जो अव्यक्त है, अक्षर है, उसकी उपासनाका प्रसंग है। ज्ञानका तो प्रसंग ही नहीं है। प्रश्न यह है कि निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, अक्षरकी उपासना करनेवाले योगवित्तम हैं कि सगुण, साकार, विराट्, चतुर्भुज या द्विभुजकी उपासना करनेवाले योगवित्तम हैं? यह प्रश्न नहीं है कि उपासना कौन श्रेष्ठ है और कौन कनिष्ठ है। प्रश्न यह भी नहीं है कि ईश्वरका कौन-सा रूप श्रेष्ठ है और कौन-सा रूप कनिष्ठ है। प्रश्न तो यह है

कि उपासना तो दोनों करते हैं—एक निर्गुण निराकारकी उपासना करता है और दूसरा सगुण साकारकी उपासना करता है। सगुण साकारमें जो विराट्की उपासना करता है, चतुर्भुजकी उपासना करता है, द्विभुजकी उपासना करता है—वह श्रेष्ठ है अथवा जो निराकारकी उपासना करता है—वह योगवित्तम है ? साधनाके रहस्यको समझनेवाला असलमें कौन है, आप इसपर विचार कीजिये।

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके दूसरे अध्यायसे लेकर दसवें अध्याय तक अर्जुनको जितना उपदेश दिया, उसमें अक्षर, निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्माकी उपासनाका ही वर्णन है। आठवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि '**कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः**।' दसवें अध्यायमें भी उनका कहना है कि एक अंशमें ही सम्पूर्ण जगत्को स्थित समझे—'**विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्**।' पर जब अर्जुनने विश्वरूपके दर्शनका प्रश्न उठाया और भगवान्‌में उसको विश्वरूपका, चतुर्भुज रूपका दर्शन कराया तो अन्तमें कह दिया कि—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

यहाँ भक्ति शब्दका अर्थ ऐसा लगा कि द्विभुज हो चाहे चतुर्भुज हो, विराट् हो; परन्तु साकार भगवान् ही भक्तिका विषय है।

अर्जुनके प्रश्नका आशय यही है कि आपने जो जगह-जगह अक्षरोपासना, निर्गुणोपासना, निराकार उपासनाकी प्रशंसा की है—वह ठीक है या ग्यारहवें अध्यायमें जो सगुण-साकारका निरूपण किया है—वह ठीक है ? जैसे अर्जुनने पहले प्रश्न कर दिया था कि कर्म-संन्यास और कर्मयोग—दोनोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है और भगवान्ने उत्तर दिया था कि '**तयोऽस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते**'। वैसे ही यहाँ भी भगवान्को कुछ-न-कुछ बोलना चाहिए; क्योंकि आदमीकी नींव जब पक्की हो जाये, तभी वह ऊपर बढ़ सकता है। जहाँ नींव ही कमजोर है, वहाँ मनुष्य कैसे ऊपर उठेगा ? जिसकी शालग्राम-शिलामें ईश्वर-बुद्धि नहीं होती, वह आकाशमें ईश्वर-बुद्धि कैसे करेगा ? आकाश तो उसकी कल्पनामें आयेगा ही नहीं। आकाश तो नितान्त मनःकल्पित होगा, क्योंकि न पूर्वमें अन्त, न पश्चिममें अन्त, न ऊपर अन्त और न नीचे अन्त! आकाश न कोई आकार है, न विकार है, न प्रकार है। वह उसकी समझमें ही नहीं आयेगा। इसलिए जो प्रत्यक्षमें भी परोक्षकी भावना नहीं कर सकेगा, वह परोक्षमें अपरोक्षकी भावना कैसे कर सकेगा ?

अब ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकके बाद अर्जुनने प्रश्न किया, उसे आप फिर सुन लीजिये। **अर्जुन उवाच—**

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ (१)

देखो, यहाँ अनन्य, अद्वितीय शब्दोंका प्रयोग नहीं किया गया है। यहाँ कहा गया है कि '**एवम्**' अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे सततयुक्त रहकर जो भक्त आपकी पर्युपासना करते हैं माने हर समय , हर जगह और भक्तिपूर्ण हृदयसे आपकी उपासना करते हैं—वे श्रेष्ठ हैं या आप'**ये चाप्यक्षरमव्यक्तम्**' जिस अक्षर अव्यक्तकी बारम्बार प्रशंसा कर आये हो—उसकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ हैं ? '*तेषां-उभयेषां मध्ये के योगवित्तमाः*'—उन दोनोंके बीचमें श्रेष्ठ ज्ञाता कौन है ? योगविद् माने साधनविद्। इसकी तीन श्रेणियाँ हैं—साधनविद्, साधनवित्तर और साधनवित्तम। उनमें श्रेष्ठ साधन-रहस्यका ज्ञाता कौन है ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्ण बोलते हैं। **श्रीभगवानुवाच—**

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ (२)
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ (३)

असलमें अर्जुनका प्रश्न थोड़ा टेढ़ा है। एकबार सुप्रीम कोर्टमें प्रश्न उठा कि अमुक विषयपर विचार करनेका अधिकार सुप्रीम कोर्टको है कि नहीं है। इसपर यदि सुप्रीम कोर्ट यह फैसला दे दे कि इसपर विचार करनेका हमें अधिकार ही नहीं है तो हमेशाके लिए न्यायपालिकाका अधिकार सीमित हो जाता है और वह बँध जाती है। इसलिए उसे खुली छूट है कि वह चाहे जिस विषयपर विचार करे और अपना निर्णय दे। तो भगवान्‌से ही पूछ लिया जाये कि हे भगवान्, तुम्हारी भक्ति श्रेष्ठ है कि तुम्हारे निराकार स्वरूपकी भक्ति श्रेष्ठ है ? तो भगवान् क्या उत्तर देंगे!

'**मय्यावेश्य मनो ये माम्**'—भगवान् कहते हैं कि भाई, मेरी भक्ति सम्पूर्ण फलोंकी जननी है। मेरे भक्त वही हैं जो अपने मनको मुझमें आविष्ट कर देते हैं, जिनके मनमें मेरा आवेश नहीं होता, बल्कि जिनका मन ही मुझमें आविष्ट हो जाता है। जैसे बाहरसे भूत आकर मनुष्यके शरीरमें घुस जाता है, वैसे मैं आकर बाहरसे मनुष्यके शरीरमें नहीं घुसता हूँ; मैं तो वहाँ पहलेसे ही मौजूद हूँ।

'**नित्ययुक्ताः**'—माने हमेशा, लगातार मेरी उपासना करते रहते हैं। ऐसे भक्तकी मन:स्थिति अपने आप श्रेष्ठ हो गयी और यह हो गया उसका मनः अभिनिवेश और नित्ययुक्त होनेसे हो गया लगातार कालमें और विषय हो गये भगवान् ! अब उसमें विशेषता क्या है ? कि '**श्रद्धया परयोपेताः**'—परा श्रद्धा है। बस, यही बारहवें

अध्यायका उपक्रम है। उपसंहारमें भी श्रद्धा ही है—'**श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।**'

इसलिए भक्तिमें मूलवस्तु है श्रद्धा और श्रद्धा भी कैसी? परा। पराका अर्थ है अखण्ड अटूट श्रद्धा। मर जाये तो मर जाये, कट जाये तो कट जाये लेकिन जीवनमें-से श्रद्धा निवृत्त न हो। श्रद्धा असलमें भक्तिकी रीढ़ है। यदि श्रद्धा न हो तो भक्ति बनती ही नहीं है। उपासनाका अर्थ होता है परोक्षमें स्थित पदार्थको प्रत्यक्षके भावसे देखना। मूर्तिमें, गुरुमें, ध्यानमें, शालग्राममें, नर्मदेश्वरमें, तीर्थस्थानमें, एकादशी आदि पुण्यकालमें, कालमें. स्थानमें, वस्तुमें, व्यक्तिमें-आँखसे देखनेपर भगवान् जहाँ मालूम नहीं पड़ रहा है, वहाँ भावसे भगवान् देखनेका नाम भक्ति होता है, उपासना होता है। अन्यथा बच्चा ईश्वर कैसे होगा? ईश्वर तो सबका बाप होना चाहिए, वह बेटा कैसे हो गया? वह दृश्य कैसे हो गया? इस तरहका जो ऊहापोह है—इसमें बात क्या है? कि यदि बापकी उँगली पकड़कर बेटा चले तो लोग कहते हैं कि बापको पकड़कर बेटा चल रहा है। पकड़े हुए हैं उँगली और लोग कहते हैं कि बापको पकड़कर चल रहा है। इसलिए ईश्वरके एक अंशमें भी यदि किसीकी ईश्वर-बुद्धि हो जाती है तो उससे वृत्ति ईश्वराकार हो जाती है। हमें वृत्ति ईश्वराकार बनानी है। भगवान्ने स्पष्ट कह दिया है कि भैया, इसके लिए एक तो चाहिए अखण्ड श्रद्धा, दूसरा चाहिए मनका भगवदाकार होना, तीसरी चाहिए नित्ययुक्तता और चौथी बात चाहिए भगवान्के पास बैठना। कर्मकाण्डी लोग जो कर्मकाण्डमें पूजा-पाठ करते हैं, उसमें उनकी कितनी श्रद्धा है, कितना आवेश है, कितना नित्ययोग है! भगवदावेश, नित्ययोग, परा श्रद्धा—ये तीनों जब एक साथ मिलते हैं तब वे '**युक्ततमा मताः**'—केवल युक्त नहीं, युक्ततम हो जाते हैं।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'**ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते**'—अब यदि पूछो कि अक्षरके उपासक क्या होंगे? तो बोले कि देखो, अक्षरकी उपासना, क्षरकी उपासना-ये सब बातें बिलकुल बेकार हैं,क्योंकि फल तो एक ही है, फल तो दो हैं ही नहीं! जो अक्षरकी उपासना करते हैं—जैसे कोई अ, क, ख, राम, ॐ, सोऽहं आदि आँखसे देख ले और वैसा ही बना ले तथा कहे कि हम तो इसीकी उपासना करते हैं। निगुरे लोग हैं ये महाराज! निगुरोंकी एक निष्ठा हो ही नहीं सकती। उनकी निष्ठाको तो दूसरा-तीसरा-चौथा व्यक्ति आकर बदल जायेगा! जिनकी निष्ठा गुरुमें नहीं है, उनकी निष्ठा मन्त्रमें भी नहीं हो सकती और इष्टमें भी नहीं हो सकती। निष्ठा माने यह है कि भगवान् सब जगह है। जहाँ आप अचल होकर बैठ जाओगे, वहाँ भगवान् मिल

जायेंगे। मन्त्रमें कोई बड़ा-छोटा नहीं होता, सब अक्षरात्मक ही होते हैं। गुरुमें भी कोई बड़ा-छोटा नहीं होता और इष्टदेवतामें भी कोई बड़ा-छोटा नहीं होता। तुम्हारी बुद्धिमें ही जो बड़ा-छोटा बैठ गया है, वही भ्रम है। इसलिए गुरुमें भगवद्बुद्धि करो, मन्त्रमें भगवद्‌बुद्धि करो और इष्टमें भगवद्‌बुद्धि करो। मन्त्र अक्षरात्मक नहीं होते; मूर्ति जड़ नहीं होती और गुरु मनुष्य नहीं होता है। ये तो ईश्वरकी अभिव्यक्ति हैं।

'ये त्वक्षरमनिर्देश्यम्'—देखो, अक्षर कह देनेपर अनिर्देश्य कहनेकी क्या जरूरत थी? बोले, इसलिए कि कोई अक्षर मिथ्या निर्देश नहीं कर सकता। अक्षर कह दिया तो उसका तात्पर्य **'ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म'**—से है। **'अनिर्देश्यम्'** उस अक्षरके द्वारा भी परमात्माका निर्देश ठीक नहीं होता। क्यों नहीं होता? कि **'अव्यक्तम्'**—वह तो अव्यक्त है और लोग **'पर्युपासते'**—देश-परिच्छेदके बिना उपासना करते हैं। **'सर्वत्रगम्'** माने सर्वव्यापी। **'अचिन्त्यम्'** माने चिन्तनका का विषय नहीं और **'कूटस्थम्'** माने कितनी वर्षा हुई, कितनी गर्मी पड़ी और कितनी सर्दी पड़ी—इसका जिसपर कोई प्रभाव नहीं। वह पहाड़का जो शिखर है, चित्रकूट-त्रिकूटमें जो **'कूट'** है, वह बिलकुल बैठा हुआ है। उसे कोई गाली दे गया, कोई तारीफ कर गया, कोई धूल डाल गया; कोई फैक्टरी बन गयी या बिगड़ गयी, किन्तु वह कूटस्थ है। सुनार या लोहारके निहायपर कितने गहने टूटे और कितने गढ़े गये—उसको कुछ पता नहीं, क्योंकि वह कूट है। कूट उसीको बोलते हैं, जो झूठ है। *'कूटवत् स्थितं'*—माने झूठमें जो सत्य है वह। उसीको बोलते हैं कूटस्थ। कूट माने झूठ ही होता है। झूठे गवाहको संस्कृतमें कूट-साक्षी बोलते हैं। **'कूटस्थं'**—माने कितने झूठे गवाह गवाही दे-देकर चले गये और न्यायाधीश सत्यको पकड़कर बैठा है। **'कूटस्थम्।'**

'अचलम्'—माने वह एक-जगहसे दूसरी जगह नहीं जाता। न्यायपालिका दौरा करके निर्णय नहीं करती है, एक जगह बैठी रहती है। **ध्रुवम्**—माने वह कालमें कटता नहीं।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ (४)

बाहर साधन है इन्द्रियग्रामका संनियमन और बुद्धिमें साधन है सर्वत्र समता। इन्द्रियग्रामका नियमन, बुद्धिमें समता और सर्वभूतोंमें जो एकहित है, निहित है, उस परमात्मामें रति—**'सर्वभूतहिते रताः'**। इसका अर्थ कुछ और नहीं है। क्योंकि यह निवृत्तिपरायण अक्षर अव्यक्त उपासनाका प्रसंग है, इसमें **'सर्वभूतहिते रताः'**-

का अर्थ इतना ही होता है कि सबमें परमात्मा है; अलग-अलग नाम है, अलग-अलग रूप हैं। अलग-अलग आकार हैं। '**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**'—अरे महाराज, श्रीकृष्णने तो कमाल ही कर दिया। बस, ये कमाल और धमाल—दो ही तो काम करते हैं! व्रजमें रहते हैं तो धमाल करते हैं, उधरसे उधर! धमाल माने कुछ-न-कुछ खटपट। और कोई बात कहते हैं तो कमाल करते हैं। कमाल और धमाल दोनों काम करते हैं तो ये यहाँ क्या कमाल कर रहे हैं? कहते हैं कि कोई अव्यक्त अक्षर सर्वत्रग अचिन्त्य अनिर्देश्यकी उपासना करेगा तो करके उसको मिलेगा क्या? '**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**' अरे वे करेंगे ब्रह्मकी उपासना और उनको मिलूँगा मैं। क्यों महाराज? इसलिए कि अक्षर ब्रह्म मैं ही हूँ। इस चक्करमें मत पड़ना कि वह किसी दूसरेका नाम है। मेरा नाम ही अक्षर ब्रह्म है। अच्छा महाराज, तब फिर आपकी ही भक्ति करनी चाहिए? इसका भी उत्तर 'हाँ' में देते हुए उन्होंने चौदहवें अध्यायमें कह दिया—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्म भूयाय कल्पते॥ (१४.२६)

अर्थात् मेरी करोगे उपासना और मिलेगा ब्रह्म। वे यहाँ तक कह रहे हैं कि उपासना करोगे ब्रह्मकी और मिलूँगा मैं। इसका मतलब यह है कि 'मैं' नामकी कोई ऐसी खास चीज हैं कृष्णकी, जो ब्रह्मोपासनाका भी फल है। और श्रीकृष्णोपासनाका भी फल है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ (५)

देखो, जिनका चित्त अव्यक्तमें आसक्त है, उनकी स्थिति क्या है? अरे आसक्ति साकारकी ही नहीं होती, निराकारकी भी होती है। यह क्या आश्चर्य है? अरे, आप किसी आर्यसमाजीसे साकारकी उपासना करवा लो तो हम आपको इनाम देंगे, क्योंकि उनका चित्त अव्यक्तासक्त हो गया है। उनको तो साकारका ध्यान करनेमें क्लेश होता है कि हाय, हाय! हम तो ऐसा करके च्युत हो गये। पर यहाँ तो निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ध्यान है। इसकी तुलना मत करना। क्यों? कि '**अव्यक्तासक्तचेतसाम्**'—उनके चेतस्में अव्यक्तकी आसक्ति है। निर्गुण ब्रह्मज्ञानमें ब्रह्मके प्रति आसक्ति नहीं होती है, साक्षात् अपरोक्ष होता है। आसक्ति उससे होती है जिससे बिछुड़नेका डर होता है। यह तो न कहीं जाने वाला है, न आनेवाला है और न कहीं इसका प्रकाश अलुप्त है।

एक बार कहीं आर्यसमाजियों और सनातनधर्मियोंमें लड़ाई हो गयी और उनके दो मञ्च बन गये। जब उनकी ओरसे शास्त्रार्थके लिए विद्वानोंके पास बुलावा

गया, तब किसी विद्वान्‌ने कहा कि हम हजार रुपयेसे कम नहीं लेंगे। पण्डित लोग घण्टे-घण्टे भरका शास्त्रार्थ करनेके लिए हजार-हजार, दो-दो हजार, रुपये तय करते हैं। अब दोनों ओरके मञ्च बन गये। आर्यसमाजी पण्डित तो आगये और सनातन धर्मी पण्डित नहीं आये। वहाँ एक मन्दिरका पुजारी था, उसने कहा कि मैं साकार सिद्ध करूँगा। ये भगवान् हमारे साथ हैं, डरते क्यों हो? जब भगवान् हमारे साथ हैं तो प्रतिपक्षी पण्डित क्या करेंगे? वह पुजारी भगवान्‌की मूर्तिको कपड़ेमें लपेटकर, पोथी-पन्नेकी तरह बगलमें रखकर मञ्चपर आगया और बोला कि करो शास्त्रार्थ! आर्यसमाजियोंने कहा कि पहले तुम प्रश्न करो। पुजारीने कहा कि नहीं, पहले तुम प्रश्न करो। असलमें आर्यसमाजियोंका यह ख्याल था कि यह पुजारी मूर्ख है, क्या प्रश्न करेगा! लेकिन पुजारीने कहा कि देखो, मैं अपने साकार भगवान्‌को साथ लेकर आया हूँ। तुम भी अपने निराकार भगवान्‌को साथ लेकर आये हो कि नहीं? बताओ। आर्यसमाजी बोले कि हमारा निराकार भगवान् तो सदा ही हमारे साथ रहता है, उसे लेकर क्या आयेंगे? पुजारी बोला कि अच्छा, ठीक है, तुम अपने निराकार भगवान्‌को हाथमें उठाकर उनसे मुझे मारो। अब तो सब आर्यसमाजी चुप! पुजारीने कहा कि देखो, मैं अपने साकार भगवान् नर्मदेश्वर भगवान्‌को साथ लेकर आया हूँ। इनका वजन पाँच-आठ सेरका तो है ही। मैं अपने इन साकार भगवान्‌से तुमलोगोंको मारता हूँ। आज सिद्ध हो जायेगा कि तुम्हारा निराकार भगवान् बलवान् है कि हमारा साकार भगवान् बलवान् है। तो भाई, अव्यक्तमें भी आसक्ति ही होती है। परमात्मा व्यक्त-अव्यक्त दोनोंसे विलक्षण है। अव्यक्त कारणावस्था है और व्यक्त कार्यावस्था है। ये दोनों उपाधिकी अपेक्षासे हैं; निरुपाधिमें न व्यक्तता है और न अव्यक्तता है। असली परमात्मा तो अव्यक्तसे भी परे है—

व्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।

जो अपनेको देह मानकर बैठते हैं, देहाभिमानी हैं, उनके लिए अव्यक्तके मार्गमें चलना बड़ा कठिन है और अव्यक्त फल प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसलिए देहाभिमानके साथ अव्यक्तासक्ति नहीं जुड़ती है। असलमें देह तो देहसे ही आसक्त होगी। जब हम शरीरधारी हैं तो हमारी आँखें कहेंगी कि हम भगवान्‌को देखें, हमारे कान कहेंगे कि उनको सुनें, त्वचा कहेगी कि उनको छूयें, जीभ कहेगी कि उनको पीयें, नाक कहेगी कि उनको सूँघें और हृदयसे कहेगा कि आओ, उनके हृदयसे लग जायें। जबतक अपनी आत्मामें साकार बुद्धि है, तबतक ईश्वरमें निराकार बुद्धि कल्पना-मात्र है। जब हम स्वयं आत्मानात्मविवेक करके अपनेको पञ्चकोशातीत रूपसे निराकार जान लेंगे, तब

पञ्चभूतातीत रूपसे परमात्माको निराकार जान सकेंगे। वहाँ कोशकी और भूतकी उपाधि छोड़ देनेपर निराकार-निराकार एक हो जायेंगे; नहीं तो यह अध्यस्तासक्ति देहधारीके लिए बड़ी दुःखदायी हो जायेगी। इसीलिए भगवान्ने कहा कि '**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते**'।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ (६)
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (७)

अब सगुण साकारको देखें। देखो, हमलोग शांकर सम्प्रदायके कुछ ज्यादा नजदीक हैं और हमारे अन्तःकरणमें शांकर सम्प्रदायका संस्कार है। इसलिए जब कोई ऐसी बात सामने आती है कि यहाँ साकार क्या है, द्विभुज क्या है, चतुर्भुज क्या है और विराट् क्या है, तब हम उसी दृष्टिसे विचार करते हैं। इसमें विरोधकी कोई बात नहीं है। विराट्में भगवद्भाव माने सर्वत्र भगवद्भाव और राग-द्वेषका अत्यन्त निवारण। यह देखो श्याम, ये देखो श्याम, श्याम-ही-श्याम! एक ओर यह वृन्दावनी संगीत है और दूसरी ओर इसमें सर्वत्र भगवद्भाव है। कितना समन्वय है!

हियमें रह्यो नाहिन ठोर!
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और!

अब भगवान्के अक्षर अव्यक्त उपासनाकी अपेक्षा सगुण-साकार विश्वरूपकी उपासनामें जो सुगमता है, उसको बताते हैं। शुद्धान्तःकरण होनेके लिए इस उपासनासे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। चाहे कृष्णाकार वृत्ति हो, चाहे नारायणाकार वृत्ति हो, चाहे विराट् आकार वृत्ति हो—वृत्तिमें-से अहं, मम निकल जाये। अहं, मम—यही वृत्तिकी अशुद्धियाँ हैं। घटाकार वृत्ति अशुद्ध नहीं है, पटाकार वृत्ति अशुद्ध नहीं है। *अयं घटो मम, अयं पटो मम*—यह घट मेरा है, यह पट मेरा है—इनमें जो मेरापन है, वह अशुद्ध है। *'अयं घट इति स्फुरत्येव'* यह घड़ा है—ऐसा तो स्फुरण होता है, पर यह घड़ा मेरा है—यह अशुद्धि है। *'अयं देवः, अयं मनुष्यः, अयं ब्राह्मणः स्फुरतु नाम'*—यह देवता है, यह मनुष्य है, यह ब्राह्मण है— यह तो स्फुरित होता है परन्तु *'अहं ब्राह्मणः, अहं हस्तपादादिमान्'* मैं हाथ-पैरवाला ब्राह्मण हूँ यह जहाँ स्फुरित हुआ वहाँ अन्तःकरण अशुद्ध हुआ, क्योंकि एक दृश्य पदार्थको आपने अपने साथ जोड़ लिया।

देखो, भक्त लोग क्या करते हैं? पहले बोलते हैं *'नमः'* इसका तात्पर्य है कि *'इदं मम न भवति, न मम इति नमः'* यह मेरा नहीं है। पण्डित लोग होम करते हैं

तो बोलते हैं—*'इदं अग्नये न मम।'* यह अग्निके लिए है, मेरे लिए नहीं है, मेरा नहीं है। इसलिए *'अहं घटवान् न भवामि। यः खलु विश्ववान् स एव भगवान्, यः खलु प्रकृतिमान् स एव भगवान्'* मैं घटवाला नहीं हूँ। जिसकी यह सारी दुनिया है और जो प्रकृतिवाला है, वही घटवाला है। इसमें 'मैं', 'मेरा' जोड़ना ही अन्तःकरणकी अशुद्धि है।

भक्त लोग अव्यक्त अक्षरकी उपासना नहीं करते, उसको नहीं जानते, परन्तु *'सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः'* इनको जानते हैं। भक्ति धर्मकी यही एक विशेषता है। यह स्मार्त धर्मपर कटाक्ष है, श्रौत धर्मपर भी कटाक्ष है; क्योंकि वहाँ यज्ञ विशेषके द्वारा ही, कर्म विशेषके द्वारा ही—आराधना होती है; ऐसी भूमि हो जहाँ कृष्णसार मृग विचरें, ऐसा बसन्तादि काल हो और ऐसे ब्राह्मण-क्षत्रियादि अधिकारी हों, ये-ये यज्ञ-पदार्थ हों, इन-इन मन्त्रोंका उच्चारण हो और इस विधिसे हविष्य-दान हो तब यज्ञ-कर्म सम्पन्न होता है; किन्तु भक्तिमें कर्म विशेषकी जरूरत नहीं है। आज कोई भी कार्य करो, परन्तु उसका भगवान्‌में संन्यास कर दो। *'नाहं न मे, अस्य कर्मणः कर्ता अहं न भवामि, इदं कर्म मम न भवति'* यह कार्य मेरा नहीं है, इस कर्मका कर्ता मैं नहीं हूँ। *'भगवान् एव कर्ता कारयिता'* भगवान् ही करनेवाले और भगवान् ही करानेवाले हैं। *'इदं भगवतः कर्म'* यह कर्म मेरा नहीं है, भगवान्‌का है। भागवत धर्मकी यही विशेषता है कि—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

शरीर-मन-वाणीसे जो कुछ भी हो रहा है, वह सब नारायणका है। यह पद्य भागवतका ही है जो मेरे बचपनमें ही मेरे पितामहने मुझे सिखाया था। यह वचन न श्रौत है, न स्मार्त है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेतत्॥

(भा० ११.२-३६)

यह तो विशिष्ट भागवत-धर्म है। भागवतमें *'करोति'* पाठ है, लेकिन मुझे बचपनमें मेरे पितामहने *'करोमि'* सिखाया था। भगवान् श्रीधर स्वामीने *'कायेन वाचा'* के व्याख्यानमें लिखा है कि भगवदर्पित सर्व कर्म ही धर्म है। बस, उसमें अहं और ममका पक्ष नहीं लगना चाहिए। मैं कर्ता हूँ और यह कर्म मेरा है और इसका फल मुझे मिले-ऐसा मत कहो; बोलो—बाबा, जिसका कर्म है, वही इसका फल ले।

इसी तरह अद्वैतसिद्धिके लेखक मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि आप अद्वैतसिद्धि बनानेवालेकी निन्दा करो, चाहे तारीफ करो, *'मयि नास्त्येव कर्तृत्वम् अखण्डानुभावात्मनि'* मैं अद्वैतसिद्धिका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो अखण्डानन्द हूँ। जिसने बनाया है, उसकी निन्दा-स्तुति करो। मैं तो अखण्ड अनुभव-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा हूँ।

वैष्णव लोग बोलते हैं कि *'यत्कृतं यत्करिष्यामि तत् सर्वं न मया कृतम्'* मैंने कुछ नहीं किया है महाराज! *'त्वया कृतं त्वं फलभुक्'* यह सब कुछ आपने किया है अतः इसका फल भी आप ही भोगिये। यह है वैष्णव-धर्म, भागवत-धर्म। आजकल कार्ष्णी धर्म, सीतारामी धर्म अलग-अलग हो गये हैं, तो वैष्णव धर्म कह देनेपर सबका समावेश नहीं होता। सीताारामी कहेंगे कि हम विष्णुके उपासक नहीं हैं; हमारे सीताराम तो विष्णुसे भी परे हैं, हमारे राधाकृष्ण तो विष्णुसे परे हैं! तो चलो इसका नाम भागवत-धर्म ही रख लो। भगवान् ब्रह्मा-विष्णु-महेश सबसे परे हैं, अतः इसका नाम भागवत-धर्म है।

'संन्यस्य मत्पराः' भगवान्‌के परायण हो जाओ। मारो तो मर जायेंगे, जिलाओ तो जीयेंगे, खिलाओ तो खायेंगे और भूखे रखोगे तो भूखे मरेंगे।

'अनन्यनैव योगेन' बस कहीं दूसरेका योग नहीं है। जहाँ देखो वहाँ भगवान्! माने हर हालतमें भगवान्‌का ध्यान बना रह सकता है।

'मां ध्यायन्त उपासते' अब भगतजी तो लग गये भगवान्‌के ध्यानमें! श्रौतधर्म हिंसा-बहुल है, और भागवत-धर्ममें न हिंसा-बाहुल्य है, न आचार-बाहुल्य है। इसमें दोनोंकी अपेक्षा स्वरूपतः वैलक्षण्य है।

'तेषामहं समुद्धर्ता' अब देखो, इस भागवत-धर्ममें विशेषता क्या है? यह विशेषता है कि औरोंको तो खुद तैरकर पार होना पड़ता है, किन्तु भगवान्‌का भक्त भगवान्‌के ध्यानमें मग्न हो जाता है और भगवान् उसका उद्धार करते हैं।

हमारे बचपनमें लोग जब नावसे नदी पार करके कहीं जाते थे, तो नावकी उतराईके रूपमें दो पैसे देते थे नाववालेको। पर हमारे बाबाने हमें यही सिखाया था कि दो पैसे नहीं, दो आने देना चाहिए, इसलिए हम दो आने देते थे। इसका फल यह होता था कि नाववाला हमें देखते ही नावपरसे उतर आता और हमारे पास आकर हमें गोदमें उठा लेता और छातीसे लगाकर, नावमें लाकर बैठा देता, ताकि हमें जूता न निकालना पड़े, कीचड़में न जाना पड़े, पानीमें न जाना पड़े। इसी तरह भगवान् बोलते हैं कि **'तेषामहं समुद्धर्ता'**—भक्तराज, इस संसार-सागरमें जो सारे जीव ऊब-चूब कर रहे हैं, डूब-उतरा रहे हैं, उन्मज्जन-निमज्जन कर रहे हैं, इनको खुद अपने बलसे तैरने या निकलनेकी जरूरत नहीं होती; मैं ही इन्हें अपनी गोदमें

उठाकर पार करवा देता हूँ। इसलिए मेरे प्यारे भक्तराज, तुम नावपर बैठो। मैं उठाकर तुम्हें बिठा लेता हूँ। जब भक्त कहता है कि महाराज, हम भी जरा डाँड़में हाथ लगावें, तो मैं कहता हूँ कि तुम बैठो और मेरी ओर देखो। मैं तुम्हें देखूँ; तुम मुझे देखोऔर नावको चलने दो। यह डूब नहीं सकती क्योंकि मैं इसपर बैठा हूँ। आओ; हम परस्पर एक दूसरेके सौन्दर्यामृतका पान करें। तुम मेरे प्यारे भक्त, हम तुम्हारे प्यारे भगवान्!

'भवामि नचिरात्पार्थ'—भक्त भगवान्से पूछता है कि पार होनेमें देर लगेगी? भगवान् कहते हैं—बिल्कुल नहीं। क्योंकि भक्तको तो समयका पता नहीं लगता।

'मय्यावेशितचेतसाम्'—उसने तो अपने चित्तको मुझमें आवेशित कर दिया है। इसीसे भक्त मरता नहीं। जब उसके पास मौत आती है और उसके सूक्ष्म शरीरको स्थूल शरीरसे अलग करनेके लिए ढूँढ़ती है, तब भक्तका सूक्ष्म शरीर उसके स्थूल शरीरमें उसे मिलता ही नहीं। वह क्यों नहीं मिलता? इसलिए कि वह तो वहाँ रहता ही नहीं, वह तो भगवान्में रहता है। मौत देखती है कि इसके हृदयमें तो चतुर्भुज हैं, इसके हृदयमें तो द्विभुज हैं, इसके हृदयमें तो विश्वरूप, विराट् भगवान् बैठे हुए हैं! ये कैसे मरेंगे बाबा! मृत्यु बारम्बार आकर लौट जाती है। संसार-सागरमें उनका डूबना तो सम्भव नहीं है। मौत उनको छू नहीं सकती।

देखो, भगवान्ने जो दो बातें कहीं—सर्वकर्म-समर्पण और अनन्यभाव—ये जरा कठिन लगती हैं। इसलिए भगवान्ने कहा कि अब मैं तुम्हें सीधी-सीधी बात बताता हूँ। इसपर विचार तो बहुत हैं, लेकिन हमें अपनी रफ्तार पकड़नी है!

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ (८)

भगवान्ने कहा कि अपने मनको तुम मुझमें रख दो—**'आधत्स्व'**। यदि अपने मनको घरमें रखोगे तो मन ही तुम्हें कुलबुला कर और कहीं ले जायेगा अथवा मनको दूसरा कोई उठा ले जायेगा महाराज! मनके लुटेरे भी तो बहुत होते हैं न! लूट ले जाते हैं मनको। अथवा मन ही कहीं चंचलता कर बैठता है। बच्चा ही तो है मन—उसके घरमें-से निकल जानेका भी डर है और अपहरणका भी डर है।

मेरा एक प्रेमी भक्त है बम्बईमें। उसका पाँच बरसका बालक घरके भीतर कम्पाउण्डमें ही खेल रहा था। चोर आया। उसने बच्चेको छूरा दिखाया और उसे उठाकर बोरेमें बन्द किया। बोरेको पीठपर रखकर चल पड़ा। उसका पिता विहारीजीका भक्त है, सो भगवान्ने उसकी कैसे रक्षा की? हुआ यह कि जब चोरने छूरा दिखाया तो बच्चा सहमकर बिलकुल गुमसुम हो गया। चोरने बच्चेको डराकर बोरेमें बन्द किया और छूरेको उसी बोरेमें डाल दिया। लड़का पाँच मिनटके बाद जब कुछ

सावधान हुआ, तो उसने छूरा उठाकर बोरेके भीतरसे ही ऐसा जोरसे मारा कि बोरा फट गया और वह सड़कपर गिर पड़ा। लोग उसे देखकर दौड़े कि बोरेमें बच्चा, बोरेमें बच्चा! चोर-चोर-चोर चिल्लाये। अब चोर तो भाग गया और लड़का बच गया। अभी वह लड़का जिन्दा है। लड़केके माँ-बाप, दादा-दादी सब जिन्दा हैं।

तो भाई, मनको अपने पास रखोगे तो उसे कभी कोई चुरा ले जायेगा अथवा कभी कोई लड़का आवारा हो गया तो खुद भी भाग जायेगा। इसलिए इसको अपने घरमें मत रखो। फिर कहाँ रखें महराज? कि '**मय्येव मन आधत्स्व**'—मेरे सुपुर्द कर दो, मुझमें रख दो। और '**मयि बुद्धिं निवेशय**'—अपनी बुद्धिको भी मुझमें निविष्ट कर दो। निविष्ट कर दो माने सुला दो। निवेशयका अर्थ है सुलाना। सुला दो बुद्धिको भगवान्‌की गोदमें। *'जिस सरका है यह बाल उसी सरमें जोड़ दो।'* ज्यादा सोच-विचार करनेकी कोई जरूरत नहीं है। जबतक भ्रमकी निवृत्ति नहीं होती, तबतक विचारकी जरूरत है और जब अज्ञानावरणका क्षय हो गया, तब विचारकी कोई जरूरत नहीं है।

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो बार-बार वाको क्यों खोले!

ऐसी स्थितिमें तो विचार भी एक विक्षेप ही है। विचार समाधि नहीं, विक्षेप है। विक्षेप इसलिए है कि अपनाने लायक है। भ्रान्तिके निवारणके लिए ही विचारको अपनाया जाता है। फिर जब भ्रान्तिका निवारण हो गया, तब विचारकी भी क्या जरूरत है? सुला दो बुद्धिको भगवान्‌में।

होनी होय सो होय रे!
मैं तो गिरधर हाथ बिकानी। होनी होय सो होय रे।

अब एक बातपर आप ध्यान दें कि '**मयि एव**' '**मयि एव**'—जो भगवान् बोलते हैं तो कहाँसे बोलते हैं? भगवान् यदि बुद्धिके बाहर कहीं खड़े होकर माँग रहे हैं कि मुझे बुद्धिको दे दो तब तो '**मय्येव**' बनेगा ही नहीं। हम जाग्रतमें बुद्धि देंगे भगवान्‌को और वह सोते समय हमारे पास आजायेगी, क्योंकि महाराज, बुद्धि ऐसी पतिव्रता है कि यह दिन भर कहीं घूम ले, लेकिन रातको अपने पतिके गोदमें ही सोती है। बुद्धिका यह नियम है। इसलिए यदि पत्यन्तर्यामीके रूपमें परमेश्वर नहीं रहेंगे तो बुद्धिका निरन्तर निवेश बनेगा ही नहीं। यदि भगवान् जीवमें *'आत्मनि तिष्ठन् आत्मानं गमयति, विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानं गमयति।'* इस प्रकार अन्तःकरणान्तर्यामित्वेन ही भीतर नहीं रहेंगे तो मन-बुद्धिका निरन्तर सन्निवेश भगवान्‌में बनेगा ही नहीं। इसलिए सुषुप्तिके समय भी मन उन्हींमें सोये, सुषुप्तिके समय भी बुद्धि उन्हींमें निविष्ट हो—यह बात तब होगी जब भगवान् हमारे हृदयमें हृदयान्तर्यामी रूपसे रहेंगे।

अब भगवान् यदि बाहर रहेंगे, तब क्या होगा? जब हम बच्चे थे तब हमारे बाबा हमको अपनी गोदमें सुलाते थे। जब मैं सो जाता था तो बाबाका हाथ ढीला पड़ जाता और मैं धरतीपर गिर जाता था। इसलिए तुम अगर भगवान्‌को अपनी गोदमें लेकर सोओगे, तब जब तुम्हें नींद आजायेगी तब छूट जाओगे। लेकिन यदि तुम भगवान्‌की गोदमें सोओगे तो उनको तो नींद आती नहीं, अतः हमेशा ही बने रहोगे उनकी गोदमें।

'अत ऊर्ध्वं न संशयः'—*'अत ऊर्ध्वम्'* माने *मरणान्तरम्* नहीं, *'मनोबुद्धि-समर्पणान्तरम्।'* मन और बुद्धिका समर्पण करते ही—**'अत ऊर्ध्वम्'** माने **'मय्येव निवसिष्यसि'**—मुझमें ही निवास करोगे। **'न संशयः**-*अत्र संशयो नास्ति'*-इसमें संदेह नहीं है। यहाँ उभयकोट्यवगाहिनी वृत्ति नहीं है कि शायद निवास करे और शायद न करे। क्योंकि भगवान्‌ने **'एव'** और जोड़ दिया और कहा कि **'निवसिष्यसि मय्येव।'**

अब मानो अर्जुनने कहा कि महाराज, आप मन-बुद्धि माँगते हो, ये कैसे दिये जा सकते हैं? विश्वामित्रने दशरथजीसे कहा कि हमें राम-लक्ष्मण दे दो तो बेचारे दशरथजी बड़े घबड़ाये, बोले कि *'राम देत नहि बनइ गोसाईं'*। इनको देते तो नहीं बनता है। इसी तरह हम भी मन-बुद्धि आपको कैसे दे दें? यह क्या हमारे काबूमें हैं? जिस जमीनपर हमारा कब्जा हो या हमारे हाथमें रुपये हों तो हम आपको दे सकते हैं, पर मन-बुद्धि तो ऐसी चीजें हैं, जिनपर हमारा कब्जा ही नहीं है। वह हम आपको कैसे दें?

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ (९)

अब यहाँ दो बातें आ गयीं; पहली बात यह है कि मन-बुद्धिको भगवान्‌में अर्पित कर दो और अर्पणके समकाल ही भगवान्‌में निवास करो। भगवान् कहते हैं कि **'अथ चित्तं** (मनश्च बुद्धिं च) **समाधातुं न शक्नोषि'**—यदि तुम मन और बुद्धिका समाधान मुझमें नहीं कर सकते हो तो मैं उसका उपाय बताता हूँ। देखो, समाधानका मतलब होता है दफनाना। जैसे महात्मा लोग मरते हैं तो उन्हें समाधि दी जाती है। **'समाधातुम्'** का अर्थ यहाँ समाधि देना ही है—*'सम्यक् आधातुम्'*। लोग बोलते हैं न—ऐसा दफनाया कि फिर बाहर निकला ही नहीं। चिर समाधान हो गया। लेकिन इसके लिए तो हमारे पास शक्ति ही नहीं है तो उसका उपाय यह है कि अभ्यास-योग करो—बार-बार दुहराओ, बार-बार दुहराओ। यदि तुमने अपना घोड़ा किसीके हाथ बेच दिया और वह भागकर आगया तो फिर जहाँ बेचा

है, उसे वहाँ पहुँचा दो। फिर भागकर आजाये तो फिर पहुँचा दो। धीरे-धीरे जिसके हाथ बेचा है उसके खूँटेपर, उसके घरपर रहनेकी आदत पड़ जायेगी उसको, तो वह बिना अगाड़ी-पिछाड़ीके भी वहीं रहने लगेगा। अपने घोड़ेको ऐसी आदत डालो कि जिसके हाथ बेचा है, जिसे दिया है—उसके घर रहने लग जाये। यही अभ्यास-योग है।

मुझे एक महात्माने बताया था कि अभ्यास माने दुहराना है। उन्होंने तो गाँवकी भाषामें बताया था—दुहरौनी। जैसे बैल पहले घास आदि खा लेता है और उसके बाद मस्तीसे बैठकर पागुर करता है, जुगाली करता है, वैसे ही तुम भी दुहराओ। इस बातको गाँठ बाँध लो कि यह मन भगवान्‌का, यह बुद्धि भगवान्‌की और इसके अन्तर्यामी भगवान्! इसको घास-फूसकी तरह भी समझ लो तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन जब बैठो एकान्तमें, तब इसका चर्वण करो। इसीका नाम भजन है। गोपालतापनी उपनिषद्‌में प्रश्न है—*'किं नाम भजनम्?'* भजन किसको कहते हैं? *'भजनं नाम रसनं, पुनः पुनः आस्वादनम्'*—भजन माने स्वाद लेना। यह मन मेरा नहीं भगवान्-का है। यह बुद्धि मेरी नहीं, भगवान्‌की है। यह अल्पज्ञकी नहीं, सर्वज्ञकी है। यह अल्पशक्तिकी नहीं, सर्वशक्तिकी है। जिसका सब कुछ है, उसकी है यह। तुम इसको अपनी मानकर क्यों बैठे हो? यदि कहो कि महाराज, अभ्यास भी नहीं बनता है, तो लो, और उपाय सुनो। एक नम्बरकी बात रही मन-बुद्धिका समर्पण और दो नम्बरकी बात हुई समर्पणका अभ्यास। अब तीसरे नम्बरकी बात सुनो।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ (१०)

भगवान् कहते हैं कि यदि मन-बुद्धिके समर्पणका अभ्यास नहीं बनता है तो जो मत्कर्म है—मेरे लिए पूजा है, मेरे लिए पाठ है, मेरे लिए जप है; मेरे लिए भोजन पकाना है, भोग लगाना है; मेरे लिए झाड़ू लगाना है—वह सब करो। साफ-साफ मालूम पड़े कि तुम मेरे लिए कर्म कर रहे हो। **'मत्कर्मपरमो भव'**—तुम मेरे लिए किये जा रहे कर्मोंके परायण हो जाओ। दिन-रात भगवान्‌के लिए कर्म करो। देखो, जो लोग कहते हैं कि कर्म करते समय भगवान्‌का विस्मरण हो जाता है, उन भलेमानुषोंको चाहिए कि वे थोड़ा-सा विचार करें। अरे, जिसके लिए रोटी बनाते हो, उसका भी क्या विस्मरण हो जाता है? नहीं, जब रोटी दूसरेके लिए बनाते हैं और याद दूसरेकी करते हैं तब विस्मरण होता है। यदुद्देश्यक कर्म होता है तद्विषयक विस्मरण नहीं होता।

इसलिए मेरे लिए कर्म करो। मेरे लिए कर्म करोगे तो तुम्हें सिद्धि मिलेगी—**'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।'**

यहाँ भी सिद्धिका अर्थ अन्तःकरण-शुद्धि है। **'सिद्धिमवाप्स्यसि'** का अर्थ है **'अभ्यासम् अवाप्स्यसि'**। फिर पुनः-पुनः समर्पणकी भावना जाग्रत हो जायेगी और पुनः-पुनः समर्पणकी भावना जाग्रत होनेसे मन-बुद्धिका समर्पण हो ज़ायेगा। वह समर्पण ही यहाँ सिद्धि है, अन्तःकरणकी शुद्धि है।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ (११)

अब बोले कि सब काम भगवान्‌के लिए? यह कैसे होगा? हो तो सकता है। लघुशंका लगी है तो आओ, पहले लघुशंका कर आयें, क्योंकि लघुशंका लगी रहेगी और भजन करने बैठेंगे तो भगवान्‌की जगह पर लघुशंकाकी याद आयेगी। इसलिए पहले उससे निवृत्त हो जाना ठीक है। शौच लगा है और बैठे हो माला फेरने, तो माला भूल जायेगी, नाम भूल जायेगा और जिसका नाम ले रहे हैं वह भूल जायेगा; बार-बार टट्टीकी याद आयेगी। इसलिए टट्टी हो आओ पहले। यहाँ देखो, टट्टी किसके लिए हो आये? भगवान्‌के स्मरणके लिए हो आये। हो तो सकता है सब काम भगवान्‌के लिए! मूत्रपूरीषोत्सर्गादिपर्यन्त समस्त कर्म भगवान्‌के लिए हो सकते हैं।

अब यदि कहो कि यह भी नहीं बनता है—**'अथैतदप्यशक्तोऽसि'**—तो भगवान्‌ने कहा कि ठीक है। सारे कर्म मेरे लिए हों—यह भी कठिन है; मैं मानता हूँ। तब काम चाहे कोई भी करो, मैं तुम्हारे लिए कर्मका बन्धन ही नहीं रखता हूँ। लेकिन तुम कर्मके फलका त्याग तो कर दो। उस कर्मका जो फल है, उसको अपनी ओर मत खींचो, मेरी ओर आने दो—**'सर्वकर्मफलत्यागम्'**।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें एक भक्त हैं। मैंने देखा कि वह कई दिनोंसे रोड़ी तोड़ रहा है। मेरे मनमें प्रश्न उठा कि इसको तो कुछ जरूरत है नहीं, यह रोड़ी क्यों तोड़ रहा है? तीन-चार दिनोंके बाद वह एक पीतलकी बाल्टी खरीदकर ले आया और बोला कि मेरे मनमें बहुत दिनोंसे संकल्प था कि मैं आश्रममें पीतलकी एक बाल्टी दूँ। महाराजजीके यहाँ आनेवाले किसी भक्तका काम करके तो उनसे मैं कुछ लेता नहीं हूँ, क्योंकि वे महाराजजीके भक्त होनेके नाते भगवान्‌के स्वरूप हैं। आश्रमसे भी कुछ नहीं लेता हूँ; भिक्षा माँगकर खाता हूँ। फिर भी मेरे मनमें यह संकल्प हुआ कि मैं बाल्टी दूँ। तब मैंने दूसरेके यहाँ रोड़ी तोड़ी और उससे जो मदजूरी मिली, उससे यह बाल्टी खरीदकर आश्रमके लिए ले आया हूँ। अब आप लोग देख लीजिये! जो लोग एक करोड़ रुपये कमाकर उसमें-

से पाँच सौ रुपये, पाँच हजार रुपये दान कर देते हैं और यह अभिमान करते हैं कि हम बड़े भारी दाता हैं, बड़े भारी धनी हैं—वे बड़े हैं या वह बड़ा है जो रोड़ी तोड़-तोड़कर मिली हुई मजदूरीसे एक बाल्टी खरीदकर दान करता है। आप इसमें-से किसको बड़ा समझते हैं? अवश्य ही वह रोड़ी तोड़कर बाल्टी देनेवाला बड़ा है। उसने रोड़ी तोड़नेसे जो दस रुपये मिले, उन सबका त्याग कर दिया। इसीको कहते हैं '**सर्वकर्मफलत्यागम्।**'

बस, आप इसी प्रसंगमें देखो कि आप अपने कर्मका फल अपनी ओर खींचते हो या छोड़ देते हो। यदि छोड़ देते हो तो ठीक है। आत्मवान्! सावधान! यह चौथी बात है और सबसे छोटी बात यह हुई। पहली बात मन-बुद्धिका अर्पण; दूसरी बात—अर्पणका अभ्यास; तीसरी बात—भगवान्के लिए सारे कर्म और चौथी बात—कर्म चाहे कुछ भी हो, लेकिन उसका फल अपने पास नहीं रखना। लेकिन इसमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती। आजकल सब लोग कहते हैं कि हम बढ़िया करेंगे, हम बढ़िया करेंगे!

आपको उदाहरणके लिए एक और बात सुनाता हूँ। एक बार बम्बईमें लोगोंने कहा कि कुछ विषयोंपर मेरा प्रवचन होगा। मैंने कहा कि मैं तो केवल ब्रह्मसूत्रके शांकरभाष्यपर प्रवचन करूँगा। लोगोंने कहा—ब्रह्मसूत्रके शांकरभाष्यकी कथा सुनने कौन आयेगा? मैंने कहा कि कोई आये चाहे न आये, मुझे तो पुस्तक पढ़नी है। और किसीकी समझमें आये चाहे न आये, मेरा स्वयंका अभ्यास हो जायेगा। अब महाराज, मैंने जो भारतीय विद्याभवनमें शांकरभाष्यपर प्रवचन प्रारम्भ किया तो पहले ही दिन बिल्कुल हाऊस फुल! लोग कहते थे कि हमने तो कभी ब्रह्मसूत्र सुना ही नहीं है। जरा सुनें तो सही कि इसमें क्या है? भारतीय विद्याभवनका प्रशस्त स्थान तो ऐसा है, जहाँ डाक्टरों, वकीलों, प्रोफेसरों और पढ़े लिखे विद्वानोंमें-से किसीको भी वहाँ आनेमें संकोच नहीं होता। वे कहने लगे कि हम लोग बड़ी चीज सुनेंगे, छोटी चीजमें हमारी रुचि ही नहीं होती है।

इसी तरहकी बात यहाँ है। हम मन-बुद्धिका समर्पण तो करेंगे, लेकिन यह जो कर्मफलका त्याग है चतुर्थ साधन है, चौथे नम्बरकी चीज है—वह हमें पसन्द नहीं है। हमारा एयर-कण्डीशन गया, फर्स्टक्लास गया, सेकण्ड क्लास गया, इन्टर क्लास गया, अब क्या थर्ड क्लासमें यात्रा करेंगे? महाराज, कोई प्रचारक हो तो तुरन्त फटाकसे कह दे कि हम नहीं जायेंगे तुम्हारी सभामें। हमें थर्ड क्लासका किराया देते हो? हमें तो फर्स्ट क्लासका किराया दो, तब जायेंगे! है कि नहीं? तो भगवान्ने कहा कि बाबा, यह जो चौथे नम्बरकी बात आगयी, यह सबके लिए सुगम है। इस तरह भगवान्को भी स्तुतिकी जरूरत पड़ गयी। उन्होंने सोचा कि

बिना प्रशंसा किये इसमें प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए जैसे बोलते हैं न-शाबाश बेटे! वैसे ही भगवान् बोले—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ (१२)

'श्रेयो हि ज्ञानम्' भगवान् कहते हैं कि ज्ञान श्रेष्ठ तो है। यह जो सगुण सम्बन्धी ज्ञान है, सगुण ईश्वरकी जानकारी है, मन-बुद्धिका समर्पण है—वह बहुत बड़ी चीज है। लेकिन मन-बुद्धिका समर्पण संकल्प ले-लेकर नहीं होता। मनसे बारम्बार प्रेम देना और बुद्धिसे बारम्बार अपने प्यारेका विचार करना मन-बुद्धिका समर्पण है, इसलिए जिसमें मन-बुद्धिके समर्पणका अभ्यास है, ज्ञान है, वह ज्ञान बहुत श्रेष्ठ है; परन्तु **'अभ्यासात् ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते'** ज्ञानरहित अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे कर्मफल-त्याग श्रेष्ठ है।

यहाँ देखो कि भगवान् पहले जिनको ऊपरसे नीचे ले आये थे, जिसमें उन्होंने अवरोह-क्रम रखा था, अब अन्तमें आरोह-क्रम कर दिया। भगवान् कहते हैं कि बाबा, पहले नींव मजबूत करो जहाँसे शुरू करना है। **'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** जब तुम वासनाका त्याग करोगे और कोई कर्म परमेश्वरके लिए करोगे तो तुम्हें शान्तिकी प्राप्ति हो जायेगी। **'ध्यानात्कर्मफलत्यागः'** इसीको स्तुति कहते हैं। मध्वाचार्य भी इसको ऐसा ही मानते हैं। शंकराचार्य भी ऐसा ही मानते हैं और रामानुजाचार्य भी ऐसा ही मानते हैं। क्योंकि पहले बताया न, कि यह न हो तो यह, यह न हो तो यह, यह न हो तो यह; सबके न होनेपर यह और फिर कह दिया कि यही सबसे बढ़िया है। मतलब यह कि *'यस्यां भूमौ निपतितः तामालम्ब्य विमुच्यते'* जिस धरतीपर गिरे हुए हैं वहाँसे उठना चाहिए, उसीका सहारा लेकर उठना चाहिए। अब यहाँ दो बातें और ध्यान देने लायक़ है; यहाँ जो भक्ति है, वह द्विभुजकी है कि चतुर्भुजकी है कि विराट्की है? अब जो भक्तके लक्षण बता रहे हैं, उनकी तरफ जरा ध्यान दो। शंकराचार्यजीने इन्हींको पकड़ा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ (१३)

'अद्वेष्टा'—विश्वरूप भगवान् ही हैं। भगवान् ही विश्व-विराट्के रूपमें प्रकट हैं। इसलिए किसी प्राणीसे द्वेष मत करो। लेकिन यह तो एक अभावात्मक साधन हुआ कि किसीसे द्वेष मत करो। बोले कि नहीं, नहीं; सबसे मैत्री करो। सबके ऊपर स्नेहकी वर्षा करो। द्वेषमें जलन होती है और मैत्रीमें सुख मिलता है। जैसे रूखा-सूखा भोजन करना हो; कभी बेझरकी रोटी खानी हो तो पेट तो उससे भी भरता है, पर वह अद्वेष्टा है। और, घीसे चुपड़ा हुआ भोजन मिल गया तो? बोले कि **मैत्रः**।

'त्रिमिदा स्नेहने'—जिससे व्यवहार करो, स्नेहसे तर करके। यह दोनों ओर चलता है। *'सर्वभूतानां अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः'*। जो कोई मिलने आवे, उससे कहो कि आइये, आइये, आइये। आप तो बहुत दिनोंके बाद आये। अनदेखा हो, तो कहेंगे—मालूम पड़ता है पहले आपको कहीं देखा है। आप तो बहुत दिनोंके बाद मिले! अच्छा हुआ कि आगये! कैसे हैं आप? कुशलसे तो हैं न! मुझे ऐसे लगता है कि बचपनमें हम दोनोंने एक ही स्कूलमें पढ़ा है! हमारी-आपकी बड़ी मैत्री रही है—**'मैत्रः'**।

'करुण एव'—अब देखो कि जो बुरा काम करता हो, उससे द्वेष नहीं करना; जो अच्छा काम करता हो उससे मैत्री करना और जो दु:खी हो, उसके ऊपर करुणा करना।

'निर्ममः'—करुणा तो करना, लेकिन राजा भरत हरिणके बच्चेपर करुणा करके जैसे बँध गये, वैसे ममता नहीं करना। करुणा दूसरी चीज है और ममता दूसरी चीज है। ममता नहीं करना।

'निरहंकारः'—ऐसा भी मत मानो कि हमारी तो किसीसे ममता नहीं है। यह *'जो फटकारे सो सिद्ध'*की फटकारनेवाली सिद्धि भक्तको शोभा नहीं देती। अहंकार कभी नहीं करो। कभी भी अहंकी कारपर न बैठो। यह अहंकी जो कार है, यह क्या है? *'कराभ्यां चाल्यते'*—जो हाथसे चलायी जाय, उसका नाम कार है। ड्राइवर लोग हैण्डल (स्टिअरिंग) पकड़कर जिसको चलाते हैं, वह कार है।

'समदुःखसुखः'—भगवान् कहते हैं कि यदि जीवनमें दु:ख-सुख आये तो उनको मत देखो। तब क्या देखें? महाराज, यह देखें कि देनेवाला कौन है। कितना प्यारा है वह! सुदामाजी जब सूखा चिवड़ा लेकर आये और वह भी चार रंगका, तो भगवान्‌ने यह नहीं देखा कि यह चिवड़ा है। हम तो मोहन-भोग खाते हैं, सोहन-पपड़ी खाते हैं और यह दरिद्र सूखा चिवड़ा लेकर आया है। उन्होंने तो यह कहा कि अरे, अरे, यह चिवड़ा तो हमारे प्यारेका लाया हुआ है।

भक्तिकी विशेषता क्या है? देखो, सांख्यकी दृष्टिसे सुख-दु:ख प्राकृत हैं और अविवेकके कारण होते हैं—अविद्याके वंशमें हैं। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे सुख-दु:खकी कोई सत्ता ही नहीं है। स्वरूप-दृष्टिसे सुख-दु:खका भेद कहाँ है? किन्तु भक्तकी दृष्टिसे सुख-दु:ख दोनों अपने प्यारेके हाथके दिये हुए हैं! ऐसा नहीं कि वह शर्बत लाकर दे तो बड़े प्रेमसे पीयें और खाली पानी लाकर दे तो गिलास पटक दें! नहीं भाई! वही तो है! उसीका तो हाथ है! वस्तुको मत देखो, देनेवालेके हाथको देखो। वह दे रहा है—इससे बढ़कर आनन्दकी बात क्या है!

'क्षमी'—कोई अपराध करे तो क्षमा करो।

संतुष्टो सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥(१४)

'संतुष्टः'—हमेशा खुश रहो, संतुष्ट रहो। अरे, जब भगवान् हमारा है तो हम किसके लिए असंतोष करें? अब हमको अप्राप्त ही क्या है? मेरा भगवान्, भगवान्का मैं—दोनों परस्पर-परस्पर मिलते हैं। विश्वके रूपमें भगवान् हर समय हमारी आँखोंके सामने रहता है, कभी आँखोंसे ओझल नहीं होता। अब असन्तोषका हेतु क्या है?

'सततं योगी'—ऐसी स्थितिवाला व्यक्ति निरन्तर योगी रहेगा। हमेशा संतुष्ट वही रहेगा जो हमेशा भगवान्से मिला रहेगा और हमेशा भगवान्से मिला कौन रहेगा? **'यतात्मा'**—जो प्रयत्न करता रहेगा। और प्रयत्न कौन करता रहेगा? **'दृढ़ निश्चयः'**—जो दृढ़ निश्चयी होगा।

बात फिर वहीं-की-वहीं पहुँच गयी! कहाँ? कि **'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'**—यह मन और बुद्धि, यह प्यार और विचार—मन माने प्यार और बुद्धि माने विचार—इन दोनोंको भगवान्के अर्पित कर दो, उसीसे प्रेम करो और उसीका विचार करो। **'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'**—भगवान् कहते हैं कि जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा है। माने जो मुझसे प्रेम करता है, उससे मैं प्रेम करता हूँ। **'यो मद्भक्तः'**का अर्थ है 'मेरा प्रेमी' और **'स मे प्रियः'**का अर्थ है 'मैं' उसका प्रेमी। जो मुझसे प्रेम करता है उससे मैं प्रेम करता हूँ। मैं कृतघ्न भगवान् नहीं हूँ कि कोई मुझसे प्रेम करे और मैं प्रेमसे उसकी ओर देखूँ नहीं! मैं कृतज्ञ भगवान् हूँ। अगर कोई मुझे एक दे तो मैं उसे अपने-आपको ही दे देता हूँ।

आप जानते हैं कि '*तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च। विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तयोः भक्तवत्सलः।*' भगवान्की कीमत कितनी है? भगवान् कहते हैं कि अरे खरीद लो, खरीद लो मुझको! मैं तुम्हें अपनी कीमत बताता हूँ। क्या कीमत है महाराज! आप बड़े हैं, आपकी कीमत भी बड़ी होगी। कि नहीं, तुलसीका एक पत्ता मेरी कीमत है। वह न हो—क्योंकि तुलसीका पत्ता हर जगह नहीं मिलता—तो एक चुल्लू पानी, बस! कितने कृतज्ञ हैं भगवान्! ऐसे भगवान्की भक्ति भी यदि हमारे हृदयमें नहीं आयी तो, तुलसीदासजी कहते हैं—

जननी जाये जड़ तन तरुणता गँवाये।

ऐसे दयालु प्रभुके प्रति यदि हमारे हृदयमें भक्ति नहीं आयी, प्रीति-प्रतीति नहीं आयी तो हमारी माँने हमको पैदा करके, हमें जिलाकर, दूध पिलाकर अपनेको व्यर्थ ही बुढ़िया बना दिया!

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ (१५)

लोग शंकापर शंका करते हैं कि जिससे किसीको उद्वेग न हो और जो लोगोंसे उद्विग्न न हो—ऐसे कितने व्यक्ति होते हैं! तो कहते हैं कि ऐसे साधु तो बहुत देखनेमें आते हैं! कि उन्हें मारो, पीटो, गाली दो, तिरस्कार करो—लेकिन वे अपना चित्त भगवान्‌में लगाये रहते हैं और उद्विग्न नहीं होते हैं। जिससे किसीको उद्वेग ही न हो—ऐसा तो कोई साधु देखनेमें नहीं आता है। असलमें जो साधु विश्वरूपके रूपमें परमेश्वरका दर्शन कर रहा है—'**यस्मान्नोद्विजते लोकः**' वह साक्षीसे अभिन्न होगा कि नहीं? तो न साक्षी किसीसे उद्विग्न होता है और न साक्षीसे कोई उद्विग्न होता है।

एक महात्माने लिखा है कि समुद्रमें अगणित समुद्री जीव—छोटी-बड़ी मछलियाँ और विशालकाय ह्वेल—एक साथ तैरते हैं। लेकिन न तो उनको डर लगता है कि समुद्र हमें डुबो देगा और न समुद्र ही-को डर लगता है कि ये हमें खा जायेंगे। समुद्र मजेमें उनको अपने हृदयमें स्थान दिये हुए हैं और वे मौजसे समुद्रमें विहार करते रहते हैं। समुद्रको तिमिङ्गिलसे डर नहीं और तिमिङ्गिलको समुद्रसे डर नहीं।

महाराज, शेरका बच्चा शेरसे नहीं डरता है। वैसे ही भगवान्‌के बच्चे भगवान्‌की गोदमें खेलते हैं। न भगवान्‌को अपने बच्चोंसे कोई डर है और न बच्चोंको भगवान्‌से कोई डर है। बच्चे तो पिताकी नाकमें उँगली डालते हैं, मूँछके बाल खींच लेते हैं, चोटी पकड़कर खींच देते हैं और कभी-कभी थूक भी देते हैं। माताएँ लेटकर अपने बच्चोंको ऊपर उछालती हैं। बच्चे मूत देते हैं और मूत माताके मुँहमें भी पड़ जाता है। लेकिन माताएँ क्या अपने बच्चोंको उठा कर फेंकती हैं? ना, ना! अरे, *पूतको मूत प्रयागको पानी!* वह तो त्रिवेणीके जल जैसा है। इसलिए इस भगवत्-रूप सृष्टिसे हमें कोई डर नहीं है और हमसे भगवद्रूप सृष्टिको कोई डर नहीं है।

'**हर्षामर्षभयोद्वेगैः**'—भगवान्‌में भगवान् डूब-उतरा रहा है और भगवान्‌में भगवान्‌की भगवन्मयी लीला हो रही है। इसलिए इसमें उद्विग्न होनेका या उद्विग्न करनेका कोई कारण नहीं है। यहाँ न हर्ष है, न अमर्ष है, न भय है और न उद्वेग है। असहिष्णुता माने चिढ़ना भी नहीं है—ये हमसे आगे कैसे चले गया। अरे, अपना दिल बिगाड़ना तो इस दुनियामें सबसे बड़ी बेवकूफी है।

मैंने एक बार बहुत विचार किया कि बेवकूफीकी सबसे बड़ी पहचान क्या हो सकती है। अन्तमें इस निर्णयपर पहुँचा कि खुद ऐसे भावकी कल्पना कर लेना, जिससे अपने दिलमें जलन हो—सबसे बड़ी बेवकूफी है। अपने दिलमें आग लगाना तो अपने घरमें आग लगाने जैसा है।

एक स्त्री थी। उसने हीरेकी एक अँगूठी बनवायी। वह चाहती थी कि गाँवके लोग देखें और कहें कि यह तो बढ़िया अँगूठी है; तुमने कब बनवायी, कैसे बनवायी। लेकिन किसीने उससे पूछा ही नहीं। दु:खी होकर उसने रातको अपनी झोपड़ीमें आग लगा दी और बोली कि अब इस गाँवमें रहकर क्या करूँगी जहाँ इतनी बढ़िया अँगूठीके बारेमें कोई पूछता नहीं। जब उसकी झोपड़ी जलने लगी तब लोग आग बुझानेके लिए इकट्ठे हुए और देखा कि उसके हाथमें चमाचम हीरा चमक रहा है। लोग बोले कि अरे, यह हीरेकी अँगूठी तुमने कब बनवायी? कब पहनी? बोली कि हे राम, अगर तुम लोग यह बात कल पूछ लेते तो मैं अपनी कुटिया काहेको जलाती।

तो ये जो दिल जले लोग हैं; दूसरेका दिल तो जला पाते नहीं, अपना ही दिल जलाते रहते हैं। भगवान् भक्तिमें नहीं रहते, हृदय-कमलपर रहते हैं। इसलिए अपने दिलको ठीक करके रखो, तभी उसमें भगवान् रहेंगे और खुश रहेंगे, भगवान् हृदयकी भट्ठीमें नहीं रहते। उस भट्ठीके कारण ही हम लोग रो रहे हैं, मर रहे हैं, जल रहे हैं और हमारी लम्बी साँस चल रही है जब लम्बी साँस आती है तो तूफान आजाता है, बड़ी भारी आँधी आजाती है और भगवान् एक कोनेमें छिप जाते है। जब हृदयमें लोभ आता है तो बड़ी भारी बाढ़ आजाती है। भगवान् कहते हैं कि हम इसमें डूब न जायें। इसी तरह जब क्रोध आता है तब कलेजेमें आग लग जाती है। तो भगवान् कहते हैं कि भाई, आग लग गयी है, इसलिए हम जरा छिप जायें। इसलिए भाई मेरे, अपने दिलको ठीक रखो, तभी भगवान् उसमें निवास करेंगे।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥(१६)

भक्तको किसीकी अपेक्षा नहीं होती। ये जो अपने रिश्तेदार-नातेदार हैं, यही कहते हैं कि यह हमें खिलाता नहीं, पिलाता नहीं; यह हमारा आदर-सत्कार नहीं करता। इसी तरह देहेन्द्रिय आदिके जो सम्बन्धी विषय और व्यक्ति हैं, इनकी कोई अपेक्षा भक्तको नहीं है। '**अनपेक्षः**'—*'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।'*

'**शुचिः**'—पवित्र रहता है और '**दक्षः**'—चतुर होता है। बेवकूफका नाम भक्त नहीं होता। हमारे पास जो लोग आते हैं, उनमें कई ऐसे होते हैं जो चौखटको ठोकर मारते हुए, किवाड़को खटसे खोलते हुए और अपने जूतोंको एक पर दूसरा चढ़ाते हुए, आकर पाँवमें नाखून चुभाते हुए प्रणाम करते हैं। उन्हें देखकर हम समझ जाते हैं कि यह व्यक्ति व्यापारमें घाटा जरूर उठाता होगा, क्योंकि जब चलनेमें असावधान है, तब व्यापारमें भी असावधानी करता होगा। यह तो प्रमाद-वृद्धिका ही परिचायक है। एक सज्जन किसी महात्माके पास गये। उन्होंने दूरसे ही जूते निकाले तो एक जूतेपर दूसरा जूता चढ़ गया। फिर जब किवाड़ खोलकर भीतर गये तो इतनी जोरसे

किवाड़ बन्द किया कि धड़ामसे आवाज निकली। फिर महात्मासे बोले कि महाराज, मैं आपके पास आत्मज्ञानके लिए आया हूँ। महात्माने कहा कि बेवकूफ, तुमने अपने जूतोंका तिरस्कार किया! निकल जा यहाँसे। पहले जा, अपने जूतोंको दण्डवत् कर और किवाड़ीसे माफी माँग। तब हमारे पास आना। चलनेका ढंग नहीं; जूते कैसे निकाले जाते हैं, किवाड़ कैसे खोले और बन्द किये जाते हैं— यह पत्ता नहीं, और हमारे पास **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** समझनेके लिए आये हो! तो साधकको, भक्तको दक्ष होना चाहिए।

'उदासीनः'—दुनियामें लोग जिस प्रवाहमें बहते है, उससे ऊपर रहना चाहिए। जैसे हवा बही; रूसकी ओरसे आयी—तो रूसी हो गये और अमेरिकाकी ओरसे आयी—तो अमेरिकन हो गये। इसी तरह जनसंघकी हवा आयी तो जनसंघी हो गये, कम्यूनिज्मकी हवा आयी तो कम्यूनिस्ट हो गये। जैसी बयार बहती है महाराज, लोग उसी तरफ उड़े जा रहे हैं। लेकिन भक्तको सबसे ऊपर होकर देखना चाहिए। **'गतव्यथः'**—भगवान् जो खुद करते हैं, भक्तको उसमें व्यथा नहीं माननी चाहिए। और उसे सर्वारम्भपरित्यागी होना चाहिए। मुझे याद है, जब मैं सोलह-सत्रह बरसका था, तब हमारे विद्या-गुरुजी, पण्डित रामभवनजी उपाध्यायने—जो उन दिनों क्वीन्स कालेजके प्रोफेसर थे—मुझे लिखा था कि *'श्राद्धे कुर्यान्नविस्तरम्'*—श्रद्धा-सम्पाद्य कर्ममें विस्तार नहीं करना चाहिए। श्रद्धा पूरी बनी रहे चित्तमें—इसके लिए कामको फैलाना नहीं चाहिए, अन्यथा बादमें अश्रद्धा हो जायेगी और *'अङ्ग-वैगुण्यं भूयात्'*—अंगमें विगुणता हो जायेगी। इसलिए *'नारम्भानारभेत् क्वचित्'*—फल-प्राप्त्यर्थ संकल्पपूर्वक विशाल कर्मका आयोजन नहीं करना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ (१७)

संसारके विषयोंको प्राप्त करके जो हृष्ट नहीं होता, अपने मनके विपरीत प्राप्त होनेपर द्वेष नहीं करता, बीते हुएके लिए शोक नहीं करता, अनागतके लिए—भविष्यके लिए आकांक्षा नहीं करता और जो कुछ शुभाशुभ आता है उसे छोड़ता चला जा रहा है, परन्तु जिसके हृदयमें भगवान्का प्रेम बना है, वह भगवान्का प्यारा है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ (१८)

भगवान्के शब्दोंमें ये भक्तके लक्षण हैं। भक्ति द्विभुजकी है; चतुर्भुजकी है या विराट्की है—इसका पता आपलोग अपनी अकलसे लगा लीजिये। भक्त शत्रु और

मित्रमें सम हैं और मानापमानमें सम है। संसारीको अपमान बड़ा बुरा लगता है—यह उसका लक्षण है। मनुष्य अपने हृदयकी अभिव्यक्ति दे देता है। संसारी पुरुषको अपमान बहुत बुरा लगता है और साधक पुरुषको मान बहुत बुरा लगता है। संसारीको मान अच्छा लगता है, अपमान बुरा लगता है; साधकको अपमान अच्छा लगता है, मान बुरा लगता है। जो सिद्ध है, उसे मान-अपमान दोनों समान हो जाते हैं और जो ब्रह्म है, उसमें मानापमानकी सत्ता ही नहीं है। वह तो गर्मी पड़े, सर्दी पड़े; सुख आवे—सबमें बराबर है, उसकी कहीं भी आसक्ति नहीं है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ (१९)

भगवान् बताते हैं कि हमारे भक्तकी स्थिति ऐसी होती है कि कोई उसकी निन्दा करे चाहे स्तुति करे—वह तो समझता है कि निन्दक-प्रशंसक दोनोंकी जीभमें भगवान् बैठे हैं। स्तुति करते हैं तो बच्चेको प्रोत्साहित कर रहे हैं और निन्दा कर रहे हैं तो किसी कामसे रोक रहे हैं। दोनोंमें हमारी भलाई जरूर है। निन्दा, स्तुति तो शरीर आदिकी ही होती है, आत्माकी तो होती नहीं। जीवन्मुक्ति-विवेक नामक ग्रन्थमें कहा गया है कि यदि हमारी निन्दा करके कोई खुश होता है तो वह हमारे बिना कुछ किये हमपर बड़ी कृपा करता है। क्यों? कि अरे, लोग दूसरेको खुश करनेके लिए पैसा देते हैं, पाँव दबाते हैं, खिलाते हैं, पिलाते हैं, किन्तु निन्दक तो हमारा दोष ही देख-देखकर और वर्णन कर-करके खुश हो रहा है! वाह, वाह, वाह! मैं एक आदमीकी खुशीका कारण तो बना! यदि वह मेरे शरीरकी निन्दा करता है तो मैं भी इस शरीरकी निन्दा करता हूँ!

'मौनी'—भगवान् कहते हैं कि जहाँतक हो सके, भक्तको चुप रहना चाहिए। दुनियामें जो लोग बिना पूछे अपनी राय जाहिर करते रहते हैं; सुननेवालोंको तो उनकी कोई जरूरत नहीं है और राय जाहिर करनेवालोंको फिर अपनी राय बदलनी पड़ती है। हमारे गाँवके पास एक बूढ़े सज्जन थे। उन्होंने हमें बताया कि *'सराहो मत सराहो मत'* किसीको सराहो मत; क्योंकि *'निन्दना पड़ेगा!'* बादमें उसकी निन्दा करनी पड़ेगी और *'निन्दो मत, निन्दो मत, सराहना पड़ेगा'*—किसीकी निन्दा मत करो, बादमें उसकी सराहना करनी पड़ेगी; क्योंकि जो दोष-गुण हैं, वे नियताश्रय नहीं हैं, अपने आश्रयको बदलते रहते हैं। इसलिए चुप रहना अच्छा है।

'येन केनचित् संतुष्टः'—जो मिल जाये, उससे खुश रहो। बच्चा मिल जाये तो उसके साथ खेल लो और ज्ञानी मिल जाये तो उसके साथ ज्ञान-चर्चा कर लो।

'अनिकेतः'—हमारा मकान ऐसा है, इसका अभिमान मत करो। मकान मत बनाओ; भगवान् ही अपने मकान हैं। असली निकेतन भगवान् ही हैं।

'**स्थिरमतिः**'—बुद्धिको स्थिर रखो। ऐसा जो भक्तिमान् पुरुष है, वह मेरा प्यारा है।

अन्तमें भगवान् कहते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ (२०)

'**ये तु धर्म्यामृतम्**'—इसकी संज्ञा है धर्म्यामृत। और किसी दूसरेने, किसी सम्पादकाचार्यने नहीं जोड़ा है इनको। यह स्वयं भगवान्‌की बोली है। भगवान्‌ने ही इन आठ श्लोकोंका नाम रखा है धर्म्यामृत। यह धर्मानुकूल अमृत है। माने स्वर्गका अमृत पीनेसे तो जिस धर्मके फलस्वरूप उस अमृतकी प्राप्ति हुई है, वह धर्म क्षीण हो जाता है, किन्तु *'धर्म्यं च अमृतं चैव'* कहनेका अभिप्राय यही है कि इस अमृतको पीते जाओ। इससे तुम्हारे धर्मका क्षय नहीं होगा, और बुद्धि होती जायेगी। इसमें जैसा कहा गया है कि '**अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्**'—वैसे ही बनो। यही पर्युपासना है। यही भक्ति है। यदि कहो कि भगवान् तो दिखायी नहीं देते तो भाई, देख लेनेपर जो लोग भक्ति करते हैं, उनकी भक्तिकी तो कोई तारीफ ही नहीं है; तारीफ तो इस बातकी है कि भगवान् अभी दीखे नहीं, अभी मिले नहीं और फिर भी प्रेम इतना! भगवान् सुनेंगे तो बाग-बाग हो जायेंगे कि जिस आदमीने हमें देखा नहीं, पहचाना नहीं, वह भी हमसे इतना प्रेम करता है! दर्शन करके प्रेम करनेवालेपर भगवान् इतने प्रसन्न नहीं होते, जितना बिना दर्शनवालेपर प्रसन्न होते हैं। वे कहते हैं कि वह तो सौन्दर्यामृतका आस्वादन करके, अमृत पीकर प्रेम कर रहा है। '**श्रद्दधानाः**', और '**मत्परमाः**'—मेरे ही परायण है।

'**भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः**'—देखो, भगवान्‌ने हर जगह तो यह कहा है कि '**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**'। जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा है; किन्तु यहाँ '**अतीव मे प्रियाः**'— 'अतीव' विशेषण और लगा दिया है। इसका अर्थ यही है कि जो मुझे देखकर मेरी भक्ति करता है, वह मेरा प्यारा है, मेरा प्रेमी है। परन्तु जो श्रद्धाकी दृढतासे भक्ति करता है, वह मुझे अतीव प्रिय है। एक आँखवाला सुन्दरता देखकर प्रेम करे तो अन्धेके प्रेमकी महिमा ज्यादा है महाराज! भगवान् कहते हैं कि मुझे ज्ञानीका प्रेम नहीं चाहिए। क्यों? कि '**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः**'। वहाँ तो प्रियतर स्वतः सिद्ध है। लेकिन जो श्रद्धापूर्वक मुझसे प्रेम करता है, उससे तो मैं अत्यन्त-अत्यन्त प्रेम करता हूँ।

॥ इस प्रकार यह 'भक्तियोग' नामक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥



तेरहवाँ अध्याय

अब तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ करते हैं। बारहवें अध्यायमें भक्तिका वर्णन है, क्योंकि भगवान् द्वादशात्मा हैं। त्रयोदशी सर्वसिद्धा है। हमारे भारतीय ज्योतिषशास्त्रके अनुसार त्रयोदशी बहुत पवित्र मानी जाती है—तेरहकी संख्याको बहुत पवित्र मानते हैं—'सर्वसिद्धा त्रयोदशी'।

इस तेरहवें अध्यायमें भगवान् प्रारम्भ करते हैं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार, ज्ञान-ज्ञेय-विचार और प्रकृति पुरुष-विचार। इस प्रकार छह पदार्थोंका वर्णन तेरहवें अध्यायमें है। किन्तु छहों छह नहीं हैं, एक ही हैं। एक मूल सिद्धान्त है। पहले इसका नमूना ही बता देते हैं। यह शरीर विषय है क्षेत्र और इसमें विषयी-रूपसे '**एतद्यो वेत्ति**' इसको जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ विषयी रहेगा।

अब देखो, विषय अनित्य हैं और विषयी नित्य है। यह दूसरी कक्षा ले लो। अनित्य है माने परिवर्तनशील है और विषयी नित्य है माने परिवर्तनशील नहीं है। विषय आश्रित है और विषयी आश्रय है। शरीर बदलते रहते हैं, शरीरी बदलता नहीं है। बदलनेवाले पदार्थ और उनका भान—दोनों नित्य पदार्थमें होगा, आत्मामें होगा। इसलिए अपने अभावके अधिकरण स्वरूप, आश्रय स्वरूप आत्मामें भासमान होनेके कारण क्षेत्र मिथ्या हो जाता है।

तो एक विषय है और एक विषयी है। एक परिवर्तनशील अनित्य है और एक अपरिवर्तनशील नित्य है। एक अपने और अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें ही प्रतीत हो रहा है। एक मिथ्या है और एक सत्य है। जो सत्य है, वही होता है और जो मिथ्या होता है, वह होता ही नहीं है। इसलिए कुल मिलाकर सत्य एक ही है, दो नहीं हैं। यह मैंने इसका एक नमूना बताया।

श्रीभगवनुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ (१)

हे कौन्तेय! अब तुम यहाँ बुद्धिमान आदमीकी ओर देखो। बुद्धि तुम्हें विरासतमें मिली है। तुम्हारी माता कुन्ती क्या है? जैसे महीन-महीन बालोंको कुन्तल कहते

हैं और जो बन्दूककी नोकपर संगीन बाँधते हैं, कुन्त कहते हैं उसे, वैसे ही एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धि है कुन्ती—*'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।'* उस कुन्तीके पुत्र होनेके कारण अर्जुन तुम बड़े बुद्धिमान् हो। इसलिए इस विवेकको, इस विषयको समझ सकते हो। विवेकी ही इसका अधिकारी है। तो लो, अब हम शरीरका विवेक करते हैं।

'इदं शरीरम्' इस शरीरका पूरा क्या लक्षण है? शरीरका पूरा लक्षण क्या है—*'इदं इदन्ताक्रान्तं, इदन्तास्पन्दितम्, इदंत्वेन प्रतीयमानम्'*। जो 'यह-यह' के रूपमें भासता है, इसका नाम है शरीर। 'यह-यह' में औ मैं-मैं' में फर्क क्या है? यह शरीर *'शीर्यते यत्'* हर समय शीर्ण-विशीर्ण होता रहता है, बदलता रहता है। जब साधु भी बड़े-बड़े महन्त-मण्डलेश्वर हो जाते हैं, तब उनका शरीर फटता रहता है—आज हाथ-पाँवमें दर्द हो रहा है। दबानेके लिए कोई सेवक चाहिए। जो फटता रहे, उसका नाम शरीर है। **'इदं शरीरम्'** इसका नाम शरीर है और इसको कहते हैं क्षेत्र। जहाँ साधु लोग भिक्षा लेते हैं, उसका नाम भी क्षेत्र है। *'भोगायतनं शरीरम्'* वे खाने भरके लिए क्षेत्रमें जाते हैं, भजन करनेके लिए क्षेत्रमें नहीं जाते हैं। इनका निवासस्थान नहीं है। यह शरीररूपी क्षेत्र केवल भोगायतन है। इसे रोटी दे दो, और कुछ नहीं, बस! क्षेत्रमें कभी लकड़ी न हो तो कोई साधु पहुँचाने नहीं जायेगा, कभी आग न हो तो जलाने नहीं जायेगा और रसोइया न हो तो भोजन बनाने नहीं जायेगा। वे क्या करेंगे? कि भोगायतन शरीरके लिए केवल रोटी लेने जायेंगे क्षेत्रमें।

लेकिन शरीर केवल भोगायतन नहीं, धर्मायतन भी है। कैसे? कि **'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे'** में जो क्षेत्रे पद है, उससे सिद्ध होता है कि इस शरीरसे धर्म किया जा सकता है। इसलिए भी इसे क्षेत्र बोलते हैं—**'क्षेत्रम्'**!

हमलोग एक बार ब्रह्मपुर गये थे, जो आन्ध्रमें है। वहाँ स्टेशनपर उतरे, तो पूछा कि यहाँ धर्मशाला कहाँ है? किसीसे पता ही न चले कि धर्मशाला कहाँ है। हमलोग ताँगेपर बैठे और सारा शहर घूमनेके बाद जब एक आदमी हिन्दी जाननेवाला मिला तो उसने बताया कि यहाँ धर्मशालाको 'क्षेत्रम्' बोलते हैं! अब तो क्षेत्रम्का नाम सुनते ही ताँगेवाला घुमाकर फिर स्टेशनकी ओर ले आया और ऐसे स्थानपर पहुँचा दिया, जहाँ दरवाजेपर 'क्षेत्रम्' लिखा था।

तो यह शरीर भी 'क्षेत्रम्' है, धर्मशाला है। यह भोगायतन है, यह कर्मायतन है और यह अतिथिवत् निवास करनेके लिए है। इसपर हमेशाके लिए मल भले ही कब्जा कर ले, लेकिन अपना कब्जा इसपर रहनेवाला नहीं है। इसपर कब्जका

कब्जा भले ही रह सकता है, लेकिन अपना कब्जा इसपर रहनेवाला नहीं है। इसलिए इसका नाम है क्षेत्रम्। यह क्षेत्र क्यों है? कि 'क्षत-त्राणात्' जो जीवनमें कमी होती है, उसको यह पूरा करता है। 'क्षयात्' इसका क्षय हो जाता है। *'क्षरणं'* इसका क्षरण हो जाता है *'क्षेत्रवत् वा अस्मिन् कर्मफल-निर्वृत्तेः'* जैसे खेतमें बीज बोते हैं और फिर अनाज काटते हैं, वैसे ही इसमें पाप-पुण्य करते हैं और फिर उसका फल पाते हैं। इसलिए भी इसका नाम है क्षेत्र।

'**अभिधीयते**' देखो भाई, है तो ब्रह्म, लेकिन जब ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए विवेक करना पड़ता है, तब जैसे बीजगणित निकालनेके लिए नाम रखते हैं कि यह संख्या इतनेके बराबर है, यह संख्या इसके शरीरका एक नाम है. अब देखो कि क्षेत्रज्ञ कौन है।

'**एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः**' ज्ञातृत्व क्षेत्रज्ञका असाधारण लक्षण है और ज्ञेयत्व क्षेत्रका असाधारण लक्षण है। क्षेत्रका असाधारण लक्षण है ज्ञेयत्व, ज्ञान-विषयत्व, दृश्यत्व और ज्ञातृत्वका असाधारण लक्षण है। इसलिए जो इसको जानता है, उसको '**क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः**'—क्षेत्रज्ञ नामसे पुकारते हैं। कौन पुकारते हैं? कि जो '**तद्विदः**' हैं। तद्विदः कौन हैं? कि *'तत् क्षेत्रं क्षेत्रज्ञं च विदन्ति इति तद्विदः। तौ विदन्ति इति तद्विदः'*—अर्थात् जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंको जानते हैं, वे तद्विदः हैं। यहाँ तद्विदःका अर्थ क्षेत्र-विदः भी नहीं है और तद्विदःका अर्थ क्षेत्रज्ञ-विदः भी नहीं है। जो दोनोंको जानते हैं, उनका नाम है तद्विद्।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ (२)

भगवान्‌ने कहा कि यह क्षेत्रज्ञ मैं हूँ। क्षेत्र अनेक हैं पर क्षेत्रज्ञ मैं एक ही हूँ। अलग-अलग जो क्षेत्रज्ञ मालूम पड़ते हैं, उनमें मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ। तत्तद्-उपाधिसे अलग-अलग क्षेत्रज्ञके रूपमें भासता हूँ, परन्तु '**सर्वक्षेत्रेषु**'—सब क्षेत्रोंमें एक क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ।

देखो, एक अपरा प्रकृति है। वह भी सबके शरीरमें एक है। आप जानते ही हैं कि अष्टधा प्रकृति है। एक परा प्रकृति है जीवभूता। वह भी सबके शरीरमें एक ही है—*'ययेदं धार्यते जगत्, एकः सर्वाणि भूतानि'* है, वह भी सबके शरीरमें एक ही है और एक '**कूटस्थोऽक्षरः**' है, वह भी सबके शरीरमें एक ही है। यहाँ क्षेत्रज्ञमें भी केवल तत्-तद्-उपाधिके अभिमानसे ही पृथक्त्व है। सांख्यवाले पुरुषको नाना मानते हैं—*'पुरुष-बहुत्वं सिद्धम्'* परन्तु वे कहते हैं कि अलग-अलग जन्म होता है, अलग-अलग मरण होता है, अलग-अलग सबके करण हैं, अलग-अलग

सबकी प्रवृत्ति होती है और सबमें त्रैगुण्यका विपर्यय होता है। इसलिए पुरुष बहुत्व-सिद्धं होता है। इनसे पूछो कि यह पुरुषका कौन-सा स्वभाव है? जन्म पुरुषका स्वभाव है? नहीं, वह तो प्रकृतिका स्वभाव है। मरण स्वभाव है? नहीं, वह भी पुरुषका स्वभाव नहीं, प्रकृतिका स्वभाव है। करण स्वभाव है? नहीं, वह भी प्रकृतिका ही स्वभाव है, तो अन्यके धर्मके कारण आप अन्यमें जो बहुत्व मानते हो, वह क्या न्याय कर रहे हो? उपाधिगत जो जन्म, करण, मरण आदिका बहुत्व है, त्रैगुण्य-विपर्यय है, उससे पुरुषबहुत्व सिद्ध करनेवाले सांख्यवादी, वस्तुवादी, वेदान्तियोंके सामने आप कभी टिक ही नहीं सकते। यदि वे पुरुषका अलग-अलग गुण-धर्म बतायें, तब तो पुरुष अलग-अलग होंगे और प्रकृतिके गुण-धर्ममें अलगाव बताते हैं और पुरुषका बहुत्व सिद्ध करते हैं, तो वह विचार-कोटिमें नहीं आते हैं। सांख्य कभी विचार-कक्षामें आता ही नहीं है।

'सर्वक्षेत्रेषु'—इसलिए, भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र अनेक हैं परन्तु क्षेत्रज्ञके रूपमें एक परमेश्वर है। पराप्रकृति ईश्वरका ही स्वरूप है, क्योंकि वह जड़ नहीं है, जड़-चेतनका मिश्रण है। अक्षर पुरुष भी केवल जीव नहीं है और यहाँ जो क्षेत्रज्ञ है, वह भी जड़ नहीं है, चेतन है। परन्तु क्षेत्र-सम्बद्ध होनेके कारण उसकी संज्ञा क्षेत्रज्ञ है, नहीं तो वह परमात्मा ही है। परमात्माकी क्षेत्रज्ञ संज्ञा क्षेत्रके सम्बन्धसे ही है। इसलिए क्षेत्रज्ञता औपाधिक हैऔर निरुपाधिक परमात्मा है। उपाधिका बाध करनेपर परमात्मा है।

'एतज्ज्ञानं मतं मम'—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-दोनोंका विवेक कर लो और विवेक करनेके बाद जब दोनोंको ठीक-ठीक जानना है तो क्षेत्र-बाध-सामान्याधिकरणसे और ज्ञान-मुख्य-सामान्याधिकरण्यसे परमात्माका स्वरूप है। यही यहाँ अभीष्ट अर्थ है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ (३)

'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च'—भगवान् कहते हैं कि वह क्षेत्र है, उसका जो स्वरूप है—यादृक्च, जैसा उसका स्वभाव है, **यद्विकारि**—जैसा उसमें विकार होता है, **यतश्च यत्**—जिसके अस्तित्वसे वह परिवर्तनशील प्रतीत होता है और **'स च यो यत्समासेन मे शृणु'**—समास-पद्धतिसे सुनो। *'व्यासेन वक्तुं अशक्यत्वात्,*—यहाँ व्यासमें मैं उसको नहीं कह समता, इसलिए समासमें बोलता हूँ। व्यास माने पदोंको अलग-अलग करनेकी जरूरत नहीं है। समास माने संक्षेपमें, थोड़ेमें उसका वर्णन सुनो!

देखो, लोग *'राज्ञः पुरुषः'* कहनेकी जगह *'राजपुरुषः'* बोल देते हैं और *'शाकप्रियः पार्थिवः'* बेलनेकी जगह *'शाकपर्थिवः'* बोल देते हैं। यह संक्षेप हो गया न! इसी प्रकार भगवान् संक्षेपमें ही वर्णन करते हैं। इसपर मानों अर्जुनने पूछा कि आप संक्षेपमें क्यों वर्णन करते हो? तो भगवान् कहते हैं—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ (४)

ऋषि माने मन्त्रद्रष्टा। ऋषि शब्द चाहे जिस किसीके नामके साथ नहीं जुड़ता। आजकल कोई व्याख्यानदाता अच्छा हो, विद्वान् अच्छा हो तो लोग कह देते हैं कि ये ऋषि हैं। कई लोग तो गृहस्थी होते हुए ही अपनी साधुता सूचित करनेके लिए अपने नामके साथ ऋषि शब्द लगाते हैं; क्योंकि ऋषि लोग वानप्रस्थाश्रममें रहते थे तो उनकी पत्नियाँ भी साथ होती थीं। तो अपनी पत्नीको साथ भी रखें और साधु भी कहलायें, इसके लिए ऋषि नहीं हैं। *'ऋषयः मन्त्र द्रष्टारः'*—जिन्होंने वेदके मन्त्रका साक्षात्कार किया है, उनका नाम ऋषि है। आपको मालूम ही है कि गायत्री-मन्त्रको पहले पहल किसने देखा था? उस ऋषिका नाम है विश्वामित्र। गायत्रीके प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र ही हैं। इसलिए विश्वामित्र ऋषि हैं। इसी प्रकार और भी अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं।

तो भगवान्ने कहा कि '**ऋषिभिर्बहुधा गीतम्**'—ऋषियोंने बहुत प्रकारसे, और '**छन्दोभिर्विविधैः**'—विविध छन्दोंमें—जैसे त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, बृहती, जगती, अतिजगती आदिमें गान किया है। छन्द किसे कहते हैं? *'छादनात् छन्दः'*—जो शब्दोंके भीतर परमात्माको ढक दे, उसका नाम होता है छन्द। यह ओढ़ना है भगवान्का। छन्द ओढ़कर भगवान् सोते हैं। जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीकी जो रामायण है, वह क्या है? रामायण माने रामका महल, रामका अयन; और उसमें जो चौपाई है, वह चारपाई है, भगवान्के सोनेके लिये। दोहामें जो पीनेके लिए दूध रखा है, दोहन है। सोरठामें सीता राम सोते हैं और छन्द ओढ़ते हैं। इसीलिए इसका नाम रामायण है। ऐसे ही वेदके छन्दको ओढ़कर भगवान् सोते हैं।

'**ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव**'—यह जो ब्रह्मसूत्र है, वह उस कपड़ेका बिलकुल ठीक-ठाक विवेक कर देता है कि उसके भीतर कौन सो रहा है। वह साँवरा है कि गोरा है, कि निराकार है कि साकार है। ये सभी ब्रह्मसूचक पद हैं। ऐसा नहीं है कि केवल प्रतिज्ञामात्रसे कह दिया जाये कि हम कहते हैं, इसलिए मानना पड़ेगा। ब्रह्मसूत्र वैसा ग्रन्थ नहीं है। उसमें '**हेतुमद्भिः**'—एक-एक बात सिद्ध की हुई है। ब्रह्म जन्मवाला नहीं है, स्थितिवाला नहीं हैं, प्रलयवाला नहीं है, इदन्तावाला नहीं

है क्योंकि *'जन्माद्यस्य यतः—अस्य यतः जन्मादि'*—इसीसे तो इदंका जन्म हुआ है, इसीसे उसकी स्थिति होती है, इसीमें उसका प्रलय होता है और उसीसे इदंकी सिद्धि होती है। इसलिए ब्रह्म इदं नहीं, अनिदम् है।

अब बोले कि भाई, वह ज्ञान-स्वरूप है कि सत्तामात्र ही है? बोले कि *'शास्त्रयोनित्वात्'*—शास्त्रयोनि होनेके कारण जितना ज्ञान दुनियामें निकला है सब उसीसे निकला है; इसलिए वह ज्ञान-स्वरूप है। *'जन्माद्यस्य यतः'* से ब्रह्मकी सन्मात्रता सिद्ध होती है और 'शास्त्रयोनित्वात्' से उसकी चिन्मात्रता सिद्ध होती है।

आह च तन्मात्रम्; कृत्स्नस्तु प्रज्ञानघन एव।

अब देखो **'विनिश्चितैः'**—इसमें दुविधा नहीं कि इधर या उधर; यह बिलकुल विनिश्चित है। बोलना हो तो थोड़ेमें, निश्चय करके बोलो, कि यह बिलकुल पक्की बात हम कह रहे हैं।

अब भगवान् बोले कि आओ, पहले क्षेत्रका ही स्वरूप बताते हैं। तुम क्षेत्रके स्वरूपपर जरा नजर डालो। इस साढ़े तीन हाथके शरीरका नाम क्षेत्र है—यह तो कल्पना ही छोड़ दो। इसकी तो कोई गिनती ही नहीं है शास्त्रमें।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ (५)

यहाँ महाभूत शब्दका अर्थ स्थूल आदि पंचमहाभूत नहीं हैं, सूक्ष्म महाभूत हैं। उसके बाद अहंकार है, राजस-तामस-वैकारिकके भेद हैं। उससे परे बुद्धि है। बुद्धि माने महतत्व। उससे परे अध्यस्त है-कारण शरीर, माया, प्रकृति, अज्ञान, अविद्या है। अध्यस्त माने अविद्या—प्रधान। अब देखो, महाभूतसे शुरू किया और कारण अव्यक्त तक चले गये—*'कारणशरीरमविद्या'* महत्तत्त्वाकार परिणामके पूर्व जो अविद्यामात्र है, उसको बोलते हैं अव्यक्त।

'इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः' महाभूतके बाद दश इन्द्रियाँ हैं, एक मन है और पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं। अब जो अन्तःकरणमें रहते हैं, उनको बताते हुए कहते हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ (६)

इच्छा-द्वेष, राग-द्वेष, सुख-दुःख और इनके संघात माने वह, जो सब जोड़कर प्रपंच बनता है। इसमें जो चेतना रहती है वह और इसमें जो धृति है वह। **'एतत्क्षेत्रं समासेन'** संक्षेपमें क्षेत्रका यही स्वरूप है।

भगवान् बोले कि मैंने थोड़ेमें तुमको क्षेत्रका स्वरूप बताया। क्षेत्र और क्षेत्रके विकार दोनों होते हैं।

कोई-कोई सज्जन कहते हैं कि '**महाभूतान्यहंकार:**' से '**पञ्च चेन्द्रियगोचरा:**' पर्यन्त तो क्षेत्र है और '**इच्छा द्वेषं सुखं दु:खं संघातश्चेतना धृति:**' इसका नाम विकार है। सविकार क्षेत्र माने एक तो क्षेत्र और दूसरा विकार। जब आदमी ज्ञानी हो जाता है तब क्षेत्र तो रहता है, पर विकार नहीं रहते हैं।

अब थोड़ा अक्लमन्द आदमी भी सोचे कि ज्ञान हो जानेपर संघात रहेगा कि नहीं? ज्ञान होना माने मर जाना? यह तो जो तत्त्वज्ञानके विरोधी लोग हैं, उन्होंने स्टंट रचा है कि किसीको शरीर रहते कोई ज्ञानी न माने। ज्ञानी मानेगा तो उसका चेला बन जायेगा और वह भी ज्ञानी हो जायेगा। इसलिए कुछ स्टंट फैलाओ कि जिन्दा आदमीको कोई ज्ञानी न माने। यह तो वोट बिगाड़नेका काम है। अच्छा, दुर्जन-सन्तोष न्यायसे हम मान भी लें कि विकार है, तो क्षेत्रमें विकार होना क्षेत्रका स्वभाव है कि आगन्तुक है? आगन्तुक नहीं है; बिलकुल स्वभाव है क्षेत्रका। इसलिए जबतक क्षेत्र रहेगा, तबतक उसमें रोटी खानेकी इच्छा होगी। वह देखेगा कि साँप फन फुफकारता आ रहा है काटनेके लिए, तो उसे उससे द्वेष भी होगा; गंगामें स्नान करेगा तो सुख भी होगा और जिस दिन सिंहासनपर बैठना पड़ जायेगा, उस दिन बड़ा दु:ख होगा कि हाय रे, आज कैसे मन्द प्रारब्धका उदय हो गया कि सिंहासनपर बैठना पड़ा। उसके लिए सिंहासनपर बैठना मन्द प्रारब्ध ही है। उत्तम प्रारब्धमें वैराग्य होता है और मन्द प्रारब्धमें सिंहासन होता है। प्रारब्धकी दृष्टि यही है।

तो, यह जो '**सविकारमुदाहृतम्**' और '**सुखं दु:खं संघात:**' है, इसमें शरीर तो जिस विकारसे प्रारम्भ हुआ है, उस विकार-समाप्ति-पर्यन्त संघात रहेगा और उसमें होश-हवास भी रहेगा। चेतना, याद होनेपर कहीं कोई बेहोश हो जाता है! और धृति: क्या चलते चलते रुक जायेंगे! हाथको काम करते-करते रोक लेंगे! बोलते-बोलते बोलना बन्द कर देंगे! धारण शक्तिका लोप थोड़े ही हो जायेगा। **धृत्या यया धारयते मन:-प्राणेन्द्रिय-क्रिया:**। इसलिए स्वाभाविक विकार सहित स्वभावरूप क्षेत्र है और यह प्रकृतिसे लेकर संघात-पर्यन्त है।

अब, यह तो उसकी अकलमन्दीकी बात है जो अपनेको उस क्षेत्रसे सम्बद्ध मानता हो। उड़िया बाबाजी महाराजने पहले ही बताया था कि बेटा, तुम साढ़े तीन हाथके शरीर नहीं हो। तब मिट्टी हो? कि नहीं, तुम मिट्टी भी नहीं, पानी भी नहीं, आग भी नहीं। तुम अगर अपनेको क्षेत्रसे सम्बद्ध करना चाहते हो तो पहले

आकाशसे सम्बद्ध कर लो। ऐसा सोचो कि आकाश ही मैं हूँ। मैं हूँ चेतन और आकाश है विशाल। तुम आकाशकी विशालता अपनेमें आरोपित कर लो और अपनी चेतनता आकाशमें आरोपित कर दो। यह अभ्यास साढ़े तीन हाथके शरीरमें जो अध्यास है, उसका निवर्तक साधन है। है अध्यास परन्तु साधक है।

महात्माका शरीर साढ़े तीन हाथवाला नहीं है, समग्र आकाश ही उसका शरीर है। वास्तवमें तो उसका कोई शरीर ही नहीं है। चित्त और चित्ती-चित्तवाला दोनों नहीं है। यही महात्माका स्वरूप है।

अब देखो, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, दो चीजें बतानेकी प्रतिज्ञा की थी और '**इदं शरीरम्**' और '**एतद् यो वेत्ति**'—कहकर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका सामान्य वर्णन कर दिया था। उसके बाद '**महाभूतान्यहंकारः**'—इसमें क्षेत्रका विशेष वर्णन सुनिये। परन्तु श्रेत्रका ज्ञान तो विज्ञानकी रीतिसे ही हो सकता है। '*यत् इदं तत् अहं न भवामि*'—जो 'यह' है, वह मैं नहीं होता! परन्तु क्षेत्रज्ञका ज्ञान अशुद्ध अन्तःकरणमें नहीं होता है। क्षेत्रका ज्ञान अशुद्धान्तःकरणमें तो हो जायेगा, परन्तु क्षेत्रज्ञका ज्ञान अशुद्धान्तःकरणमें नहीं होगा। इसलिए क्षेत्रज्ञका वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है और वही क्षेत्रज्ञ है।

अब उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए साधन चाहिए; तो उसके लिए भगवान्ने बीस साधन बताये हैं—

अमानित्वमदम्भितत्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ (७)

हमारे एक मित्र थे। घरके लोग तो उन्हें पागल ही समझते थे; लेकिन वे घरवालोंसे कुछे और नहीं, केवल कागज, कलम, स्याही—ये तीन चीजें लेते थे और अपनी खाटपर बैठे रहकर कुछ-न-कुछ लिखा करते थे। उन्होंने एकसे लेकर दस हजार तककी गिनतीके अर्थ लिखे थे—जैसे एक माने परमेश्वर, दो माने एक परमेश्वर और एक माया। तीन माने त्रिभुवन, चार माने चार प्रकारका अन्तःकरण। पाँच माने पाँच प्रकारके प्राण। ऐसे उन्होंने सारी गिनतीके अर्थ लिखे थे। महाभारतमें भी एक गिनतियोंका अध्याय आता है कि इतने ये हैं, इतने ये हैं। लेकिन हमारे मित्रने जो अर्थ लिखे थे, वे स्वतन्त्र रूपसे हिन्दीकी गिनतियोंके ही लिखे थे, जैसे देखो, पनरह (पन्द्रह) माने अपने प्राणकी रक्षा करो, सोरह माने वही रहेगा जो अपने प्राणकी रक्षा करेगा—वही रहेगा। सतरह माने सत्य होकर रहो और अट्ठारह माने यहीं रह!

अब यहाँ तो देखो, बीस साधन हैं। इन साधनोंको समझनेके लिये समझदारी चाहिए। यह नहीं कि अमानित्वका माने हाथ जोड़कर फिरते हैं—इतना समझ लें।

हाथ जोड़नेका नाम अमानिता नहीं होता; उसमें तो अपने अच्छेपनका अभिमान हो जाता है कि मैं कितना अच्छा हूँ जो सबको हाथ जोड़ता रहता हूँ। इसलिए पहले समझो कि 'मान' क्या है। शरीरकी लम्बाई-चौड़ाई, उम्र और वजन इन तीनोंका जो समाहार है, उसका नाम होता है मान। जिससे शरीरको नाप लें—दो सेर, पाँच सेर वह वस्तु मान है। एक गज, दो गज—यह देश-मान है और एक बरस, दो बरस—यह काल-मान है। इस मानको जो अपनेमें आरोपित करता है कि मेरा इतना वजन है, इतनी उम्र है, इतनी लम्बाई-चौड़ाई है, उसे बोलते हैं मानी। मानीके भावको कहते हैं मानित्व—*'मानिनो भावः मानित्वम्'*। अज्ञान क्या है? मानित्व है। इसके निवारणका साधन क्या है? अमानित्व है। मानित्वका तिरस्कार कर दो। अपनेको इतने दिन जीनेवाला, इतना लम्बा-चौड़ा और इतने वजनवाला देहधारी मत मानो!

लेकिन आप अमानित्वका यह अर्थ न समझ लें कि अमानीके भावको अमानित्व कहते हैं। ऐसा अर्थ करेंगे तो हमारे कहनेका सारा मतलब ही खो जायेगा और इतनी देर तक मैंने जो मेहनत की, वह चौपट हो जायेगी। अमानीका भाव जिसमें रहे उसका नाम अमानित्व नहीं, वरन् मानित्वका भाव जिसमें न रहे वह अमानित्व है—*'अमानो अस्यातीति अमानी तस्य भावः अमानित्वम्'*।

इसी तरहसे **अदम्भित्व** है। दम्भ माने पूजाके लिए, ख्यातिके लिए, जो सद्‌गुण अपने अन्दर नहीं हैं—उन्हें प्रकट करना, दिखाना। ये जितने ज्ञानचोर हैं न, जो अपने गुरुका नाम नहीं लेते, स्वतः सिद्ध ही घूमते हैं और कहते हैं कि हम तो जन्मसे ही सिद्ध हैं, हमें कोई गुरु नहीं मिला है-ये सब दम्भी हैं। वे कभी-कभी हिप्रोटाईज होकर भी ऐसा कहते हैं। उनके जो भी विचार होते हैं, उन्हींकी मन-बुद्धिकी उपज होते हैं या सुने-सुनाये, उधार लिये हुए होते हैं; लेकिन वे अपनेको विचारवान् मान बैठते हैं। इस तरहके लोग असलमें अनजान हैं, दम्भ करते हैं। उन बेचारोंको तो माफ ही कर देना चाहिए। लेकिन जो लोग जान-बूझकर दम्भ करते हैं, उनकी रक्षा तो भगवान् ही कर सकते हैं!

'अहिंसा'—मनसे, वाणीसे, शरीरसे किसीको दुःख न हो। और अगर तुम्हें कोई दुःख पहुँचा दे, तो? **शान्तिः**—क्षमा कर दो। **आर्जवम्** अर्थात् सरल भावसे रहना चाहिए।

'आचार्योपासनम्'—इसपर ज्ञानेश्वरने दस पन्ने लिखे हैं और इतने भावपूर्ण लिखे हैं कि पढ़कर मनुष्य गद्गद हो जाता है! आँखोंसे आँसू गिरने लगते हैं। आचार्यकी उपासना क्या है? असलमें *'दम्भं महदुपासनात्'* जो आदमी बड़ेके साथ नहीं रहेगा, उसका दम्भ नहीं छूटेगा। वह अपने छोटोंके बीचमें क्यों रहता

है ? इसीलिए, कि उनसे बड़ा बनकर रहे। वह अपनेसे बड़ेके सामने रहेगा तो सिर झुकाना पड़ेगा, नीचे बैठना पड़ेगा और उसका दिल कैसे छिपा रहेगा उसके सामने ? इसलिए आचार्यकी उपासना करनेसे होता क्या है, यह देखो! आचार्य लोग चन्दन कैसा लगाते हैं, बाल कैसे बनाते हैं—इस सबका अनुकरण उनके अनुयायी करते हैं। हम ऐसे लोगोंको जानते हैं जो यह कहते हैं कि हमारे गुरुजी ऐसे बाल रखते थे, इसलिए हम भी ऐसे ही रखेंगे; ऐसा चन्दन लगाते थे तो हम भी वैसा ही लगायेंगे। लेकिन उनसे यही नहीं सीखा जाता कि उनके गुरुजीके बोधमें कितना स्वातन्त्र्य है कि वे न कर्म-पशु हैं, न देव-पशु हैं, न इन्द्रिय-पशु हैं और न ईश्वर-पशु हैं। वे तो सर्वविध पशुत्वसे मुक्त हो गये हैं, पशुपापविनिर्मुक्त हो गये हैं। ये सब बातें गुरुके पास रहनेसे मालूम पड़ती हैं। हम गुरुके पास न रहनेवालोंको जानते हैं; वे पापमुक्त नहीं हो सकते। उनके जीवनमें सर्वविध स्वातन्त्र्य तो आ ही नहीं सकता। वे बेचारे दोनों मुट्ठियाँ दबाकर और अपना कलेजा थामकर बैठे रहेंगे कि अरे, कहीं हमारे शरीरमें यह न आजाये, हमारे मनमें वह न आ जाये। अरे बाबा, तुम्हारे जैसे कितने आये और कितने गये! निगुरा लोगोंको बोध नहीं हो सकता है। इसलिए आचार्यके पास रहकर उसका आचार ही नहीं सीखना चाहिए, उसकी स्वच्छन्दता सीखनी चाहिए। जिसे दुनियाँ गलती कहती है—अगर वैसी कोई गलती जीवनमें आगयी तो जो गुरुके पास नहीं रहेगा, वह कैसे सीखेगा कि उस गलतीको एक नजरसे किस प्रकार भस्म कर दें ? नहीं सीखा जा सकता वैसे ?

'शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः'—आचार्योपासनाके साथ-साथ पवित्रताके नियमका पालन करना, स्थिरता, तथा अपने इन्द्रिय, शरीर और मनको काबूमें रखना साधकके लिए अनिवार्य है।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ (८)

इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य और अहंकारका परित्याग होना चाहिए। जन्म, मृत्यु, व्याधि, दुःख, दोषानुदर्शन—ये सब दोष हैं। जबतक जीओगे, जन्म-मरणका चक्कर दिखायी पड़ेगा। तुम कहीं सुनकर आये कि महात्माको तो रोग ही नहीं होता; इसलिए जिसको रोग होगा, उसे महात्मा नहीं मानोगे न! अरे अभीतक तुम्हारे गुरुजीको रोग नहीं हुआ है, किन्तु बुढ़ापेमें हो जायेगा तो कह देना कि वे ज्ञानी नहीं हैं!

'दुःखदोषानुदर्शनम्'—यह अनुदर्शन आता ही ऐसे है, बिना देखे नहीं आता है। जन्म, मृत्यु, ज़रा, व्याधि दुःख—ये सब हैं दोष, और ये दुनियामें सब जगह

लगे हुए हैं। ऐसा कोई नहीं है माईका लाल, जो दुनियामें पैदा हो और इन दोषोंसे बच जाये! इसलिए जो पैदा नहीं हुआ है, वह अपना स्वरूप है—इसको देखो।

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ (९)

'**असक्तिः—पुत्रदारगृहादिषु असक्तिः**'—पुत्रके साथ,स्त्रीके साथ, गृहादिके साथ आसक्ति न हो और साथ-ही-साथ '**अभिष्वंगः**'—पक्षपात भी न हो। न उनके साथ आसक्ति हो, न उनके साथ पक्षपात हो। *'अभिष्वंगो नाम आसक्ति-विशेष एव अनन्यात्मभावलक्षणः'*। ये सुखी हैं तो हम सुखी हैं, ये दुःखी हैं तो हम दुःखी हैं। अरे हाय हाय, मैं तो मर गया! कैसे मर गया भाई? अभी तो बोल रहे हो तुम कैसे मर गये? कि हमारा मित्र मर गया तो मैं मर गया।

देखो, प्रारब्ध कहाँ रहता है—इसपर भी आपने कभी ध्यान दिया होगा। प्रारब्ध अपने ही अन्तःकरणमें और अपने ही शरीरमें रहता है जैसे कोई मरता है न, तो अपने प्रारब्धसे मरता है और हम रोते हैं तो अपने प्रारब्धसे रोते हैं। हमारे प्रारब्धसे वह मरता नहीं है। मरा वह अलग अपने प्रारब्धसे और रोये हम अलग अपने अन्तःकरणमें, जहाँ अनुकूल-प्रतिकूल भाव हो गया है। प्रतिकूल भाव होनेसे रोये हम; अन्तःकरण हमारे प्रारब्धसे युक्त है। लेकिन महाराज, लोग बोलते हैं कि अपना प्रारब्ध अपने शरीरमें काम करेगा, दूसरेके शरीरमें काम नहीं करेगा और जो दूसरेके शरीरमें काम करेगा वह हमारे शरीरमें काम नहीं करेगा। घर जलता है आग लगनेसे और कोई आग प्रारब्धसे दूसरेके लगावे तो उसे ताप लगता है, लेकिन घर जलनेपर जो दुःख होता है—वह घर दुःख नहीं देता, आग दुःख नहीं देती, वह आग लगानेवाला दुःख नहीं देता। हमारे ही प्रारब्ध हैं कि हम रोने लग जाते हैं। प्रारब्धकी रीति यह है। तो

'**नित्यं च समचित्तत्वम्**'—अरे भाई, कभी इष्ट होगा, कभी अनिष्ट होगा, कभी अपने मनका होगा और कभी अपने मनके खिलाफ होगा। तब क्या करें? कि दोनोंमें चित्तको समान रखो।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्व - मरतिर्जनसंसदि॥ (१०)

भगवान् कहते हैं कि देखो, भक्तिमें एक बात तो यह है कि अन्य योग न हो। किसी दूसरेके साथ भक्ति न हो जाये, वह केवल मेरे साथ ही हो। यहाँ भगवान्ने भक्तिके साथ अव्यभिचारिणी शब्दका प्रयोग किया है। भक्ति व्यभिचारिणी हो जाये तो क्या होगा? चार दिन भैरवकी, चार दिन भूतकी, चार दिन चन्द्रकी और चार

दिन इन्द्रकी! यह शुद्ध भक्ति नहीं है। इसलिए भक्तिमें व्यभिचार नहीं आना चाहिए। उसमें अन्य योग नहीं हो, अन्यसे संयोग नहीं हो—ऐसी भक्ति हो।

'**विविक्तदेशसेवित्वम्**'-इस ज्ञानके लक्षणमें दोनों तरहकी गुञ्जाइश है। एक तो '**विविक्तदेशसेत्विम् अरतिर्जनसंसदि**' और '**अमानित्वम् अदम्भित्वं क्षान्तिः आर्जवम् आचार्योपासनम्**'—ये सब ऐसे मालूम पड़ते हैं कि जैसे संन्यास लेकर ही इस ज्ञानकी साधना की जाती है, परन्तु '**असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहदिषु**'—इससे ऐसा मालूम होता है कि वे सब हैं और उनसे आसक्ति तथा अभिष्वङ्ग नहीं है। कभी-कभी संन्यासियोंको अपने पूर्वाश्रमके सम्बन्धियोंका स्मरण होता है और उनसे आसक्ति होती है; लेकिन वह भी नहीं चाहिए। इसलिए '**विविक्तदेशसेवित्वम्**'—पवित्र एकान्त देशमें रहो और रति जन-संसदमें न हो। पाना चाहते हो ब्रह्मज्ञान और बनना चाहते हो लोकसभाके सदस्य! चुनाव लड़नेके लिए कितना झूठ बोलना पड़ेगा और कितने लोगोंको फँसाना पड़ेगा। इसलिए यह चुनाव नहीं चाहिए।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ (११)

अध्यात्म ज्ञानमें नित्यता होनी चाहिए। कोई कहे कि बाबा, यह तो बड़ा मुश्किल है, हमसे नहीं होता—तो तुमको बुलाता कौन है? अरे तुम्हें हजार बार गर्ज हो, अच्छा लगे तो सब कुछ छोड़कर इस पर आओ।

अध्यात्मज्ञान माने आत्मादि-विषयक जो ज्ञान है, उससे पता चलता है कि देहके भीतर मशीनरी कैसे काम करती है। 'स्वभावोऽध्यात्मविद्या'—अपने स्वभावका नाम अध्यात्म है। तुमने दूसरोंका तो अध्ययन बहुत किया है! हमारी जानकारीमें ऐसे लोग हैं जो हमारी बोलीकी, हमारे हँसनेकी बिलकुल नकल कर लेते हैं! अरे कुत्ता कैसे भूँकता है और बन्दर कैसे बोलता है—लोग तो उसकी भी नकल कर लेते हैं। एकबार मैं धौंस गया था जो मध्यप्रदेशके जंगलोंमें है। वहाँ गाँवके लोग रातको मनोरंजन करनेके लिए आये तो जब कुत्तोंकी तरह बोलने लगे, तो गाँवके कुत्ते भूँकते हुए उधरको आगये और जब गीदड़ोंकी तरह बोलने लगे, तो जंगलके गीदड़ भी बोलने लगे। ऐसे नकल करनेमें समर्थ लोग होते हैं!

तो लोग दूसरोंके बारेमें तो बहुत जान लेते हैं, उनकी नकल भी कर लेते हैं, किन्तु अपने बारेमें बिलकुल ठन-ठन गोपाल होते हैं। मोटर चला तो रहे हैं परन्तु मोटरकी कौन-सी मशीन कैसे काम करती है यह बात मालूम नहीं है। आँख कैसे देखती है, कान कैसे सुनता है, मन कैसे सोचता है—इसका नाम है अध्यात्म। किस

अखण्ड आत्माके अस्तित्वसे सम्पूर्ण इन्द्रियाँ सत्तास्फूर्ति प्राप्त करती हैं; वे कौन-सी रश्मियाँ हैं जिनके पड़नेपर तवा गर्म हो जाता है और रोटी सिंक जाती है—इसकी जानकारीका नाम है अध्यात्मज्ञान।

'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'—तत्त्वज्ञानका प्रयोजन क्या है? बोले कि तत्त्वज्ञानका प्रयोजन कुछ नहीं है। इसका अर्थ लिखा तो है, परन्तु *'तत्त्वज्ञानमेव अर्थः तस्य दर्शनम्'*—तत्त्वज्ञान ही जीवनका प्रयोजन है।

देखो, हमें सुख मिले—यह बहुत लोग चाहते हैं। हमें भगवान्‌का दर्शन हो—बहुत लोग चाहते हैं। लेकिन अँधेरेमें कबतक भटकते रहोगे? क्या तुम्हें अँधेरेमें ही सुख चाहिए? यहाँ साधु लोग, गृहस्थ लोग जंगलोंमें रहते हैं, उन्हें शायद मालूम होगा कि बम्बईमें ऐसे-ऐसे क्लब बने हुए हैं, जिनका नाम ही होता है नाइट-क्लब माने अन्धकार-क्लब। उसमें दिनमें भी अन्धेरा करके रहते हैं और रातमें अँधेरा कर लें तो कोई आश्चर्य ही नहीं। वहाँ जाकर लोग घंटे-दो-घंटे नंगे होकर रहते हैं। इस प्रकार जो परमात्माके ज्ञानके बिना अपना जीवन व्यतीत कर रहा है, वह असलमें अन्धकारमें अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। और इस अन्धकारसे अगर उसे छुटकरा पाना नहीं है तो उसका मानव-जीवन व्यर्थ ही है! सबसे बढ़िया बात यह है कि हमारे जीवनमें तत्त्वज्ञानका प्रकाश होनेपर हम उसमें खायेंगे, कि प्रकाश होनेपर उसमें पढ़ेंगे या कि प्रकाश होनेपर उसमें चलेंगे। हमें तो वह प्रकाश ही चाहिए। हम अज्ञानका जीवन व्यतीत करना नहीं चाहते हैं। हमें अज्ञानी जीवन नहीं चाहिए—बस, इतना ही प्रयोजन है।

'एतज्ज्ञानं प्रोक्तम्'—इसीका नाम है ज्ञान। ज्ञान माने ज्ञानका साधन—*'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्',* यहाँ ज्ञान शब्द करण अर्थमें हैं। यह ज्ञानका साधन है। और **'अज्ञानं यदतोऽन्यथा'**—जो इसके विपरीत है, वह क्या है? उसका नाम अज्ञान है। *'यत् असत् ज्ञानम् अन्यथा तत् अज्ञानम्'*—जब आप मानी बनते हैं, हिंसक बनते हैं तब आपके जीवनका क्या कोई प्रयोजन होता है? इसलिए आप ज्ञानी बनिये।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ (१२)

अब अज्ञानका वर्णन हो गया, और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका वर्णन हो गया। इसके बाद ज्ञान-ज्ञेयका वर्णन करते हैं।

असलमें प्रमाण और प्रमेयकी रीति निराली है। हमें यह कहनेमें कोई संकोच नहीं है कि जो लोग धर्म और धर्मका फल चाहते हैं, जो लोग उपासना और उससे अपने इष्टदेवका साक्षात्कार चाहते हैं और जो लोग योगाभ्यास करके उससे सम्प्रज्ञात-

असम्प्रज्ञात समाधि चाहते हैं या द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान चाहते हैं, उन लोगोंका मार्ग जुदा है। प्रमाण-प्रमेयका जो मार्ग है, वह साध्य-साधनका मार्ग नहीं है। तत्त्वज्ञान साधन नहीं है। यह तो प्रकाश है। इससे जो वस्तु मिलती है वह साध्य नहीं है, वह तो सिद्ध है और पहलेसे मौजूद है। केवल अज्ञानावरणका नाश होता है, क्योंकि साध्य वस्तु नाशवान् होती है और साधन कर्तृत्वपूर्वक होता है। साधन कर्तृतन्त्र है, कर्ताके अधीन है। करें, न करें, छोड़ दें, बदल दें, राम-राम करें, न करें और राम-रामकी जगह शाम-शाम करने लग जायें—यह करनेवालेके अधिकारमें है। *'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्'*—इसका सामर्थ्य कर्तामें होता है। उसका नाम साधन होता है जिसे आप छोड़ सकते हैं। उस साधनसे जो मिलता है, वह उत्पाद्य होता है और वह क्योंकि साधनसे उत्पन्न होता है, इसलिए अनित्य होता है— *'यज्जन्यं तद् अनित्यम्'*। साधनसे जो भी फल पैदा होता है, वह अनित्य होता है। धर्मसे स्वर्ग मिलेगा, वहाँसे आना पड़ेगा। उपासनासे इष्टदेव मिलेगा—बड़ी कृपा करके, लेकिन जब उसका मन अवतार लेनेका होगा, तब कहेगा कि चलो, वानर बनो, भालू बनो—और आपको ले आयेंगे अपने साथ इस धराधामपर। योगाभ्यासमें समाधि लगेगी। जबतक अभ्यासका वेग बना रहेगा तबतक आप समाधिमें रहेंगे; अभ्यासका वेग शिथिल होते ही आपका व्युत्थान हो जायेगा। किन्तु तत्त्वज्ञान न तो कर्ताके अधीन साधन है और न इसका फल उत्पाद्य-साध्य है। तब फिर क्या वेदान्त-मतमें साधन बिलकुल व्यर्थ है? नहीं, व्यर्थ नहीं है। व्यर्थ क्यों नहीं है? इसलिए कि अन्त:करणमें जो दोष हैं उनका निवारण करनेके लिए साधन है। धर्मानुष्ठान करोगे तो मल दूर होगा; उपासना-अनुष्ठान करोगे तो मनोराज्य दूर होगा। परन्तु अज्ञानका जो आवरण है, वह केवल तत्त्वज्ञानसे ही भंग होगा।

मल विक्षेप जाके नहीं, किंतु एक अज्ञान।
होय साधन सहित नर सो अविकृत मतिमान॥

अब हम जो वर्णन करने जा रहे हैं, वह साध्य-साधनकी बात नहीं है। वह न साधन है, न साध्य है। यदि कहो कि ब्रह्म होना साध्य नहीं है? तो उत्तर है कि नहीं। क्योंकि अभी आपने वेदान्तका ककहरा भी नहीं सीखा; होड़ाचक्र भी नहीं पढ़ा। वेदान्तकी लघुकौमुदी होती है, वेदान्तका तर्कसंग्रह होता है, वेदान्तकी मीमांसा-परिभाषा होती है। वह सब आपने अभी नहीं पढ़ा। तब आपको वेदान्तका ज्ञान कैसे होगा? जहाँ साधन, साध्य और साध्य-फलसे वैराग्य होता है और साध्य कारणसे वैराग्य होता है, वहाँ जो अकार्य अकारण वस्तुका स्वरूप है, उसे बोलते हैं—'ज्ञेय'।

भगवान् कहते हैं कि जो ज्ञेय है, अब मैं उसका प्रवचन करता हूँ—'**प्रवक्ष्यामि**'। '*वक्ष्यामि*'के पहले '*प्र*' लग गया न, तो '**प्रवक्ष्यामि**' हो गया और अर्थ हो गया '*प्रवचनं करिष्यामि*'। अच्छा, ज्ञेय क्या है? यह मत समझना कि ज्ञेय साध्य होता है। नहीं, ज्ञेय पहलेसे मौजूद होता है और जाना जाता है तथा साध्य पहलेसे मौजूद नहीं होता, साधनसे पैदा किया जाता है। यह दोनोंमें अन्तर है।

अपने मनसे किताबें पढ़नेवाले लोग वेदान्तका मतलब नहीं समझते। '**यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते**'—अरे, इसे ज्ञान मात्रसे ही अमृतत्वमें व्याप्ति हो जाती है माने हम अमृतस्वरूप हो जाते हैं। '**अमृतमश्नुते**'का अर्थ है '*अमृतो भवति*'! '*अमृतम् अश्नति*' नहीं, पीनेका जो अमृत मिलता है प्याले-का-प्याला वह नहीं है यह। यहाँ '*अश्नाति*' नहीं, '**अश्नुते**' है—'*अमृतं भवति इत्यर्थः*'। अमृत ही हो जाता है।

अच्छा बाबा, बोलो न, कि वह ज्ञेय क्या है? तो सुनो—'**अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते**'। बोले कि '*यत् आदि मत् भवति तद् ब्रह्म न भवति*'। '*अनादि मत्* 'को एक पद मत करो। ऐसे नहीं कि न *आदिर्यस्य तत् अनादिमत् ब्रह्म*। यह जगत् कैसा है? बोले कि आदिमत् है, आदि-अन्तवाला है। इसलिए **आद्यन्तवत् कौन्तेय न तेषु रमते बुधः**।

घट प्रत्यक्ष प्रमाणसे आदिमान् है और अन्तवान् भी है। पृथिवी अनुमान-प्रमाणसे आद्यन्तवती है, आकाश शास्त्र-प्रमाणसे आद्यन्तवान् है और प्रकृति साक्षात् अपरोक्ष अनुभवसे नितान्त मिथ्या है। वह अनुभवसे मिथ्या है, ब्रह्मानुभूतिसे मिथ्या है और उसमें प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार बना रहेगा तो प्रकृतिका बाध नहीं होगा। प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार ही तो प्रकृति है! प्रमाण-प्रमेयके व्यवहारसे प्रकृतिका बाध नहीं होता, स्वानुभूतिसे प्रकृतिका बाध होता है। शब्द-प्रमाणसे आकाशका बाध होता है, अनुमान-प्रमाणसे पृथ्वीका बाध हो जाता है और प्रत्यक्ष प्रमाणसे घटका बाध हो जाता है। इसलिए ***यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते अनादि मत्***। आदिमत् माने जितनी आदिवाली वस्तुएँ हैं—जिनका आदि है और अन्त है, वे ज्ञेय नहीं हैं; वे तो उत्पाद्य हैं, विनाश्य हैं, आद्य हैं और संस्कार्य हैं; सिद्ध नहीं हैं। वह कौन है बाबा? कि उसे हम परमब्रह्म बोलते हैं। बोले कि ब्रह्म कहकर ही काम चला लो। कि नहीं, उसमें भी परात्पर ब्रह्म-भेदसे दो प्रकारके ब्रह्मका वर्णन आता है। जो कारण ब्रह्म है, सगुण ब्रह्म है—वह अपर ब्रह्म है। हम तो पर-ब्रह्मका वर्णन करते हैं। सगुण ब्रह्मसे व्यवच्छेद करनेके लिए ब्रह्मका विशेषण है परम्।

अच्छा, तो वह सत् है कि असत्? बोले कि व्यवहारमें जिसे तुम सत्-असत् सुनते हो, उस प्रवृत्तिका उसमें कोई निमित्त नहीं है। 'अस्ति' प्रत्ययके विषयको

व्यवहारमें 'सत्' बोलते हैं। और 'नास्ति' प्रत्ययके विषयको व्यवहारमें 'असत्' बोलते हैं। '*अस्तीति सत्, नास्तीति असत्*। लेकिन महाराज, जैसे भज् है न, *भक्तः* इसको 'है' बोलते हैं क्योंकि यह '*अस्ति-प्रत्यय*'का विषय है। '*घटाभावः अस्ति*'— ऐसा बोलते हैं। इसलिए सत्तानुगति तो सर्वत्र है। घटकालमें जो वहाँ घटाभाव था वह घटके उड़नेसे नहीं उड़ा। और फिर घटको लाकर रख दो तो वहाँ जो उसका अभाव था, वह क्या उड़ गया? तो घटोक्ति, घटाभावोक्ति दोनोंमें जो सत्ता है, वह विश्व है। इसलिए घट-घटाभाव विलक्षण सत्ता है। द्रव्य, गुण, कर्ममें समवाय-सम्बन्धेन, समवायमें स्वरूप-सम्बधेन सत्ता है। और आगे? द्रव्य, कर्म, गुणमें सामान्य और विशेष समवाय तो आ ही गया। विशेष और अभावमें समवाय-घटित सम्बन्धसे सत् है। संयोगित्वेन ही सब कुछ सत् होता है। इसलिए सह सत् अभावको भी सत् बनाता है और अभावके प्रतियोगीको भी सत् बनाता है। वह घट और घटाभाव दोनोंसे विलक्षण है।

'**न सत्तन्नासदुच्यते**'—तब उसको सत् कहें कि असत् कहें? बोले कि हम सत्-असत्का वारण नहीं करते हैं। अरे, तुम्हारा मन हो तो सत् कह लो, मन हो तो असत् कह लो! श्रुतिमें तो दोनों शब्दोंका प्रयोग ब्रह्मके लिए है—'*सदेव सोम्य इदम् अग्रे आसीत्*। हमारा सत्-असत्पर आग्रह नहीं है, परन्तु '**न सदुच्यते**' इसपर आग्रह है। यहाँ '**उच्यते**' रूप जो क्रियापद है, इसके निषेधके लिए नकार है, सत्-असत्के निषेधके लिए नहीं है। '*तत् सत् न उच्यते, तत् असत् न उच्यते, सदसत् न उच्यते*'। बोलो मत! बोलकर मत बताओ। वह मौनका साक्षी है, मौनका अधिष्ठान है; वहींपर परमात्मा है। क्या अज्ञान सत्से परिच्छिन्न होकर दूषित नहीं हो गया? बोले कि नहीं।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ (१३)

सब पाणिपादमें वही पाणिपादको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला है। सब आँख-सिर-मुखमें वही आँख-सिर-मुखको स्फूर्ति देनेवाला है। सब श्रवणमें वही श्रवणको सत्ता-स्फूर्ति देता है। और उसका आवरक कोई नहीं है, उसको ढकनेवाला कोई नहीं है, उसका आवरण कोई नहीं है। अरे, वही सबको ढके हुए है। '**सर्वमावृत्य तिष्ठति**' ब्रह्मसे सब आच्छादित है। '**ईशावास्यमिदं सर्वम्**'का यही अर्थ है। सबके भीतर ऐसा अपरिच्छिन्नपूर्ण पदार्थ बैठा हुआ है कि सर्वका सर्वत्व ही बाधित है।

सर्वेन्द्रिय-गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ (१४)

सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके गुण उसी-से आभासित हो रहे हैं, उसीमें उनका अध्यारोप हो रहा है और '**सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्**' उसमें कोई इन्द्रिय नहीं है।

'**असक्तम्**' वह किसीके साथ चिपकता नहीं है। '**सर्वभृच्चैव**' सबका अधिष्ठान है। '**निर्गुणं गुणभोक्तृ च**' उसमें कोई बन्धन नहीं है, उसमें सत्त्व, रज, तम नहीं है। अनन्त कल्याण गुणगण भी नहीं है। ऐसा है वह निर्गुण। वह, *'गुणेभ्यो निष्क्रान्तं निर्गुणम्'* है। कोई गुण नहीं है उसमें। तब ये गुण किसको मालूम पड़ते है? *'गुणभोक्तृ च। भोक्तृत्वं नाम? उपलब्धृत्वम्'* माने सम्पूर्ण गुणोंकी उपलब्धि उसे हो रही है।

अच्छा महाराज, अब बाहर-भीतरकी कुछ बात तो बताओ। भीतर होगा तो आँख बन्द करके देखेंगे और बाहर होगा तो खुली आँखसे देखेंगे। लेकिन भाई, देह और आँखमें-से तो अहंता-ममता हटती नहीं है। इसीसे लोगोंको ब्रह्म देखनेका बड़ा भारी शौक चर्राता है कि हम तो देखकर ही रहेंगे। अरे, कैसे देखोगे? लेकिन यह चामकी खुर्दबीन ब्रह्मको देखनेके लिए नहीं है। वह न बाहर है, न भीतर है। हमने बचपनमें 'सुन्दर-विलास' नामक ग्रन्थ पढ़ा था। उसमें कुछ ऐसा लिखा था—*'वह एक कि दोय? न एक न दोय। यहाँ कि वहाँ? न यहाँ, न वहाँ'*। न वह एक है, न दो है। न यहाँ है और न वहाँ है। वह बाहर-भीतर एक रस है।

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे।
अन्तः पूर्णो बहिष्पूर्णः पूर्णकुम्भ इवाम्बरे॥

बाहर शून्य भीतर शून्य, शून्य आकाश नहीं देखो, बाहर पूर्ण, भीतर पूर्ण!

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ (१५)

महाराज, आपने बड़े जोरसे तो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विवेक किया और अब यह बोलते हो कि '**अचरं चरमेव च**' बाहर-भीतर वही है। बोले कि हाँ, चर उपाधि भी वही है और अचर अथवा अचल उपाधि भी वही है। पाषाण, पर्वत आदि अचल उपाधि हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चल उपाधि हैं। इन सबमें वह परमात्मा ही है। यह जो चराचरका विभाग है, ऐन्द्रियक है। वह इतना सूक्ष्म है कि जाना नहीं जाता है। अच्छा, दूर है कि पास है? बोले—'**दूरस्थं चान्तिके च तत्**'—अज्ञानियोंके लिए बहुत दूर है और ज्ञानियोंके लिए बिलकुल निकट है।

ये जो मिट्टी, पानी, हवा आदि अलग-अलग मालूम पड़ते हैं, असलमें अलग-अलग नहीं हैं। हम लोग अलग-अलग साँस ले रहे हैं, सबकी धौंकनी

अलग-अलग चल रही है, लेकिन हवा एक ही है। इसी तरह सबके शरीरमें गर्मी एक ही है। पानी एक ही है। माटी एक ही है। आकाश एक ही है। माफ करना, मन भी सबका एक ही है। श्रद्धालु लोग मानते हैं कि हमारे मनमें तो ऐसा-ऐसा है और उनके मनमें ऐसा-ऐसा है, असलमें मन स्तर भी एक ही है। अन्तर है तो इतना ही कि उस मनको एक अपना मानकर रो रहा है, हँस रहा है और एक उसको बिल्कुल मिथ्या मानकर न रो रहा है, न हँस रहा है। वह जो मिथ्यात्वका ज्ञान है वह बिल्कुल एक ही है। तो—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ (१६)

परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंमें अविभक्त हैं, किन्तु विभक्तके समान स्थित है। यही भूत-भर्ता है—पालन-पोषण-कर्ता है, सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला है और **ग्रसिष्णु** है माने सबको अपने-आपमें ग्रस लेता है। यही **प्रभविष्णु** है अर्थात् अपने-आपमें-से अलग कर देता है। जैसे मकड़ी जालेको उगलती रहती है, निगलती रहती है; उसमें खेलती है—वैसे ही यह प्रभविष्णु परमात्मा करता है। सच पूछो तो यह ज्ञानस्वरूप रज्जु-रज्जु नहीं, रज्जूपहित चैतन्य है। सर्पका अधिष्ठान रज्जु नहीं है, सर्पका अधिष्ठान तो रज्जूपहित चैतन्य है—इसको वेदान्तका विद्यार्थी जानता ही है। रज्जूपहित चैतन्य साँपको उगल देता है, साँपको अपनेमें रख लेता है और साँपको निगल लेता है। असलमें जो अन्त:करणोपहित चैतन्य है, वही रज्जूपहित चैतन्य है, दूसरा नहीं है।

अच्छा, आप चाहे खुली आँखसे देखो, चाहे बन्द आँखसे देखो, आपके सामनेवाला आदमी आपको मालूम पड़ रहा है। दोमें-से तीसरी जगह तो हो नहीं सकती न! चाहे आप खुली आँखसे हों, चाहे बन्द आँखसे हों, आपको सामनेवाला आदमी मालूम पड़ रहा है! कहाँ मालूम पड़ रहा है? आपके अन्त:-करणकी एक वृत्ति ही तो तदाकार होकर मालूम पड़ रही है! खुली आँखसे भी मालूम पड़ता है अन्त:करणमें।। अच्छा, जो आपके अन्त:करणमें अखण्डानन्द मालूम पड़ रहे हैं, क्या उनमें कोई दूसरा चेतन है? क्या वह पूर्वजन्मसे आया है? क्या वह उत्तर जन्ममें जायेगा? अरे, जो आपके अन्त:करणसे अवच्छिन्न चैतन्य है, वही आपके अन्त:करणमें अखण्डानन्दाकार भास रहा है और तदवच्छिन्न चैतन्य भी वही है। इसीको बोलते हैं, कि जबतक अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता वृत्ति-प्रणालिकाके द्वारा विषयावच्छिन्न चैतन्यसे एक नहीं होता, तबतक विषयका ज्ञान नहीं होता। जबतक आपके अन्त:करणसे अवच्छिन्न चैतन्य और आपके अन्त:करणमें भासमान

अखण्डानन्दका चैतन्य एक नहीं होगा, तबतक आपको अखण्डानन्द मालूम ही नहीं पड़ेंगे।

एक बार स्वामी मंगलनाथजी महाराजसे किसी बातको लेकर एक विद्वान् महात्माने कहा कि नाथजी, तुम प्रपञ्ची हो गये हो! नाथजी हँस पड़े और बोले कि भाई, जबतक तुम्हारा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रपञ्ची चैतन्यावच्छिन्नसे एक नहीं होगा, तबतक तुम्हें प्रपञ्चीका ज्ञान ही कैसे होगा? अरे हम तुम तो एक ही हैं। हम प्रपञ्ची हैं तो तुम भी प्रपञ्ची हो और तुम प्रपञ्ची हो तो हम भी प्रपञ्ची हैं। हम तुम दोनों तो एक ही हैं।

यह सच्ची घटना है, झूठी नहीं है। फिर लोग उन्हींको प्रपञ्ची कहने लगे। उन्हींका नाम प्रपञ्ची हो गया। नाथजीको तो कोई प्रपञ्ची बोले नहीं! वे तो साक्षात् ब्रह्म थे महाराज! एक बार उनके 'विचारबिन्दु' का स्वाध्याय कर लो तो प्रमाण-प्रमेयका सारा रहस्य खुल जायेगा। उन्हींका 'वीर-विजय' पढ़ लोगे तो जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख तुम्हें मिल जायेगा।

इसलिए तुम्हारा जो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है, वही भूतभर्तृ है, वही अखण्डानन्दको अपने अन्तःकरणमें सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला है, वही अन्तःकरणका लोप करनेवाला है और वही अखण्डानन्दको जन्म देनेवाला है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ (१७)

'ज्योतिषामयि तज्ज्योतिः'—ज्योतियोंकी भी ज्योति है। सूर्य, चन्द्रादि बाह्य ज्योति हैं और नेत्र त्वक् आदि अध्यात्म ज्योति हैं। अन्तःकरणादि रूप जो ज्योति है, उनकी भी ज्योति स्वयंप्रकाश है और **'तमसः परमुच्यते'**—अविद्या आवरण उसका स्पर्श नहीं करता है।

अब भगवान्ने बताया **'ज्ञानम्'**। ज्ञानसे ज्ञान गिलता है। एक हो गया वह ज्ञान जो ज्ञान प्राप्त करनेका साधन है, *'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्'*—और यहाँ जो ज्ञान है, यह करणव्युत्पत्तिसे नहीं है, भाव्युत्पत्तिसे है—*'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्'*। यह तो ज्ञानस्वरूप है और यह यहीं जीवनमें ज्ञातव्य है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केनो० ५.१)

इस जीवनमें जान लिया तो सब कुछ पा लिया और अगर जीवनमें नहीं जाना तो *'महती विनष्टिः'*—अपना सत्यानाश कर लिया। इसलिए *'भूतेषु भूतेषु विचित्य*

धीरा:'—एक-एक पदार्थमें उसका चयन करो, उसको चुनो। तुम्हारा देहाभिमान छूट जायेगा, तुम स्वयं अमृत हो जाओगे—'*प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति*'।

'*तदपश्यत् तदभवत्*'—यजुर्वेदकी श्रुति है कि जिसने उसको देखा, वह वही हो गया, क्योंकि वही था। देखकर हो गया सो नहीं, होनेसे पहले, देखनेसे पहले वही था—'*तदासीत्*'। जो था, वही देखा और जो था वही हुआ। न नया देखा और न नया हुआ।

'**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्**'—ये जो अमानित्वादि साधन हैं, उनसे वह गम्य है। वह रहता कहाँ है? '**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**'—सबके हृदयमें ही वह विराजमान है, दूर नहीं है। '**विष्ठितम्**'का अर्थ है '*प्रतिष्ठितम्*'। विष्ठित है, प्रतिष्ठित है।

भगवान्ने कहा कि देखो, मैंने समाससे संक्षेपमें क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका वर्णन किया है। महाराज, आपने तीन ही क्यों बताया? '**क्षेत्रं क्षेत्रज्ञं ज्ञानं ज्ञेयं**' ये चार बताना चाहिए था न! बोले कि नहीं, यहाँ जो '**ज्ञानम्**', '**ज्ञेयम्**' बताया, वही क्षेत्रज्ञ है और कुछ नहीं है। उसीका नाम क्षेत्रज्ञ है, अलग क्षेत्रज्ञ नहीं है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ (१८)

मद्भक्त एतद्विज्ञाय—लो देखो, पहले भगवान्का भक्त होना चाहिए। भक्त होनेपर ज्ञानका अधिकार आजाता है। '*भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहैं निर्गुन उपदेसा॥*' यह तो ज्ञान साधनमें भी बताया ही था—कि '**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।**' वहाँ भक्ति शब्दका जो अर्थ है, वह '*भक्ति अस्यास्ति इति भक्तः*' है, यह *मत्त्वर्थीय अच् प्रत्यय* है। वही '**अनन्ययोगेन**' अव्यभिचारिणी भक्तिवाला जो पुरुष है, वह सम्पूर्ण ज्ञान साधनका उपलक्षण है और '**एतद्विज्ञाय**' इसका विज्ञान प्राप्त करके '**मद्भावायोपपद्यते**' मेरा स्वरूप ही हो जाता है। ज्ञानमार्गमें मेरा स्वरूप हो जाता है। इसका अर्थ है कि वास्तवमें वह मेरा स्वरूप ही है। केवल अज्ञानमात्र व्यवधान है और विज्ञानमात्रसे व्यवधानकी निवृत्ति हो जाती है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥ (१९)
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखनां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ (२०)

अब पहले जिसको क्षेत्र कहा, क्षेत्रज्ञ कहा, उसीको प्रकृति-पुरुषका नाम देकर सांख्यविधिसे भी उसीको विवेक कर देते हैं, क्योंकि '*द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति*'।

कहते हैं कि एक है प्रकृति और एक है पुरुष। ये दोनों अनादि हैं। लो भाई, यहाँ वेदान्तसिद्धान्त रहा कि गया? बोले कि गया नहीं। वह ऐसी चिड़िया नहीं है कि ताली बजायी और उड़ गयी। अनादि है, ठीक है। लेकिन कोई भी वस्तु अनादि होनेके कारण ही अनन्त हो, यह नियम नहीं है। आप अपने अज्ञानको ले लीजिये। यह अनादि है कि नहीं है? अज्ञान अनादि है। परन्तु अनादि होनेपर भी शान्त है। अज्ञानका यही स्वभाव है। इसी तरह प्रकृति-पुरुष अनादि है। क्योंकि यदि वे अनादि न हों तो ईश्वर मालिक किसका रहेगा? शंकराचार्यजीने कहा, *'ईषितव्याभावे ईश्वराभावप्रसंग:'*—यदि प्रकृति नहीं होगी तो ईश्वर अन्तर्यामी किसका होगा? पुरुष नहीं होगा तो ईश्वर नियन्ता किसका होगा? इसलिए ईश्वर अनादिकालसे प्रकति-पुरुषका नियमन करता है।

अब प्रकृति और परुषका विवेक क्या है? विकार और गुण ये प्रकृतिसे पैदा होते हैं। और जो कार्यजगत् है, करण हैं, कर्ता है—इसमें प्रकृति कारण है और सुख-दु:ख, अगर चेतन न हो, पुरुष न हो तो? परन्तु इस चेतनको तुम कोई मामूली पुरुष न समझ बैठना।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ (२१)

यह जो पुरुष है, वह प्रकृतिमें स्थित होकर, कार्यमें स्थित होकर, शरीरमें स्थित होकर, करण माने इन्द्रिय, बहि:इन्द्रिय, अन्तः इन्द्रियमें स्थित होकर कर्तापनमें स्थित होकर अपनेको शरीरके साथ, इन्द्रियोंके साथ तथा अहंकारके साथ जोड़कर उनमें अस्मिता कर बैठता है। फिर तो वह प्रकृति, उस पुरुषके घरवाली रोने लगी तो आप भी रोने लगे, घरवाली रूठकर बैठ गयी तो आप भी उदास हो गये, उसका मुँह लटका तो आपका भी मुँह लटक गया। भागवतके पुरञ्जनोपाख्यानमें इसका अच्छा वर्णन है। अब बताते हैं कि इसका क्या कारण है?

'करणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'—प्रकृतिके गुणोंमें इसका जो संग है, आसक्ति है, अहं-मम भाव है; उसीके कारण प्रकृतिमें परिवर्तनहोता है और ये उसीके साथ मिलकर घिसटते हुए चले जाते हैं। यदि ये प्रकृति और प्राकृतके साथ अहं-मम भाव न करें तो बोले कि ये बड़े ही विलक्षण हैं। आपको मालूम नहीं है कि पुरुष देवताकी विलक्षणता क्या है?

देखो, आप यहाँ स्त्री-पुरुषका भेद नहीं करना। यहाँ पुरुष आत्माका नाम है—स्त्रीका नहीं, मर्दका नहीं। औरत-मर्दका नाम यहाँ पुरुष नहीं है, औरत-मर्द दोनोंके शरीरमें जो एक आत्मा है, उसका नाम पुरुष है। पुरु माने शरीर ही होता

है। पुरु माने बहुत भी होता है, लेकिन यहाँ पुरु माने शरीर है। बहुत से शरीर मर गये, बहुत-से शरीर छूट गये, लेकिन ये ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं। इसलिए इनको पुरुष कहते हैं। *'शो तनु करणे'* धातुसे जो होता है, वह तो तालव्य शकारवाला है और जो *'षो अन्तकर्मणि'* धातु है, वह मूर्धन्य षकारवाला है। पुरुषमें अन्तकर्म ही है। यह अन्त कर्मकारी है, माने इसने बहुत-से शरीरोंका अन्त देखा है, बहुतोंका अन्त्येष्टि संस्कार देखा है। इसलिए इसको पुरुष बोलते हैं। इतने शरीर हुए और मर गये, इतने शरीर होते हैं और मर जाते हैं, पर पुरुष एक ही है। लेकिन महाराज, ये कुछ मामूली नहीं हैं, आप इनकी महिमा देखो।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

'उपद्रष्टानुमन्ता च'—उपद्रष्टा माने वह, जो बिना टिकट लिये तमाशा देखे। कहीं रेश हो रही हो, सिनेमा हो रहा हो और जब टिकट खरीद लेगा तब तो दर्शक होकर कुर्सीपर बैठेगा, देखेगा। लेकिन उपद्रष्टा ऐसा है, जो टिकट तो खरीदे नहीं और तमाशा जाकर देखे। यह द्रष्टा नहीं, उपद्रष्टा है। यह पास रहकर देखता सबको है पर मिलता किसीसे नहीं, जरा अलग ही रहकर देखता है। इसी पुरुषका नाम है उपद्रष्टा और अनुमन्ता। अनुमन्ता माने जो अपनी यह राय लेकर आवे कि हाँ ऐसा, हाँ ऐसा।

एक सज्जन एक महात्माके पास गये। उन्होंने पूछा कि महाराज मैं गायत्रीका जप करता हूँ, ठीक है न? महात्मा बोले कि हाँ ठीक है, गायत्री वेदमाता है, बहुत बढ़िया है, जप करो। सज्जनने कहा महाराज, बहुत बड़ा लगता है, इसलिए केवल ॐकारका जप करें तो कैसा रहे? महात्मा बोले कि वह तो गायत्रीका सार है, बहुत बढ़िया है, उसीका जप करो। सज्जनने कहा ठीक, महाराज लेकिन ॐकारके जपमें यह करो, वह न करे, पवित्र होकर करो, अपवित्र अवस्थामें मत करो—यह बखेड़ा लगा हुआ है। इसलिए राम-ही-रामका जप क्यों न करें? महात्मा बोले कि राम-राम तो सबका सार है, इसलिए राम-रामका जप करो। सज्जनने कहा, महाराज, राम-राम भी रोज ज्यादा नहीं होता। यदि दो-चार बार कर लिया जाय तो काम चल जायेगा? महात्मा बोले कि बहुत है भैय्या, एक बार भी राम नामका जप बहुत है। सज्जनने कहा कि महाराज, यदि रोज-रोज राम नामका जप न हो सके और कभी-कभी भूल हो जाये तो? महात्मा बोले कि हाँ भाई, कभी भूल जाये, तब भी कोई हर्ज नहीं है।

देखो, इस कथामें महात्माकी जो स्थिति है, इसीका नाम होता है अनुमन्ता। इसीको मारवाड़ियोंमें ऐसे बोलते हैं *'जो थारी राय सो म्हारी राय'*।

लो, जो आत्मदेव है, ये तो *'थारी राय सो म्हारी राय'* करके चलते हैं और सबसे न्यारे रहते हैं। *'सबमें रहे सबसे न्यारा'*। ये सबके भर्ता हैं, सबका भरण-पोषण करते हैं और सबके महेश्वर हैं। यही पुरुष परमात्मा है।

'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः'—इसी देहमें बैठे हुए देहाभिमानसे विनिर्मुक्त पुरुषका जो परम स्वरूप है, उसीका नाम परमात्मा है। ओ बाबा, तुम्हारा भी एक नाम परमात्मा है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ (२३)

'सर्वथा वर्तमानोऽपि'—यह दो बार आया है। भगवान्‌को जो बात बहुत प्यारी लगती है, उसको कई बार बोलते हैं। उनको **'मया ततम्'** कहना बहुत अच्छा लगता है, जिसका अर्थ है इस प्रपञ्चरूप वस्त्रका मैं सूत हूँ। इसी तरह **'सर्वमिदं ततम्'** भी उनको प्यारा लगता है। **'मयि अर्पितमनोबुद्धिः'** भी कई बार आया है, जिसका अर्थ है कि मन और बुद्धि मुझे दे दो।

भगवान् कहते हैं कि देखो, मैंने पहले तो **'य एवं'**—जैसा पुरुषका स्वरूप बताया था कि-*'अस्मिन् देहे'*—ऐसा समझो कि बैकुण्ठमें पुरुष रहता है—इसी देहमें और *'परिच्छिन्न सम्बद्ध'*—पुरुष कौन है? जो परिच्छिन्नसे सम्बद्ध है और **'परः पुरुष'**: माने पर पुरुष वह है जो *परिच्छेदासम्बन्धी* है, परिच्छेदसे असम्बद्ध है। वह क्या है? उसका नाम है परमात्मा। इसलिए जान लो कि परिच्छेदका सम्बन्ध टूटते ही, परिच्छिन्नताका अभिमान टूटते ही तुम परमात्मा हो। ये जो गुण हैं—सत्त्व, रज, तम—जिसके कारण लोग अच्छा-बुरा करते हैं इनके साथ प्रकृति रहती है। इस बातपर जब ध्यान गया तब बोले—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।'** अब तुम्हारे कर्मका, तुम्हारे जन्मके साथ सम्बन्ध नहीं है, माने तुम्हारे कर्म तुम्हारे जन्मके हेतु नहीं होंगे। न तुम नरकमें जाओगे, न स्वर्गमें जाओगे, न तुम्हारा पुनर्जन्म होगा और न तुम बेहोश पड़े रहोगे। सर्वथा वर्तमानत्व क्या है? सोते रहो, जागते रहो, खड़े रहो, चलते रहो, हल जोतो, पूजा करो, पाठ करो, पुरोहिती करो, वसिष्ठजीकी तरह समाधि लगाओ, दत्तात्रेयकी तरह स्वच्छन्द रहो। अब पुनर्जन्मका सम्बन्ध तुमसे नहीं होगा। यह नहीं होगा कि ज्ञान होनेके बाद समाधिमें बैठे रहेंगे, तब जन्मकी निवृत्ति होगी। यह समाधि-सापेक्ष जो ज्ञान है, वह ज्ञान वेदान्तका ज्ञान नहीं है।

अब भगवान् क्या बोलते हैं यह देखो! उनका वचन एक बम गोला ही है। आप ध्यान दोगे तब यह बात मालूम पड़ेगी। ये कहते हैं कि मैंने ज्ञान और ज्ञेयका

निरूपण कर तो दिया, लेकिन उसका ज्ञान मात्र होनेसे ही पुनर्जन्मका निवारण नहीं होता है।

देखो, अठारहवें श्लोकमें कह आये हैं कि, '**मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते**' और बात वहीं पूरी हो जाती है। लेकिन कुछ लोग ऐसे होते हैं कि ज्ञान और ज्ञेयके विवेक मात्रसे उनको सन्तोष नहीं होता फिर क्या होता है—इस सम्बन्धमें एक उदाहरण सुनो! किसी महात्माके पास कोई जिज्ञासु गया। महात्मा बड़े ही उदार थे, बोले कि '*तत्त्वमसि*'—तू परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। जिज्ञासुने कहा कि मैं तो पापी हूँ और इतने सारे सम्बन्धी मेरे हैं। मैं इतना नन्हा-मुन्ना-सा डेढ़-दो मनका आदमी भला ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ? वह असम्भावनासे, विपरीत भावनसे ग्रस्त हो गया! फिर उसने सोचा कि ये महात्मा ठीक नहीं हैं, ये तो मुझको ब्रह्म बताते हैं जरा और किसी महात्माके पास चलकर देखूँ। वह दूसरे महात्माके पास गया और वहाँ उसने पहलेवाले महात्माकी सब बात सुनायी। उन महात्माने कहा कि हाँ-हाँ, उन्होंने बहुत गलत बात कही, ठीक नहीं कहा। तुम बारह वर्षोंतक जंगलमें-से कण्डे ले आओ और उपले पाथो। बारह वर्षोंतक बर्तन माँजो, बारह वर्षोंतक रसोई बनाओ और बारह वर्षोंतक खटो। ऐसे थोड़े ही ईश्वर मिलता है। जिज्ञासुने सोचा कि यह हुई न बात और वह महात्माके आदेशानुसार काममें लग गया। जब छत्तीस वर्ष पूरे हो गये तब वह गुरुजीसे बोला कि महाराज, अब तो छत्तीस वर्ष पूरे हो गये। महात्मा बोले हाँ बेटा, हो गये। '*तत्त्वमसि*'—तू ही ब्रह्म है। जिज्ञासुने कहा, अरे बाबा यह उपदेश तो मुझको पहले ही दिनवाले महात्माने दे दिया था। अब तुम छत्तीस बरस गोबर पथवानेके बाद बोलते हो कि '*तत्त्वमसि*'। महात्मा बोले कि तुमने उस महात्मापर विश्वास नहीं किया तो उसका दण्ड भी तुमको ही मिलना चाहिए था। जाओ, अपना काम करो।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ (२४)
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ (२५)

भगवान् कहते हैं कि '**केचिद्**'—इसका अर्थ है कि जो हमारे इस ज्ञान-ज्ञेयको जानकर कृतार्थ नहीं हो जाते, तत्काल सद्योमुक्तिका अनुभव नहीं करते, उनको निदिध्यासन करनेकी जरूरत पड़ जाती है। '**केचित्**' माने '**अन्ये**', *न तु 'मच् चित्तय:'*—जो मेरे शिष्य हैं, मेरा उपदेश सुन चुके हैं, उनको निदिध्यासन करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। '*आत्मनि अन्तःकरणे पश्यन्ति, आत्मना ध्यान-*

संस्कृतेन मनसा पश्यन्ति।' 'आत्मानं परमात्मानं पश्यन्ति। पश्यन्ति ज्ञानबोधेन पश्यन्ति।'

अब कहते हैं कि '**अन्ये**'—यदि निदिध्यासन भी नहीं होता है तो क्या करें? '**सांख्येन योगेन**'—चलो प्रकृति-पुरुषका विवेक करो और फिर वितर्कके आधारपर, विचारके आधारपर सूक्ष्मके आधारपर मनको एकाग्र करो। स्थूलके आधारपर मन एकाग्र करना वितर्क है और सूक्ष्मके आधारपर मन एकाग्र करना विचार है। आनन्दके आधारपर प्रसादयुक्त करणके द्वारा मनको एकाग्र करो। आनन्दानुगत बनाओ। अस्मिता-मात्रके आधारपर मनको एकाग्र करो, विवेकख्याति करो—'**सांख्येन योगेन**'।

अब जाकर फिर वही बात मिलेगी कि—'*अन्ये सांख्येन योगेन आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति। अपरे च*'—अरे बाबा, विवेकसे क्या होगा? सूखा विवेक क्या करेगा? कहीं सूखे विवेकके लड्डू खानेको मिलते हैं? नहीं, लड्डू खानेके लिए तो चना चाहिए, शक्कर चाहिए, कड़ाही चाहिए, आग चाहिए, घी चाहिए। अरे, ले आओ सब—'**कर्मयोगेन चापरे**'। यहाँ '**अपरे**' माने '**अन्ये**'।

तो पहले निदिध्यासनवाला विवेक है और निदिध्यासनसे सम्पदा नहीं हुई तो सांख्ययोगका विवेक है तथा उससे भी नहीं हुई तो कर्मयोग है—'**कर्मयोगेन चापरे**।' अरे बाबा, मुझसे तो निष्काम कर्मयोग भी नहीं होता तो, बोले कि अच्छा बेटा, तब मैं जो कहता हूँ, सो करो।

'**अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते**'—यहाँ भी 'अन्ये' है। यह अपने मतानुयायियोंका वर्णन नहीं है। '**केचिद् अन्ये अपरे**'—ये सब व्यवच्छिन्न हैं। ज्ञान-ज्ञेय-सम्प्रदायसे केवल प्रमाणके द्वारा सम्पूर्ण प्रमेयोंका निषेध होकर प्रमातृत्वसे उपलक्षित और प्रमातृत्वाभावका भी अधिष्ठान जो प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्म है, वह ज्ञान-ज्ञेयकी प्रक्रियासे प्राप्त होता है। अब आओ सुनो, उपासना करो और श्रुतिपरायण होकर मृत्युका अतिक्रमण करो, मृत्युसे पार चले जाओ!

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ (२६)

स्थावर-जङ्गमम्—भगवान् कहते हैं कि देखो, ये जो पत्थर-पेड़-पौधा-मनुष्य हैं, ये सब स्थावर जंगम हैं। ये जो कुछ पैदा होते हैं और मरते हैं और मरते दिखायी पड़ते हैं, इसमें न शुद्ध क्षेत्र है, न शुद्ध क्षेत्रज्ञ है। यहाँ अन्योन्याध्यास है—'**संयोग**' माने परस्पराध्यास। क्षेत्रज्ञकी चिद्रूपता, आनन्दरूपता क्या है? अंगूरमें जो मिठास मालूम पड़ती है, वह क्या है? क्षेत्रज्ञकी जो सत्यता है, चिद्रूपता है,

आनन्दरूपता है वह अंगूरमें अध्यस्त हो गयी है और अंगूरकी मृत्युशीलता, जडरूपता और दु:खरूपता (क्योंकि वह अन्तमें सड़ भी तो जाता है) अपने ऊपर आगयी है। यही परस्पराध्यास है, इसी परस्पराध्यासके कारण सृष्टि बनी हुई है। हे भरतर्षभ तुम इसमें भूल गये हो। तब क्या करें महाराज! आओ उस एकको देखो।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ (२७)

'यः पश्यति स पश्यति'—जो ऐसा देखता है, वही देखता है, बाकी तो सब अन्धे हैं। क्या देखें महाराज! यह देखो कि सब झूठ है और इनमें एक परमेश्वर सब रूपसे बैठा है। जो सब झूठ हैं वे हैं विषम और परमात्मा है सम। विषमताका अधिष्ठान है समता। समता विषमताके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान है। इसलिए विषमताके अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें जो विषमता दीख रही है, वह मिथ्या है।

'विनश्यत्स्वविनश्यन्तम्'—जो संसारके झूठ हैं ये सब विनश्वर हैं। विनष्टका अधिष्ठान कौन है? अविनश्यत् है। विनश्यत् अपने अभावके अधिकरण अविनाशीमें भास रहा है। इसलिए विनाशी मिथ्या है, अविनाशी सत्य है और उस अविनाशीको जो देखता है, वह सचमुच देखता है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ (२८)

ईश्वर सर्वत्र सम और स्थित है। परमेश्वर सर्वत्र समरूपसे समवस्थित है—यह तत् पदार्थ हो गया कि नहीं हो गया? यह परमेश्वर कौन है? बोले कि **'आत्मानम्'** यही आत्मा है और यही त्वम्-पदार्थ है। इसीलिए **'पश्यन्'** माने इसको जो देखता है कि जो आत्मा है सो ईश्वर है और जो ईश्वर है सो आत्मा है। वह—**'न हिनस्त्यात्मनात्मानम्। न हिनस्ति'**—अपने आपको परमेश्वरसे जुदा नहीं करता है। फिर जब जुदा नहीं करता है तब वह **'ततो याति परां गतिम्'**—परा गतिको प्राप्त हो जाता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ (२९)

अर्जुन, सारे कर्म प्रकृतिसे ही हो रहे हैं, बिल्कुल प्रकृतिसे ही होते हैं। ये अविद्यासे, अज्ञानसे, अव्याकृतमें व्याकृत हो रहे हैं। जो इस प्रकार देखता है, वह अपने आपको अकर्ता देखता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ (३०)

जो सम्पूर्ण पृथग्भावको, पृथग्भावके अत्यन्ताभावके अधिष्ठानको एकमें देखता . है और जिसमें कुछ नहीं है, उसीमें सबका विस्तार देखता है, वह देखनेवाला '**ब्रह्म संपद्यते**'—स्वयं ही ब्रह्म है। दूसरा ब्रह्म नहीं है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (३१)

ये जे आत्मदेव हैं कौन हैं, कैसे हैं? ये '**शरीरस्थोऽपि न करोति न लिप्यते**'— शरीरमें रहकर भी कर्मके कर्त्ता नहीं हैं।

देखो, सब लोग आत्माको कर्ता-भोक्ता मानते हैं और वेदान्त कहता है कि आत्मा कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। सांख्योंने बड़ी जबरदस्तीसे अकर्ताको सिद्ध किया लेकिन अभोक्ता सिद्ध करनेके समय उनका मन भी डाँवाडोल हो गया कि भोक्ता सिद्ध नहीं करेंगे तो पुरुष ही सिद्ध नहीं होगा। वहाँ तो पुरुषके भोग और अपवर्गके लिए प्रकृति कर्म करती है। अब विवेक-ख्याति हो जाये तो अपवर्ग हो जाये और विवेक-ख्याति न हो जाये तो भोग मिले। इसलिए बोले कि भाई, ये आत्मदेव ऐसे हैं, जो अनादि हैं, निर्गुण हैं और परमात्मा अव्यय है। वे यही अव्यय परमात्मा हैं। अरे, हैं तो परमात्मा, पर रहते कहाँ हैं?

'**शरीरस्थोऽपि**'—इनके रहनेकी जगह शरीर ही है। यह मत समझना कि वे कोई दूसरे देशमें रहनेवाले, बैकुण्ठ देशमें रहनेवाले, दिव्य देशमें रहनेवाले हैं। मान लिया कि हैं शरीरमें तो करते क्या हैं? अरे, '**न करोति, न लिप्यते**'—न तो ये कर्मके कर्ता हैं, न कर्मके लेप-भाजन हैं—माने कर्म इनमें लिप्त नहीं होते हैं। यह आत्मा शरीरमें रहता हुआ भी कर्ता-भोक्ता नहीं है। क्योंकि शरीर सब-के-सब सादि और सान्त हैं, आत्मा अनादि और अनन्त है। शरीर सब-के-सब गुणके कार्य हैं, गुणमें लीन होते हैं, किन्तु आत्मा न गुणका कार्य है, न गुण है और न गुणमें विलीन होता है। गुणसे कोई समबन्ध ही नहीं है उसका। वह निर्गुण है। इसलिए ही अव्यय परमात्मा है, यही अविनाशी परमात्मा है और देहमें रहनेपर भी कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

और सुनो अर्जुन, जो हृद्देशस्थ परमात्मा है, वह आदिमान् नहीं है। जो आदिमान् होता है, वह स्वरूपका अपचय होनेपर व्यय-भावको प्राप्त हो जाता है और जो सगुण होता है उसके गुण जब कमजोर पड़ते हैं तब उसका व्यय हो जाता है परन्तु यह अनादि होनेके कारण स्वरूपसे क्षयशील नहीं है और निर्गुण होनेसे गुणोंके अपचयके कारण भी क्षयशील नहीं है। देखो, आदमी कहीं भी हो उसका पता लग जाता है कि उसकी नजर कहाँ है। दृष्टि कहाँ है! उसके हाथ हिलते हैं,

पाँव चलते हैं, उसकी साँस चलती है, उसका मन चंचल होता है, उसकी बुद्धि अपने विचार बदलती रहती है—वह कभी जागती है, कभी सोती है। इसके अतिरिक्त स्थूल शरीर है, सूक्ष्म शरीर है, वह कभी होशमें रहता है, कभी बेहोश रहता है, परन्तु उस शरीरमें बैठे हुए जो आत्मदेव हैं, जो शरीर-सिंहासनके अधिष्ठाता हैं वे '**न करोति न लिप्यते**'—न कुछ करते हैं न लिप्त होते हैं। *'उपाधिषु क्रियमाणेषु कुर्वत्सु'*—चाहे वे काम करें, चाहें काम उनके द्वारा कराया जाय, *'भुञ्जानेषु भोज्यमानेषु वा'*—चाहे वे भोग कर रहे हों चाहे उनसे कोई भोग करा रहा हो, वे स्वयं कुछ नहीं करते हमारे गौड़पाद दादाने बहुत बढ़िया बात कही है—

वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते। (१.५)

तीनों अवस्थाओंमें जो भोग्य है और उनके जो भोक्ता हैं वह क्या है? भोग्य जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति है और भोक्ता है विश्व, तैजस, प्राज्ञ। इन दोनोंको जो जानता है और दोनोंका जो प्रकाशक है, '**स भुञ्जानो न लिप्यते**'—यह भोग करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

देखो, एक आदमी घड़ेको देख रहा है और दूसरा आदमी कपड़ेको देख रहा है। परन्तु ज्ञान न घटाकार है, न पटाकार है। एक आदमी मर रहा है, दूसरा आदमी जी रहा है, परन्तु ज्ञान न जीता है न मरता है। एक आदमी दुःखी हो रहा है, दूसरा आदमी सुखी हो रहा है, पर ज्ञान न सुखी होता है और न दुःखी होता है। एक आदमी सो रहा है, दूसरा आदमी जाग रहा है, पर ज्ञान न तो सोता है, न जागता है। इसी तरह यह आत्मा शरीरस्थ होता हुआ भी कुछ नहीं करता—

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते। (३१)

यह जो शरीर है, क्या है? *'शीर्यते यत् तत् शरीरम्'*—जो जीर्ण-शीर्ण होता रहता है, वह शरीर है। यह जो परिवर्तनशील अवस्था है शरीरकी, इसमें रहता हआ भी '**आत्मा न करोति**'—कुछ नहीं करता है। यह *'कुर्वाणो न भवति, कुर्वन् न भवति, न त्वस्मै न परस्मै'*— न अपने लिए करता है, न दूसरेके लिए करता है और '**न लिप्यते**'—कर्मफलके साथ उसका कोई लेप नहीं होता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ (३२)

महाराज, जब यह आत्मा सब जगह है, सबके शरीरमें है, सब समय है; समयाधिष्ठान है, देशाधिष्ठान है, शरीराधिष्ठान है, तव फिर सबके साथ उसका लेप क्यों नहीं होता? भगवान् बोले कि '**यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात्**'—अरे, भाई शराबकी बोतलमें भी आकाश रहता है और गंगाजलके पीपेमें भी आकाश रहता है, परन्तु

आकाशको न शराब लगती है और न गंगाजल लगता है। क्यों? '**सौक्ष्म्यात्**'—सूक्ष्मताके कारण। सर्वगत आकाश सूक्ष्मताके कारण उपलिप्त नहीं होता। ऐसा नहीं कि वह साँपके देहमेंसे दाढ़वाला जहर उगल दे और बिच्छूके शरीरमें-से डंकवाला जहर उगल दे। इसी तरह गायके शरीरमें-दूधवाला, देवताके शरीरमें भोगवाला और मनुष्यके शरीरमें विचारवाला सामर्थ्य अलग कर दे। किसीको बारह वर्षों तक योगाभ्यास करके भी आकाशमें उड़नेकी सिद्धि भले ही न मिले, किन्तु स्वाभाविक सिद्धिवाले जो पक्षी हैं, उनके शरीरमें रहकर भी आकाश जैसा-का-तैसा है। वह स्वयं न दाढ़वाला है, न डंकवाला है, न दूधवाला है, न भोगवाला है और न विचारवाला है। वह तो सबसे परे है। *'सर्वत्रावस्थितः देहे तथा तथैव आकाशवत् न उपलिप्यते'*—वह आकाशके समान ही किसीसे उपलिप्त नहीं होता है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ (३३)

वहाँ जो आकाशका दृष्टान्त है वह अधिष्ठानकी प्रधानतासे है और यहाँ जो सूर्यका दृष्टान्त है, यह प्रकाशकी, चिन्मात्राकी प्रधानतासे है। एक ही सूर्य सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिको प्रकाशित करता है और सबकी आँखमें रोशनी बनकर आता है। आँखें अलग-अलग हैं सबकी, अधिकांश लोग दो-दो आँखोंके होते हैं, कोई-कोई एक आँखके भी होते हैं और शंकर भगवान् तो तीन आँखोंके होते हैं, ब्रह्माजीको आठ आँखें होती हैं, स्वामी कार्तिकको बारह आँखें होती हैं और इन्द्रकी हजार आँखें होती हैं। लेकिन एक ही सूर्य सबकी आँखोंका अधिदेवता बनकर सबमें भीतरसे प्रकाशनकी शक्ति देता है, सबके अधिभूतके रूपमें प्रकाश देता है। वही सूर्य सबमें अध्यात्मके रूपमें और *'सवितुर्भर्गो देवस्य धीमहि'* के रूपमें शक्ति देता है। इसी प्रकार क्षेत्रिय एक है और सब क्षेत्र है। यही उपोद्धात था गीताके तेरहवें अध्यायका *'क्षेत्रं क्षेत्री। एकमेव क्षेत्रं एक एव क्षेत्री'*—एक ही क्षेत्र है और एक ही क्षेत्री है और सब अधिदैवके रूपमें, अधिभूतके रूपमें, अध्यात्मके रूपमें जितना भी प्रकाशन है, सब उसी परमात्माके द्वारा हो रहा है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ (३४)

भगवान् यहाँ क्षेत्र व क्षेत्रज्ञका यह विवेक ज्ञानकी दृष्टिसे कर रहे हैं। भूतोंकी जो प्रकृति है वह क्या है? *'भूतानां प्रकृतिः कारणं मूलाविद्या'* अथवा ऐसे भी कहो कि *'भूतानि कार्यम् प्रकृतिः कारणम् तयोः मोक्षः मुक्तिः। न सन्ति भूतानि न च प्रकृतिः'* अर्थात् न भूतका अस्तित्व है, न प्रकृतिका अस्तित्व है—कार्य-कारण

दोनोंको मुक्त कर दो तो छुट्टी हो गयी उनकी। कार्य चाहे भासे या ना भासे, कारण चाहे भासे चाहे ना भासे; भूत प्रकृतिका अर्थ शंकराचार्यने अव्यक्त किया है।

माया प्रधान अज्ञान-इसका मोक्ष है। मोक्ष माने छुटकारा-तलाक दे दो, इसका नाम न लो—यह न मेरी है, न यह मैं हूँ। तब आधारहीन होकर यह स्वयं मर जायगी। जो इसके मोक्षको, अत्यन्ताभावको, बाधको जानते हैं, वे परमात्मास्वरूप हो जाते हैं। भूतप्रकृति मोक्ष—इसमें जो मोक्ष शब्द है उसका अर्थ है—'**यस्मिन् ब्रह्मणि अधिष्ठाने भूतप्रकृतयः प्रतीयन्ते तस्मिन् अधिष्ठाने न सन्ति इति ज्ञानमेव भूतप्रकृतिमोक्षः**'—जिस अधिष्ठानमें ये कार्य-करण-भाव प्रतीत हो रहे हैं, उसमें ये हैं ही नहीं। '*इति ये विदुः ते परम् यान्ति*।' '**यान्ति**' शब्दका अर्थ यह है कि उनको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, ब्रह्मकी उपलब्धि हो जाती है।

॥ इस प्रकार यह 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥



चौदहवाँ अध्याय

अब तेरहवाँ अध्याय समाप्त होनेके बाद भगवान्‌ने कहा कि आओ अर्जुन, मैं अपनी बात फिरसे कह दूँ। बात एक ही होती है, लेकिन वह तरह-तरहसे कह दी जाती है। जिस दिन बात कहनेकी नयी प्रक्रिया न सूझे, उस दिन समझ लो कि प्रतिभा कुछ भोथर हो गयी है। सिद्धान्त एक और उसके प्रतिपादनकी नयी-नयी युक्ति, नयी-नयी प्रक्रिया, नया-नया ढंग, नयी-नयी शैली! यही प्रतिभाशाली पुरुषका लक्षण है। नहीं तो जैसे घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे न्यारा होता है, वैसे ही देहादिको देखनेवाला देहादिसे न्यारा होता है—यह 'विचार-चन्द्रोदय'में जो पढ़ा था, वह जिन्दगी भर चल रहा है। अरे भाई, कबतक न्यारे रहोगे? तुम देहादिसे न्यारे हो, पर जब तुम ब्रह्म हो तब तुमसे न्यारे यह देहादि कहाँ हैं? यह भी तो देखो! तुमने व्यतिरेक तो याद कर लिया पर अन्वयका पता ही नहीं है, सर्वात्मभाव नहीं है, सर्वात्म-बोध नहीं है।

तो एक ही सनातन सिद्धान्तका हम निरूपण करते हैं। वह प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वके सिवाय और कोई नहीं है। सनातन विषय है, सनातन वस्तु है। उसीको बाबाजी सुनाते हैं कि आत्मा ब्रह्म है और ब्रह्मके सिवाय और कछ है नहीं। हाँ, सुनाते तो वही हैं, परन्तु सिद्धान्त विज्ञानमें *'यत्र प्रकाश्या विषया सनातना यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने'*—इस बातको समझानेके लिए प्रकार नया है, ढंग नया है, शैली नयी है। शैली पुरानी पड़ जाती है, पर सिद्धान्त कभी पुराना पड़ता ही नहीं है।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ (१)

तो, भगवान् बताते हैं कि जो कुछ उत्पन्न होता है वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अध्याससे है, इसलिए आओ *'भूयः'*—फिरसे उस पर-तत्त्वका निरूपण करें। ठीक है क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ईश्वरके परतन्त्र हैं। सांख्यमें न प्रकृति ईश्वर-परतन्त्र है और न जीव ईश्वर-परतन्त्र है। हैं तो दो—एक पुरुष है, एक प्रकृति है, एक क्षेत्र है एक क्षेत्रज्ञ है, पर दोनोंमें-से कोई ईश्वरके अधीन नहीं है। जब दोनों स्वतन्त्र हैं तब कभी-न-कभी दोनोंमें भिड़न्त होगी। क्योंकि स्वतन्त्र-परतन्त्र तो भिड़ ही जाते हैं।

यदि दो साधु स्वतन्त्र हों और एक कुटियामें रहें तो देखना दो-चार दिनमें उनकी आपसमें भिड़न्त जरूर हो जायेगी। आश्चर्य तो यही है कि प्रकृतिमें जन्म, मरण, करण है, परन्तु वह कहती है कि पुरुषजी, आपकोभोगना पड़ेगा। पुरुषजी असंग हैं, परन्तु जबतक उनको अपने स्वरूपका विवेक नहीं होता तबतक मजबूर होकर प्रकृतिके सामने हाथ जोड़े रहते हैं और कहते हैं, हाँ जी, मैं जन्मवान् हूँ, मैं मरणवान् हूँ, मैं करणवान् हूँ। परन्तु जब ईश्वर सामने आता है तब प्रकृतिसे कह देते हैं कि-*तूष्णी*-चुप हो जाओ और पुरुष से कह देते हैं कि तू मेरी जातका है, मुझसे मिल जा। फिर जब पुरुष ईश्वरसे मिल जाता है तब प्रकृति मर जाती है।

'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्'—भगवान् कहते हैं कि यह ज्ञानोंका उत्तम ज्ञान है। ज्ञान माने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण आदि जो भी ज्ञान होते हैं इनमें उत्तम ज्ञान है। वह ज्ञान नहीं जो पहले अनादित्वादि सम्पदाको ज्ञान कहा गया है। वे यहाँ ज्ञान शब्दसे अभिप्रेत नहीं हैं। फिर कौन-सा ज्ञान है? **'ज्ञानानाम् उत्तमं ज्ञानम्'**—यह सभी ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञान है। इस ज्ञानसे क्या होता है? यह होता है कि **'यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः'**—मुनयः माने मनन करनेवाले। ये मुनिलोग भी दो तरहके होते हैं—एक तो गतानुगतिक नकली होते हैं। ये भेड़िया-धसानकी तरह जैसे *मेषी प्रपातान्धपरम्परा*के अनुसार एक भेंड़ कुएँमें गिरती है तो दूसरी भी गिरती है, तीसरी भी गिरती है, झुण्ड-की-झुण्ड भेंड़ें कुएँमें गिरती हैं, वैसे ही गिरते जाते हैं। दूसरे मुनि होते हैं मननशील। वे अपनेके अन्धोंसे अलग कर लेते हैं और ज्ञानसे **'परां सिद्धिमितो गताः'**—परा-सिद्धिको प्राप्त हुए हैं और उनके अन्तःकरणकी परम शुद्धि हुई है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ (२)

भगवान् कहते हैं कि इस ज्ञानका उपाश्रय करनेसे क्या होता है? जैसे अग्निका आश्रय लेनेपर, सूर्यका आश्रय लेनेपर, उसके सामने जाकर बैठनेपर ठण्डक चली जाती है, शीतलता चली जाती है, भय भाग जाता है, ऐसे ही अगर इस ज्ञानके पास आकर बैठ जाओ तो परमेश्वरका साधर्म्य प्राप्त हो जाता है। आपने देखा होगा कि जाड़ेके दिनोंमें गाँवके लोग शामको जब आग जलाकर बैठते हैं, तब चाहे कोई बड़ा आदमी हो या छोटा आदमी हो, गाँवका मुखिया हो या सुखिया, नाई हो या दुखिया, चमार हो सब एक साथ बैठकर आग तापते हैं। इसी तरह भगवान्‌का कहना है कि इस ज्ञानाग्निकी शरण लेते ही सब मेरी बराबरीके हो जाते हैं—**'मम साधर्म्यमागताः'** और फिर क्या होता है कि—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते'**—इस सृष्टिमें

उनका जन्म नहीं होता तथा प्रलयमें उनको व्यथा नहीं होती। वे जन्म-मरणसे बिल्कुल विनिर्मुक्त हो जाते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ (३)

अब भला सांख्यवादी कैसे बोलेंगे? जिनके ईश्वर ही नहीं हैं, जो बिल्कुल ठन-ठनपाल हैं—जैसे चार्वाक हैं, जैन हैं, बौद्ध हैं। इन तीनोंमें सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका नियन्ता एक ईश्वर नहीं हैं। न्याय दो प्रकारके होते हैं। एक बौद्धोंका न्याय है और एक हमलोगोंका न्याय है। हमारे न्यायमें परमाणुओंके द्वारा सृष्टिका आरम्भ करनेवाला ईश्वर है और बौद्धोंके न्यायमें वह भी नहीं है। वैशेषिकमें ईश्वर है, परन्तु उसका नाम आत्मा है और नौ द्रव्योंमें-से एक द्रव्य है। उनके यहाँ छह अथवा सात पदार्थ हैं, किन्तु इसमें भी मतभेद है कि छह पदार्थ हैं कि सात पदार्थ हैं। उनमें-से एक पदार्थ द्रव्य है। द्रव्य नौ प्रकारके होते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, देश, काल, मन और आत्मा। इन नौ द्रव्योंमें-से एक ईश्वर भी है। छह या सात पदार्थोंमें-से एक द्रव्य है, द्रव्योंमें-से एक आत्मा है और वह भी ज्ञानस्वरूप नहीं, ज्ञानाधिकरण। यह ज्ञानाधिकरण ज्ञान है कि ज्ञान नहीं है- इस बातको लेकर वेदान्ती लोग बड़ा उपहास करते हैं नैयायिकोंका। *'गोतमः, किं न गोतमः?* कई अर्थोंमें कहते हैं कि अरे, यह गोतम नहीं है, गौतम है। *'अतिशयेन गौः गौतमः'*। दार्शनिक लोग् कहीं डरते थोड़े ही हैं बोलनेमें। इनमें लिहाज नहीं होता है। व्यक्तिकी आलोचनामें छोटे-बड़ेका ख्याल रखकर आलोचना करनी चाहिए। परन्तु विचारकी आलोचनामें बड़े और छोटेका ख्याल नहीं किया जाता है। विचारकी आलोचना करते समय कोई अपनी बुजुर्गी दिखाकर अपने विचारको हमारे ऊपर नहीं लाद सकता, विचारकी तो आलोचना होती है। उसमें यदि कहीं छेद हो तो उसका समाधान करो।

'**ममयोनिर्महद् ब्रह्म**'—यह कहकर भगवान्‌ने काट दिया सांख्यके सिद्धान्तको। वे बोलते हैं कि यह जो महद् ब्रह्म है, मेरी पत्नी है और मैं इसमें गर्भाधान करनेवाला हूँ। यहाँ ब्रह्म शब्दका अर्थ प्रकृति है। माने महद् तत्त्वाकार परिणत प्रकृति पत्नी है और '**तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।**' ब्रह्म इसलिए कहा कि स्वसिद्धान्तमें ब्रह्मातिरिक्त उसका अस्तित्व नहीं है। सिद्धान्तसे वह ब्रह्म है, परन्तु लौकिक दृष्टिसे देखनेपर वह सबका कारण है, योनि है। दोनोंको मिलाकर कह दिया कि महद्ब्रह्म। वह भी अध्यास ही है। ब्रह्म और महद् तत्त्वके अध्यासका नाम है महद् ब्रह्म। उसमें जो चिदाभास पड़ता है, उसमें जो चित् छाया है, उसका नाम है गर्भ। चिदाभासका नाम

गर्भ है और चेतनका नाम पिता है, प्रकृति-विशिष्ट चेतनका नाम पिता है। प्रकृतिका नाम माता है। वह तत्त्व दृष्टिसे ब्रह्म है और अज्ञ दृष्टिसे कारण उपाधि है। **'संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।'** उसीसे सबका जन्म होता है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (४)

सब योनिमें मूर्तियाँ तो अलग-अलग हैं। कोई दो पाँवपर नाचता है, कोई चार पाँवपर चलता है। मोर दो पाँवपर नाचता है, कोई चार पाँवपर चलता है। मोर दो पाँवोंपर नाचता है, पंखसे उड़ता है और हाथी चार पाँवोंसे चलता है। कोई महिला मोरके पिच्छकी तरहकी साड़ी पहन ले तो लोग उसको देखकर कहेंगे कि कितनी शौकीन है यह और यदि कोई गजगामिनी हो तो उसकी चाल देखकर कहेंगे कि आह क्या पूछना है! इसी तरह किसीकी आँखें मृगशावकके समान हों तो लोग उसकी तारीफ करने लगेंगे और यदि किसीमें सिंह आदिके समान शौर्य हो तो कहेंगे कि कितना बहादुर है। ये सब हैं, मूर्तियाँ। माने जो जाहिर नहीं थीं, प्रकट नहीं थीं, वही जाहिर हो जाती हैं, प्रकट हो गयी हैं और इनकी भिन्न-भिन्न योनियाँ होती हैं।

'तासां ब्रह्म महद्योनिः'—आजकल विज्ञान तो बहुत बढ़ गया है। एक वैज्ञानिकके पास कोई आदमी दो शीशियोंमें पानी ले आया और बोला कि हे वैज्ञानिक जी, ये दो शीशियाँ हैं। इनमें एक शीशीमें तो काँव-काँव है और दूसरी शीशीमें कुहू-कुहू है। जरा आप अपनी प्रयोगशालामें विश्लेषण करके बताइये कि किसमें काँव-काँव है और किसमें कुहू-कुहू है? असलमें एक शीशीमें कोयलके अण्डेका पानी था और दूसरी शीशीमें कौवेके अण्डेका पानी था। अब वैज्ञानिकजी अपनी लेबोरेटरीमें परीक्षा करते-करते हार गये पर किस पानीमें काँव-काँव और किस पानीमें कुहू-कुहू है,इसका उनको पता नहीं चला। यह साइन्स, इसका नाम है साइन्स जो काँव-काँव और कुहू-कुहूका विश्लेषण नहीं कर सकता! काँव-काँव भी एक मूर्ति है और कुहू-कुहू भी एक मूर्ति है। कौआ भी एक मूर्ति है और कोयल भी एक मूर्ति है—**'मूर्तयः संभवन्ति याः'**। लेकिन सबकी माँ एक है—**'तासां ब्रह्म महद्योनिः।'** महद्ब्रह्म माने जरा फूला हुआ ब्रह्म, समष्टि विद्याकार रूपसे भासमान ब्रह्म उसकी माता है और **'अहं बीजप्रदः पिता'** मैं उसमें बीजाधान करनेवाला पिता हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (५)

भगवान् कहते हैं कि गुण तीन होते हैं—एक सत्त्व, दूसरा रज और तीसरा तम। यह जो हड्डी-मांस-चाम है इसके कारणके रूपसे जिस गुणका अनुमान किया गया है, उसका नाम तम है। अनुमित ही है, प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्यक्ष तो देह है और इसमें बोलना है, करना है, हाथ मिलाना है, नाचना है, कूदना है या अन्य क्रियाएँ हैं, इनके कारणके रूपमें जिस गुणका अनुमान किया गया है वह है रजस्। प्रवृत्तिका मूल कारण रजस् है और उसमें जो सुखाकार, दुःखाकार, घटाकार, पटाकार आदि वृत्तियाँ होती हैं और उन वृत्तियोंके कारणके रूपसे जो अनुमित गुण है, उसका नाम सत्त्व होता है। इस त्रैविध्यका अनुभव प्रत्यक्षमें होता है। सुषुप्ति मानो प्रकृति है। नींद टूट गयी, लेकिन मालूम नहीं पड़ रहा है कि मैं कौन हूँ; यह महत्तत्त्व है और मैं कौन हूँ—यह अहंकार है। दुनिया दीखने लगी तो पंचतन्मात्रा हो गयी।

देखो भाई, जो शास्त्र और ज्ञान अनुभवके विरुद्ध होता है; उसके वक्ता चाहे ब्रह्मा ही हों और चाहे वह आदिकालमें ही भासित हो, यदि उस ज्ञानके द्वारा सिद्ध वस्तु यथार्थ नहीं है, परमार्थ नहीं है, तो उसका बाध हो जाता है। चार दिन पहले होनेसे वह यथार्थ नहीं होता है, विषयकी यथार्थताके बिना ज्ञान कभी यथार्थ हो ही नहीं सकता। इसलिए अबाधित परमार्थ-स्वरूप जो आत्मा है, तद्-बोधक ज्ञान ही यथार्थ होता है अथवा तद्-अभिन्न ज्ञान ही यथार्थ होता है, अन्य सब ज्ञान झूठे होते हैं।

इस प्रकृतिमें-से निकले हुए मूलावस्थामेंसत्त्व-रज-तमसमान होनेके कारण, सम-परिणाम होनेके कारण मालूम नहीं पड़ते और सृष्टि-अवस्थामें जब उनमें विषम परिणाम होता है तब मालूम पड़ता है कि ज्ञान हो रहा है, यह क्रिया हो रही है। तभी उसमें सत्त्व-रज-तमका योग मालूम पड़ता है और जो द्रष्टा-साक्षी परमात्मा हैं, प्रत्यक् चैतन्य हैं, उन्हीं गुणोंके साथ तादात्म्य करके अपने आपको बाँध लेते हैं। असलमें गुण कहते ही उनको हैं, जो गुणीको बाँध ले। गुण माने रस्सी होता है। ये जो प्रकृतिके गुण हैं वे द्रष्टाको बाँध लेते हैं और प्रकृतिके ये गुण ही द्रष्टाको मुक्त भी कर देते हैं। अपवर्ग और मोक्ष—ये दोनों द्रष्टाके धर्म नहीं हैं, प्रकृतिके ही धर्म हैं। सांख्य-सिद्धान्तमें बन्धन और मोक्ष दोनों प्रकृतिके बन्धनको स्वीकार करके पुरुष अपनेको बद्ध मानता है और प्रकृतिकी मुक्तिको स्वीकार करके अपनेको मुक्त मानता है। यह वृत्तिसारूप्य ही है सर्व दशामें। यह बन्ध-वृत्ति सारूप्यसे बन्धन है और मुक्ति है।

अब आओ, पहले सत्त्वगुणको लेते हैं। संसारी लोगोंने अमुक बड़े सत्त्वगुणी हैं, अमुक बड़े रजोगुणी हैं यह कह-कर फक्कड़ोंको बेइज्जत कर दिया है। इन्होंने

गुणातीतपर दोषारोपण कर दिया और उसको नहीं पहचाना। सत्त्वगुणके प्रेमीलोग गुणातीतको पहचानते ही नहीं हैं। बड़े भारी अपराधी हैं ये लोग। और इसी अपराधके कारण वे संसारमें आबद्ध रहते हैं। इसलिए सत्त्वगुण बाधक भी है और साधक भी है। यदि कहो कि साधक कैसे है सत्त्वगुण,तो सुनो—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ (६)

सत्त्वगुण निर्मल है। उसमें रजोगुणकी प्रवृत्ति आरम्भ, तृष्णा, अशान्ति नहीं हैं। उसमें निद्रा-आलस्य-प्रमाद नहीं हैं। इसलिए भी वह निर्मल है। निर्मल होनेके कारण बिल्कुल साफ-साफ दिखाता है और '**अनामयम्**' दुःख भी उसमें नहीं होता है। दुःखाकार परिणाम भी नहीं प्राप्त होता है, तमिस्राकार, तमसाकार परिणाम भी प्राप्त नहीं होता है और न उसमें तमस है और न उसमें दुःख है। महाराज, तब तो सत्त्वगुण बहुत बढ़िया है और पकड़कर रखने योग्य है। नहीं, तुम उसको पकड़ने गये और बँधे! इसलिए सावधान! यह बड़ी ललचौनी चीज है भला!
भगवान् कहते हैं कि निष्पाप अर्जुन, मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ। क्योंकि सच्चे आदमीसे सच्ची बात न कही जाये तो कहनेवाला कपटी हो जाता है। सच्ची बात यह है कि सत्त्वगुणी लोग बन्धनमें पड़ जाते हैं। उनको थोड़ी देर तो खूब आनन्द आता है और उनके सामने खूब प्रकाश हो जाता है, परन्तु बादमें वे रोने लगते हैं और कहते हैं कि हाय-हाय अब वैसी वृत्ति टिकती नहीं है। अरे भाई, तुम दूसरेकी घड़ी उधार लेकर आये, अब कितने दिन वह घड़ी तुम्हारे हाथमें बँधी रहेगी?

'**सुखसङ्गेन बध्नाति**'—जितनी देर सुख रहा, उसनी देर तो बड़ा आनन्द रहा, फिर बोले कि हाय-हाय वह सुख, वह आनन्द तो चला गया। अरे, चला गया तो जाने दो, वह तो जानेवाला ही था। अब रजोगुण आयेगा, तमोगुण आयेगा।

'**ज्ञानसङ्गेन चानघ**'—ऐसा निर्मल प्रकाश मालूम पड़ता था जिससे तीनों लोक दिखायी पड़ रहे थे। भूत-भविष्य-वर्तमानके साथ-साथ नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माकी अनुभूति हो रही थी, अब वह वृत्ति कहाँ चली गयी? अब रोओ। क्योंकि वह तो सत्त्वगुणकी एक वृत्ति आयी थी और तुम्हारे घरमें चमक गयी थी। यदि आप चाहो कि सामने चमकनेवाली वेश्या हमेशा हमारे घरमें उजाला करती रहे तो कैसे करेगी? वह तो चमककर चली जायेगी। यह सपनेका सुख कबतक सुख देगा? इसलिए जो लोग सत्त्वगुणको ज्ञान और सुख समझ लेते हैं, वे उसके आनेपर थोड़ी देर सुखी हो जाते हैं और उसके चले जानेपर रोने लगते हैं। किन्तु जो चिन्मात्र-निर्गुण-निर्विशेष-निर्धर्मक अपने स्वरूपको ही परमानन्दस्वरूप,

ज्ञानस्वरूप जान लेते हैं उनके सामने तो लोकका कोई प्रसंग ही नहीं है। इसलिए यह सत्त्वगुण भी दु:ख देता है और इसी सत्त्वगुणमें आसक्ति हो जानेके कारण। **'सङ्गेन'** कहा है—**'सङ्गेन'** माने आसक्ति, सञ्जन, सटना, चिपकना।

देखो, एक भूतपूर्व सिद्ध बोलते थे कि पहले तो मेरे पास ऐसी-ऐसी सिद्धियाँ थीं परन्तु अब नहीं आती हैं। पहले हमको दूरका भी मालूम पड़ जाता था, अब नहीं नालूम पड़ता। पहले हर समय आनन्दकी बौछारें पड़ती थीं, आनन्दके फौवारे उठते थे; अब वैसा नहीं होता है। मेरे भाई, वह सब उधारका माल था, आया और चला गया,उससे तुम्हारे अन्दर कोई फर्क नहीं पड़ता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ (७)

'रजो रागात्मकं विद्धि'—रजोगुण क्या है? यह रंग देता है। लोग गाते हैं न कि, *'मोहि अपने रंगमें रंग दे'*—लेकिन यह बिलकुल कच्चा रंग है। पक्का रंग नहीं है। इस कपड़ेमें पहले भी रंग नहीं था, बादमें भी नहीं था, बादमें भी नहीं रहेगा—यह तो बीचमें ही आया है और वह भी फीका ही है, बढ़नेवाला नहीं है।

देखो: रजोगुण जो थोड़ी देरके लिए अन्त:करणको रंग देता है, उसकी उत्पत्ति कहाँसे आती है? तृष्णा और आसंगसे है। एक तो उससे चिपक गये, उसके साथ एक हो गये और वह आगे भी मिले इसकी तृष्णा हो गयी। तृष्णा माने प्यास, हमको यह मिले, यह मिले—ऐसी जो प्यास है उसका कहीं अन्त नहीं है—*अन्तो नास्ति पिपासाया: ।जीर्यन्ति जीर्यत: केशा दन्ता जीर्यन्ति:जीर्यत: ।* आदमी जब बूढ़ा होता है तब उसके बाल सफेद हो जाते हैं, दाँत टूट जाते हैं, लेकिन उसकी *'तृष्णैका तरुणायते'*। ज्यों-ज्यों पति बूढ़ा होता जाता है, त्यों-त्यों यह तृष्णा श्रीमतीजी तरुण होती जाती हैं और वृद्धसे इसको सन्तोष नहीं होता है। इन्हींमें-से यह रंग निकलता है।

'तन्निबध्नाति कौन्तेय'—भगवान् कहते हैं कि कुन्तीपुत्र अर्जुन, रजोगुण बाँधता है। कैसे बाँधता है महाराज! ऐसे बाँधता है कि यह दवा खाओ तो हमेशाके लिए जवान हो जाओगे, यह काम करो तो धन हमेशाके लिए अपने पास टिकाऊ हो जायेगा, इस फर्ममें रुपये जमा कर दो तो व्याज बहुत मिलेगा, आदि-आदि। यह तृष्णा है और यही मनुष्यको बाँधती है। **'कर्मसङ्गेन देहिनम्'**—यह कर्मसङ्ग मनुष्यको फँसाता है। यह करो, यह करो। यह बिल्कुल मजबूर बनाकर छोड़ देता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ (८)

तमस्‌का बाप अज्ञान है। असङ्ग आत्मा और दृश्य प्रकृति—इन दोनोंके पृथक्त्वके बोधसे रहित दोनोंका तादात्म्य। वही अज्ञान है। यही सबको बाँधता है। प्रमाद, आलस्य, निद्रा—ये तीनों क्या हैं? सनत्सुजातने कहा कि आपने मौत देखी है? क्या वह लाल, काली, पीली, नीली है? मौतका रंग क्या है? उसकी लम्बाई, चौड़ाई कितनी है—एक बित्ता या दो बित्ता? अरे मौतमें न लम्बाई, न चौड़ाई है, न उसका रंग-रूप है, न उसमें वजन है, न उम्र है और न उसकी शक्ल-सूरत है। मौतमें तो कुछ भी नहीं है। *'न वै मृत्युर्नव्याघ्रवदवात्तिम् जन्तून्'*—मौत बाघके समान बन करके नहीं आती है और न किसीको खाती है। तब मौत क्या है? *'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि'*—हमारे जीवनमें जो प्रमाद है वह मृत्यु है।

देखो, प्रमाता और प्रमेयका स्फुरण तो सर्वत्र होता है; लेकिन कोई उसको वस्तुरूप मानकर मोहित हो जाते हैं और कोई उसको स्फुरण मात्र जानकर मजा लेते हैं। स्फुरण तो सामान्य है। चार्वाक, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत—इन सबकी दृष्टिसे यह संसार-स्फुरण हो रहा है, मालूम पड़ रहा है। मालूम पड़नेमें किसीका मतभेद नहीं है। लेकिन जिनके लिए यह यथार्थ है वे इसमें बँध जाते हैं। और जिनके लिए अयथार्थ है, वे इस स्फुरणकी अनेकरूपतामें आबद्ध नहीं होते हैं। कुल इतनी ही तो बात है! इसी तरह आलस्य क्या होता है? हमें अपने कर्तव्यका स्मरण आगया, परन्तु उसमें रस है नहीं, उसको मजा है नहीं। इसलिए हम अरस हो गये, अरसका अलस हो गया *'रलयोर् अभेदात्'* और अलसका *'अलसस्य भावः आलस्यम्'* हो गया। हम अपने आनन्दको बिखेरते हुए नहीं चलते हैं। अरे, तुमको मालूम है कि यह चमेलीके फूलमें जो सुगन्ध है, वह कहाँसे आयी है? हमने ही अपनी सुगन्ध उसमें डाली है भला! यह मोर जो नाचता है उसको इतना बढ़िया नाचना कहाँसे आया? कि हमने ही सिखाया। सूर्यमें किसकी चमक काम कर रही है? हमारी ही चमक काम कर रही है। चन्द्रमामें शीतलता, आह्लाद कहाँसे आया? हमने ही दिया है। जहाँ रसका वर्षण हो रहा है, रसोल्लास हो रहा है, रसकी रश्मियाँ विकीर्ण हो रही हैं, वहाँ जिसको हम छू देते हैं उसका नाम आनन्द है, जिसको हम देख लेते हैं, उसका नाम सौन्दर्य है, जिसको हम अपना प्रेम देते हैं, उसका नाम माधुर्य है और जिसको हम कानसे सुनते हैं, उसका नाम संगीत है। अरे, इस सृष्टिमें हमारे सिवाय और है ही क्या?

लो, यह जो अपनेमें अरसरूपता आगयी है, उसीसे आलस्य आगया है। और निद्रा क्या है? आप कहते हैं न कि हमारे ऊपर तो निद्रा ही चढ़ बैठी, निद्रा हमको भगाये लिये जा रही है। यह तमोगुणी बन्धन है। तमोगुण हमें बाँध लेता है निद्रामें,

आलस्यमें, प्रमादमें। हम थक गये काम करते-करते यह कहना व्यर्थ है। थकना-वकना कुछ नहीं है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ (९)

'सत्त्वं सुखे संजयति'—भगवान् कहते हैं कि सत्त्व सुखमें बाँधता है। **संजयति** माने सटाता है। जैसे गोंद किसी चीजसे चिपका देता है, ऐसे ही सत्त्वगुण पुरुषको, हर समय सुख बना रहे—इस आसक्तिमें चिपका देता है। अरे कभी सुख आते, कभी दुःख आते हैं, कभी दिन आते कभी रात! आवें तो आने दो।

'रजः कर्मणि भारत'—रजोगुण कर्ममें चिपका देता है और तमोगुण ज्ञानको ढककर प्रमादमें आसक्त कर देता है। *'संजयति। संजनं सङ्गः'*—यह सङ्ग शब्द सम्+गम् धातुसे बना हुआ नहीं है। यह आसङ्गार्थक सञ्ज धातुसे बना हुआ संजन शब्द है जिसका अर्थ है कि उसमें आसक्त हो जाते हैं—**'संजयत्युत'**।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ (१०)

भगवान् कहते हैं कि रजोगुण और तमोगुण—इन दोनोंको दबाकर सत्त्वगुण आता है। ये तीनों सृष्टिमें समानरूपसे नहीं रहते। समानरूपसे रहेंगे तो प्रलय हो जायेगा। इसलिए जब सत्त्वगुण होता है तब वह रजोगुण, तमोगुणको दबा देता है, जब रजोगुण होता है तब सत्त्वगुण-तमोगुणको दबा देता है और जब तमोगुण बढ़ता है तब सत्त्वगुण-रजोगुणको दबा देता है। आओ पहले इनको पहचान लो! विद्यारण्य स्वामीजीने कहा कि चोरको पहले पहचान लो और फिर कहो कि आओ भाई आओ, खाओ-पीओ-बैठो। इससे चोर भी तुम्हारा दोस्त बन जायेगा और चोरको पहचानकर कहीं चिल्ला दिया कि चोर-चोर तो वह तुम्हारी जानका ग्राहक बन जायेगा। मनुजीने कहा है—

हीनांङ्गानतिरिक्तान्विद्या-हीनान्वयोऽधिकान्।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेतत्॥

कानेको काना कहकर, चमारको चमार कहकर और छह अँगुलीवालेको छाँगुर कहकर मत पुकारना। अन्धेको बोलना हो तो सूरदास बोलना, प्रज्ञाचक्षु बोलना। चमारको बोलना हो तो रैदासजी बोलना और कहना कि आइये भगतजी, आइये-आइये!

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ (११)

जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है तब ज्ञानकी वृद्धि होती है और शरीरमें सब दरवाजोंमें-से रोशनी निकलने लगती है—आँखसे बढ़िया दिखता है, कानसे बढ़िया सुनता है तथा त्वचासे बढ़िया छूता है। जो आता है सो सब बढ़िया-ही-बढ़िया लगता है। क्योंकि जब प्रकाश तेज रहता है तो सबके भीतर जो अच्छाई छिपी है; वह दिख जाती है और जब अपनी आँख ठण्डी या कमजोर होती है, तब वह नहीं दिखायी देती। इसी तरह जिसका ज्ञान सूक्ष्म होता है वह सब जगह मर्मभेदी दृष्टिसे जो अच्छाई छिपी है, परमेश्वर छिपा हुआ है, उसको देख लेता है और जब ज्ञान कमजोर होता है तब वह परमेश्वर-पर्यन्त नहीं पहुँचता है, दोष-पर्यन्त ही पहुँचता है। इसलिए जब लोगोंमें दोष दीखने लगे, तब यह मत समझना कि यह दोषी है, बल्कि यह समझना कि हमारी आँख कमजोर हो रही है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ (१२)

यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको सम्बोधित करते हुए भरतर्षभ कहा है। भरतवंशमें सबसे श्रेष्ठ ऋषभदेव हैं। ऋषभदेवके वंशमें भरत हुए और यहाँ इस सम्बोधनके अनुसार भरतके वंशमें ऋषभ हुए। उलटा हो गया कि नहीं? पहले ऋषभदेवके ज्येष्ठ बेटेका नाम भरत था, अब यहाँ भरतके बेटेका नाम ऋषभ हो गया। मतलब यह कि भरतवंशमें पैदा हुआ अर्जुन ऋषभ है। इससे क्या हुआ कि रजोगुण बढ़ गया। इसको तुम पहचान लो। जब मनमें लोभ आता है तब क्या होता है? किसीको एक जगह ख्याल था कि दो रुपयोंका फायदा हो गया। तब बोलो कि अरे, भूल हो गयी। मुझको तो यहाँ दस रुपयोंका फायदा निकालना था। आया था दो-के लिए, मिल गया तीन, पर सोचने लगा दस—इस प्रकार उसका लोभ बढ़ गया—*'लाभात् लोभः प्रवर्द्धते'*।

'प्रवृत्तिः'—प्रवृत्ति-प्रवृत्ति करते जाओ, करते जाओ तो क्या होगा? एक बनिया मुझसे कहा करता था कि महाराज, न बेटा है और न बेटी है। पहले बीस हजारकी कमाई हुई फिर बीस लाख रुपये हो गये, फिर दो करोड़ हुए और फिर पाँच करोड़ हो गये। अब क्या करेंगे, कहाँ रखेंगे? मैंने कहा कि दान कर दो तो बोला नहीं, महाराज! देते नहीं बनता। अन्तमें ऐसा पकड़ गया कि कुछ पूछो मत! उसके सब बही-खाते, सब पासबुक, सब चैक-बुक पकड़े गये। वह भिन्न-भिन्न नौकरोंके नामोंसे बैंकोंमें रुपया जमा कराये हुए था, हस्ताक्षर भी वही करता था—नौकरोंको मालूम तक नहीं था। अन्तमें ऐसा पकड़ा गया और सरकारने ऐसा पीटा उसको कि सब चला गया। इसलिए यह करो-वह करो, इस प्रवृत्तिसे तृप्ति नहीं होती, मनमें हमेशा अशान्ति बनी रहती है।

स्पृहा क्या है ? यह है कि यह भी रहे, वह भी रहे। जब ऐसा हो तब समझना कि रजोगुणकी वृद्धि हो रही है, यही उसकी पहचान है। इसलिए सावधान!

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ (१३)

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब कुछ तो समझ-बूझका नाश हो जाता है, कुछ करनेका मन नहीं होता, समयपर बात भूल जाती है और मोहक अन्धकार छा जाता है। अब सत्त्वगुण होनेपर क्या होता है यह सुनो—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ (१४)
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ (१५)

सत्त्वगुण उदय होनेपर यदि मरोगे तो उत्तम लोकोंमें जाओगे, क्योंकि सत्त्वगुण जरा हल्का होता है, उसमें वजन नहीं होता। जिसमें वजन नहीं होता है, उसमें आदमी ऊपर उठता है। इसलिए सत्त्वकी वृद्धिमें मनुष्यका शरीर जब छूटता है, तब वह देवताओंके निर्मल लोकमें जाता है। किन्तु जब रजोगुणकी वृद्धि होती है, तब क्या होता है ? उसमें रज लगा होता है। अब महाराज, चुम्बकका टुकड़ा लोहेके कीलोंमें डाल दो तो जैसी शक्ल चुम्बककी होगी, वैसी ही शक्ल लोहेके चूरे चारों ओरसे इकट्ठे होकर बना देंगे। इसी तरह रजोगुणकी वृद्धि होनेपर मनुष्य कर्मसंगी हो जाता है। यदि तमोगुणमें प्रलीन होगा तो '**मूढयोनिषु जायते**'—मूढ़ योनिमें चला जायेगा।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ (१६)
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ (१७)
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ (१८)

सुकृत कर्मका अर्थ है—सावधानीसे काम करो। '**सुकृतस्य**=*पुण्यस्य*'। वासनाके आवेगमें जब आदमी काम करता है, तब वह सुकृत नहीं होता, दुष्कृत हो जाता है। इसलिए जो भी काम करो, उसको सोच-समझकर करो—ऐसे नहीं, ऐसे करना है। झाड़ू लगा रहे हो और धूल छूटती जा रही है। तो क्या वह सुकृत हुआ ? नहीं सुकृत

नहीं हुआ। क्योंकि जब झाड़ू लगानेमें सावधानी नहीं है, बीच-बीचमें धूल छूट जाती है तब वह सुकृत कैसे हो सकता है? वह तो दुष्कृत हो गया, क्योंकि तुम सावधान नहीं हो। बर्तन माँज रहे हो और उसमें जूठा लगा रह गया तो वह सुकृत नहीं हुआ, दुष्कृत हो गया। इसलिए जिस कामको भी करो, इतनी सावधानीसे करो कि वह बिलकुल ठीक हो और बादमें पछताना न पड़े कि हाय, हाय मुझसे तो भूल हो गयी। काश, मैंने अपनी जिन्दगीमें यह काम कर लिया होता। अरे, लोग तो मरते समय जब ताकत नहीं रहती है तब पछताते हैं। ये सब तमोगुणी हैं। अतः सुकृत करो। इसका फल निर्मल है। रजोगुणका फल दुःख है और तमस्‌का फल अज्ञान है, बेहोशी है, पत्थर हो जाना है। सत्त्वसे ज्ञान होता है, रजस्‌से लोभ होता है, तमस्‌से प्रमाद, मोह और अज्ञान—ये तीनों होते हैं।'**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः**'—सत्त्वमें स्थित होओगे, तो ऊपर उठोगे, उन्नति करोगे। रजोगुणमें रहोगे तो बीचो-बीचमें रह जाओगे—'**मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः**'—और यदि तमोगुणी वृत्तिमें चले जाओगे तो नीचे चले जाओगे—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**'।

ये जो गुण हैं, बाँधनेकी रस्सी हैं। तुम इस रस्सीको पहचान लो और उससे अपने-आप फाँसी मत लगाओ। ये तीनों गुण खुदकुशी करनेके लिए हैं। एकने कहा कि हम लोहेकी जंजीरसे खुदकुशी करेंगे। तो दूसरेने कहा कि नहीं जी, जब खुदकुशी करनी है तो लोहेकी जंजीरसे क्यों करनी, ताँबा-पीतलकी जंजीर बनवायेंगे और तीसरेने कहा भाई, खुदकुशीके लिए लोहा, ताँबा, पीतलकी जंजीर नहीं सोनेकी जंजीर बनाओ। मरना ही है तो अफीम खाकर क्या मरना, हीरा खाकर मरेंगे। अरे, जब मरना ही है तो क्या अफीम और क्या हीरा!

इस प्रसंगमें एक कथा सुनो! जब दुर्योधनने भरी सभामें श्रीकृष्णको बाँधना चाहा तब उसकी ओरसे नारियलकी रस्सी मँगायी गयी। इसपर धृतराष्ट्र कहने लगे कि बेटा, मैंने सुना है कि श्रीकृष्णका शरीर बड़ा सुकुमार है, उसपर नारियलकी रस्सी गड़ जायगी, इसलिए श्रीकृष्णको बाँधनेके लिए रेशमकी रस्सी मँगवाओ। श्रीकृष्णको बन्धनमें डालनेमें उन्हें कोई एतराज नहीं है, सिर्फ यह चाहते हैं कि नारियलकी रस्सीसे नहीं, रेशमी डोरसे उन्हें बँधवा देंगे।

हे भगवान्! यही अकल है लोगोंकी। अरे, जब हम बँध ही रहे हैं, तब क्या तमोगुण, क्या रजोगुण और क्या सत्त्वगुण—ये तीनों ही तो बन्धनका दुःख देंगे। हमारे कर्मियोंने, उपासकोंने, योगियोंने सत्त्वगुणमें इतने महत्त्वका भाव पैदा कर दिया कि गुणोंसे छूटनेकी इच्छा ही नहीं होती। इन्होंने मुमुक्षाको ही बन्द कर दिया। यह सब विजातीय सम्पर्कका फल है। कर्मीका सम्पर्क विजातीय सम्पर्क है। उपासकका सम्पर्क विजातीय सम्पर्क है और योगीका सम्पर्क भी विजातीय सम्पर्क

ही है। इन लोगोंने यह किया कि बन्धनके प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया। यह वृत्ति हमेशा बनी रहे और यह काम हमेशा होता रहे—यह भावना पैदा कर दी। बोले कि भाई चलो, दण्ड-कमण्डलु उठाओ यहाँसे। क्यों? इसलिए कि हम करते हैं योगाभ्यास और दूध-दही यहाँ मिलता नहीं है तो जहाँ सात्त्विक भोजन मिलेगा वहाँ चलकर रहेंगे। हम तो इन्हींके संग रहेंगे, दूध, मलाई, मेवा, मिश्री दोनों वक्त लहेंगे। क्यों? कि सात्त्विक भोजन तो मिल जाता है। अरे बाबा, भोजन-तो-भोजन है। यह भी बन्धन कि यहाँका जल सात्त्विक है, यहाँका वायु सात्त्विक है। तुमको गुणातीत होना है कि जलवायुमें बँधना है?

यदि आप समझते हैं कि यह छींटा है तो यह छींटा चारो ओर है। जब छींटा ही फेंकना है, तो होलीके दिनोंमें किसीसे लिहाज क्यों किया जाय? इसलिए जो जलवायुके, सात्त्विक वातावरणके बड़े प्रेमी हैं उनके ऊपर भी एकाध पिचकारी तो चलनी ही चाहिए न!

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ (१९)

भगवान् कहते हैं कि देखो, तुम तो हो द्रष्टा और सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण कर्ता हैं। द्रष्टा पुरुष वृत्तिको सात्त्विक मान लो तो वृत्तिका, कर्मको राजस मान लो तो कर्मका और देहादिको तामस मान लो तो देहका, संग छोड़ देता है। तब देखता है कि कर्ता गुण ही है **'गुणेभ्यः अन्यम् आत्मानं कर्ता नानुपश्यति'**— आने-जानेवाले गुणोंसे अन्य जो आत्मा है, वह कर्ता नहीं है। अब आने दो गुणोंको। तुम्हारा गंगाजीके दिव्य तटपर जो समय बीतता है वह सात्त्विक है, साबुन लगाकर कपड़ा धोनेमें जो समय लगता है वह रजोगुण है। कभी नींद आगयी और सो गये तो वह तमोगुण है। यह सब गुणोंके खेल हैं, कभी ऐसा कभी वैसा। इसमें तुम कौन हो? **'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति'**—ऐसे भी तुम वैसे भी तुम। निद्रा, आलस्य, प्रमादमें भी तुम और गंगाके शीतल प्रवाहमें भी तुम। तुम ज्यों-के-त्यों हो। क्योंकि **'मद्भावं सोऽधिगच्छति'**—अब तुम परमात्मा हो, जीवात्मा नहीं हो। जो सृष्टि, स्थिति, प्रलयमें एक सरीखा है, उसीका नाम परमात्मा है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ (२०)

अर्जुन इस देहमें जो तीनों गुण आते-जाते रहते हैं, इनको आने-जाने दो। इनको सड़कपर रोक लगानेकी जरूरत नहीं है। तुम यह नहीं कर सकते कि सड़कपर तो केवल भलेमानुष लोग ही चलेंगे, गुण्डा नहीं चलेंगे। यदि तुम

सड़कपर गुण्डोंका आना-जाना रोकनेके लिए डण्डा लेकर बैठोगे तो लोग तुम्हारा ही नाम गुण्डा रख देंगे। इसलिए जो आता है उसको आने दो, जो जाता है उसको जाने दो। तुम इनसे अतीत होकर रहो। न तुम्हारा जन्म है, न तुम्हारी मृत्यु है। न तुमको बुढ़ापा है और न दुःख है। तुम इनसे विमुक्त अमृतास्वादी हो, अमृतस्वरूप हो।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ (२१)

अब अर्जुनने पूछा कि महाराज, इसकी पहचान कैसे हो कि यह तीन गुणोंका अतिक्रमण कर गया है? '**कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते**'-तीन गुणोंसे परे जानेका उपाय क्या है? जो परे गये उसका आचार कैसा है—'**किमाचारः**' और वह किन पहचानोंसे पहचाना जाय? इसपर भगवान्‌ने बताया कि—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ (२२)
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ (२३)

देखो अर्जुन, प्रकाश आता है सत्त्वगुणीमें, प्रवृत्ति आती है रजोगुणीमें, मोह आता है तमोगुणीमें और 'च-च-च' माने जो भाई-बन्धु हैं, वे भी आते हैं। यहाँ जो 'च-च-च' (अव्यय) है वह अनुक्त-समुच्चार्थ है; जिनका नाम नहीं लिया है जैसे '**प्रकाशं च**'—प्रकाशके साथ सुख भी आता है, '**प्रवृत्तिं च**'—प्रवृत्तिके साथ और भी उसके लग्गू-भग्गू आजाते हैं। मान लो कि कोई यज्ञ-प्रवृत्तिकर हो तो वेदी बनानेके लिए नौकर-चाकर आवेंगे कि नहीं? पैसा देनेके लिए बनिया लोग आयेंगे कि नहीं! इस प्रकार प्रकाशके साथ उसके लग्गू-भग्गू, प्रवृत्तिके साथ उसकी पूँछ और मोहके साथ उसमें जो धूल-झंखाड़ लिपटा रहता है, वह सब आयेंगे। लेकिन जो आगये, अब संन्यासीका यह काम नहीं है कि उनको चले जानेके लिए कहे। तब क्या करें? खुद ही उठकर चला जाये। हमारे आचार्योंने संन्यासीका व्यवहार कैसा हो, यह बताते हुए कहा है—

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा।
सम्मानं च न वै ब्रूयात् यतिर्मोक्ष- परायणः॥

कोई आवे तो 'आइये' कहनेकी जरूरत नहीं है, जाये तो जाइये कहनेकी जरूरत नहीं है और यह भी कहनेकी जरूरत नहीं है कि कुछ दिन ठहरिये, हमारे

आश्रमको सनाथ कीजिये। आप सरीखा राजा, आप सरीखा सेठ हमारे आश्रममें रहेगा तो इसकी शोभा बढ़ जायेगी।

तो भगवान् कहते हैं कि अर्जुन—'**न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि**' अपने हृदयमें द्वेषाधान मत करो। जो है उसको रहने दो। '**न निवृत्तानि काङ्क्षति**'—जो चला गया उसको लौटाओ मत और जो आरहा है उससे द्वेष मत करो।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ (२३)

उदासीनकी तरह बैठे रहो। मध्यस्थ और उदासीनमें फर्क होता है। दो आदमी आपसमें झगड़ा कर रह हों और जो बीचमें पड़कर पञ्चायत करके फैसला करा दे, झगड़ा मिटा दे; उसका नाम मध्यस्थ होता है। लेकिन लड़ते हैं तो लड़ने दो, अपनेको क्या लेना, क्या देना है। यह उदासीनका लक्षण है। असलमें पञ्चायत करनेके लिए सब जगह चौधरीपना दिखाना बड़ा दु:ख देता है। कहीं पति-पत्नीमें झगड़ा हो रहा हो, भाई-भाई लड़ रहे हों और वहाँ आप बिना बुलाये पञ्चायत करने चले जायें तो पति-पत्नी एक हो जायेंगे, भाई-भाई एक हो जायेंगे और बोलेंगे कि देखो, यह बिचोलिया हमलोगोंमें फूट डालनेके लिए आया था। इस तरह तुम बदनाम होकर लौटोगे। इसलिए सब जगह चौधरीपना नहीं करना चाहिए। उदासीनकी तरह बैठे रहना चाहिए और '**गुणैर्यो न विचाल्यते**'—कभी-कभी कोई गुण जोर मारे तो उससे विचलित नहीं होना चाहिए। '**गुणा वर्तन्त इत्येव**'—देखो पहले कहा था कि '**गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते**'—अर्थात् इन्द्रियाँ विषयोंमें बरतती हैं, आँख रूप देखती है, कान शब्द सुनता है ओर त्वचा स्पर्श करती है। इनमें आसक्ति नहीं करनी चाहिए। किन्तु यहाँ कहते हैं कि— '**गुणा वर्तन्त इत्येव**'—अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण—ये तो बर्तते ही रहते हैं। आओ, हम बैठें; ये तो बच्चे हैं, इन्हें खेलने दो, नाचने दो—'**योऽवतिष्ठति नेङ्गते।**'

आओ, इस प्रसङ्गपर फिर विचार करें! भक्तोंकी दृष्टिमें भगवान् सर्वदा सगुण हैं और स्वदृष्टिसे भगवान् सर्वदा निर्गुण हैं। यदि भगवान् अपनेको गुणी मानेंगे तो गुणातीत भान हो जानेसे गुण-गुणीका भेद ही उनके सिरपर बैठ जायेगा। इसलिए भगवान् स्वदृष्टिसे कभी सगुण नहीं होते हैं और भक्तकी दृष्टिसे कभी निर्गुण नहीं हो सकते, नहीं तो भजनीयता ही नहीं रहेगी। यह मतभेद हमेशासे चल रहा है। अत: जो लोग भक्तकी दृष्टिसे भगवान्‌को देखते हैं, वे सगुण ही देखते हैं और अपनेको निर्गुण देखते हैं कि हमारे अन्दर तो कोई गुण नहीं है। किन्तु भक्त निर्गुण होते हैं तो भगवान् सगुण होते हैं और भक्त सगुण होते हैं तो भगवान् निर्गुण हो जाते

हैं। इन दोनोंके बीचमें कड़ीको जोड़नेवाला, लड़ीको जोड़नेवाला गुणातीत है। भगवान्‌की दृष्टिसे सृष्टिको देखो तो आप गुणातीत हैं। उनकी नजरसे नजर मिला दो। पूर्णतामें गुण नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। क्योंकि गुण तो गुणीभावको साथ लेकर रहता है। जब गुणातीतकी बात चली तब भगवान्‌ने कहा कि देखो संसारके गुणोंसे तो उतना कुछ सम्बन्ध नहीं है, असलमें संसर्गाध्यास होता ही नहीं। कभी किसी दूसरेको गुणी देखते हैं तो उससे ईर्ष्या भी होने लगती है कि ये गुणी क्यों हैं ? और किसीको गुणरहित देखते हैं तो उससे घृणा भी होने लगती है। इसलिए असली काम तो हमको हमारे जीवनमें जो गुण आते हैं उन्हींसे पड़ना है। जो साधक होते हैं वे रोने लगते हैं कि हाय-हाय, हमको निद्रा क्यों आगयी, आलस्य आगया, प्रमाद आगया। वह कभी रोता है कि आज तो बड़ा विक्षेप हो गया और कभी रोने लगता है कि कल मुझको जैसा आनन्द आया था और प्रसन्नता हुई थी, आज वह कहाँ चली गयी ? हाय-हाय कल जैसी स्थिति नहीं है। कभी वह यह भी सोचता है कि हम शान्त रहते हैं, हमको समाधि लगती है और हमारे बराबर दूसरा और कौन है ?

यहाँ भगवान् गुणातीतकी जो पहचान बताते हैं, उसपर ध्यान दो। वे कहते हैं कि **'उदासीनवत्'**—हम जैसे दूसरोंके साथ उदासीनताका बर्ताव करते हैं, वैसे ही हमें अपने कहे जानेवाले देह-इन्द्रिय-अन्तःकरणके साथ भी उदासीनवत् आचरण करना चाहिए। कभी नींद आगयी, सो गये। कभी मनमें आया कि चार मील चल आवें तो चल आये। कभी जोर-जोरसे बोलनेका मन हुआ तो बोल लिया। यह नहीं कि खाँसी आ रही है,उसको दबाते जा रहे हैं। ऐसा करोगे तो रोग होनेका डर है। इसलिए खाँसी आवे तो खाँस लिया करो। शान्ति आवे तो बहुत बढ़िया। पर गुणोंके आने-जानेसे अपने स्वरूपमें कोई विचलन नहीं होना चाहिए। **'गुणैर्यो न विचाल्यते।'** अच्छे गुण आनेसे अभिमान नहीं होना चाहिए और बुरे गुण आनेसे ग्लानि नहीं होनी चाहिए। अभिमान और ग्लानि दोनोंसे मुक्त होकर जीवन्मुक्त पुरुष निवास करता है—यही गुणातीतका आचरण है।

आपको एक छोटी-सी बात सुना देता हूँ। एक महात्मा थे। मैं उनकी सेवामें था। क्योंकि वे गङ्गा किनारे-किनारे होते हुए हमारे यहाँ आये थे। उनको जब क्रोध आता था तब वे बहुत भद्दी-भद्दी गालियाँ देते थे, जिनको बोलकर सुनाया नहीं जा सकता। क्योंकि वे सभ्यताके, शिष्टाचारके विपरीत हैं। एक दिन वे मेरे ऊपर नाराज हो गये और उन्होंने मुझे गालियाँ दीं। मैं तो चुपचाप सह गया, क्योंकि मेरी दृष्टिमें तो वे परमात्मा-रूप ही थे। जब वे शान्त हुए, खुश हुए तो पहुँच गये रसोई घरमें।

वहाँ मैं उनके लिए खिचड़ी बना रहा था। उन्होंने चूल्हेपर चढ़ी खिचड़ीमें अँगुली लगायी तो वह जल गयी। फिर वे बोले कि देखो गुरु, मैं तुम्हारे ऊपर नाराज हुआ तो मेरी अँगुली जल गयी। मैंने बादमें उनसे पूछा कि महाराज, आपको इतना गुस्सा क्यों आता है? यह सुनकर वे फिर गुस्सेमें आगये और बोले कि मैं तुमको बुलाने जाता हूँ? फिर तुम क्यों आते हो मेरे पास? मैंने कहा कि महाराज, मैं अपनी श्रद्धासे आता हूँ। अच्छा, मैं कहता हूँ कि रहो? नहीं महाराज, आप नहीं कहते हैं। तब क्या मैं कहता हूँ कि चले जाओ? नहीं महाराज, आप कभी नहीं कहते। तो जैसे तुम अपने मनसे आते रहते हो और चले जाते हो, वैसे ही मेरे पास क्रोध भी अपने मनसे ही आता है, रहता है और चला जाता है। इसलिए इसकी फिक्र क्यों करना?

'गुणा वर्तन्त इत्येव'—अरे, गुण तो हर हालतमें कुछ-न-कुछ रहते ही हैं और अपना काम भी करते ही हैं। अन्यत्वेन भासमान गुण और तादात्म्येन-अध्यासेन—अहंत्वेन भासमान गुण—ये दोनों अपना काम करते ही रहते हैं। इसलिए इन्हें अपना काम करने दो और हम अपना काम करते हैं।

'योऽवतिष्ठते नेङ्गते'—यहाँ **'अवतिष्ठति'** पढ़ा गया है क्योंकि श्रीकृष्णने पाणिनीय व्याकरण पढ़ा था—ऐसा तो मेरा ख्याल नहीं है। वे सांदीपनि गुरुके यहाँ पढ़ने जरूर गये थे, पर उस समय पाणिनीय व्याकरण था ही नहीं। यदि कहो कि क्यों नहीं था तो पाणिनिने स्वयं अपने सूत्रोंमें वासुदेव शब्दका उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने अपना पाणिनीय व्याकरण बादमें बनाया होगा। उन्होंने *'वासुदेवार्जुनाभ्यां वन्'* सूत्रमें वासुदेव और अर्जुन इन दोनोंका एक साथ नाम लिया है। इसलिए कृष्णके बाद हुए पाणिनि और उनका पाणिनीय व्याकरण। फिर उस समय उनको कौन रोकता कि आप **'अवतिष्ठति'** मत बोलो *'अवतिष्ठते'* बोलो? जिन लोगोंको पाणिनीय व्याकरणका बहुत बड़ा आग्रह होता है वे 'योऽवतिष्ठते' ऐसा पाठ मानते है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ (२४)

अब भगवान् गुणातीतका लक्षण और बताते हैं। **'समदुःख सुखः'**—जिसको दुनियामें सुख-दुख कहते हैं वे बराबर ही हैं। सचमुच बराबर हैं। यदि जिन्दगीको तौलकर देखा जाये तो जैसे रात-दिन बराबर होते हैं—*'सम प्रकाश तम पाख दुहुं,'* वैसे ही कभी सुख आता है तो कभी दुःख आता है। जब हृदयाकाश निर्मल हुआ तो उसका नाम सुख हो गया और जब हृदयाकाश दुष्ट हुआ, आँधी—तूफान चलने लग

गया, तो इसका नाम दुःख हो गया। असलमें हृदयाकाशमें न 'सु' है और न 'दु' है वह तो 'ख' मात्र है और उसमें जो सुष्ठुत्व है, वह तो उपसर्ग है माने आगन्तुक है। उपसर्ग माने आगन्तुक। वह कृत्रिम है, विघ्न है। इसलिए महात्माके लिए तो सुख-दुःख समान ही है। गर्मी पड़ी, सर्दी पड़ी। एक महात्माको किसी सज्जनने बहुत बढ़िया भोजन कराया। महात्मा बोले कि आजका भोजन तो बहुत बढ़िया है, क्या बात है? सज्जनने कहा कि महाराज, गाँवमें एक व्यक्ति मर गये हैं, आज इनका श्राद्ध था। महात्मा बोले कि अच्छा श्राद्ध था? श्राद्धके दिन ऐसा भोजन होता है। तब तो हे भगवान्! रोज श्राद्ध हुआ करे। इसके बाद गाँवमें लोग मरने लगे और रोज किसी-न-किसीका श्राद्ध होने लगा। फिर लोगोंने पंचायत की और जिस दिन किसीके घरमें बेटा हुआ तो उस दिन और बढ़िया भोजन बनाकर महात्माके पास ले गये। महात्मा बोले कि भाई आज तो पहलेसे भी बहुत बढ़िया भोजन है। लोगोंने कहा कि महाराज, आज बेटा हुआ है। महात्मा बोले कि अच्छा बेटा होनेपर ऐसा भोजन होता है? हे भगवान्; रोज-रोज इस गाँवमें बेटा ही हुआ करे। इसी तरह सुख-दुःखमें महात्मा समान रहते हैं। '**स्वस्थः**'—अपने स्वरूपमें स्थित रहो जिससे कि सवारी करनेकी कभी कोई जरूरत ही नहीं पड़े। '**स्वस्थः**' माने स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करो। स्वस्थ रहो, प्रकृतिस्थ हो जाओ, अनात्मक मत होओ, आत्मक रहो, आत्मस्थ रहो।

अच्छा, यह तो हुआ स्वरूपकी दृष्टिसे स्वस्थ और सुखाकार-दुःखाकार वृत्तिसे ऐसा होता है कि सम। अब पदार्थकी दृष्टिसे स्वस्थ कैसा होता है? '**समलोष्टाश्मकाञ्चनः**'—बाहर मिट्टीका डला हो, पत्थर हो, लोहा हो अथवा सोना हो, उन सब चीजोंमें उसकी समता होती है। जिसकी सुखाकार-दुःखाकार वृत्तिमें भी समता होती है और अपने स्वरूपमें स्थिति होती है, वह स्वस्थ है।

'**तुल्यप्रियाप्रियः**'—भगवान् कहते हैं कि जीवनमें जो कभी प्रिय आते हैं, कभी अप्रिय आते हैं, उनको आने दो, जाने दो, वे तो '**आगमापायिनः**' हैं, अनित्य हैं। प्रिय और अप्रियको बराबर ही समझो। अपना तराजूका पलड़ा मत बिगाड़ो। इसको ऐसे समझो कि तुम्हारे घरमें कभी कोई दोस्त आता है तो जैसे उसको आसनपर बैठाकर जलपान कराते हो, वैसे ही कभी तुम्हारा शत्रु आजाये तो उसको भी ऊँचे आसन पर बैठाओ, जलपान कराओ और उसको भी प्यारकी आँखोंसे देखो। अपने तराजूके पलड़ेपर दोस्त-दुश्मनका भेद मत करो। दोनोंसे मीठा बोलो, दोनोंसे हाथ मिलाओ, दोनोंको ऊपर बिठाओ, क्योंकि भले ही उसका चोला दूसरा है, लेकिन जो उस चोलेको पहनकर आया है, वह तो तुम्हारा ही स्वरूप है, वह तुम्हीं हो, वह तुम्हारा ही भगवान् है।

'**धीरः**'—तुम्हारा धैर्य खोने न पावे। बुद्धिको काबूमें रक्खो, उसे डाँवाडोल मत होने दो। एक दिन मैंने अपने लोगोंसे कहा कि जरा राग-वैराग्यकी बात सुनाओ तो एकने सुनाया कि रागमें यह दोष हे, यह दोष है, यह दोष है, इसलिए वैराग्य करना चाहिए। मैंने कहा कि वैराग्यका कोई स्थिर आधार नहीं है। क्योंकि हमारा स्वरूप असंग है। इसलिए कोई चीज ऐसी है ही नहीं, जो हमारे साथ चिपक जाये या हम उसके साथ चिपक जायें। अपने स्वरूपकी असंगताको लेकर जो वैराग्य होता है, वह पक्का होता है। विषयके दोषको लेकर जो वैराग्य होता है, वह थोड़ा कच्चा रहता है। वैराग्य अपनी असंगताका विवर्त है। यह जो स्वरूपगत असंगता है उसका विवर्त है, तरङ्ग है, भँवर है वैराग्य। विवर्त माने भँवर।

'**तुल्यानिन्दात्मसंस्तुतिः**'—कोई तुम्हारी निन्दा करे या स्तुति करे, लेकिन यह है तो शरीर ही। इससे जिसका प्रेम होता है अथवा जिसका मतलब होता है, वह स्तुति करने लगता है। नीतिशास्त्रमें तो लिखा है कि अगर तुम्हारे पास आकर कोई तुम्हारी बहुत तारीफ करने लगे तो समझ लेना कि आज वह कुछ माँगनेवाला है। बहुत तारीफ करनेवाला मतलबी होता है। लेकिन सच्ची बात तो यह है कि '*शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जनाः*'—यदि कोई हमारे शरीरकी निन्दा करता है तो वह हमारा मददगार है। क्योंकि शरीरकी निन्दा हम भी करते हैं और '*आत्मानं यदि निन्दन्ति आत्मानः स्वयमेव ते*'—यदि कोई आत्माकी निन्दा करता है तो उसकी आत्मा हमारी आत्मा एक ही है इसलिए आत्मनिन्दक तो अपनी ही निन्दा करते हैं।

तो निन्दा-स्तुतिपर ज्यादा ध्यान नहीं देना चाहिए। जैसे धूल आसमानमें उड़ती है, वर्षा होती है और गरमी पड़ती है, वैसे ही कभी गर्म तो कभी सर्द हवा बहती रहती है। उसका ज्यादा ख्याल नहीं करना चाहिए।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ (२५)

मानसे संसारी प्रसन्न होता है और साधक दुःखी होता है तथा अपमानसे संसारी दुःखी होता है और साधक प्रसन्न होता है। सिद्धके लिए मान-अपमान दोनों एक हैं। '**मानापमान**' शब्द केवल देहाभिमानीके लिए यथार्थ है। जो देहको ही अपना सब-कुछ समझता है, उसीके लिए मानापमान शब्द यथार्थ है। किन्तु जिसको देहाभिमान नहीं है, उसके लिए तो मानापमान शब्द बिलकुल निरर्थक है। उसकी दृष्टिमें न तो मान है और न अपमान है। दोनों बराबर हैं। अरे, लोग मुर्देको खूब फूल चढ़ाते हैं, मालाएँ चढ़ाते हैं तो उनसे उसका कुछ सम्मान होता है? नहीं, कोई सम्मान नहीं होता है।

'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः'—एक मित्र-पक्ष और दूसरा अरि-पक्ष है। जो कुछ नहीं देता, उसको लोग अरि मान लेते हैं। और कहते हैं कि अरे यह तो हमको कभी कुछ देता ही नहीं। हम तो ब्राह्मण रहे हैं, पुरोहित रहे हैं। हमारे यहाँ किसी-किसी घरसे सालमें दो-दो रुपये भेंट आजाती थी. किसीके घरसे दस सेर, किसीके घरसे एक मन और किसीके घरसे तीन मन अन्न आजाता था। वह तो देनेवालोंकी मौज थी कि वे दे जाते थे। लेकिन एक बार नहीं भेजे तो मालूम पड़ता था कि देखो न, इसको तो देना चाहिए था, क्यों नहीं दिया? वह अपनी मौजसे देता था और हम मान बैठते थे अपनी हकदारी। इस तरह हर साल नियमसे दक्षिणा देनेवालोंपर भी लेनेवाला अपनी हकदारी मान बैठता है। लेकिन यह जो मित्र पक्ष है, बिलकुल कल्पित है। *'मेद्यति इति मित्रः'। 'मेद्यति=स्नेहयति'*—जो मक्खन लगाता है, खिलाता है उसका नाम मित्र है और जो कुछ नहीं देता है उसका नाम अरि है। इसलिए दोनों पक्षोंमें समान ही रहना चाहिए। शरीरका कभी रूखा रहना भी आवश्यक होता है और कभी चिकना होना भी आवश्यक होता है। दोनों बराबर भलाई करते हैं।

'सर्वारम्भपरित्यागी'—संकल्पपूर्वक जो बड़े-बड़े आरम्भ किये जाते हैं—जैसे इतना चन्दा करेंगे, इतना बड़ा यज्ञ करेंगे और इतना बड़ा उत्सव करेंगे, इसमें कहीं-न-कहीं, कुछ-न-कुछ स्वार्थकी बात होती है। नहीं तो इतनी मेहनत कौन करे? उसमें मेहनत-मजदूरीकी भावना भी कहीं-न-कहीं जरूर रहती है, नहीं तो आदमी बड़ा आरम्भ कर नहीं सकता। इसलिए यदि गुणातीत होकर रहना हो तो बड़े-बड़े जो आरम्भ हैं वह नहीं करना चाहिए।

'सर्वारम्भाः हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जैसे आगमें धुआँ रहता है, धुआँ जैसे आगको ढक देता है, वैसे ही तुम जितना आरम्भ करोगे, जितना काम बढ़ाओगे वह दोषयुक्त जरूर हो जायेगा।

असलमें संसारमें हाँ करना दुःखका मूल है और ना करना दुःखसे छूटनेका उपाय है। इसलिए 'नेति-नेति' महावाक्यसे भी बड़ा है। क्योंकि नेति-नेतिमें जो इति शब्द है, उसका अर्थ *'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि'* भी है। जब हम *नेति-नेति* बोलते हैं तब उसका अर्थ वही होता है जो तेजोबिन्दु-उपनिषद्में आया है—*'अहं ब्रह्मास्मि नास्त्येव।'* वह *इति* शब्दका ही अर्थ है। इसलिए ना कहनेमें कल्याण है और हाँ कहनेमें बन्धन-ही-बन्धन है। जहाँ हाँ, बोला कि वहाँ फँस गये। कोई पूछे कि भाई तुम्हारे पास पैसा है और तुम बोलो कि नहीं है तो वह तुरन्त चला जायेगा। किन्तु यदि यह कह दो कि हाँ है तो वह कहेगा कि दो रुपया उधार दे दो। फिर तुम उधार देनेके बाद उसके पीछे-पीछे घूमोगे कि लौटाओ। इसलिए 'ना' में जितना मङ्गल है उतना 'हाँ' में नहीं है।

'**गुणातीतः स उच्यते**'—ना करते-करते कभी हाँ हो जाये तो कोई दोष नहीं है; लेकिन हाँ करके ना करोगे तो बड़ा भारी दोष लगेगा, तुम्हारे दुश्मन बन जायेंगे लोग। दुश्मन बनानेका तरीका यही है कि पहले हाँ बोलो, पीछे ना बोलो और दुश्मन बना लो। लेकिन ना बोलकर कभी-कभी हाँ भी कर दिया करो तो कुछ बिगड़ता नहीं है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ (२६)

देखो, भगवान्‌ने पहले तो गुणातीत होनेका यह उपाय बताया कि आत्मा कर्ता नहीं है, गुण ही कर्ता है। यह त्वंपदार्थ-प्रधान गुणातीत होनेका उपाय है। भगवान् कहते हैं कि '**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति**'—तुम हो द्रष्टा और गुण ही हैं कर्ता '**गुणेभ्यश्च परं वेत्ति आत्मानं**'—मैं दोनोंसे परे हूँ। लेकिन तुम इस तत्त्वसे बहुत ज्यादा प्रेम नहीं करना। क्योंकि बहुत तत्त्व भी दुःखदायी हो जाता है। जो अत्यन्त तत्त्व-प्रेमी है, वह अन्तमें दम्भाकार परिणामको प्राप्त होता है, क्योंकि वह निरन्तर तो रहेगा नहीं और जब नहीं रहेगा, तब भी दिखाना पड़ेगा कि तत्त्व बना हुआ है।

अब जो तत्पदार्थ-प्रधान उपाय है वह यह है कि परमात्मा भी गुणातीत है और आत्मा भी गुणातीत है। इसलिए गुणातीत परमात्मामें वृत्ति लगाओगे तब भी गुणातीत हो जाओगे और गुणातीत आत्मामें स्थित हो जाओगे तब भी गुणातीत हो जाओगे। असलमें आत्मा-परमात्मा दोनों शब्दोंका अर्थ गुणातीत ही है।

यदि कोई कहे कि हम भक्तियोगसे भगवान्‌की सेवा करेंगे और गुणातीत हो जायेंगे तो हम बोलते हैं नहीं, नहीं होओगे। क्यों नहीं होओगे? इसलिए नहीं होओगे कि भक्तियोग कभी रहेगा, कभी नहीं रहेगा। जब नहीं रहेगा तब भी मानोगे कि भक्तियोग है। हसेमें एक दिन गिरजाघरमें जाकर प्रेयर कर आते हैं और भगवान्‌के भक्त बन जाते हैं। थोड़ी देरके लिए हाजिरी दे आये और बोले कि भक्तराज हैं। नहीं, नहीं, तब कैसे?

'**अव्यभिचारेण भक्तियोगेन**'—देखो, भक्तियोगमें व्यभिचार न हो। व्यभिचार कब नहीं होगा? यदि पत्नी अपने पतिकी गोदमें सोयेगी तब तो व्यभिचार नहीं होगा और अपने पतिकी गोदको छोड़कर किसी दूसरेकी गोदमें जाकर सो जायेगी तो व्यभिचार हो जायेगा। इसी तरह जब हम चाहेंगे कि हमारा भक्तियोग भगवान्‌के प्रति अव्यभिचारी हो तो जबतक आत्मासे अतिरिक्त परमात्मा रहेगा तबतक भक्तियोग अव्यभिचारी होगा ही नहीं। छोड़-छोड़कर भक्तियोग लौट आयेगा, बार-बार

अन्यके प्रति किया हुआ भक्तियोग लौट आयेगा। इसलिए प्रत्यक् चैतन्याभेदेन जब परमात्मा होगा तब अव्यभिचारी भक्तियोग होगा और तब तुम गुणातीत तो हो ही जाओगे।

'स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते'—गुणों-का अतिक्रमण होकर **'ब्रह्मभूयाय कल्पते'**, *'ब्रह्मभवनाय कल्पते'*—वह ब्रह्म हो जायेगा। होनेके अर्थमें ही **'ब्रह्मभूय'** बोलते हैं। अब यह प्रश्न उठा कि आपकी भक्ति करेगा अव्यभिचारी और होगा अपना—यह तो कोई कायदा नहीं, कोई न्याय नहीं। वह तो जिसकी भक्ति करे, वही होना चाहिए उसे। भक्ति करेंगे भगवान्‌की और हो जायेंगे ब्रह्म। इसका अर्थ है कि ब्रह्म और भगवान् एक ही होने चाहिए। *'एकत्वं स्थापितं चेत् तर्हि भगवद्भक्तः ब्रह्मभूयाय कल्पते'*—यदि ब्रह्म और भगवान्‌में एकत्व स्थापित है तब तो भगवद्भक्त ब्रह्म हो जायेगा और ब्रह्मभक्त भगवान्‌से मिल जायेगा। **'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्। ते प्राप्नुवन्ति मामेव**= *भगवन्तमेव'*—असलमें श्रीकृष्णका यह जो *'माम्'* है यह बड़ा गड़बड़ाध्याय है। कभी तो महाराज अपनेको यदुवंशी मानकर **'माम्'** बोलते हैं— और कभी पाण्डवोंका सम्बन्धी मानकर **'अहम्'** बोलते हैं, कभी मनुष्य-रूपसे अपनेको **'अहं'** बोलते हैं। कभी विश्वरूपसे **'अहं'** बोलते हैं, कभी ब्रह्मरूपसे **'अहं'** बोलते हैं और कभी सर्वात्म रूपसे **'अहं'** बोलते हैं।अरे, ऐसा लगता है कि इनको किसी भी चीजको **'अहं'** कह देनेमें कोई डर ही नहीं है। इनके **'अहं'** के सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं। भगवान् बोले कि क्या बोलते हो! जो मेरी भक्ति करेगा वह ब्रह्म हो जायेगा? हाँ, हाँ ऐसा बोलो, क्योंकि जिसको हम ब्रह्म-ब्रह्म बोलते हैं यह मुझमें ही प्रतिष्ठित है। **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**— *प्रतितिष्ठति अस्मिन् इति प्रतिष्ठा।'* ब्रह्म कहाँ रहता है महाराज! बोले कि प्रत्यक् चैतन्याभेदेन **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'**—मैं जो प्रत्यक् चैतन्य हूँ, कीटसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्तका जो प्रत्यक् चैतन्य मैं हूँ वही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है। अब इस प्रसंगमें फक्कड़ी बात आपको सुना देता हूँ। यहाँ ऐसे तो सभी तरह के लोग हैं, हर तरहके श्रोता हैं, पर जो फक्कड़ लोग हैं, उनको इसका मजा आ जायेगा। दूसरे लोग शायद नहीं समझेंगे। एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे किसीने कहा कि यह जो व्यक्ति शरीरधारी जीवात्मा है, वह समष्टि उपाधिधारी ईश्वरका संकल्प है। समष्टि ईश्वरने व्यष्टिधारी जीवको अपनेमें धारण कर रक्खा है। इसपर श्रीउड़ियाबाबाजीने कहा कि नहीं ऐसा नहीं है। तब क्या है? यह है कि समष्टि नामकी कोई चीज है—यह कल्पना ही व्यष्टि अन्तःकरणकी है। अन्तःकरण ही समष्टिप्रपंचकी कल्पना करके जो

अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य है, वही कल्पित समष्टि प्रपञ्चत्वाच्छिन्न चैतन्यके रूपमें ईश्वरत्वेन भासता है। व्यष्टिचैतन्यकी कल्पना समष्टि चैतन्य है, समष्टिचैतन्यकी कल्पना व्यष्टिचैतन्य नहीं है।

लीजिये, मैंने फक्कड़ी बात आपको सुना दी। इसका नाम आभासवाद नहीं है और इसका नाम प्रतिविम्बवाद भी नहीं है।

रामघाटमें हमारे एक बाबूजी थे। वे एक दिन श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे बोले कि यह सारी दुनिया ईश्वरके स्वप्नमें है, ईश्वर स्वप्न देख रहा है और यह दुनिया दीख रही है और हम सब स्वप्न-पुरुष उसके स्वप्नमें इधरसे उधर घूम रहे हैं। जब उसका स्वप्न टूटेगा तब हम मुक्त होंगे। इसलिए क्या हमें तबतक इन्तजार करना पड़ेगा? बाबाने कहा कि अच्छा उसके स्वप्नमें तो हम सब लोग हैं लेकिन वह किसके स्वप्नमें है—यह तो बताओ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ (२७)

तो ब्रह्मकी प्रतिष्ठा कौन है? अहं है। नहीं, श्रीकृष्णका प्रत्यक् चैतन्य है, अमृतकी भी प्रतिष्ठा वही है, अव्ययकी भी प्रतिष्ठा वही है, शाश्वत धर्मकी प्रतिष्ठा भी वही है और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा भी वही है—यह सब इसीमें रहते हैं। अच्छा, अब एक और बात सुनाता हूँ। वह क्या है? मैंने पहले ईश्वर-कृपासे मधुसूदनी लेकर गीताका यह चौदहवाँ अध्याय बड़े जोर-शोरसे घोंटा था। जैसे प्रथमाका विद्यार्थी लघुकौमुदीके सूत्रोंको घोंटता है, वैसे ही मैंने घोंटा था। मैंने इनमें-से एक चीज खोज निकाली। आजकलके जो अंग्रेजी-दां लोग होते हैं वे जब थीसिस लिखते हैं तब कोई-न-कोई नयी बात न निकालें तो उनकी थीसिस कैसे बने और डाक्टरेक्ट डिग्री कैसे मिले? इसलिए मैंने यह चीज खोज निकाली कि चौदहवें अध्यायमें जो ब्रह्म शब्द है, यह पूर्ण तत्त्वका वाचक कभी भी नहीं है। जहाँ यह कहा है कि '**मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्**'—वहाँ ब्रह्म महद् ब्रह्म है और जहाँ यह कहा है कि—'**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता**'—वहाँ भी ब्रह्म प्रकृतिका—महद् ब्रह्मका ही वाचक है। फिर जहाँ '**ब्रह्मभूयाय कल्पते**'—कहा है, वहाँ भी *'ब्रह्म-भवनाय प्रत्यग्-अधिष्ठानाय'*—ब्रह्म शब्दका अर्थ महद्ब्रह्म ही है। जिस महद्ब्रह्मसे उपक्रम किया, उसके अधिष्ठानरूपसे वह हो जाता है। तब फिर '**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' का अर्थ भी ऐसे ही करना चाहिए कि यह जो ह्रास-वृद्धिको प्राप्त होनेवाली, संकोच-विस्तारको प्राप्त होनेवाली प्रकृति है, वह मोरकी पाँखकी तरह कभी फैल जाती है और कभी सिमट जाती है। मोरका

नाम बर्ह है और ब्रह्मकी तरह उसका भी धातु है *'बृहं'*। इसलिए यह जो सिमटने-फैलनेवाली प्रकृति है, ब्रह्म इसकी प्रतिष्ठा है माने निर्विकार निर्विशेष, निर्धर्मक चैतन्य मैं हूँ। इसलिए **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** का ऐसा ही अर्थ होना चाहिए। फिर देखा तो इस अर्थकी ओर टीकाकारोंका भी ध्यान है। एक टीकाकारने तो **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** का अर्थ किया है कि *'ब्रह्मणो वेदस्य अहं प्रतिष्ठा'*। ब्रह्म माने वेद और मैं वेदकी प्रतिष्ठा हूँ अर्थात् वेदका परम तात्पर्य मैं ही हूँ और वेदोंकी परिसमाप्ति भी मुझमें ही होती है। यह मत समझना कि वेदोंकी परिसमाप्ति तो ईश्वर-कृपासे रोज-रोज हो जाती है। कब होती है? जब *'प्रमाता अप्रमाता भवति। पिता अपिता भवति। देवा अदेवा भवन्ति। वेदा अवेदा भवन्ति'* सुषुप्ति दशामें वेद अवेद हो जाते हैं। तब फिर सृष्टिकालमें वेदका उद्‌भासक और प्रलयकालमें वेदके निर्वाणका स्थान प्रतिष्ठारूपसे यह परमात्मा ही है।

॥ इस प्रकार यह 'गुणत्रय-विभाग योग' नामक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥



पन्द्रहवाँ अध्याय

अब पन्द्रहवाँ अध्याय प्रारम्भ करते हैं। भगवान् बोले कि आओ, थोड़ा वेदका भी परिपोषण किया जाय। हम वेदका परिपोषण करनेके लिए ही तो सभी साधनोंका परिपोषण करते जा रहे हैं। हमने तत्त्वासक्तिका संशोधन चौदहवें अध्यायमें किया है—'**सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ**'। इसलिए गुणातीत हो जाओ। गुणी बननेकी कोशिश मत करो, छोड़ो इनको। यह बात मैं पहले सुना चुका हूँ।

अब यह देखो कि जिस वेदके बारेमें लोगोंका इतना आग्रह होता है वह क्या है? इस सम्बन्धमें थोड़ा सोचना चाहिए, विचार करना चाहिए। पहले श्लोकमें जो कहा गया है कि '**यः तं वेद स वेदवित्**'—वेदवित्में उपसंहार नहीं है, उपसंहार उन्नीसवें श्लोकमें है—'**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत**'। वेदवित्से उपक्रम है और सर्ववित्से उपसंहार है। अब जरा इनको मिलाकर देखो कि उपक्रम-उपसंहारकी एकता होनेपर क्या होगा? यह होगा कि जो वेदवित् है वह सर्ववित् है और जो सर्ववित् है वह ही वेदवित् है। अब बताओ कि वेदवित् और सर्ववित् कौन है? अरे, मैं ही वेदवित् हूँ।

इसको फिरसे सुन लो।'**यस्तं वेद स वेदवित्**'—यह है उपक्रम, '**स सर्ववित् भजति माम् सर्वभावेन भारत**'—यह है उपसंहार, '**अहमेव वेदवित्**'—यह है अभ्यास और '**वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः**'—सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य मुझमें है। यही है वेदका ज्ञान।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ (१)

एक पीपलका पेड़ है, दूसरा गूलरका पेड़ है और तीसरा बड़का पेड़ है। शास्त्रमें इन तीन पेड़ोंका वर्णन आता है। संस्कृतमें पीपलको अश्वत्थ, गूलरको उदुम्बर और बड़को बट कहते हैं। गूलरका पेड़ ब्रह्माका है, पीपलका पेड़ विष्णुका है और बड़का पेड़ रुद्रका है। अश्वत्थ वृक्ष ब्रह्माश्वत्थ और कर्माश्वत्थ—दो प्रकारका होता है। माने एक कर्मके पीपलका पेड़ और दूसरा ब्रह्मके पीपलका पेड़। उपनिषद्में आया है कि—

ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख: एषोऽश्वत्थ: सनातन:।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥

इसमें जो ब्रह्माश्वत्थ है— *'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते'*—यही शक्तिमत् है, यही ब्रह्मस्वरूप है और यही अमृतस्वरूप है। शुक्र माने साधनका वीर्य। साधनका वीर्य शुक्र है, वह ब्रह्मस्वरूप है और अमृत उसमें मोक्षफल है, माने ब्रह्माऽश्वत्थ साधनात्मक, फलात्मक और स्वरूपात्मक है।

दूसरा जो कर्माश्वत्थ है, उसका भी वर्णन वेदमें हैं—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता। (ऋग्. १०.९७.५)

आप पीपलके पेड़पर रह रहे हैं और उसके पत्तेपर आपका घर बना हुआ है, नगर बना है— *'अश्वत्थे निषदनम्'*। पीपलके पेड़पर तो भूत-प्रेत रहते हैं और *'पर्णे वो वसतिष्कृता'*—वह जो हिलता हुआ उसका पत्ता है, उसीपर आपका घर-नगर बना हुआ है। वह कभी भी पानीके बूँदकी तरह टपक सकता है। यह कर्माश्वत्थ है। इसमें आश्चर्य क्या है?

'ऊर्ध्वमूलमध: शाखम्'—इसकी जड़ ऊपर है और शाखाएं नीचे हैं। सबसे ऊपर क्या है? ब्रह्म है। वह इसकी जड़ है। ऐसा पेड़ आपने देखा है? मैंने तो देखा है। हाँ, ऐसा ही पेड़ देखा है, जिसकी जड़ ऊपर है, मूल ऊपर है और शाखा नीचे है। मैं वह पेड़ आपको यहीं दिखा सकता हूँ, आप यहीं देख लीजिये। ये जो हम सबके शरीर हैं, ये क्या हैं? इनके हाथ नीचे लटक रहे हैं, पाँव नीचे लटक रहे हैं— ये **अध:शाखम्** हैं कि नहीं हैं? इनका ऊर्ध्व नूल कहाँ है? वह सिरकी ओर है। आपने देख लिया कि नहीं? यह शरीर ही **ऊर्ध्वमूलमध:शाखम्** है। यही है वह जो *'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'*है। ब्रह्मलोक ऊपर है और वही इसका सिर है। ऊर्ध्व परमात्मा ही इसका मूल है और इसकी ब्रह्मलोकादि, रुद्रलोकादिरूप जो शाखाएँ हैं वे नीचेको फैली हुई हैं।

'अश्वत्थम्'—अश्वत्थ माने *'श्वोऽपि न तिष्ठति'*-यह कलतक रहनेवाला नहीं है, बदल जायेगा।

असलमें यह ब्रह्माश्वत्थ और कर्माश्वत्थके मूलका वर्णन है। जैसे घोड़ा चतुष्पाद होता है, वैसे ही यह अश्वत्थ है— *'अश्ववत् तिष्ठति इति अश्वत्थ:।'*इसी तरह ब्रह्म होता है चतुष्पाद। घोड़ा जब विश्राम करने लगता है तो उसके तीन पाँव धरतीपर रहते हैं और वह एक पाँव ऊपर उठा लेता है। इसी तरह ब्रह्मके जो तीन पाद हैं, वे विश्व, तैजस्, प्राज्ञ - प्रपंच हैं। और उसका जो चौथा पाद है, वह है तुरीय। उसको उसने उठाकर अलग कर रक्खा है। इसलिए वह *'अश्ववत् तिष्ठति इति अश्वत्थ:'* है। इसके तीन पाँव धरतीपर हैं और एक पाँव प्रपंचसे ऊपर है। लेकिन एक बात

यह है कि अश्वत्थ होनेपर अव्यय है, माने प्रवाह रूपसे नित्य है। अव्यय कहनेका अर्थ ऐसा नहीं कि यह कूटस्थ नित्य है, बल्कि यह अर्थ है कि वह प्रवाह नित्य है। जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होगा, ब्रह्मज्ञान नहीं होगा, तबतक यह छूटेगा नहीं, मिटेगा नहीं।

'प्राहुः'—इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि यह वेदका प्रवचन है। भगवान् कहते हैं कि यह मेरी मौलिक बात नहीं है, प्राचीन महात्माओंने भी ऐसा ही वर्णन किया है और वेदमें भी ऐसा ही है।

'छन्दांसि यस्य पर्णानि'—यहाँ अविवेकका संशोधन करते हैं। कहते हैं कि यह दुनिया तो बिलकुल नंगी थी। इसमें एक भी चीज ऐसी नहीं है, जिसको हम सद्बुद्धिसे, चिद्बुद्धिसे, आनन्दबुद्धिसे स्वीकार कर सकें। यह अश्वत्थ है, जड़ है, दुःख है। यह देखने लायक नहीं है। लेकिन वेदोंने ऐसा किया कि अपने मन्त्रोंके हरे-हरे पत्तोंसे इसको छा दिया, ढक दिया। उन्होंने यह स्वर्ग है, यह इन्द्र है, यह देवता है, यह धर्माधर्म है—इस प्रकार इसका विभाग कर दिया। दिव्य-अदिव्यका विभाग दुनियामें नहीं था। वेदने इसमें धर्माधर्म बनाकर, आधा स्वर्ग बनाकर इसको ढक दिया। **'छादनात् छन्दांसि'**—इसके नंगेपनको, इसकी जड़ताको, इसकी असत्ताको, इसकी दुःखरूपताको वेदने विभाग करके ढक दिया। नहीं तो जैसा महात्मा लोग वर्णन करते हैं कि *'दुःख है, दुःख है; क्षणिकं क्षणिकं'*—यह दुःख है, दुःख है; यह क्षणिक है, क्षणिक है। इसमें न तो कोई काम करने लायक है और न कोई घर पाने लायक है।

पर वेदने इसीमें छँटनी करके दो विभाग कर दिये और इसके जो दोष हैं उनको ढक दिया। उन्होंने क्षत्रियोंसे कहा कि क्षत्रियों, यदि हिंसा करना हो तो घरके या बाहरके जो दुश्मन हैं, उनको मारनेके लिए हिंसा करो। और ब्राह्मणोंसे कहा कि ब्राह्मणो, तुम्हे कुछ जलाना है तो आगमें स्वाहा बोलकर जलाओ। इसी तरह वेदने इसमें जो कामादि-रूप दोष था, उसको विवाहादिके द्वारा, जो लोभादिरूप दोष था, उसको व्यापार-वाणिज्य आदिके द्वारा ढक दिया।

'छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्'—इस ब्रह्माश्वत्थ और इस कर्माश्वत्थको जो ठीक-ठीक समझता है वही वेदका वेत्ता है। हमारे शरीरमें कर्माश्वत्थ हमारी कर्मेन्द्रियाँ हैं और ब्रह्माश्वत्थ हमारा ज्ञानविभाग ज्ञानेन्द्रियाँ कर्माश्वत्थ हैं। दोनोंको मिलाकर ही यह जीवन चलता है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ (२)

'अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा'—मनुष्यसे लेकर कीड़ा-पर्यन्त इसकी शाखाएँ फैली हुई हैं। इसमें सत्त्व-रज-तम तीनों गुण हैं। किसीमें सत्त्व ज्यादा है, किसीमें रज ज्यादा है और किसीमें तम ज्यादा है। ये तीनों गुण बँटे हुए हैं।

'विषयप्रवालाः'—विषय इसके लाल-लाल पत्ते हैं, जो देखनेमें तो बहुत बढ़िया लगते हैं; लेकिन इनमें स्वाद कुछ नहीं है और—

'अधश्च मूलान्यनुसंततानि'—वह गति कर्मके अनुसार होती है और इस मनुष्य-लोकमें प्राप्त होती है।

अब एक प्रश्न उठा कि यह सच्चा है कि झूठा है? यहाँ जगत्‌के मिथ्यात्वका ही वर्णन है। इसको समझनेके लिए इस पदके अर्थपर विचार करो-

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ (३)

'अस्य यथा रूपं दृश्यते तथा इह विचारकाले न उपलभ्यते'—इन्द्रियोंके द्वारा इसका जैसा रूप देखनेमें आता है, विचार समयमें वैसी उपलब्धि नहीं होती। यहाँ जो रूप दिख रहा है वह है कुछ और दिख रहा है कुछ। **'नान्तो न चादिर्न न च संप्रतिष्ठा'**—न इसका अन्त दीखता है, न इसका आदि दिखता है और न इसकी संप्रतिष्ठा दीखती है। यह तो वन्ध्यापुत्रकी तरह है जिसका न आदि है, न अन्त है, और न सम्प्रतिष्ठा है। विचारकालमें तो इसकी सिद्धि होती ही नहीं, इसलिए यह बन्ध्यापुत्रवत् मिथ्या है। परन्तु **'सुविरूढमूलम्'**—अज्ञानके कारण इसने अपनी जड़ बहुत गहराईतक जमा ली है। इसको काटनेका उपाय क्या है? यह है कि— **'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।'** दृढ़ असङ्गशस्त्रके द्वारा इसको छिन्न-भिन्न कर दो। किसीके साथ चिपको मत, सङ्गन मत करो। दोनों हथकड़ी-बेड़ी चाहे लोहेकी बनी हो और चाहे सोनेकी बनी हो, वह तो बाँधनेवाली ही है। इसलिए दुनियामें जिसको अच्छा कहते हैं, उससे भी, और बुरा कहते हैं उससे भी अलग ही रहो। तुम तो सत्त्व-रज-तम किसीमें अपनेको मत बाँधो।

'असङ्गशस्त्रेण दृढेन'—इसको दृढ़ असङ्ग शस्त्रसे छिन्न-भिन्न करो, ढिल्लमढिलसे काम नहीं चलेगा। एक झटकेसे ही काम चलेगा। यह नहीं कि धीरे-धीरे इसका उच्छेद करो। अभी तक क्या कर रहे हैं? अभी हम धीरे-धीरे पहले माँ-से वैराग्य कर रहे हैं फिर बापसे वैराग्य कर रहे हैं, फिर भाईसे वैराग्य कर रहे हैं, फिर बेटेसे वैराग्य कर रहे हैं। फिर सबके बादमें पत्नीसे वैराग्य करेंगे। पत्नीसे क्या वैराग्य करेंगे? कि हम दोनों मिलकर अलग रहेंगे। यह ढिल्लमढिल्ल हो गया न! इससे क्या वैराग्य पूरा हो गया। इसलिए यह जो ढिल्लमढिल है, उससे काम नहीं चलेगा। दृढ़ असङ्ग शस्त्रसे इसको एक झटकेमें काट डालो!

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ (४)

'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'—इधरका हिस्सा काटोगे नहीं तो ढूँढ नहीं सकते। **'ततः'** माने *छित्वा ततः*। इस छेदनके पश्चात् परिमार्गण करो, ढूँढो। किसको ढूँढें ? उसको ढूँढो, जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता। ऐसे तो जहाँ जानेका रास्ता होगा वहाँसे लौटनेका रास्ता भी जरूर होगा। लेकिन **'यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः'**—कहते हैं कि वहाँ जाकर लौटना नहीं होता। इसलिए जब वहाँसे लौटना नहीं है तब असलमें जाना भी नहीं है। न कहीं जाना है और न कहीं आना है। आवागमन दोनों नहीं हैं, वहाँ। देखो, जबतक अन्वेष्टव्य आत्माका विज्ञान नहीं हुआ तबतक हम प्रमाता हैं। जब वह ढूँढा जानेवाला मिल जाता है तब जो ढूँढ रहा था वह भी वही है—

आपे ढूँढे आप ढूँढावे आपे ढूँढनहारी. ।
आपे अमृत आप। अमृतघट आपइ पीवनहारी॥'

जो ढूँढ रहा था, वह अपनेको ही ढूँढ रहा था। इसलिए जिसको ढूँढ रहा था, वह जानेसे नहीं मिला। और जब कहीं जानेसे नहीं मिला तो कहींसे जाकर लौटना भी नहीं पड़ेगा। वह तो जहाँ हो वहीं है और वही है। अरे, नशेमें मालूम पड़ता है कि वह खो गया है लेकिन नशा उतर गया तो मिल गया। न कहीं जाना है न कहीं आना है।

'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'—इसलिए आओ, हम आज उस आद्य पुरुषके प्रपन्न हो जायें। यह आद्य पुरुष क्या है महाराज? वह कौन है? कालके आदिमें है? भूतके आदिमें है? अरे, कभी कालका, भूतका आदि भी होता है? आप कभी अक्ल लगाकर विचार करें कि जो अतीत है, काल है, उसका क्या कहीं आदि होता है? जब अतीत ही नहीं मिलेगा तो उसका आदि कहाँसे मिलेगा! अच्छा, पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिणका कहीं आदि होता है। जब आदि होता ही नहीं है तब वहाँ परमेश्वर कहाँसे मिलेगा? असलमें बुद्धिमानी आपकी इसमें है कि जहाँ मनका आदि होता है, जहाँसे मनका उत्थान होता है और जहाँसे आपकी अहं-वृत्ति उदय होती है, उसके साक्षीको ढूँढिये, उसके अधिष्ठानको ढूँढिये।

'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'—यह पुराणी अहंवृत्तिकी प्रवृत्ति जहाँसे उदय होती है, वहीं परमात्माको ढूँढिये, वहीं मिलेगा परमात्मा आपको। जहाँ आपका अहं है, वहीं परमात्मा है, वहीं आदि है। ढूँढनेके लिए कुछ छोड़ना पड़ता है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ (५)

'**निर्मानमोहा**'—मान और मोह जिसके निर्गत हो गये हैं, वह है निर्मान-मोह। पहले मान था और मोह भी था। परन्तु अब दोनोंको विदा करो। कहो कि—'*गच्छ-गच्छ सुरश्रेष्ठ*'। लेकिन इतना ही कहना, इसके आगेका नहीं बोलना कि '*पुनरागमनाय च।*' निकालो मान और मोहको अपने घरसे। देखो, मान होता है अहंभावकी प्रधानतासे और मोह होता है इदं-भावकी प्रधानतासे। इसलिए इदं और अहं दोनोंमें-से मान और मोहको निकाल दो। '**जितसङ्ग दोषाः**'—बाहरकी वस्तु जो होती है उससे आसक्ति होती है और यह बाहरसे आती है। अब जब बाहर आसक्ति नहीं, इदंका मोह नहीं और अहंका मान नहीं तब? '**अध्यात्मनित्याः**'—जरा घेरेमें आओ, शरीरसे बाहर मत निकलो। बोले कि कामनाएँ तो बहुत आती हैं, बाहरके काम बहुत आते हैं महाराज! अरे आते हैं तो '**विनिवृत्तकामाः**'—इनको छोड़ देना चाहिए, बिलकुल लौटा देना चाहिए। ललचानेके लिए जितने भी भोग आवें उनसे कह दो कि महाराज, आप बाहर पधारिये, कृपा कीजिये हमारे ऊपर।

'**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः**'—देखो, ज्यादा पाप-पुण्यके चक्करमें मत पड़ो। यह द्वन्द्व जो है वह क्या है? *द्वौ-द्वौ इति द्वन्द्वः*। पहला द्वन्द्व है पाप-पुण्य, दूसरा द्वन्द्व है राग-द्वेष और तीसरा द्वन्द्व है सुख-दुःख। सुख-दुःख ऐसे हैं, जो इस जन्ममें ही नहीं, नरक-स्वर्ग और अगले जन्ममें भी साथ नहीं छोड़ते। सुख-दुःखकी गति बहुत है। इसलिए सुख-दुःख-संज्ञक जो द्वन्द्व हैं, इनसे मुक्ति प्राप्त कर लो। यह नहीं कि कोई गलती हो गयी, चींटी मर गयी तो बारह वर्षोंका प्रायश्चित्त ही करने लग गये। जिसकी निष्ठामें अपनी इच्छासे दुःख निवारणका सामर्थ्य नहीं है, उसकी निष्ठा कच्ची है। यदि तुम्हारे जीवनमें कोई दुःख आता है तब भगवान्‌की याद करके उसका निवारण कर लो तो तुम्हारी भक्ति-निष्ठा पक्की है। इसी तरह यदि समाधि लगाकर दुःखका निवारण करलो तो तुम्हारी योगनिष्ठा पक्की हे, यदि उसके मिथ्यात्वका निश्चय करके दुःख-निवारण कर लो तो तुम्हारी विवेकनिष्ठा पक्की है। और यदि वह अपना स्वरूप ही है तो आओ, तुम्हारी स्वरूप-निष्ठा पक्की है।

इसलिए अपनी निष्ठासे ही दुःखका निवारण करना चाहिए। अगर भक्त प्रायश्चित करने जायेगा, योगी भगवान् से प्रार्थना करने जायेगा और विवेकी पुलिसमें रिपोर्ट करने जायेगा तो उसकी निष्ठा बिलकुल कच्ची है। जहाँ अपनी निष्ठा है, वहींसे दुःखका निवारण कर देना चाहिए—'**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः**'।

'**गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्**'—जो मूढ़ है, उसको अव्यय पदकी प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि वह तो अटक जाता है वहाँ। मूढ़ वह है, जो रास्ता भूल जाता है। संस्कृतमें इसका ऐसा ही अर्थ है। आयुर्वेदमें प्रयोग होता है कि '*गर्भो मूढः*'—गर्भ मूढ हो गया। मूढ हो गया माने जिस रास्तेसे उसको निकलना चाहिए था, वह रास्ता भूल गया, अटक गया। अटको मत!

'पदमव्ययं तत्'—वह अव्ययपद क्या है, कैसा है? अरे वह इतना सुगम है कि वहाँ भेंड़ भी जा सकती है। यहाँ जो संस्कृतके पण्डित हैं वे अव्यय शब्दके अर्थपर ध्यान दें। भेंड़ खास विराट्की बेटी है। *'तस्माद् जाता अजावय:— तस्माद् अजा जाता: अव्यस्य जाता:।'* अजा माने बकरी और अवि माने भेड़। ये दोनों विराट्से पैदा हुई हैं। *अव्यय:, अवय: अयन्ते यत्र। 'अय् गतौ* से *'अयन्ते'*। तो अव्ययपद ऐसा है कि वहाँ भेड़ें भी जा सकती हैं। पर लोग जा नहीं पाते हैं। क्यों? असलमें भेंड़का प्रत्यगात्मा भी तो ब्रह्म ही है। लेकिन तुम मनुष्य होकर भी अपने आत्माको नहीं जानते हो। मैं तो कहता हूँ कि भेंड़ भी अपने आत्माको जान ले तो ब्रह्म हो जायेगी और तुम मनुष्य होकर भी नहीं जानते हो!

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (६)

पहले जो कहा कि **'यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः'** उसीकी यह व्याख्या है। असलमें यहाँ *'निवर्तन्ते'* होना चाहिए। पाणिनीय व्याकरण *'निवर्तन्ते'* ही बोलता है; **'निवर्तन्ति'** नहीं बोलता है। वैसे व्याकरण-सम्मत बना तो सकते हैं, परन्तु छोड़ो उसको उसकी जरूरत क्या है? भगवान् कहते हैं कि तुम उस अव्यय पदको आँखसे देखना चाहते हो, तो आँखसे क्या देखोगे उसको? आँखसे अनुग्राहक अधिदैव सूर्यदेवता ही नहीं देख सकते। अधिभूत रूपसे आँख नहीं देख सकती, अधिदैव रूपसे सूर्य नहीं देख सकते और वह अध्यात्म रूपसे बुद्धिका भी दृष्ट नहीं है।

'न तद् भासयते सूर्यः'—सूर्य प्रकाश नहीं है—माने नेत्र दृश्य नहीं है। **'न शशाङ्कः'** चन्द्र दृश्य नहीं है अर्थात् मनोदृश्य नहीं है। मनका अधिष्ठात्-देवता चन्द्रमा है। **'न पावकः'** जहाँ चन्द्र-सूर्यकी गति नहीं होती वहाँ भी वाणीकी गति होती है। यदि कोई अन्धेरे घरमें आवे और वहाँ सूर्यकी रोशनी नहीं हो तो उसको आँख नहीं देखेगी। मनमें गति न होनेसे वह आनेवालेके पाँवकी आवाज पहचानेगा ही नहीं और अनुमान भी नहीं होगा। लेकिन जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमानकी गति नहीं है, वहाँ जब पूछेंगे कि तू कौन है और वह कहेगा कि मैं अमुक हूँ—मोहन हूँ, सोहन हूँ तो वह पहचान लिया जायेगा। इसलिए जहाँ सूर्य-चन्द्रमाकी गति नहीं होती वहाँ भी पावककी गति होती है, वाक्की गति होती है। पावक माने अग्नि, वाक्। तो न यह नेत्रसे दृश्य है, न मनसे चिन्त्य है और न वाक्से वाच्य है। तब यह कौन हुआ? यह हुआ कि जो सूर्यके पीछे, जो चन्द्रके पीछे जो अग्निके पीछे, जो आँखके पीछे, जो मनके पीछे ओर वाणीके पीछे बैठा हुआ सबका संचालन कर रहा है, उसको पहचानो। वह कूटस्थ तत्त्व है और वहीं परमात्मा है। यदि आप अपनेको कूटस्थ जान जाओगे तो क्या होगा? भगवान् कहते हैं कि **'यद् गत्वा न**

निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'—वही मेरा परमधाम है। उसको जान लेनेपर वहाँसे फिर लौटना नहीं होता। संस्कृतमें 'गत्वा'का अर्थ 'ज्ञात्वा' भी होता है।

'तद्धाम' धामका एक अर्थ तो होता है घर-अधिष्ठान। और दूसरा अर्थ होता है ज्योतिरूप—*'धाम्ना स्वेन सदा निरस्त-कुहकं सत्यं परं धीमहि'* तात्पर्य यह है कि स्वयंप्रकाश अधिष्ठानको ही धाम कहते हैं। जहाँ चिद्वस्तु और सद्वस्तु दोनों एक होती है, वहाँ धाम शब्दका प्रयोग होता है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ (७)

अब भगवान् यह व्याख्या करते हैं कि वह परमात्मा इस लोकमें कैसे व्यवहार कर रहा है। आप लोग यह गणित तो जानते ही हो कि अनन्तका अंश भी अनन्त ही होता है। अनन्तमें चाहे एकका गुणा करो, चाहे दोका गुणा करो चाहे तीनका गुणा करो, चाहे चारका गुणा करो, अनन्त ही होगा। दो अनन्त नहीं होगा और अनन्त बटे दो भी नहीं होगा। इसी तरह परमात्मा है अनन्त और उसका अंश भी है अनन्त। 'भिन्नत्वेन प्रतीयमान' होनेपर भी, 'अंशत्वेन' प्रतीयमान होनेपर भी अनन्त ही रहेगा, क्योंकि यह **'ममैवांशः'** मेरा स्वरूप ही है।

'जीवभूतः सनातनः' वह अनादि मायासे,अनादि अविद्यासे जीव हो गया है। **'मनः षष्ठानिन्द्रियाणि'**मन है छठीं संख्याका पूरक। षट् माने छह होता है, षष्ठ माने छठाँ होता है। संस्कृतमें जो षष्ठ है वह पूरण-प्रत्ययान्त है। मतलब यह है कि इन्द्रियाँ तो पाँच ही हैं पर मन इनको छठाँ बना देता है। ये होते हैं कहाँ? **'प्रकृतिस्थानि'** ये प्रकृतिमें स्थित होते हैं। ये सब-के-सब औपाधिक हैं, उपाधिके रूपमें और इन्हीं उपाधियोंके कारण जो पूर्ण परमात्मा है, वह अंशके रूपमें मालूम पड़ता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ (८)

जीव हो जानेपर भी, जीवलोकमें अंश हो जानेपर भी, इसमें सामर्थ्य बड़ा है। वह तो ईश्वरको भी चाहे जहाँ घसीटकर ले जाये!**'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रमतीश्वरः'—ईश्वरः**=समर्थः। यहाँ जीवके लिए ईश्वर शब्दका प्रयोग है। ईश्वर माने जीव। परन्तु इस जीवमें सामर्थ्य इतना है कि यह जिस शरीरमें जाता है और जिस शरीरको छोड़ता है तथा **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि'**—रूप जो सूक्ष्म शरीर है, उन सबको साथ लेकर जाता है। **'एतानि गृहीत्वा संयाति'**—इनको पकड़कर ले जाता है। **'वायुर्गन्धानिवाशयात्'**—अब वे क्या करें ? शरीरको तो बना दिया कर्ता—'शरीरं यद् अवाप्नोति' तो यह जीव अपने वास्तविक स्वरूपको भूलकर,

मनः-षष्ठ-इन्द्रियोंको अपना मानकर उनको साथ लिये-लिये डोलता है। वहाँ गया तो लिये-लिये गया और यहाँ गया तो लिये-लिये गया। इस तरह इसने अपने सिरपर बोझ लाद लिया। यह बोझ क्या है? कर्ण, चक्षु, स्पर्श, रसना और घ्राण— इन पाँचों इन्द्रियों तथा मनका बोझ। वैराग्य न होनेके कारण जीव इनसे मिल जाता है ठीक वैसे ही जैसे सेठ लोग अपने चमचेके अधीन हो जाते हैं। वह चमचा कोई धातुका बना नहीं होता, आदमी ही चमचे होते हैं। जैसे आदमी चम्मचसे खाता है, वैसे ही जीव इन इन्द्रियोंकी भोग-सामग्री मँगाता है और उनका उपभोग करता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ (९)

इसी मनको अपने काबूमें करके यह जीव विषयोंका उपभोग करता है। आत्मा स्वयं विषयोंका उपभोग नहीं करता, अपने उपाधि द्वारा ही विषयोंका उपभोग करता है। जब उपाधि-संसर्ग छूट जाता है, संसर्गाध्यास-निवृत्ति हो जाती है तब अनुभव होता है कि ये मन और इन्द्रियाँ न मैं हूँ, न ये मेरे हैं। जब यह मैं हूँ और ये मेरे हैं—इस रूपमें ज्ञानाध्यासकी निवृत्ति हो जाती है, तब अर्थाध्यास भी निवृत्त हो जाता है। अरे बाबा, ये मन और इन्द्रियाँ तो कोई वस्तु ही नहीं हैं।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ (१०)

आत्मदेव चाहे शरीर छोड़कर निकल जायँ, चाहे इसमें रहें, चाहे स्वयं खायें-पीयें, चाहे कुछ भी करें, लेकिन गुणसे युक्त होनेके कारण ही निकलते हैं, रहते हैं, खाते हैं। यदि गुणके साथ इनको न जोड़ें तो, न तो ये निकलते हैं, न रहते हें, न खाते हैं, न पीते हैं। गुणकी उपाधिके कारण ही इनमें स्थिति और भोग मालूम पड़ते हैं। वास्तवमें गुण सहित नहीं हैं तथा मन व इन्द्रियोंके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन जो विमूढ़ लोग हैं वे नहीं देखते कि यह सब तो उपाधिका काम है।

'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः'—जिनको ज्ञानकी आँख प्राप्त है, वे देखते हैं कि गुणान्वित उपाधिसे युक्त जो आत्मा है, उसीका उत्क्रमण होता है, उसीकी देहमें स्थिति होती है, वही भोक्ता होता है और वही नरक-स्वर्गमें जाता-आता है। असलमें गुण और आत्माका तो कभी सम्बन्ध हुआ ही नहीं है, केवल भ्रान्तिके कारण सम्बन्ध मालूम पड़ता है और जो भ्रान्तिके कारण सम्बन्ध मालूम पड़ता है वह तत्त्वज्ञानसे मिट जाता है। सम्बन्धके अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें ही सम्बन्ध प्रतीत हो रहा है! इसलिए सम्बन्ध भी मिथ्या है और वह सम्बन्धी वस्तु भी मिथ्या है।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ (११)

जो योगी लोग हैं, जो द्रष्टा-दृश्यका विवेक कर लेते हैं और जो प्रयत्नशील हैं; वे देखते हैं कि आत्मा तो अपने आपमें ही स्थित है, मन:षष्ठ इन्द्रियोंमें स्थित नहीं है किन्तु '**अकृतात्मन:**'—जो अकृतात्मा हैं, जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, जो अचेत हैं, गुरुसे ज्ञान प्राप्त करनेवाले नहीं हैं, वे ऐसा नहीं समझते।

देखो, चाहे लेबोरेटरीमें, चाहे खुर्दबीनसे, चाहे दूरबोनसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, उस ज्ञानका अभिमान होता है कि मैंने यह ज्ञान पैदा किया है अथवा प्राप्त किया है। उस स्थितिमें आप विशेष ज्ञानवान् तो होंगे, ज्ञानविशिष्ट ज्ञाता तो होंगे, परन्तु ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म नहीं होंगे। गुरु-सम्प्रदायसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसमें ज्ञानके अभिमानका उदय नहीं होता। भला किसी महात्माको जो गंगास्नान करता है, यह अभिमान होता है कि मैं गंगाजीको नहर खोदकर मैदानमें लेकर आया हूँ? अरे, गंगाजी बह रही हैं और इनमें मैंने नहा लिया—यह जो सच्चा ज्ञान है, वह प्रकाशित हो रहा है और उसको मैंने पहचान लिया। इसमें ज्ञानीपनका अभिमान कहाँसे होगा? वह तो मर जायेगा। इसीको कहते हैं '**अकृतात्मान:**'—जिसका अर्थ यही है कि उसने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है और अचेता है।'**अचेतस:**'—इसका अर्थ है कि उन्हें स्वयं प्रकाश आत्माका बोध नहीं है क्योंकि इन्होंने गुरु-सम्प्रदायसे अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है। इसलिए उनका अभिमान हर हालतमें बना रहेगा। उनके पास अभिमानका निवारण करनेके लिए कोई उपाय नहीं है। यदि कहो कि ईश्वर ही उनके अभिमानका निवारण कर देगा तो उस अवस्थामें उनको जो यह अभिमान होगा कि ईश्वरको मैंने स्वयं प्राप्त किया है, उसका निवारण कौन करेगा? अच्छा; यह मान भी लें कि उनके अभिमानका निवारण ईश्वर कर देगा तो उन्हींके-अभिमानका निवारण क्यों किया? सबके अभिमानका निवारण क्यों नहीं करता? वे तो बोलेंगे कि हम इतने योग्य थे कि ईश्वरको मजबूर होकर हमारे ऊपर कृपा करनी पड़ी। तब क्या होगा?

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ (१२)
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधी: सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मक:॥ (१३)
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित:।
प्राणापानसमायुक्त: पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ (१४)

'**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्**'-देखो तुम्हारी आँखमें जो रोशनी आती है वह कहाँसे आती है? इससे पहले जो रूप दिखता है वह कैसे दीखता है? रूप दिखता है आँखसे और आँख देखती है सूर्यके अनुग्रहसे। इसमें अधिभूत है

रूप, अध्यात्म है नेत्रज्योति और अधिदैव है सूर्य और इन तीनोंमें जो एक है, वह परमात्मा है। वही परमात्मा सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है। मनसे आपको जो प्रिय-अप्रिय मालूम पड़ता है, वह प्रिय-अप्रिय अधिभूत हैं, मन अध्यात्म है और चन्द्रमा उसका अधिदैव है। अन्न द्वारा चन्द्रमा ही मनकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयका हेतु है। यदि चन्द्रमा रसका दान न करे, गेहूँमें रस न हो, चावलमें रस न हो, ओषधिमें रस न हो तो न मनकी उत्पत्ति होगी, न मनकी स्थिति होगी, न मनका प्रलय होगा। इसलिए चन्द्रमा ही उसका हेतु है।

यच्चाग्नौ—अच्छा; वाणीकी क्या स्थिति है? इसमें जो वक्तव्य है वह अधिभूत है, वाक् अध्यात्म है और अग्निदेवता अधिदैव हैं। माने खाने-पीनेसे शरीरमें जो गरमी पैदा होती है, वह उसका अधिदैव है। इन तीनोंमें कौन है? भगवान् कहते हैं कि —'**तत्तेजो विद्धि मामकम्**'-यह मेरा तेज है। '**तेजः तेजस्विनाम्**'—सम्पूर्ण तेजस्वियोंमें तेजवान्‌के रूपमें तेजन करनेवाला-उत्तेजन करनेवाला, बल्बको जलानेवाला, संसारको चलानेवाला, कम्प्यूटरसे गिनती करनेवाला मैं ही हूँ।

'**गामाविश्य च भूतानि धरयाम्यहमोजसा**'—मैं ही पृथिवीमें प्रवेश करके अपने ओजसे सम्पूर्ण भूतोंको धारण करता हूँ। कर्मकाण्डी लोग जो बोलते हैं—*'ॐ भूरसि भूमिरसि'*—उसका अर्थ परमात्मा ही होता है कि तुम भू हो, तुम भूमि हो। इस विश्वमायाके रूपमें स्वयं भगवान् ही हैं। अथर्ववेदमें एक पृथिवीसूक्त (१२.१) है, उसमें पचासों मन्त्र हैं। एक मन्त्र तो यह भी है कि—*'विवाचसं नाना धर्माणम्'* अर्थात् हे परमात्मन् विशिष्ट-विशिष्ट धर्मवालोंको और विशिष्ट-विशिष्ट वाणी बोलनेवालोंको, धर्मभेद होनेपर भी, भाषाभेद होनेपर भी आप ही धारण करते हैं। 'विवाचसं नानाधर्माणम्' इसका अर्थ ऐसे भी समझो कि विविध धर्म माननेवालों तथा विविध भाषा बोलनेवालोंको धरती माता धारण करती है और धरतीके बीच प्रवेश करके परमात्मा उनको धारण करता है। इसका तात्पर्य है कि भाषाभेद और धर्मभेदके कारण जो राग-द्वेष है यह बिलकुल अवैदिक है, वेद-विरुद्ध है।

'**पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः**'- भगवान् कहते हैं कि मैं सोम होकर सब ओषधियोंका पोषण करता हूँ। ओषधि वही नहीं है, जो आयुर्वेदिक रसायनशालामें तैयार की जाती है। अमरकोषमें ओषधि उसको कहते हैं जो एक बार फल देकर समाप्त हो जाती है। पारस्कर गृह्यसूत्रके व्याख्यानमें ओषधि शब्दका अर्थ है—*ओषति दोषान् धत्ते गुणान् इति ओषधिः*। जो हमारे दोषोंको मिटा दे, जला दे और गुणाधान करे उसका नाम ओषधि है। दोषापनयन और गुणाधान-रूप संस्कार जिसके द्वारा होता है उसका नाम है ओषधि। कर्मकाण्डी लोग जो सर्वौषधि-स्नान करवाते हैं, वह दोषापनयन व गुणाधानके लिए करवाते हैं।

'**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः**'— देखो, भगवान् ऊपरके श्लोकोंमें कहते हैं कि मैं सूर्य हूँ, मैं पृथिवी हूँ, मैं सोम हूँ और मैं वैश्वानर हूँ। मैं ही सबके शरीरमें वैश्वानर रूपसे बैठा हूँ। अरे अर्जुन, तुम मानते हो कि तुम खाते हो। तुम तो वैसे ही भोक्ता बने बैठे हो। थोड़ी देरके लिए पेटमें-से आग निकल जाय तो खाकर देखो। यह जो बोलते हैं कि *'प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा'*—इस का क्या अर्थ है ? यह जो प्राणाहुति देते हैं, किसके लिए देते हैं ? *नाहं भोक्ता, सविता भोक्ता, वैश्वानरो भोक्ता*—यह संन्यास है। खानेवाला मैं नहीं हूँ,वैश्वानर है। *नाहं बुभुक्षुः*— मैं भूखा नहीं हूँ। *नाहं पिपासुः*— मैं प्यासा भी नहीं हूँ। *प्राणो वै बुभुक्षुः, प्राणो वै पिपासुः*—प्राण भूखा है, प्राण प्यासा है. मैं नहीं हूँ।

'**प्राणापान-समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्**'—भगवान् कहते हैं कि मैं प्राण बनकर अन्नको बाहरसे भीतर ले जाता हूँ और अपान बनकर उसका अपन कर देता हूँ। जो उसका खलित अंश या वायव्य अंश है, उसको निकालकर फेंक देता हूँ। फिर '**पचाम्यन्नं चतुर्विधम्**'—भोजन एक तो भक्ष्य है, भोज्य है जिसको चबाते हैं और आसानीसे निगल जाते हैं। दूसरा है चोष्य, जिसको चूसते हैं, जैसे गन्ना। और तीसरा है लेह्य, जिसको चाटते हैं, जैसे चटनी। **चतुर्विधम्**—भोजनमें चार बात होनी चाहिए। एक सौरस्य-सुगन्ध ऐसी हो कि नाकमें उसकी गन्ध आये तो बिना भूखके भी भूख लग जाये। दूसरी जब आँखसे देखें तो ललचा जाय। तीसरी जीभपर जब आवे तब मालूम पड़े कि अन्न-ब्रह्मका आस्वादन हो रहा है। यही ब्रह्मानन्द है। *'अन्नं बहु कुर्वीत।'* अन्नका बहुत आदर करो। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि जिस चीजको खाओ, उसकी निन्दा मत करो। वह तो अन्न ब्रह्म है। उसे अन्नकी कभी कमी नहीं होती।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेह वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ (१५)

देखो, हमारे भगवान् श्रीकृष्णको अहं-अहं बोलनेका ही अभ्यास है और श्रीरामचन्द्र भगवान्‌को त्वं-त्वं सुननेका अभ्यास है। श्रीरामचन्द्र भगवान् *'तत्त्वमसि'*—शाखाके हैं और श्रीकृष्ण भगवान् *'अहं ब्रह्मास्मि'*—शाखाके हैं। जब वसिष्ठजी बोलते हैं तब कहते हैं कि राम! तुम ब्रह्म हो और जब श्रीकृष्ण बोलते हैं तब कहते हैं—हे अर्जुन, मैं ब्रह्म हूँ।

'**सर्वस्य चाहं ह्यदि संनिविष्टः**'—यहाँ मानो अर्जुनने पूछा कि आप कहाँ रहते हैं ? भगवान्‌ने कह दिया कि मैं कहीं अलग अपनी कुटिया बनाकर नहीं रहता हूँ। मेरा घर तो सबकी कुटिया है। जहाँ सूर्यास्त हो गया वहीं सो गया। चाहे जिसने

जो कुछ ओढ़ा दिया वह ओढ़ लिया। जिस किसीने जो कुछ खिला दिया सो खा लिया। क्योंकि मैं अवधूत हूँ। मैंने सबकी कुटियाको अपनी कुटिया बना रखी है और सबके हृदयोंमें रहता हूँ। फिर अर्जुनने पूछा कि सबके हृदयोंमें रहकर क्या करते हो महाराज! क्या सोते रहते हो? भगवान् बोले कि नहीं, सोता नहीं, रहता हूँ। तब क्या करते रहते हो?

'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'—मैं सबको तरह-तरहके भूत-भविष्यके सपने दिखाता रहता हूँ। मैं ही सबको जगा देता हूँ। मैं सबके हृदयमें रहकर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनोंको प्रकाशित करता हूँ। **'स्मृतिः'** माने स्मृति-प्रधान स्वप्न, **'ज्ञान'** माने ज्ञानप्रधान जाग्रत और **'अपोहनं'** माने अनुभव-प्रधान सुषुप्ति। इन तीनोंको सबके हृदयमें रहकर प्रकाशित करता हूँ। ऐसी सुषुप्ति जिसमें न स्मृति है और न जाग्रत है और न स्वप्न है। तब क्या करते हैं आप? बस, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीनोंको एक रस प्रकाशित करता हूँ। भगवान् कहते हैं कि मैं **अहं** हूँ? अहं क्या है? **'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'**—यह अहं शब्दकी व्युत्पत्ति है. जिसका कभी बाध न हो उसका नाम है अहं। जिसका कभी त्याग न हो सके उसका नाम है **'अहम्'**। *'न जहाति इति अहं, न हिनस्ति इति अहं, न हन्यते इति अहम्'।* अहं कहीं छोड़कर जाता नहीं है। 'जहाति' माने कभी छोड़ता नहीं। 'न हिनस्ति'-वह कभी मारता नहीं है और 'न हन्यते' वह कभी मारा जाता नहीं। ऐसा जो है उसका नाम 'अहम्'। अ से लेकर ह तक जितने अक्षर हैं, जितना वर्ण-समुद्य है, उस वर्ण-समाम्नायसे जितने पद और वाक्य बनते हैं, उन सभी पदों और वाक्योंका जो असली अर्थ है, उसका नाम है 'अहम्'। हम उस अहंकी उपासना करते हैं।

'वैदैश्च सर्वेरहमेव वेद्यः'—यहाँ देखो, भगवान् फिर वेदका नाम लेते हैं। लोग जो कहते हैं कि वेदोंका मन्त्रभाग कर्मकाण्ड परक हैं, उसमें भगवान्ने संशोधन कर दिया, उसको बिल्कुल काट दिया है और कह दिया कि सारे वेदोंका परम तात्पर्य मुझमें है। मतलब यह कि वेदोंका—मन्त्रभागका तात्पर्य भी मुझमें ही पर्यवसित होता है—*'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'।* इस बातको लोग समझ नहीं पाते हैं, अन्यथा **'सर्वैः एव वेदैः'**—सारे ही वेदका वेद्य मैं हूँ।

अब दूसरा अर्थ लो। **'एव'** को **'सर्वैः'** के साथ कर दो तो वेदका एक अक्षर नहीं छूटेगा, एक मन्त्र नहीं छूटेगा। उसका अर्थ होगा कि मैं बिना वेदके जाना नहीं जा सकता, वेदों द्वारा ही जाना जा सकता हूँ। एक अर्थ यह भी है कि **'वैदैः अहमेव वेद्यः'**—अगर आप वेदोंसे कुछ जानना चाहते हैं तो कर्मकाण्ड आदि मत जानिये, मुझको जानिये।

'वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्'—अब प्रश्न उठा कि उपनिषद् किसने बनाया महाराज! अरे, जो अपना अनुभव होता है, वह किसका बनाया हुआ है—यह

सवाल कहाँ उठता है ? जहाँ स्वानुभूति है, वहाँ निर्माण्का प्रश्न ही नहीं हैं। इसलिए वेदान्त तो हमारी स्वानुभूति है-'**वेदान्तकृत्**'। और '**वेदविदेव चाहम्**'—वेदका असली तात्पर्य मैं ही जानता हूँ।

यहाँ, गीतामें भगवान् बोलते हैं कि—'**स वेदान्तकृत्**'—वही वेदान्तकृत् है। इसके बाद फिरसे सातवें अध्याय और तेरहवें अध्यायका अर्थ एक साथ मिलाकर बोलते हैं—

द्वविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ (१६)

देखो, एक बार भगवान्ने प्रकृतिके रूपमें वर्णन कर दिया। और सबको परा प्रकृति, अपरा प्रकृति कहकर दोनोंको स्त्री-वर्गमें ले लिया तथा अपनेको बता दिया कि —'**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा**'। फिर जब तेरहवें अध्यायमें बोले तब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ कहकर एकको नपुंसक कर दिया और एकको पुल्लिंग कर दिया। फिर एक जगह क्षर-अक्षर कहकर दोनोंको पुरुष बना दिया। इसका मतलब यह है कि स्त्री-पुरुष और नपुंसकका जो भेद है, वह तत्त्वमें अगतार्थ है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि शब्दकी दृष्टिमें प्रकृति स्त्री है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ नपुंसक और पुरुष है तथा क्षर-अक्षर दोनों हैं। तत्वदृष्ट्या ये सब अयथार्थ हैं।

'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**'। एक क्षरोपाधिक चेतन है और दूसरा अक्षरोपाधिक चेतन है। जब उपाधिकी विवक्षा होती है तब कार्य-कारण बोलते हैं और जब उपहितकी विवक्षा होती है तब अक्षरको जीव और क्षरको उपाधि कह देते हैं। क्षर है उपाधि और अक्षर है जीव-प्रकृति—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**'। परन्तु हर हालतमें अक्षर पूर्ण है और क्षर भी पूर्ण है।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

सब भूतोंका शरीर क्षर है।'**भूमिरापोऽनलो वायुः**'—यह क्षेत्र है। फिर क्षेत्रज्ञ क्या है? '**कूटस्थोऽक्षर उच्यते**'—क्षरकी अपेक्षा यह जो जीव है यह कूटस्थ है। श्रीधरस्वामीने यहाँ अक्षर शब्दका अर्थ उपहितकी प्रधानतासे जीव किया है और शंकराचार्यने उपाधिकी प्रधानतासे कारण किया है, अव्यक्त किया है। परन्तु दोनोंमें कोई भेद नहीं है। अव्यक्त भी निरधिष्ठान नहीं होता और जीव निरुपाधिक नहीं होता है। इस बातपर आप ध्यान दो। अगर अक्षर शब्दका अर्थ जीव है तो उसकी उपाधि उसके साथ लगी है कि नहीं? इसलिए सोपाधिक चेतनका नाम ही यहाँ जीव है। शंकराचार्यने जो अक्षर शब्दका अर्थ कारण किया, अव्यक्त किया तो अव्यक्त साधिष्ठान है कि नहीं? यदि साधिष्ठान है तो चेतन वहाँ-वहाँ भी लगा ही हुआ है। इसलिए दोनोंमें भेद नहीं है। कहनेका अभिप्राय यह है कि द्रव्यकी दृष्टिसे

कार्य-कारण है, चेतनकी दृष्टिसे द्रष्टा-दृश्य है और आनन्दकी दृष्टिसे भोक्ता-भोग्य है। लेकिन ये जो भेद हैं, वे बिल्कुल झूठे हैं। क्योंकि तीनों युग्मोंमें एक पुरुषोत्तम है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (१७)

'उत्तमः पुरुषः'—ये रूप क्षर आदि 'पर आत्मा' है, अक्षर आदि 'पर आत्मा' है, अतएव दोनों परमात्मा हैं। यह प्रथम पुरुष है कि मध्यम पुरुष है? बोले कि *'न तु प्रथमः पुरुषो भवति।'*

फिर *'कोऽयम्'*? ये कौन हैं? *'उत्तमः पुरुषो भवति'*—उत्तम पुरुष है, उत्तम पुरुष माने—*'अहं'*। *'सः'* होगा ते प्रथम पुरुष होगा, *'त्वम्'* होगा तो मध्यम पुरुष होगा और उत्तम पुरुष होगा तो कौन होगा? *'अहं'* होगा। यह अहमर्थसे भिन्न नहीं है। अब इसकी विशेषता बताते हैं कि यह क्षर-अक्षरसे विलक्षण है, अहमर्थसे अभिन्न है और आत्माका यही परम अर्थ है —परमात्मा है। जैसे परम मधुर बोलें तो मधुर तो होगा ही, परन्तु माधुर्यमें जो कुछ मलिनता समाविष्ट हो गयी थी उसका निवारण हो गया तो मधुर, परम मधुर हो गया। आत्मामें उपाधि जुड़ गयी थी तो यह जीवात्मा हो गया था और जब उपाधि मिट गयी तो यह परमात्मा हो गया है। है वही।

'यो लोकत्रयमाविश्य'—यह अभिन्न-निमित्तोपादान कारण रूपसे समग्र त्रिपुटीमें व्याप्त लोकत्रयका अर्थ है त्रिपुटी। द्रष्टा-दृश्य-दर्शन, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय और जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति—यही त्रिपुटी है, लोकत्रय है। इसमें **'आविश्य'** माने **बिभर्ति**। *'अभिन्न-निमित्तोपादान-करणत्वेन प्रविश्य।'* **'अविश्य'** माने *'तादात्म्यम् आपद्य'*—तादात्म्यापन्न होकर **'बिभर्ति'** अर्थात् धारण करता है। यह अव्यय है। इसको **'अश्वत्थ प्राहुरव्ययम्'** से ही प्रारम्भ किया था। मूल अक्षर पुरुषका भी परमार्थ यही है और अक्षर पुरुषका भी परमार्थ यही है। इसलिए अव्यय कह दिया। और, ईश्वर क्यों कह दिया? इसलिए कह दिया कि क्षराक्षर दोनोंकी जो उपाधि है, उससे असंसृष्टता ही ईश्वर है। *'उपाध्यसंसृष्टत्वम्*-ईश्वरत्वम्' जो उपाधिसे संसृष्ट न हो, उसको ईश्वर कहते हैं। जो रानीके वशमें हो वह राजा नहीं है, जो दीवानके वशमें हो वह भी राजा नहीं है। वह तो कठपुतली है। इसलिए जो किसी उपाधिके वशमें न हो, वही ईश्वर होता है। जहाँ महारानीकी सिफारिश न चले, राजकुमारकी सिफारिश न चले, मैनेजरकी सिफरिश न चले, और सेनापतिकी भी सिफारिश न चले, वहाँ ही स्वातन्त्र्य है। वह स्वातन्त्र्य ही ईश्वरत्वका परिचायक है।**'बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'**—उपाधिसे असंसृष्ट होना ही ईश्वरत्व है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (१८)

भगवान् कहते हैं कि क्षरके साथ हमारा बाधसामान्याधिकरण्य है, इसलिए मैं उससे अतीत हूँ और **'अक्षरादपि चोत्तमः'**-अक्षरसे हमारा सामान्याधिकरण्य है, इसलिए वह उत्तम है। लोक और वेदमें भी जो पुरुषोत्तमका वर्णन है, महापुरुषका वर्णन है, वह मैं ही हूँ।

राजानो यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति पण्डिताः।
साधवो यं प्रशंसन्ति स पार्थ पुरुषोत्तम॥

पुरुषोत्तम किसको कहते हैं? जिसको राजा भी हाथ जोड़े, पण्डित भी जिसकी प्रशंसा करे, और साधु लोग कहें कि अरे, यह तो हमारा परम प्रेमास्पद है; उसीका नाम पुरुषोत्तम है।

पुरुषेषु प्रथमादिषु उत्तमः पुरुषोत्तमः। पुरुषेषु क्षरादिषु उत्तमः पुरुषोत्तमः।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (१९)

असंमूढ वह है, जो कहीं अटकता नहीं। इसलिए दृश्यमें मत अटको, अनात्मामें मत अटको और माया अविद्यामें मत अटको। तुम असंमूढ हो जाओ और मुझ पुरुषोत्तमको जान लो। जो पुरुषोत्तमको जानेगा वह जाननेवालासर्ववित् हो जायेगा। लेकिन सर्ववित् तो पुरुषोत्तम ही है, इसलिए वह पुरषोत्तम ही हो जायेगा। वही सर्व है और वही स्थित है, अतः **'सर्वभावेन मां भजति।'** अब तो जहाँ देखो, वह हँस रहा है, खेल रहा है, पागल हो रहा है। **'सर्वभावेन'**—जो भी मनमें भाव आये, उसमें जो भी भाव दिखायी पड़े उसमें सर्वरूप परमेश्वर है, वह जैसे है, वैसे परमात्मा-ही-परमात्मा है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ (२०)

तान्त्रिक लोग बहुत चिल्लाते हैं कि हमारा शास्त्र गुह्य है, हमारा शास्त्र गुह्य है। कोई कहते हैं कि यह गुह्यतर ज्ञान है। यहाँ भगवान्ने कहा कि लो तुम गुह्यगुह्यतरमें भटको, मैं तो जो ज्ञान कह रहा हूँ वह गुह्यतम है। वह क्या है? यह कि सर्व आत्मा है और जो भाव है, वही भगवद्-भजन है।

सोवत बैठत पड़े उताने। कहे कबीर हम वही ठिकाने॥

'यत् यत् कर्म करोमि'—यह सब पूजा है और सब भगवान् है। इसी प्रकार सूत-संहितामें आया है कि विहित-निषिद्ध, अविहित-अनिषिद्ध, *'यत्-यत् कर्म करोमि तत्-तत् अखिलम्'*—उन सबके द्वारा परमात्माकी पूजा हो रही है। क्योंकि सब परमात्मा है। जब परमात्मा सब होता है तब उसकी पूजा भी होती है। यह बड़ा गुह्यतम शास्त्र है। भगवान् कहते हैं कि निष्पाप अर्जुन, मैंने खुद तुमसे यह कहा है। इसके बीचमें ब्रह्मा, ऋषि, महर्षि आदि कोई भी नहीं हैं, इसको तो मैंने स्वयं तुमसे

कहा है! जो इसको समझ लेता है उसे ही सच्ची बुद्धि मिलती है और वही सच्चा बुद्धिमान् है।'एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्'—यहाँ बुद्धिमान्का अर्थ है कृतकृत्य होना। जहाँ कर्तव्यका बोझ सिरपर लदा है कि यह कर्तव्य है, वह कर्तव्य है और यह नहीं किया, वह नहीं किया, वहाँ तो तुम्हें रोना ही पड़ेगा। बुद्धि और रोदन दोनोंका समानाधिकरण्य नहीं है।

देखो, प्रस्तुत पन्द्रहवें अध्यायके अठारहवें और उन्नीसवें श्लोकोंमें यह बात कही गयी कि क्षर-अक्षर दोनोंमें विद्यमान पुरुषोत्तम दोनोंका प्रकाशक है, दोनोंका अधिष्ठान है। क्षर-अक्षर उपाधिकी दृष्टिसे कार्य-कारण हैं और उपहितकी दृष्टिसे जीव ईश्वर है। फिर कहा है—**'सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत'**। यदि पुरुषोत्तमको जान लिया तो सबको जान लिया और एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान हो गया।**'सर्वभावेन भजति'**का अर्थ होता है कि जो हो सो भजनीय और इस तरह भक्ति सर्वात्मक हो गयी। भगवान् सर्वात्मक और भक्ति भी सर्वात्मक।

एक महात्मा कहा करते थे कि जब परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—यह सिद्धान्त स्थिर है; दृढ़ है, अविचल है तो उसके भजनके सिवाय और कोई क्रिया नहीं है—यह सिद्धान्त भी दृढ़ है, अविचल है। वही सब है और सब उसका भजन है। जहाँ चाहो, जब चाहो, जिसमें चाहो, जिस रूपमें चाहो उसमें उसको देख लो! *सब यारका दीदार है।*

फिर यह प्रश्न उठा कि जब ऐसा है तो कुछ लोग भजन करते हुए दैवी सम्पदावाले और कुछ आसुरी सम्पदावाले क्यों दिखते हैं? बोले कि यह भी एक निसर्ग ही है, स्वभाव ही है। जैसे रात और दिन दोनों स्वभाव हैं, वैसे ही कोई-कोई तो सहज स्वभावसे भगवान्का भजन करते हैं और कोई-कोई सहज स्वभावसे भगवान्का भजन नहीं करते हैं। किन्तु उनके प्रति भी कुछ दोष-दृष्टि करनेकी जरूरत नहीं है क्योंकि भगवान् समय-समयपर अपने सबको ठीक-ठाक करते रहते हैं। जब वही भगवान् सबको चपत लगाकर ठीक करनेवाले हैं, तब साधु-महात्माको कुछ ज्यादा झगड़ेमें नहीं पड़ना चाहिए। जो स्वभावसे भजनमें लग गया सो लग गया और जो नहीं लगा सो नहीं लगा। क्या है? अपनी-अपनी प्रकृति है। किसीको तन्दूरकी रोटी भाती है, किसीको फुलका भाता है। इसमें क्या आग्रह करना कि सब तन्दूरकी रोटी ही खायें या सब फुलका ही खायें। बंगाली लोग कहते हैं कि सब चावल ही क्यों नहीं खाते? पंजाबी लोग कहते हैं कि सब तन्दूरकी रोटी ही क्यों नहीं खाते? लेकिन यह तो सबका अपना-अपना स्वभाव है।

अतः इसमें जो दैवी सम्पदाका मार्ग है, वह मनुष्यको अपनाना चाहिए और आसुरी सम्पदाका मार्ग नहीं अपनाना चाहिए। जान-बूझकर मनुष्यको दैवी सम्पदाके मार्गसे ही चलना चाहिए—यह बतानेके लिए भगवान् यहाँ दोनों निसर्गका, दोनों

स्वभावका वर्णन करते है। शङ्कराचार्यजीका अभिप्राय इस प्रसंगमें यही है। वे कहते हैं कि—*'निबद्धा आसुरी राक्षसी च इति दैव्या आदानाय प्रदर्शनं क्रियते इतरयो: परिवर्जनाय।'*

जब नववें अध्यायमें—'**राक्षसीं आसुरी**'**चैव मोहिनीं श्रिता:**'—यह बात कही गयी तो दैवी सम्पदाको अपने जीवनमें धारण करो और आसुरी या राक्षसी सम्पदाका परित्याग करो—यह बतानेके लिए ही यह अध्याय है।

यह तो हुआ उपक्रम। उपक्रमका पराक्रम तो बहुत बड़ा है। हमारे एक दूसरे आचार्य इस प्रसंगको दूसरे ढंगसे बोलते हैं। वे कहते हैं—यह जो हमारा जीवन है, इसमें एक तो श्रुतिमय ज्ञान प्राप्त होता है, जो अनादि है, अपौरुषेय है, *अस्मर्यमान-कर्तृक सम्प्रदायाविच्छेदेन* प्राप्त है और भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादिसे रहित है। यह ज्ञान गुरु-सम्प्रदायसे ही मिलता है। यदि कोई चाहे कि हम अपने आप ही वेदका मन्त्र पढ़ेंगे और उसका मतलब अपनी अक्कलसे निकाल लेंगे, तो मन्त्रका अर्थ नहीं निकलेगा। मन्त्रका अर्थ तो गुरु-सम्प्रदायसे ही प्राप्त होगा। यजुर्वेद क्या करवा रहा है, सामवेद क्या गवा रहा है, अथर्ववेद किस व्यवहारमें संलग्न कर रहा है—यह सब गुरु-आगम-सम्प्रदायसे जानोगे तभी मालूम पड़ेगा। वह तो गर्भाधानको भी यज्ञ बना देनेवाला है। छान्दोग्यमें गर्भाधानको भी यज्ञ बना दिया गया है। इतना पवित्र प्रशिक्षण वेद-गुरु-आगमके बिना प्राप्त नहीं होगा।

अब कहते हैं कि ठीक है, गुरु-आगमसे श्रौत-ज्ञान तो प्राप्त होगा; परन्तु आदमीकी बुद्धिका भी कुछ उपयोग होना चाहिए, उसकी बुद्धि भी काम आनी चाहिए। वह कैसे आती है? तो इस सम्बन्धमें भगवान्‌ने स्वयं आगे चलकर कहा है—

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।

भगवान्‌ने इसमें विमर्शकी आज्ञा दी है माने कुछ विमर्श करो, कुछ परामर्श करो और कुछ अपनी बुद्धिसे मनन, निदिध्यासन करो। उन्होंने यह कहकर तुम्हें बिल्कुल छुट्टी तो नहीं दे दी है। इसलिए गुरु-आगम-सम्प्रदायसे एक ज्ञान प्राप्त हुआ और हमने अपने संविद्‌के आलोकमें विचार-विमर्श, परामर्श करके मनन-निदिध्यासन करके उसका निश्चय किया, अपने जीवनमें आरोप किया। मतलब यह हुआ कि कुछ गुरु-सम्प्रदायसे प्राप्त हुआ और कुछ विचार-विमर्श, परामर्श-संवित्‌के प्रकाशसे प्राप्त हुआ। उस संवित्‌के प्रकाशके लिए मनुष्यमें स्वयं भी योग्यता होनी चाहिए। स्वयंकी जो योग्यता है, वह क्या होती है, उसका वर्णन करनेके लिए सोलहवाँ अध्याय है और वही दैवासुर-संपद्-विभाग योग है।

॥ इस प्रकार यह 'पुरुषोत्तम योग' नामक पन्द्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

सोलहवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ (१)
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ (२)
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ (३)

भगवान्‌का वचन है—'**अभयम्**'। किसीको भय दो नहीं और किसीसे भय लो नहीं, क्योंकि तुम सच्चिदानन्द हो। डरो मत और डराओ मत—यह भी है। आदमी जब डरता है, अनजानमें कभी चोर दिख जाये, भूत दिख जाये तो भी-भी-भी बोलने लगता है। इसीसे बन गया *भी* धातु। और उस *भी* धातुसे भय शब्द बना। ये जो धातुएँ हैं, उनमें अधिकांश अर्थ और शब्दकी जहाँ एकता होती है, वहींसे उदय होती हैं। इसलिए जिसको जो विद्या मालूम नहीं है, उसको ठीक-ठीक शब्दार्थका ज्ञान भी नहीं होता है। एक जगह ऐसी है, जहाँ शब्द और अर्थ दोनों होते हैं, एक जगह ऐसी आती है, जहाँ शब्द और अर्थ दोनों अलग-अलग हो जाते हैं और एक जगह ऐसी आती है, जहाँ शब्द, अर्थ दोनों मिल जाते हैं।

तो भगवान्‌ने कहा कि—'**अभयम्**'। पहली बात यह है कि डर छोड़ो। डरके कारण बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। मनुष्य भयसे बचनेके लिए या दूसरेको भयभीत करनेके लिए बड़ा गलत-गलत काम करता है। लेकिन ऐसा करना नहीं चाहिए क्योंकि हमको न चाहिए वैकुण्ठ, न चाहिए समाधि और न चाहिए स्वर्गलोक—'*अभयं-अभयं जनक प्राप्नोसि। अभयं-अभयं ब्रह्म, तद् विजिजिज्ञास्व*'। उपनिषदोंने कहा है कि हमें अभयपदकी प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है। और अभयका साधन भी अभय ही है।

'**अभयं सत्त्वसंशुद्धिः**'—सत्त्व माने अन्तःकरण। सत् है परमात्मा और उसमें जब भावका उदय होता है तब उसका नाम हो जाता है सत्त्व। सत्‌की भावात्मक अवस्थाका नाम सत्त्व है। सत् बिल्कुल निर्विशेष, निधर्मक है। परन्तु सत्त्वमें जो

भाव है उसका अर्थ है—अन्त:करणकी संशुद्धि। वह यह कि उसमें दूसरेका ठगना, छल-कपट, झूठ बोलना—यह सब आने न पावे। तभी इसका नाम होता है सत्त्व-संशुद्धि।

'ज्ञानयोगव्यवस्थिति:'—ज्ञान-व्यवस्थिति और योग-व्यवस्थिति। शास्त्रसे, आचार्यसे सच्चा ज्ञान प्राप्त करना, मनन-निदिध्यासनसे उसको दृढ़ करना-यह तो हुई ज्ञान-व्यवस्थिति और योग-व्यवस्थितिका अर्थ है कि यदि वह अन्य विषयक ज्ञान है तो उसकी उपलब्धिके लिए, साक्षात्कारके लिए प्रयास करना और शब्दसे यदि ज्ञान हो तो अन्य प्रयासका परित्याग कर देना।

'सर्वत्रैव च विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते'—जितने भी ज्ञान होते हैं, उनका संस्कार होता है और उन विद्वानोंको प्राप्त करनेके बाद फिर कुछ कर्म करना पड़ता है। परन्तु आत्म-विज्ञानमें न तो संस्कारजन्य स्मृति है और न वह संस्कारजनक है। क्योंकि वह तो केवल आवरण-भंजनात्मक है। इसलिए कहा कि *'यादृक् ज्ञानं तादृक् बोध:'*। निष्ठा दो हैं—ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा-सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा-कर्मनिष्ठा। वस्तु-तन्त्र निष्ठाका नाम ज्ञान-निष्ठा है और कर्तृतन्त्र निष्ठाका नाम योगनिष्ठा है।

'दानम्'—यहाँ जो दान शब्द है उसके अर्थपर ध्यान दो। संस्कृतमें एक तो इसका अर्थ यह है कि पदार्थसे अपनी ममता हटाकर उसपर दूसरेकी ममता उत्पन्न करना। लेकिन संस्कृतके ही दर्शन-शास्त्रमें, मीमांसा और वेदान्तमें, दान शब्दका अर्थ अवदान आता है। अवदान माने काटना। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनोंमें ही दान माने काटना होता है। जिस चीजको पकड़कर तुम बँध गये हो, उसका नाम लेकर चक्करमें पड़े हुए हो, उससे अपना रिश्ता काट देना दान होता है। धर्मका दान तो ऐसा होता है कि *'इदं न मम'*—बस; इस चीजके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। यह पहले भी मेरा नहीं था, अब भी मेरा नहीं है और पीछे भी मेरा नहीं रहेगा। यह जो मेरा नहीं है, उसको मेरा मानकर हम बड़ी भारी तकलीफमें पड़ गये हैं। और मेरेपनको काट देना—यह आध्यात्मिक दान है।

द्रव्य-दान भौतिक दान है, उसको भगवद्-अर्पण कर देना आधिदैविक दान है और उससे सम्बन्ध-विच्छेद-मात्र आध्यात्मिक दान है। अब देख लो कि आप कौन-सा दान करते हो? आपने दो अमरूद लाकर भगवान्‌की मूर्तिके सामने रख दिये और कहा कि हे भगवान्! अब ये अमरूद हमारे नहीं हैं। अब ये तो तुम्हारे हो गये। तो हमारे नहीं हैं—इतना तो इसमें सच है, लेकिन भगवान्‌ने कहा नहीं कि हमारे हो गये तो उनके भी नहीं हुए। फिर माल हो गया लावारिश और लावारिश (लालारुख) माल तो मालिकका ही होता है। इसलिए वह सरकारी हो गया। बस

हो गया प्रसाद। इतना ही प्रसाद है उसमें। तुमने उन अमरूदोंसे अपना मेरापन छोड़ दिया, भगवान्‌ने उनसे अपना मेरापन जोड़ा नहीं—बीचमें पुजारीजी लूटकर ले जायें तो बात दूसरी है, लेकिन जो वस्तु निर्मम होती है, ममत्वहीन होती है वह भगवान्‌की हो जाती है। ये बादल किसके हैं? ये तारे किसके हैं? ये सूर्य किसके हैं? ये चन्द्रमा किसके हैं? आपने जो-जो फल भगवान्‌के सामने रख दिये वे किसके हैं? उसीके हैं जिसके सूर्य-चन्द्रमा और तारे हैं।

आध्यात्मिक दानमें पात्रकी परीक्षा नहीं होती, आधिदैविक दान इष्टदेवताके लिए होता है और आधिभौतिक दानमें *'देशे च, काले च, पात्रे च'* चलता है।

'दमश्च'—यह दम क्या है? अपनी इन्द्रियोंको स्वच्छन्द रूपसे बाहर प्रवृत्त नहीं होने देता है। मनुष्योंके लिए दान है, दैत्योंके लिए दया है, देवताओंके लिए दम है। मनुष्योंमें तीन प्रकृति होती है। भोग प्रकृतिवाले मनुष्यके लिए दम साधन है, क्रूर प्रकृतिवाले मनुष्यके लिए दया साधन है, और लोभ प्रकृतिवाले मनुष्यके लिए दान साधन है। लोभीके लिए दान साधन, कामीके लिए दम साधन और क्रोधीके लिए दया साधन है। यह बात उपनिषदोंमें बिल्कुल साफ-साफ कही गयी है।

'यज्ञश्च'—यज्ञ माने होता है प्रकृतिमें निरन्तर जलनेवाली नैसर्गिक प्रक्रिया। सूर्य यज्ञ कर रहा है—सबको प्रकाश दे रहा है; गंगाजी यज्ञ कर रही हैं, सबको जलदान कर रही हैं; पृथिवी यज्ञ कर रही है—सबको धारण कर रही है और चन्द्रमा यज्ञ कर रहा है, सबको आह्लाद दे रहा है। ऐसे ही हमारे शरीरसे भी किसीको एक गिलास पानी मिल जाता है, एक मुट्ठी अन्न मिल जाता है, एक कपड़ा मिल जाता है, किसीके घावपर हम अपने हाथसे दवा लगा देते हैं और किसीके जले हुए दिलपर थोड़े प्रेमकी वर्षा कर देते हैं। हम जो किसीके जले-भुने कानोंमें थोड़ी-सी मीठी बात सुना देते हैं, वह आहुति हो जाती है। कान कुण्ड हो जाते हैं और मीठी वाणीकी आहुति हो जाती है और वह यज्ञ हो जाता है। इसीका नाम यज्ञ है। केवल कुण्डमें आहुति देनेसे ही यज्ञ नहीं होता, कानमें, मुँहमें, आँखमें आहुति देनेसे भी यज्ञ होता है। क्योंकि उनमें देवता बैठे हुए हैं और वे अपनी-अपनी आहुति लेते हैं। जैसे—*ॐ सूर्य-ज्योतिर्ध्य: स्वाहा। ॐ दिग्जोतिर्ध्य: स्वाहा। ॐ वरुण-ज्योतिर्ध्य: स्वाहा। ॐ अश्विनीकुमार-ज्योतिर्ध्य: स्वाहा।* यह सब यज्ञ है। इस प्रकार जगह-जगह यज्ञ हो रहा है। भगवान्‌का आशय यह है कि तुम भी अपने जीवनको यज्ञमय बना दो।

'स्वाध्याय:'—स्वाध्यायका अर्थ है कि कम-से-कम एक अध्याय तो पढ़ो भाई। पराध्याय मत पढ़ो, स्वाध्याय पढ़ो! लेकिन हम तो पराध्याय पढ़नेमें ही समय

गँवा देते हैं। उसकी बेटी ऐसी है, उसकी बहू ऐसी है और वह ऐसी है वैसी है— इसी तरहसे पराध्याय पढ़नेमें अनात्माध्याय पढ़नेमें लगे रहते हैं। स्वाध्याय तो आत्माध्यायका नाम है! आध्यात्मिक स्वाध्याय है अपने-आपका निरीक्षण, आत्म-निरीक्षण, आत्मज्ञान—आत्माका अध्ययन। जो देवता-विषयक अध्ययन है, ईश्वर-विषयक अध्ययन है वह आधिदैविक ही है। ईश्वरमें यदि अन्यता है तो वह अधिदैव ही है, अध्यात्म नहीं है।

अच्छा, यदि हम ब्राह्मण हैं तो जिस शाखामें हमारा जन्म हुआ है, उस शाखाके वेदका अध्ययन तो अवश्य करना चाहिए। उसीको बोलते हैं स्वाध्याय। योगियोंने स्वाध्याय शब्दका प्रयोग पारिभाषिक अर्थमें किया है। वे कहते हैं कि आप जिस देवताका दर्शन करना चाहते हो उस देवताके मन्त्रका जप कीजिये— *'स्वाध्यायाद् इष्टदेवता सम्प्रयोगः।* (-योगसू. २.४४)

आप द्वादशाक्षर मन्त्रका जप कीजिये और लीजिये भगवान्‌का दर्शन। षडक्षर राम मन्त्रका जप कीजिये और लीजिये भगवान् रामका दर्शन। षडक्षर कृष्ण मन्त्रका जप कीजिये और लीजिये भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन। इष्टदेवका सम्प्रयोग करनेके लिए स्वाध्याय माने जपकी जरूरत पड़ती है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय-योग-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्यायसे योग, योगसे स्वाध्याय और अब स्वाध्याय, योग दोनोंकी सम्पदा आयी तथा परमात्माका दर्शन हुआ। मुझको मेरे गुरुजीने एक श्लोक बताया था, जो आजतक याद है। लेकिन यह मालूम नहीं कि वह श्लोक कहाँका है। वह श्लोक है—

जपश्रान्तश्चरेद् ध्यानं ध्यानात् श्रान्तश्चरेज्जपम्।
जप-ध्यान-परिश्रान्त आत्मतत्त्वं विचारयेत्॥

यदि जपमें थकान मालूम हो तो आँख बन्द करके ध्यान करो और ध्यानमें तबीयत ऊबने लगे तो माला लेकर जप करो। यदि दोनोंमें थकान मालूम पड़े तो स्वाध्याय करो, पढ़ो, पाठ करो!

'तपः'—थोड़ा अपनेको पकाओ। अपने आप पकनेमें बूढ़े हो जाओगे, मर जाओगे। इसलिए जान-बूझकर अपनेको पक्का बनाओ। पक्का बनाना ही तप है। अपने धर्मके पालनके लिए थोड़ा कष्ट सहन करो। यदि तुमने कह दिया कि हम दूसरेका पकाया नहीं खायेंगे तो लोग कहेंगे कि भाई, यह तो बहुत संकीर्ण विचारका व्यक्ति है, दूसरेका छूआ नहीं खाता है। पर यदि स्वयं अपना भोजन पकाकर खाओगे तो लोग यह नहीं देखेंगे कि इसको खुद चौका-बर्तन करना पड़ता है, खुद आग जलानी पड़ती है और खुद आगके सामने बैठकर भोजन बनाना पड़ता है। तब

सचमुच तुम्हारा बनाया हुआ भोजन बलिवैश्वदेव करने योग्य हो जाता है। तुमने परिश्रम करके भोजन बनाया है, इसलिए वह भगवान्‌के भोग लगाने योग्य हो जाता है। उसमें केवल दाल-चावलपर ही स्वत्व नहीं होता है, उसके लिए जो तपस्या और परिश्रम करना पड़ता है, वह भगवान्‌के प्रसादका हेतु हो जाता है। मान लो कि कोई महात्मा किसीके घर आये और घरका मालिक अपने नौकरसे गर्म या ठंडा दूध भेज दे कि दे आओ महात्माको तो यह कोई सेवा नहीं हुई। लेकिन वही महात्मा किसी दूसरेके घर जाय और उस घरका मालिक खुद ही अपने हाथसे दूध गर्म करके, उसको पीने लायक बनाकर और उसमें केशर-मिश्री या बताशे डालकर महात्माके पास ले आवे तो वह दूध भगवान्‌को भोग लगाने योग्य हो जाता है। इसीको तप बोलते हैं। इसलिए अपने कर्तव्यकी पूर्तिके लिए स्वयं थोड़ा-सा तप करना, कष्ट उठाना आवश्यक है। यही नहीं कि किसी होटलमें आर्डर दे दिया कि महात्माजीके पास ठीक बारह बजेके समय भोजन पहुँच जाये और उसके लिए तुमने पाँच रुपये पहले ही दे दिये। इसका नाम तप नहीं है।

'आर्जवम्'—आर्जवम् माने सरलता-ऋजुता, छल कपटको अपने अन्दर स्थान नहीं देना और सीधे चलना। ऐसा करनेपर निस्सन्देह आप विजयी बनोगे। इस बातको आप बिल्कुल सत्य समझो। जितने भी दुनियादार लोग होते हैं, वे पहलेसे ही यह सोच लेते हैं कि हम छल करके, कपट करके यह करेंगे, वह करेंगे, इधर जायेंगे उधर जायेंगे। लेकिन तुम ऐसा मत करो, तुम सीधे ही चलो, बस! जो मनमें, वह वचनमें और वही कर्ममें, इसीका नाम आर्जव है।

'अहिंसा'—अहिंसा माने जान-बूझकार ऐसी वाणी नहीं बोलना, जिससे दूसरेको कष्ट पहुँचे। यदि कभी हास्य-रसकी जरूरत पड़े तो खुद अपनी हँसी उड़ाकर दूसरोंको हँसा देना चाहिए। हास्य-रसका आलम्बन दूसरेको कभी नहीं बनाना चाहिए। नहीं तो वह उस समय भले ही तुम्हारे साथ हँस ले, लेकिन उसके मनमें यह विचार जरूर आयेगा कि इसने मेरा अपमान किया है। क्योंकि हास्य-रसके आलम्बनको मूर्ख होना पड़ता है। इसलिए दूसरेको मूर्ख नहीं बनाना चाहिए। जैसे किसीको पापकी परिभाषा बतानी हो तो ऐसे मत कहो कि मान लो, तुमने किसीकी वस्तु चुरा ली तो तुम पापी हो गये, बल्कि ऐसे बोलो कि मैंने एक बार किसीकी वस्तु चुरा ली तो मेरे मनमें आया कि बड़ा भारी पाप किया है। इस तरह यदि पापका उदाहरण देना हो तो दूसरेका देना चाहिए। इसमें अहिंसाकी रक्षा होती है। लोग जब पापके उदाहरणमें अपना नाम देने लगते हैं तब उसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। इसी तरह त्यागी और वैराग्यवान् महात्माका वर्णन करना हो तो किसी दूसरे महात्माका वर्णन करो और जब गलतियोंका वर्णन करना हो तो अपनी

गलतियोंका वर्णन कर लो कि, मुझसे यह गलती हो गयी, वह गलती हो गयी। इसमें अहिंसा बनी रहती है। अहिंसा माने मनसे, वाणीसे, कर्मसे किसीको दुःख न पहुँचाना।

'सत्यम्'—जो सत्यका प्रेमी होता है, वह सत्यका जिज्ञासु हो जाता है। यदि हमने नियम लिया है कि सत्य बोलेंगे तो सत्य क्या है—इसकी जिज्ञासा होगी। मालूम नहीं रहनेपर लोगोंसे पूछेंगे कि सत्य क्या है? सत्यकी खोज करते-करते अन्ततोगत्वा और सब बातें तो झूठ निकलती हैं, केवल एक परमात्मा ही सत्य निकलता है। इसलिए सत्य भाषण परमात्माके ज्ञानमें साधन हो जाता है।

'अक्रोधः'—क्रोध करोगे तो तुम्हारा ही दिल जल जायेगा। किसी दिन दाल जल जाती है या रोटी जल जाती है तो हम लोग दाल-रोटी जलानेवालेपर नाराज हो जाते हैं और कहते हैं कि तुमने क्या दाल बनायी? क्या रोटी बनायी है? सब धुअँरठ गया है। दुर्गन्ध आ रही है। रोटीमें काले दाग पड़ गये हैं। इस तरह हम रसोइयेपर नाराज होते हैं। लेकिन हम यह नहीं देखते कि हमें क्रोध आता है तब हमारे ही दिलमें काले दाग पड़ जाते हैं, हमारे ही दिलमें जलनेकी दुर्गन्ध आने लगती है। इसलिए क्रोधसे बचना चाहिए।

'त्यागः'—अपनेको हमेशा त्यागके पक्षमें रखना चाहिए, ग्रहणके पक्षमें नहीं रखना चाहिए। क्योंकि अन्तमें सबको त्यागना ही पड़ेगा। कितना भी ग्रहण करो, एक दिन 'राम नाम सत्य है' आने ही वाला है। तुम्हारा संग्रह तुम्हारे किसी काममें नहीं आवेगा। जब तुम अपने हाथसे त्याग नहीं कर सके तो तुम्हारे लिए कोई दूसरा त्याग नहीं करेगा। मैं बम्बईके पाँच-सात जनोंको जानता हूँ, जो दस-पन्द्रह वर्षोंके भीतर दस-पन्द्रह लाखके दानका संकल्प कर गये, पर अपने जीवनमें दिया नहीं। बेटेसे कह गये कि तुम दे देना। अब जब वे मर गये हैं तब बेटे कहते हैं कि पिताजीका दिमाग खराब था। एकके घरकी तो माँ आती है और रो-रोकर कहती है कि मेरे पति दान-धर्मका संकल्प कर गये थे, पर बेटा देता नहीं है। अब माँ-बेटेमें लड़ाई होती है। बेटा कहता है कि माँ तो पागल हो गयी है स्वामीजी! इसके कहनेसे क्या हम अपना दिवाला निकाल दें? पिताजीके मरे पच्चीस वर्ष हो गये। अब यह कहती है ब्याज जोड़कर दान करो। लेकिन हम तो मूल भी नहीं दे सकते! इसलिए हमेशा त्यागका पक्ष लेना चाहिए, क्योंकि *'त्यजतैव हि तल्लब्धम्'* परमात्माकी प्राप्ति उसीको होती है, जो अनात्माका त्याग करता है। *'आत्मा त्यक्तुः परम् पदम्'* जो त्याग करनेवाला है, त्याग करनेवालेका जो प्रत्यक् है, त्यागका साक्षी है, त्यागका द्रष्टा है, वही तो आत्माका स्वरूप है। जो त्याग करेगा उसको परमात्माकी प्राप्ति होगी।

'शान्तिः'—आप शान्ति रखो तो झूठ नहीं बोलना होगा। आप शान्ति रखोगे तो हिंसा नहीं होगी, शान्ति रखोगे तो चोरी नहीं होगी, शान्ति रखोगे तो परिग्रह नहीं होगा और शान्ति रखोगे तो ब्रह्मचर्यका भङ्ग नहीं होगा। अरे, शान्ति तो सद्गुणोंकी जननी है।

'अपैशुनम्'—अपैशुन वह है जो दूसरेके दोषोंको नहीं देखता। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि *'पिशुन पराय पाप कहि देहीं।'* पिशुनी दूसरेकी आँखमें यदि जरा-सा बाँकापन हो तो उसको भी देख लेते हैं। उनको दूसरोंकी आँखमें सरसोंके बराबर दोष हो तो वह भी दीख जाता है। लेकिन उसको अपनी आँखमें बेलके बराबर छिद्र हो तो वह भी नहीं दिखायी पड़ता है। इसलिए दूसरोंके दोषोंपर ध्यान नहीं देना चाहिए। असलमें परचर्चा चाहे अच्छी हो या बुरी हो, इसकी आदत नहीं डालनी चाहिए।

'दया भूतेषु'—सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनी चाहिए। दया माने चित्तवृत्तिकी द्रवता। वाल्मीकि रामायणमें भगवान् रामके स्वभावका वर्णन आया है, उससे विदित होता है कि वे कितने दयावान् थे। जब भगवान् राम किसीको दुःखी देखते थे तो वे उसके लिए डबल दुःखी हो जाते थे। इसपर टीकाकारोंने बड़ा रसास्वादन किया है। उसके अनुसार जब किसी बच्चेके हाथसे सोनेका कंगन खो जाता है तब बच्चा रोने लगता है कि हमारा कंगन, हमारा कंगन! उसको यह तो मालूम नहीं रहता कि सोनेके कंगनकी कीमत कितनी थी! लेकिन उसकी माँको मालूम है कि सोनेकी कितनी कीमत है। इसलिए माँ कहती है कि कंगन खोनेमें बच्चेका दोष नहीं है। दोष तो मेरा है कि, मैंने बच्चेका ध्यान नहीं रक्खा और मूल्यवान् कंगन खो गया। इसी तरह जब कोई मनुष्य दुःखमें पड़ता है तो भगवान् रामचन्द्र कहते हैं कि मेरी ही असावधानीसे इसको दुःख आया है। यदि मैं सावधान होता तो वह दुःखी क्यों होता! इसी तरह भगवान् रामचन्द्र इतने दयालु हैं कि किसी नये आदमीको देखते ही द्रवित होकर मुस्करा पड़ते हैं और अपनी ओरसे ही बातचीत शुरू करते हैं कि कहिये आप आनन्दसे तो हैं न! चित्त आपका प्रसन्न है न! शरीर स्वस्थ है न! इस प्रकार भगवान् रामचन्द्र अभिमान छोड़कर बिना परिचयके ही, मुस्कुराकर अपना आनन्द उसको देकर तब उससे बात करते हैं—*'स्मितपूर्वाभिभाषी च।'*

'अलोलुप्त्वम्'—किसी चीजके लिए लोलुपता नहीं होनी चाहिए। लोलुप्त्व माने डबल लोभ। यह मनुष्य-जीवनके लिए ठीक नहीं है। अतः एकबार किसी वस्तुके लिए इच्छा हो गयी तो उस इच्छाको मर जाने दो, उस इच्छाको दुबारा आने नहीं देना।

'मार्दवम्'—मृदुलता, चित्तकी कोमलता बनी रहनी चाहिए। मोह-ममतामें कठोरता रहती है। जब हम किसी चीजको पकड़ेंगे कि यह छूटने न पावे, तब कठोरता आजायेगी। लेकिन हमारे तो हल्के हाथ हैं बाबा, ले जाना है ले जाओ!

देखो, योगवासिष्ठमें एक रामलीलाका वर्णन है। जब-जब श्रीरामचन्द्रके पास कोई माँगनेवाला आता तो वे कहते कि भाई, तुम इसे क्यों चाहते हो? इसमें तो विपत्तिका निवास है। मैं ही इसको रखकर बड़ा दु:खी हूँ। अब तुम इसको ले जाना चाहते हो तो ले जाओ, इसके जानेसे हमारा तो दु:ख छूट जायेगा। लेकिन तुम इस दु:खके निवासको क्यों ले जाना चाहते हो?

यह कहकर भगवान्-सब-का-सब उठाकर दे देते थे। फिर जब दशरथजीके पास नौकर-चाकर खबर लेकर जाते थे कि महाराज, आज तो श्रीरामचन्द्रजीके महलमें रसोई बनानेके लिए चावल-दाल-आटा कुछ भी नहीं है। तब दशरथजी फिरसे सब कुछ दे देते थे।

'ह्रीः'—इसका अर्थ है लज्जा। जिसकी शर्म छूट जाती है, उसको लोग बेहया बोलते हैं। *'यथा हि मलिनैर्वस्त्रैः यत्रतत्रोपविश्यते'* जिसके कपड़े गन्दे होते हैं चाहे जहाँ बैठ जाता है, उसको वहाँ बैठनेमें कोई लज्जा नहीं होती। इसी तरह जब आदमी सदाचार छोड़कर बेहया हो जाता है तब वह लोगोंको दिखा-दिखाकर बुरा काम करने लगता है. वह मूँछपर ताव देकर कहता है कि मैं तो वेश्याके घर जा रहा हूँ। वह हाथमें डण्डा लेकर यह कहते हुए निकलता है कि मैं अमुकका सिर फोड़ने जा रहा हूँ। इस तरहकी बेहयायी जीवनमें नहीं आनी चाहिए। बुरा काम करनेमें शर्म लगनी चाहिए!

'अचापलम्'—माने चपलता नहीं होनी चाहिए। बिना सोचे-बिचारे चाहे जो बोल दिया, चाहे जो कर लिया, यह चपलता है! समयसे पहले कर देना और अस्थाने कर देना भी चपलता है। जो उचित-अनुचितका विचार किये बिना काम करता है उसको चपल बोलते है। *'अव्यापारेषु व्यापारम्'* नहीं करना चाहिए।

'तेजः'--जीवनमें तेज होना चाहिए। कोई कहे कि मेरे लिए झूठी गवाही देनी पड़ेगी तो ऐसा कहनेवालेको डाँट दो कि तुम्हारी यह हिम्मत, यह जुर्रत कि तुम मुझको झूठ बोलनेके लिए कहने चले आये हो? इस प्रकारकी तेजस्विताकी जरूरत होती है जीवनमें।

'क्षमा'—यदि कोई तुम्हारा अपराध करे तो क्षमा कर दो। स्वयं तो अपराध करो मत और दूसरा कोई अपराध करे तो उसको क्षमा कर दो। संन्यासी को यही धर्म विशेषरूपसे बताया जाता है। संन्यास लेते समय वह जो संकल्प लेता है, उसमें एक संकल्प यही है—*'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्त अस्तु स्वाहा'*। संसारके सब

प्राणी अब मुझसे निर्भय हो जायें, अब अपराधीको दण्ड देना मेरा काम नहीं है। दुनियामें चाहे कोई कितना भी अपराध करे तो उसे राजा दण्ड दे, क्षत्रिय दण्ड दे, सेना दण्ड दे और पुलिस दण्ड दे। मैंने तो अब अपने लिए दण्ड ले लिया है तो मैं दूसरेको क्या दण्ड दूँ! इसीको बोलते है अभय-दान! इस दुनियामें जितने भी दान हैं वे सब अभय-दानके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हैं। धन-दान बड़ा दान नहीं है, विद्या-दान बड़ा नहीं है, किन्तु अभय-दान सबसे बड़ा दान है।

'**धृतिः**'—अपनेको रोककर रक्खो। यह नहीं कि मनमें जो आया सो बोल दिया और जहाँ मन हुआ वहाँ चल पड़े। अरे बाबा, ऐसा करना था तो मनुष्य क्यों हुए? तुमको तो पशु होना चाहिए था। मनुष्य होनेका अर्थ तो यह है कि उसके अन्दर धृति-शक्ति होनी चाहिए।

'**शौचम्**'—इसका अर्थ है पवित्रता। यह दो प्रकारकी होती है। एक हो अन्तः पवित्रता और दूसरी बहिः पवित्रता! ये दोनों ही जीवनमें होनी चाहिए।

'**अद्रोहम्**'—किसीसे द्रोह नहीं करना चाहिए। कहते हैं कि सब कुछ भले ही छोड़ दो लेकिन शीलका परित्याग मत करो। इन्द्र जब ब्राह्मणका वेश धारण करके प्रह्लादकी सेवा करते थे, तब इन्द्रने प्रह्लादका रहस्य जान लिया। पर जब इन्द्रने कहा कि अपना शील भी मुझे दे दो, तब प्रह्लादने कहा कि बस भाई, बस, यह तो मेरे पास ही रहेगा।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतद् प्रसह्यते॥

कर्मसे, मनसे, वाणीसे किसीके साथ द्रोह न करो और सबके ऊपर अनुग्रह करो, सबके ऊपर कृपा करो तथा सबको अपना समझकर अपनाओ। यदि भंगी कभी तकलीफमें मिल जाये तो उसको उठाकर अपने हृदयसे लगा लेना चाहिए। ऐसा क्यों? भंगी तो मल उठाता है। अरे भाई, हम भी तो रोज-रोज अपने मलका प्रक्षालन करते हैं। इसलिए जैसे हम वैसे ही वह है। दुःखमें दुःखीकी मदद करनी चाहिए। उससे भी द्रोह नहीं करना चाहिए।

'**नातिमानिता**'—देखो, जहाँ ज्ञानका साधन है, वहाँ भगवान्ने '**निर्मान-मोहाः**' कहा। '**अमानित्वम्-दाम्भित्वम्**' कहा। लेकिन यहाँ ज्ञानके साधनका वर्णन नहीं है। यह तो मनुष्यके जीवनकी एक साधारण प्रक्रिया है। इसलिए कहा कि '**नातिमानिता**'। अति मान न करना दूसरी चीज है, मान न करना दूसरी चीज है और मानित्वका अपवाद कर देना दूसरी चीज है। इसलिए ज्ञान-साधनामें तो मानका, मानित्वका तिरस्कार ही कर दिया जाता है। यहाँ जीवनकी प्रक्रियाके प्रसंगमें कहा कि '**न अति-मानिता**'—अतिमान मत करो, माने अपनेसे दूसरेको छोटा मत समझो। दूसरेका तिरस्कार मत करो!

एक बार हमलोग श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके साथ अनूपशहरसे वृन्दावन जा रहे थे। रास्तेमें एक राजा साहबका गाँव आता था। जो एक मील दूर पड़ता था। हमलोग थक गये थे और एक पेड़के नीचे बैठे थे। इतनेमें राजा साहबका मुनीम आया। वह बाबासे बोला कि महाराज, राजा साहबकी तबीयत खराब है और वे आपका दर्शन करना चाहते हैं। इसलिए आप उनको दर्शन कराते हुए जाइये। बाबाने कहा कि नहीं हमको वृन्दावन पहुँचना बहुत जरूरी है। इसलिए आज हम राजा साहबकी राजधानीमें नहीं जा सकेंगे। अब मुनीमजी लौट गये। थोड़ी देरके बाद राजा साहब धूपमें नंगे सिर दौड़ते हुए आते दिखायी पड़े और आकर बाबाके चरणोंमें गिर पड़े। बोलेकी महाराज, आप यहाँसे जा रहे हैं, आज हमारे यहाँ विश्राम कीजिये। बाबा बोले कि अच्छा, चलो चलें! इसमें क्या बात है ? बड़े आदमियोंकी जो तबीयत खराब होती है कि उन्हें चलना न पड़े और बाबाजी नौकरके बुलानेसे आ जायें अब जब राजा साहब स्वयम् आगये तब बाबाने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और फिर वृन्दावन पहुँचनेकी जल्दी नहीं रही। फिर तो वहाँ हलवा-पूरी छनने लगा और तीन दिनों तक कीर्तन, सत्संग, कथा-श्रवणका आनन्द मिला!

इसलिए '**नातिमानिता**' अतिमान नहीं करना चाहिए। परन्तु मानका ध्वंस हो जानेपर धर्मका ध्वंस हो जाता है। यदि अपनेको ब्राह्मण नहीं मानोगे तो स्वाध्याय छूट जायेगा और क्षत्रिय नहीं मानोगे तो रक्षण-कार्य छूट जायेगा। इसलिए थोड़ा-सा मान रखना चाहिए।

भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत। (३)

अब इस दैवी संपदाका वर्णन करके भगवान कहते हैं कि जो लोग निसर्गसे दैवी सम्पदामें पैदा हुए हैं, जन्मसे जिनके अन्दर दैवी सम्पत्ति आयी है, उनके अन्दर ये गुण होते हैं। इसके बाद भगवान् आसुरी-सम्पदा बताते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ (४)

'**दम्भ**'—दम्भका अर्थ यह है कि जो गुण, जो धर्म अपने अन्दर न हो, उसको लोगोंको दिखाना। मैं एक ऐसे सज्जनको जानता हूँ जो छिपकर तो किसीका भी लाया हुआ खा लेते हैं, लेकिन लोगोंके बीचमें कहते हैं कि बस, हम तो शुद्ध पवित्रात्मा ब्राह्मणका बनाया ही खाते हैं। दम्भकी एक और बात सुना देता हूँ। एक बार ब्रह्माजीकी बहुत बड़ी सभा लगी थी। वहाँ एक सज्जन आये। उनके एक हाथमें कमण्डलु था, दूसरे हाथमें कुशमुष्टि थी, बड़ा ही सुन्दर भस्मावृत ललाट था और बड़ी भारी जटा थी। वे कुशसे जल छिड़कते हुए और '*ॐ अपवित्रः पवित्रो*

वा 'कहते हुए आये। उन्होंने किसीको प्रणाम नहीं किया और आकर खड़े हो गये। ब्रह्माजीने सोचा कि यह कोई असाधारण महात्मा मालूम पड़ता है, जो हमसे भी बड़ा है और हमको भी प्रणाम करना उचित नहीं समझता है। इसलिए ब्रह्माजी खुद उठकर गये और बोले कि—'पधारिये महाराज!' आगन्तुकने कहा कि—'अच्छी बात है।' लेकिन हम बैठें कहाँ? यहाँ तो सब पुरानी चौकियाँ पड़ी हैं, पुराना सिंहासन है, इनपर हम कैसे बैठें? ब्रह्माजीने कहा—अच्छा, आप हमारी गोदमें बैठिये। आगन्तुकने कुशमुष्टिसे जल लिया और *'ॐ अपवित्रः पवित्रो वा'* करके ब्रह्माजीकी गोदको पवित्र किया तथा वह उसपर बैठ गया। फिर बैठकर बोला कि—'ऐ ब्रह्मा, तुम श्वास लेते हो तो तुम्हारे भीतरकी गन्दगी निकल-निकलकर हमारे सिरमें लगती है, इसलिए साँस बन्द करो। अब तो ब्रह्माजी घबरा गये कि यह कौन आगया? उसके बाद ब्रह्माजीने जरा झुककर देखा तो वे बोले कि, अरे बेटा दम्भ! दम्भ, तू इतने दिन कहाँ था? मेरा ही बेटा, मुझसे पहचाना नहीं गया। कहाँ था इतने दिनोंतक? दम्भने कहा कि—'पिताजी, जरा मद्रासकी ओर घूमने चला गया था।'

'दर्पः'—दर्पका अर्थ है दर्पण। दर्पणमें माने शीशामें देखकर जो कुरूप आदमी होता है वह भी कहता है कि 'हाँ' रंग तो मेरा जरा काला है, लेकिन मेरी आँखें कितनी कँटीली हैं। होंठकी तो क्या बात, यह तो पानके पत्तेकी तरह पतले हैं। हर आदमी शीशेमें अपनी शक्ल देखकर उसमें कुछ-न-कुछ सुन्दरता निकाल लेता है। इसलिए *'दृश्यते अनेन इति दर्पणः'*—दर्पण वह है, जिसको देखकर आदमी अपनेमें घमण्ड करे। दर्प माने बड़प्पन और अभिमान तथा क्रोध वह है, जिससे अपना दिल जलने लगे। **'पारुष्य'** माने रूक्षता और अज्ञान माने किसी भी बातको ठीक-ठीक न समझना। समझानेपर भी न मानना। यह सब जो आसुरी-सम्पदामें पैदा हुए उनका लक्षण है।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ (५)

अब आप क्या दिखाते हैं, देख लीजिये। अरे सावधान रहना भाई, यह मत बताना कि हमारी मैय्या आसुरी है। यही बताना कि हमारी मैय्या दैवी है। दैवी समपदासे हम पैदा हुए हैं। आसुरी सम्पदासे पैदा नहीं हुए हैं। क्योंकि **'दैवी संपद्विमोक्षाय'**—मोक्षका साधन है दैवी सम्पदा और बन्धनका साधन है आसुरी सम्पदा। इसपर मानो अर्जुनने पूछा कि महाराज मैं? भगवान् बोले कि तू बिलकुल चिन्ता मत कर! **'मा शुचः'**—शोक मत कर! तू तो दैवी सम्पदामें पैदा हुआ है पाण्डव! इसलिए दैवी सम्पदाके अनुसार चल!

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ (६)

ये दैव और आसुर दो विभाग असलमें सत्त्वकी प्रधानतासे तथा रजस्-तमस्‌की प्रधानतासे सृष्टिमें हैं। दैव वह होता है, जिसमें प्रकाश हो। दैव शब्दका अर्थ है द्युति, स्तुति,मोद, कान्ति,गति। दैवमें कान्ति है, दैवमें गति है, दैवमें द्युति है। और यह जो आसुरी सम्पदा है, इसमें असुर निवास करते हैं। जो इन्द्रियाराम हैं, उनको '*असुषु, इन्द्रियेषु रमते इति असुरः*' बोलते हैं।

अब भगवन् आसुर-सम्पत्तिका वर्णन करते हुए कहते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ (७)

देखो, मोक्ष नित्य पुरुषार्थ है और काम अनित्य पुरुषार्थ है। अर्थ मुख्य पुरुषार्थ नहीं है, साधन है—चाहे तो अर्थसे कामकी प्राप्ति कर लो और चाहे अर्थका दान करके अपनेको मोक्षके योग्य बना लो तथा धर्म कर लो। धर्मसे अन्तःकरण शुद्ध होगा। इसलिए धर्म नित्य-अनित्य उभय पुरुषार्थका साधन है। धर्म सकाम होनेपर अनित्य पुरुषार्थका साधन है और निष्काम होनेपर परम्परया नित्य पुरुषार्थका साधन है।

देखो अर्थ है बाहर। जो तिजोरीमें है, लाकरमें है वह है अर्थ। जो वेदमें है उसका नाम है धर्म, जो मनमें इच्छा है, प्यार है उसका नाम है काम। जो बुद्धिमें नियन्त्रण है, उसका नाम है धर्म और जो स्वरूप है, उसका नाम है मोक्ष। अर्थसे काम अन्तरंग है। कामसे धर्म अन्तरंग है। धर्मसे मोक्ष मोक्ष अन्तरंग है, इसलिए मोक्ष परम पुरुषार्थ है। अर्थको चोर लूटके ले जायेंगे, काम कभी पूरा होगा—कभी नहीं होगा, धर्म लोकमें और परलोकमें भी मदद करेगा और मोक्ष तो अपने आत्माका स्वतःसिद्ध स्वरूप ही है—वह कभी बिछुड़नेवाला नहीं है। इसलिए मोक्ष परम पुरुषार्थ है, काम गौण पुरुषार्थ है और अर्थ व धर्म दोनों पुरुषार्थके सहायक हैं। दूसरे शब्दोंमें अर्थ और धर्म गौण पुरुषार्थ तथा काम और मोक्ष मुख्य पुरुषार्थ हैं। काम अनित्य है और मोक्ष नित्य है।

भगवान् कहते हैं कि आओ अर्जुन! जिस कामसे पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, उसमें हमें प्रवृत्त होना चाहिए। ये असुर लोग उस प्रवृत्तिको नहीं जानते हैं और कौन-सा हमारे पुरुषार्थकी सिद्धिमें बाधक हैं उसको भी ये नहीं समझते हैं। **'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।'**

'न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते'—उनमें न पवित्रता है, न आचरण है और न सत्य है। आसुर सम्पदाका यही लक्षण है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ (८)

वे लोग कहते हैं कि यह जो जगत् है, इसका कोई सत्य अधिष्ठान नहीं है। सत्य अधिष्ठानके बिना अध्यस्त जगत्की प्रतीति नहीं होती। इसलिए **'असत्यम्'** माने *'सत्याधिष्ठान-रहितम् अबाधित-सत्य-रहितम्। **अप्रतिष्ठम्**-प्रतिष्ठा रहितम्, अबाधित-सत्य-रहितम्-क्षणिकम्।'* क्षणिक है, बोलते हैं वे लोग। फिर कहते हैं कि यह 'अनीश्वरम्' माने *'निमित्त-कारण-रहितम्'* है। **'असत्यम्'** माने *'अधिष्ठान-रहितम्'* 'अप्रतिष्ठम्' माने 'स्थितिरहितम्' **'क्षणिकम्'** और **'अनीश्वरम्'** माने 'निमित्तकारण-रहितम्'। इसको बनानेवाला कोई ईश्वर नहीं है और इसको कोई स्थिति नहीं है—यह क्षणिक है और इसका कोई सत्य अधिष्ठान नहीं है।

'अपरस्परसंभूतम्'—उनकी दृष्टिमें बेटेसे बाप और बापसे बेटा पैदा होता है। देखो, अपरस्पर शब्दका प्रयोग पाणिनिने अपने सूत्रमें किया है। क्रिया-सातत्य अर्थमें अपरस्पर शब्दका प्रयोग होता है। जहाँ क्रियामें कार्य-कारणभावका निश्चय न किया जा सके, उसका नाम होता है **अपरस्पर-संभूत**। फिर बोले कि यह सब जितनी दुनिया चल रही है, यह कामके अनुसार चल रही है—**'किमन्यत्काम-हैतुकम्।'**

**एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ (९)
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ (१०)**

लेकिन इस दृष्टिको स्वीकार करनेपर अन्तःकरणका नाश हो जाता है, बुद्धि छोटी हो जाती है, मनुष्य मनसे उग्रकर्मा हो जाता है और जगत्के विनाशके लिए काम करने लगता है, अहितकारी हो जाता है। काम इतना बड़ा है जो कभी पूरा ही नहीं होता। काम ऐसी आग है कि उसमें जितनी आहुति डालते जाओ वह उतनी ही बढ़ती जाती है। म मनुजीने कहा है कि कामको जितना ही पूरा करेंगे वह बढ़ता जायेगा—

*न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥*

दम्भ-मान-मद ये सब कामके पीछे आजाते हैं। दम्भ नहीं करेंगे तो चेले ज्यादा कैसे बनेंगे?

देखो, मैंने बचपनमें एक आख्यायिका सुनी थी। आप इसका इतिहास मत ढूढ़िये। उसका जो अभिप्राय है उसको लीजिये। आख्यायिका सत्य नहीं होती।

उससे जो ज्ञान मिलता है वह सच्चा होता है। वह आख्यायिका यह है कि एक दिन स्वामी दत्तात्रेयजी और शंकराचार्यजी दोनों कर्णवासमें गंगा-किनारे भिक्षा माँगनेके लिए गये। दत्तात्रेयजीको बेझरकी रोटी मिली और शंकराचार्यजीको लड्डू-पूरी। जब दोनों गंगा-किनारे इकट्ठे हुए और अपनी-अपनी भिक्षाको गंगा-जलमें डुबोकर और जो अधिक था उसे बाँट-बूँटकर भोजन करने बैठे तो दत्तात्रेयजीने कहा कि क्यों गुरु, तुमको लड्डू-पूरी मिली और मुझको बेझरकी रोटी मिली। उसके लिए तुमने कुछ पण्डिताई दिखाई होगी? शंकराचार्य जी ने कहा कि मैंने तो कोई पण्डिताई नहीं दिखायी, ऐसे ही घूमकर आगया और भिक्षा मिल गयी। दत्तात्रेयजीने कहा कि अच्छा, तुम क्या कर रहे थे? शंकराचार्यजी बोले कि मैं तो अपनी बनायी सौन्दर्यलहरीका पाठ करता हुआ रास्तेमें चल रहा था। दत्तात्रेय बोले कि तब जरूर भिक्षा देनेवालेने सुना होगा और सोचा होगा कि यह तो बड़ा भारी पणिडत है, इसको अच्छी भिक्षा देनी चाहिए। इसलिए तुम तो अपनी पण्डिताईके बदले अच्छी भिक्षा खरीदकर ले आये हो!

यह आख्यायिका सुनानेका मतलब यही है कि आसुरी प्रकृतिवालोंके जो दम्भ-मान-मद अपने हैं, वे अपने गुण दिखाकर लोगोंको प्रभावित करते हैं और उनकी जीविकाके साधन बनते हैं, लेकिन ऐसी कमाई विचारवान मनुष्योंको करनी नहीं चाहिए।

'मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्'—भगवान् कहते हैं कि लोग मोहकी झूठी-झूठी बातोंको, असद्ग्राहको मान बैठते हैं और **'प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः'**—अपवित्रताका व्रत लेते हैं। ऐसे-ऐसे साधन हैं, जो गन्दी हालतमें किये जाते हैं। उसका तो वर्णन ऐसा है कि उससे अपना और आपका दिमाग खराब क्यों करें? गन्दी हालतमें किये जानेवाले साधनोंमें जो सिद्धि आती है वह भी गन्दी ही आती है और ऐसे लोग जो मरते हैं तो बड़ी गन्दी हालतमें मरते हैं। मरते समय उनकी बड़ी दुर्दशा होती है।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ (११)

'चिन्तामपरिमेयां च'—चिन्ता ऐसी करते हैं कि जैसे प्रलय-पर्यन्तका ठेका उन्होंने ही ले रखा है। उनके मनमें एक-पर-एक, एक-पर-एक इतनी चिन्ता है कि वह परिमेय नहीं है। किसी बर्तनमें उनको अँटाना चाहे तो अँट नहीं सकती हैं और वह चिन्ता प्रलयतककी है कि अबसे सौ वर्ष बाद क्या होगा, हजार वर्ष बाद क्या होगा और पाँच हजार वर्ष बाद क्या होगा! वे बोलते हैं कि भाई, पाँच हजार वर्ष बाद तो सबके खाने भरका अन्न नहीं मिलेगा। तब क्या करें? अभीसे कोयला

खाना शुरू कर दो। यह अक्ल है उनकी। वे कहते हैं कि हाँ, हाँ पत्थरको खाने लायक बना लो। पेड़को खानेलायक बना लो। अरे, सौ वर्षके बाद पीनेका पानी भी नहीं मिलेगा, इसलिए अभीसे समुद्रका पानी पीनेकी आदत डालो। वे यह नहीं जानते कि तबतक कितने भूचाल आयेंगे, कितने नये स्रोत खुल जायेंगे और सृष्टिमें कितना परिवर्तन हो जायेगा। इसलिए वे अपने परिमित ज्ञानसे जो अपरिमितकी चिन्ता करते हैं वह बहुत खराब है!

'**कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः**'—ऐसे लोगोंका परम तत्त्व क्या है? कामका उपभोग है। वे कहते हैं कि बस यही है, इससे आगे कुछ नहीं है।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ (१२)

वे आशाके सैकड़ों फन्दोंसे बँधे हुए हैं और उन्होंने आश्रय किसका ले रखा है? उनका कहना है कि हम चाहेंगे तब यह मिलेगा और इसको मारेंगे तब यह मिलेगा। हम जबतक दुश्मनको मार नहीं डालेंगे तबतक हमारा जीवन सफल नहीं होगा। क्रोध लेकर बैठे हैं वे। कहते हैं कि जबतक यह चीज नहीं मिलेगी, हम चैन नहीं लेंगे।

'**ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्**'—वे लोग धन इकट्ठा करते हैं तो वह भी अन्यायसे करते हैं। जेबकतरे लोग जब धोखा देकर किसीकी जेब काट लेते हैं तो उनको अपराधी कहा जाता है, किन्तु ये तो दिन-दहाड़े लोगों की अकल काटकर उनका पैसा ले लेते हैं। ऐसा वे किसलिए करते हैं? उन पैसोंका ये करेंगे क्या? बोले कि अपने मनका भोग भोगेंगे। लेकिन वह भोग क्या हमेशा रहेगा? उसके लिए हमेशा मनमें रुचि रहेगी? अरे तुम भोगते-भोगते बेहोश हो जाओगे, मर जाओगे। इसलिए भोगके लिए क्यों अन्याय करते हो?

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ (१३)
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ (१४)

वे सोचते कैसे हैं? आज तो इतनी आमदनी हुई—'**इदं अद्य मया लब्धम्**'। यह हमको मिल गया और यह मनोरथ हमको मिलेगा। इतना हमारे पास है और इतना और हो जायेगा। मैंने इस शत्रुको मार दिया, इस शत्रुको मार डालूँगा। फिर बोलते हैं कि—'**ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी**'। वे असली ईश्वरको सिंहासनपर-से उतार देते हैं और स्वयं नकली ईश्वर बनकर बैठ जाते हैं। फिर कहते हैं कि मैं भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ (१५)

वे कहते हैं कि मैं आढ्य हूँ—'धनाढ्य हूँ और हमारे पीछे इतने लोग हैं, इतने वोट हमारे साथ है। मैं जो बोलता हूँ वह सारी जनताकी आवाज होती है। '**कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया**'—कौन है मेरी बराबरी करनेवाला? मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, मैं आनन्दित होऊँगा।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ (१६)

यह सब उनका अज्ञानजनित मोह है। उनका जो चित्त है वह विभ्रान्त है- '**अनेक चित्तविभ्रान्ताः**'। उनके अनेक प्रकारके निश्चय हैं, अनक प्रकारके संकल्प हैं। वे इधर-उधर भटक रहे हैं, मोहके जालमें फँसे हुए हैं, कामभोगमें आसक्त हैं। ऐसे लोग गन्दे नरकमें गिरते हैं—'**पतन्ति नरकेऽशुचौ**'। इनको नरक भी मिलेगा तो बस वैतरणीमें ही जगह मिलेगी। मलमूत्रसे गन्दे जो कुण्ड भरे होते हैं, उन्हींमें ये डाले जायेंगे।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ (१७)

'**आत्मसंभाविताः**'—वे अपनी तारीफ खुद अपने मुँहसे करते हैं कि हमारे जैसा और कौन है? भला हमसे बड़ा और कौन है? सर्वगुणविशिष्ट मैं ही तो हूँ।

'**स्तब्धाः**'—वे किसीके सामने झुकते नहीं हैं। '**स्तब्धाः**' माने जैसे खम्भा खड़ा रहता है, वैसे ही वे स्तब्ध रहते हैं। स्तम्भ-संचारीभाव उनको होता है। कहते हैं कि हम सिर किसको झुकावें?

'**धनमानमदान्विताः**'—वे धन-मानके नशेमें चूर हो गये हैं। उनमें मद हो गया है। देखो, चालीस बरस पहलेकी बात है। कनखलमें एक 'मादक द्रव्य निषेध समिति' बनी थी कि साधु लोग गाँजा, चरस न पीयें। जब उसके सदस्य लोग, एक साधुके पास गये, तो उन्होंने कहा कि भाई, मादक द्रव्यकी परिभाषा क्या है, जरा बोलो तो! तुम्हारे जो बड़े-बड़े महन्त हैं और उनके पास जो बहुत-सा रुपया-पैसा है तथा जो बहुत सारी चेलियाँ हैं, उनका मद उनको है कि नहीं? वह मादक द्रव्यके अन्तर्गत है कि नहीं है? क्या इसका नशा नहीं होता है?

इसी तरह हमारे गाँवमें, जो बहुत गरीब हैं, यह मशहूर था कि जिसके पास सौ रुपया होता है उसको एक बोतलका नशा होता है। हम ब्राह्मण लोग मान-धन हैं, तपोधन हैं। हमारे पास सौ रुपया नहीं है, तो क्या हुआ? जिसके पास सौ रुपया है, वह तो नशेमें चूर है।

'**यजन्ते नामयज्ञैस्ते**'—वे नाम मात्रके यज्ञ करते हैं। उन्हें अधिकारीका विचार नहीं, विधि-विधानका विचार नहीं, मन्त्र शुद्ध नहीं और फलका कोई संकल्प नहीं। उनका यज्ञ नाम-मात्रका यज्ञ होता है।

देखो, महात्माओंने इसके दो अर्थ किये हैं। नाम-यज्ञका एक अर्थ तो नाम-मात्र-यज्ञ है और दूसरा अर्थ है अपने नामके लिए यज्ञ। चन्दा तो इकट्ठा करेंगे गाँवसे, पर खुद यजमान बनकर बैठ जायेंगे। वे अपना नाम बढ़ानेके लिए यज्ञ करते हैं।

'**दम्भेनाविधिपूर्वकम्**'—वे दम्भसे यज्ञ करते हैं और बिना विधानके करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ (१८)

उन्होंने ईश्वरका आश्रय छोड़ दिया और अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोधका आश्रय ले लिया है।

'**मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोभ्यसूयकाः**'—भगवान् कहते हैं कि मैं जो उनके शरीरमें हूँ, मैं वही हूँ। दूसरोंके शरीरमें भी हूँ। पर वे दूसरोंमें दोष निकालते हैं और उससे द्वेष करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ (१९)
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ (२०)

यह गाली है भगवान्की। कहते हैं कि ये जो द्वेषी लोग हैं, दूसरेके शरीरमें विराजमान मुझ परमात्मासे द्वेष करनेवाले हैं, ये क्रूर है, नराधम हैं, इनको मैं बारम्बार संसारमें फेंकता हूँ और कहता हूँ कि जाओ बेटा, तुम आसुरी योनिमें रहो और ये मूढ़ जन्म-जन्म आसुरी योनिमें जाते हैं। जिस योनिमें आकर ये मुझे प्राप्त कर सकते थे, वहाँ इन्होंने मुझे प्राप्त नहीं किया। ये चाहते तो '*हस्तग्राह्यमपि मां अप्राप्य*'—मुझको हाथसे पकड़ लेते, मुँहसे पी लेते, आँखसे हमारे सौन्दर्यामृतका पान कर लेते, '*अभेदेन आत्मत्वेन*' हमारा साक्षात्कार कर लेते, लेकिन ये तो अपनी बेवकूफीके कारण अधमा गतिको ही प्राप्त होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ (२१)

अब भगवान् बोले कि देखो, यह जो आसुरी सम्पत्ति है, यह नरकमें प्रवेशका द्वार है। '**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारम्**'। वैसे नरकमें जानेका दरवाजा तो एक ही है, लेकिन वह तीन ओरसे है—इसीसे मनुष्यका आत्मनाश हो जाता है। उस एक

द्वारके तीन प्रकार हैं—काम, क्रोध और लोभ। यह काम ही क्रोध है, क्रोध ही काम है, काम-क्रोध ही लोभ है। और लोभ ही काम-क्रोध है। इनमें साम्य क्या है ? अन्य वस्तुको महत्त्व देना है। अनात्माको महत्त्व देना ही काम है, अनात्माको महत्त्व देना ही क्रोध है, अनात्माको महत्त्व देना ही लोभ है। स्त्री-पुरुष-विषयक काम है, शत्रु-विषयक क्रोध है, धनादि-विषयक लोभ है। और इन तीनोंमें जो अनात्माको समान रूपसे महत्त्व दिया गया है, यही नरकका द्वार है।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ (२२)

इसलिए कौन्तेय! तुम नरकके इन तीन दरवाजोंसे मुक्त हो जाओ। इनसे बचो, बचो! बचकर रहो। यहाँ भगवान्‌ने आगे बचना ऐसा नहीं कहा, *'विमुच्यमानः'* भी नहीं कहा; यह भी नहीं कि इसी समय बचकर चलो, बल्कि यह कहा कि पहले बचो, आगे दूसरा काम करना। **विमुक्तः** का अर्थ है कि पहले बच जाओ, अपनेको बचा जाओ, अपनेको बचा लो और फिर उसके बाद अच्छे रास्तेपर चलना।

'आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्' अरे भाई; पानी पीनेके लिए रक्खा है और साँप काटनेको आया है। पाँव साँपकी ओर सरकते जा रहे हैं। बोले कि पहले सरकनेसे बचो, साँपसे बच लो, फिर गिलासका पानी पीना, नहीं तो गिलासका पानी पीनेमें साँप डंक मार जायेगा। इसी तरह पहले काम-क्रोध-लोभ इन तीनोंसे बच लो फिर अपने कल्याणके लिए जो साधन है उनको करो। उसीके बाद परा गतिकी प्राप्ति होगी।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ (२३)

प्रश्न यह है कि हम किसीकी आज्ञा क्यों नहीं मानते हैं ? शास्त्रने कहा है कि *'अहरहः सन्ध्यामुपासीत्'* प्रतिदिन सन्ध्या-वन्दन करना चाहिए, यज्ञोपवीतधारीका यह कर्तव्य है। क्योंकि उसने अग्निसाक्ष्यमें,वेदमन्त्रोच्चारणपूर्वक ब्राह्मण-गुरु द्वारा गायत्री-मन्त्रको वेद-विधिसे ग्रहण किया है।

किन्तु ब्राह्मण अलग गया, मन्त्र अलग गया, अग्नि-साक्षित्व अलग गया; उसने विकारोंकी निवृत्तिके लिए जो संस्कार ग्रहण किया था उसके अनुसार उसको प्रतिदिन संन्ध्या-वन्दन करना चाहिए था पर उसने शास्त्रविधिका परित्याग कर दिया और जो मौज आयी वह करने लगा। इसका परिणाम क्या होगा ?

'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'— भगवान् बोले कि वह इतना पतित हो गया कि पाँच-दस मिनट बिना कामनाके बैठकर अपने कर्तव्यको पूरा नहीं कर सका। फिर वह क्या करेगा ? जो सन्ध्या-वन्दन नित्यकर्मको नहीं कर सकता, वह यदि सैनिक हुआ, उसको यदि सेनापति भी आज्ञा देगा कि सामनेवालेको

बन्दूककी गोलीसे उड़ा दो, तो वह उस आज्ञाका पालन कर सकेगा? नहीं कर सकेगा, क्योंकि आज्ञा-पालनकी आदत ही नहीं है उसमें। वह कहेगा कि यदि इसको गोली मरवाना है तो पहले दो सौ रुपये हमारे पास रख दो, तब गोली मारूँगा। वह ऐसा कहेगा, आज्ञाकारी होगा ही नहीं। किन्तु जो शास्त्राज्ञाके अनुसार निष्काम भावसे सन्ध्या-वन्दन करेगा, वह कर्तव्य-पालन अवश्य करेगा। सन्ध्या-वन्दन निष्काम ही होता है। आपको शायद मालूम हो या न हो कि सन्ध्या-वन्दनादिरूप जो व्रत ग्रहण किया हुआ है, उसके त्यागका पाप लगता है। राम-राम कहनेसे आपका कल्याण हो जायेगा, आप वैकुण्ठमें जायेंगे और आपको भगवान् मिलेंगे, लेकिन अगर आप राम-राम न बोलें तो आपको पाप नहीं लगेगा, आप नरकमें नहीं जायेंगे। परन्तु जो व्रत आपने अग्निको साक्षी करके विधिपूर्वक ग्रहण किया है, उसका यदि पालन नहीं करोगे तो आपको कर्तव्योल्लंघन-रूप प्रत्यवायकी प्राप्ति होगी।

शास्त्रविधिका परित्याग करनेवालोंके अन्तः-करणकी शुद्धि तो कभी होगी ही नहीं। अच्छा बाबा, जाने दो शुद्धि-अशुद्धिकी बात, जीवनमें सुख तो मिले। नहीं, सुख भी नहीं मिलेगा, क्योंकि वह हर शास्त्रका, उल्लंघन करता है और '**कामकारतः**' माने कामनाकी कारपर बैठकर अपनी मौजके अनुसार काम करता है। भला जो मौजमें आवे वह करके कोई सुखी हो सकता है? उसके अन्तःकरणकी शुद्धि कभी हो ही नहीं सकती। उसे न तो सिद्धि माने न तो विभूति-वैभव मिलेगा, न सुखकी प्राप्ति होगी और न वह परा गतिको प्राप्त कर सकेगा। तब क्या करना चाहिए महाराज!

देखो, इस प्रसंगमें एक बात सुनाता हूँ। गंगाकिनारे एकबार दो महात्मा इकट्ठे हुए। उनमें-से एकने कहा कि भाई; लोग कहते हैं, ईश्वर हमारे हृदयमें बैठकर बोल रहा है और हम सुन रहे हैं। इसलिए हम तो अब इसके अनुसार ही काम करेंगे। दूसरे महात्मा बोले कि भोलेराम, इस इल्हायके चक्करमें मत पड़ना। हम वैदिक लोक इल्हायको नहीं मानते हैं। हम तो शास्त्राज्ञाको मानते हैं। शिवपुराणमें वर्णन है कि जब भीष्मपितामहने अपने पिता शन्तनुको पिण्डदान करनेके लिए हाथमें पिण्ड उठाया, तो शन्तनुका हाथ निकल आया, उसे ग्रहण करनेके लिए। तब भीष्मने विद्वान् ब्राह्मणसे पूछा कि महाराज, मेरे पिताजीका हाथ निकल आया है, अब मैं पिण्डदान कहाँ करूँ? हाथपर कि कुशकी वेदीपर? विद्वान् ब्राह्मणने कहा कि, सावधान भीष्म! यदि तुमने हाथपर पिण्डदान किया तो श्राद्धकी पद्धतिका लोप हो जायेगा। सबलोग कहेंगे कि पहले हमारे पिताका हाथ निकले तब हम उसपर पिण्डदान करेंगे। लेकिन शास्त्रमें विधि है कुशासनपर पिण्डदान करनेकी, इसलिए कुशपर पिण्डदान करो, शास्त्रपरम्परा चलती रहेगी।

आपको हम श्राद्धकी बात क्या सुनावें! मूर्ख भी, बच्चा भी, अज्ञानी भी, अनपढ़ भी जब श्राद्धको देखता है या करता है, तब उसकी बुद्धिमें इस श्रद्धाका समावेश होता है कि देह छूट जानेके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है। वेदान्ती लोग जो यह चाहते हैं कि मनुष्यकी आस्था देहातिरिक्त आत्मामें जमे, वह श्राद्ध अनजानमें ही हमारे हृदयमें बैठा देता है। देवताकी पूजा करनेसे इन्द्रियोंमें शक्ति आती है, ऋषियोंकी पूजा करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है, पितरोंकी पूजा करनेसे वंश-परम्परा चलती है और संस्कृतिकी रक्षा होती है। ईश्वरकी पूजा करनेसे राग-द्वेषकी निवृत्ति होती है तथा तत्त्वज्ञानसे प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न तत्त्वका बोध होता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ (२४)

भगवान् कहते हैं कि अतएव अर्जुन! क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है—इसमें इल्हाय काम नहीं देगा, आकाशवाणी काम नहीं देगी और स्वप्न काम नहीं देगा। और इसमें तो सामने बैठकर राज करनेवाले देवताके रूपमें कभी-कभी राक्षस आ जाते हैं। फिर क्या उनकी आज्ञा काम देगी ? नहीं, यहाँ तो शास्त्र-शासन है, वही कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्था करता है, इसलिए शास्त्र ही कर्तव्याकर्तव्यके सम्बन्धमें प्रमाण है।

'**ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि**'—इसलिए शास्त्र-विधानके अनुसार काम करना चाहिए। हमारी सड़कोंपर लिखा होता है कि बाँयेसे जाओ। लेकिन तुमने देखा कि दाहिने तो कोई है ही नहीं, सड़क खाली है, इसलिए दाहिने निकल चले। ऐसा करनेसे एक दिन निकल जाओगे, दो दिन निकल जाओगे, लेकिन एक ऐसा ऐक्सीडेंट होगा, ऐसी पुलिस पकड़ेगी कि बिलकुल मारे जाओगे। इसलिए दाहिने कोई मोटर हो या न हो, कोई सवारी हो या न हो, कोई आदमी हो या न हो, कोई पुलिस हो या न हो, हमेशा संविधानके अनुसार बाँयेसे ही चलना चाहिए। यही लौकिक संविधानकी रीति है। यहाँ राष्ट्रपतिकी उतनी महिमा नहीं है, प्रधानमन्त्रीकी उतनी महिमा नहीं है, मिनिस्टर लोगोंकी उतनी महिमा नहीं है—अगर वे संविधानके विरुद्ध आचरण करें तो निकाल दिये जायेंगे! इसलिए व्यक्तिकी महिमा नहीं होती, संविधानकी महिमा होती है। तो अन्तःकरणकी शुद्धिके सम्बन्धमें, सनातन धर्मके सम्बन्धमें, तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें शास्त्रके शाश्वत संविधानसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसको समझकर अपनाओ।

॥ इस प्रकार यह 'दैवासुर संपद्-विभाग योग' नामक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥



सत्रहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ (१)

अब प्रश्न उठा कि जो शास्त्रविधिका परित्याग करके स्वच्छन्द आचरण करते हैं उनके लिए तो इस लोकमें न सुख है, न सिद्धि है और परमार्थकी प्राप्ति तो बहुत दूरकी बात है। परागति माने परमार्थकी प्राप्ति। न लोक, न परलोक, न परामर्थ, न सुख, न सिद्धि, कुछ भी नहीं मिलता, शास्त्रविधिका परित्याग करनेवालेको। और जो शास्त्रविधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक कर्म करते हैं, उनके बारेमें भी निर्णय हो गया कि वे बिलकुल ठीक रास्तेपर हैं। शास्त्र और श्रद्धा दोनों ठीक मार्ग हैं। यदि शास्त्र छूट गया, स्वच्छन्द आचरण आगया तो यह बुरा है। अब ये ही दो पक्ष हैं कि इसमें कोई तीसरा पक्ष भी है? एक तीसरा पक्ष भी इसमें हो सकता है। वह यह है कि शास्त्रविधि तो छूट जाये, लेकिन श्रद्धा बनी रहे तो? महाराज, मेरी यह बात किसीको पसन्द न हो तो वे मुझे माफ करें। मैं उनसे पहले ही माफी माँग लेता हूँ। यह जो कान चीरकर उसमें पहन लेते हैं उसके सम्बन्धमें हम श्रुति-स्मृति-पुराण और शास्त्रकी विधि ढूँढ़ने लगें तब तो उसका मिलना बहुत मुश्किल है। परन्तु इनके हृदयमें अपने सद्गुरुके प्रति, सम्प्रदायके प्रति जो विशेष श्रद्धा है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। उनकी श्रद्धाकी तो प्रशंसा करनी पड़ेगी। परन्तु शास्त्र-विधि तो उनके सम्प्रदायके जो शास्त्र होंगे, उन्हींमें उनकी विधि मिलेगी। जो सामान्य वेद-शास्त्र-पुराण हैं उनमें उनकी विधि मिलना कठिन है। प्रश्न यह है कि उनकी रीति क्या है? यह तीसरा प्रश्न आगया।

इसका एक दूसरा उदाहरण देखो। संक्रान्ति का दिन हो, ग्रहणका दिन हो तो शास्त्र-विधिके अनुसार गङ्गा-स्नान करना चाहिए। लेकिन कोई कहे कि देखो भाई, हम शास्त्र तो जानते नहीं। मेरे पिताजीने, पितामहने, बड़े प्रेमसे पाला है मुझे और समझाया है कि तुम्हारे लिए यह कूआँ अथवा बावड़ी ही गंगा है। यही नर्मदा है, यही गोदावरी है, यही समुद्र है! वह बड़ी श्रद्धासे कहता है मैं तो इसीमें स्नान करूँगा। अब शास्त्र-विधिसे तो गंगा-स्नानका फल उस कूएँ या बावड़ीके स्नानमें

प्राप्त नहीं है। परन्तु अपने पितामह और पिताके प्रति उसके हृदयमें जो श्रद्धा है, वह तो सात्त्विक है। तो उसका क्या होगा?

यहाँ आकर प्रश्न अटकता है। जिनमें शास्त्र, श्रद्धा दोनों हैं, वे श्रेष्ठ हैं। और जिनमें शास्त्र और श्रद्धा दोनों नहीं हैं वे अधम हैं; परन्तु यह जो बीचका मार्ग है कि शास्त्र न हो और श्रद्धा हो तो ऐसे लोगोंकी गति क्या होती है? ये जो पन्थाई लोग होते हैं, फिरका-परस्त लोग होते हैं उनकी गति यही होती है। उनको मजहबी कहो, फिरकापरस्त कहो, पन्थाई कहो बात एक ही है। जो पूर्णताको, अपरिच्छिन्नताको, अद्वितीयताको लक्ष्यरूपसे स्वीकार नहीं करते हैं, उनका सिद्ध पदार्थ छूट जाता है। लेकिन क्या उनकी श्रद्धामें कोई बल नहीं है? एक प्रश्न यह उठता है कि श्रद्धाका जो आधार है, संवित् है वह तो सर्वकर्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, साक्षात् परमेश्वरका अंश है। यदि श्रद्धाको पकड़ लिया तो क्या सारे पर्दे फाड़ देनेका सामर्थ्य उसके अन्दर नहीं आयेगा? हम यह मानते हैं कि शास्त्रसे, गुरुसे, सम्प्रदायसे सिद्ध पूर्णताको स्वीकार करके, उसकी उपलब्धिके लिए जो साधन किये जाते हैं, वे बिल्कुल निर्दोष हैं, निर्विवाद हैं। परन्तु यह जो श्रद्धाकारमें परिणत संविद् है, क्या उसमें कोई सामर्थ्य नहीं है? अपनी संविदा ही तो श्रद्धाकार परिणामको प्राप्त हुई है। फिर उसको बिल्कुल असमर्थ मान बैठना उचित नहीं है। इसी अभिप्रायसे अर्जुन '**सत्त्वमाहो रजस्तमः**' कहते हैं। इसमें **सत्त्वम्** को तो एक तरफ कर दिया है, रजस्-तमःको एक तरफ कर दिया है और बीचमें '**आहो**' जोड़ दिया है। उसमें भी यदि श्रद्धा शास्त्रकी हो तो उनका कल्याण होना चहिए और रजोगुणी-तमोगुणी श्रद्धा हो तो भले ही उनका कल्याण न हो! हम यह मान सकते हैं कि यह लामजहब बेलौस नहीं है, शास्त्रोक्त नहीं है; लेकिन एक मुसलमानकी कुरानशरीफमें या मुहम्मद साहबमें या खुदामें या कलमामें श्रद्धा नहीं है—यह तो हम नहीं मान सकते। तब प्रश्न यह हुआ कि आखिर श्रद्धाका बल कितना और शास्त्रका बल कितना?

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ (२)

भगवान् श्रीकृष्ण इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि श्रद्धा तो '**स्वभावजा**' होती है। श्रद्धा उत्पाद्य नहीं होती, बनावटी नहीं होती, बनायी नहीं जाती। मनुष्यने पूर्व-पूर्व जन्ममें जैसे-जैसे कर्म किये हैं और मृत्युक्षण-पर्यन्त उसका जो परिपाक हुआ है, उसका उत्तर नाम स्वभाव है। वही स्वभाव पूर्वजन्मका उत्तर जन्ममें प्रकट होता

है और वह श्रद्धाके रूपमें आता है। इसलिए स्वभाव भी अनिर्मित नहीं होता, अकृत्रिम नहीं होता, बल्कि कृत्रिम ही होता है। परन्तु वह अध्यात्मकी-अन्त:करणकी—एक अवस्था है और अन्त:करणकी ऐसी जो स्वभावात्मक अवस्था है, यह पूर्व-पूर्व कर्मोंके परिपाकसे अन्तिम क्षणमें उत्पन्न होती है। वैसे तो श्रद्धा तो एक ही है। परन्तु विषय-उपाधिके भेदसे श्रद्धामें भेद हो जाता है। यह स्वभावजा श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—एक सात्त्विकी साधनभूता,एक राजसी और-तामसी असाधनभूता।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्यश्रद्धाभवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ (३)

असलमें सत्त्व तो सबका होता है। विशष्ट संस्कारोपेत अन्त:करणका नाम सत्त्व है। विशिष्ट-विशिष्ट संस्कारसे युक्त जो अन्त:करण है उसका नाम है सत्त्व। उसीके अनुरूप सबके हृदयमें श्रद्धा होती है।

इस सत्रहवें अध्यायमें 'करना चाहिए'—यह कहीं नहीं है, और 'नहीं करना चाहिए'—ऐसा भी कहीं नहीं है। तब क्या करना चाहिए? तो जो सात्त्विक है, वह करना चाहिए—यह इसकी प्रशंसासे ध्वनित होता है और जो राजस-तामस है वह नहीं करना चाहिए—यह उसकी निन्दासे ध्वनित होता है। यहाँ निन्दा-बलकल्प्य निषेध है। रजस्-तमस् बलकल्प्य निषेध है और सत्त्व बल-कल्प्य विधि है। इसीसे वेदोंमें जहाँ विभूतिका वर्णन आता है वहाँ उसका अर्थ या अर्थवाद निकालते हैं।

'**श्रद्धामयोऽयं पुरुषः**'—यह जो पुरुष है, मनुष्य है—यह श्रद्धामय ही है। श्रद्धामय माने श्रद्धा-प्रचुर। जैसे आप कभी कोई साग बनाते हैं तो उसमें नमक ज्यादा हो जानेपर कहते हैं कि—'*लवणमयोऽयं शाकः*'। इसी तरह खीरमें शक्कर ज्यादा हो जानेपर बोलते हैं कि—'*शर्करामयोऽयं पायसः*'। यह प्राचुर्य अर्थमें प्रत्यय है। मनुष्यका जो शरीर है, इसमें श्रद्धाकी अधिकता है। जो लोग कहते हैं कि हम श्रद्धा नहीं करते वे या तो दूसरोंको धोखा देते हैं या स्वयं इतने मूर्ख हैं कि अपने मनको समझ नहीं पाते हैं।

देखो, यह हमारी माँ है—यह क्या प्रत्यक्ष ज्ञात है। यही तुम्हारा बाप है, यह किसको प्रत्यक्ष है। अरे, पड़ोसियोंने कहा कि बाबा, तुम इसीके पेटसे निकले हो, यही तुम्हारी माँ है और यही तुम्हारा बाप है तो तुमने उनके वचनपर श्रद्धा करके माँ-बाप मान लिया है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि वेश्याओंको अपने पुत्रके पिताका अनुभव ठीक-ठीक नहीं होता है। इसलिए श्रद्धा ही तो यह सिद्ध करती है

कि ये हमारे माता-पिता हैं। नाई हमारा बाल बनायेगा और गला नहीं काटेगा—यह श्रद्धा ही तो है। डाक्टर हमको दवा देगा और मार नहीं डालेगा—यह श्रद्धा ही तो है। हम मोटर गाड़ीपर बैठेंगे और दिल्ली पहुँचेंगे—यह श्रद्धा ही तो है। बिना श्रद्धाके मनुष्यका जीवन चल नहीं सकता। इसलिए कहते हैं कि *'अयं पुरुषः श्रद्धा-प्रचुरः'*—इसके जीवनमें श्रद्धाकी अधिकता है। आप जो जोर-जोरसे कहते हैं कि हमारे गुरुजीको भगवान्‌का दर्शन हो चुका है, इसके पीछे आपकी श्रद्धा ही तो है। भगवान् आपको दिखाकर थोड़े ही आपके गुरुजीसे मिले थे। आप गुरुजी की बात मानकर ही तो ऐसा कहते हैं।

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—बात यह है कि आपके हृदयमें जैसी श्रद्धा है वैसे ही आप हैं। *'या श्रद्धा यस्य स यच्छ्रद्धः'*। ऐसा नहीं कि—*'यस्मिन् श्रद्धा यस्य स यच्छ्रद्धः'*। श्रद्धाका जो आकार है, वही पुरुषका आकार है—**'स एव सः'**। श्रद्धा ही असलमें मनुष्यकी आकृति है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ (४)

अब भगवान् आगे वर्णन करते हैं कि आओ, श्रद्धाको पहचानो। **'यजन्ते सात्त्विका देवान्'**—देवतापर श्रद्धा हो तो समझना कि इसके हृदयमें सात्त्विक श्रद्धा है। यहाँ यह नहीं कहते हैं कि देवतापर श्रद्धा करो। यही कहते हैं कि जिसकी, जिसकी देवतापर श्रद्धा हो, उसको समझ जाओ कि यह सात्त्विक है। जिसकी यक्ष-राजसपर श्रद्धा हो, उसको समझ जाओ कि वह राजस है। और भूत-प्रेतपर जिसकी श्रद्धा हो, उसको समझ लो कि वह तामस है। इसका अर्थ यह हुआ कि भूत-प्रेत, यक्ष-राक्षस आदिकी आराधना न करके देवताकी आराधना करना उचित है। यही अर्थ इसमें-से निकलता है और यही तात्पर्यार्थ है।

एक तो देव-श्राद्ध होते हैं और एक आसुर-श्राद्ध होते हैं। श्राद्ध शब्दका अर्थ संस्कृतमें श्रद्धावान् ही होता है—*'श्रद्धया कृतं श्राद्धम्'*—नहीं, *'श्रद्धा अस्यास्तीति श्राद्धः'* जैसे दोनोंका सूत्र एक ही है। जब प्रज्ञा, श्रद्धा, इत्यादि शब्दोंमें *अण्-प्रत्यय* हो जाता है तब प्राज्ञ, श्राद्ध शब्द बनते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ (५)
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ (६)

अब भगवान् बताते हैं कि जो लोग काँटेपर सोते हैं, लोहेकी कीलोंपर सोते हैं और भी तकलीफ उठाते हैं; उनका वह तप जो शास्त्र-विहित नहीं है, घोर है। उसमें दम्भ भी है। वे लोग मेलोंमें जाकर यह दम्भ करते हैं। अगर उन्हें ऐसा तप करना है तो अकेलेमें, बन्द कमरेमें क्यों नहीं करते? फिर उनमें यह अहंकार होता है कि ये बाबाजी लोग जो अच्छे कपड़े पहननेवाले हैं, अच्छा खाना खानेवाले हैं वे हमारे सामने आकर जरा काँटोंपर सोकर दिखा दें! उनके मनमें यह होता है कि लोग हमें कुछ दें! हमारी पूजा करें। उनको राग होता है अपने शरीरसे और वे बल लगाते हैं कष्ट सहनेमें।

'**कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः**'—उन्होंने शरीरमें रहनेवाली पृथिवी देवीको निर्बल कर दिया है। '**कर्शयन्तः**' माने कृश कर दिया है। कृश शब्द तालव्य शकारसे होता है और तब '**कर्शयन्तः**' बनता है। जब मूर्धन्य षकार होता है तब '**कर्षयन्तः**' बनता है। उसका अर्थ होता है खेत जोतना, उसका अर्थ होता है आकर्षण। लेकिन तालव्य शकारसे कृशीकरण होता है, उसका अर्थ होता है शरीरको दुबला बना रहे हैं।

लेकिन वे अपने शरीरको दुबला नहीं बना रहे हैं। उसमें जो मिट्टी, पानी, आगके अधिष्ठातृ-देवता भरे हुए हैं, उन देवताओंका अनादर कर रहे हैं। आप श्रीमद्भागवतमें देख लें उसमें भगवान्‌की पूजाके बहुत-से स्थान बताये गये हैं। उसमें यह भी लिखा है कि ब्राह्मणमें पूजा करनी चाहिए, अग्निमें पूजा करनी चाहिए, गायमें पूजा करनी चाहिए और वैष्णवमें पूजा करनी चाहिए। इसके साथ ही यह भी लिखा है कि आत्मामें भी भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। इसके साथ ही यह भी लिखा है कि आत्मामें भी भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। सबकी पूजाकी प्रक्रिया बताते हुए कहा गया है कि आगमें हवन करना चाहिए, ब्राह्मणको भोजन कराना चाहिए, वैष्णवको भाई समझना चाहिए, गायको हरी घास देनी चाहिए और सूर्यको अर्घ्य देना चाहिए। फिर बोले कि आत्मामें भगवान्‌की पूजा कैसे करें? तो वहाँ यह बात कही गयी कि —'*भोगैरात्मनि आत्मने*'—शरीरके लिए जो उचित भोग है, जिससे शरीर ठीक-ठीक जीवित रहे, वह पूजा शरीरमें स्थित भगवान्‌को देनी चाहिए।

तो भगवान् कहते हैं कि घोर तप करनेवालोंने पृथिवी देवता, जल देवता, अग्नि देवताको तो दुबला बनाया ही, क्योंकि वे अज्ञानी हैं, मूर्ख हैं लेकिन वे '**मां चैवान्तः शरीरस्थम्**'—मुझको भी भूखा रख देते हैं। उनको इस बातका ध्यान नहीं रहता कि उनकेशरीरमें मैं रहता हूँ और मैं भी दुबला पड़ जाता हूँ। इतना दुबला

पड़ जाता हूँ कि उन्हींको दिखायी नहीं पड़ता हूँ। ऐसी तपस्या करनेवाले आसुर शरीरके अन्तर्गत चले जाते हैं, क्योंकि जैसे असुरोंको भगवान् नहीं दिखते, वैसे इनको भी नहीं दिखते। इसलिए शरीरमें जो पृथिवी, अग्नि, जल आदि देवता हैं, उनको भी तुष्टि देनी चाहिए और भीतर बैठे हुए भगवान्‌को भी भोग लगाना चाहिए—'**मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।**'

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ (७)

अब भगवान् कहते हैं कि अर्जुन लोगोंको तीन प्रकारके आहार भी प्यारे होते हैं और तीन प्रकारके यज्ञ-तप-दान भी प्रिय होते हैं। उनका भेद माने रहस्य सुनो! यहाँ भेदका अर्थ वेदान्तियोंवाला भेदार्थ नहीं है। यहाँ तो जैसे बोलते हैं कि अरे, यह यह भेदकी बात तुमको बताते हैं वैसे ही भगवान् कहते हैं। उनका भेद माने उनमें क्या सात्त्विक है, क्या राजस है, क्या तामस है—यह भेद सुनो।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्या स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

भगवान्‌के कथनका यह अर्थ नहीं कि आप ऐसा भोजन कीजिए। इसका अर्थ यही है कि आप ऐसे भोजनमें जिसकी रुचि है, वह सात्त्विक पुरुष है, यह शंसन है, शासन नहीं है। शंसन माने वर्णन, अनुवाद। सात्त्विक प्रकृतिके पुरुषकी यह पहचान है। परन्तु यदि आप उनमें नाम लिखाना चाहते हैं तो इन लक्षणोंको धारण कीजिये, यह अर्थ इसमें-से-निकल आता है।

'**आयुः**'—आयुका अर्थ है कि हमारी जो साँस चलती है, यह भीतर जाकर हृदय-कमलको स्पर्श करती है और वहाँसे विष्णुपदका स्पर्श करनेके लिए बाहर निकलती है। संस्कृत भाषामें आकाशको विष्णुपद कहते हैं। व्यापक विष्णुपद। आकाशका नाम विष्णुपद है। यह साँस हमारे हृदयकमलसे निकलकर, बाहर आकर विष्णुपदका स्पर्श करती है, तो वहाँसे शक्ति लेती है और लेकर फिर प्राणके रूपसे हृदयमें जाती है और वहाँकी मलिनताको लेकर बाहर फेंक देती है। जिससे हमारी प्राणशक्ति बार-बार विष्णुपदका स्पर्श करके पूर्णताका-व्यापकताका स्पर्श करती रहे माने श्वासोच्छ्वासमें गतिरोध उत्पन्न न हो—यह नहीं कि भोजन किया और अफरा हो गया! तो भोजन आयुर्वर्धक होना चाहिए।

'**सत्त्व**'—इसका अर्थ है अन्तःकरण शुद्ध होना चाहिए और '**बल**'—बलका अर्थ है कि शरीरमें बल बढ़ना चाहिए। सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति माने तृप्ति—ये जिनसे बढ़ें और जो रसयुक्त हो, वह सात्त्विक भोजन है। शरीरको रस

चाहिए, स्नेह चाहिए, स्थिरता चाहिए और हृद्य चाहिए, हितकारी चाहिए। तेजस् पदार्थका भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन हृदयके अनुकूल चाहिए।

हमारे एक मित्र हैं। वे कुछ दिन चने चबाकर रहने लगे। बादमें उनको ऐसी संग्रहणी पकड़ी कि बहुत दवा करानी पड़ी। जो लोग नया-नया प्रयोग करते हैं, उनको ऐसे कष्टोंका सामना करना पड़ता है। असलमें मनुष्यको हाथ मिला है, अक्ल मिली है इसलिए जो वस्तु दुष्पच है, उसको पहले अग्निपक्व करके या वह सौर-तेज द्वारा पूर्णरूपसे परिपक्व हो जाय तब उसका हवन जठराग्निमें करना चाहिए, जिससे कि जठराग्नि उसको पचा जाये। यदि कहो कि हमें तो आगमें घी डालना है तो इतना घी मत डालो कि आग ही बुझ जाये। इसलिए जिससे जठराग्नि प्रदीप्त हो, ऐसा भोजन करना चाहिए। शरीरको रस प्राप्त होना चाहिए, जिससे आनन्द बना रहे। स्नेह प्राप्त होना चाहिए, जिससे सबके प्रति सद्भाव बना रहे। स्थिरता प्राप्त होनी चाहिए जिससे हम डाँवाडोल न हों, दृढ़ बने रहें। और हृद्य चाहिए जिससे हमारा हृदय शक्तिशाली हो। यह सात्त्विक पुरुषोंका प्रिय आहार है—'**आहाराः सात्त्विकप्रियाः।**'

अब देखो, लोग पढ़ते हैं विलायतकी विद्या और उसको लागू करते हैं हम गरीब हिन्दुस्थानियोंपर। वे कहते हैं कि घी मत खाना, वह तो जहर है। अरे भाई, शरीरको तो स्नेह चाहिए,कुछ स्निग्धता चाहिए। बोले नहीं, वह तो दूधमें-से भी निकाल दो, पाउडर लो। और दहीमें-से भी मक्खन निकाल दो, मठ्ठा पीओ। अब उनसे पूछो कि तब हम क्या खायें? वे कहेंगे कि अण्डे खाओ। यही विलायतकी विद्या है। वे कहते हैं कि गेहूँमें तो शक्कर बहुत है, इसलिए गेहूँकी रोटी नहीं खाना। बहुत बढ़िया, आपका उपदेश धन्यवादके योग्य है, पर बाजरेमें-से तो शरीरमें शक्ति उतनी नहीं आयेगी। तब वे कहते हैं कि मांस खाओ। डायबिटीजके रोगीको मांस खानेकी सलाह देते हैं और गेहूँ खानेको मना करते हैं। चिकनईके लिए घी-दूध-दही खानेको मना करते हैं और अण्डे खानेकी सलाह देते हैं। इन डाक्टरोंको बिलकुल यहाँसे बैरङ्ग वापिस विलायत भेज देना चाहिए, जो भारतीय परिस्थिति को, सदाचारको, समझते नहीं हैं। वे समझते हैं कि हम मेडिकल साईन्सके जानकार हैं। होंगे! परन्तु ने भारतीय प्रकृतिके जानकार नहीं हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ (९)

मैं एकके घरमें भोजन करने गया तो पहले ही कह दिया था कि हम लाल मिर्च नहीं खाते हैं। लेकिन उनके घरमें लाल मिर्चके बिना रसोई बनती नहीं थी।

इसलिए मना कर देनेपर भी जो सब्जी हमारे सामने थालीमें आयी वह लालिमिर्चसे सराबोर थी। एक आलू ही ऐसा था, जिसको पानीसे धोकर मैंने रोटी खायी। एक बार मनमें यह शौक चर्राया कि जिस प्रदेशमें जाते हैं हमें वहींका भोजन करना चाहिए. मद्रासमें जानेपर एक ब्राह्मणके घरमें रसोई बनी। उसका एक ग्रास मुँहमें डाला तो आँखसे झर-झर-झर पानी गिरने लगा, फिर बादमें हिचकी आने लगी। मैंने कहा कि अब चाहे हिचकी आये चाहे आँसू गिरें, आज तो मैं यही खाऊँगा, जिससे कि फिर कभी मद्रासी भोजन करनेकी बात मनमें न आवे। मद्रासका इडली,दोसा, उपमा तो हम बड़े प्रेमसे खाते हैं, लेकिन उधर जो लालमिर्चका सेवन होता है वह हमारे अनुकूल नहीं पड़ता। वहाँ तो भगवान्‌का भोग भी ऐसा लगता है कि आप सुनकर आश्चर्य करेंगे!

'कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः'—अति कड़वा, अति खट्टा, अति नमकीन, अति गर्म, अति तीक्ष्ण, अतिरूक्ष और अति विदाही भोज्य पदार्थ—जिनसे जलन होती है, राजस पुरुषोंको अच्छा लगता है। इसका फल यह होता है अन्तमें उनको दु:ख होता है, शोक होता है, रोग होता है। इसलिए राजस भोजनमें प्रीति नहीं करनी चाहिए। यहाँ **'अति'** शब्दका प्रयोग सबके साथ जुड़ता है। इसका अर्थ है कि अति सर्वत्र वर्जित है, अति तो कभी करनी ही नहीं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ (१०)

'यातयामम्'—कच्ची चीज नहीं खानी चाहिए। जैसे आम पका हो तो खाना चाहिए। लेकिन यदि आप कच्चा टिकोरा लेकर खाने लग गये तो उसकी खटाई नुकसान करेगी। इमली पक जाये तो उसकी चटनी बनाओ, लेकिन कच्ची इमलीकी चटनी नहीं बनानी चाहिए। आप चावल खायें, दाल खायें—वह यदि पूरा कच्चा हो तब आप उसे भिगोकर खा सकते हैं और पूरा पका हो तब तो भरपेट खाते ही हैं; लेकिन यदि वह बीचवाला हो अधपका, तो बहुत तकलीफ देता है।

'गतरसम्'—जिसमें रस ही न हो और जो **'पूति पर्युषितं च यत्'** अपवित्र हो,पर्युषित माने बासी हो तो उसको नहीं खाना चाहिए। **'उच्छिष्टमपि चामेध्यम्'**—जो जूठा हो उसको भी नहीं खाना चाहिए। किसी-किसीकी रुचि जूठा खानेकी भी होती है। **'अमेध्यम्'** जो अपवित्र है, यज्ञ-अन्न नहीं है वह भी नहीं खाना चाहिए! इन सब तरहके अन्नको खानेवाले तमोगुणी होते हैं। तमोगुणी पुरुषोंको ही यह भोजन प्रिय लगता है। यहाँ भगवान्‌ने यह नहीं कहा कि मत खाना। बोले बस, तमोगुणी लोगोंकी यही पहचान है। एक सिन्धी भाईने एक दिन हमसे पूछा कि

महाराज, हमने शास्त्र-वास्त्र तो पढ़ा नहीं। इसलिए हमारी समझमें नहीं आता है कि क्या ख़ायें और क्या न खायें। मैंने उससे कहा कि देखो, तुम मनुस्मृति मत पढ़ो और शास्त्र भी मत पढ़ो; केवल इतना विचार कर लिया करो कि यह चीज भगवान्‌को भोग लगाने लायक है कि नहीं ? सिन्धी भाईने कहा कि बस, महाराज! अब मेरा समाधान हो गया। सत्पुरुष जिस वस्तुकी निन्दा करते हैं, उसका भोग भगवान्‌को लगानेमें संकोच होता है। कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई बात तो सत्पुरुषोंसे सुनी हुई होती ही है।

इसी तरह एक सज्जन शराब बहुत पीते थे। उनको लोग परमहंस रामकृष्णके पास ले गये और प्रार्थना करने लगे कि महाराज इसका शराब पीना छुड़ा दो। परमहंसजीने कहा कि छोड़ दे भाई। पीनेवालेने कहा कि हमसे तो नहीं छूटेगी महाराज! परमहंसजी बोले कि अच्छा, पन्द्रह दिनमें एक बार पी लिया करो। शराबीने कहा कि महाराज यह भी नहीं हो सकेगा। तब परमहंसजी बोले कि अच्छा दिनमें एक बार पी लिया करो। पीनेवालेने कहा नहीं ऐसा भी नहीं होगा। तब परमहंसजी बोले अच्छा, जब-जब पीना हो तब-तब ठकुरजीको भोग लगाकर पी लिया करो। अब पीनेवाले सज्जन बोतल तो रख लेते, पर भोग लगानेका समय आता तो कहते कि हाय-हाय भगवान्‌को यह सड़ा पानी—चाहे जौका हो—कैसे भोग लगावें ? अब एक दिन बीत गया, दो दिन बीत गये, तीन दिन बीत गये, तब परमहंसजीने कहा कि अब तीन दिन तुम जिसके पीये बिना रह सके तो तीन महीने भी रह सकते हो और तीन बरस भी रह सकते हो। छोड़ दो ना यह पीना। अन्तमें पीनेवाले सज्जनने शराब पीना छोड़ दिया।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ (११)

जो सात्त्विक पुरुष हैं उनके यज्ञमें यह विशेषता होती है कि उनमें फलाकांक्षा नहीं होती है। यज्ञमें फलाकांक्षा नहीं होनी चाहिए—एक बात। दूसरी बात यह है कि यज्ञ शास्त्रोक्त विधिसे होना चाहिए। तीसरी बात यह है कि जैसे सन्ध्या-वन्दनको नित्यकर्म समझकर करते हो, वैसे ही यज्ञको भी निष्कर्म समझकर करो। एक बात और जोड़ दी भगवान्‌ने कि यज्ञकर्मके लिए मनमें एकाग्रता होनी चाहिए। यज्ञकर्मके लिए मनमें एकाग्रता होनी चाहिए। यज्ञ पूरा कैसे पड़ेगा, उसके लिए चन्दा कहाँसे आवेगा, यह भावना मनमें नहीं होनी चाहिए। चन्देसे किए हुए यज्ञका कोई फल पैदा नहीं होता। अगर यथा कथंचित् मान भी लें कि उसका कुछ फल पैदा होता है तो वह आसमानमें खड़ा होकर देखता है कि किस चन्देवालेको

लगे ? चवन्नी देनेवालेको या पाँच रुपया देनेवालेको या अधिक देनेवालेको ? अरे वह तो ऐसा बँटता है कि उसकी चिन्दी-चिन्दी उखड़ जाती है। इसलिए चन्देवालेके यज्ञ फलप्रद नहीं होते हैं।

देखो, भाई, हम शास्त्रकी बात कह देते हैं। अगर आप लोगोंमें-से कोई ऐसा हो जो चन्देके बलपर विश्वकल्याणार्थ यज्ञ करता हो तो उसके लिए मैं यह बात नहीं कह रहा हूँ। मैं अपनी बात वापिस लेता हूँ।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ (१२)

जो यज्ञ फलके लिए होता है और '**दम्भार्थ**' होता है, माने हम बड़े भारी याज्ञिक हैं—यह दिखानेके लिए होता है—वह राजस यज्ञ है। भगवान्के इस कथनका मतलब है कि राजस यज्ञमें रुचि नहीं रखनी चाहिए।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ (१३)

इसका अर्थ समझनेके लिए पहले प्रश्न देखिये। एक प्रश्न उठता है कि आखिर इस यज्ञका कहीं वर्णन भी है। '**विधिहीनम्**'—उस यज्ञमें विधि तो है नहीं और उसमें '**असृष्टान्नम्**'—अन्नका दान नहीं होता है। जिस यज्ञमें अन्नका दान न हो वह असृष्टान्न हो गया और जिसमें मन्त्र बोला नहीं गया, ब्राह्मणको दक्षिणा नहीं दी गयी तथा जिसके लिए हृदयमें श्रद्धा नहीं है उस यज्ञको आप क्या बोलेंगे ? तामस बोलेंगे। यज्ञके लिए विधि चाहिए, अन्नदान चाहिए, मन्त्रका शुद्ध उच्चारण चाहिए, दक्षिणा चाहिए और श्रद्धा चाहिए—ये पाँच बातें जब यज्ञमें होती हैं तब वह पूरा होता है। अब भगवान् तपस्याकी चर्चा करते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ (१४)

यह तपस्या अधिष्ठान-भेदसे शारीरक, वाचिक और मानस—तीन होती हैं। कौन-सा तप कहाँ होता है, यह बताते हुए भगवान्ने तपस्याके तीन अधिष्ठान बताये और फिर एक तप सात्त्विक, राजस, तामस—तीन-तीन प्रकारका हो जाता है। फिर इनका तिगुना नौ हो जाता है।

अब अधिष्ठानके भेदसे शरीर द्वारा पूजा क्या है ? देवपूजा, द्विजपूजा, गुरुपूजा और प्राज्ञपूजा। गुरु, प्राज्ञ न हो तब भी उसकी पूजा करनी चाहिए। यह नहीं, कि गुरु ज्ञानी हो, तभी उसकी पूजा करें और गुरु ज्ञानी न हो तो उसकी पूजा न करें।

नहीं, अपना जो गुरु है वह प्राज्ञ न हो तब भी वह पूजनीय है। प्राज्ञ हो, गुरु न हो, तब भी वह पूजनीय है।

पूजामें पवित्रता, सरलताका ध्यान रखना चाहिए। ब्रह्मचर्य शारीरिक है। अहिंसा भी शारीरिक है। शरीरसे किसीकी हिंसा नहीं करना माने क्रोधके वशमें नहीं होना। ब्रह्मचर्यका पालन करना माने कामके वशमें नहीं होना **'देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम्'** माने अभिमानके वशमें नहीं होना, गन्दा काम न करना और अपने आपको छल-कपटसे मुक्त रखना। यहाँ ऐसा प्रसंग है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-इन तीनोंका यथावत् आदर करना चाहिए। पूजनका अर्थ होता है संस्कार। ब्राह्मण किसका सत्कार करे? मान लो ब्राह्मण एकका सत्कार करे, क्षत्रिय दोका सत्कार करे, वैश्य तीनका सत्कार करे और शूद्र चारोंका सत्कार करे, तो चलेगा। यदि वर्णाश्रम धर्मके अनुसार इसकी व्याख्या करनी हो तो ऐसी ही होगी। द्विजका अर्थ है—जो संस्कार—सम्पन्न है, यज्ञोपवीतादि-संस्कारोंसे सम्पन्न है, सन्ध्या-वन्दन आदि करता है, बलिवैश्वदेव करता है, द्विज धर्मका पालन करता है। वह चाहे कोई भी हो, धर्मात्माका आदर करोगे तो धर्मकी प्रवृत्ति बढ़ेगी। इसलिए यदि वैश्य भी धर्मात्मा हो, सन्ध्या-वन्दन, बलिवैश्वदेव,अग्निहोत्रादि करता हो तो साधारण वैश्यकी अपेक्षा उसका आदर ज्यादा करना चाहिए। ब्राह्मणोंको भी करना चाहिए, क्षत्रियोंको भी करना चाहिए जिससे कि दूसरे वैश्योंको भी यह प्रेरणा मिले कि हम भी धर्मात्मा बनेंगे तो श्रेष्ठ समझे जायेंगे।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ (१५)

'अनुद्वेगकरं वाक्यम्'—अब भगवान् बोलनेका तरीका बताते हैं। ऐसा मत बोलो कि दूसरेके दिलमें छिद जाये। हूल उठे! हमलोग बचपनमें बरसातसे ऊपर तक भर जानेवाले कुओंमें जोरसे लठियाँ मारते थे। तो लठियाँ थोड़ी देर नीचे जाकर फक्से ऊपर आजाती थीं। इसी तरह उद्वेगका अर्थ होता है कि हम लोग वाणीकी ऐसी लाठी मारते हैं कि वह दूसरेके दिलमें चुभकर फक्से बाहर निकल आती है। तो उद्वेग उसीका नाम होता है। इसलिए ऐसी बात मत कहो बाबा; जिससे किसीके दिलमें हूल उठे। उद्वेग होना, कै होना, वमन होना एक ही बात है। कई लोग सोचते हैं कि हम भी इसके जवाबमें ऐसा तीर मारें कि यह बच्चू भी तिलमिलाकर रह जायें! माने बातचीतमें, व्यवहारमें, व्यंग्य-वक्रोक्ति नहीं होना चाहिए। ताना मारकर नहीं बोलना चाहिए।

'**सत्यम्**'—सच बोलो। प्रिय बोलो। और ऐसा बोलो, जिससे हित हो। अगर आप सच बोलेंगे तो ज्ञान तो उसमें रहेगा। सत्यका ज्ञान होनेपर ही तो आप सत्य बोलेंगे। अगर ज्ञान नहीं है और सत्यके नामपर कोई बात बोलते हैं, तो असत्य बोलते हैं और भैया, ज्ञान तो है और वैसा नहीं बोलते हैं, तो भी असत्य बोलते हैं। लेकिन हम लोगोंसे एक बात जो छूट जाती है, वह क्या है? यह है कि उसमें जो आनन्द है, उसे हम बिलकुल भूल जाते हैं। हम ज्ञानका आदर करते हैं और कहते हैं कि हमारी जानकारी है; हमने अपनी आँखसे देखा है; हम चश्मदीद गवाह हैं इसके! हमने इसका बिलकुल सत्य अधिष्ठान देखा है। ठीक है। परन्तु इसमें-से आनन्द जो छूट गया है, इससे तुम्हारे ज्ञान और सत्यमें कोई-न-कोई त्रुटि जरूर है, क्योंकि सत्य और ज्ञान—ये आनन्दके साथ ही रहते हैं; उनमें प्रियता रहती है और परिणाममें हितकी भावना रहती है।

'**स्वाध्यायाभ्यसनम्**'—स्वाध्यायका अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास शब्दका अर्थ यह नहीं है कि एक बार बाँच लिया और फिर किताब रख दी। बोले कि महाराज, हमने तो यह किताब पढ़ रखी है। लेकिन एकबार पढ़कर पुस्तक रख देनेका नाम वाणीका तप नहीं है बल्कि बार-बार उसका अभ्यास करो। एक बार जो बात समझमें नहीं आयेगी, वह दूसरी बार समझमें आयेगी। दूसरी बार समझमें नहीं आयेगी तो तीसरी बार समझमें आयेगी। साधु भिक्षा माँगने गाँवमें जाता है। एकबार किसीके घरमें भिक्षा नहीं मिलती तो दूसरी बार मिल जाती है और दूसरी बार नहीं मिलती तो तीसरी बार मिल जाती है। ये शास्त्र भी हमारे गृहस्थ हैं। हम भिक्षा माँगनेके लिए इनके दरवाजेपर जाते हैं। एक दिन इनसे भिक्षा नहीं मिलती है, तो दूसरे दिन मिलती है, तीसरे दिन मिलती है। ये भी गृहस्थोंकी तरह हम साधुओं-को भिक्षा देते हैं और जरूर देते हैं। इसलिए बार-बार इनका स्वाध्याय करना चाहिए। यह वाणीका तप है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ (१६)

'**मनःप्रसादः**'—अब मनकी तपस्या बताते हैं। भगवान् कहते हैं कि अपने मनको प्रसन्न रखो। प्रसन्न माने निर्विषय। उसमें भूत मत लगाओ और भविष्यकी फिक्र मत करो। उसे निर्मल, ज्यों-का-त्यों रहने दो। इसमें सत्यका आविर्भाव होगा। सच्चाई अपने आप मनमें उभरती है, जब हम मनको शान्त रखते हैं, क्योंकि शान्त मनमें ही सत्यका उभार होता है, सत्यका उत्थान होता है। तो मनःप्रसाद माने, मनकी प्रसन्नता, माने खुशी नहीं, प्रसन्नता माने निर्मलता। मनको वासनासे निर्मुक्त

रखो। आँखें तो रहें, लेकिन कोई रूप गढ़ा हुआ न हो! कान तो रहें, लेकिन उनमें किसी आवाजके लिए खिंचाव न हो। जीभ तो रहे, परन्तु इससे हम यह बात बोलेंगे—इसका ख्याल करनेकी कोई जरूरत न हो। जीभको जरा शान्तिसे रहने दो, कानोंको शान्तिसे रहने दो और मनको भी शान्तिसे रहने दो!

'सौम्यत्वम्'—माने सीधा-सादा बर्ताव करना। सौमनस्य बनाये रखना। मनमें सौमनस्य रहना चाहिए, जैसे कभी चन्द्रमा सबको चाँदनी देता है।

'मौनम्'—मुनिवृत्तिसे रहना चाहिए। मनको संयमित रखना चाहिए। **'आत्मविनिग्रहः'**—मनको रोककर रखो, इधर-उधर मत जाने दो। और **'भावसंशुद्धिः'**—अपना भाव शुद्ध रखो। दूसरेके साथ व्यवहार करते समय छल-कपट, मायाका प्रयोग मत करो। इसीका नाम मानस तप है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ (१७)

अब भगवान् तीनों बढ़िया-बढ़िया बातें गिनानेके बाद बताते हैं कि ये तीनों तप भी सात्त्विक, राजस, तामस—तीन प्रकारके हो जाते हैं। आदमी बहुत मीठा बोलता है, मौन भी रहता है और पूजा भी करता है। असलमें पूजा करनेवाले ज्यादातर लोग मूर्तिपूजाके अधिकारी होते हैं। यह आप मान लो। यह मैं बड़े ही अनुभवसे कह रहा हूँ कि जब आदमी पानीमें भीगा हुआ फूल लेकर किसी महात्माके शरीरपर डाल देता है और उस महात्माके कपड़े तथा मुँह-हाथ सब भीग जाते हैं, तब उसके मनमें यही आता है कि इस आदमीको शंकरजीकी मूर्तिपर जल चढ़ाना चाहिए था; हमारे ऊपर नहीं चढ़ाना चाहिए था। और फिर जब वह आदमी सामने खड़ा होकर और हाथ जोड़कर **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'** बोलने लगता है, तब महात्मा कहते हैं कि भाई, मन्दिरमें चला जा। हमारे सामने ऐसी प्रार्थना क्यों करता है? इसलिए महात्माकी पूजाका अधिकारी दूसरा है और मूर्तिकी पूजाका अधिकारी दूसरा है। महात्माजीकी पूजाका अधिकारी उसकी सेवा करने-वाला, उसके प्रति श्रद्धा रखनेवाला और उसे सुख पहुँचानेवाला होता है तथा मूर्ति-पूजाका अधिकारी वह होता है जो उपास्यदेवके द्वारा अपने मनोरथ पूर्ण करनेकी इच्छावाला होता है। तो मूर्तिसे सर्वत्र भगवद्भाव जरूर है और अवतारमें भगवान्‌की करुणा जरूर है। लेकिन अवतार तो हर समय मिलेगा नहीं और महात्माकी पूजा कैसी करनी चाहिए, यह तुम्हें मालूम नहीं है। इसलिए तबतक मूर्तिकी पूजा करके सीखना चाहिए। अन्यथा आदमीकी यह तपस्या बिगड़ जाती है। कैसे बिगड़ जाती है? कि यह जो तीन प्रकारकी तपस्या है, इसमें एक तो होनी चाहिए श्रद्धा। श्रद्धा

नहीं होगी तो सात्त्विकता नहीं आयेगी; और एक फलाकांक्षा नहीं होनी चाहिए—कामना नहीं होनी चाहिए। यदि फलाकांक्षा होगी तो रजोगुण आजायेगा। '**युक्तैः**' का अर्थ है कि सदाचार-युक्त होनी चाहिए। यदि आपने दुराचार-परायण होनेके साथ देवताकी, ब्राह्मणकी, गुरुकी और प्राज्ञकी पूजा की तो वह पूजा तमोगुणी हो गयी। दुराचार उसको तमोगुणी कर देगा। तो श्रद्धा, निष्कामता, सदाचार—तीनोंके साथ जब ये तप किये जायेंगे, तब तीनों सात्त्विक हो जायेंगे। किन्तु यदि तीनों नहीं रहेंगे तो राजस या तामस हो जायेंगे। फलाकांक्षा होनेसे राजस अपने आप ही हो जायेंगे और दुराचार होनेसे तामस अपने आप ही हो जायेंगे।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ (१८)

जो तपस्या, सत्कार, मान, पूजा और दम्भके लिए की जाती है, वह राजस होती है तथा उसका फल भी चंचल होता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ (१९)

'**मूढग्राहेणात्मनो यत्**'—किसी बातको मूढ़तासे पकड़ बैठना! हम तो खड़े ही रहेंगे, हम तो पानीमें ही रहेंगे, हम तो पेड़पर ही रहेंगे आदि-आदि! महाराज, यह किस शास्त्रमें विधान है कि महात्माजी खड़े ही रहें! '**मूढग्राहेण**'—इसीका नाम मूढ ग्राह है। इसमें आत्मदेवको पीड़ा पहुँचती है।

'**परस्योत्सादनार्थं वा**'—जो तपस्या किसीको उखाड़नेके लिए की जाती है, वह भी अच्छी नहीं है। मान लीजिये कि एक साधुपर लोग बहुत श्रद्धा करते हैं। उसीके पास जाकर एक दूसरे साधुने झण्डा गाड़ दिया और ऐसी तपस्या करना शुरू कर दी कि लोग कहने लगे कि अरे, यह पहलेवाला साधु किस कामका? साधु तो यह बड़ा बढ़िया है जो ऐसी तपस्या कर रहा है। इस तरह दूसरेको उखाड़नेके लिए उसके पड़ोसमें बैठकर जो तपस्या की जाती है, वह भी तामस तपस्या ही है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ (२०)

'**दातव्यम्**'—यह देने लायक है, इसको जरूरत है—ऐसा यदि हमने देनेसे पहले सोचा तो उसे जरूरतमन्द मान लिया। तब अपनेसे नीच समझा कि नहीं उसको? पहले ही नीच समझ लिया, जब उसे जरूरतमन्द समझा! दानकी विद्या दूसरी है। दानमें दिया जाता है पदार्थ और शुद्ध होता है अन्तःकण। बाह्य दानसे या बाह्य क्रियासे जहाँ अन्तरकी, अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, वह दान तो धार्मिक है

और जिस दानसे अपने अन्त:करणकी शुद्धि नहीं होती है, वह दान बिल्कुल लौकिक है। असलमें दान है धर्म। धर्मका फल जहाँ भौतिक द्रव्य है, भौतिक यश है, वहाँ दान सूक्ष्म है और फल उसका स्थूल है। लेकिन जहाँ दान स्थूल हो और उसका फल सूक्ष्ममें हो—उसका रहस्य क्या है ? लोग इस बातको जानते-समझते नहीं हैं कि सूक्ष्मके निर्माणके लिए स्थूल क्रिया और स्थूल दान होता है। देना किसको ? कि *'स्वजनार्पणात्।'* हमलोगोंके घरोंमें पहले ऐसा रिवाज था कि जब कोई मामूली चीज देनी होती, तब तो किसीको भी दे देते थे, लेकिन जब कोई बड़ी चीज देनी होती तो बोलते कि भाई, हमारी लड़की जिसके घरमें गयी है, वह भी तो ब्राह्मण ही है न! तो जमाई बाबूको यह चीज दे दी जाये तो दान हो जायेगा! लेकिन यह दान तो हुआ *'स्वजनार्पणम्।'* श्राद्धमें भोजन कराना हो तो लोग कहते हैं कि रसोइया महाराज भी तो ब्राह्मण ही है। उन्हींको भोजन करा दो, एक धोती दे दो और पाँच रुपयेकी दक्षिणा भी दे दो, तो खुश रहेंगे और रसोई अच्छी बनावेंगे। लेकिन वह दान थोड़े ही हुआ! जहाँ स्वार्थका सम्बन्ध हुआ, लौकिक लाभका सम्बन्ध हुआ और स्वजनके प्रति अर्पण किया गया, वहाँ धर्म और श्रद्धाका विनाश हो गया। उससे तो अन्त:करणका निर्माण नहीं होता। इसलिए दानकी प्रक्रिया समझनी पड़ती है। पैसा होनेसे सबको दान करना आता हो—यह बात नहीं है।

'देशे काले च पात्रे च'—दानके लिए यह विचार करना आवश्यक है कि देश ठीक हो, स्थान अच्छा हो, पात्र उत्तम हो। यह नहीं कि किसी चण्डूघरमें पहुँचे और वहाँ दान कर दिया! इसलिए पवित्र स्थानोंपर दान करना चाहिए। दानके लिए एकादशी, पूर्णिमा आदि पवित्र काल हो और योग्य पात्र हो। ऐसे ही दानको सात्त्विक दान कहते हैं।

एक बात और है। दानके लिए कौन-सा देश सबसे श्रेष्ठ है, कौन काल सबसे श्रेष्ठ है और कौन पात्र सबसे श्रेष्ठ है—इसका निर्णय श्रीमद्भागवतमें है। उसमें कहा गया है कि—*'सत्पात्रं यत्र लभ्यते'*। सत्पात्र कौन है ? भगवान् है। जब वस्तु भगवान्‌की है और भगवान् ही उसे लेनेके लिए आगये हैं—जिसकी वस्तु है, वही लेनेके लिए आये हैं तो उसको मुहूर्त देखकर मत कहो कि तुम ग्रहणके दिन आना या संक्रान्तिके दिन आना या एकादशीके दिन आना या शनिवारके दिन आना। अरे, वही सबसे श्रेष्ठ देश है और वही सबसे श्रेष्ठ काल है, जहाँ जब जिसे हम दे रहे हैं, उसमें भगवद्बुद्धि हो जाये। असलमें हम दे नहीं रहे हैं, बल्कि भगवान्‌की चीज हमारे पास रखी थी और वे खुद ही लेनेके लिए आये हैं। इसलिए हम दाता नहीं हैं, बल्कि भगवान्‌ने हमको एक बोझसे मुक्त कर दिया है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥(२१)

'यत्तु प्रत्युपकारार्थम्'—एक इन्कमटैक्सका अफसर है जो करसे ट्रस्टको छूट देता है। वह कहता है कि अपने ट्रस्ट-से एक हजार तो वहाँ दिलवाओ, दो हजार वहाँ दिलवाओ और पाँच हजार वहाँ दिलवाओ। जहाँ-जहाँ हम कहते हैं वहाँ-वहाँ तुम दान करो तो देने-लेने, दोनोंका टैक्स हम माफ कर देंगे। यह क्या है? उस इन्कमटैक्स अफसरके कहनेसे हम जो दान करेंगे वह इन्कमटैक्स न लगे—इसके लिए करेंगे, प्रत्युपकार प्राप्तिकी भावनासे करेंगे। ओर फलोद्देश्यसे करेंगे।

'दीयते च परिक्लिष्टम्'—कई लोग तो देते भी जाते हैं और रोते भी जाते हैं। एक बनिया था महाराज। वह एकबार वृन्दावनमें आया। जब वह दस आदमियोंके बीचमें बैठा था तब एक महिला उसके पास पहुँची। ये माँगनेवाले भी बड़े अक्लमन्द होते हैं। वे देखते हैं कि जब हम दस आदमियोंके बीचमें बार-बार कहेंगे तो ये ना नहीं बोलेंगे। इसलिए महिलाने दस आदमियोंके बीच उसको राखी बाँधी। बनियेने पूछा कि माता, तुम कौन हो? तुम्हें क्या चाहिए? मैं तुम्हें पहचानता नहीं हूँ। महिला बोली कि मैं अमुक विद्यालयकी प्रिंसिपल हूँ और आपको भाई बनानेके लिए राखी बाँध रही हूँ। बनिया बोला कि तुम्हें क्या दें? वह बोली कि हमारे विद्यालयको पाँच हजार रुपये दे दीजिये, खुद हमको तो कुछ नहीं चाहिए। बनिया बोला कि अच्छा, दे देंगे, और उसने दे भी दिये। अब देनेके बाद जब दस आदमियोंके बीचसे उठकर घर पहुँचा, तब पछताने लगा कि हाय-हाय, मैंने आज अपने हाथसे पाँच हजार रुपये फेंक दिये। इस तरह लोग देते भी हैं और रोते भी जाते हैं। यह दान राजस है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ (२२)

'अदेशकाले'—मैंने एक सज्जनको देखा। उन्होंने सिनेमाके पचास टिकट खरीदे ओर गरीबोंको बाँट दिये। भला यह भी कोई दान है! आप सोचो कि वह दानका देश है कि काल है? वे बोले कि हम दान कर रहे हैं, गरीबोंको सिनेमा दिखायेंगे और उन्हें मनोरंजन प्रदान करेंगे। मजा आयेगा बेचारोंको सिनेमा देखकर!

'असत्कृतमवज्ञातम्'—मैं एक सेठके घरमें बैठा हुआ था। कोई माँगनेवाला आया। वे बोले कि चल-चल-चल, हट यहाँ से! गद्दीके ऊपर कैसे चढ़ आया? अरे राम! उनकी बातोंसे मुझे भी शर्म आवे कि इतना बड़ा करोड़पति सेठ और एक

भिखारीको इस तरह दुत्कार रहा है! हमारे गाँवोंमें तो रिवाज है कि और कुछ नहीं तो एक मुट्ठी चावल ही दे देते हैं, खाली हाथ तो नहीं लौटाते। इतनेमें उनकी दृष्टि मुझपर पड़ी तो वे कुछ शरमा गये और उनको उस भिखारीपर कृपा आगयी, दया आगयी। उन्होंने अपने मुनीमसे कहा कि इसको जल्दी चवन्नी देकर विदा करो। हटाओ यहाँसे! यह दान क्या है? **'तत्तामसमुदाहृतम्'**—यह तमोगुणी पुरुषकी रुचि है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता पुरा॥ (२३)

अब भगवान् बताते हैं कि कर्म जितने भी होते हैं, उनमें कुछ-न-कुछ व्यंगता जरूर आती है। व्यंगता आती है माने करनेमें कुछ-न-कुछ गलती जरूर हो जाती है। हमने एक बड़ा कर्म देखा है। उसमें ईश्वरकृपासे बड़े-बड़े पण्डित, वेदाचार्य सम्मिलित थे। लेकिन वे संकल्प करना ही भूल गये। अब हम बोलें तो क्या बोलें? संकल्पके बिना तो वैदिक कर्म, श्रौत-स्मार्त कर्म व्यर्थ हो जाता है। शास्त्रमें ऐसा ही लिखा है। लेकिन संकल्पकी ही बात नहीं है। और भी कोई-न-कोई गलती जरूर हो जाती है। मन्त्र बोलनेमें गलती हो जाती है। देखो, ऋग्वेदमें कहा है कि—*'देवहितं यजामहे'*। यजुर्वेदमें आया है—*'मयि देवहितं'*। अब पण्डितको संस्कार याद नहीं रहा। वह यजुर्वेदके अनुसार कर्मकाण्ड करा रहा है और ऋग्वेदके अनुसार मन्त्र बोल गया! मन्त्र भी है शुद्ध, लेकिन महाराज, यजुर्वेदके अनुसार कर्मकाण्ड कराते समय ऋग्वेदीय मन्त्र बोल गया तो बिलकुल अशुद्ध हो गया। इसलिए कर्मकाण्डको सांग बनानेके लिए तीन आदेश हैं। वह क्या है? कि **'ॐ तत् सत्'**। यह वेदका त्रिविध आदेश है—ब्राह्मण, वेद और यज्ञ! इन तीनोंमें-से तीनों निकले हैं।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ (२४)

'तस्मादोमित्युदाहृत्य'—इसलिए जब यज्ञ, दान, तप आदिकी क्रिया करनी हो, तब ॐकारोच्चारणपूर्वक 'हरिॐ' करना चाहिए। यदि कहो कि इसमें 'हरि' कहाँसे आ गया, तो यह परम्परा है, शिष्टाचार है। ऐसा वेदमें नहीं है कि ॐकारोच्चारणसे पूर्व 'हरि' उच्चारण करना चाहिए। किन्तु परम्परा और शिष्टाचारके अनुसार 'हरि' नाम इसलिए आता है कि उससे ॐकारोच्चारणके लिए जिस पवित्रता-रूप अधिकारकी आवश्यकता होती है, वह प्राप्त हो जाती है। 'हरिः' नामका उच्चारण कर लेनेसे ब्राह्मण ॐकारोच्चारणका अधिकारी हो जाता है और

उसकी अपवित्रता दूर हो जाती है। ॐका अर्थ है स्वीकृति, रक्षक। इसीसे ब्रह्मवादी लोग जितने विधानोक्त कर्म करते हैं, वे ओंकारोच्चारणपूर्वक ही करते हैं। क्योंकि ओंकारमें अधूरे भगवान्‌का नाम नहीं है। भगवान्‌के और जो नाम होते हैं, वे कोई विश्वात्माके होते हैं, कोई हिरण्यगर्भके होते हैं, कोई सूत्रात्माके होते हैं, कोई तेजस्‌के होते हैं, कोई प्राज्ञके होते हैं, कोई ईश्वरके होते हैं और कोई तुरीयके होते हैं, लेकिन यह जो ओंकार है वह वैश्वानरसे लेकर तुरीय ब्रह्म-पर्यन्त समग्र परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको अपने भीतर ले लेता है। इसलिए ओंकारमें अपूर्णता नहीं है। यह यज्ञ, दान, तप आदि कर्मको भी पूर्ण बना देता है!

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञपतप:क्रिया:।
दानक्रियाश्च विविधा: क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभि:॥ (२५)

तप शब्दका अर्थ यह है कि फलकी इच्छा मत करो। यज्ञ-तप-दान-क्रिया जो भी करो, वह मोक्षकी आकांक्षाका उसके साथ मेल हो गया। तप माने *'तस्मै, न मह्यम्'* मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं तो केवल मुक्ति चाहता हूँ। परन्तु यज्ञ-दान-तप-क्रिया किसके लिए कर रहे हो? *'तस्मै'* माने परमात्माके लिए कर रहे हैं, अपने लिए नहीं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द: पार्थ युज्यते॥ (२६)
यज्ञे तपसि दाने च स्थिति:सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ (२७)

अब कर्मका स्वरूप बताते हुए भगवान् कहते हैं कि उसके लिए श्रद्धा चाहिए। ओंकार है कर्मकी शुद्धि, तप है उद्देश्यकी शुद्धि माने परमेश्वरपर दृष्टि और सत् है अधिकारीकी शुद्धि। उसके लिए सद्भाव होना चाहिए। सद्भाव माने अस्तित्व मात्र, विद्यमानता मात्र। उसमें वासना-कलुष बिलकुल नहीं है। सत् शब्दका कोश गीतामें भी है। यह सत् शब्दका कोश है, डिक्शनरी है। दिग्दर्शिनीमें-से 'द' शब्दका लोप हो जाये तब कहो क्या निकलता है? बिलकुल डिक्शनरी निकलती है। भगवान्‌ने गीतामें और किसी शब्दके इतने पर्याय नहीं दिये हैं।

तो, परमात्माका नाम सन् और भावका अर्थ है सत्ता। सद्भाव माने परमात्माकी सत्ता। साधुभाव माने सद्वृत्तियाँ-जो अपने हृदयमें आती हैं, उनका नाम है सद्वृत्तियाँ। सत् शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें होता है—एक तो शुद्ध सत् और दूसरा सद्भाव। तीसरा होता है कर्म। सद्भाव सूक्ष्म है, परमार्थ है, साधु भाववृत्ति है और प्रशस्त कर्म-क्रिया है। वह परमार्थमें है, वह वृत्तिमें है माने अन्त:करणमें है। फिर उसके

बाद '**सच्छब्द**' आता है। यह मुख्य शब्द है और यज्ञ, तप, दानमें इसकी जो स्थिति है इसको भी सत् कहते हैं— '**दाने च स्थितिः**'।

'**कर्मचैव तदर्थीयम्**'—यज्ञके लिए कुशा उखाड़कर ले आना, माटी खोदना, वेदी-विधान बनाना, ईंट ले आना तथा उसके सम्पादनार्थ और जो-जो कर्म होते हैं, उनको भी तप कहते हैं। इसलिए जो सत् है, वह त्वं-पदार्थकी शुद्धि है, जो तप है वह तत् पदार्थकी शुद्धि है और जो ओंकार है, वह कर्मकी शुद्धि है। तप अनधिकारीको अधिकार प्राप्त कराता है, उद्देश्य रूप परमेश्वरके स्वरूपको प्रकट करता है और ओंकार कर्मको शुद्ध करता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ (२८)

अब भगवान्‌ने कहा कि भाई देखो सब जगह श्रद्धा जरूर चाहिए। श्रद्धाके बिना कहीं काम बनता ही नहीं है। वेद भगवान्‌का कहना है कि '*नाश्रद्दधानेभ्यो हवि अश्नन्ति देवाः*' यदि तुम्हारे हृदयमें श्रद्धा नहीं है तो तुम्हारा दिया हुआ हविष्य देवता लोग ग्रहण नहीं करेंगे। देवता लोगोंको पदार्थकी भूख नहीं होती। वे तो सूक्ष्म शरीरी होते हैं। सूक्ष्म शरीरवाले देवताको सूक्ष्म शरीरगत भावकी अपेक्षा होती है। आप सूक्ष्म शरीरसे सूक्ष्म शरीरी देवताकी सेवा नहीं करोगे तो देवता क्यों तुम्हारा दिया हुआ पदार्थ ग्रहण करेगा! लेकिन यदि सूक्ष्म शरीरमें श्रद्धा नहीं होती है तो फिर क्या करना!

देखो, वेदमें, शास्त्रमें, पुराणमें, सम्प्रदायमें, सद्‌गुरु-परम्परामें जो कुछ कहा गया है, जो कुछ साध्य और साधनका सम्बन्ध है, उसमें श्रद्धाकी प्रधानता है। जहाँ लौकिक साधन और साध्य होता है, वहाँ वेदकी जरूरत ही नहीं है। हम डण्डा मारेंगे घड़ा फूट जायेगा। लेकिन कोई पूछे कि वेदमें कहाँ लिखा है कि डण्डा मारनेसे घड़ा फूटता है—तो जहाँ प्रत्यक्ष साधन है और प्रत्यक्ष साध्य है—घड़ा फूटना प्रत्यक्ष है और डण्डा मारना प्रत्यक्ष है—वहाँ प्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्ध पदार्थका अनुवाद करनेमें वेदकी कोई उपयोगिता नहीं हैं। असलमें जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमानसे साध्य-साधनके सम्बन्धका ज्ञान नहीं होता, उसका ज्ञान करानेके लिए वेदकी जरूरत पड़ती है। किन्तु उसमें करनी पड़ती है श्रद्धा। यज्ञमें घीकी आहुति डालनेसे स्वर्ग कैसे मिलेगा—यह आप प्रत्यक्ष या अनुमान-प्रमाणके द्वारा नहीं जान सकते। इसके लिए श्रद्धाकी अपेक्षा है। इसलिए वेदपर श्रद्धा करो। जहाँ नित्य परोक्ष फल होता है और फलके साथ साधनका सम्बन्ध अज्ञात होता है—ज्ञात

नहीं होता है, वहाँ वेदके द्वारा ही साध्यकी सत्ता सिद्ध होती है और उद्देश्य-साधनकी भी सिद्धि वेदसे ही होती है—

प्रत्यक्षेनेनानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

यह हुई वैदिकोंकी बात। अब थोड़ी औपनिषदोंकी बात भी करते हैं। वह क्या है? यह है नित्य परोक्ष और नित्य अपरोक्ष वस्तुका ज्ञान। नित्य परोक्ष है स्वर्ग; उसका ज्ञान बिना वेदके नहीं होगा। परन्तु नित्य अपरोक्ष है आत्मा। वह घटादिके समान प्रत्यक्ष नहीं है, स्वर्गादिके समान परोक्ष नहीं है और नित्य अपरोक्ष है। परन्तु नित्य अपरोक्ष होनेपर भी इसकी ब्रह्मता अज्ञात है। इसलिए जहाँ नित्य अपरोक्ष वस्तु भी अज्ञात होती है, वहाँ वाक्य-प्रमाणके सिवाय उसमें प्रत्यक्ष, अनुमानादि किसी प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होती है। किसीने कहा कि हमारी घड़ी तो गायब हो गयी! दूसरे ने कहा कि अरे, यह देखो, तुम्हारी घड़ी तो तुम्हारी जेबमें रखी है! ऐसा ही होता है—अपरोक्ष आत्माका ज्ञान!

एक सज्जन थे महाराज, जो बड़े भुलक्कड़ थे। वे जब रातको सोने लगते थे तो नोट कर लेते थे कि मैंने डण्डा कोनेमें रख दिया है, छाता खूँटीपर टाँग दिया है, घड़ी आलेमें रख दी है, कोट आलमारीकी खूँटीपर टाँग दिया है और मैं पलंगपर सो रहा हूँ। प्रातःकाल उठनेपर लिखे हुए-से सब चीजें मिलाते थे। एक दिन डण्डा भी ठीक था, छाता भी ठीक था, चश्मा भी ठीक था, घड़ी भी ठीक थी, लेकिन उन्होंने देखा कि पलंगपर मैं नहीं हूँ जबकि कागज पर लिखा था कि मैं पलंगपर सो रहा हूँ। अब वह घबराये और लगे इधर-उधर अपनेको ढूँढ़ने। उनकी पत्नीने पूछा कि क्या ढूँढ रहे हो? उन्होंने कहा कि मैंने कल जो-जो नोट किया है, वह सब ठीक मिलता है लेकिन एक चीज नहीं मिलती है? उन्होंने कहा कि मैं पलंगपर सोया था, लेकिन मैं पलंगपर नहीं हूँ। पत्नीने कहा कि अरे बाबा, यह तुम ढूँढ़नेवाले कौन हो? तुम कौन हो?

देखो, नित्य अपरोक्ष है अपना आपा, लेकिन हम उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं। इसीका नाम भूल है। वह दिनभर वाक्य-प्रमाणके अनुभवमें नहीं आता, जबतक पत्नी याद न दिलावे। अरे, हमारी पेन्सिल खो गयी। सारा घर उखाड़कर फेंक दिया। बच्चेने पूछा—पिताजी, कौन-सी पेन्सिल ढूँढ रहे हो? यह तुम्हारे कानपर कौन-सी पेन्सिल रखी है? वाक्य प्रमाण इसका नाम होता है।

कल मुझे एक सज्जनने एक सच्ची घटना सुनायी। किसीके घरमें एक पुरुष बीमार था। डाक्टर आया, उसने नाड़ी देखी, आला लगाया अपना और कहा कि

यह तो मर गया! अब उसकी पत्नी रोने लगी कि हाय-हाय, मेरा पति मर गया। इतनेमें पतिने उठकर मुँह खोला और कहा कि देख, अभी मैं मरा नहीं हूँ, जिन्दा हूँ। तो पत्नी बोली कि तुम चुप रहो, तुम्हारे कहनेसे क्या होता है? क्या तुम डाक्टरसे ज्यादा जानते हो?

तो आत्मा अपने स्वरूपांशमें नित्य अपरोक्ष है। वह देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्नता, सजातीय-विजातीय—स्वगत भेदसे राहित्य होनेके कारण नित्य अपरोक्ष है। परन्तु उसकी अपनी जो अद्वितीयता नित्य अपरोक्षता नहीं हो रही है, उसके लिए वाक्य-प्रमाणके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। इसलिए मनुष्यको श्रद्धाकी बड़ी जरूरत है। औपनिषद श्रद्धा अनुभव-पर्यवसान है और जो परोक्ष स्वर्गादि पदार्थ हैं, वे शास्त्रोक्त रीतिसे श्रद्धा-सहकृत तदाकार-वृत्ति—पर्यवासान हैं। श्रद्धापूर्वक नित्य अपरोक्ष आत्माकी जो ब्रह्मता है, वह अनुभव-पर्यवसान है, परन्तु अनुभव हो जानेके बाद श्रद्धा और शास्त्र दोनोंकी जरूरत नहीं रहती है; दोनों मर जाते हैं। यह है इसकी लीला! '**अश्रद्धया हुतम्**'—जो अश्रद्धासे होम करते हैं, जिनकी न देवतापर श्रद्धा है, न मन्त्रपर श्रद्धा है, न ब्राह्मणपर श्रद्धा है और न हवन-क्रियापर श्रद्धा है, उनका वह होम कहाँ जायेगा? वह तो धुआँ बनकर उड़ जायेगा।

'**दत्तम्**'—दान करते हैं परन्तु, श्रद्धा नहीं है और तप करते हैं, परन्तु श्रद्धा नहीं है। उनका दान और तप व्यर्थ है। श्रद्धा सात्त्विकी वृत्ति है। '*श्रद्धया सत्यमाप्यते*'—और श्रद्धासे ही सत्यकी प्राप्ति होती है। ऋग्वेदमें एक श्रद्धासूक्त ही है जिसमें यह मन्त्र है—'*श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि*'। (१०.१५१.५)।

अच्छा; अब एक बात और। आप सत्संग करते हैं; व्याख्यान सुनते हैं, भजन करते हैं, साधन करते हैं; बड़ा अच्छा है, लेकिन उसमें आपकी श्रद्धा है या नहीं? अरे, श्रद्धा ही एक ऐसी सात्त्विक वृत्ति है, ऐसी आस्था है जिससे उसमें स्थिति होती है। इसलिए जिस सत्संगसे, जिस व्याख्यानसे, जिस प्रवचनसे आपकी श्रद्धा-रूप सात्त्विकी वृत्तिका सत्यानाश होता हो, उस सत्संगसे, व्याख्यानसे, प्रवचनसे आप बचकर रहिये। अन्यथा वह आपके ईश्वरको, आपके ब्रह्मात्मैक्य-बोधको प्रतिबद्ध कर देगा। अश्रद्धा उसे प्रतिबद्ध बना देगी। इसलिए अश्रद्धासे बचिये और याद कर लीजिये यह बात कि आप जो सुन रहे हैं, यह जो बात आपसे कही जा रही है—वह आपके हृदयमें श्रद्धा-सम्पत्तिको बढ़ाती है कि घटाती है? आपके पास जब श्रद्धाकी पूँजी रहेगी, तभी आपको परमार्थका टिकट मिलेगा। गन्तव्यपर पहुँचनेके लिए टिकट चाहिए न! रास्तेमें जलपान चाहिए, भोजन चाहिए। पूँजी नहीं रहेगी तो वह कहाँसे मिलेगा? तो बोले कि पूँजी क्या है? कि श्रद्धा है, इसलिए श्रद्धाकी पूँजी

लेकर, श्रद्धाका खजाना लेकर मार्गमें चलिये—*'श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति'* (माध्य. बृहद. ७.२.२८)।

'असदित्युच्यते पार्थ'—भगवान् कहते हैं कि हे पृथापुत्र, यदि श्रद्धा नहीं है तो न होम हे, न तप है और न सत् है।**'न च तत्प्रेत्य नो इह'**—उसका अदृष्ट फल भी नहीं है। अपूर्वकी उत्पत्ति नहीं होगी श्रद्धाके बिना। **'नो इह'**—उसका दृष्ट फल भी नहीं है। उसे न तो लौकिक यशादिकी प्राप्ति होगी और न उसके अन्त:करणकी शुद्धि होगी। **'नो इह'**का अर्थ केवल यश, पुत्रेष्टि, शारीरेष्टि नहीं समझ लेना। अन्त:करणकी शुद्धिरूप जो फल है, वह दृष्ट फल है और इसी जीवनमें मिलनेवाला फल है; मरनेके बाद मिलनेवाला फल नहीं है। ब्रह्मज्ञान इसी जीवनमें होता है। यह स्वर्गादिके समान मरनेके बाद मिलनेवाली चीज नहीं है। आप अगर मरनेके बाद पानेके लिए परलोक-बैंकमें कुछ जमा कराना चाहते हों, तब तो जमा कराओ। वह मरनेके बाद मिलेगा। लेकिन यदि इसी जीवनमें और तत्काल कुछ लाभ उठाना चाहते हो महाराज, तो इसके लिए श्रद्धाकी सम्पत्ति कायम रखो।

॥ इस प्रकार 'श्रद्धात्रय-विभाग योग' नामक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥



अठारहवाँ अध्याय

सम्पूर्ण गीतामें त्याग, संन्यास और तत्पदार्थ—त्वंपदार्थके साक्षात्कार तथा दोनोंके ऐक्य-बोधके लिए जो साधन बताये गये हैं, उन सबका सारे गीतार्थका सार-संक्षेप उसके इस अठारहवें अध्यायमें प्रस्तुत है। महाभारतमें जो अठारह पर्व हैं, उनमें-से सत्रह पर्व तो अन्त:करणके-सत्रह सूक्ष्म तत्त्वोंके लिए होते हैं और अठारहवाँ पर्व अपर्व होनेपर पर्वपनेका उपचार करके परमात्माके निरूपणके लिए होता हैं।

अब इस अठारहवें अध्यायके प्रारम्भमें अर्जुनने जो प्रश्न किया है, उसपर ध्यान दीजिये। आप पहले सुन चुके हैं कि नियत परोक्ष वस्तुका ज्ञान भी बिना शास्त्रके नहीं हो सकता—जैसे स्वर्ग और स्वर्गका साधन। वह प्रत्यक्ष,अनुमानसे किसीको हो नहीं सकता। आजकल अक्लमन्द लोग यह कहकर कि स्वर्ग ऐसा होता है और उसकी प्राप्तिके ये साधन होते हैं, अपनी बेअकलीका ही प्रदर्शन करते हैं। नित्य परोक्ष वस्तुके साथ साध्य-साधनके सम्बन्धका ज्ञान तो शास्त्रके बिना होनेका कोई उपाय नहीं है। यह नियम है। नित्य अपरोक्ष होकर भी जो वस्तु अज्ञात है, सामने होनेपर भी मालूम नहीं होती है—तो उसे मालूम करानेके लिए प्रत्यक्ष, अनुमान काम नहीं देता है, वाक्य-प्रमाण ही काम देता है। आत्मदेवकी अद्वितीयता अज्ञात है, दिक्कालावच्छिन्नता अज्ञात है, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद-शून्यता अज्ञात है और पूर्णता अज्ञात है; किन्तु ये स्वयं नित्य अपरोक्ष हैं। इन नित्य अपरोक्ष आत्मदेवमें जो अज्ञातांश है, उसके निवारणके लिए वाक्यके सिवाय और कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष, अनुमानादिसे उसकी अज्ञातता निवृत्त नहीं हो सकती।

अब जो वाक्य-प्रमाण है, वह श्रद्धासे प्रारम्भ होता है। परन्तु स्वर्ग-विषयक प्रमाण श्रद्धा-संवलित होकर परोक्षतया स्वर्गका ज्ञान कराता है और शास्त्र-प्रमाण श्रद्धा-संवलित होकर अपरोक्ष आत्माकी अद्वितीयताका साक्षात्कार कराता है। इसलिए औपनिषद श्रद्धा अनुभव-पर्यवसान है, अनुभव-पर्यन्त ही है। उसके बाद न शास्त्र है, न श्रद्धा है। स्वर्गमें आजीवन शास्त्रकी और श्रद्धाकी आवश्यकता है तथा अपरोक्ष अनुभूतिमें अनुभूति हो जानेके बाद शास्त्र और श्रद्धाकी अपेक्षा नहीं है। यह दोनोंका विशेष है।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ (१)

यहाँ अर्जुनने जो प्रश्न किया, उसके शब्दोंकी विशेषता देखिये! जैसा श्रीकृष्ण अर्जुनको बोलते हैं, वैसा ही अर्जुन भी श्रीकृष्णको बोलते हैं। श्रीकृष्ण बार-बार अर्जुनको महाबाहो बोलते हैं, तो अर्जुन भी श्रीकृष्णको महाबाहो बोलते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुनको पुरुषर्षभ बोलते हैं, भरतर्षभ बोलते हैं तो अर्जुन भी श्रीकृष्णको पुरुषोत्तम बोलते हैं। यहाँ अर्जुन कहते हैं कि हे महाबाहो, **'संन्यासस्य तत्त्वं वेदितुम् इच्छामि'** अर्थात् मैं संन्यास शब्दका नहीं, संन्यास पदका अर्थ और तत्त्व माने उसका रहस्य जानना चाहता हूँ। यदि कोई वैयाकरण हो और उससे पूछा जाये कि **'संन्यासस्य तत्त्वं वेदितुम् इच्छामि'** तो वह *'सम्+नि'* उपसर्गपूर्वक *'अस्'* धातुसे निष्पन्न संन्यास शब्द बता देगा। अर्जुन कहते हैं कि हम संन्यास शब्दका ज्ञान नहीं चाहते, अर्थका ज्ञान चाहते हैं। हम जानना चाहते हैं कि संन्यास पदके अर्थका तत्त्व क्या है? हे हृषीकेश, हे सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी, आप कृपा करके त्याग माने त्याग पदका जो अर्थ है, तत्त्व है, उसे भी संन्याससे अलग करके बताइये।

देखो, भगवान् हृषीकेश हैं, इसलिए संन्यासका अर्थ कैसे बतायें? उन्हें तो केश रखनेका तत्त्व बताना चाहिए। और ये जो 'केशिनिषूदन' हैं, इनको तो केश कटानेका तत्त्व बताना चाहिए। इसलिए सम्बोधन भी एक तो हृषीकेश है और दूसरा केशिनिषूदन है। दोनोंमें महाबाहुकी जरूरत है, इसलए महाबाहो! आप कृपा करके बताइये।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ (२)

अब भगवान् इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि ये दोनों विभाग कर्माधिकारीके लिए ही हैं, क्योंकि जो विद्वान् पुरुष हैं, जिन्होंने अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, परिच्छिन्न, प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनका कर्म, करण, कर्ता, कर्मफलके साथ किसी भी प्रकार सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इसलिए जहाँ सम्बन्ध होना शक्य ही नहीं है, वहाँ तो सम्बन्ध होनेका प्रश्न ही नहीं उठता है। परन्तु जो कर्मके लिए अनधिकृत हैं, कर्माधिकारी हैं, उनके लिए काम्य कर्मोंका विधान है। काम्य कर्म माने राजसी आदि यज्ञ जैसे पुत्रेष्टि यज्ञ, काम्येष्टि यज्ञ। और अनुष्ठान तो शत्रु-विजय आदिके लिए भी होते हैं, शत्रु-मारणके लिए भी होते हैं। ये सब वैदिक अनुष्ठान हैं। इन सब काम्य कर्मोंका स्वरूपसे ही न्यास कर देना, माने छोड़ देना, कामना-पूर्ति-फलक कर्मोंको करना ही नहीं, इसका नाम है संन्यास। यह बात कवि लोग जानते हैं। अच्छा; फिर त्याग क्या है? बोलो कि अपने लिए जितने कर्म विहित हैं, उन सबको करते जाना परन्तु उनका फल नहीं

चाहना, इसका नाम है त्याग। संग-त्याग और फल-त्याग, इसका नाम है त्याग तथा सकाम कर्मोंका स्वरूपसे ही त्याग कर देना—इसका नाम है संन्यास।

'विचक्षणाः'—यह कौन बोलते हैं? जो विशेष आँखवाले हैं, वे बोलते हैं। **विचक्षण** शब्दका अर्थ होता है विशिष्ट चक्षुसे सम्पन्न; जिनको विशेष नेत्र प्राप्त हैं, उनका मत यह है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ (३)

कोई-कोई मनीषी यह कहते हैं कि जैसे हिंसा, चोरी, व्यभिचारादि निषिद्ध कर्म त्याज्य हैं, वैसे ही काम्य कर्म भी स्वरूपसे त्याज्य हैं। निषिद्ध कर्म भी दोषयुक्त हैं और काम्यकर्म भी दोषयुक्त हैं। जिस प्रकार निषिद्ध कर्मका परित्याग होता है, उसी प्रकार काम्य कर्मका भी त्याग कर देना चाहिए।

कुछ मनीषियोंका कहना है कि सब कर्मोंको निषिद्ध कर्मोंके समान दोषवत् मान बैठना ठीक नहीं है। इसलिए जबतक कर्मका अधिकार है तबतक यज्ञ, दान, और तपस्या करते रहना चाहिए। यज्ञमें परोपकार है और अन्तःकरण-शुद्धि उसका फल है। यज्ञ करनेसे वर्षा हो जाये और सबलोग संघटित हो जायें, एक जुट हो जायें तथा यश फैल जाये, कीर्ति स्थापित हो जाये—यह लौकिक फल है। किन्तु जहाँ यज्ञका फल लौकिक है, वहाँ हम आध्यात्मिक कर्मका फल आधिभौतिक चाहते हैं। इसलिए वह धर्म नहीं होता है। जब हम आधिभौतिक कर्मका फल आध्यात्मिक चाहते हैं कि इससे हमारे **अन्तःकरणकी** शुद्धि हो जाये, तब वह धर्म होता है। बाहरकी वस्तुको शुद्ध करना श्रम है और हृदयको शुद्ध करना धर्म है। इसलिए यज्ञ धर्म तब बनेगा जब हमारे हृदयकी शुद्धिके लिए होगा। मान लो कि आपको तुलसीका पत्ता खाना है। उसे आप यदि यह सोचकर खायेंगे कि इससे बुखार दूर हो जायेगा, जुकाम नहीं होगा या कैन्सर नहीं होगा—क्योंकि वैज्ञानिक लोग यह खोज कर रहे हैं कि रोज-रोज तुलसीका पत्ता खाया जाये तो कैन्सर नहीं होगा—तो यहाँ तुलसीका पत्ता हुआ साधन और स्थूल शरीरमें रोग न होना हुआ फल। सूक्ष्मका फल स्थूल हो गया। लेकिन यदि हम यह सोचें कि तुलसीदलका सेवन करनेसे हमारा अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा अन्तर्यामी नारायण प्रसन्न होते हैं तो वहाँ तुलसीदल भौतिक है और उसका फल आध्यात्मिक हो गया। आजकल जो मिनिस्टर-प्रोक्त धर्म हैं और नेतृवर्ग-प्रचारित स्मृतियाँ हैं, उनमें आध्यात्मिक एवं आधिदैविकका फल आधिभौतिक माना जाता है, किन्तु हमलोग आधिभौतिक कर्मका फल आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक मानते हैं। इसलिए आजकल धर्मके निर्णयमें बड़ी भारी गड़बड़ी पैदा हो गयी है।

'**यज्ञदानतपः कर्म**'—यज्ञ, दान और तपस्या! तपस्यामें अपनी इन्द्रियोंकी शुद्धि है। दानमें धनकी शुद्धि है। धनकी शुद्धिका यह *अर्थ* है कि धनके प्रति जो ममता है, उस ममताकी शुद्धि होती है। इसी तरह तपस्यासे इन्द्रियोंकी शुद्धि नहीं होती, भोग-वासनाकी शुद्धि होती है। और यज्ञ करनेसे, यज्ञके धुएँसे हवाकी शुद्धि नहीं होती, तत्-तत् अधिष्ठात्री देवताका प्रसाद प्राप्त होता है।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥ (४)

'**निश्चयं शृणु**'—अब भगवान्‌ने कहा कि एक ओर तो ये मनीषी हैं, जिनमें दो पक्ष हैं और दोनों पक्षोंकी दो राय हैं।

देखो, मनीषी माने बड़े विचारशील, बुद्धिमान्। मनीषी शब्द ही बिगड़कर मुन्शी हो गया, मुन्सिफ हो गया। भगवान् कहते हैं कि मैंने तुम्हें मनीषियोंकी राय बता दी। अब आओ, मैं अपनी राय बताता हूँ। मैंने निश्चय करके माने निचोड़कर—'*निकृत्यं चयनं चयः निश्चयः*' सबका सार निचोड़कर रखा है। वह क्या है?

'**त्यागो हि पुरुषव्याघ्र**'—अरे, तू तो शेर है अर्जुन! पुरुष-व्याघ्रका अर्थ है ऐसा आदमी, जो शेर जैसा है। तुम पुरुषव्याघ्र होकर, शेरके समान होकर अब त्याग और संन्यासकी बात पूछने चले हो! वाह-वाह! अरे, जरा बहादुरी दिखाओ कुछ! फिर भी तुमने पूछा है तो बताता हूँ कि यह तीन तरहका होता है—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (५)

यज्ञकर्म, दानकर्म, तपःकर्म—ये तीन प्रकार हैं कर्मके। यज्ञ माने आधिदैविक देवोपासना और दान माने भौतिक लोभादिकी निवृत्ति। ममत्वकी निवृत्तिके लिए दान है और अपनी इन्द्रियों द्वारा भोग-त्यागके लिए तपस्या है। इनका त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो कर्मका अधिकारी है, कर्तृत्वका अभिमानी है, करणसे संयुक्त है, वह यज्ञ-दान तप करेगा। तपमें विशेष-रूपसे भोगका त्याग है, दानमें विशेष-रूपसे धनका त्याग है और यज्ञमें विशेष-रूपसे क्रियाके द्वारा आधिदैविक देवताओंकी तृप्ति है। ये ऐसे हैं कि '**पावनानि मनीषिणाम्**'—अगर इन्हें अक्लमन्दीसे किया जाये, बुद्धिपूर्वक किया जाये और इनके साथ मूर्खता न जोड़ी जाये तो इनसे हृदय पवित्र हो जाता है। इनके साथ मूर्खता कैसे जोड़ी जाती है कि हम दान करें तो अखबारमें हमारा नाम छपे। हम यज्ञ करें तो हमें खूब यश मिले और हम तपस्या करें तो तपस्वी बाबाके नामसे मशहूर हो जायें। यही विचार तो बेअकलीके, बुद्धिहीनताके हैं। '**पावनानि**'का अर्थ है ऐसे विचार, जिनसे अपना हृदय पवित्र

हो। इसलिए याद कर लो कि जो यज्ञ, तप, दान तुम कर रहे हो; उससे तुम्हारा हृदय पवित्र होता है कि नहीं। यदि तुम बुद्धिमत्ता-पूर्वक यज्ञ, दान, तप करोगे तो तुम्हारा हृदय इससे अवश्य पवित्र होगा।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ (६)

अन्तमें भगवान्‌ने यह निर्णय दे दिया कि तुम यज्ञ करो, दान करो, तपस्या करो—परन्तु दो बातोंका ध्यान रखो—एक तो इनमें तुम्हारी आसक्ति न हो जाये कि तुम इन्हें छोड़ न सको और यह मान लो कि हम तो यही करते रहेंगे। महाराज यज्ञ करनेके लिए तो घी चाहिए। बोले, सीधे नहीं मिला तो चलो, चोरी कर ले आयें। अरे भाई, यज्ञासक्ति हो जायेगी तो अन्यायसे भी सामग्री एकत्र करके यज्ञ करने लगेंगे। इसी तरह दान और तपस्यामें भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होगी चाहिए। यज्ञ, दान, तपसे जो फल मिलता है, उसकी आकांक्षा भी नहीं होनी चाहिए। जबतक ये सहज स्वभावसे चलें तबतक चलाना चाहिए, और न चलें तो छोड़ देना चाहिए। घरमें दीया है, तेल है और बत्ती जल रही है तो ठीक है, लेकिन जब दीया-तेल-बत्ती खतम हो जाये तो उसे बुझ जाने दो। यह कैसा आग्रह है कि रातभर जलाते रहेंगे!

एक पण्डितजी व्याख्यान दे रहे थे। श्रोताके नामपर केवल एक आदमी बैठा हुआ था। पण्डितजी बहुत देरतक व्याख्यान देते रहे और वह बेचारा अकेला ही सुनता रहा। पण्डितजीको इस बातका बड़ा उत्साह था कि वह अकेला होता हुआ भी बड़े प्रेमसे व्याख्यान सुन रहा है। अब जब उस आदमीसे नहीं रहा गया तो उसने पूछ लिया कि महाराज, आपका व्याख्यान कबतक होगा? पण्डितजी बोले कि *'यावत् तैलं तावत् व्याख्यानम्'* अर्थात् जबतक लालटेनमें तेल है और यह जलती रहेगी, तबतक मेरा व्याख्यान होता रहेगा। आदमी बोला कि उसीको ले जानेको तो मैं यहाँ बैठा हूँ कि कब आपका व्याख्यान खतम हो और कब लालटेनको मैं ले जाऊँ! असलमें पण्डितजीको व्याख्यानका संग हो गया था, उसमें आसक्ति हो गयी थी कि कोई श्रोता हो या न हो, मैं तो बोलूँगा ही और यह फलकांक्षा हो गयी थी कि व्याख्यान देनेसे हमें यह मिलेगा, वह मिलेगा।

तो, दो चीजें छोड़ दो—एक तो यह कि आगे यह फल मिलेगा और दूसरा काम पूरा करनेका शौक छोड़ दो। अरे ईश्वरने कहा कि आजाओ तो तुम बोलो कि अच्छा महाराज, अभी आया—और ज्यों-के-त्यों चलपड़े। यदि ईश्वर ही कहे कि नहीं, जरा चादर ओढ़कर आओ, तब तो बात ही दूसरी है। नहीं तो बिना चादर

ओढ़े ही चल पड़ो। अरे, तुम्हें क्या करना है? अपने कर्तव्यका पालन इस प्रकार करना चाहिए कि न तो कर्मासक्ति हो और प फलासक्ति हो। तुम्हें ईश्वरसे यह कहना न पड़े कि एक मिनट ठहरो, तब चलता हूँ।

अब भगवान् कर्ममार्गकी त्रिविधता बताते हैं। इसमें एक बात देखो! यह प्रसंग कर्म-संन्यासके अधिकारी विद्वान्के लिए है या जो अनधिकारी है, उसके लिए है? बिल्कुल स्पष्ट है कि अनधिकारीके लिए है। यह बात मूलमें आयी है। भगवान् कहते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ (७)

'नियतस्य तु'—नियत माने वह कर्म, जो शरीरका निर्वाह करनेके लिए आवश्यक है। हमलोग एक जगह गये थे तो वहाँ मण्डपमें ब्याह हो रहा था। उसी समय आगयी वर्षा! वहाँ लड़का-लड़की तो वैसे ही बैठे रहे और पण्डित लोग छाता लगाकर मन्त्र पढ़ते रहे। हमलोगोंने कहा कि अब मण्डपमें बैठकर ब्याह देखनेकी क्या जरूरत है? हमलोग जाकर दूसरी जगह बैठ गये। उसके बाद भोजन करनेके लिए पंगत बैठी और वर्षा जोरसे आने लगी। तो महाराज, बूँदों-पर-बूँदें गिरें पत्तलोंपर, साग बह जाये उधर और पूरियाँ भींगतीं जायें! पर हमलोगोंने कहा कि बिना खाये नहीं उठेंगे। अब ब्याह सारेमें क्या रखा है! भोजन तो शरीरके लिए जरूरी है। अब यह तो नियत कर्म है भाई! भोजन तो रोज करना ही चाहिए। ब्याह तो कभी-कभी होता है, उसको छोड़ दिया जाये, तो क्या बुरा है! अपना तो नित्यकर्म है, उसका परित्याग करना युक्तियुक्त नहीं है।

अब यह देखो कि इसमें संन्यासके लिए अनधिकारीकी, अनधिकृतकी बात कहाँसे निकली? **'मोहात्तस्य परित्यागः'**—यदि यह संन्यासका अधिकारी होता, विद्वान् होता, तीव्र विविदिषा इसके हृदयमें होती तो मोहसे परित्याग उससे किया ही नहीं जा सकता था। यह जो मोहवश कर्मका परित्याग कर रहा है, वह तो तामस त्यागी है। **'तामसः परिकीर्तितः'**। इसलिए काम्य कर्मका भी मोहवश परित्याग नहीं करना चाहिए।

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

अब कर्माधिकारकी निवृत्ति हो जाये तब कर्मका परित्याग करना चाहिए। यदि वह मोहवश परित्याग करेगा तो क्या होगा? सांख्यवादियोंसे ही पूछ लो कि मोह कहाँ है? मोह तो तम है। सांख्य-सिद्धान्तमें तमोगुण और मोह एक ही हैं और

न्याय-सिद्धान्तमें दोषकी तीन राशियाँ हैं—राग, द्वेष और मोह। गौतम महर्षिने, अक्षपादने, संसारके सारे दोषोंको पाँवसे चल-चलकर देखा है। अक्षपाद माने पाँवसे चल-चलकर देखनेवाला। उनके चरण भी देखते थे। उन्होंने यह निश्चय किया है कि दुनियाके सब दोष तीन दोषोंके अन्दर आ जाते हैं। राग, द्वेष और मोह—ये तीन राशियाँ दोषोंकी उन्होंने बतायी हैं।

तो मिथ्याज्ञानसे दोष होता है, दोषसे अशुभ प्रवृत्ति होती है, अशुभ प्रवृत्तिसे अधर्म होता है, अधर्म जन्ममें ले जाता है और फिर दुःख होता है। अधर्मसे दुःख होता है और दुःख भोगनेके लिए जन्म-पर-जन्म लेना पड़ता है। इसलिए जन्म, दुःख, प्रवृत्ति, दोप और मिथ्या ज्ञान—यही पाँच संसारके हेतु हैं। मोहवश जो परित्याग करता है, उसका तो तमोगुणी परित्याग है। वह संन्यासका मुख्याधिकारी नहीं है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ (८)

अच्छा महाराज, **'कायक्लेशभयात्त्यजेत्'**—जो कायाको बड़ा क्लेश होगा—इस भयसे कर्मका परित्याग करते हैं, वे क्या हैं? वे यह कहते हैं कि कौन रोज तीन बार नहाये, कौन तीन बार सन्ध्या-वन्दन करे, कौन अग्निहोत्र करे और कौन अपने हाथसे रोटी सेंके! इसमें तो कायाको बड़ा क्लेश होता है; इसलिए आओ, संन्यासी हो जायें। लेकिन इस तरह जो कायाक्लेशके भयसे कर्मका परित्याग करता है, वह भी कर्म-संन्यासका मुख्याधिकारी नहीं है। वह तो देहाभिमानी है, काय-क्लेशसे डरता है। इसलिए वह राजस त्याग करता है और त्यागसे कुछ लाभ नहीं होता है।

कार्यमित्येव तत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ (९)

'कार्यम्'—जो इस दृष्टिसे—कि यह तो हमारा कर्तव्य है—सन्ध्या-वन्दनादि करता है, वह क्या है? कर्णवासमें एक ब्रह्मचारी जी थे। उनके मनमें संन्यासके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वे स्वयंपाकी थे, रोज अपने हाथसे रोटी पकाकर खाते थे। एक दिन उनके मनमें आया कि मैं संन्यासी हो जाऊँ। यह सुनकर उनके घरके लोग श्रीउड़िया बाबाजीके पास आये और बोले कि महाराज, हमलोग चाहते हैं कि ये अभी संन्यासी न हों। महाराजने ब्रह्मचारीजीसे पूछा कि सुनते हैं कि तुम संन्यास लेनेकी इच्छा रखते हो? ब्रह्मचारी बोले कि हाँ महाराज, संन्यासी होनेकी बहुत इच्छा है। बाबा बोले कि तुमने इस बातपर ध्यान दिया कि नहीं कि जब तुम संन्यासी हो जाओगे तब रोटी नहीं बना सकोगे! पता नहीं किस-किसके हाथका

खाना पड़ेगा। क्या तुम इसके लिए तैयार हो? ब्रह्मचारी बोले कि नहीं महाराज, हम तो शूद्रोंके हाथकी नहीं खायेंगे। तब तुम संन्यासी कैसे होओगे? संन्यासी होनेपर तो अग्नि छूना है ही नहीं। बोले—महाराज, तब हम संन्यासी नहीं होंगे। बस उन्होंने संन्यास लेनेका संकल्प इतनेसे ही छोड़ दिया। तो अपने नियत कर्मोंको करते रहो।

'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः'—भगवान् कहते हैं कि कर्मासक्ति मत करो। त्याग दो बातोंका होता है, केवल फलका त्याग नहीं करना है। निष्काम कर्ममें केवल फलका त्याग होता है, किन्तु यहाँ तो आसक्तिका भी त्याग है। कर्म पूरा करना अपने हाथमें नहीं है और फल पाना भी अपने हाथमें नहीं है। वेदान्त-मतमें फलदाता तो ईश्वर है, और कर्म पूरा तो तभी होगा, जब शरीर रहेगा। इसलिए अपने समयको भरते चलो, अच्छे काम करते रहो और इस बातको ध्यानमें रखो कि जबतक चले, चले और न चले तो न चले। यह सात्त्विक त्याग है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ (१०)

'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म'—यह गीताका अपूर्व सिद्धान्त है। यदि कर्म करनेमें कभी कोई गलती भी हो जाती है, अकौशल भी हो जाता है, तो यह मत समझो कि हम भ्रष्ट हो गये। तुम तो अपनी ओरसे करते चलो। यदि दुनियाँमें दूसरा कोई अकुशल कर्म करता है, अकौशल कर्म करता है, तो क्या तुम उसके कोई ठेकेदार हो या जज हो या पट्टेदार हो? तुम क्यों उसके सामने डण्डा लेकर खड़े हो जाते हो कि नहीं, मैं तुम्हें यह कर्म नहीं करने दूँगा? तुम्हारे ऐसा करनेपर वह तो मानेगा नहीं, तुम्हारा साधन और छूट जायेगा। इसलिए अकुशल कर्मसे द्वेष मत करो और कुशल कर्ममें आसक्ति मत करो—कि मैं यह करता ही रहूँगा।

'त्यागी सत्त्वसमाविष्टः'—इसका नाम कर्मत्याग है। क्यों? कि व शुद्ध अन्तःकरणमें जाकर बैठा है, मेधावी है और उसके सारे संशय कट चुके हैं। उसे न अकुशल कर्मसे द्वेष है और न कुशल कर्ममें आसक्ति है। वह राग-द्वेष रहित होकर अपने कर्मको करता हुआ चल रहा है। अब उसके मनमें कोई दुविधा नहीं है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ (११)

देखो भाई, संन्यास मुख्यतः दो ही व्यक्तियोंके लिए है। एक तो उसके लिए है, जिसे परमात्माके ज्ञानकी तीव्र लालसा है, जिसकी विविदिषा अत्यन्त है—प्रेप्सा नहीं, विविदिषा। यदि प्रेप्सा हो तो उपासना करनी चाहिए। विविदिषा माने यह जाननेकी इच्छा, कि परमात्माका स्वरूप क्या है, वह किस देशमें रहता है, किस

कालमें प्रकट होता है और उसकी असलियत क्या है? असलियत शब्दकी व्युत्पत्ति है कि *'न सलति यत् तत् असलम्। सल् गतौ'*। जिसमें यह भावना हो कि उस अच्युत स्वरूपको देखकर रहेंगे: उसके लिए संन्यास है। जिसने यह देख लिया कि अद्वितीय ब्रह्मका ही सब विवर्त है, इसमें चाहे मरें चाहे जीयें; चाहे रहें चाहे न रहें; चाहे आज ही प्रलय हो जाये और चाहे सृष्टि हो जाये, सब अद्वितीय परमात्मा ही है—उसके लिए भी संन्यास है। इसमें एक तो विविदिषा-संन्यासका अधिकारी है और दूसरा विद्वत्-संन्यासका अधिकारी है। बाकी सब तो कर्मकाण्डी हैं। यह कुटीचक है, यह बहूदक है, यह हंस है और यह परमहंस है। बोले कि भाई, अब इतने दिन वानप्रस्थ रहे तो इतने दिन संन्यासी होकर रहेंगे। हम क्रम-संन्यासी हैं, हम कर्म-संन्यासी हैं, हम वीर-संन्यासी हैं, हम आतुर-संन्यासी हैं। लेकिन यह सब तो संन्यासाभास हैं। संन्यास तो मुख्य दो ही है: एक तो साधन-संन्यास है, विविदिषा-संन्यास है, और दूसरा फल-संन्यास है, विद्वत्-संन्यास है। बाकी सब तो संन्यासकी झलक है। असली संन्यास या तो तीव्र जिज्ञासासे होता है या तत्त्वज्ञान होनेके बाद होता है।

'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः'—जो अपनेको देहवान्, इन्द्रियवान्, मनस्वी, बुद्धिमान् कर्ता, भोक्ता, पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, नरक-स्वर्गमें जाने-आनेवाला, परिच्छिन्न, कतरा मानता है, वह देहभृत् है। संघाती-संघातको मैं-मेरा माननेवालेको ही देहभृत् कहते हैं। *'देहं बिभर्ति इति देहभृतः तेन देहभृत्।'* देह माने संघात। इस भानुमतीके कुनबेको मैं-मेरा समझनेवाला यदि समझे कि मैं पूर्णरूपसे कर्मोंको छोड़ दूँगा, तो वह नहीं छोड़ सकता।

'यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते'—जो कर्मफलका कोई अर्थ नहीं चाहता है—वह त्यागी है। देखो, मैं अभी बोल रहा हूँ और समझूँ कि इस बोलनेका फल मुझको यहाँसे कुटियामें जानेपर मिलेगा, तो यह क्या हुआ? यह फलेच्छा हो गयी न! फल अन्य देशमें मिले, एक मिनटके बाद माने अन्य कालमें मिले और हमारी आत्माके सिवाय मिले—यह क्या है? फलकी उपलब्धि अन्य देशमें, अन्य कालमें और अन्य वस्तुमें होती है; किन्तु अपना जो स्वरूप है, वह न फल है, न साधन है और न साध्य है। जिसने यह जान लिया, उसके लिए एक क्षण या एक इंच आगे-पीछे या अपने सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तो वह फल चाहेगा क्यों? इसलिए **'यस्तु कर्मफलत्यागी'**—जिसने कर्मफलका परित्याग कर दिया है, उसीको त्यागी कहते हैं।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ (१२)

अब भगवान् कर्माधिकार और संन्यासका भेद बताते हैं। कहते हैं कि जो अत्यागी हैं माने कर्माधिकारी हैं, कर्म कर रहे हैं परन्तु जिन्होंने कर्मफलकी आकांक्षा छोड़ी नहीं है, कर्मासक्ति और फलासक्ति—दोनोंका परित्याग नहीं किया है; उनको अपने कर्मका फल भोगना पड़ता है। मरकर भोगो, जीकर भोगो; भोगना तो पड़ेगा। वह भोग कभी तुम्हारे मनके प्रतिकूल पड़ेगा, कभी अनुकूल पड़ेगा और कभी अनुकूल-प्रतिकूल पड़ेगा। ये कर्मके तीन फल भोगने पड़ेंगे।

एक बात और आपको सुना देता हूँ। कोई-कोई कहते हैं कि सन्ध्या-वन्दनादि नित्य-कर्म हैं और इनका कुछ फल उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यह शास्त्रका मुख्य सिद्धान्त नहीं है। जब सन्ध्या-वन्दनके त्यागसे प्रत्यवायकी उत्पत्ति होती है, पाप लगता है, तब सन्ध्या-वन्दनके अनुष्ठानसे पुण्य भी होना चाहिए। वह पुण्य कैसा होगा? अन्तःकरण शुद्धिरूप कर्म होगा। यह तो ठीक है कि सन्ध्या-वन्दनसे स्वर्ग-प्राप्तिरूप फल नहीं होगा, परन्तु अन्तःकरण शुद्धि-रूप फल तो उससे भी होगा। इसलिए जब कर्म किया जायेगा, तब उसका फल अवश्य उत्पन्न होगा। अन्तःकरण-शुद्धि भी फल ही है और सन्ध्या-वन्दनादि न करनेसे जो प्रत्यवाय होगा, वह तो नरक-प्रापक होगा ही। असलमें कर्मका परित्याग कोई नहीं कर सकता। जो कर्मका अधिकारी है और कर्मफलका त्याग नहीं करेगा, उसको फल भोगना ही पड़ेगा। लेकिन **'न तु संन्यासिनां क्वचित्'**—जो तत्त्वज्ञानी संन्यासी होगा, उसकी न तो सन्ध्या-वन्दनसे अन्तःकरण-शुद्धि होगी—क्योंकि वह अधिकारी ही नहीं रहा, और न उसे सन्ध्या-वन्दन न करनेका प्रत्यवाय होगा। इसलिए जो सर्ववित् फलसे मुक्त हो जायेगा, उसके लिए अनुकूल-प्रतिकूल—दोनों ही फलोंकी उत्पत्ति नहीं। परन्तु संन्यासका अर्थ भली-भाँति समझ लेना। अपने अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, अपरिच्छिन्न और अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान ही असलमें सच्चा संन्यास है। कर्मके साथ तो आत्मदेवका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यह बात केवल मानी हुई है कि कर्ता-कर्मके साथ आत्मदेवका सम्बन्ध है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ (१३)

हमारे शरीरसे जितने कर्म होते हैं, उनकी सिद्धिके लिए सांख्यमें पाँच कारण बताये गये हैं। हम जो मानते हैं कि हमने यह काम किया—यह बात तो ऐसे ही है, जैसे पञ्चोंके कामको हम अपना किया हुआ काम दिखाते चलते हैं। कई गाँवोंमें पहले ऐसा होता था कि जब लड़कीवाले कोई लड़का देखने आते थे, तब लड़केवाले कहते थे कि यह कुआँ हमारे बापने खुदवाया है, यह तालाब हमारे दादाने बनवाया

है और यह खेत हमारा है। दूसरेका घोड़ा-बैल भी लाकर अपने दरवाजेपर बाँध लेते थे ओर कहते थे कि ये हमारे हैं। इस प्रकारका पाखण्ड पहले खूब चलता था। अब पता नहीं क्या होता है, परन्तु ऐसा अब भी होता होगा! इसी तरह असलमें काम तो किया पाँच जनोंने मिलकर, लेकिन एक आदमी छाती ठोंककर आगे आगया कि यह हमने किया है।

'सांख्ये कृतान्ते'—यदि कहो कि यह बात किसीने पक्षपात करके कह दी होगी, तो ऐसा नहीं है। यह बात कर्मोंसे छुटकारा दिलानेकी जो पद्धति है—वह सांख्य-शास्त्र कही गयी है। सांख्य-शास्त्र कृतान्त है। अरे, कृतान्त माने कर्मोंके लिए यमराज ही है। कृतान्त माने कालानल है, यमराज है। वह सारे कर्मोंका सत्यानाश कर देता है। उसमें यह बताया गया है कि जितने भी कर्म होते हैं, उन्हें एक कोई नहीं करता है, पाँच मिलकर ही करते हें। तो उसमें तुम क्यों छाती ठोंककर कहते हो कि हमने किया है? अब वे पाँच कारण क्या हैं यह सुनो!

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ (१४)

'अधिष्ठानं तथा कर्ता'—इन्द्रियाँ माने हाथ-पाँव, मन, बुद्धि, इच्छाएँ, राग-द्वेष—ये सब जिसमें रहते हैं, उस अधिकरणका नाम अधिष्ठान है। यहाँ अधिष्ठान शब्दका अर्थ है शरीर। मोटर तो तब चलती है बाबा, जब उसके सब पुर्जे मौजूद रहते हैं। इसी तरह यह पुर्जोवाला जो शरीर है, इसका नाम है अधिष्ठान। इसमें जो सबको समन्वित करनेवाला एक अहंकार है, वह है कर्ता और हाथ-पाँव आदि हैं करण। ये सब परस्पर मिलकर करते हैं, तब कोई कार्य होता है। अकेले एकसे कुछ नहीं होता।

संसारके लोग इसे समझते नहीं हैं। एक सेठने पाँच करोड़ रुपये कमाये। उसके मुनीमका भी उसमें सहयोग था। एकबार मुनीमने कहा—सेठ जी, हमारी लड़कीकी शादी है। मैंने जिन्दगी भर आपके यहाँ काम किया है। आप हमारी लड़कीकी शादीके लिए पाँच हजार रुपयोंकी सहायता दीजिये। हम आपसे और कुछ नहीं चाहते हैं। सेठने कहा—मुनीमजी, तुमने जीवन भर काम किया है, तो हम भी तुमको तनख्वाह देते रहे हैं। तुमने मुफ्तमें तो काम किया नहीं है! हमने पाँच करोड़ कमाया है; तुम पाँच हजार कमानेवाले कौन होते हो? अब सेठको इस बातका ख्याल ही नहीं रहा कि हमारी पाँच करोड़की कमाईमें इस मुनीमकी भी अक्ल लगी है। इसलिए उसका भी इसमें कुछ हक है। सेठके उत्तरसे मुनीमको बड़ा दुःख हुआ और उसने जाकर इन्कमटैक्स आफिसमें सूचना दे दी कि सेठजीके

कितने नकली खाते हैं, कितनी पास-बुक हैं और पैसे कहाँ-कहाँ रखे हैं। सेठ पकड़े गये महाराज, और उसमें-से दो-ढाई करोड़ खर्च होनेके बाद वे बेचारे बच सके। देखो, पाँच हजार नहीं दिया और उन्हें दो-ढाई करोड़ खर्च करने पड़े। यह सच्ची बात है।

असलमें आदमी अपने ऊपर कर्मोंका जो सारा श्रेय ले लेता है, वह बहुत गलत है। इस शरीरमें प्रकृतिका बेटा—कर्ता बैठा है; तरह तरह की इच्छाएँ हैं; कामादि हैं; इन्द्रियाँ हैं; अलग-अलग करण हैं। फिर **'दैवं चैवात्र पञ्चमम्'**—इनमें प्राण, समान, अपानादि वायुओंकी चेष्टाएँ होती हैं और सूर्य-चन्द्रमादि अपना-अपना काम करते हैं। अगर सूर्यकी रोशनी न हो तो कैसे काम करोगे? अग्नि न हो तो कैसे काम करोगे? चन्द्रमा न हो तो कैसे काम करोगे? धरतीपर चलनेको न मिले तो कैसे काम करोगे? रोटी खानेको न मिले तो कैसे काम करोगे? लोग मिट्टीको कुछ नहीं देते हैं। अगर एक छटाँक दूध गंगाजीको चढ़ाना हो तो कहेंगे कि यह बेकार है। आदमीकी समझमें यह नहीं आता है कि हम जो रोटी खाते हैं, उसके लिए अन्न पैदा करनेमें गंगाजीका जल भी हेतु है और हम जो साँस लेते हैं, उसके आवागमनमें भी गंगाजी हेतु हैं। इस तरह सारे देवता हमारे कर्मोंमें सहायक होते हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ (१५)

हम शरीरसे अच्छा-बुरा जो कुछ करते हैं, वाणीसे जो कुछ बोलते हैं और बुद्धिसे जो कुछ सोचते हैं, उसमें अकेले हम ही हेतु नहीं हैं, उसमें पञ्चोंका भी हाथ है।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ (१६)

'ऐसी परिस्थितिमें जो केवल शुद्ध आत्माको, ब्रह्माभिन्न प्रत्यक्‌चैतन्यको कर्ता समझता है, वह ठीक नहीं समझता।' **'आत्मानं केवलं तु यः'**—अर्थात् केवल अकेले आत्माको ही कर्ता समझता है। इससे दोनों अर्थ निकल सकते हैं: 'केवलं' शब्दमें-से 'व'का उच्चारण तो ठीक-ठीक होगा नहीं, उसके समान 'अ'का उच्चारण हो जायेगा। 'अकेला' शब्द 'केवल' शब्दका ही अपभ्रंश है। इसी तरह संस्कृतमें जो 'कपाट' शब्द है, इसमें-से केवल 'क'को उठाकर आखिरमें रख दो तो 'पाटक' बन जायेगा। 'कपाट'का 'फाटक' बन गया! यह भाषा-शास्त्र है।

तो शुद्ध आत्मा कर्म नहीं करता है। ये पाँचों कर्म करते हैं और अकेला आत्मा कर्म नहीं करता, पाँचकी मददसे करता है। इसलिए जो यह समझता है कि अकेला

मैं ही कर्म कर रहा हूँ, वह—'न स पश्यति'। उसने गुरु, शास्त्रसे बुद्धि-संपादन नहीं किया है और वह भगवान्‌के शब्दोंमें दुर्मति है। भगवान् उसे अमति—नासमझ नहीं कहते हैं, दुर्मति कहते हैं। दुर्मति शब्दका अर्थ नासमझ नहीं होता है। दुर्मति शब्दका अर्थ तो होता है दुष्ट बुद्धि। वह बेईमान है, बदमाश है, सिर्फ नासमझ नहीं है। यदि उसको नासमझ कहना होता तो भगवान् दुर्मति न कहते, अमति कहते। भगवान्‌के कथनका आशय यह है कि जो अपनेको कर्ता समझता है, वह बिलकुल अन्धा है। अब दूसरी ओर देखो कि भगवान् क्या कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (१७)

'यस्य नाहं कृतो भावः'—जिसके भावमें अहंकृति नहीं है। अहंकृति क्या है? मैं-मैं-मैं है! जबतक दाल कच्ची रहती है, तबतक खुदर-बुदर करती रहती है। गुड़ बनानेके लिए गन्नेका रस पकाते हैं न, तो जबतक उसमें उफान आता है, तबतक वह कच्चा रहता है। जब पक जाता है तब उफान आना बन्द हो जाता है। इसी तरह यह जो अहं-अहंका उफान है, मैं-मैं, मेरा-मेरा; यह कच्ची बुद्धिका लक्षण है। अरे बाबा, काम तो गुण कर रहे हैं, प्रकृति कर रही है, इन्द्रियाँ इन्द्रियोंमें बरत रही हैं, स्वभावसे ही सब हो रहा है, मायामात्र है, ईश्वर कर रहा है और बिना हुए ही भास रहा है। फिर तुम कौन?

हमारे बचपनमें एक फक्कड़ महात्मा थे। उस समय हम उनकी बात बहुत समझते तो नहीं थे, लेकिन उसको बिलकुल ब्रह्मवाक्य ही मान बैठते थे। एक दिन वे बोले कि अरे गुरु, जब बिना कुछ किये इतना दीख रहा है, बिना कुछ किये इतना हो गया है, तो और करेगा तो यह घटेगा नहीं, बल्कि और बढ़ेगा। लोग जितना-जितना बन्धनसे छूटनेकी कोशिश करते हैं, उतना ही उतना और अपनेको बन्धनमें डालते जाते हैं।

एक बार हम लोग कहीं गंगाजीके किनारे चल रहे थे। इतनेमें दलदल आगया और हम लोग उसमें फँस गये। घुटने तक पाँव नीचे चले गये। एक आदमी किनारेपर खड़ा था; उसने पुकारकर कहा कि बस-बस, अब निकलनेकी कोशिश मत करो, वहीं लेट जाओ। हमलोग लेट गये, तो बोला कि पाँव ऊपरको कर लो और धीरे-धीरे सरकते हुए बाहर आ जाओ। यदि आपलोग पाँवके बल चलोगे तो जितना-जितना पाँव खींचोगे उतना-ही-उतना फँसते जाओगे। यही बात इस संसारके दलदलकी भी है। इसमें-से निकलनेका उपाय बस लेट जाना ही है।

'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते'—बुद्धिमें लेप न हो। कर्मका लेप न लगे; कर्मकी कालिख न लगे और **'यस्य नाहंकृतो भावः'**—अहं कर्ता, अहं भोक्ताका अभिमान

न हो। इसमें कर्तापनका निषेध है और 'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते'में भोक्तापनका निषेध है। बस, अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी मत मानो।

देखो, ऐसा नहीं है कि जब कर्तापन भोक्तापन मिट जायेगा,—तब पीठकी रीढ़ सीधी हो जायेगी, आँख बन्द हो जायेगी, बोलती बन्द हो जायेगी और मनोवृत्तिका ऊठना बन्द हो जायेगा अर्थात् शरीर पत्थर हो जायेगा। कुछ लोगोंने ऐसा स्टन्ट फैलाया कि कुछ पूछिये मत! यह स्टन्ट वैसा ही है, जैसा चुनावमें नेता लोग फैलाते हैं। वे भी तो यही कहते हैं कि हमारे अनुयायी बनो, हमारे चेले बनो! हमारी पार्टीमें, हमारी दुकानमें सबसे बढ़िया माल है; लेकिन होता है यह ग्राहकको फँसानेके लिए ही!

असलमें तत्त्वज्ञान होनेके बाद निवृत्ति ही इष्ट है या समाधि ही इष्ट है—ऐसा कुछ नहीं है। हमारे तत्त्वज्ञानमें यह आग्रह बिलकुल नहीं है।

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेत् निवृत्तिश्चोपयुज्यते।
सर्वमेवानुजानाति सर्वमेव निषेधति॥

यह श्लोक श्रीसुरेश्वराचार्यजी महाराजका है, जो उन्होंने अपने नैष्कर्म्य-सिद्धि नामक ग्रन्थमें लिखा है। इसे अपनी पंचदशी (७.२७६ द्र.) में उद्धृत करके विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि यदि प्रवृत्तिका उपयोग नहीं है तो निवृत्तिका उपयोग कहाँ है? यदि निवृत्तिसे ज्ञान होता है—यह बात तुम मानते हो तो प्रवृत्तिसे भी जिज्ञासा होती है। उपयोगकी दृष्टिसे प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनोंका उपयोग है और तत्त्वमें न प्रवृत्ति है, न निवृत्ति है।

रज्जब रोष न कीजिये कोई कहे क्यों ही।
हँस के उत्तर दीजिये हाँ भाई यों ही॥

किसीने एक महात्मासे कहा कि महाराज, गोलोक सबसे ऊपर है न! महात्माने कहा कि हाँ-हाँ भैया, वह तो है ही सबसे ऊपर। दूसरेने कहा कि नहीं महाराज, गोलोक सबसे ऊपर नहीं है; साकेत सबसे ऊपर है। गोलोक तो गौओंके रहनेकी जगह है। और रामचन्द्र भगवान् साकेतमें रहते हैं और गौएँ चरानेके लिए कृष्ण भगवान् नीचेवाले लोकमें रहते हैं। महात्मा बोले कि हाँ-हाँ, रामचन्द्र भगवान्का तो बस, पूछना ही क्या! वे तो महाराजा हैं! पहले व्यक्तिने कहा कि नहीं महाराज, गोलोक तो अन्तरंग महल है और साकेत लोक दरबार है, वहाँ तो केवल दरबार होता है। महलकी बात दूसरी है और दरबारकी दूसरी है। महात्माने कहा—हाँ, सो तो है ही!

एकने कहा कि हमने स्वर्गमें एक अप्सराको बुढ़ियाके रूपमें देखा है। महात्माने कहा कि हाँ भैया, जरूर आपने देखा होगा! दूसरा बोला—नहीं-नहीं, स्वर्गमें तो

कोई बूढ़ा होता ही नहीं। ये झूठ बोल रहे हैं। महात्मा बोले—हाँ-हाँ, तुमने ठीक कहा है।

इस प्रकार महात्मा लोग सबको अनुज्ञा देते हैं—कि ठीक है और फिर सबका निषेध कर देते हैं कि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-परमात्म-तत्त्वमें यह सब बखेड़ा कुछ नहीं है। वे सबको 'हाँ' इसलिए बोलते हैं कि सब अपनी आत्मा है और अपने स्वभावमें, स्वरूपमें तो यह सब कुछ है ही नहीं, इसलिए सबका निषेध भी करते हैं। सबको 'ना', सबको 'हाँ'—अगर कोई कह सकता है, तो केवल तत्त्ववित् ही कह सकता है।

अब कर्तृत्वका निषेध हुआ, भोक्तृत्वका निषेध हुआ और फिर बोलते हैं—'**हत्वापि स इमाँल्लोकान्**'। इसका क्या अर्थ हुआ? कि शंकरजीको ज्ञान है कि नहीं है? यदि है, तो जब वे प्रलय करते हैं, तब पाप लगता है कि नहीं लगता? विष्णु भगवान्‌को ज्ञान है या नहीं? यदि है तो वे सबको दूध पिलाते हैं, भोजन देते हैं, सबके घरमें रुपया-पैसा भेजते हैं, तब उन्हें दान करनेका पुण्य होता है कि नहीं? नहीं भाई विष्णु भगवान्‌को सब दान करनेपर भी पुण्य नहीं होता और शंकर भगवान्‌को सबका प्रलय करने पर भी पाप नहीं लगता। इसी तरह ब्रह्माजी महाराज बच्चेपर बच्चे पैदा करते जाते हैं और उनपर परिवार नियोजनका कानून लागू नहीं होता है। प्लानिंग कमीशन वहाँ बिलकुल बेकार हो जाता है।

असलमें तत्त्वज्ञ महापुरुष यदि सारी सृष्टिका नाश कर दे, सबको मार डाले, वह भी किसीको नहीं मार रहा है। अरे, मरे हुएको क्या मारना? जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसे क्या समाप्त करना!

एक महात्माने कहा कि मैंने बहुतोंको मारा है। कितनोंको मारा है महाराज! अरे गिनती तो क्या बतावें! इतना समझ लो कि अनगिनत लोगोंको मारा है। अच्छा, यह तो बताओ कि किन्हें मारा है? कि बन्ध्या-पुत्रोंको मारा है। तब तो आपको पाप जरूर लगा होगा। बोले कि कोई पाप नहीं लगा। क्यों नहीं लगा महाराज? कि वे तो थे ही नहीं; वे तो बन्ध्या-पुत्र थे। इसलिए भाई, न तो कोई मारता है और न बन्धनमें पड़ता है—'न हन्ति न निबध्यते।'

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥(१८)

अब ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता इन तीनोंकी जो त्रिपुटी है, इसमें कैसा सत्त्व है, कैसा रज है, कैसा तम है और कर्ता-कर्म-करण इस त्रिपुटीमें कैसा सत्त्व, कैसा रज और कैसा तम है—इसका संग्रह करके भगवान् बताते हैं। संग्रह माने संक्षेप। सारी बात संक्षेपमें ही बता दी जाती है। भगवान् कहते हैं कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय—ये तीनों गुण-

भेदसे तीन तरहके होते हैं और कर्ता, कर्म, करण भी गुण-भेदसे तीन तरहके होते हैं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ (१९)

यहाँ जो गुणोंके संख्यानका प्रसंग है, उससे आप यह मत समझना कि जब गिनती करके किसी चीजको बताया जाता है, तब उससे उसकी महिमा बढ़ जाती है। कई लोगोंको ऐसा लगता है कि जब लाख, दो लाख, चार लाख, दस लाख, करोड़, अरब गिनकर बता दिया जाता है, तब उससे उसकी महिमा बड़ी भारी बढ़ जाती है। अरे नहीं, वह तो गिन लिया गया और जो गिन लिया गया, सो तो परिमित हो गया! अपरिमितमें जो गिनी हुई, परिमित संख्या है—वह किस हिस्सेमें है उसके? जो परिमित हो गयी, वह तो तुच्छ हो गयी। दर्शन-शास्त्रका, वेदान्त-शास्त्रका सिद्धान्त यह है कि जो वस्तु गिनी गयी, वह छोटी, तुच्छ हो गयी; क्योंकि ब्रह्म गणितकी कसौटीपर नहीं आता है।

अच्छा देखो, बड़ी-से-बड़ी गिनती करो तो वह कहाँतक है? नील, महानील; पद्म, महापद्म, शंख, महाशंख यहीं तक न! तो अब समझो कि एक करोड़ महाशंख किसी चीजकी संख्या है, परन्तु असंख्यमें वह कितनी है? अपरिमितमें कितनी है? अत्यन्ताभावका अधिष्ठान अपरिमितमें भासमान जो करोड़, महाशंख है, वह तो बिलकुल मिथ्या है, तुच्छ है! यह बात वैष्णवोंको भी मान्य है।

अच्छा, वैष्णव, शैव, शाक्त सभी मतोंमें ईश्वर भी सत्य है, जगत् भी सत्य है। उनसे विनयपूर्वक यह प्रश्न पूछने योग्य है कि जितना सत्य ईश्वर है, उतना ही सत्य जगत् भी है कि उससे कुछ कम है? यदि वे कहें कि किंचित् न्यून है, तो भाई, उस किंचित्को ही वेदान्ती लोग अनिर्वचनीय कहते हैं। इसलिए जगत्-न्यूनताका जो आधार है, उस आधारमें उस न्यूनताका निरूपण ही नहीं हो सकता कि वह कितनी तुच्छ है, कितनी क्षुद्र है।

अब महाराज, आओ, गुणोंके संस्थानमें, उनके प्रकाशनके प्रसंगमें हम यह बात निरूपित करते हैं कि ज्ञान, कर्त्ता और कर्मकी त्रिपुटी—ये तीनों ही तत्त्वमें मिथ्या हैं?

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ (२०)

एक ज्ञान होता है सत्त्वका प्रकाशक और एक ज्ञान होता है सत्त्वसे प्रकाशित। सत्त्वका प्रकाशक आत्मा है और सत्त्वसे प्रकाशित विषय है। ज्ञानमें जब किंचित्

विषयका संस्पर्श रहता है तब वह सात्त्विक ज्ञान होता है। '**सर्वभूतेषु येनैकम्**' ये सारे-के-सारे भूत क्या हैं ? मुझे तो एक महात्माने बताया कि सचमुच भूत-के-भूत ही होते हैं। भूत माने भूत-प्रेत जो श्मशानमें दिखाई पड़ते हैं। मुझे बचपनमें गाँवके एक आदमीने कहा कि आओ, तुम्हें भूत दिखायें। मैंने कहा—अच्छी बात है, दिखाओ!

अब महाराज हमारी बैठकके सामने थोड़ी दूरपर एक आमका पेड़ था। तो थोड़ी देर बाद उस पेड़से फक्से आग गिरी और बुझ गयी। वह बोला कि देखो, वह भूत है। पाँच मिनट बाद फिर दूसरी बार फक्से आग गिरी और बुझ गयी। वह फिर बोला— देखो, भूतको देख रहे हो न! भूतका खेल देखो। इतनेमें हमारे चाचा वहाँ आगये। उन्होंने उसे खूब डाँटा कि तुम बच्चेको डराते हो! उन्होंने कहा कि आओ चलो, हम चलते हैं। अब महाराज, गये उस पेड़के नीचे। हम भी चले गये उनके साथ। तो आमके पेड़पर एक लम्बा कपड़ा बँधा हुआ था और उसमें थोड़ी-थोड़ी दूरपर छोटी-छोटी गाँठे बँधी हुई थीं, जिनमें बारूद भरा हुआ था नीचे उस कपड़ेमें आग लगी हुई थी, और ज्यों-ज्यों गाँठ जलती, त्यों-त्यों फक्-फक् आग गिरती। वहाँ न भूत था न प्रेत; वह तो आग गिरती थी। तो यह अद्वितीय परमात्मामें जो चिद्-जड़ग्रन्थि है न, उसीमें-से वृत्तिज्ञान फक्-फक् निकल रहा है और यही भूत है। इसमें असलमें एक अव्यय भाव है, एक अखण्ड सत्ता है और अविनाशी है।

'**अविभक्तं विभक्तेषु**'—यहाँ सब चीजें अलग-अलग बँटी हुई हैं। परन्तु जो ज्ञान बँटता नहीं है; वह सात्त्विक ज्ञान है। अनेकमें एकताका दर्शन करना ही सात्त्विक ज्ञान है। इसको ऐसे समझो कि सात्त्विक ज्ञान वही होता है, जो अलग-अलग वस्तुओंमें एकको देखता है—जैसे घड़े अलग-अलग, लेकिन माटी एक; लहरें अलग-अलग लेकिन पानी एक; चिंगारियाँ अलग-अलग लेकिन आग एक; और हजार घड़ोंमें हजार घटाकाश लेकिन आकाश एक! इसी प्रकार कोटि-कोटि शरीरमें कोटि-कोटि अन्तःकरणोंमें और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें जो एक चेतनको दिखाता है, उस ज्ञानका नाम सात्त्विक ज्ञान होता है। त्रिगुणातीत ज्ञान तो इससे भी विलक्षण होता है। उसमें विभक्तकी सत्ताका नाश हो जाता है, विभक्त नामकी कोई वस्तु ही नहीं रहती। निर्गुण ज्ञानका स्वरूप ही अलग है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ (२१)

वृत्तिज्ञान क्या है ? असलमें वेदान्ती लोग जिसको वृत्तिज्ञान कहते हैं, उसीको नैयायिक लोग ज्ञान कहते हैं। वेदान्तियोंके यहाँ भी वृत्ति-ज्ञानका अधिकरण आत्मा

है, क्योंकि दोनोंके यहाँ ज्ञानाधिकरण आत्मामें है। आत्मातिरिक्त ज्ञानाधिकरण किसीमें है ही नहीं, इसलिए ज्ञानस्वरूप आत्मा उनके यहाँ भी सिद्ध है।

यह पृथक्-पृथक् ज्ञान है—जैसे यह अच्छा है, यह बुरा है, यह घट है, यह पट है, यह मठ है आदि-आदि—इसका हम व्यावहारिक रूपसे खण्डन नहीं करना चाहते हैं। कई लोगोंको यह सुनकर बड़ी ग्लानि होगी, लेकिन थोड़ेमें कितना पाप छिपा रहता है—यह हम बता सकते हैं और पापमें कितना पुण्य छिपा रहता है—यह भी हम पहचानते हैं। हिंसामें अहिंसा रहती है और अहिंसामें भी हिंसा रहती है। सांख्यकी दृष्टिसे भी प्रकृतिका ही विकार सब है। इसलिए ऐसी कोई वस्तु नहीं होती, जिसमें सत्त्वगुण न हो, रजोगुण न हो और तमोगुण न हो। *'सर्वस्मिन् सर्वम्'*—यह सिद्धान्त है सांख्यका। शैवोंका सिद्धान्त है कि यह सब-का-सब स्व-संवित्का ही, आत्म-संवित्का ही सार है। वेदान्तियोंका सिद्धान्त है कि अधिष्ठानमें सब अध्यस्त हैं और अध्यस्तके गुण-दोषसे अधिष्ठानका किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिए हम लोग जो गुण-दोषकी चिन्ता करते हैं, वह क्या हैं? अरे, प्रलय हो जायेगा महाराज! तो नयी सृष्टि आयेगी और नयी सृष्टि आयेगी तो उसका प्रलय भी होगा। तब फिर फिक्र करनेकी जरूरत क्या है? यह तो महाराज ऊँटपर बैठे हैं।

एक मारवाड़ी सेठ थे, जो ऊँटपर यात्रा कर रहे थे। उनके पास बीस तीस किलोकी पोटली थी। उनके मनमें दयाभावका उदय हुआ कि ऊँटपर मैं खुद भी बैठा हुआ हूँ और बीस-तीस किलोकी पोटली भी रखे हुए हूँ। यह तो ऊँटके साथ बड़ा भारी अन्याय हो रहा है, तब उन्होंने पोटली उठाकर अपने सिरपर रख ली। किसीने पूछा कि यह क्या कर रहे हो? बोले कि ऊँटपर डबल भार न पड़े, इसलिए पोटलीको अपने सिरपर रख लिया है। अरे, तुम तो ऊँट ही पर बैठे हो। वह भार तुम्हारे सिरपर है और तुम्हारा भार ऊँटके सिरपर है। ऊँटका बोझ तो कम नहीं हुआ, मगर तुमने अपने सिरपर एक बोझ और बढ़ा लिया है। अरे बाबा! इसको भी ऊँटकी पीठपर रख दो! जिसकी पीठपर तुम हो, उसीकी पीठपर पोटली भी है, सो फिक्र करनेकी जरूरत नहीं है।

एक पत्नीके पति चले गये परदेश, तो पड़ोसिनोंने पूछा कि तुम्हारे पति खाने-पीनेका बन्दोबस्त क्या कर गये हैं? पत्नीने कहा कि खानेवाला पति परदेश गया है, लेकिन खिलानेवाला पति तो हमारे घरमें ही है।

तो इस दुनियाँमें झूठी फिक्र करके लोग अपना दिमाग खराब करते हैं। अगले क्षणमें क्या होगा—इसका ज्ञान किसीको नहीं है। अगले इञ्चपर क्या मिलेगा—यह भी किसीको मालूम नहीं है। तुम्हारे मनमें दूसरी बात कौन-सी आयेगी—यह बता

तो दो! तो काहेको फिक्र मोल लेते हो? सिनेमामें जो दृश्य आनेवाला है, उसकी कहानी पहलेसे पढ़नेकी कोई जरूरत नहीं है। जो दृश्य आता है, उसका मजा लेते चलो। पहलेसे कहानी पढ़कर और उसे याद करके फिर सिनेमा देखने जाओगे तो उसका मजा भी कम हो जायेगा।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि सब भूतोंमें जो नानात्वकी प्रतीति होती है—यह राजस ज्ञान है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ (२२)

जितने भी कार्य हैं, ये सब क्या हैं? एक कार्यमें सब कार्य है, यह शरीर। इसके बाद कार्य तो और कोई हो ही नहीं सकता। कार्य माने कर्म नहीं, कारण-निष्पाद्य। कार्य माने बनाया हुआ, जैसे घड़ा। एक आदमीकी घड़ेसे बड़ी आसक्ति हो गयी कि यह तो अब जिन्दगी भर हमारे साथ ही रहेगा। अब महाराज, एक दिन वह घड़ा फूट गया तो वह रोने लगा। पड़ोसीने कहा कि अरे, रोते क्यों हो? दूसरा घड़ा लाकर रखलो बाबा! तुम्हें पानी ही तो चाहिए। वह बोला कि नहीं, हमें तो वही घड़ा चाहिए। पड़ोसी बोला कि तब रो-रो कर मरो! वह घड़ा तो अब मिलनेसे रहा।

एक साधु अपने पास चुनारमें मिलनेवाली काली हँड़िया रखता था। दूसरी कोई चीज नहीं थी उसके पास। चेला नहीं, कुटी नहीं, पैसा नहीं, लेकिन वह चुनारकी हंड़िया उसके पास जरूर रहनी चाहिए। एक बार वह लाहौर गया। वहाँ वह हँड़िया टूट गयी। आखिर थी तो माटीकी ही। जरा-सी चोट लगी, तो फूट गयी। उसने कहा कि हम तो उस हँड़ियाके बिना नहीं रह सकते। अब महाराज, लाहौरसे वह गाड़ीपर सवार हुआ और किराया देकर चुनार आया। चुनारमें वह हँड़िया रुपये—बारह आनेमें मिलती थी। उसे खरीदा और फिर किराया देकर लाहौर गया क्योंकि उसे तो वही हँड़िया चाहिए थी।

अरे, यह देहकी हँड़िया भी वैसी ही है। यह हँड़िया ही तो है; और क्या है! हँड़िया भी कैसी है? खूनकी है, पीवकी है, मांसकी है, विष्ठाकी है, मूत्रकी है, हड्डीकी है। इसका चमड़ा खोलकर देखो तो इस हँड़ियामें ऐसा ही मसाला भरा हुआ है और लोग इसीको सब कुछ मानकर बैठे हैं। '**यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तम्**'—एक तो है यह कार्य, और इसीको सबकुछ मान करके लोग इसमें आसक्त हो गये हैं।

अच्छा, कुछ विचार करके लोगोंने इसमें आसक्ति की होगी। बोले नहीं—'**अहैतुकम्**'। इसके पक्षमें कोई तर्क नहीं है, कोई युक्ति नहीं है और इसीको सब

कुछ माननेसे कोई मनोरथ भी सिद्ध होनेवाला नहीं है। यह अतत्त्वार्थवत् है। इस कोई तत्त्वार्थ नहीं है। आखिर माटी होती तो कुछ दिन रहती भी। प्रत्यक्षरूप घटकी अनित्यता देखनेमें आती है, प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है कि *'आद्यन्तवान्'* है *'घटो मिथ्या आद्यन्तवत्त्वात्।'* घट प्रत्यक्ष प्रमाणसे आद्यन्तवान् है। *'मिथ्या अनुमाने आद्यन्तवत्त्वात्'*। पृथिवी भी मिथ्या है। क्योंकि अनुमानसे यह कण-कणसे बनी हुई है, इसलिए यह भी मिथ्या है, अनित्य है, आद्यन्तवान् है। शास्त्रमें उत्पत्ति-प्रलयका श्रवण होनेसे आकाश भी मिथ्या है।

इसी तरह *'स्वब्रह्मत्वानुभवेन बाधमानत्वात्'* यह द्वैत मात्र भी मिथ्या है क्योंकि जब हम आत्माका ब्रह्मरूपसे अनुभव करते हैं, तब यह बाधित हो जाता है फिर आपकी जो आसक्ति है, वह कहाँ है? किस तर्कसे है? प्रत्यक्षसे है? किर अनुमानसे है? किस शास्त्रसे, किस स्वानुभूतिसे है? फिर कार्यमें आसक्ति कैसे है? बोले कि **'अतत्त्वार्थवदल्पं च'** यह तत्त्व नहीं है। जो नाम-रूपका निषेध करनेपर शेष रह जाये, वह तो तत्त्व है किन्तु नाम-रूप आकारका निषेध करनेपर घट और देह दोनों ही शेष नहीं रहते हैं। जो अनारोपित नाम-रूप होता है, उसका नाम तत्त्व होता है, और ये तो महाराज, अनारोपित नाम-रूप हैं ही नहीं, आरोपित नाम-रूप हैं, इसलिए अतत्त्वार्थवत् हैं। और अल्पम् अर्थात् अल्पकालव्यापी इनका जीवन है, अल्पदेशव्यापी इनका अवस्थान है और पदार्थोंकी गणनामें अत्यन्त अल्प हैं। बता दे कोई कि मिट्टीके किस हिस्सेका नाम घड़ा है, आकाशके किस हिस्सेका नाम घटाकाश है और हमारे प्रकाशक ज्ञानके किस अंशका नाम घटज्ञान है? *'यदल्पं तन्मर्त्यम्'*—जो छोटा होता है, वह मर्त्य होता है। और *'यो वै भूमा तत्सुखम्'*—जो भूमा होता है वह सुख होता है। इसीलिए कार्यमें जो आसक्ति है, वह तामस आसक्ति है।

देखो, **'एकस्मिन् कार्ये'** का अर्थ करते हुए स्वामी शंकराचार्य तथा स्वामी शंकरानन्दने कहा कि एक शालग्राम अथवा नर्मदेश्वरकी शिला लेकर लोग बैठ जाते हैं और कहते हैं कि हमारे तो यही परमेश्वर हैं। अरे, यदि ऐसा है तो *'जन्माद्यस्य यतः'* और *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'* आदि शास्त्र-वचनोंका क्या अर्थ करोगे? एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानका बोध कैसे होगा? इसीलिए मात्र एक कार्यको—जो कि पैदा हुआ और मर जायगा, और गढ़ा गया और फूट जायगा—परमेश्वर मानकर उसीमें आसक्त हो जाना तामस ज्ञान है।

अतः आत्मचैतन्यको भी पूर्णरूपसे देखो। यदि आत्मामें विभुत्व सर्वाश्रयत्व है, तब भी तो वह परिपूर्ण ही होगा न। यदि प्रत्येक आत्मामें [illegible]

अलग विभुता होगी और विभुत्व सामान्यका जो आश्रय होगा, वह भी तो अद्वितीय ही होगा। उसमें तो विभुत्व भी बाधित हो जायेगा। अत: प्रति आत्मामें विभुत्व माननेवाला जो सिद्धान्त है, वह वेदान्तकी दृष्टिसे यथार्थ सिद्ध नहीं होता।

अब कर्मकी चर्चा करते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ (२३)

यह कर्म-त्रिपुटी है। कर्मका त्रैगुण्य है। वह क्या है? आप जो काम करते हैं वह सन्ध्या-वन्दनादि अथवा मलोत्सर्गादिके समान नित्य-कर्म है क्या? नित्य कर्म एक ही तरहका नहीं होता। हम जो मनसे, वाणीसे, हाथसे, पैरसे, उदरसे पाप करते हैं, उसका अवलोकन करनेके लिए सन्ध्या-वन्दन करते हैं। हम स्नान करते हैं दैहिक मल-प्रक्षालनके लिए और भीतर जो मलमूल भरा हुआ है, उसके निवारणके लिए शौच-लघुशंका जाते हैं। यह जो शारीरिक मल-प्रक्षालन है, यह नित्य-कर्म है। और अविद्या मलका प्रक्षालन वास्तविक कर्म है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि **'सङ्गरहितम्'** उसमें सटो मत और जो कुछ करो, वह **'अरागद्वेषतः कृतम्'** बिना राग-द्वेषके करो। फिर कहते हैं कि **'अफलप्रेप्सुना'** उसका कुछ फल मत चाहो और कर्म करो। यही सात्त्विक कर्म है—**'यत्तत्सात्त्विकमुच्यते'**।

आओ, इस श्लोकपर थोड़ा और विचार कर लें। भगवान् इसमें बताते हैं कि सात्त्विक कर्म क्या है। निषिद्ध कर्म तो कभी सात्त्विक हो ही नहीं सकता, काम्य कर्ममें कामना लगी रहती है जिससे राग-द्वेष आजाते हैं और अकर्मण्यतामें तो तमोगुण प्रत्यक्ष है ही। इसलिए **'नियत'**का अर्थ नित्यकर्म ही है—जैसे दोषापनयन-रूप मलमूत्र-त्याग और स्नान आदि। जिससे नित्यके पापका, मलका प्रक्षालन होता है, वह नियत कर्म है जिसे किये बिना मलिनता आती है, उसका नाम नियतकर्म है और जो न करनेपर प्रत्यवाय लगे, उसका नाम नियत कर्म है।

'सङ्गरहितम्'—उसमें भी संग न हो। मान लो कि कभी काल-लोप हो गया, कभी आश्रय-लोप हो गया, कभी पदार्थ-लोप हो गया, तो सङ्ग होनेपर, आसक्ति होनेपर बड़ा भारी दु:ख होगा। अरे, आज तो सूर्यास्तके समय सन्ध्या-वन्दन नहीं कर सका, आज सन्ध्या-वन्दन करनेमें बहुत देर हो गयी। इस प्रकार नित्यकर्ममें इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि वह दु:ख-जनक हो जाये। तब क्या करना चाहिए? बोले कि नित्यकर्म करना तो चाहिए, लेकिन **'अरागद्वेषतः कृतम्'** राग-द्वेषसे नहीं करना चाहिए। रागवत्, द्वेषवत् जो कर्म किया जाता है, वह सात्त्विक नहीं होता, क्योंकि रागमें रंग है और द्वेषमें जलन है।

अच्छा, यह राग जो है; यह तो तन्मय कर देता है और संगमें अन्यता रहती है। जिससे आसक्ति होती है, उससे अन्यता हो जाती है। राग बिल्कुल रंजनात्मक हो जाता है। अमुकसे हमको सुख मिला है, अमुकसे हमको सुख मिला है। इस प्रकार जिससे हमको सुख मिला है, उसकी याद करके और उसीके साथ अपने मनको रँगा देना राग है—*'सुखानुशयो रागः। सुखम् अनुशेते।'* हमें तो कढ़ी और भात चाहिए; हमें तो हलवा-पूरी चाहिए, उससे राग हो जाता है और जो नहीं चाहिए, उससे द्वेष हो जाता है। '**द्वेषतः**' जब द्वेष हो जाता है तब ऐसा होता है कि यह चीज हमारे सामने आनी ही नहीं चाहिए।

'**आफलप्रेप्सुना**' किसी भी काममें फलकी इच्छा न हो। और सब आचार्योंने तो इसका अर्थ किया है कि फलकी चाहना न करके कर्म किया जाये, किन्तु एक आचार्यने इसका अर्थ इस प्रकार किया है कि अफल माने ब्रह्म। जो फल है माने जो कर्मफल है, वह ब्रह्म नहीं है। 'अफलप्रेप्सुना' माने किसी कर्मसे किसी उपासनासे, किसी योगसे जो फलकी उत्पत्ति होती है, उस फलसे विलक्षण जो है, सो अफल है। अफल कौन है ? ब्रह्म है। **अफल प्रेप्सुना** माने *'ब्रह्मजिज्ञासुना'*। ब्रह्मजिज्ञासासे जो कर्म किया जाता है, उसे अफल-प्रेप्सासे किया हुआ कर्म कहते हैं। उन्होंने फलकी ऐसी व्युत्पत्ति बतायी है कि *'किं नाम फलम्'*? फल क्या है ? बोले कि—*'फलं विषयम् मीयते यत्'* फल बहुत छोटी चीज है। एक अँगूरकी डालमें हजारों अंगूर लटके हैं और वे कितने छोटे-छोटे दिखते हैं। फल-विषय उन्हें तोड़ने खानेमें दो-चार दिनकी देरी हो जाये तो वे *'मीयते च'* सड़ जायेंगे बिल्कुल। इसीका नाम फल होता है। लेकिन यह जो परब्रह्म परमात्मा है, यह देश-काल वस्तुसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण फल नहीं है-छोटा नहीं है और लयशील भी नहीं है, इसका नाश नहीं होता, यह अविनाशी है। इसलिए यह अफल माने ब्रह्म है। ब्रह्मजिज्ञासु जो कर्म करता है—कि इसमें हमें तत्त्वज्ञान हो जाये—उसी कर्मको सात्त्विक कहते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ (२४)

काम-भोगकी इच्छा तो हुई कामना। अन्तःकरण संचित करनेवाली वस्तु कामना है और अहंकार साधारण है। अहंकार प्रकृति-वंशमें उत्पन्न है और अस्मिता अविद्या-वंशमें उत्पन्न है। ये दोनों जब एकमें जुड़ जाती हैं, तब अहंकार बलवान् हो जाता है। मैंने बड़े-बड़े विद्वानोंको देखा है; वे साधारण संन्यासियोंको हाथ नहीं जोड़ते, माने आश्रमश्रेष्ठ्यको बिल्कुल स्वीकार नहीं करते, न ही त्यागश्रेष्ठ्यको

स्वीकार करते हैं। वे बिल्कुल स्तम्भकी तरह स्तब्ध खड़े रहते हैं—'**साहंकारेण वा पुनः**'।

'**क्रियते बहुलायासम्**'—भीतर हुआ अहंकार, मनमें आयी कामना और बाहर कर्म करनेमें बड़ा भारी आयास करना पड़ा। तो क्या होता है?

महाराज, मैंने देखा है, दो दिन पहले चावल और उड़दको भिगोया जाता है। तीसरे दिन उसकी पिसाई हुई और दोसा बनता है। इडली बनती है। यह मद्रासका भोजन है। जरा-सा तो कुछ खाना-दो इडली खाना और दो डोसा खाना; पर बनता है तीन दिनोंमें। इसीको '**बहुलायासम्**' कहते हैं। जिसमें बड़ा भारी प्रयास करना पड़ता है। अरे भाई, कर्म आयास-साध्य नहीं होना चाहिए; वह तो अनायास होना चाहिए, सहज होना चाहिए। भोजन भी ऐसा ही करना चाहिए। श्रीमद्‌भागवतमें कहा है कि *'पथ्यं पूतं अनायासम्'* अर्थात् आप जो खायें, वह शरीरके लिए पथ्य हो, मनके लिए पवित्र हो और अनायास-उसे बनानेमें बहुत आयास न करना पड़े। तीन ही तो बातें कहीं हैं कुल। जो कर्म कामनाके साथ, अहंकारके साथ और बहुत आयासके साथ किया जाता है, वह राजस होता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ (२५)

अब भगवान् तामस कर्मकी बात करते हैं। यह क्या है? '**अनुबन्धम्**'—पीठके साथ, पीछेकी ओर जो बँधा रहता है, उसका नाम अनुबन्ध है। माने यह काम करनेका क्या नतीजा निकलेगा—इसपर जिसकी दृष्टि न जाये, जो अदूरदर्शी है, अपरिणामदर्शी है। नतीजा माने *'परिणतिजा'*—माने परिणामक्या होगा—इसपर जिसकी दृष्टि न जाये। तो अनुबन्धका अर्थ है कि हम अमुक कर्म करनेके अधिकारी हैं कि नहीं। अब एक मनका पत्थर उठाना है और खुद उठकर दौड़ पड़े, कि हम उठाते हैं। हमने अपने अधिकारका विचार ही नहीं किया कि एक मनका पत्थर हमसे उठेगा कि नहीं!

तो एक अधिकारीका विचार, एक विषयका विचार, एक सम्बन्धका विचार, एक प्रयोजनका विचार—ये चार विचार जब इकट्ठे होते हैं, तब उसको अनुबन्ध बोलते हैं। मैं कर्मका अधिकारी हूँ कि नहीं हूँ, इस कर्मका स्वरूप क्या है; मेरे साथ इस कर्मका सम्बन्ध जुड़ता है कि नहीं, और इस कर्मसे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी—इसको अनुबन्धचतुष्टय कहते हैं।

'**क्षयम्**'—इसे करनेमें कोई नुकसान तो नहीं है? अपना कोई नुकसान तो नहीं है? और '**हिंसाम्**'—किसी दूसरेका तो नुकसान नहीं है? और '**अनवेक्ष्य च**

पौरुषम्'—इसे हम कर सकते हैं कि नहीं? पहले अपने पौरुषकी, अपनी शक्तिकी, अपने बलकी परीक्षा लेनी चाहिए। पड़ोसी राजा बड़ा बलवान् है और इसके ऊपर धावा बोल दिया। तो वह कार्य तामसिक हो गया। इसीको पत्थरके साथ सिर टकराना कहते हैं। बलवान् शत्रुके साथ भिड़ना नहीं चाहिए, उससे सुलह कर लेनी चाहिए। महाराज, आपका कौन शत्रु बलवान् हो जायेगा, इसका पहले ज्ञान नहीं होता है; क्योंकि जब हम किसीसे शत्रुता करते हैं न, तो हमसे मन ही मन शत्रुता रखनेवाले जितने लोग होते हैं, वे प्रत्यक्ष शत्रुको देखनेपर उसके साथी बन जाते हैं और तब हम कमजोर पड़ जाते हैं। इसलिए बलाबलका विचार करके ही कर्म करना चाहिए।

'**मोहादारभ्यते कर्म**'—जब बिना सोचे-समझे, मोह-वश कर्म प्रारम्भ कर दिया जाता है, तब वह तामस हो जाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ (२६)

अब भगवान् कर्ताकी त्रिविधता बताते हैं। क्योंकि कर्ता भी त्रिगुणमें ही तो है न, वह निर्गुण तो नहीं है।

'**मुक्तसङ्गोऽनहंवादी**'—एक तो कर्तामें संग न हो, संजन न हो और वह अनहंवादी हो अर्थात् अहंवादी न हो। उसके शील-स्वभावमें अहंभाव न हो। अहंभावमें धर्मभाव न हो, अहंभावमें धर्मबुद्धि न हो। मैं ब्राह्मण हूँ, यह चाण्डाल है—इस प्रकार अहंवादी नहीं होना चाहिए। अहं बोलना भी नहीं चाहिए, अहं रखना भी नहीं चाहिए और अहं सोचना भी नहीं चाहिए।

'**धृत्युत्साह-समन्वितः**'—काम करे तो धृति होनी चाहिए और उत्साह होना चाहिए। यह नहीं कि साइकिल दौड़ा रहे हैं तो ऐसे बेतहाशा दौड़ा रहे हैं कि उसे रोक ही न सकें, और मोटर चलायें और ब्रेक लगानेकी सामर्थ्य न हो। यह हमेशा अपने अन्दर रहनी चाहिए। जहाँ अपनेमें रोकनेकी सामर्थ्य न हो, वहाँ कर्म बिगड़ जाता है। इसलिए धृति होनी चाहिए और उसके साथ-साथ उत्साह भी होना चाहिए। उत्साह नहीं होगा तो आप कुछ भी नहीं कर सकेंगे।

'**सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः**'—सिद्धि और असिद्धिमें, सफलता और विफलतामें निर्विकार होना चाहिए। ऐसे कर्ताको ही सात्त्विक कर्ता कहते हैं।

देखो, सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकारता जो है, वह बड़ी भारी चीज है। एक बार मैं अपने एक मित्रसे मिलनेके लिए कई सौ मील पैदल गया। उस समय कुल तीन आने पैसे थे हमारे पास, और मैंने यह निश्चय किया था कि मैं तीन आनेमें ही उसके

घर पहुँच जाऊँगा। एक आनेका चिवड़ा लिया और जब भूख लगती तो उसमें पानी और नमक मिलाकर खा लेता। अब मैंने यह तो जरूर सोचा था कि जब मित्रके घर पहुँच जायेंगे तो हमारी दसों उँगलियाँ घीमें होगी। लेकिन जब वहाँ पहुँचा, तो पता चला कि मित्र तो बाहर कहीं सौ-दो सौ मील दूर गये हुए हैं। वे मुझसे छोटे थे और उनके घरमें उनकी पत्नी अकेली थी। और कोई नहीं। मैंने खबर भेजी कि मैं आया हूँ तो उस मित्र-पत्नीने खबर भेजी कि अरे, मेरे पति तो आपकी बड़ी प्रशंसा करते हैं; आपके बड़े मित्र हैं। आप आये, धन्य भाग्य! उसने झट पड़ोसीके घरसे एक माताको बुलाया और मेरे लिए बिस्तर बिछवा दिया तथा खानेकी व्यवस्था कर दी। अब वहाँ रहना तो उचित था ही नहीं। रात भर तो सो गये, क्योंकि शाम हो गयी थी, लेकिन दूसरे दिन सवेरे वहाँसे बिना पैसेके ही चल पड़े। तो मैं जो यह सोचकर चला था कि मित्र मिलेंगे और मेरा काम हो जायेगा, वह गलत था। सिद्धिपर, सफलतापर निर्भर होकर मेरा वहाँ खाली हाथ चले जाना उचित नहीं था। मुझे यह भी सोच लेना था कि अगर वे घरमें नहीं मिलेंगे तब क्या होगा? जुयेमें हमारी बाजी नहीं आयेगी तब क्या होगा? तो जुआ नहीं खेलना चाहिए? संसारमें दोनों पक्षोंपर सोच-विचारकर निर्विकार भावसे कर्म करना चाहिए। ऐसे कर्ताको सात्त्विक कहते हैं।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ (२७)

'**रागी**'—जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनके फल-रूप लोक-परलोकके भोगोंमें ममता है, आसक्ति है—ऐसे मनुष्यको रागी कहते हैं।

'**कर्मफलप्रेप्सुः**'—जो कर्मोंके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि लोक और परलोकके नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा करता है, उस स्वार्थ-परायण पुरुषको '**कर्मफलप्रेप्सु**' कहा जाता है।

'**लुब्धः**'—धनादि पदार्थोंमें आसक्ति रहनेके कारण जो न्यायसे प्राप्त अवसरपर भी अपनी शक्तिके अनुरूप धनका व्यय नहीं करता तथा न्याय-अन्यायका विचार न करके सदा धन-संग्रहकी लालसा रखता है—यहाँ तक कि दूसरोंके स्वत्वको हड़पनेकी भी इच्छा रखता है, उसीको '**लुब्धः**' कहा जाता है।

'**हिंसात्मकः**'—जिस किसी भी प्रकारसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाना ही जिसका स्वभाव है, जो अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिए कर्म करते समय अपने आराम तथा भोगके लिए दूसरोंको कष्ट देता है।

'**अशुचिः**'—जो न तो शास्त्रविधिके अनुसार जल-मृत्तिकादिसे शरीर और वस्त्रादिको शुद्ध रखता है और न यथायोग्य बर्ताव करके अपने आचरणको ही शुद्ध

रखता है, लेकिन भोगोंमें आसक्त होकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके लिए शौचाचार और सदाचारका त्याग कर देता है, उसे अशुचि कहा है।

'हर्षशोकान्वितः'—जो दिन भरमें सौ बार रोता और सौ बार हँसता है, उसे महाभारतमें मूढ़ बताया गया है—

शोकस्थान-सहस्राणि भयस्थान-शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढम् आविशन्ति न पण्डितम्॥

मूढ़ व्यक्ति दिनमें सौ बार रोता है और सौ बार डरता है। पूछनेपर कहता है कि अरे भाई, जब मेरा व्याह हुआ था, तबकी बातें याद करके मुझे हँसी आ गयी। कोई पूछता है कि आज तो बड़े उदास दिखते हो, क्या बात है ? तो कहता है कि हमारी नानी मरी थी, तबकी बाद याद आगयी; इसलिए उदासी है। तो यह बार-बारका हर्ष और शोक रजोगुणी व्यक्तिका लक्षण है।

संक्षेपमें जो कर्ता आसक्तिसे मुक्त है, कर्मोंका फल चाहनेवाला है और लोभी है, स्वभावतः दूसरोंको कष्ट देता रहता है, अशुद्धाचारी है एवं हर्ष-शोकसे लिप्त है—वह राजस है, रजोगुणी है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ (२८)

'अयुक्तः'—जो अयुक्त है, उसके मनमें कभी आता है कि यह करें और कभी मनमें आता है कि वह करें। कभी मनमें आया कि खेतमें जौ बो दें, कभी मनमें आया कि गेहूँ बो दें। फिर उसको उलट दिया कि आओ, इसमें बाजरा बो दें; आओ इसमें गन्ना बो दें। इस तरह वह पैदा तो कुछ होने ही नहीं देता है। रोज-रोज उलटता जाता है। दुर्गा-पाठका संकल्प किया था *भगवती-तृप्त्यर्थम्*। बादमें बेटेको आगया बुखार। तुरन्त संकल्प छोड़ दिया और बोला *'रोगनिवारणार्थम्'*। उसी समय घाटा हो गया तो बोला कि *'धन-प्राप्त्यर्थम्'*। अब पूरा पाठ तो किया नहीं और संकल्प पाँच-सात बदल दिये! अब वह बेचारा दुर्गापाठ क्या करे ? कहाँ जाये ? मन-इन्द्रियोंको वशमें करके एक दृढ़ निश्चय रखना चाहिए।

'प्राकृतः'—प्राकृतका तात्पर्य है कि हृदयमें संस्कार रहना चाहिए, बालककी तरह प्राकृत या असंस्कृत बुद्धि बोकर नहीं रहना चाहिए। जो शास्त्रीय संस्कार है, उनसे युक्त रहना चाहिए। एक प्राकृत होते हैं और एक संस्कृत होते हैं। जब हम अशुद्ध शब्द बोलते हैं तो वह प्राकृत हो जाता है और शुद्ध शब्द बोलते हैं तो वह संस्कृत हो जाता है। हमें हमेशा संस्कृत भावसे युक्त रहना चाहिए। निसर्गके अधीन नहीं रहना चाहिए। निसर्ग वह है, जो नीचे ले जाये। नेचर के अधीन हमें नहीं होना चाहिए; संस्कृत होकर रहना चाहिए।

'**स्तब्ध:**'—जो खम्भेकी तरह रहता है महाराज, किसीको नमस्कार करना नहीं जानता। उसे धनमद है, ऐश्वर्य-मद है और वह घमण्डी है।

'**नैष्कृतिक:**'—आलसी हो; अपने कर्तव्यका ध्यान न रखे।

'**विषादी**'—जो हर समय विषादमें डूबा रहता है। एक सज्जन हमारे पुराने मित्र हैं। महीनेमें उनकी प्राय: दो-तीन दिन चिट्ठियाँ आती ही हैं। हमारे सामने उनका ब्याह हुआ; चार-छह बच्चे हुए। अच्छे खाते-पीते हैं, लेकिन आजतक उनकी कोई चिट्ठी ऐसी नहीं आयी कि जिसमें उन्होंने लिखा हो कि मैं सुखी हूँ। हर पत्रमें लिखते हैं कि हाय-हाय, मुझे यह दु:ख है। अत्यन्त विषादग्राही अन्त:करण है उनका। एक गोबरका कीड़ा, गुबरौला होता है। उसके सामने चीनीका ढेर रखो, और जरा-सा गोबर ऊपर रख दो, तो वह चीनी के ऊपर चढ़कर जायेगा और चीनी नहीं, गोबर ही खायेगा। चींटीके सामने गोबरके ऊपर जरा-सी चीनी रख दो तो वह गोबरको पार करके जायेगी और चीनी खा लेगी। तो तुम्हारा मन चीनी खानेवाला है कि गोबर खानेवाला है?

अरे, भगवान् जो करते हैं, उसमें सुख निकालो। अगर भगवान्‌ने तुम्हें अकेला कर दिया है, तो तुम्हे संन्यासी बना दिया है। बाबाजी लोग चोटी काटते हैं, जनेऊ निकालते हैं और कहाँ-कहाँ भटकते हैं, तब संन्यासी होते हैं। ईश्वरने तुम्हें अकेला कर दिया तो ईश्वरके बनाये संन्यासी हो गये तुम! इसमें रोनेकी क्या बात है? विषाद करनेकी क्या जरूरत है? स्वतन्त्रता दे दी है भगवान्‌ने। इतनी स्वतन्त्रता तो तुम्हें मिल ही नहीं सकती थी। इसलिए विषाद छोड़ो और प्रसन्न रहो।

'**दीर्घसूत्री**'—जो कामको टालता रहता है कि आज नहीं, कल करेंगे; कल नहीं परसों करेंगे। अरे,

कालि करे सो आजु कर, आजु करे सो अब।
पलमें परले होयगी, बहुरि करैगौ कब?

महामहोपाध्याय पण्डित पंचानन तर्करत्नसे मैंने अपने बचपनमें एक कथा सुनी थी। वे सुनाते थे कि एक आदमीके चार बेटे थे। चारों अपने-अपने काममें लगे थे। एक पढ़ता-लिखता था, दूसरा सेनामें काम करता था, तीसरा वेद-पाठ करता था और चौथा खेतमें काम करता था। चारोंमें रोज झगड़ा होता था। एक कहे कि मेरा काम अच्छा है तुम्हारा काम खराब है। एक दिन चारोंकी पंचायत बैठी। उन्होंने कहा कि देखो भाई, हमें अलग-अलग काम नहीं करना चाहिए, हम चारोंको मिलकर कोई एक काम करना चाहिए। तो ऐसा कौन-सा एक काम है, जो हम चारोंको करना चाहिए? सोच-विचार कर वे इस नतीजेपर पहुँचे कि हमारे

बाप-बूढ़े हैं। वे एक दिन मरेंगे, तो हम चारोंको कन्धा लगाना पड़ेगा। वह काम तो हम चारोंका है, तो क्यों न उसे जल्दीसे-जल्दी कर दिया जाये? एकने कहा कि *'कालि करे सो आज कर।'* दूसरेने कहा कि *'आज करे सो अब।'* अब पिताजी महाराज पलंगपर सो रहे थे। चारों पुत्रोंने पलंगके पाये पकड़कर उठाये और बोले कि चलो श्मशान-यात्रापर! बूढ़े पिताकी नींद टूट गयी और वह समझ गया कि ये कुछ गड़बड़ कर रहे हैं। फौरन पलंगसे कूद पड़े और लिया डण्डेसे काम! चारोंको एक-एक चपत मारा और बोला कि वाह, यह तुम लोगोंकी अकल है!

तो ऐसे नहीं करना चाहिए महाराज! अपने-अपने काममें मनुष्यको सावधान रहना चाहिए, दीर्घसूत्री नहीं रहना चाहिए! मनुष्यको दीर्घसूत्री नहीं होना चाहिए, यह तामस कर्ताका लक्षण है।

अब इसके बाद भगवान् बुद्धि और धृति दोनोंका फर्क बताते हैं। यह पूर्णरूपसे भी बताते हैं और अलग-अलग भी बताते हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय॥ (२९)
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ (३०)

साभास बुद्धिका नाम कर्ता है। बुद्धि एक वृत्ति है और धृति वृत्ति-विशेष है। साधारण धारणात्मक वृत्तिका नाम बुद्धि है और विशेष धारणात्मक बुद्धिका नाम धृति है।

यहाँ तीसवें श्लोक में भगवान्ने सात्त्विक बुद्धिकी जो परिभाषा दी है, उसे ठीक समझ लेना चाहिए। कर्म कबतक करना और संन्यास कब लेना—इसका अर्थ समझ लेना चाहिए।

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च'—संन्यास लेनेकी भी जरूरत होती है। यदि मनुष्यके मनमें यह कल्पना रहे कि एक दिन मुझे संसार छोड़ना है, तो संसारमें व्यवहार करते समय भी संसारसे उसका राग नहीं होगा। और जिसके मनमें छोड़नेकी कल्पना ही नहीं है, वह क्या करेगा?

आज पचास वर्ष पहले रामघाटमें एक सफेद कपड़ेवाले साधु थे। उनके पास इक्कीस गिन्नियाँ थीं। उनकी सेवामें कोई नहीं था। उन्होंने सोचा कि क्या करें इनका? करेंगे तो जरूर। उन्होंने हलवा बनाया और हलवेमें लगा-लगाकर सब गिन्नियाँ निगल गये। उनकी मृत्युके बाद चेलोंमें लड़ाई हुई कि गुरुजीकी गिन्नियाँ क्या हुईं? अब उनका शरीर जब चितापर जला, तब राखमें-से गिन्नियाँ निकलीं। चेलोंने कहा कि अब इनका क्या होगा? निश्चय हुआ कि इनसे भण्डारा किया

जाये। जब भण्डारेके लिए हलवा-पूरी बनी, तब कुत्तोंने आक्रमण कर दिया। उन्होंने न किसी ब्राह्मणको खाने दिया, न किसी साधुको खाने दिया। सब-का-सब जूठा कर दिया।

तो बाबा, त्यागकी वृत्ति भी मनमें रखनी चाहिए। कहाँतक प्रवृत्ति रखनी है और कहाँतक निवृत्ति रखनी है—इसकी एक सीमा-रेखा होनी चाहिए, और बुद्धिसे उसे ठीकसे समझना चाहिए।

'कार्याकार्ये'—क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है और किस कामसे डरना चाहिए और किस कामको निडर होकर करना चाहिए—यह बात समझनी चाहिए।

'बन्धं मोक्षं च या वेत्ति'—अज्ञानसे बन्धन होता है, ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है—'अशुद्धान्तःकरणसे बन्धन होता है, शुद्धान्तःकरणसे मोक्ष होता है—यह जब बुद्धिमें, समझमें आजाये, तब समझना चाहिए कि बुद्धि सात्त्विक है।'

यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ (३१)

यदि धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य ठीक-ठीक समझमें न आयें, **'अयथावत्'**—साफ-साफ ये सब मालूम न पड़ें, तो क्या करना चाहिए? यह समझना चाहिए कि **'बुद्धिः सा पार्थ राजसी'**—हमारी बुद्धि राजसी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ (३२)

'अधर्मं धर्ममिति या'—कई लोग अधर्मको ही धर्म समझते हैं। ऐसा क्यों होता है? बोले कि ऐसा तब होता है, जब बुद्धि तमोगुणसे, तमस्‌से आवृत होती है।

'सर्वार्थान्विपरीतांश्च'—ऐसी बुद्धि, जो सभी बातोंको विपरीत ही समझती है। यदि कोई हितकी बात कहे, तो वह उसे अहितकी बात ही समझती है।

आपको जरा हँसीकी बात सुनाता हूँ। एक श्रीमतीजी थीं, जो नागरी नहीं थीं, ग्राम्या थीं, गाँवकी थीं। उनकी यह आदत थी कि जो काम करनेको कहा जाये, उससे वे उलटा ही करती थीं, धीरे-धीरे उसके पतिने यह बात समझ ली और वे जान-बूझकर पहले उलटा बोलते थे कि यह सुलटा कर ले। जैसे, रसोई बनानी हो, तो कहते कि आज रसोई मत बनाना। वह कहती कि जरूर बनाऊँगी।

एकदिन उसके मायकेमें कोई काम था। पतिने कहा कि देखो भाई, अब मैं तुम्हें तुम्हारे मायके कभी नहीं ले जाऊँगा। वह बोली कि मैं तो आज ही जाऊँगी। अब वह पतिके आगे-आगे चल पड़ी। मार्गमें नदी आयी तो पति बोले कि देखो, कुछ भी हो, हम नदी पार नहीं जायेंगे। श्रीमती बोलीं कि मैं तो जरूर पार करूँगी।

नदी थी बहुत गहरी और उसकी धारा थी बहुत तेज। पतिने कहा कि देखो, नदी पार करनी ही हो तो वह पेड़की डाल मत पकड़ना। उसने कहा कि मैं तो जरूर पकड़ूँगी। वह डालको पकड़कर चलीं। अब पतिको भूल गया कि वह उलटा करती है। उसे कहना चाहिए था कि डाल छोड़ दो, छोड़ दो; लेकिन उसके मुँहसे निकला कि पकड़े रहना। यह सुनते ही उसने झटसे डाल छोड़ दी और वह नदीमें बह गयी।

तो '**सर्वार्थान्विपरीतांश्च**'—इसका तात्पर्य यह है कि जो बुद्धि सीधा काम जानती ही नहीं है और सब अर्थोंको, सब वस्तुओंको विपरीत ही देखती है—वह तामसी है।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ (३३)

देखो, बुद्धिका अर्थ तो है समझना और धृतिका अर्थ है रोकना। जैसे आप मोटर चला रहे हैं न, तो जिस ओर जाना है, उसे ठीक तरहसे देखकर समझ लेना चाहिए कि रास्ता कैसा है। यह समझना जो है—यह बुद्धि है और रास्तेंमें कहीं मोटर छूट न जाये—इसके लिए हैंडलको, ब्रेकको सम्हालकर रखना—यह धृति है। दूसरे शब्दोंमें मन-प्राण-इन्द्रियोंकी जो क्रिया है, उसे धारण करनेवाली धृति है और वह तब धारण करती है, जब बुद्धि योगाभ्यास करके अव्यभिचारिणी बन जाती है। नहीं तो यदि बुद्धि व्यभिचारिणी हो, तो क्षणमें इधर और क्षणमें उधर! गाँवमें जब कोई ऐसी बहू आती थी, तब बोलते थे कि यह बहू क्या घरमें आयी! छिन भरके लिए घरके भीतर जाती है तो छिनभरमें दरवाजेपर लग जाती है! जब देखो, खिड़कीसे लगी रहती है और सड़कवालोंको झाँका करती है। तो ऐसी बुद्धिसे काम नहीं चलता है। इसलिए योगाभ्यास करके अपनी बुद्धिको अव्यभिचारिणी बना लो। जो बुद्धि मन-प्राण-इन्द्रियकी क्रियाको धारण करनेवाली है, वह बुद्धि सात्त्विक है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ (३४)
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ (३५)

धर्म-अर्थ-कामको ठीक-ठीक धारण करनेवाली बुद्धि है, धृति है, वह राजस है।

'**प्रसंगेन फलाकांक्षी**'—यदि कोई प्रसंग प्राप्त हो जाये तो सत्संकल्प करके काम कर लेना चाहिए। कभी निष्काम भावसे गायत्रीका जप कर रहे हैं तो

आवश्यकता पड़नेपर कथामें बैठ गये हैं। कभी भगवती गायत्रीदेवीके सन्तोषके लिए उनके मन्त्रके जप द्वारा अन्त:करण शुद्ध कर रहे हैं। लेकिन यदि ऐसा लगे कि हमारी बुद्धि ठीक निर्णय नहीं दे रही है तो *'धियो यो न: प्रचोदयात्'*—इसका संकल्प कर लिया कि हम गायत्री मन्त्रका जप करते हैं, जिससे कि हमारी बुद्धि शुद्ध अर्थ बताये। इसी तरह किसीका दिमाग खराब हो तो उसका दिमाग ठीक करनेके लिए गायत्रीका अनुष्ठान कर लिया। जो ऐसी धृति है, बुद्धि है—वह राजसी है।

उनकी धृति तामसी है, जो दुर्मेधा लोग हैं और जिनकी धारणा-शक्ति बिलकुल नहीं है। धारणावती धी-को, धारणावती बुद्धिको, मेधा कहते हैं। जो अर्थ को छिन्न-भिन्न कर डाले, छेदन-भेदन कर डाले, उसे दुर्मेधा कहते हैं। गोमेध, अश्वमेधमें जो मेध धातु है, वह हिंसार्थक है। असलमें बुद्धि तो वह है जो अज्ञानका नाश कर दे। मेधाका अर्थ यजन भी होता है। मेधाका अर्थ धारणवती बुद्धि भी होता है।

परन्तु मनुष्य पकड़ता क्या है—यह तो देखो! वह नींदको नहीं छोड़ता है। पत्नी कहती है कि आह्निकका समय हो गया है तो पति कहता है कि नहीं-नहीं, हमें नींद आ रही है। अरे भाई उठो, स्नान करो, फिर भोजन करना-प्रकाशका आदर नहीं करोगे तो ज्ञानका चिन्तन कैसे करोगे? नित्य प्रकाश देनेवाले सूर्य भगवान् आ रहे हैं, उनका आदर करो। परन्तु पति उत्तर देता है कि हमारा तो पश्चिम मुख है, जब इधरसे रोशनी आवेगी तब उठेंगे। इस तरह लोग नित्यकर्म छोड़ देते हैं, लेकिन नींद नहीं छोड़ते।

'भयम्'—इसी तरह लोग भय भी नहीं छोड़ते हैं। एक बादशाह पानीके जहाजसे कहीं यात्रा कर रहे थे। उसके साथ जो बहुत-से लोग थे, उनमें एक मौलवी भी था। जब जहाज हिले तो वह बड़े जोरसे चिल्लाये कि अरे मैं मरा, मैं मरा! उसकी चिल्लाहट सुनकर बादशाहको नींद नहीं आती थी। उन्होंने मौलबीको बहुत समझाया-बुझाया, लेकिन वह तो माने ही नहीं। अन्तमें वजीनरने बादशाहसे कहा कि हुजूर, अगर आप इजाजत दें, तो हम मौलबी साहबका चिल्लाना बन्द करवा दें। अब जब फिर मौलबी साहब चिल्लाये तो वजीरने अपने तीन-चार सिपाहियोंको हुक्म दिया कि इन्हें उठाकर समुद्रमें फेंक दो, लेकिन ध्यान रहे कि ये मरने न पायें। अब समुद्रमें ले जाकर दो-चार बार ऊपर-नीचे किया फिर बाहर निकाल दिया, तत्पश्चात् सिपाही बोले कि देखो मौलबी साहब, अबकी आपने मुँहसे आवाज निकाली तो समुद्रमें फेंक ही देंगे तो फिर नहीं निकालेंगे। अब मौलवी साहब डरके मारे चुप हो गये। तो ऐसी भी जरूरत कभी-कभी पड़ती है।

इस तरह लोग भय पकड़ लेते हैं, शोक पकड़ लेते हैं, विषाद पकड़ लेते हैं, लेकिन खुशी नहीं पकड़ते। और भगवान्‌ने तुम्हें ऐसा मनुष्य-शरीर दिया है तो भी, भगवान्‌के यह देनेपर भी तुम खुश नहीं हुए। कहते हो कि हाय-हाय, आज तो हमारा यह नुकसान हो गया। बड़े अन्यायी हैं भगवान्, पाँच आने पैसे हमारे खो गये। तुम्हें अपने अनमोल मानव शरीरका कुछ ख्याल ही नहीं है और तुम केवल भय पकड़ते हो, शोक पकड़ते हो, विषाद पकड़ते हो, मद पकड़ते हो—'**भयं शोकं विषादं मदमेव च।**' ऐसा इसलिए है कि संसारके लोग भोगसे लिपटे हुए हैं और मतवालेकी तरह रहते हैं। ऐसे जो दुर्मेधा लोग हैं, उनकी बुद्धि तमोगुणी होती है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ (३६)
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ (३७)

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! भरतर्षभ! अरे, तुम श्रेष्ठ हो, भरतर्षभ, वृषभ हो, बड़े भारी समझदार हो तुम। अब तुम मुझसे तीन तरहके सुखोंके विषयमें सुनो। एक होता है निसर्ग सुख, नैसर्गिक सुख—जैसे खानेका सुख, पीनेका सुख, सोनेका सुख! मैथुनका सुख! यह सुख संसारमें पशु-पक्षियोंमें भी देखनेमें आता है। लेकिन तुम इसमें मत रहना। शास्त्र, गुरु और उचित प्रज्ञासे जो कर्तव्य मालूम पड़े, उसका अभ्यास करना। देखो, सोनेका सुख नैसर्गिक है लेकिन सूर्योदयसे पहले उठकर स्नान करके सन्ध्या-वन्दन करनेका जो सुख है, वह अभ्यास-जन्य है—'**अभ्यासाद्रमते यत्र।**' जब तुम ऐसा अभ्यास करोगे तब तुम्हारी आदत बन जायेगी और फिर बिना स्नानके, बिना सन्ध्या-वन्दनके आनन्द नहीं आयेगा, बल्कि उसके लिए मनमें ग्लानि बनी रहेगी। इसलिए अभ्यास करके अपने मनको अच्छे कामोंमें लगाना चाहिए। यह सात्त्विक सुख है।

'**दुःखान्तं च निगच्छति**'—अपने दुःखको मिटाना चाहिए। यह कैसे मिटेगा? इस सम्बन्धमें मैं अपनी ही बात सुनाता हूँ। मेरे बाबाका मुझसे बहुत प्यार था। जब उनका देहावसान हुआ, तब मैं सोलह-सत्रह बरसका था। उनकी लाश पड़ी थी दरवाजेपर और मैं बैठा था; पर मुझे ख्याल नहीं था कि उनकी लाश पड़ी है। मुझे यह ख्याल था कि उसे जलानेके लिए लकड़ी चाहिए, ग्राम-ग्राममें यह खबर पहुँचानी चाहिए। उसके बाद जो भण्डारा होगा, उसके लिए गेहूँ चाहिए, घी चाहिए, बूरा चाहिए। देखो न, यह श्राद्ध नैसर्गिक थोड़े ही है, लेकिन उसने '**दुःखान्तं च निगच्छति**'—मेरे पितामहके मरनेका सारा दुःख ही भुलवा दिया।

'**यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्**'—तो अभ्यासमें मन रमे ओर उसके दुःखकी ओरसे मन हट जाये। पहले अभ्यास करना अच्छा न लगे—ऐसा लगे कि अरे, यह तो दुःख है; ऐसा मालूम पड़े कि अरे, यह तो हमारी हत्या कर रहा है, लेकिन बादमें जिसका परिणाम अमृतोपम सुखकी प्राप्ति हो।

'**तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम्**'—उस सुखको सात्त्विक सुख कहते हैं। इसकी एक पहचान यह है कि '**आत्मबुद्धिप्रसादजम्**'—आत्माकार बुद्धि जब निर्मल होती है तब सात्त्विक सुख सापेक्ष नहीं होता, बाहरकी चीजोंसे नहीं आता; अपनी बुद्धिकी निर्मलतासे ही इस सुखकी प्राप्ति होती है। यह सात्त्विक सुख है। निर्गुण सुख इससे भी विलक्षण होता है। सात्त्विक सुख तो अभ्याससे पहले नहीं था, अभ्यासके बाद आया है और निर्गुण सुख अभ्यासके बाद नहीं आया, यह तो स्वरूप-सुख है। आत्यन्तिक सुख है। यह पहलेसे विद्यमान है, केवल अज्ञानसे प्रतीत नहीं होता था। यह इन्द्रियों एवं विषयोंका संयोग नहीं है; देशसे परिच्छिन्न नहीं है और तामसिक नहीं है। यह कालजन्य नहीं है, कालसे परिच्छिन्न नहीं है और अभ्याससे विलक्षण है। इस प्रकार निर्गुण सुख सात्त्विक सुखसे विलक्षण होता है। वह बुद्धिग्राह्य होनेसे तामस नहीं है, अतीन्द्रिय होनेसे राजस नहीं है और आत्यन्तिक होनेसे आभ्यासिक नहीं है। ऐसा वह सुख होता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ (३८)

विषय और इन्द्रियका संयोग होनेपर जो सुख पहले अमृतकी तरह मालूम होता है, वही '**परिणामे विषमिव**' परिणाममें विष-तुल्य हो जाता है। खानेमें मीठा लेकिन उसका नतीजा कैसा? जहर जैसा।

हमारे गाँवके पास एक ठाकुर साहब थे। वे हमारे पिताजीके शिष्य थे। मैं तो उनके सामने बच्चा था। ये बहुत बड़े और पढ़े-लिखे थे। वे कभी-कभी मुझे एक श्लोक सुनाते थे। उसका अर्थ था कि कोई कहता है कि अमृत देवलोकमें रहता है और कोई कहता है कि अमृत पृथिवीपर रहता है। लेकिन मैं कहता हूँ कि जिस मछलीमें नीबूका रस मिलाया हुआ हो, उसीमें अमृतका निवास है। अब देखो रागवाली वृत्तिकी बात सुनाते हैं। उनके भाईको हो गया जलोदर। डाक्टरने कहा कि मछली खाओगे तो मर जाओगे। जब वे अच्छे हो गये तो मछली खाये बिना उनका मन माने ही नहीं। उन्होंने मछली खायी उसी दिन वे मर गये। इसीको बोलते हैं 'परिणामे विषमिव'। जीभको तो बहुत बढ़िया चीज लगती है,

लेकिन उसका नतीजा जहर हुआ। यह जानते हुए भी, कि यह चीज हमारे लिए मारक है— मनुष्य उसको छोड़ता नहीं है। इसे राजस सुख कहते हैं।

> यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
> निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ (३९)
> न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
> सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ (४०)
> ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
> कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (४१)
> शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
> ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (४२)

जिस सुखमें बुद्धिका नाश हो जाये, वह क्या है? लोग गम गलत करनेके लिए शराब पीते हैं, अफीम खाते हैं या और कोई नशा करते हैं। यह पहले भी और बादमें भी केवल अपनी बुद्धिको मोहमें डालना है। निद्रा, आलस्य, प्रमादका जो सुख है, यह तमोगुणी है।

असल बात तो यह है कि पृथिवीमें, आकाशमें, देवताओंमें ऐसी कोई चीज नहीं है जिसमें सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण न हों। सभी चीजोंमें तीन गुण हैं, क्योंकि सबका पूर्वाभाव होता है, प्रागभाव होता है। कहीं-न-कहींसे सब चीजें निकलती हैं। जहाँसे जो चीजें निकलती हैं, वे वहाँसे अपने उपादानका गुण लेकर आती हैं। जैसे देखो, चिड़ियाकी प्रकृति क्या है? उड़ना। तो वह उसको कहाँसे लेकर आयी? कौन-सा योगाभ्यास करके उसने उड़ना सीखा था? बोले कि भाई, उसके माँ-बापको उड़ना आता था। उन्हींमें-से अण्डा निकला और अण्डा फूटा तो चिड़िया निकली। इसलिए चिड़ियाकी प्रकृति ही है उड़ना। इसी प्रकार संसारमें जितनी भी चीजें पैदा होती हैं, वे इन तीनों गुणों-से किसी-न-किसी गुणकी प्रधानता लेकर आती हैं।

अब मैं आपको जो सुना रहा हूँ वह सुननेमें थोड़ा अटपटा लटपटा लगेगा, लेकिन यह मेरी बुद्धिकी उपज नहीं है, बल्कि पूर्वाचार्यकृत अर्थ है। उनका कहना है कि यदि आपको ब्राह्मणधर्म सीखना हो, तो आप मनुस्मृतिसे सीखिये। अध्ययन, अध्यापन, यजन, प्रतिग्रह—ये चारों मनुस्मृतिमें ब्राह्मणके धर्म कहे गये हैं। लेकिन यहाँ मैं धर्म नहीं बता रहा हूँ, बल्कि यह बता रहा हूँ कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये सब कर्मकृत कारणसे बँटे हुए हैं। उन्होंने पूर्वजन्ममें जो कर्म किये हैं—जैसा उनका उपादान है, उसकी प्रकृति लेकर ये पैदा हुए हैं। इसलिए इनका भी

सत्त्व, रज, तमके अनुसार स्वभाव होता है। जिसमें सत्त्व प्रधान है और रज उपसर्ज है माने गौण है—वह ब्राह्मण है। जिसमें सत्त्व उपसर्जन है और रज प्रधान है—तो उसका नाम क्षत्रिय है। इस तरह जिसमें रज प्रधान है और तम उपसर्जन है तो उसका नाम वैश्य है और जिसमें तम प्रधान है और रज उपसर्जन है तो इसका नाम शूद्र हो जाता है।

इसलिए जो त्रिगुण हैं, वे प्रकृतिमें भरे हुए हैं और मिट्टीमें भी, पानीमें भी हैं। पानी भी चार तरहके होते हैं, मिट्टी भी चार तरह की होती है, पेड़-पौधे भी चार तरहके होते हैं और पशु-पक्षी भी चार तरहके होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें जिन्हें हम सनातन धर्मी लोग वेद ही मानते हैं—इस प्रकारके विभागोंका चाहे ब्राह्मण-वर्णका हो, क्षत्रिय-वर्णका हो, वैश्य-वर्णका हो या शूद्र-वर्णका हो—उसके भीतर ब्रह्मकर्म प्रकट है। यह पूर्वाचार्योंका भाष्य है, जो मैं आपको सुना रहा हूँ। उसमें जो नौ गुण होने चाहिए, वे क्या हैं? देखिये—शम(मनकी शान्ति), दम (इन्द्रियोंका निग्रह), तपस्या, शौच माने पवित्रता, क्षान्ति, ऋजुता माने सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य, ये नौ गुण जिसके भीतर प्रकट हो जायें—अभ्याससे नहीं, बिलकुल स्वभावसे ही आये हुए हों, उसके अन्दर ब्रह्मकर्म प्रकट है। वह ब्राह्मण वर्णका है कि नहीं—इससे हमें मतलब नहीं है। जन्मना-कर्मणाके विभाग तो बहुत हैं—उनको हम धर्मशास्त्रके अनुसार कहते हैं। यहाँ यह धर्मशास्त्र नहीं है, यह गीता शास्त्र है। जिसको ज्ञान और विज्ञानकी प्राप्ति हो गयी, उसके लिए याजन-अध्यापन-प्रतिग्रह—इनकी क्या कीमत होती है? जहाँ **'ज्ञान-विज्ञानमास्तिक्यम्'** बोल दिया, वहाँ याजन-अध्यापन-प्रतिग्रहका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यह तो ब्रह्मकर्म है और स्वभावज ब्रह्मकर्म है। यह विधेय ब्रह्मकर्म नहीं है, शास्त्र-विहित ब्रह्म-कर्म नहीं है, यह तो स्वभावज ब्रह्म-कर्म है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ (४३)

जहाँ शूरता है, तेज है, धृति है, दक्षता है, युद्धसे न भागना है, दान है और ईश्वर-भाव है—वहाँ स्वाभाविक क्षत्रिय कर्म है।

हम यहाँ कर्मकी बात करते हैं, वर्णकी बात नहीं करत हैं। ब्रह्मकर्म, क्षात्रकर्म, वैश्यकर्म, शूद्रकर्म और वह भी स्वभावज! शास्त्रोक्त-विहित नहीं। जहाँ विहित कर्मका वर्णन होगा, वहाँ हम मनुस्मृतिको नहीं छोड़ेंगे। यह बात हम आपको स्पष्टम्-स्पष्टम् बोलते हैं। ब्राह्मणके लिए किस कर्मका विधान है—यह चर्चा जहाँ होगी, वहाँ हम उसके यजन, अध्ययन और दानको धर्मार्थ कर्म कहेंगे तथा याजन,

अध्यापन और प्रतिग्रहको जीविकार्थ कर्म कहेंगे। ब्राह्मणके लिए वे विहित हैं, शास्त्रोक्त हैं; परन्तु यहाँ शास्त्रोक्त विधानका वर्णन कहाँ है? यहाँ तो स्वभावका अनुवाद है।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ (४४)

कृषि, गौरक्ष्य, वाणिज्य जहाँ हैं, वहाँ स्वाभाविक वैश्य कर्म है। जिसकी रुचि परिचर्यामें ही हो, जिसका स्वभाव परिचर्याको ही स्वीकार करे, वह शूद्र-कर्म है। शूद्रकर्म, वैश्यकर्म, क्षत्रियकर्म और ब्रह्मकर्म—ये चारों-के-चारों स्वभावज हैं, विहित नहीं हैं। इसलिए जिस मनुष्यमें, जिस स्वभावज कर्मका दर्शन हो; उसमें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व वा शूद्रत्व बीज-रूपसे विद्यमान है—यह बात माननी चाहिए।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ (४५)

वर्णसंकर तो नहीं बनाना चाहते हो? बोले कि नहीं, नहीं। कर्म करना हो तो बिलकुल मनुस्मृतिके अनुसार कर्म करो—'**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः।**' अपने-अपने कर्ममें संलग्न रहो। यदि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना है तो अपने-अपने कर्ममें लगकर प्राप्त करो। संसिद्धि माने अन्तःकरणकी शुद्धि। यह कौन प्राप्त करे? बोले कि '**नरः**'—यह नरके लिए है; यह मनुष्यके लिए है।

अब भगवान् कहते हैं कि मनुष्य अपने कर्ममें संलग्न रहकर किस प्रकारसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करता है—यह बात मैं तुम्हें बताता हूँ।

असलमें यहाँ कर्म और धर्ममें फर्क है। धर्म-अधर्म दोनों कर्मसे ही हैं। निषिद्ध कर्म भी कर्म ही है और विहित कर्म भी कर्म ही है। कर्मके दो भेद हैं—एक विहित और एक अविहित। विहितमें भी एक नित्य है, एक नैमित्तिक है और एक काम्य है। नित्य-कर्म सन्ध्या-वन्दनादि हैं, नैमित्तिक कर्म उपवास, ग्रहण, स्नानादि हैं और काम्यकर्म यज्ञ-यागादि हैं। एक और कर्म होता है, जिसका नाम होता है प्रायश्चित्तीय कर्म। यदि कोई भूल हो गयी है तो उसका परिमार्जन भी करना चाहिए।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (४६)

अब भगवान् बताते हैं कि आप जो कर्म करते हो, उसी कर्मसे मैं आपका अन्तःकरण शुद्ध किये देता हूँ। यह भागवत-मत है। देखो, कर्म-विशेषका विधान

होता है स्मार्त-धर्ममें और श्रौत-धर्ममें। भागवतधर्ममें क्या होता है ? तुम जो कोई कर्म भी कर रहे हो, उस कर्मको भगवान्‌को समर्पित कर दो।

'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा।' 'यद् यद् कर्म करोति तद् तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।' 'नारायणायेति समर्पयेत्तत्।'

भगवान् कहते हैं कि बस, दो बातोंका ध्यान रखो—एक तो यह, कि किसके लिए कर्म कर रहे हो और दूसरा यह कि जिसके लिए कर्म कर रहे हो, उसे ठीक-ठीक समर्पित कर रहे हो या नहीं। परमेश्वर सबका अन्तर्यामी है। जैसे बिजली सब पंखोंको चलाती है, वैसे ही परमेश्वर चींटीसे लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त सबका सञ्चालन करता है।

'येनसर्वमिदं ततम्'—वह सबका उपादान है माने सम्पूर्ण जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**—अपने कर्मसे उसकी पूजा करो। ऐसा नहीं समझो कि अमुक कर्मसे, यज्ञादि रूप कर्मसे ही उसकी पूजा होती है। नहीं; जो कर्म तुम कर रहे हो, उसी कर्मसे उसकी पूजा करो। यहाँ पूजाका अर्थ है समर्पण। तुम जगत्‌के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण, सबके हृदयोंमें रहनेवाले अन्तर्यामी और सबके शरीरोंके रूपमें प्रकट हुए परमात्माके लिए कर्म करो, अपने स्वार्थके लिए कर्म मत करो। यही कर्मका रहस्य है!

इससे क्या होगा ? तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा। कर्मको यदि अपनी ओर खींचोगे तो तुम्हारा अन्तःकरण अशुद्ध हो जायेगा और कर्मको परमेश्वरकी ओर डाल दोगे तो कर्मजन्य जो अपूर्व है, वह तुम्हारे अन्तःकरणसे या तुम्हारे कर्तृत्त्वसे नहीं सटेगा।

अब प्रश्न यह है कि जिस श्रौत कर्ममें, स्मार्त कर्ममें ईश्वरका नाम ही नहीं है, उसमें यह ईश्वरार्पित कर्म कहाँसे होगा ? इसलिए इस कर्मका नाम है भागवत-धर्म। जो कर्म हम कर रहे हैं, वह ईश्वरके प्रति अर्पित कर रहे हैं। भंगी झाड़ू लगा रहा है तो क्या कर रहा है ? कि सड़क साफ कर रहा है, नाली साफ कर रहा है। क्यों कर रहा है ? कि सर्वात्मा प्रभुकी सेवाके लिए कर रहा है। उसीसे उसके अन्तःकरणकी शुद्धि होगी। इसी तरह एक ब्राह्मण स्नानादिसे पवित्र होकर यज्ञ-यागादि कर रहा है, वेदपाठ कर रहा है तो उसीसे उसके अन्तःकरणकी शुद्धि होगी इसी तरह एक ब्राह्मण स्नानादिसे पवित्र होकर यज्ञ-यागादि कर रहा है, वेदपाठ कर रहा है तो उसीसे उसके अन्तःकरणकी शुद्धि होगी। परन्तु होना चाहिए वह ईश्वर-प्रीत्यर्थ ही। कर्मका स्वरूप क्या है ? कर्ता कौन है ? यह अधिकारका विचार और कर्मके स्वरूपका विचार श्रौत-स्मार्त धर्मका मुख्य अंग है। किन्तु भागवतधर्मका मुख्य

अंग यह है कि वह किसके लिए किया जा रहा है। यह बात कर्म करनेवालेके ध्यानमें आनी चाहिए। वह तो यही कहता है कि *'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'* हे प्रभु, तुम्हारी चीज तुम्हें अर्पित है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ (४७)

कर्मको गलत मत समझो। कर्ताको गलत मत समझो। कर्ता जिस कर्मको कर रहा है, उसे यदि वह ठीक-ठीक कर रहा है तो भले ही उसमें बाहरसे देखनेमें कोई गुण नहीं मालूम पड़े, लेकिन उसीसे परमेश्वरकी पूजा हो जायेगी। भला झाड़ू लगानेमें क्या गुण मालूम पड़ेगा? नाली साफ करनेमें क्या गुण मालूम पड़ेगा? भले **वह अवगुण मालूम पड़ता हो,** लेकिन अपने स्वधर्मका जो पालन है, उसीसे भगवान्‌की पूजा करो। भगवान् कर्मका स्वरूप देखकर प्रसन्न नहीं होते। वे तो यह देखकर प्रसन्न होते हैं कि कर्म किनके लिए किया गया है। *'शबरी देखैले रे सपनवाँ आजु घर रामा अइहैं ना।'* झाड़ू लगाकर रास्तेको साफ रखती है, वेदी बनाती है, कुशासन लगाती है, फल लाकर रखती है कि आज हमारे घरमें राम आयेंगे। आज राम आयें चाहे न आयें, लेकिन शबरी झाड़ू रोज लगायेगी, आसन रोज बिछायेगी, अपना काम रोज करेगी। अब यह कहो कि शबरी यह सोचे कि जब हम वेदपाठ करेंगे, यज्ञ करेंगे तब हमारे ऊपर भगवान् प्रसन्न होंगे तो ऐसा नहीं है। **'स्वभाव-नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'** स्वभाव-नियत कर्म करनेमें कोई किल्बिषकी प्राप्ति नहीं होती।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ (४८)

'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' एक आदमीने अपने एक डाक्टर मित्रसे कहा कि भाई, यह जो मेरी इन्द्रिय बहुत गन्दा काम करती है, मल निकालती है, बड़ी मलिन है। इसको प्लास्टिक सर्जरीसे बन्द कर दो। डाक्टरने कहा कि अरे भलेमानष, यदि इसे बन्द कर दोगे तो जिन्दा रहोगे कैसे? तुम तो मर जाओगे। इससे तो मूत्रोत्सर्ग होता है और यह स्वास्थ्यके लिए जरूरी है। यदि नाकमें-से बलगम न निकले, आँखमें-से कीचड़ न निकले, शरीरमें-से पसीना न निकले तो शरीर कैसे स्वस्थ रहेगा? ये तो सहज कर्म हैं न! इनमें दोष नहीं है।

'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' ऐसा कोई कर्म नहीं है जिसमें दोष न हो। जब ब्राह्मण लोग हवन करते हैं तब क्या जौमें, तिलमें, चावलमें कीड़े नहीं होते हैं? क्या लकड़ीमें कीड़े नहीं होते हैं? आग जलती है तो उसमें हिंसा

नहीं होती है? क्षत्रिय लोग जब देशकी रक्षाके लिए युद्ध करते हैं तो क्या उसमें हिंसा नहीं होती है? वैश्य लोग जो गोरक्षा-वाणिज्य आदि करते हैं, अन्नादिको तौलते हैं, क्या उसमें हिंसा नहीं होती है? क्या फावड़ा चलानेमें हिंसा नहीं होती है? बाबा, इसके लिए मुँहपर पट्टी बाँधनेकी जरूरत नहीं है। ऐसा काम ही नहीं है, जिसमें दोष न हो और ऐसी कोई आग नहीं है, जिसमें धुआँ न हो। तब? इसलिए किसी भी कर्ममें और कर्मफलमें आसक्ति मत करो और कहीं भी कर्तृत्वका अभिमान मत करो। अन्तमें सब छोड़ना पड़ेगा। पहले कर्मका आरम्भ करो और फिर नैष्कर्म्यका अनुभव करो। यही पद्धति है इसकी। यदि कर्म नहीं करोगे तो **'सन्यासं तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः'**।

देखो, गीताका जो कर्मयोग है, वह संन्यासाविरोधेन कर्मयोग है, संन्याससमन्वित कर्मयोग है। संन्यासकी पूर्वावस्थाका नाम कर्मयोग है और कर्मयोगकी उत्तरावस्थाका नाम संन्यास है। कर्मयोग नहीं करोगे तो संन्यास नहीं मिलेगा। यदि कर्मका आरम्भ नहीं करोगे तो नैष्कर्म्यकी प्राप्ति ही नहीं होगी—**'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते'**। तो फिर कर्म कैसे करें? बोले—

असक्त-बुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥ (४९)

'असक्तबुद्धिः सर्वत्र'—एक बात यह है कि मनमें आसक्ति न हो—न देशमें, न कालमें और न वस्तुमें। हम इसी मकानमें रहेंगे, हमेशा यही ऋतु बनी रहे और हमेशा यही चीज खानेको मिले—यह सम्भव नहीं है। मनुष्य जितात्मा तब होगा, जब मन और इन्द्रियाँ वशमें होंगी। एक बात और है। कई लोग कहते हैं कि भाई, जो नहीं है, उसको हम नहीं चाहते हैं। हम इतना ही चाहते हैं कि जो हमारे पास है, वह बना रहेगा? अरे बाबा, तुम्हारे अपने जो बाल हैं, वे नहीं बने रहते हैं। ये कालेसे सफेद होकर झड़ जाते हैं। एक दिन कई स्त्रियाँ इकट्ठी होकर बोलीं कि आज हम भिन्न-भिन्न रंगकी साड़ियाँ पहनें। किस-किस रंगको पहनोगी? बोली कि आज अपने पतिके बालों जैसे रंगकी पहनेंगी। अब किसीने काली साड़ी पहनी, क्योंकि उसके पतिके बाल काले थे। किसीने सफेद पहनी, क्योंकि उसके पतिके बाल सफेद थे। किसीने भूरी पहनी क्योंकि महाराज, उसके पतिके बाल भूरे हो गये थे। अब एकने कहा कि मेरे पतिके सिरपर तो बाल ही नहीं हैं, अब मैं किस रंगकी साड़ी पहनूँ?

तो, आँख बनी रहे, कान बने रहें, मुँह बना रहे—यह चाहना व्यर्थ है, क्योंकि ये बने रहनेवाले नहीं हैं। जैसे सिरके बाल उड़ जाते हैं और गंजापन आजाता है,

वैसे ही इन्द्रियोंमें भी असमर्थता आजाती है। इसलिए ये बने रहेंगे—यह स्पृहा मत रखो।

अब देखो, भगवान्‌ने अबतक सिद्धि-संसिद्धिकी बात की है, अब नैष्कर्म्य-सिद्धिकी बात करते हैं।

यह नैष्कर्म्य-सिद्धि क्या है? असलमें सिद्धि जब अपनी परमावस्थामें पहुँचती है तो उसका नाम नैष्कर्म्य-सिद्धि होता है। वह कैसे मिलेगी? किस कर्मयोगसे मिलेगी? जब कर्मयोग द्वारा शुद्धान्त: करण हो जायेगा, जब जीवनमें अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व आ जायेगा, तब नैष्कर्म्य-सिद्धिकी प्राप्ति होगी। यह कर्मयोगको मानते हैं, किन्तु कर्मयोग पूर्वावस्था है और संन्यास उत्तरावस्था है। हम क्रम-समुच्चय मानते हैं और क्रम-समन्वय मानते हैं। इसलिए कर्मयोग करके पहले अन्त:करणको शुद्ध कर लो। वह सिद्धि है—ठीक है। परन्तु **नैष्कर्म्यसिद्धि**के साथ जो '**परमां**' लगा हुआ है, उसका अर्थ है *'यत् परो नास्ति'*—जिसके परे कुछ नहीं है। ऐसी नैष्कर्म्यसिद्धि है, जहाँ कर्त्ता, कर्म, कर्मफल, करणादिका बिलकुल संयोग नहीं रहता है। अच्छा महाराज, वह मिलेगी कैसे? भगवान् बोले कि '**संन्यासेनाधिगच्छति**।' यह नैष्कर्म्य सिद्धि जब मिल जाती है तब ब्रह्मज्ञान हो जाता है।

एक है कर्मयोग-जन्य सिद्धि, जो अन्त:करणकी है और दूसरी है ब्रह्मज्ञानके अव्यवहित पूर्व होनेवाली नैष्कर्म्य-सिद्धि। परमा नैष्कर्म्य-संसिद्धि ब्रह्मज्ञानके अव्यवहित पूर्व ही होती है।

देखो भाई, यदि आपको भागवत-धर्मका पालन करना हो तो आप एकनाथी गीता पढ़िये। वे ज्ञानके बाद भागवत-धर्म मानते हैं। यदि आपको योगके साथ ज्ञान जोड़ना हो तो ज्ञानेश्वरी टीका पढ़िये। ज्ञानेश्वरी टीका बहुत विलक्षण है। उसे पढ़कर आप श्लोक भूल जायेंगे। महात्मा गांधी अपनी टीकाको अनासक्ति योग कहते हैं और मधुसूदनजी बुद्धियोग बोलते हैं। यदि आपको राजनीतिमें काम करना हो तो गीता-प्रेसकी गीता बहुत अच्छी है। गोयन्दकाजी और तिलककी टीकाओंमें यही फर्क है कि गोयन्दकाजी साधनरूपसे कर्मयोग अनिवार्य मानते हैं और तिलक ज्ञान होनेके बाद कर्मयोगको अनिवार्य मानते हैं। यदि भक्ति करनी हो तो विश्वनाथ चक्रवर्ती, वल्लभाचार्य और पुरुषोत्तमजीकी टीका पढ़ो। शरणागति लेनी हो तो श्रीरामानुजाचार्यकी टीका पढ़ो। क्रियायोग लेना हो तो मध्वाचार्यजीकी टीका पढ़ो। सब टीकाएँ अपने-अपने स्थानपर ठीक हैं। लेकिन यदि इस बातको समझना हो

कि शुद्धान्तःकरण होनेपर एक परमा नैष्कर्म्य संसिद्धि होती है और फिर ब्रह्मज्ञान होता है, तब उसके लिए भगवान्‌के इन वचनोंपर ध्यान दो।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ (५०)

'समासेनैव कौन्तेय'—थोड़ेमें बताते हैं। वह क्या है? **'निष्ठा ज्ञानस्य या परा'**—यह ज्ञानकी परानिष्ठा है। पहले भगवान्‌ने नैष्कर्म्यको ही परम सिद्धि बताया था और अब **'निष्ठा ज्ञानस्य या परा'** कह दिया। तो यह ज्ञानकी परा निष्ठा कैसे प्राप्त होती है?

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ (५१)

इसका नाम ज्ञानकी परा निष्ठा है. *'ष्ठा गति निवृत्तौ'*। जहाँसे आना-जाना बिलकुल बन्द हो जाये, उसका नाम होता है **निष्ठा**। गति-निवृत्ति माने गमनागमन दोनोंकी निवृत्ति। न जन्मसे जन्मान्तरमें गमन, न नरकसे स्वर्गमें गमन, न स्वर्गसे नरकमें गमन और न मर्त्यलोकसे परलोकमें गमन। गमनागमनकी सर्वथा निवृत्ति। योगमें भी गति होती है। कहाँ? कि बाहरसे भीतर गति होती है। लोकसे लोकान्तरमें गति धर्ममें हैं, जन्मसे जन्मान्तरमें गति धर्ममें है, नरक-स्वर्गमें गति धर्माधर्म और उपासनामें इष्टदेव-पर्यन्त तो गति है, परन्तु वहाँ जो गति है, वह इष्टदेवके अनुग्रहसे है, कृपासे है। इसलिए पराधीनताकी निवृत्ति नहीं होती। जब इष्टदेव चाहेगा कि तुम जाओ या जब इष्टदेव चाहेगा कि हमारे पास चले आओ, तभी गति होगी। लेकिन दूसरेकी कृपासे जो मुक्ति मिली है, वह दूसरेकी कृपापर आलम्बित होनेके कारण उसमें बाधा पड़ सकती है। असलमें नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माका ब्रह्मत्वेन जो ज्ञान है, वही वास्तविक मुक्ति है।

'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः'—विशुद्ध बुद्धि चाहिए। विशुद्ध बुद्धि क्या है? वेदान्तका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके शुद्ध विषयक बुद्धि प्राप्त करनी चाहिए। ब्रह्मविषयक बुद्धि ही शुद्ध बुद्धि है। ब्रह्म निर्गुण है, निष्क्रिय है, निराकार है, निर्विकार है, निर्धर्मक है, निर्विशेष है। *'अप्राणोऽमनाः शभ्रः'*। *अप्राणः* माने निष्क्रिय है, *'अमनः'* निस्संकल्प है और *'शुभ्रः'* माने निर्माय है, मायारहित है। शुभ्रः तभी होगा जब माया नहीं होगी। इसलिए *'अप्राणोऽमनः शुद्धया'*, अर्थात् विशुद्ध ब्रह्मविषयक बुद्धि होनी चाहिए। ऐसी बुद्धि प्राप्त करो। लेकिन यह कैसे प्राप्त होगी? वेद पढ़नेसे काम नहीं चलेगा, सीधी बात है। तुमने विधिके अनुसार जो स्वाध्यायका अध्ययन किया है, उससे भी काम नहीं चलेगा। तब कैसे काम चलेगा? *'तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।'*

'समित्पाणिः'। यह द्वितीय विधि है, प्रथम नहीं है। तब? *श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः*—आत्मदर्शनके लिए यह पहली विधि है। कुछ श्रवण करो।

'धृत्यात्मानं नियम्य च'—धृतशक्ति द्वारा मन, प्राण, इन्द्रियोंको मारो मत, नियमित करो। **'नियम्य'** का अर्थ मारना नहीं है, नियमित करना है।

'शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा'—शब्दादि जो विषय हैं, उनका परित्याग कर दो।

'रागद्वेषौ व्युदस्य'—मनमें जो राग-द्वेष हैं, उनको निकाल दो।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ (५२)

'विविक्तसेवी'—एकान्त और पवित्र स्थानमें रहना चाहिए। विविक्तसेवी शब्दके दोनों अर्थ हैं। 'विविक्त' माने जहाँ दूसरा कोई न हो, और 'विविक्त' माने जहाँ अपवित्रतासे पृथक् जिसको कर लिया गया हो। *'विचिर् पृथग्भावे'* धातुसे विविक्त बना है।

'लघ्वाशी'—भोजन भारी नहीं करना चाहिए। लघ्वाशीका मतलब है कि जो पदार्थ सुपाच्य हो और मात्रामें हो माने जीवन-निर्वाहके लिए पर्याप्त हो। ऐसा भोजन करना चाहिए।

'यतवाक्कायमानसः'—यह नहीं कि बैठे हैं और शरीर हिला रहे हैं; बैठे हैं और चाहे जो कुछ बोलते जा रहे हैं अथवा मनसे ही चाहे जो कुछ मनोराज्य कर रहे हैं। **'यतवाक्कायमानसः'** का अर्थ है कि बोलनेमें भी कायदा होना चाहिए और उठने-बैठने तथा चलनेमें भी। यह कि बैठे हैं और पाँव हिलाते जा रहे हैं! झूम रहे हैं बैलकी तरह!

हमारे एक परिचित स्वामीजी हैं। अस्सी-पचासी वर्षके वृद्ध हैं वे। वे पहले दुर्गापाठ करते थे तो साथ-साथ झूमते थे। एकबार हमारे गुरुजीने उनसे कहा कि अरे, पाठ करते समय हिलना ठीक नहीं है। अब महाराज, उनसे पाठ ही न हो! तो फिर आये और बोले कि स्वामीजी, आपकी आज्ञा मानकर मैंने हिलना बन्द कर दिया, लेकिन पाठका मजा भी चला गया। गुरुजी बोले कि भाई, तुम हिलकर पाठका मजा लो! हम तुम्हें मना नहीं करते हैं।

यह आ-आ-का मजा दूसरा होता है! संगीतका आनन्द दूसरा है! उसमें लय होता है और सुन्दर-सुन्दर पदोंका विन्यास—जनरंजन-मंजन-खंजनका मजा दूसरा है। तर्कयुक्तिका मजा दूसरा है और पदार्थको ज्यों-का-त्यों समझ लेना—उसका मजा दूसरा है। इसमें जुबान भी ज्यादा हिलानी नहीं, शरीर भी हिलाना नहीं, मनको भी हिलाना नहीं!

'ध्यानयोगपरो नित्यम्' इसमें 'नित्यं' सबके साथ है। ध्यानयोगका ही आश्रय लो। छठें अध्यायमें ध्यानयोगकी जो पद्धति बतायी गयी है, वह अपनानी चाहिए।

'वैराग्यं समुपाश्रितः'—सहारा लो वैराग्यका। वैराग्य माने घृणा नहीं, ग्लानि नहीं, द्वेष नहीं। वैराग्य माने रागास्पद और द्वेषास्पद—दोनोंके प्रति उदासीनता, अन्यथा राग-द्वेषाकार वृत्ति हो जायेगी; शत्रु-आकार वृत्ति हो जायेगी, मित्राकार-वृत्ति हो जायेगी। यहाँ उदासीनता मात्र ही वैराग्यका अर्थ है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ (५३)

अहंकार अस्मिताको बढ़ाता है और बल कर्मकी प्रेरणा देता है। दर्पसे दूसरोंका तिरस्कार होता है। कामसे अपनेमें कंगाली आती है—कि यह चीज हमें नहीं मिली है, मिलनी चाहिए। क्रोधसे दिलमें आग जलती है और परिग्रह भगवान्‌से विमुख कर देता है।

स्वामी शुकदेवानन्दजी बताते थे कि एकबार वे लोग कहीं गये जंगलमें, तो वहाँ रातको खानेके लिए उनके पास कुछ था नहीं। भूख लगी तो उनके मनमें आया कि चलें गाँवमें कुछ ले आयें। एक साधुके पास एक इकन्नी थी। वह बार-बार गाँवमें जाये और उसके मनमें आये कि सब लोग यहाँ रातको नहीं खाते हैं, तो हम काहेको खायें। और फिर लौट आये। फिर आये—कि जायें, इकन्नी तो है, चना लेकर खा लेंगे, भूखे क्यों मरें! तो वह बार-बार जाये और बार-बार लौटे। स्वामीजी ने इसे भाँप लिया और उसकी इकन्नी गंगामें फिकवा दिया। अन्तमें उसने जब उस इकन्नीको गंगाजीमें फेंक दिया, तब बैठकर रात भर भजन किया स्वामीजीके मुँहसे ही मैंने यह बात सुनी थी। तो देखो परिग्रहका परिणाम!

एक विरक्त सज्जन लखनऊमें रहते थे। वे विरक्त होकर वृन्दावनके हमारे आश्रममें आये। चार कहार बहँगी लादे-लादे उनके पीछे आये। बहँगी माने जिसमें दोनों ओर सामान बँधा होता है। मैंने पूछा कि यह क्या है? बोले कि यह थोड़ा-सा-सामान ले आया हूँ। मैंने कहा कि किसलिए लाये हो? कि यह तो महाराज, बहुत आवश्यक है। इसके बिना तो हमारा काम चल ही नहीं सकता। वैराग्य होनेपर वे संन्यासी होनेके लिए आये थे! तो चार बहँगी माने आठ भार सामान लेकर तब वे वैराग्य करने आये थे! तो महाराज, परिग्रह भगवान्‌में मन नहीं लगाने देता।

हमारे श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज एक प्रसंग सुनाते थे कि ऋषिकेशमें पहले एक महात्मा रहते थे। ये सब क्षेत्र आदि तो तब थे नहीं; यह तो महाराज, सब

बादकी महिमा है, यह तो विरक्तोंका चमत्कार है, सिद्धि है! विरक्तोंका वैभव है! इतने-इतने लाखों रुपयोंके क्षेत्र बन गये! उस समय वे महात्मा पेड़के नीचे रहते थे। एक सेठ आया और उसने पच्चीस रुपये उनके पास रख दिये कि महाराज, आपको देते हैं। उन्होंने सोचा कि मैं बुलाने नहीं गया, माँगा नहीं, कोई इच्छा नहीं प्रकट की। तब भी रख गया। कौन इससे बात करे कि तुम ये रुपये उटाकर ले जाओ। सो शान्तिसे बैठे रहे। महाराज, जब वह चला गया तो महात्माके मनमें आया कि ये रुपये हैं; काम तो आ सकते हैं। किसी गरीबको दे दें। फिर सोंचा, आजकल क्या पता लगे कि कौन गरीब है, कौन नहीं है। तो किसीको कपड़ा दे दें। फिर मनमें आया कि कपड़ा देनेसे क्या होगा, एक ही दिनमें साधुओंका भण्डारा कर दें। फिर सोचा कि नहीं, किसी रोगीको दवाई चाहिए तो वह ले ले। अब वे पच्चीस सामने रखे हुए और पच्चीस संकल्प महात्माजीके मनमें आये। तब तो वे घबराये हुए अपने गुरुजीके पास गये, बोले कि महाराज, हम तो बड़ी शान्तिसे बैठे थे, यह क्या उपद्रव हुआ? गुरुजी बोले कि बेटा, छूना मत इन रुपयोंको। इनके ऊपर गोबर डालो और गोबर डालकर, हाथ न लगे इन्हें—इसका ध्यान रखते हुए इन रुपयोंको जाकर गंगाजीमें फेंक दो। तब देखो, तुम्हारे चित्तको शान्ति होगी। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने हमें सुनाया था।

तो यह परिग्रह जो है, ब्रह्मचिन्तनसे बिल्कुल विमुख कर देता है। इसीलिए भगवान् परिग्रहको छोड़नेका आदेश देते हैं।

'विमुच्य निर्ममः शान्तः'—छोड़ दो अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह! किसीसे भी ममता मत करो। देहादिसे भी ममता मत करो। शान्त हो जाओ। फिर क्या होगा?

'ब्रह्मभूयाय कल्पते'—तुम्हें ब्रह्मात्मैक्य-बोधकी योग्यता प्राप्त हो जायेगी। *'ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभवनाय कल्पते योग्यो भवति।'* ऐसा जो पुरुष है, वह ब्रह्म होनेके योग्य हो जाता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ (५४)

'ब्रह्मभूतः'—जो ब्रह्मात्मैक्य-बोधके योग्य हो गया माने जिसको त्वं-पदार्थ बिल्कुल शुद्ध हो गया, उसीका नाम यहाँ **'ब्रह्मभूतः'** है, क्योंकि यहाँ त्वंपदार्थका ही वर्णन है।

'प्रसन्नात्मा'—जो ब्रह्मभूत हो गया, उसका अन्तःकरण निर्मल हो गया।

'न शोचति न काङ्क्षति'-शोक और इच्छा निकल गयी उसके हृदयसे और वह सबके प्रति समानताका बर्ताव करने लगा। यह सर्टीफिकेट है—त्वं पदार्थ शुद्ध होनेका।

अब भगवान् तत्-पदार्थका शोधन प्रारम्भ करते हैं। लोग कहते हैं कि यदि हम तत्-पदार्थका शोधन नहीं करेंगे तो क्या होगा? हम कहते हैं कि हमने तुम्हें कहा कि तुम परिच्छिन्न हो। तो तुम क्या समझोगे? अपरिच्छिन्न पदका अर्थ तुम्हें पहलेसे मालूम है कि नहीं है? यदि पहलेसे मालूम है कि जो देश, काल, वस्तुसे परिच्छिन्न न हो और सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे शून्य हो तो उसीको अपरिच्छिन्न कहते हैं। यदि यह तुम्हें पहले-से मालूम है, तब पहले तत्पदार्थका साधन हो गया है और मैंने कहा कि तुम अपरिच्छिन्न हो तो महावाक्यका बोध हो जायेगा। और यदि अपरिच्छिन्न शब्दका अर्थ ही आपको नहीं मालूम है, तब आपको हम मोहन कह दें, सोहन कह दें या एक अज्ञात पदार्थवाली वस्तु आपको बताते हैं तो क्या अनुभव होगा? तो पहले ब्रह्मता ज्ञात होगी कि ब्रह्मता क्या होती है? फिर जब हम कहेंगे कि तत्वमसि माने वह ब्रह्म तुम हो, तब अपने ब्रह्मत्वका बोध होगा। इसीको कहते हैं अपरिच्छिन्नता, अद्वितीयता, ब्रह्मता। तुम्हें ज्ञात है कि नहीं कि ब्रह्मता कैसी होती है? भले ही परोक्ष रूपसे ज्ञात है, परन्तु उसका अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिए।

देखो, अधिष्ठान चेतनका नाम तत्पदार्थ है और द्रष्टा चेतनका नाम त्वं-पदार्थ है। दोनों देश, काल, वस्तुसे असंस्पृष्ठ हैं। इसलिए दोनोंका लक्षण एक है, लक्ष्य एक है। तत्पदार्थ भी सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे रहित है और त्वं-पदार्थ भी सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे रहित है।

देखो, हमसे अलग रहकर ब्रह्म बेहोश हो जाता है, चेतन नहीं हो सकता। अगर ब्रह्म हमसे एक नहीं है तो वह चेतन होगा ही नहीं, कल्पित होगा। परोक्ष होगा तो कल्पित होगा और दृश्य होगा तो जड़ होगा। हमसे भिन्न रहकर ब्रह्म परोक्ष होगा तो सत्ता-लाभ नहीं करेगा और दृश्य होगा तो जड़ होगा। और हम ब्रह्मसे भिन्न होंगे, तो? तो हम परिच्छिन्न होंगे, टुकड़े-टुकड़े कट करके छटपटाते रहेंगे तबतक, जबतक ब्रह्मसे हम अभिन्न नहीं होंगे। इसीलिए वेदान्तकी सार्थकता ही इसीमें है कि ब्रह्मको कल्पित अथवा जड़ न रहने दें और आत्माको परिच्छिन्न न रहने दें। ब्रह्मकी जड़ता और कल्पितता मिटानेके लिए और आत्माकी परिच्छिन्नता मिटानेके लिए वेदान्तावतार है, वेदान्तका अवतार है। यह 'वेदान्तावतार' एक ग्रन्थका नाम है। यह ग्रन्थ बौद्धोंसे भी पुराना है। जब बौद्ध लोग पैदा ही नहीं हुए

थे, उस समयका यह ग्रन्थ है। संस्कृतमें तो यह मिलता नहीं है; बौद्धोंने खण्डन करनेके लिए पाली भाषामें उसका अनुवाद किया था। बादमें जब वह उनकी भाषामें मिला, तब संस्कृतके पण्डितोंने फिरसे उसके आधारपर संस्कृतमें उसको रूपान्तरित किया। उसमें वेदान्तका वर्णन है।

'मद्भक्तिं लभते पराम्'-*तत्-पदार्थ-भक्तिम्। परां तत्पदार्थ-भक्तिं लभते। द्वैतरहितम्।* "**परां**" माने मद्भक्ति परा कोटिकी जो भक्ति है—ईश्वर-भक्ति, परमात्मा-भक्ति या तत्पदार्थकी भक्ति—यह प्राप्त होती है।

अच्छा, इस भक्तिसे क्या होता है? अभी तो काम पूरा नहीं हुआ, क्योंकि भक्ति परमावधि नहीं है। इसलिए भगवान् कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ (५५)

'भक्त्या मामभिजानाति'—भक्तिसे परमात्माका अभिज्ञान होता है। अभिज्ञान माने पहचान। पहचान माने पहलेसे मौजूद चीजको पहचानना; इसे अभिज्ञान कहते हैं। अब भक्तिसे हुआ परमात्माका अभिज्ञान। कैसा अभिज्ञान हुआ? कि **यावान्**। **'यावान्'** माने देशमें कितनी लम्बाई-चौड़ाई और कालमें कितनी उम्र और वस्तुमें कितना वजन? माने कालकी उम्रसे, देशकी लम्बाई-चौड़ाईसे और वस्तुके भारसे विनिर्मूल। और **'यश्च अस्मि तत्त्वतः'**—मेरा क्या स्वरूप है। क्या जानोगे? कि **'तदनन्तरं स्वयं तत्त्वतो भूत्वा।** *तदनन्तरं तत्त्वतो मां ज्ञात्वा ततः सन् व्याप्तः सन् अभेदेन विशते*'। 'ततः' का अर्थ तदनन्तरम् नहीं हो सकता यहाँ। क्यों नहीं होना चाहिए? कि *'विशते तदनन्तरम्'*; श्लोकमें ही **'तदनन्तरम्'** शब्द पड़ता है। फिर **'ततः'** का अर्थ *तदनन्तरम्* कैसे होगा? तब इसका अर्थ होता है—**ततः** माने *अभेदेन व्याप्तः*। जब जान लेता है कि परमात्मा देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है और प्रतक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म है, तो यह ज्ञानमात्र होते ही, **'तत्त्वतो ज्ञात्वा'**— जहाँ तत्त्वरूपसे परमात्माको जाना—कि स्वयं परमात्मा हो जाता है और मुझसे उसका अभेद हो जाता है।

देखो, अब इसमें क्या है? '**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति**'—यहाँतक तो त्वं पदार्थका वर्णन है और '**शोचति न काङ्क्षति समः सर्वेषु भूतेषु**' तथा '**मद्भक्तिं लभते पराम्**' **भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः**—यहाँतक तत्पदार्थका वर्णन है। फिर '**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्**' यह '**असि**'—पदार्थका वर्णन है। इसलिए अट्ठारहवें अध्यायमें यह महावाक्यका वर्णन है।

पहले अहं-पदार्थका वर्णन है—'**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा**'। फिर ब्रह्म-पदार्थका वर्णन है—'**मद्भक्तिं लभते पराम् तत्त्वतः**'। और उसके बाद '**विशते तदनन्तरम्**' तथा *'विशते यथा न परा वर्तते'* माने ऐसा एक होता है, जिसके बाद परावृत्ति नहीं होती। यह इसका महावाक्य है।

अब लो भाई, कहाँ तो वर्णन करते-करते कह रहे थे कि कर्मयोग करो, निष्काम भावसे, कर्तृत्व छोड़कर कर्तव्यका पालन करो और कहाँ ब्रह्मप्राप्तिका यह वर्णन कर दिया कि '**नैष्कर्म्य-सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति**'। अर्जुनने कहा कि वाह-वाह-वाह! अन्तमें मानना पड़ा न सत्यको कि बिना संन्यासके परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। क्यों दोस्त, बोलो? श्रीकृष्ण बोले कि हाँ भाई, संन्यासका उत्कर्ष तो हम स्वीकार करते ही हैं, लेकिन इस ज्ञानकी भी ऐसी महिमा है कि—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ (५६)

'**सर्वकर्माणि सदा कुर्वाणः अपि। किं पुनः संन्यस्यम्**'। '**अपि**' का क्या अर्थ होगा? यदि सर्वकार्यसंन्यास कर दें, तब तो कहना ही क्या! अरे अर्जुन, हम तो तुम्हें वह राजगुह्य राजविद्या बता रहे हैं कि सारे कर्मोंको करते हुए भी शाश्वत अव्यय पदकी प्राप्ति हो सकती है। अर्जुन बोले कि अभी तो तुमने यह कहा कि '**नैष्कर्म्य-सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति**'। इसमें तो '**अपि**' लगाया ही नहीं। इसका क्या अर्थ हुआ? यही न कि लोग संन्यास-विरुद्ध कर्मयोगकी कल्पना करते हैं, उनका सिद्धान्त गीताके अनुसार नहीं है; गीतामें तो संन्यासानुकूल कर्मयोग ही है—माने पूर्वावस्थामें कर्मयोग है और उत्तरावस्थामें नैष्कर्म्यसिद्धि, संन्यास है। तो बोले कि हाँ अर्जुन, इसमें तो तुम्हारा जोर नहीं है कि तुम सब कर्म करते भी जाओ और शाश्वत अव्यय पदको भी प्राप्त कर लो। लेकिन अब हम तुम्हें असली युक्ति बताते हैं। वह क्या है? '**मद्व्यपाश्रयः मत्प्रसादात् अवाप्नोति**'। हमारा आश्रय ग्रहण करो और हमारे प्रसादको स्वीकार करो, तब शाश्वत अव्यय पदकी प्राप्ति होगी।

देखो, आत्मा और परमात्मा—ये शब्द तो दो हैं, परन्तु इनका अर्थ एक है। उपाधिके भेदसे घटाकाश मठाकाश हैं। लेकिन घट-मठ निरपेक्ष जो आकाश है, वह एक ही है। आभासवादी लोग कार्य-कारण उपाधिकी प्रक्रिया लेकर ही ईश्वरकी एकताका त्वं पदार्थ, तत्पदार्थकी एकताका निरूपण करते हैं। कार्योपाधि जीव है, कारणोपाधि ईश्वर है और उपाधिकी विवक्षा नहीं होनेपर जीव-चैतन्य तथा ईश्वर-चैतन्य एक ही है। उपाधि यदि विवक्षित न हो तो जीव ही ब्रह्म है।

अवच्छेदवादी कहते हैं कि अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य जीव है, प्रमाता और अन्त:करण समभावावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है तथा जहाँ 'अवच्छेद्य-अवच्छेदक' भाव नहीं है, वहाँ जीव-ईश्वर एक हैं।

यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने जो यह कहा कि '**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्। मां ज्ञात्वा ततः सन् विशते**' अर्थात् भगवान् कहते हैं कि मुझको जानते ही स्वयं सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा हो जाता है और मुझसे उसका भेद नहीं रहता। इस स्थितिमें कर्ता-कर्म-करण-कर्मफलभेदका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कहते हैं कि किसी भी सिद्धान्तकी दृष्टिसे देख लो प्रकृति कर्म करती है, तो भी आत्मा कर्म नहीं करता है; मायासे ही मानता है कि मैं कर्म करता हूँ। गुण करते हैं तो भी, इन्द्रियाँ करती हैं तो भी, पाँच जने मिलकर करते हैं तो भी, अहंकारसे होता है तो भी, स्वभावसे होता है तो भी और ईश्वर करवाता है तो भी। इसलिए स्वरूपके अज्ञानके कारण ही यह कर्मका सम्बन्ध अपनेमें मालूम पड़ता है कि ये कर्म मेरे है, मैं कर्मोंका कर्ता हूँ और ये कर्म सत्य हैं तो सत्यफलके दाता हैं।

अब भगवान् दूसरी प्रक्रियासे भी बताते हैं। कहते है कि यह जो तुम अपनेको कर्मी-कर्ता और कर्मफल-भोक्ता मानते हो, यह तुम्हारा मानना भ्रम-मूलक ही है। इसलिए '**मद्व्यपाश्रयः मदुपजीवनः**' अपने जीवनको मेरे जीवनसे अलग मत रखो।

'*अहं वासुदेवः ईश्वरो व्यपाश्रयो यस्य स मद्व्यपाश्रयः। मय्यर्पित-सर्वात्म-भावः इत्यर्थः*'। यह शांकर भाष्य है। अर्थ है कि अपना सर्वस्व मुझमें अर्पित कर दो। जो ईश्वरकी सत्ता है, वही हमारी सत्ता है; जो उसका ज्ञान है वही हमारा ज्ञान है; जो उसकी इच्छा है वही हमारी इच्छा है और जो उसका कर्म है वही हमारा कर्म है। इससे अलग हमारी कोई डेढ़ चावलकी खिचड़ी पकती है—यह ख्याल बिलकुल छोड़ दो।

तो क्या कर्म भी छोड़ दें? नहीं, कर्म करो—'*मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं नित्यं वैष्णवं पदं अव्ययम्*' क्योंकि वह जब मुझसे एक हो जाता है तो मैं उससे कोई कपट नहीं करता, छल नहीं करता; निर्मल भावसे उससे एक हो जाता हूँ। इसलिए भले वह सारे कर्म करे; परन्तु मेरी निर्मलता, मेरा प्रसाद उसे शाश्वत अव्यय पदकी प्राप्ति करा देता है।

'*सर्वकर्माण्यपि प्रतिसिद्धान्यपि सदा कुर्वाणः*' इसका अर्थ करते हुए आचार्य शंकरने ऐसा कहा है। कोई छोटा-मोटा आदमी अगर बोले तो हम ना कर दें, परन्तु हमारे आचार्य जो बोलते हैं, उसे तो हम बिल्कुल ब्रह्मवाक्य मानते हैं। वे कहते

हैं—'अपि'का अर्थ यह होता है कि फिर यदि विहित कर्म करे, फिर तो कहना ही क्या? यह इसका अभिप्राय होता है कि विहित कर्ममें भी काम्यका परित्याग कर दे; केवल नित्यकर्म ही करे तब तो कहना ही क्या?

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ (५७)

भगवान् कहते हैं कि देखो भाई, '**चेतसा**' माने जरा चेत जाओ; सावधान रहकर बुद्धिसे, ज्ञानसे सारे कर्मोंका मुझमें संन्यास कर दो। *'वासुदेव एव कर्ता।'* *'वासुदेव एव कारयिता'*। *'वासुदेव एव कर्मत्वेन प्रतीयमानः।'* *'वासुदेव एव कर्मफलत्वेन परिणममानः'*—वासुदेव ही कर्ता हैं, वासुदेव ही भोक्ता हैं, वासुदेव ही कर्मरूपसे मालूम पड़ते हैं और वासुदेव ही सर्वफलके रूपमें प्रतीत होते हैं; इसलिए सब कर्म उनके अन्दर डाल दो और '**मत्परः**' माने '**वासुदेव एव परमं तत्त्वम्।**' वासुदेव ही परम तत्त्व हैं—इस निश्चयमें दृढ़ हो जाओ।

'**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव**'—बुद्धियोगका आश्रय लेकर अपने चित्तको सदा मुझमें लगा दो। समझदारी है यह। हम दुनियाँ भरके सब धर्मोंको इस बातकी चुनौती दे सकते हैं कि समझदारीका इतना आदर और किसी धर्ममें नहीं है। कोई तो कहते हैं कि विश्वास करो, श्रद्धा करो; कोई कहते हैं कि मरनेके बाद ही इसका फल मिलेगा, कोई कहते हैं कि बुद्धिवृत्तिको तो बिल्कुल निरुद्ध ही कर लो और कोई कहते हैं कि इसको मार ही डालो। अरे बाबा, यह जीवन तो बुद्धिसे ही चलता है। बुद्धियोगके बिना न त्यागका जीवन चलेगा और न ग्रहणका जीवन चलेगा।

अब यहाँ थोड़ी-सी बात जो दुहराके कही गयी है, उसपर भी ध्यान दें। पहले कहा था कि आप '**मच्चित्तः**' हो जाओ तो मैं बुद्धियोग दूँगा—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

जो अपने चित्तको मुझमें लगा लेंगे, उन्हें मैं बुद्धियोग दूँगा। लेकिन यहाँ देखो, भगवान् दूसरी बात कहते हैं।

'**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव**'—बुद्धियोगका आश्रय लेकर '**मच्चित्तः**'—सर्वदा मच्चित्त हो जाओ। वहाँ मच्चित्तता बुद्धियोगका साधन है और यहाँ बुद्धियोग मच्चित्तताका साधन है। यहाँ कहा कि बुद्धियोग होगा तो भगवान्में

चित्त लग जायेगा और वहाँ कहा है कि भगवान्‌में मन-बुद्धि लगाओगे तो बुद्धियोगकी प्राप्ति हो जायेगी।

असलमें *'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'*—जब भगवान् श्रीकृष्ण सारथि बनकर आये हैं तो बुद्धिका तिरस्कार कर ही नहीं सकते। पतञ्जलि बनकर आते तो कहते कि बुद्धिका निरोध कर लो, गौतम बनकर आते तो कहते कि बुद्धि तो गुण है और कपिल बनकर आते तो कहते कि बुद्धि तो प्रकृतिका एक विकार है। लेकिन वे स्वयं सारथि बनकर आये हैं, इसलिए कहते हैं कि यहाँ तुम्हारा सारा काम अक्लमन्दीसे बनेगा। है कोई ऐसा धर्म, जो बुद्धिका इतना प्रबल समर्थक हो?

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ (५८)

इसलिए भाई, तुम्हारे जीवनमें चाहे कितनी ही कठिनाई हो और कठिनाई तो रोज-रोज आती ही रहती है—**'दुर्गम'** माने कठिनाई—तो कैसा भी दुर्गम तुम्हारे जीवनमें आवे, अपने मन-बुद्धि-चित्तको मुझमें लगा दो और मैं निर्मल होकर तुम्हारी आत्माके रूपमें प्रकट हो जाऊँगा—**'मत्प्रसादात्। मत्प्रसादात्तरिष्यसि'**—बस, कठिनाई पार करनेका एक ही उपाय है कि अपने मन और बुद्धिको भगवान्‌में लगा दो। भगवान् प्रसन्न हो जायेंगे।

प्रसन्न कब समझना चाहिए भगवान्‌को? जब कोई माया हमारे और भगवान्‌के बीचमें न रहे। जबतक भगवान् माया करते हैं तबतक समझना कि प्रसन्न नहीं हैं। जब वे यह जादूका खेल हमारे और अपने बीचमें-से हटा लें, तब समझना कि भगवान् प्रसन्न हैं। हम भी तो जिसपर प्रसन्न होते हैं, उसके साथ कोई माया, छल-कपट बिलकुल नहीं करते हैं।

'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'—यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको धमका दिया कि बड़े प्रज्ञावादी बने हो! अर्जुन प्रज्ञावादी हो गया न! अरे भाई, प्रज्ञावादी मत बनो, प्रज्ञाजीवी मत बनो, प्रज्ञायोगी बनो। यदि तुम मेरी बात नहीं मानोगे और अहंकार करोगे कि हम भी बड़े विद्वान् हैं, बड़े बुद्धिमान् हैं, *'पण्डितोऽहम्'*-तो यह पाण्डित्य कभी-कभी ईश्वरका भी निरस्कार कर देता है। सत्यका भी तिरस्कार कर देता है।

हमने एक पण्डितको देखा है कि जब वह न्यायसे शास्त्रार्थ करता है तो मीमांसाका खण्डन करता है और जब मीमांसा-पक्षसे शास्त्रार्थ करता है तो न्याय-वैशेषिकका खण्डन करता है। हमने पूछा कि पण्डितजी, असलमें आप किस पक्षके हैं? तो बोले कि हम तो शास्त्र-परम्पराकी रक्षा करते हैं, हम किसी पक्ष-

विपक्षमें नहीं हैं। उनका कोई अपना अनुभव नहीं है। बस, इतना ही है कि *'पण्डितोऽहम्'*— मैं तो पण्डित हूँ। बड़ा भारी पण्डित हूँ।

आपको एक और घटना सुनाते हैं। रतनगढ़में एक स्वामीजी आये थे। वे बड़े भारी पण्डित थे। जब व्याख्यानका समय आया तो उन्होंने मेरे कानमें मुँह लगाकर पूछा कि यहाँ ईश्वरका खण्डन करना उचित रहेगा कि ईश्वर-मण्डन करना उचित रहेगा? मैंने कहा कि स्वामीजी, कृपा करके यहाँकी श्रद्धालु जनतामें ईश्वरका मण्डन ही कीजिये, खण्डन मत कीजिये।

तो इन विद्वानोंका पाण्डित्य खण्डनमें भी पटु है और मण्डनमें भी पटु है। तो यहाँ अहंकार है। भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, यदि तुम **'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'**— अहंकारवश इस सिद्धान्तको नहीं सुनोगे तो तुम्हारा विनाश हो जायेगा। देखो, भगवान् जहाँ **'न मे भक्तः प्रणश्यति'** बोल रहे हैं, वहाँ कहते हैं कि **'अहंकारात्'** अर्थात् *'बुद्धिभ्रंश-लक्षणात्'*—अहंकार माने बुद्धिकी भ्रष्टता। जब बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी तब **'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'** इसलिए अहंकारवश नहीं सुनोगे तो **'विनङ्क्ष्यसि'**—विनष्ट हो जाओगे।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ (५९)

'यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे'—भगवान् कहते हैं कि भगवत्-शरणागति होकर माने भगवत्तत्त्व-ज्ञानसे अहंकारका निवारण करो और भगवान्में चित्त लगाकर, बुद्धि लगाकर—बुद्धियोग-हर जगह है—अहंकारका विनाश करो। यदि इस अहंकारको लेकर तुम कहोगे कि *'स्वतन्त्रोऽहम्'*—मैं स्वतन्त्र हूँ, क्यों तुम्हारे लिए कोई काम करूँ? हम दूसरोंकी सलाह माननेवाले नहीं हैं; जो मौजमें आयेगा, हम सो करेंगे—तो क्या होगा?

एक ओर बोलता है कि **'शिष्यस्तेऽहम्'**—मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। **'शाधि माम्'**—मुझे शिक्षा दो। **'त्वां प्रपन्नम्'**—मैं तुम्हारी शरणमें हूँ; और दूसरी ओर बोलते हैं कि **'न योत्स्य इति।'** अरे जब तुम्हें अपने ही निश्चयको कार्यान्वित करना है तो हमसे पूछने काहेको आते हो? विचारका परिग्रह भी नहीं करना चाहिए। तो अहंकारका आश्रय लेकर तुम कहते हो कि मैं नहीं लड़ूँगा, तो मेरे प्यारे अर्जुन, तुम्हारा यह व्यवसाय, तुम्हारा यह निश्चय मिथ्या है—**'मिथ्यैष व्यवसायस्ते।'**

यहाँ मिथ्या शब्दपर ध्यान दो। भगवान्का आशय यह है कि तुम्हारा निश्चय तो है, परन्तु प्रयोजन-शून्य होनेके कारण मिथ्या है। कुछ प्रतिषेधसे मिथ्या होता है, कुछ अधिकार-निवृत्तिमे मिथ्या होता है और कुछ प्रयोजन-पूर्तिसे मिथ्या होता है।

यह जो तुम्हारा व्यवसाय है, निरर्थक है बिलकुल। अर्थशून्य होनेसे मिथ्या है। क्यों? बोले कि मैं जानता हूँ, क्षत्रियकी प्रवृत्ति तुम्हारे भीतर है।

आपको पहले बता चुका हूँ कि अध्ययन, यजन, दान, अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह—ये जो ब्राह्मणके छह धर्म हैं, उनमें-से तीन हैं अन्तःकरण-शुद्ध्यर्थ और तीन हैं जीविकार्थ। ये छहों ब्राह्मणके धर्म हैं। फिर जो नौ धर्म ब्राह्मणके बताये गये, वे उसके स्वभावज धर्म बताये गये। '**तपो दमः शौचं**'—ये विधेय नहीं हैं ब्राह्मणके लिए, ब्राह्मणके स्वभाव हैं। इसी तरह क्षत्रियके लिए भी कहा गया कि '**शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।**'

याके समुहे दुश्मन बैठे, ताके जीवनको धिक्कार।

किसीने क्षत्रियको ललकार दिया तो वह लड़ेगा और एकके बदले दोको मारेगा। यह क्षत्रिय-प्रकृति है, मैं इसे जानता हूँ। अर्जुन, तुम्हारे लिए विधान नहीं है, यह तुम्हारी प्रकृतिका अनुवाद है। इसलिए '**प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति**'—तुम्हारी जन्म-जन्मार्जिता जो प्रकृतिसे तुम्हारा क्षत्रिय जन्म हुआ है, वह तुम्हें नियुक्त कर रही है कि तुम्हें लड़ना पड़ेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ (६०)

एक साधु थे। वे हमारे गाँवके पास—हमारी जन्मभूमि गंगाजीके पास ही है—निकले! हमलोगोंको मालूम हुआ कि महात्माजी पैदल चलते हैं और हाथपर लेकर खाते हैं। कोई पात्र-कमण्डलु आदि नहीं रखते हैं। बड़े भारी विरक्त हैं। तो उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धा थी। एक दिन हम उनके दर्शन करने चले। रास्तेमें हमारे मामा मिल गये। हमारे मामा बड़े मोटे थे, उम्रमें बड़े थे, सत्तर बरसके होंगे—तगड़े खूब! बोले कि कहाँ जाते हो? हमने कहा कि महाराज, महात्माजी आये हैं, उनका दर्शन करने जा रहे हैं। मामा बोले कि कैसा महात्मा है? कि पैदल चलता है। वे बोले कि देखना, यह एक दिन मोटरपर चलेगा, हवाई जहाजपर चलेगा—हम बता रहे हैं तुम्हें। हमने फिर कहा कि वे हाथपर खाते हैं। मामा बोले—बादमें सोनेके बर्तनमें खायेगा। तुम सुन लो यह भविष्यवाणी। जाओ तुमलोग दर्शन कर आओ, बेटा! अभी तुमलोगोंको दुनियाँका पता नहीं है। हम जानते हैं। संसारकी रज-रजसे हम वाकिफ हैं।

'**कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्**'—इसी तरह गुर शिष्यकी प्रकृतिको जानता है, उसके जन्म-जन्मान्तरको जानता है, उसकी साधनाको जानता है। उसका आगे क्या होगा—यह भी उसे पता है।

मनुष्यका जो वर्तमान मन है, वह बता देता है कि यह कहाँ-कहाँसे होकर आया है। यदि धरतीमें-कीचड़में लोटनेकी किसीको बहुत आदत हो और उसीमें उसे मजा आता हो तो समझना पड़ेगा कि वह पूर्वजन्ममें घोड़ा था या गधा था या सूअर था या भैंस था। कीचड़में लोटनेकी आदत जो पहले पड़ी थी, वह अभी छूटी नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः॥ (४.२९.६६)

मनुष्यका मन देखकर उसके भूतकालका पता चल जाता है। आगे क्या होगा—यह भी पता चल जाता है। वह क्या देखना पसन्द करता है और क्या करना पसन्द करता है—इसके आधारपर उसका भविष्य भी जाना जा सकता है। यदि वह जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख पानेवाला होगा तो उसका मन निर्वासन होगा और मनकी निर्वासनताको देखकर ही पता चल जाता है कि वह जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख अनुभव करेगा।

ये जो गुरुओंके गुरु भगवान् श्रीकृष्ण हैं—'*कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्*'—सब गुरुओंके हृदयमें परम गुरु बैठे हैं। बोले—'*कौन्तेय स्वभावजेन स्वेन कर्मणा निबद्धः*' अर्जुन, तुम्हारी पूर्व-पूर्व प्रकृतिसे आगे जो कर्म आनेवाले हैं, उनसे तुम बँधे हुए हो।

'**कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्**'—अभी जो तुम कहते हो कि हम इनको नहीं मारेंगे, यह नहीं करेंगे, यह बाण इनपर नहीं छोड़ेंगे—यह तुम्हारा मोह है बच्चू! अगर आकर सामनेसे कर्ण ललकार दे और दुर्योधन चार गाली देने लगे, तो अभी तुम्हारे भीतर जो छिपा है क्षत्रियत्व, वह बाहर निकल पड़ेगा। उसको मैं देख रहा हूँ, तुम्हें वह नहीं दिखता है। तुम्हे मजबूर होकर युद्ध करना पड़ेगा। हम जानते हैं कि जबतक उधरके—प्रतिपक्षके लोग चुप हैं, तबतक तुम चुप हो। जब उधरसे गाली आयेगी और लोग कहेंगे कि यह नपुंसक हमारे सामने खड़ा है—अरे यह तो औरतके वेषमें रह चुका है, क्या लड़ेगा—उस समय तुम कहोगे कि अच्छा, देखो हमारा पौरुष। वह जो तुम्हारे भीतर छिपा है, वह मजबूर होकर बाहर निकलेगा।

एक सज्जन थे। वे श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके पास आये और बोले कि मैं तो आपके ही पास रहूँगा, आपके साथ ही चलूँगा। इसी बीचमें उनकी पत्नी आगयी और उसने तो उड़ियाबाबाजीका फेंटा ही पकड़ लिया। बोली कि सब महात्मा आते हैं तो सौभाग्यका वरदान ही देकर जाते हैं और तुम आये हो तो हमें विधवा

बनाकर जाओगे? अब बाबाको तो उधर भी देखना, इधर भी देखना। उस आदमीसे बोले कि अच्छा, तुम साधु हो जाना, संन्यासी हो जाना। लेकिन उससे पहले तीन बरस इस स्त्रीके साथ तुम पूर्ण ब्रह्मचर्यके साथ रहो, तब हमारे पास आना। इससे तुम्हारी दृढ़ताका पता लग जायेगा और हम तुम्हे संन्यासी बना देंगे। अब वे घरमें रह गये तो तीन बरसमें तो तीन बच्चे हो गये। तो ये गुरु-घण्टाल लोग जो होते हैं, वे आगेकी भी समझते हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि तुम्हें मजबूर होकर करना पड़ेगा—'**करिष्यस्यवशोऽपि तत्।**'

हमारे एक मित्र हैं भाई! बीस-इक्कीस बरसकी उम्र थी, जब उनका ब्याह हो गया। हम और वे साथी ही थे। तीन-चार जने इकट्ठे ही रहते थे। तो जब उनका ब्याह हो गया, तो उन्होंने एक छप्पर डाल लिया गंगाजीके किनारे, और बोले कि रातको हम घरमें सोयेंगे ही नहीं। हम तो बस, महात्मा ही बनेंगे। बड़ी पंचायत हुई, लोगोंने उन्हें समझाया। फिर भी न माने तो घरवालोंने कहा कि तुम्हारे साथ इस लड़कीका ब्याह हो गया है। इसका जीवन खराब न हो, इसलिए इसे थोड़ा पढ़ा-लिखा दो, ताकि कहीं मास्टर-वास्टर बनकर जोवनका निर्वाह कर सके। उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया कि हाँ, मेरी वजहसे इसका जीवन खराब नहीं होना चाहिए। वे उसे घण्टा-आधाघण्टा पढ़ाने लगे। घरवालोंने कहा कि यह दिनमें तो रसोई बनाती है, बर्तन माँजती है, घरका काम करती है; कैसे पढ़ेगी दिनमें;रातको पढ़ाना पड़ेगा। अब महाराज, रातको पढ़ाने लगे। चार-पाँच महीनेतक तो बात गुपचुप रही, बादमें मालूम हुआ कि बच्चा होनेवाला है। हमारे बहुत मित्र हैं वे। अब मिलते कम हैं, लेकिन बड़े सज्जन हैं। उनके सत्पुरुष होनेमें अब भी कोई संदेह नहीं है।

एक महात्मा आते थे, जो खाली लंगोटी लगाते थे, कौपीनाच्छादन नहीं रखते थे। एक दिन श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने उनसे कहा कि बेटा, देखो, केवल कौपीन नहीं, कौपीनाच्छादन भी शास्त्र-विहित है। इसलिए इसको ढँक लो। वे नहीं माने महाराज! बाबाने अपने हाथसे उठाकर उन्हें कौपीनाच्छादन दिया, तो फेंक दिया उन महात्माने। बादमें वे हजार रुपयेका कम्बल ओढ़ने लगे और ईश्वर-कृपासे मोटरमें भी चलने लगे। तब बाबा कभी-कभी मुस्कुराते थे, उनको देखकर।

तो यह देखो, '**करिष्यस्यवशोऽपि तत्**'—सबकी प्रकृति सबके भीतर बैठी होती है—

> **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**
> **भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥** (६१)

'**ईश्वरः सर्वभूतानाम्**'—इसलिए प्रकृतिको छोड़ो। वह तो जड़ है, मिथ्या है। महात्मा लोग प्रकृतिको स्वतन्त्र रूपसे स्वीकार नहीं करते हैं। क्षेत्रज्ञ तो ईश्वर है। वह सब भूतोंके हृदयमें है और हृदयका अभिमानी बना हुआ जो यह आत्मा है, उससे संलग्न होकर ही बैठा हुआ है। जिस अंशमें वह हृदयसे संलग्न मालूम पड़ता है, उस अंशमें उसको जीव कहते हैं और जब वह अपने स्वरूपभूत अंशमें हृदयसे संलग्न नहीं है, तब उसे ईश्वर कहते हैं। चीज तो एक ही है! घड़ेके भीतर जो मालूम पड़े-तो घटाकाश, और घटकी उपाधिको मत देखो तो उसीका नाम महाकाश! इसलिए ईश्वर और जीव—ये दोनों तत्त्व रूपसे दो नहीं होते हैं। असलमें तत्त्व शब्द ही 'तत्' और 'त्व' दोनोंका मेल है—'तत्+त्वम्=तत्त्वम्'। *'यत्र तत् त्वं च एकी भवति तत् तत्त्वम् इति उच्यते'*। तत्त्व तो कहते ही उसको हैं, जहाँ तत् और त्वं दोनों एक हैं। यह 'त्व' शब्द एक अव्यय भी है। 'तत्' भी अव्यय है और 'त्वम्' भी अव्यय है।

'**हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**'—हे अर्जुन, सबके हृद्देशमें ईश्वर है। यह मत समझना कि सबके हृदयमें बस काम-ही-काम है, अन्धकार-ही-अन्धकार है, कीचड़-ही-कीचड़ है। अर्जुन! सबके हृदयमें वह प्रकाश है, जिसमें हृदय दिखायी पड़ता है। अर्जुन, तुम भी प्रकाशस्वरूप हो और तुम्हारे हृद्देशमें तुमसे संलग्न होकरके ही ईश्वर रहता है। जब अहंसे संलग्न ईश्वर न हो तो इदंसे संलग्न तो कभी हो ही नहीं सकता।

यह बात सब भक्तराजोंको ध्यानमें रखनी चाहिए कि यदि शरीरकी उपाधिसे और हृदयकी उपाधिसे तुम्हारे हृदयमें ईश्वर नहीं है तो वह शालग्राममें भी कभी नहीं हो सकता। जब हृदयमें है, तभी शालग्राममें है। बल्कि पहले हृदयमें है, पीछे शालग्राममें है, क्योंकि शालग्रामका पता ही तब चलेगा, जब हृदयमें बैठकर ईश्वर बतायेगा। पहले ईश्वरका उदय असमर्थके रूपमें होता है, पीछे इदमर्थके रूपमें होता है। एक ही ईश्वर अहमर्थके रूपमें पहले और इदमर्थके रूपमें पश्चात् उदयको प्राप्त होता है। ईश्वर एक ही है।

'**भ्रामयन्सर्वभूतानि**'—जैसे कोई कठपुतली बना दे और उसको घुमावे, वैसे ही ईश्वर सारे भूतोंको बनाता-घुमाता है। मशीनके पहिये जैसे घूम रहे हैं, ऐसे ही सर्वभूत तद्-तद् वासनानुरूप झूम रहे हैं। श्रीरामानुजाचार्यजीने इसकी टीकामें लिखा है कि *'गुणानुगुणान् गुणानुगुणं प्रवर्तयन् तिष्ठति इत्यर्थः'*। बिजली पंखेमें आकर पंखेको घुमा रही है, बल्वमें आकर रोशनी दे रही है—हरे बल्वमें हरा, सफेद बल्वमें सफेद और पीले बल्वमें पीला। हीटरमें आकर गर्मी देती है और

रेफ्रीजरेटरमें आकर बर्फ जमा कर देती है। बिजली एक ही है, लेकिन यन्त्रकी उपाधिके भेदसे उसमें भेद मालूम पड़ता है।

आप देखो, आपके स्वप्नमें दो भेंड़े लड़ रहे हैं आपसमें। बिलकुल मार-काटपर उतारू हैं। लगता है कि मार ही डालेंगे एक-दूसरेको। लेकिन दोनों भेंड़ोंके भीतर आपका ही मन काम कर रहा है कि नहीं ? आप लोगोंने भेंड़ोंकी लड़ाई देखी हो कि न देखी हो, हमने तो देखी है। देहाती आदमी हैं न! बनारसमें तो महाराज, तीतरोंकी ऐसी लड़ाई होती है कि जिसने देखा, वह भी पछताया और जिसने नहीं देखा, वह भी पछताया!

तो, अपने-आप कर्मानुरूप, गुणानुरूप यन्त्रपर सब बैठे हुए हैं और सबको एक ही विद्युत्-शक्ति, एक ही वित्, एक ही संवित्, एक ही ज्ञान, एक ही चेतन, एक ही ब्रह्म सबको प्रकाशित कर रहा है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ (६२)

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, तुम बेवकूफ नहीं हो। देखो गुरु जबतक चेलेको बेवकूफ न कहें तबतक चेलेको सन्तोष ही नहीं करना चाहिए। उसको समझना चाहिए कि ये हमको अपना नहीं समझते हैं। हमारी इज्जत करते हैं, आदर करते हैं, लेकिन हमारी बेवकूफी कैसे दूर करेंगे ? उड़ियाबाबाजी महाराज तो बेवकूफ नहीं बोलते थे, बे-कूफ बोलते थे। बाव्रा, बेकूफ—ऐसा बोलते थे। उनके मुखसे निकले हुए बेकूफमें कितनी आत्मीयता थी, इसपर तो ध्यान दो! गुरु हमारे अहंकारको छुड़ा देना चाहते हैं। जिस चीजको हम पकड़े हुए बैठे हैं, उस चीजको छुड़ा देना चाहते हैं।

'भारत'—यह अर्जुनके लिए भगवान्का सम्बोधन है। इसका अर्थ है—भा माने प्रतिभा; प्रतिभा-रत। तुम तो प्रतिभाके प्रेमी हो। इसलिए **'तमेव सर्वभावेन शरणं गच्छ'**—वही जो परमेश्वर है, सबके हृदय-देशमें रहनेवाला—उसकी शरणमें जाओ।

देखो, यह शीशम या बबूलकी जो लकड़ी होती है, उसमें एक 'हीर' होती है। हीर माने हृदय। वह बहुत मजबूत होती है। एक दिन मैंने सोचा कि अगर मेरा अँगूठा कट जाये तो जैसे कलेजेमें हृदय है, वैसे कटे हुए अँगूठेमें हृदय होगा कि नहीं ? अरे, उसके तो एक बूँद खूनमें एक करोड़से ज्यादा कीड़े हैं। यह बात मैंने तब जानी, जब डाक्टर हंसराज, इरविन अस्पताल, नई दिल्लीमें काम करते थे।

उन्होंने मुझे दिखाया था कि मेरे अपने ही खूनकी एक बूँदमें कीड़ोंका कैसा समुद्र उमड़ रहा है। उसमें सफेद कीड़े, लाल कीड़े तरंगायमान हो रहे हैं। वे आपसमें लड़ते हैं, एक दूसरेको खाते हैं, भयभीत होकर भागते हैं, उछलते हैं। तब मैंने अनुभव किया कि इन सब कीड़ोंके भी हृदय हैं ।

तो '**हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**'—हृदयहीन कोई वस्तु होती ही नहीं। कोई-कोई पूछते हैं कि जीवोंकी कमी क्यों नहीं पड़ जाती? अरे, सृष्टिमें तो जबतक जड़ताका एक भी कण है, तबतक उसमें चिदाभास है। वहीं समयसे सुषुप्त है और जाग्रत होकर जीवावस्थामें आ सकता है। वहाँ उपाधिके सुषुप्त होनेसे चिदाभास जाग्रत नहीं हो रहा है। जब उपाधि विकसित हो जायेगी तो वहाँ पहलेसे विद्यमान जो चेतन है, वह भी जाग्रत हो जायेगा, वह भी जीव हो जायेगा। एक-एक परमाणु जीव है—'*जीवो जीवस्य जीवनम्।*'

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, तुम उसीकी शरणमें जाओ। बस, वही सर्वात्मा है, वही सर्वेश्वर है, वही सर्वसाक्षी है और वही सर्वातीत है। उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं। '**तमेव शरणं गच्छ**'—शरण माने सर्वोपसंहार—सबका बाध हो जानेपर जो शेष रहता है, वही शरण है। '*शृ-हिंसायाम्।*' बाधावधि, निषेधावधि जो पदार्थ है, वही शरण है। वहाँ कैसे जायें महाराज? कि '**सर्वभावेन**'—क्योंकि व्यवहारमें भी सब वही है। तुम्हारे मनमें जितने भाव उठते हैं, सब उसीके बारेमें उठते हैं। त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे 'सर्वभावेन'का यह अर्थ है कि जो कुछ भी भाव आता है, वह सब उसीके लिए आता है और तत्पदार्थकी दृष्टि यह है कि 'सर्व' वही है। '**यो सर्ववित् भजति मां सर्वभावेन भारत।**'

अरे, सपनेमें दिखाई देता है कि वहाँ गधा है, वहाँ घोड़ा है; वहाँ महात्मा है, वहाँ दुरात्मा है; वहाँ डाकू है, वहाँ साधु है; वहाँ यज्ञ हो रहा है, वहाँ गोवध हो रहा है। यह सब क्या है ? कि यह आपका मन है। इसी प्रकार विश्व-सृष्टिमें भिन्न-भिन्न रूपमें जो कुछ दिखायी पड़ रहा है; वह सर्वरूपमें परमात्मा ही अभिव्यक्त हो रहा है। यह जो स्वयंप्रकाश संवित् है, वही परमात्माके रूपमें भास रहा है। त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे कहो तो संवित्का स्फुरण है और उधरसे कहो तो यह सब भगवद्भाव है। असलमें भागवतधर्ममें और वेदान्तमें तत्त्वतः कोई भेद नहीं है।

सर्वभूतेषु यः पश्येत् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥(भाग. ११.२.४५)

इससे क्या होगा? '**मत्प्रसादात्परां शान्तिम्**' योगका फल मिल जायेगा और '**स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्**'—अधिष्ठानसे एकता हो जायेगी। इसलिए द्वैतभाव

छोड़कर उसी अद्वैत-परमेश्वरकी शरणमें जाओ और जो कुछ भास रहा है, उसे परमेश्वरका रूप देखो। उपनिषद्में प्रत्याहारका वर्णन आता है कि—

यद् यत् पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तद् आत्मेति भावयेत्।
यद् यच् शृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्॥

अर्थात् जो आँखसे दिखता है, वह परमात्माका स्वरूप है और जो कानसे सुनता है, वह भी परमात्माका स्वरूप है।

असलमें दृश्यसे द्रष्टा निराला होता है, परन्तु द्रष्टासे दृश्य निराला नहीं होता है। अध्यस्तसे अधिष्ठान निराला होता है—यह साधककी प्रक्रिया है—परन्तु अधिष्ठानसे अध्यस्त निराला नहीं होता है। जगत्से निराला है ब्रह्म—भिन्न नहीं, निराला है! विलक्षण है। जगत्का जो आद्यन्तवत्त्व लक्षण है, वह ब्रह्ममें नहीं है; इससे विलक्षण है ब्रह्मका लक्षण। अबाधितत्व ब्रह्मका लक्षण है। लक्षण दोनोंके दो हैं, परन्तु वस्तु एक है। इसलिए **'तत्प्रसादात्परां शान्तिम्'**—जब वह निर्मल हो जायेगा तब आपको पराशान्ति मिलेगी, माने योगका फल-असम्प्रज्ञात समाधि हो जायेगी। फिर क्यों प्राणायामके चक्करमें पड़ते हो?

अभी बम्बईमें एक सज्जन आये थे। वे दो-पाँच सौ आदमियोंको बैठाते थे और कहते थे कि भस्त्रिका करो। अब महाराज, सैंकड़ों लोगोंकी धौंकनियाँ साथ-साथ चलती थीं। भस्त्रिका माने धौंकनी ही होता है—जैसे लुहारकी धौंकनी होती है। मैंने कहा कि महाराज, यह तो रोग-समन्वय हो रहा है। किसीको दमा हो या किसीके फेफड़ेमें खराबी हो तो क्या वे भी सबलोगोंके साथ धौंकनी चला सकते हैं? आपको क्या बतायें। हमें तो सभामें किया हुआ योग दम्भ प्रतीत होता है।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ (६३)

अब देखो, तत्पदार्थका निरूपण करते-करते यहाँ-वहाँ बीचमें त्वं-पदार्थकी प्रधानता डाल दी है भगवान्ने। बोले—**'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया'**। मैंने गुह्यसे गुह्यतर ज्ञान तुम्हें बताया है। यह गुरुसे, आगमसे, सत्सम्प्रदायसे प्राप्त होता है। परन्तु मेरे भाई **'अशेषेण एतद् विमृश्य'**। तुम्हें विमर्श करना पड़ेगा। यदि श्रवणमात्रसे ग्रहण नहीं हुआ तो तुम्हे **'विमृश्य'**, माने मनन, निदिध्यासन करना पड़ेगा। यहाँ संवित् है, विमर्श है, **'यथेच्छसि'** माने इच्छा है और फिर **'कुरु'** क्रिया है; उसके बाद वस्तु द्रव्य है। बस, इतनी तो चीजें हैं। लेकिन ये पाँचों चीजें पाँच नहीं हैं, बिलकुल एक हैं। अब तुम **'विमृश्य'** माने विचार करो, विमर्श करो।

किन्तु अभी अर्जुनको संतोष नहीं हुआ। बोले कि बाबा, यह अहीरोंके बीचमें रहा हुआ है; कभी कहता है कि '**बुद्धौ शरणमन्विच्छ**' बुद्धिकी शरणमें जाओ; फिर बोलता है कि '**तमेव शरणं गच्छ**' उसकी शरणमें जाओ।

देखो, श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके पास लोग जिद करते थे कि हमें चेला बना लो, शिष्य बना लो! एक सज्जन तो ऐसे आये कि पाँच दिन भूखे-प्यासे बैठे रहे कि हम तो आप ही-से दीक्षा ग्रहण करेंगे। बाबा बोले कि हम तुम्हारे पूर्वजन्मके गुरुको जानते हैं। जबतक तुम उनसे दीक्षा नहीं लोगे, तबतक तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति नहीं होगी। तुम हमारी बातपर विश्वास करते हो कि नहीं करते हो? यदि नहीं करते, तो हमें गुरु क्यों बनाना चाहते हो? और यदि विश्वास करते हो तो जाओ उनके पास। '**तमेव शरणं गच्छ**'। महाराज, इतनी समझदारीसे बाबाने यह काम किया कि हमलोग बिलकुल आश्चर्यचकित हो गये। बाबा सबको आसानीसे मन्त्र बता देते थे; किसीको षडक्षर, किसीको द्वादशाक्षर, किसीको अष्टाक्षर! आखिर उस आदमीको बाबाने मन्त्र क्यों नहीं बताया? वह तो पीछे ऐसा दुश्मन हुआ बाबाका, ऐसा दुश्मन हुआ कि कोई हद नहीं; वह बराबर दुश्मनी करने लगा। बाबा तो उसके अन्तरतमको पहचानते थे। तो—

सर्वगुह्यतमं भूतः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ (६४)

भगवान्‌ने कहा कि अच्छा, उसकी शरणमें जाना तुम्हें नहीं भाता है? अर्जुन बोले कि नहीं भाई, बुद्धि तो हमारी पहले ही खो चुकी है—'**शोकसंविग्नमानसः**' और अब भेजते हो उसकी शरणमें; तो हम अनजानकी शरणमें तो जानेवाले नहीं हैं। हमारे जाने-पहचाने परमेश्वर तो तुम्हीं हो, अब तुम्हें छोड़कर और कहाँ जाऊँ? भगवान् बोले कि अच्छा लो, अब मैं तुम्हें गुह्य नहीं, गुह्यतर नहीं, गुह्यतम बात बताता हूँ—'**सर्वगुह्यतमम्**'। बड़ी गुप्त बात है। वैसे मैं कह तो चुका हूँ कई बार, लेकिन फिर भी सुन लो। लेकिन एक बात है; कि यह '**परमं वचः**' है, उसके बाद फिर कुछ कहनेका नहीं है। '**परमं वचः**'का अर्थ है *'वचः पारम्यम्'* अर्थात् अब इसके बाद कहनेको कुछ बाकी नहीं रहेगा। इसलिए फिर मत पूछना! अर्जुन बोले कि महाराज, सच्चे प्रेमसे बताते हो कि ऊपर-ही-ऊपरसे बताकर टाल-मटोल कर रहे हो? भगवान् बोले कि नहीं अर्जुन, '**इष्टोऽसि मे दृढमिति**'—तुम मेरे प्यारे हो, मेरे इष्ट हो।

देखो, जब भक्त अपना इष्ट भगवान्‌को बताता है तो भगवान् भी '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' कहकर भक्तको अपना इष्ट बना लेते हैं।

भगवान् कहते हैं कि प्यारे अर्जुन, जैसे तुम मुझको चाहते हो, वैसे ही मैं भी तुमको चाहता हूँ। एकांगी प्रेम जो है वह किताबोंमें लिखने ही के लिए है और प्रेमका आदर्श नहीं है। असलमें जबतक सामनेसे प्रेमके उत्तरमें प्रेम नहीं मिलता है, तबतक प्रेम बढ़ता नहीं। प्रेमका उद्दीपन प्रेम ही है। यदि सामनेवाला प्रेम नहीं करेगा तो प्रेम संकुचित हो जायेगा। यदि चन्द्रमा चाँदनीका वितरण न करे तो कुमुद कैसे विकसित होगा? प्रेम एकांगी नहीं होता है, प्रेम दोनों ओरसे होता है। तो अर्जुनने तो अपना प्रेम प्रकट कर ही दिया है। अब श्रीकृष्ण कहते हैं कि '**इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्**'—तो तुम मेरे इष्ट हो और दृढ़ इष्ट हो, मामूली इष्ट नहीं हो। ऐसे इष्ट हो कि प्यारे, मैं तुम्हें छोड़ूँगा ही नहीं। मेरे अन्दर कोई इच्छा नहीं है—'**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः**', तथापि '**दृढम् इष्टोऽसि**', तुम्हारे साथ मेरा ऐसा प्रेम है कि मैं कभी तुमको छोड़ूँगा नहीं। इसलिए '**ते हितं वक्ष्मामि**'—तुम्हारा जो हित है, वह मैं तुम्हें बताता हूँ।

इस प्रकार भगवान् अर्जुनकी पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं, यह नहीं कहते कि तुम अपनी बुद्धिसे विचार करके करो। ईश्वरकी शरणागतिमें भी थोड़ा अपने लिए स्थान है। जहाँ भगवान्ने यह कहा कि—'**विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु**'। वहाँ भी तो विमर्श है न! लेकिन यहाँ बोले कि नहीं नहीं, तुम्हारी पूरी जिम्मेवारी मेरे ऊपर है। तुम बेफिक्र हो जाओ और सुनो मेरी बात।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ (६५)

'**मन्मना भव**'—मेरा ज्ञान सम्पादन करो और '**मद्भक्तो भव**'—मेरी भक्ति करो। मतलब यह कि ज्ञानका विषय ब्रह्म भी मैं ही हूँ और भक्तिका विषय, भजनीय भी मैं ही हूँ। '**मद्याजी भव**' माने यज्ञाराध्य भी मैं ही हूँ। और '**मां नमस्कुरु**'का अर्थ है शरणागतवत्सल्य, शरण्य भी मैं ही हूँ। इस प्रकार चार साधन हैं मुझे पानेके—ज्ञान, भक्ति, यज्ञ और शरणागति। ये चारों अलग-अलग नहीं हैं। ज्ञान ब्रह्मका, भक्ति ईश्वरकी, यज्ञ इन्द्रादि देवताके और नमस्कार पिता-माता आदिका; ये चारों एक ही हैं। जो ज्ञानका विषय है वही भक्तिका विषय है, वही यज्ञका विषय है और वही शरणागतिका विषय है। अर्जुन बोले कि यह कौन है महाराज? भगवान् बोले कि '**मन्मना भव**'में '**मत्**', '**मद्भक्तो**'में '**मत्**', '**मद्याजी**'में '**मत्**' और '**मां नमस्कुरु**'में '**मत्**'—लो सबमें '**मत्**' है! इतनेपर भी तुम्हें संतोष न हो तो समझ लो कि '**मामेवैष्यसि**'—फलके रूपमें भी मैं ही प्राप्त होऊँगा।

अब भगवान् कहते हैं कि '**सत्यं ते प्रतिजाने**'—मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, सच-सच प्रतिज्ञा करता हूँ, सत्य शपथ खाता हूँ, सौगन्ध खाकर कहता हूँ! बोले

कि बाबा, ये व्रजवासी लोग तो सौगन्ध भी झूठी खाते हैं। व्रजकी यह रीति है कि बात-बातमें 'तेरी सोंह' बोलते हैं।'मेरी कसम'—ऐसे नहीं बोलते हैं, 'तेरी कसम'—ऐसे बोलते हैं। कहते हैं कि कसम जिसकी खायी जाती है, उसीको लगती है। तो व्रजवासी बड़े चालाक होते हैं और कहते हैं कि 'तेरी सौगन्ध है।' लेकिन भगवान्ने कहा कि नहीं-नहीं, '**सत्यं ते प्रतिजाने**'—मैं तुमसे शपथपूर्वक कहता हूँ। अर्जुन बोले कि बाबा, तुम यशोदा मैय्या तकसे झूठ बोल गये कि मैंने मिट्टी नहीं खायी, और गोपियोंसे कह दिया कि मैं कभी झूठ बोलता ही नहीं हूँ। फिर तुम्हारा भरोसा कैसे किया जाये? भगवान् बोले कि नहीं-नहीं, '**प्रियोऽसि मे**'—तुम मेरे प्यारे हो। अपने प्यारेसे झूठ नहीं बोला जाता है। अपने और प्यारेके बीच यदि छल-कपट आगया, झूठ आगया, तब तो प्रेम कलुषित हो गया। इसलिए तुम मेरे प्यारे हो और मैं बिलकुल सच-सच तुमसे बताता हूँ। अर्जुन बोले कि अच्छा, बता दो! भगवान् बोले कि अच्छा, अब तुम धर्माधर्मका विचार अपनी अक्लपर मत रखो। यह बड़ा भारी योग है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (६६)

इस श्लोककी टीकामें मधुसूदन सरस्वतीने कहा कि धर्म-परित्यागका अर्थ यह है कि ब्रह्मचर्य-धर्म, गार्हस्थ्य-धर्म, वानप्रस्थाश्रम-धर्म, संन्यासाश्रम-धर्म—इन धर्मोंका मैं पालन करूँगा ओर मेरे किये हुए धर्म-पालनसे मेरा कल्याण होगा—इस धर्माश्रयका परित्याग कर दो।

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि अधर्म-परित्यागका वर्णन तो सभी जगह आता है, लेकिन यहाँ धर्मका परित्याग अपूर्व है और परमात्माके शुद्ध स्वरूपके निरूपणका प्रसंग है। यहाँ *'अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताश्च भव्याच्च'*—धर्मसे भी परे, अधर्मसे परे तथा जो किया है, जो नहीं किया है; जो हुआ है और जो नहीं हुआ है—उससे विलक्षण है। यहाँ सर्वधर्म-परित्यागका अर्थ है कि धर्माधर्म-सम्बन्ध-वर्जित हो जाओ तुम! *'न सन्तु मे धर्माधर्मौ'*—धर्माधर्म मेरे नहीं हैं। *'नाहं धर्माधर्मौ'*—मैं धर्माधर्मोंका नहीं हूँ। *'न सन्ति वस्तुतः तत्त्वदशा धर्माधर्माः। एवं परित्यज्य'*—ऐसी विधिसे धर्माधर्म दोनोंका परित्याग कर दो, क्योंकि कर्ता यदि बने रहोगे तो परित्याग होगा ही नहीं। यह बात बड़ी विलक्षण है महाराज; बच्चोंकी समझमें तो आनेकी है ही नहीं।

अब देखो '**सर्वधर्मान्**'को। धर्मान्में सर्व क्यों लगा दिया? कोई कहते हैं कि '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' माने *इन्द्रियधर्मान्, मनोधर्मान्, बुद्धिधर्मान्, जीवधर्मान्,*

अनात्मधर्मान् परित्यज्य—इन सबका परित्याग कर दो। लेकिन भाई, कैसे परित्याग करो? यह समझना पड़ता है। इसमें अक्ल लगानी पड़ती है। देखो, जो अन्य है, वह तो परित्यक्त है ही, वह तो छूटा हुआ ही है; उसे क्या छोड़ें? किसीने कहा कि गंगाजीके किनारे जो पत्थर पड़ा है, उसका परित्याग कर दो। अरे वह तो कभी मेरा हुआ ही नहीं, उसे पकड़ा ही नहीं कभी, तो उसका क्या परित्याग करेंगे? बोले कि अच्छा, अपना परित्याग कर दो। लेकिन अपना परित्याग तो कभी होता ही नहीं है; यह तो अशक्यानुष्ठान लक्षण है। तो आत्माका परित्याग कभी हो नहीं सकता और अनात्मा जब कभी अपना हो नहीं सकता तो उसका परित्याग कहाँसे किया जाये? तब इसमें-से निकला क्या? कि नित्यपरित्यक्तमें अपरित्यक्तका भ्रम हो रहा है। अनात्मवस्तु नित्य परित्यक्त है, परन्तु इसमें जो ग्रहका भ्रम हो रहा है—कि यह मेरा है, मै इसका हूँ—इसको छोड़ना है। कबीरदासने कहा कि *'गठिया जोड़के बम्हना बेदर्दी।'* यह हमारे गाँवकी बोली है। इसमें कहा गया है कि बेदर्दी ब्राह्मणने कपड़ेकी गाँठ जोड़ी और हमेशाके लिए हमें एक बन्धनमें डाल दिया।

तो भाई, बात यह है कि असलमें न अनात्मा-आत्मासे आबद्ध है और न आत्मा अनात्मासे आबद्ध है। जब आबद्ध ही नहीं है तब परित्याग क्या? बोले कि यह जो आबद्धका भ्रम है, उसका परित्याग ही असलमें परित्याग है—यही इस **'परित्यज्य'** क्रिया-पदका अर्थ है। इस **'परित्यज्य'**का अर्थ है कि *'परित्यक्त्वेन अवरुद्धय।'* वस्तुतः कोई भी धर्माधर्म न मेरा है, न मैं धर्माधर्मका हूँ और न धर्माधर्मका अस्तित्व है। इसीका नाम है *'सर्वधर्मपरित्याग'*। बोले कि फिर? एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ—**'मामेकं शरणं व्रज।** *एकम् अद्वयं, शरणं-सर्वाधिष्ठानम्, मां प्रत्यक् चैतन्याभिन्नं, व्रज-जानीहि'।*

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्याह्यकुतोभयः॥

ये श्लोक भागवतमें (११.१२.१४-१५) हैं। भगवान् कहते हैं कि उद्धव, तुम विधि-निषेध छोड़ दो—*'चोदनां प्रतिचोदनाम्।'* प्रवृत्ति और निवृत्तिको छोड़ दो। जो अबतक सुना है वह छोड़ दो, और जो सुनना बाकी है, सो छोड़ दो। एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ। सबकी आत्मा मैं हूँ और मेरे साथ एक होकर निर्भय हो जाओ।

तो देखो, **'एकम् अद्वितीयम्'**—इन दोनोंको **'माम्'**का विशेषण कर दो। *शरणं-अधिष्ठानं 'शरणं गृहरक्षित्रोः'*—सबका अधिष्ठान कौन है? शरण माने अधिष्ठान,

शरण माने कुटिया, शरण माने रहनेकी जगह। *अधिष्ठानम्*—अधिष्ठान-स्वरूप। कई अधिष्ठान नहीं हैं; '**एकम्**'-*अध्यस्तेषु अनुगतम् एति इति एकम्।*' सम्पूर्ण अध्यस्तमें अनुगत एक अधिष्ठान है। सम्भव है, वह भी परोक्ष हो! कोई अन्य हो! बोले कि नहीं, '**माम्**'-*अपरोक्षं, प्रत्यक् चैतन्यम्।*'

तब '**व्रज**'का क्या अर्थ होगा? बोले कि '**व्रज**' माने '*जानीहि*'—जानो। '*व्रज गतौ*' '*गमन-ज्ञान-मोक्ष-हेतौ।*' जैसा शण्य होता है, वैसी शरणागति होती है। जब आत्मा ही शरणमें हैं तो वहाँ शरण्यत्वेन आत्माका ज्ञान ही गमन है।

अच्छा महाराज, यदि धर्म छोड़ दिया और कहीं पाप लग गये तो? बोले कि अब तुम मत सोचो। '*अहंत्वेन अभिव्यक्तः ज्ञातः अहम्*'—तुम्हारे अहंके रूपसे ज्ञान होकर मैं '**सर्वपापेभ्यः**' *अभ्यतत्कार्येभ्यः* **त्वा**— *त्वां* **मोक्षयिष्यामि**—सब पाप, सब पापोंका मूल कर्तापन, भोक्तापन, संसारीपन, परिच्छिन्नपन, सर्व-पापमयी अविद्या, सर्वपापमयी माया, *सर्वपापमयो भ्रमः*—भ्रम ही सम्पूर्ण पापका आधार है—इन सबसे मुक्त कर दूँगा। कैसे? कि मैं तुम्हारे अहंके रूपमें प्रकट हो जाऊँगा और तुम्हें अविद्या और अविद्याके कार्यसे छुड़ा दूँगा—'**मोक्षयिष्यामि।**' अतएव '**अशोच्यानन्व शोचस्त्वम् मा शुचः**, *शोकं मा कार्षीः।*'

एक महात्माके यहाँ मैं उनका दर्शन करने गया। उनकी कुटियाके द्वारपर एक श्लोक लिखा हुआ था। कहाँका था, यह तो हमें मालूम नहीं, लेकिन महाराज बचपनमें तो हमारा ऐसा अभ्यास था कि एक बार श्लोक सुनकर याद हो जाता था। अभी शार्दूल-विक्रीड़ित या स्रग्धरामें तो दो-तीन बार, चार बार सुनना पड़ता है, लेकिन अनुष्टुप् छन्द यदि एकबार गौरसे सुन लूँ, तो मुझे याद हो जाता है। उन महात्माके दरवाजेपर श्लोक लिखा हुआ था—

सर्वा गीता मयाधीता तत्र प्राप्तिः विनिश्चिता।
सर्वधर्मपरित्यागी सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

मैंने सारी गीता पढ़ी है और इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि जो सर्वधर्मका परित्याग कर देता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

असलमें जहाँ धर्म रहेगा, वहाँ अधर्म भी रहेगा। स्वयं गीता कहती है कि—'**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।**'

धर्म और अधर्म द्वन्द्व हैं। ये रात और दिनके समान जोड़ीदार हैं। इसलिए जब छूटते हैं तब अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, असंसारित्व, अपरिच्छिन्नत्वके ज्ञानसे धर्माधर्म दोनों बाधित हो जाते हैं और जब रहते हैं तब दोनों ही रहते हैं। इनके रहते जो अपनेको धर्मात्मा मानते हैं और यह मानते हैं कि हमारे धर्ममें कहीं कोई त्रुटि नहीं

हैं, वे मूर्ख हैं। अब जो ये कहते हैं कि हमारे जीवनमें तो पाप-ही-पाप है, पुण्य है ही नहीं—वे ठीक नहीं कहते। उनके जीवनमें यदि पुण्य न होता तो उन्हें पाप मालूम ही न पड़ता। बिना पुण्य हुए पापका ज्ञान होता हो नहीं है और बिना पाप हुए पुण्य रहता ही नहीं है। इसलिए दोनों साथ-साथ पैदा होते हैं, साथ-साथ रहते हैं, साथ-साथ जाते हैं और तब जाते हैं, जब परमात्माका ज्ञान होता है।

धर्म क्या है ? कुछ धर्म कार्यात्मक होते हैं, जिनको हम करते हैं—दान किया, एकादशी व्रत किया, परोपकार किया, तो वह कार्य धर्म हुआ; हमारा बनाया हुआ धर्म हुआ। एक कारण धर्म है, जो हमें धारण करता है—*'ध्रियते पुण्य-दानादिरूपेण इति धर्मः'*। दो व्युत्पत्तियाँ हैं—कारण धर्म और कार्य धर्म। तो **'सर्वधर्मान्'**का अर्थ है कार्यनिष्ठ धर्म—जो उत्पाद्य है और कारणनिष्ठ धर्म, जो स्वभावसे प्रकृतिके द्वारा प्राप्त है। इन दोनोंका परित्याग अपने स्वरूपके ज्ञानसे कर दो और **'मामेकं शरणं व्रज'**—मेरे स्वरूपमें आकर बैठ जाओ। इसके बाद **'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।'** मुक्तिके लिए तुम फिक्र मत करो। छोड़ दो मुक्तिकी फिक्र।

बुभुक्षुर्दृश्यते लोके मुमुक्षुरपि दृश्यते।
भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलोऽपि महापुमान्॥

किसीको भोग चाहिए और किसीको मोक्ष चाहिए। लेकिन जिसे भोग-मोक्ष दोनों नहीं चाहिए, तो ? वह तो विरल है न, जिसे न भोग चाहिए, न मोक्ष चाहिए। वह तो मुमुक्षुत्वसे भी व्यतिक्रान्त हो गया। इसलिए **'मा शुचः'**, *'शोकं मा कार्षीः'*—शोक मत करो अर्जुन!

अब देखो, भगवान्‌ने कहा कि देखो अर्जुन, मैंने बड़ी गूढ़ बात तुम्हें बतायी है। तुम यह सबको मत बता देना।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ (६७)
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ (६८)

नातपस्काय—अब भगवान् बताते हैं कि जरा देख लेना, कि जो इन्द्रियोंका संयमी न हो, अपने धर्म पालनमें थोड़ा कष्ट उठानेमें भी समर्थ न हो—मान लो कि एक दिन भोजन न मिला और खाद्य-अखाद्य खानेको मिले तो वैसा ही खा ले; एक दिन भूख सहनेकी सामर्थ्य नहीं है—तो ऐसे आदमीको यह ज्ञान नहीं बताना चाहिए क्योंकि वह फिर असामर्थ्यके मार्गमें चला जायेगा और सबका जूठन ही खाने लगेगा। अच्छा, कहो कि इस श्लोकमें भक्तिका वर्णन है, तो भगवान् बोलते

हैं कि 'नाभक्ताय'—अभक्तको यह ज्ञान नहीं बताना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त इसका अधिकारी है। इसमें कोई भक्तिसे भी बड़ी बात कही गयी है जो भक्तको बतानेकी है।

'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।''मद्भक्त एतद् विज्ञाय-साधनम्।' 'मद्भावायोपपद्यते-फलम्।'

भगवान् कहते हैं जो मेरा भक्त न हो, उसे यह नहीं बताना और जो शुश्रूषु न हो, जिसमें सुननेकी या सेवा करनेकी इच्छा न हो—उसे भी नहीं बताना चाहिए, और '**न च मां योऽभ्यसूयति**'—जो तत्त्वविद् पुरुषके चरित्रमें दोष निकालता हो—उसे भी नहीं बताना चाहिए। अरे, तुम्हें चरित्र सीखना हो तो अपने पुरोहितसे सीखो, पूजा करना सीखना हो तो किसी वैष्णवसे सीखो और धारणा-ध्यान-समाधिकी विधि सीखनी हो तो किसी योगीसे सीखो। यह तो तत्त्वज्ञान है, स्वरूपज्ञान है। तत्त्ववित् पुरुष तो धर्मसे, उपासनासे, योगसे-सबसे निर्मुक्त होकर स्वच्छन्द जीवन व्यतीत कर रहा है। यदि तुम्हें सीखना हो कि शौचसे लौटनेके बाद दस बार बाँया और सात बार बाँया-दाँया दोनों हाथ मटियानेकी विधि सीखनी हो तो यह अपने बाप-दादासे सीख लो या गुरु-पुरोहितसे सीख लो। इसके लिए किसी तत्त्वज्ञानी बेचारेको तकलीफ देनेकी कोई जरूरत नहीं हैं। यदि तुम्हें यही सीखना हो कि ठाकुरजीको चन्दन कैसे लगाना चाहिए और उनकी आरती कैसे सात बार पाँवके पास, टखनेके पास और सात बार छातीके पास आती-जाती है तो इसके लिए किसी ब्रह्मवेत्ताको क्या तकलीफ देते हो?

भगवान् कहते हैं कि '**न च मां योऽभ्यसूयति**'। जो श्रीकृष्णके चरित्रमें कहीं भी कलंक देखता है, उसे यह ज्ञान न बतानेका तात्पर्य क्या है? कि कर्म-निष्ठा है वह तो। कर्मनिष्ठ, भजनीय गुणनिष्ठको तत्त्वज्ञानी लोग तत्त्वज्ञान नहीं बताते हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञान तो सबसे ऊपर है। यह समाधि-ज्ञान नहीं है, योग ज्ञान नहीं है, उपासना-ज्ञान नहीं है और धर्मज्ञान नहीं है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रमें कोई जातिका दोष निकाले कि अरे यह तो अहीर है, कह दे कि अरे यह तो चोर है, अरे यह तो बड़ा रसिया है—इस प्रकार जो दोष-बुद्धिसे उनके गुणोंमें, उनके स्वच्छन्द चरित्रमें, स्वच्छन्द आचरणमें दोष निकाले, वह इस ज्ञानका अधिकारी नहीं है। तत्त्वज्ञका आचरण जो होता है, वह किसी सम्प्रदाय-विशेषके आचरणसे, मर्यादासे आबद्ध नहीं होता है; वह तो स्वच्छन्द, सार्वभौम, सार्वकालिक होता है। इसलिए भगवान्का कहना है कि जिसे मुझमें दोष मालूम होता हो, उसे यह ज्ञान मत बताना।

'य इदं परमं गुह्यम्'—असलमें अर्जुन, यह कीर्तन है। है तो यह कीर्तन, परन्तु भक्तोंके बीचमें ही इसका अभिधान करना माने वर्णन करना चाहिए। यह बड़ी गुह्य वस्तु है; बाजारमें लुटानेकी नहीं है। इसका वर्णन तो जहाँ चार दीवाने भक्त लोग इकट्ठे हो जायें, वहाँ करना चाहिए। इससे क्या होगा? कि वर्णन करनेवालेको मेरी पराभक्ति मिलेगी। यह इसका कमीशन है। मैंने बाइबिलमें पढ़ा था कि तू अपने मोती सूअरोंके सामने मत डाल। सूअर बेचारे मोतीको क्या समझेंगे? मोती-पिष्टी बनायेंगे कि मोती-भस्म बनायेंगे कि मोतीमाला बनाकर पहनेंगे?

तो भगवान् कहते हैं कि भक्तोंके बीचमें ही यह बात बतानेकी है। और जो भक्तोंको यह बात बतायेगा, उसके हृदयमें पराभक्तिका उदय होगा और वह मेरे पास आ जायेगा। उसके मनमें कोई संशय नहीं रहेगा। अब आगे एक कमीशन और लो—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ (६९)

मनुष्यजातिमें उससे बढ़कर मेरा प्रियकृत्तम नहीं है। प्रियकृत्तम माने सबसे बड़ा प्रियतम। सबसे पहले प्रियकृत् फिर प्रियकृत्तर और उससे भी बड़ा है प्रियकृत्तम। हमें प्रसन्न करनेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ वही है और आगे भी दस्तावेज लिख देते हैं; लिखित दस्तावेज है यह श्रीकृष्ण भगवान्‌का—कि उससे ज्यादा प्यारा हमें और कोई नहीं होगा। भागवतमें भगवान्‌ने कहा कि ज्ञनी मेरा प्रियतम है। क्यों? बोले कि वही तो हमें दूध पिला-पिलाकर पालता है। यदि ज्ञानी हमारा समर्थन न करे, हमारी सत्ता, चित्ता, आनन्दरूपता सिद्ध न करे तो अज्ञानी लोग हजार बकते रहें, इससे क्या होगा—*'ज्ञानी प्रियतमोऽतो मां ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्।'*

'भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि'—उससे बढ़कर प्यारा मेरा धरतीमें कोई नहीं होगा। भगवान् कहते हैं कि मैं उसका प्रेयसी बन जाता हूँ और वह मेरा प्रियतम बन जाता है। हाँ, मैं प्रेयसी बनकर उससे प्रेम करता हूँ। वह मेरा प्रियतर है।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ (७०)

भगवान् बोले कि बाबा, दूसरेको न सुनाना। ऐसे तो वह भी मेरा प्यारा है, जो हम दोनोंके इस धर्म्य-संवादका अध्ययन करेगा, क्योंकि इसमें असली धर्मका वर्णन है। जो इसका अध्ययन करेगा—उसकी बुद्धिमें जो समझ आयेगी, उससे उसे

ज्ञान प्राप्त होगा। और जो इसका अध्ययन करेगा, उससे उसका ज्ञान-यज्ञ सम्पन्न होगा। अध्ययन होगा यज्ञ और जो समझ बढ़ेगी, वह होगा ज्ञान। तो ज्ञान-यज्ञके द्वारा जैसे इन्द्रादिका यजन होता है, वैसे ही मेरा यजन होगा। और जो श्रद्धा करे और दोष न निकाले?

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ (७१)

'सोऽपि मुक्तः'—वह भी पापसे मुक्त होकर पुण्यकर्माओंका जो शुभ लोक है, उसे प्राप्त होता है।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥ (७२)

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, तुमने एकाग्र चित्तसे मेरी बात सुनी है न! देखो, यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण यह संशय प्रकट करते हैं कि मैंने जो उपदेश दिया, यह अनुगीताका बीज है। बादमें अर्जुन कहेगा कि मैंने एकाग्र चित्तसे नहीं सुना, तो भूल गया; तो बोले कि बाबा, हम भी उस समय योगयुक्त थे, सो हम भी भूल गये।

'**कश्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय**'—क्या तुम्हारा ज्ञानसंमोह प्रनष्ट हो गया? देखो, सामान्य व्याकरणसे 'प्र' के बाद 'न' होने से 'ण' हो जाता है। लेकिन इसके लिए एक विशेष सूत्र है, जो कहता है कि जहाँ नष्टका शकार मूर्धन्य षकार हो गया हो, वहाँ 'न' का 'ण' मत बनाना। तो यहाँ '**प्रनष्टस्ते धनंजयः**' ठीक है, '*प्रणष्टस्ते*' ठीक नहीं है।

अब इसके बाद धनंजय अर्जुन बोलते हैं—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥ (७३)

अच्युत, तुम अपने निश्चयपर बिलकुल अडिग ही रहो बाबा! पहले सारथि बनकर लड़ानेके लिए ले आये थे और अन्ततक यही कहते रहे कि बस, लड़ाई करो; लड़ो-लड़ो! तुम तो अच्युत हो, लेकिन तुमने ऐसा प्रसाद दिया मुझे, कि मेरा मोह नष्ट हो गया ओर स्मृति प्राप्त हो गयी। देखो, स्मृतिमें तात्पर्यानुसक्ति है, इसलिए स्मृति माने अनुभव। '*अनुभूतिर्लब्धा*'—यही अर्थ करना चाहिए '**स्मृतिर्लब्धा**'का, यहाँ स्मृति पदका अर्थ संस्कार-जन्य ज्ञान नहीं है या अनुभूत-विषयासम्प्रमोष नहीं है। योगदर्शनमें स्मृति कहते हैं—'अनुभूत विषयको न भूलना।' न्यायमें बोलते हैं कि संस्कार-जन्य ज्ञानका नाम स्मृति है। यहाँ स्मृति पद दोनों अर्थोंमें अनुपपन्न है, इसलिए स्मृति पदसे स्मृतिका कारण अनुभूति है। इसलिए

स्मृतिर्लब्धा माने अनुभूतिर्लब्धा। गुरुदेवकी कृपासे, तुम्हारी कृपासे मुझे अनुभव प्राप्त हो गया।

'**स्थितोऽस्मि गतसंदेहः**'—अर्जुन कहते हैं कि अब हमारा संदेह मिट गया। अब मैं बैठा नहीं हूँ महाराज!'**विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः**'के अनुसार बैठा नहीं हूँ; '**स्थितोऽस्मि**'—अब मैं खड़ा हो गया हूँ और '**करिष्ये वचनं तव**'—तुम कहते हो, उसका पालन करनेके लिए तैयार हूँ।

पहले श्रीकृष्णने अर्जुनकी आज्ञा मानी थी—'**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।**' भाई, बुद्धिमान् पुरुषका काम है कि जिससे अपनी आज्ञा मनवानी हो, उसकी आज्ञा वह पहले मानता है। वह जानता है कि जब मैं उसकी आज्ञा मानूँगा तो वह भी मजबूर होकर मेरी आज्ञा मानेगा। यही तो यहाँ हुआ न! भगवान्ने अर्जुनकी आज्ञा मान ली और फिर अर्जुनको भगवान्की आज्ञा माननी पड़ी।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ (७४)
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ (७५)
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ (७६)
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥ (७७)

अब संजय धृतराष्ट्र महाराजसे बोलते हैं और वासुदेव तथा पार्थ—दोनोंके नामके साथ महात्मा विशेषण लगाते हैं—महात्मा वासुदेव और महात्मा पार्थ। कहते हैं कि यह सम्वाद मैंने स्वयं सुना है '**अश्रौषम्।**' बड़ा अद्भुत सम्वाद है—'**अद्भुतं रोमहर्षणं।**' अद्भुत माने नित्य-नित्य नया। *'अतति च भवति च इति अद्भुतम्'*—इसका अर्थ होता है नित्य नया। पहले पहल कोई चीज देखते हैं तो अद्भुत मालूम पड़ती है, और दो-चार बार देख लेते हैं तो पुरानी हो जाती है। यह ऐसा है महाराज, कि रोज-रोज नया है। '**रोमहर्षणम्**'—यह रोम-रोमको हृष्ट करनेवाला है। व्यास भगवान्की कृपासे मैंने इस गुह्यका श्रवण किया है। साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण स्वयं इसका वर्णन कर रहे थे और मैंने उनसे इस योगका श्रवण किया है।

'**राजन्संस्मृत्य-संस्मृत्य**'—राजन्, श्रीकृष्ण और अर्जुनका यह सम्वाद हृदयको बड़ा पवित्र करनेवाला है, जिसे स्मरण कर-करके मैं बारम्बार परमानन्दमें मग्न हो रहा हूँ। श्रीकृष्णने जो रूप अर्जुनको दिखाया था, वह अद्भुत है।

देखो, यही तो है वह रूप, जो हमलोग देख रहे हैं। ये सब महात्मालोग गेरुआ कपड़ेवाले, सफेद कपड़ेवाले, मूँछवाले, दाढ़ीवाले, बिना दाढ़ी-मूँछवाले, ये सब जितने भी हैं श्रीमती-श्रीमान्, बालक-वृद्ध; महात्मा-दुरात्मा—ये सब विश्वरूप परमात्माके स्वरूपमें ही तो हैं। अद्भुतरूप है परमात्माका। उनको देखकर '**आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्**'—आश्चर्य हो रहा है।

अन्तमें देखो, संजयने गीताका सार निचोड़कर निकाल दिया और हमारे सामने रख दिया—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ (७८)

संजय कहते हैं कि जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं; योग माने साधन और योगेश्वर माने उसके प्रवर्तक, शिक्षक, निर्वाहक और फलदाता; वही साधन करनेकी प्रेरणा देते हैं, वही साधन सिखाते हैं, वही साधनका निर्वाह करते हैं और वही साधनका फल देते हैं क्योंकि वे योगेश्वर हैं।

'**यत्र पार्थो धनुर्धरः**'—काम तो सब भगवान् करते हैं, लेकिन जीव पौरुष-हीन होकर नहीं बैठता है।

'*धनुर्गृहीत्वा औपनिषदं महाऽस्त्रं शरं ह्युपासा निशितं संदधीत*'—जीव भी स्वयं धनुप-बाण लेकर तैयार है। जीव चाहेगा नहीं तो ईश्वर उसके योगको बनायेंगे क्यों? वे तो देखते रहते हैं। '*रक्षापेक्षामपेक्षते*'—दोनों हाथ फैलाकर भगवान् खड़े हैं कि आओ, आओ मेरे प्यारे जीव, मेरे हृदयसे लग जाओ। वे प्रतीक्षा कर रहे हैं अनादि कालसे परन्तु महाराज, जीवने ही '**विसृज्य सशरं चापम्**' धनुषबाण फेंक दिया; उपनिपद्को छोड़ दिया, प्रणवको छोड़ दिया और तत्त्वज्ञानको छोड़ दिया। तो यहीं तो दोनों हैं—यहाँ साक्षात् योगयोगेश्वर कृष्ण और यहाँ धनुर्धारी पार्थ!

'**तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम**'—जहाँ ये दोनों हों—जीव अपने पौरुपके लिए तत्पर हो और ईश्वरकी कृपा जहाँ उतर रही है, वहाँ **श्री** है, लक्ष्मी है; श्री है, सौन्दर्य है। वहाँ पृथ्वीका सौरभ प्रकट हो रहा है, वहाँ जलका माधुर्य प्रकट हो रहा है; वहाँ रूपका सौन्दर्य प्रकट हो रहा है, वहाँ वायुका सौकुमार्य प्रकट हो रहा है; वहाँ आकाशका सौस्वर्य प्रकट हो रहा है; वहाँ मनका प्रेम प्रकट हो रहा है और वहाँ बुद्धिका ग्रहण प्रकट हो रहा है। वहाँ **विजय** है; कोई पराधीन नहीं कर सकता, दबा नहीं सकता और **भूति** है। वहाँ तो संवित् ही सर्वाकार भवनशील है, भूति-भूति है।

'**ध्रुवा नीतिः**' भी वहींतक है। भगवान् बोले कि '**मम मतिरपि तत्र।**' मैंने अपनी बुद्धि अपने पास नहीं रखी; वहीं डाल दी है, कि हमारी बुद्धि भी वहीं रहे।

'**मतिर्मम**'- *निश्चयो मम।* यह मेरा निश्चय है।

देखो, '**धर्मक्षेत्र**'से प्रारम्भ हुआ तो '**धर्**' हुआ पहला अक्षर और '**मतिर्मम**'में '**म**' हुआ अन्तिम अक्षर। तो गीता माने **धर्म**। रामचरित मानस भी *'वर्णानाम् अर्थसंघानां'*से प्रारम्भ है और वकारसे अन्त हुआ। वह अमृतबीज है, इसलिए रामचरित मानस अमृतस्वरूप है, अमृतमय है। और यह गीता? यह गीता धर्ममय है। असलमें परम धर्मका वर्णन समग्र गीतामें भरा हुआ है। तो आप लोग भी दुहरा लीजिये—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम॥

अब अगर आप लोग इतने प्रेमसे न सुनते और इतनी शान्तिसे न बैठते और ये महात्मा लोग ऐसी कृपा करके दर्शन न देते, तो मेरे लिए—जैसी शरीरकी स्थिति है—उसमें इस प्रकार प्रतिदिन चार-चार घण्टे बोलना बड़ा कठिन पड़ता। तो यह आप लोगोंने ही बोला है और आपने सुना है। यह तो आपका ही ब्रॉडकास्ट है। ब्रॉडकास्ट आप करते हैं और रेडियोमें-से आवाज सुनायी पड़ती है। वाणी तो आपकी ही है। आप ही बोलते हैं और आप ही सुनते हैं।

॥ इस प्रकार यह 'मोक्ष-संन्यासयोग' नामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा। आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २ ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्। व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि। युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्। पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्। सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६ ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम। नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः। अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः। नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९ ॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्। पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः। भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११॥
तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्ध पितामहः। सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः। सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ। माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ १४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः। पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः। नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः। धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते। सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ १८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्। नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः। प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्। कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥ २२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः। धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत। सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्। उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति॥ २५॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्। आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥ २६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि। तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥ २७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ २८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति। वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ २९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते। न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ ३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव। न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च। किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च। त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः। मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥ ३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन। अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ ३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन। पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्। स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ ३७॥
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः। कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्। कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः। धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ ४०॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः। स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥ ४१॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः। उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन। नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्। यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः। धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्। विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्। विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ ३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन। इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप। न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत। सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः। न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्। कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि। धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्। संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः। येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः। निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय। बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव। स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः। वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३ ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७ ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८ ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ १३॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ २५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्। जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु। तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः। श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्। सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च। यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ। पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना। जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १ ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २ ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ ६ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ ८ ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः। बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ १३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ १५॥
किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः। समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप। सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ ३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्। आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ ४१॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि। यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति। निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ १३॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः। प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः। विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १ ॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव। न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २ ॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४ ॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६ ॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः। शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९ ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः। एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १० ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः। न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७ ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २० ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२ ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ २३ ॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६ ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्। उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः। सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३० ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन। एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३ ॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५ ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः। अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति। अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः। त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते। न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। यज्ज्ञात्वा नेह भूयोन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २ ॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७ ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ। जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्। देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत। सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ २७॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः। प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम। अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन। प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्। अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ७॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना। परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च। मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥
यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप। अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय। उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः। नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्। मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः। वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च। अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ २०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥
यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः। संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा। अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥
ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः। यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्। असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः। सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः। भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्। पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा। असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव। न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः। याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्। केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन। भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः। प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्। मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः। इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्। वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्। सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्। यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः। गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्। ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्। प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्। पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्। मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्। झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन। अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च। अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्। कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्। मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्। जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः। मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्। मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन। न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप। एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ ४१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्। यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया। त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर। द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो। योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा। बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः। दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्। अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ १०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्। सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ ११॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः। प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ १४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥
अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ ३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ ४३॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन। इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम। देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ ५४॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ ५५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ ९॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव। मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः। सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते। श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्। स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११ ॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२ ॥
सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४ ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५ ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७ ॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः। मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८ ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥ १९ ॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २० ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१ ॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २२ ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३ ॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते। तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५ ॥
यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७ ॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्। न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८ ॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९ ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति। तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ३० ॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३ ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा। भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्। यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २ ॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्। संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ १४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते। तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्। रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ २०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो। किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ २१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव। न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्। विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्। यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ। एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३ ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ ४ ॥
दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता। मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५ ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च। दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः। न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः। प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः। मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः। कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः। ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः। यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः। मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः। आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
देवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४ ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः। दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः। मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६ ॥
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः। यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७ ॥
आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १० ॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११ ॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्। इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२ ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्। श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३ ॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६ ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरः। अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९ ॥
दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२ ॥
ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३ ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४ ॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः। दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिःसदिति चोच्यते। कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७ ॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्। त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः। यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम। त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६ ॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७ ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्। स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन। सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९ ॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते। त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे। सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना। करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः। प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्। वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः। क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्। मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः। सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः। विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु। प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय॥ २९॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन। प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च। न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ। अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे। समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च। शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ ५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः। बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे। मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा। कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः। भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः। ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः। सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा। कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥ ७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः। संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्। योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्। केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ ७६॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः। विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥





स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती

यह भगवान्‌का ही अनुग्रह है कि पाठकोंको श्रीगीता रस रत्नाकरमें अवगाहन करके अल्प प्रयासमें ही नवीन-नवीन रत्नोंकी प्राप्ति होगी और वे उनका आनन्द ले सकेंगे।



भारतीय तत्त्वज्ञानका साकार रूप है उपनिषद्, उपनिषद्-रूपी कामधेनुका गोपालनन्दन द्वारा दुहा दुग्ध है श्रीमद्भागवद्गीता और उसको भावका जेमन देकर जमाया हुआ दही है श्रीगीता-रस-रत्नाकर।

भारतीय तत्त्व-ज्ञानके प्रवक्ताओंमें महाराजश्रीका स्थान आज मूर्धन्य है।

महाराजश्रीको मैं मधुसूदन सरस्वतीका दूसरा विग्रह मानता हूँ, अद्वैतसिद्धि और भक्तिरसायन दोनों ग्रन्थोंका नया वितान ही 'श्रीगीता-रस-रत्नाकर' है, यह अद्वैतामृत-वर्षी है, केवल समुद्र नहीं, समुद्रसे उठा हुआ बादल भी है और उसका रस भी है।

—विद्यानिवास मिश्र
सांसद एवं पूर्व उपकुलपति





आनन्द कानन प्रेस